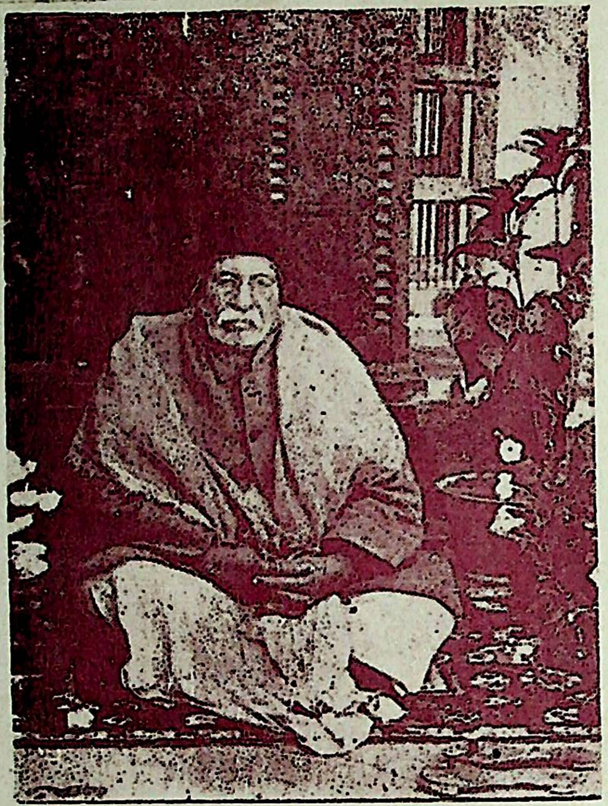


विद्वन्मूर्धन्य पं० श्रीअनन्तरामजी शास्त्री सारस्वत
(म० म० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री के शब्दशास्त्र—गुरु)



त्यागतपोमूर्ति पं० श्रीहरिहारीजी मिश्र
(म० म० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री के ज्येष्ठ भ्राता)

अन्न, फल, फूल आदि के प्रत्यक्ष दैवत के अनेक रूपों में अनेक प्रकार की भौतिक समृद्धि और सुविधाएँ मानव-मात्र को अत्यन्त उदारता के साथ वितरित कर रक्खी हैं। दूसरे पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि समान कुल-शील की कन्या से विवाह करके अपने पितरों की वंश-परम्परा चलायी जाय। तीसरे ऋषि-ऋम के लिए यह आवश्यक माना जाता था कि प्राचीन ऋषि-महर्षि, विद्वान्, महात्मा, तपस्वी और महापुरुषों ने जो ज्ञान-विज्ञान और दर्शन आदि का अक्षय्य भण्डार अपनी तपस्या, साधना, अध्यवसाय, मनोयोग और मेधा से संचित कर छोड़ा है, उसका सम्यक् अध्ययन करके वह विद्या ज्यों-की-त्यों सुपात्रों को पढ़ा या लिखा दी जाय, जिससे ज्ञान-विज्ञान और विद्या की परम्परा कभी विलुप्त या विशृंखलित न हो और कुपात्र के हाथ में पड़कर उसका दुरुपयोग न हो। इसी विचार से और ब्राह्मण की स्वाभाविक वृत्ति समझकर उन्होंने वेद-विद्या का जो अगाध ज्ञान-संग्रह किया था, उसे वे उन्मुक्त हृदय से अपने योग्य शिष्यों को वितरित करने लगे। आज तो सारी मर्यादाएँ ही समाप्त हो गई हैं। देवताओं के अस्तित्व में विश्वास न बचे रहने के कारण देवऋण का प्रश्न ही नहीं रहा। प्रेम-विवाहों का निन्द्यरीति के कारण पितृ-ऋण से उऋण होने का विश्वास मिट चला और विद्यार्जन की वृत्ति शिथिल होने से ऋषि-ऋण भी खटाई में पड़ गया है। इसलिये संसार में इतना संकट, कष्ट, व्याधि, निराशा, अविश्वास, दुःख और भय व्याप्त हो गया है।

वेद का प्रचार

ब्राह्मण के लिये हमारे धर्म-शास्त्रों में छह कार्य विहित बताये हैं—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह। तदनुसार इस ब्रह्मवृत्ति का अनुष्ठान करते हुए अध्ययन-अध्यापन के कार्य में पं० प्रभुदत्तजी ने पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनके अगणित शिष्यों ने उनसे विद्यार्जन करके भारत के सुदूर प्रदेशों में दुन्दुभि बजाकर वेद का भी प्रचार किया और उनके यश को भी चार चाँद लगा दिये। महाकवि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में अच्छे गुरु की पहचान बतलाते हुए कहलाया है—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेष-युक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

अर्थात् कुछ लोग स्वयं किसी विषय के बड़े अच्छे पण्डित होते हैं, किन्तु दूसरे को सिखा नहीं सकते। कुछ ऐसे होते हैं जो सिखा तो सकते हैं किन्तु उस विद्या में पारंगत नहीं होते, किन्तु शिक्षकों में मूर्धन्य वही व्यक्ति होते हैं, जिनमें दोनों गुण विद्यमान हों यानी जो विद्वान् भी हों और शिक्षण की कला भी जानते हों। पण्डित प्रभुदत्तजी शास्त्री में ये दोनों गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे। वे अपने विषय के तो धुरन्धर विद्वान् थे ही, साथ ही शिक्षण की कला में भी पूर्ण निष्णात थे।

अध्यापन का प्रारम्भ—सर्वप्रथम संवत् १९४९ विक्रमी में सरस्वती फाटक पर संस्थित सत्यनारायण-मन्दिर में पं० प्रभुदत्त जी वेद के अध्यापक नियुक्त हुए। छह वर्ष तक वहाँ निरन्तर अत्यन्त प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ वे अध्यापन-कार्य करते रहे। तदनन्तर सम्बत् १९५२ विक्रमी में वे काशी के दक्षिण की ओर नगवा ग्राम में समवस्थित रूइया संस्कृत पाठशाला में अध्यापन के लिये अत्यन्त आदर के साथ निमंत्रित किये गये, जहाँ वे सम्बत् १९५२ से १९५५ तक अध्यापन-कार्य करते रहे। सम्वत् १९५५ में वे काशी की भास्कर पाठशाला में शिक्षण कार्य के लिये निमंत्रित किये गये। उनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर सम्बत् १९५८ विक्रमी में श्रीमती एनीबेसेंट द्वारा संस्थापित काशी के प्रसिद्ध हिन्दू कालेज के अधिकारियों ने उन्हें रणवीर संस्कृत महाविद्यालय में वेद-कर्मकाण्ड का प्रधानाध्यापक बनाकर आमंत्रित किया। निमन्त्रण पाकर वे चले तो गये, किन्तु कुछ समय के बाद सैद्धान्तिक मतभेद और हिन्दू-कालेज के तत्कालीन अधिकारियों की धार्मिक नीति से असंतुष्ट होने के कारण उन्होंने रणवीर संस्कृत महाविद्यालय के उस सम्माननीय पद का भी परित्याग कर दिया और अपने आवास पर ही काशी की प्राचीन परिपाटी के अनुसार घर आनेवाले छात्रों को निरन्तर विद्यादान करने लगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्पर्क

हमारे देश की पुरानी मान्यता है—"विद्वान् सर्वत्र पूज्यते" (विद्वान् की सब स्थानों पर पूजा होती है)। सम्बत् १९७३ में विद्वानों के पारखी, भारतरत्न, हिन्दू-धर्म-रक्षक, प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और देशभक्त महामना पण्डित मदन मोहन मालवीयजी ने सं० १९७३ (सन् १९१६) को वसन्त-पञ्चमी के शुभावसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। उस समय विश्वविद्यालय की स्थापना के समारोह पर शिलान्यास और यज्ञ किया था। इन दोनों कार्यों के आचार्य पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री बनाये गये थे और दोनों यज्ञों में क्रमशः महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री जी तथा महामहोपाध्याय पं० श्री आदित्यराम भट्टाचार्य जी यजमान थे। पं० प्रभुदत्त जी की विद्वत्ता और उनके कर्मकाण्ड की सात्विक शुद्धता से महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी इतने अधिक प्रभावित थे कि जब काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में धर्मविज्ञान विभाग (थियालोजी विभाग) प्रारम्भ किया गया, तब पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री को ही उस विभाग का अध्यक्ष नियुक्त करके विश्वविद्यालय ने अपना गौरव समवर्धित किया। इतना ही नहीं, वे हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मविज्ञान-विभाग के निर्वेतन आचार्य पद को बहुत दिनों तक सुशोभित करते रहे। वे ७. ११. १९ को धर्म-विज्ञान-विभाग समज्या के सदस्य चुने गये और २७. १०. १९२१ से नवम्बर १९२८ तक धर्म-विज्ञान-समज्या के अध्यक्ष भी रहे। काशी विश्वविद्यालय ने अपना सम्मान बढ़ाने के लिये उन्हें विश्वविद्यालय की संचालन-सभा (कौउन्सिल) तथा व्यवस्था-सभा (सिनेट) का सदस्य मनोनीत किया तथा वे

बहुत दिनों तक सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल और रणवीर संस्कृत पाठशाला की संचालक समिति के सम्मानीय सदस्य बने रहे। इसी के साथ-साथ वे आयुर्वेद तथा विश्वविद्यालय की अन्य अनेक समतियों की सदस्यता के पद को भी गौरवान्वित करते रहे। उनका मत था कि आयुर्वेद और कर्मकाण्ड की परीक्षाओं में ३३ प्रतिशत उत्तीर्णांक न रखकर शत-प्रतिशत रखना चाहिए, क्योंकि एक तिहाई ज्ञान वाला वैद्य तो रोगी को ले बीतेगा और एक तिहाई कर्मकाण्ड जानने वाला पुरोहित अपने यजमान का नाश कर देगा। यह बड़े महत्त्व की बात थी और आज भी विचारणीय है।

महामहोपाध्याय की उपाधि

उनकी अगाध विद्वत्ता और अपरिमेय पाण्डित्य का यश इतने दूर-दूर तक फैला कि सम्वत् १६८१ में तत्कालीन भारत साम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया ने उनके गुण-गौरव का सम्मान करते हुए उन्हें 'महामहोपाध्याय' पदवी से समलंकृत किया। वेदज्ञों में 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्राप्त करने का सर्वप्रथम सौभाग्य ही उन्हें प्राप्त हुआ था। वे सचमुच वेद-विद्या के इतने अद्वितीय पण्डित थे कि भारत में उस समय उनके टक्कर का कोई दूसरा विद्वान् नहीं था। वे केवल कोरे वैदिक मात्र ही नहीं थे, वरन् व्याकरण, काव्य, साहित्य और दर्शन आदि अनेक विषयों में उनकी बड़ी अप्रतिहत गति थी। प्रायः कर्मकाण्डी विद्वान् कर्मकाण्ड का तो विधान भलीभाँति जानते हैं और वेद का पाठ भी शुद्ध उच्चारण तथा स्वर के साथ करते हैं, किन्तु वैदिकों में ऐसे विद्वान् बहुत कम इने-गिने हैं जो वेदों का अर्थ भी भलीभाँति जानते और समझा सकते हों। किन्तु महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री जहाँ एक ओर कर्मकाण्ड की जटिल समस्याओं का सरलतापूर्वक समाधान करने में प्रवीण थे, वहीं दूसरी ओर वे वेद का भाष्य और उसकी समुचित सरल व्याख्या करने में भी उतने ही कुशल थे। यही कारण था कि काशी के दिग्गज पण्डित भी उनका लोहा मानते थे।

विद्या, विनय और प्रभाव

विद्या के साथ विनय का स्वाभाविक गठबन्धन होना चाहिए। किन्तु संसार में बहुत कम ऐसे होते हैं, जिनमें विद्या और विनय साथ-साथ विद्यमान हो। महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री जैसे उद्भट विद्वान् थे, वैसे ही उनका सरल-कोमल हृदय भी था। वैसी ही व्यापक उदारता भी थी, उतनी ही अपरिमित सहृदयता भी थी, उतना ही परोपकार का भाव भी था और उतनी ही श्लाघनीय कृपालुता और दयालुता भी। इन सब अतिमानवीय गुणों के कारण ही अनेक श्रद्धालु-शिष्यों, गुण-ग्राही नागरिकों और सम्माननीय महापुरुषों के हृदय में उनके प्रति सात्विक श्रद्धा विद्यमान थी। उनके यहाँ से न तो कोई छात्र कभी विमुख लौटता था और न कोई याचक रिक्तपाणि होकर जाता था। शिष्यों के प्रति उनका कितना सौहार्द और स्नेह था, उसका उदाहरण स्वयं मेरे (लेखक के) पूज्य पितृचरण पण्डित भीमसेन वेदपाठी थे, उन्हें

उन्होंने अत्यन्त स्वल्प अवस्था में वेद-विद्या में पारंगत करके मुजफ्फर नगर में आहिताग्नि सेठ चैनसुखदास को नित्य हवन तथा दर्शपौर्णमासेष्टि आदि क्रियाओं को कराने के लिए अत्यन्त विश्वास के साथ भेज दिया था। इतना ही नहीं, उनके और भी जितने शिष्य थे, वे सभी बड़े योग्य और वेद-कर्मकाण्ड के प्रसिद्ध पण्डित होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में नाम कमा रहे हैं। इन शिष्यों के अतिरिक्त भारतवर्ष के अनेक धनी मारवाड़ी, सेठ, विद्वान्, नेता तथा शिक्षा-प्रेमी लोग उनके बड़े भक्त और अनुरक्त थे। राजा बलदेव दास बिरला तो उनके अनन्य भक्तों में से थे। यह उन्हीं की कृपा का फल है कि अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और गुणी हिन्दू विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों में प्राध्यापक होकर अपने अध्यापन कार्य द्वारा अपना और उनका यश बढ़ाते हुए अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक उनका गुणगान कर रहे हैं। विद्वानों का समादर करने, उन्हें सभी प्रकार से समुन्नत करने और जिस प्रकार बन सके सभी प्रकार उन्हें सहायता देने के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहते थे। अनेक वर्ग के लोगों पर उनका इतना अधिक प्रभाव था कि वे यदि किसी के लिए किसी को कुछ कह या लिख देते, तो उनकी आज्ञा का पालन करना या संकेत निर्वाह करना लोग अपने लिए गौरव समझते थे। यही कारण है कि उनकी निर्भेद उदारता के फलस्वरूप न जाने कितने अगणित अकिंचन ब्राह्मण और शिष्य आदि बड़े सम्मान के साथ अपनी जीविका का निर्वाह करते हुए और अपने परिवार का भरण-पोषण करते हुए उनका कीर्तिगान गा रहे हैं। महामना मालवीयजी उनको साक्षात् 'वेदावतार' मानते थे और जैसे वेद का कोई प्रमाण अमान्य नहीं होता, उसी प्रकार वे जो कुछ भी कह देते थे उसे मालवीयजी महाराज अत्यन्त श्रद्धावनत होकर मान लेते थे।

व्यापक सम्मान

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी तो इनका इतना आदर करते ही थे, साथ ही भारतवर्ष के अनेक राजा, महाराजा, विद्वान्, धनी तथा अधिकारी वर्ग के लोग भी इनका बड़ा हार्दिक सम्मान करते थे, जिनमें परम माननीय काशी-नरेश, जीन्द नरेश आदि प्रमुख थे। भारतवर्ष में कोई ऐसा विशाल यज्ञ नहीं होता था जिसके ये आचार्य होकर न जाते रहे हों। तत्कालीन परम पूजनीय साक्षात् शिवस्वरूप महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री जो इनके अत्यन्त अभिन्न आत्मीय थे। जब कभी वे काशी से बाहर शास्त्रार्थ करने के लिये जाते थे तो ये भी उनके साथ यज्ञ के आचार्य होकर जाते; क्योंकि महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री जी से जब भी कोई यज्ञ आदि कार्यों के लिये आचार्य का नाम पूछता तो वे अत्यन्त तत्परता के साथ पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री जी का नाम बता देते थे। यहाँ तक कि उनके यहाँ भी जितना कुछ अपना कर्मकाण्ड होता था, वह सब भी पण्डित प्रभुदत्तजी ही कराते थे। उनके अन्य तत्कालीन प्रसिद्ध सुहृद् वर्ग में महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री के अतिरिक्त महामहो-पाध्याय डा० सर गंगानाथ झा, महामहोपाध्याय पण्डित बामाचरण भट्टाचार्य,

महामहोपाध्याय पण्डित जयदेव मिश्र, महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा एम० ए० आदि गण्यमान्य विद्वान् अत्यन्त प्रमुख थे।

यज्ञदेवकी अर्चना

यज्ञादिक प्रधान वैदिक कार्यों में उनकी इतनी प्रखर गति थी कि उससे प्रभावित होकर सभी श्रीमान् लोगों और जनसाधारण की यह आकांक्षा रहती कि पण्डित प्रभुदत्त शास्त्रीजी ही आकर यज्ञ करावें। जिस समय सन् १९२० में अमृतसरके सिक्खों के स्वर्ण-मन्दिर से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हटा दी गयीं उस समय वहाँ के हिन्दुओं ने उसी के जोड़का 'दुर्ग्याना मन्दिर' का निर्माण कराया, जिसकी स्थापना महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री ने ही करायी थी। यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तर चरण में वैदिक कर्मकाण्ड का पुनः उद्धार करने का अधिकांश श्रेय महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री को ही है जिन्होंने स्वयं अग्निहोत्र लेकर अन्य कर्मकाण्डप्रेमियों का मार्ग-दर्शन किया था। क्योंकि ऐसे तो बहुत से कर्मकाण्डी होते हैं जो अन्य स्थानों पर जाकर बड़ी योग्यता के साथ यज्ञानुष्ठान और कर्मकाण्ड कराते हैं, किन्तु ऐसे बहुत कम लोग हैं जो स्वयं भी अपने यहाँ आहिताग्नि होकर परम श्रोत्रिय का जीवन वहन करते हैं। 'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्'। 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। कहहिं करहिं ते नर न घनेरे'॥ 'धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः।'

उदार-हृदयता

यद्यपि प्रभुदत्तजी गौड़-ब्राह्मण थे, किन्तु वे कभी इस प्रकार का संकुचित जातिभाव अपने मनमें नहीं रखते थे जैसा आजकल बहुत से विद्वान् दुर्भाग्य-वश रखते हैं कि मैं सारस्वत हूँ, कान्यकुब्ज हूँ, सरयूपारीण हूँ, बंगीय हूँ, दाक्षिणात्य हूँ, गुर्जर हूँ आदि। उन्होंने अत्यन्त उदारतापूर्वक और निष्पक्षता-पूर्वक हृदय से अपने यहाँ अध्ययन करनेवाले छात्रों को विद्यादान देने में कभी किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। इसीलिए जैसे उनके परम यशस्वी शिष्यों में उनके ज्येष्ठ पुत्र पण्डित विद्याधर शर्मा गौड थे, उसी प्रकार उनके गण्यमान्य शिष्यों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पौरोहित्य विभाग के अध्यापक श्रौतस्मार्त-यज्ञानुष्ठान-निष्णात पण्डित भीमसेन वेदपाठी, काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के वेद के अध्यापक पण्डित विजयचन्द्र चतुर्वेदी वेदाचार्य, हिन्दू विश्व विद्यालय के धर्म विज्ञान-विभाग में वेद के अध्यापक पण्डित नाथूराम शर्मा गौड, रणवीर संस्कृत पाठशाला के वेद विभाग के प्रधानाध्यापक वेदाचार्य पण्डित अजबलाल झा, कलकत्ते के विशुद्धानन्द महाविद्यालय में वेद के अध्यापक वेदाचार्य पण्डित देवानन्द झा, खुर्खुरा के चन्द्रभूषण संस्कृत महा विद्यालय के वेद के अध्यापक वेदाचार्य पण्डित त्रिवेणीश झा आदि अनेक मैथिल, सरयूपारीण, गौड और सारस्वत ब्राह्मण विद्वान् उनकी शिष्य-प्रशिष्य परम्परा में बहुत ख्याति प्राप्त

कर चुके हैं। इस प्रकार समस्त उत्तर भारत में उनके शिष्य और प्रशिष्यों की उदात्त परम्परा ने आज भी यज्ञानुष्ठान की भारतीय वैदिक परम्परा को सजीव कर रक्खा है

गौड ब्राह्मणों का अभ्युदय

पं० प्रभुदत्तजी से पूर्व काशी में गौड ब्राह्मणों में सुप्रसिद्ध कोई विद्वान् नहीं हुआ था। अधिकांश विद्वान् या तो मैथिल थे या सरयूपारीण या दाक्षिणात्य, किन्तु पण्डित प्रभुदत्त जी की प्रेरणा और नेतृत्व के कारण ही गौड—ब्राह्मण-बालकों को भी अध्ययन में बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने स्वयं काशी के विद्वानों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर के अन्य गौड-ब्राह्मणों को भी उत्साह, प्रेरणा और सहायता देकर अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त यथार्थ ही लिखा है—

"स्वनामधन्य महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त गौड जी ने काशीके वैदिक विद्वानोंमें गौडों को प्रतिष्ठित स्थान दिलाया, जिनकी विद्वत्ता के कारण ही गौड ब्राह्मण भी वैदिक विद्वान् माने जाने लगे।"

भारतके प्रसिद्ध महामहोपदेशक शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित माधवाचार्य शास्त्री (कौल, करनाल) ने इसी का समर्थन करते हुए लिखा है—

"स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त जी अग्निहोत्री ने काशी में पहुँच कर वैदिक साहित्य में वह दक्षता प्राप्त की जिससे पंच-गौडों का विशेषतया 'गौड' जाति का मुख उज्ज्वल हो गया। पंच-गौडोंमें सर्वप्रथम यही एकमात्र व्यक्ति माने जा सकते हैं, जिन्होंने इस युग में काशी-जैसे विद्या-केन्द्र में वेद-विद्या में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया।"

वे केवल काशी के ही विद्वानों में प्रमुख नहीं रहे, वरन् सभी विद्वानों ने आप को अपना अग्रगण्य मान लिया था। जब कभी कोई समस्या राजकीय अथवा सामाजिक अथवा धार्मिक क्षेत्र से उत्पन्न होकर आप के समक्ष आती, तो आप सहर्ष और निःसंकोच उस शंका का समाधान बड़ी तत्परता से करते थे। यद्यपि आप न तो पदलोलुप थे और न किसी प्रकार के प्रचारवाद और प्रदर्शनवाद में विश्वास करते थे, किन्तु पण्डित-वर्ग तो आप के गुणों से प्रभावित होकर आपका समादर करता था। जब काशी के विद्वानों ने आप को 'काशी पण्डित-सभा' का सभापति मनोनीत करने का प्रस्ताव किया, तब आपने बहुत आग्रह करने पर और अनिच्छापूर्वक अपनी स्वीकृति दी और इस सम्मानित पद पर वे वर्षों तक समासीन रहे।

राजा बलदेवदास बिरला से भेंट

एक बार राजा बलदेवदास बिरला ने काशी में 'महारुद्र-यज्ञ' कराने का संकल्प किया। वे स्वभावतः बहुत परीक्षणशील व्यक्ति थे। उन्हें संतुष्ट करना साधारण बात नहीं थी। यद्यपि वे बहुपाठ तो नहीं थे, किन्तु बहुश्रुत अवश्य थे और किसी भी बात को बिना भली प्रकार जाँचे स्वीकार नहीं करते थे। फलतः काशी में आकर उन्होंने बहुत से पण्डितों से इस विषय में

विचार-विमर्श किया, किन्तु कोई भी उन्हें संतुष्ट नहीं कर सका। इसी बीच एक दिन उन्होंने महामना मालवीयजी से इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए पूछा कि 'महारुद्र यज्ञ' के लिए किसी योग्य आचार्य का वरण करना चाहता हूँ, किसी योग्य विद्वान् का नाम बताने का कष्ट कीजिए। मालवीयजी महाराज ने तत्काल उत्तर दिया—"हमारे विश्वविद्यालय के वेदविभाग के अध्यक्ष पण्डित प्रभुदत्त जी अग्निहोत्री को आप आचार्य—रूप से ग्रहण कीजिये। वे सुनिष्णात, तपस्वी, साधु सात्त्विक अग्निहोत्री गौड-ब्राह्मण हैं और भारत के वैदिकों में उनका मूर्धन्य स्थान है।" महामना मालवीय जी के परामर्श के अनुसार उन्होंने एक दिन पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री जी को अत्यन्त आदर के साथ अपने लालघाट वाले आवास पर आमंत्रित किया और कर्मकाण्ड-सम्बन्धी अनेक जटिल समस्याएँ उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दीं। किन्तु ये भी किससे कम थे। इन्होंने भी बड़ी योग्यता, सरलता और प्रभावोत्पादकता के साथ उनकी सब समस्याओं का भलीभाँति समाधान कर दिया। राजा बलदेवदास बिरला इतने अधिक प्रसन्न और प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने महारुद्र यज्ञ के लिये उन्हें 'आचार्य' रूप से वरण कर लिया और पण्डित प्रभुदत्त जी ने भी काशी के प्रतिष्ठित पंचगौड़ तथा पञ्चद्राविड़ वैदिक पण्डितों को रखकर वह यज्ञ सम्पन्न कराया। इसके पश्चात् तो पण्डित प्रभुदत्त जी में बिरलाजी की इतनी निष्ठा हुई कि उन्होंने अपनी जन्मभूमि पिलानी (राजस्थान) में तथा भारत के अन्य अनेक स्थानों पर जहाँ-जहाँ जब-जब यज्ञ कराये, वहाँ-वहाँ पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री को ही आचार्य बनाकर सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने घनश्यामदास बिरला के पुत्र लक्ष्मीनिवास बिरला आदि अपने पौत्रों का यज्ञोपवीत-संस्कार भी इन्हीं से कराया था और उन्हीं से गायत्री मन्त्र की दीक्षा दिलाकर उन्हें अपने परिवार का 'कुलगुरु' ही बना लिया। यों तो उनके दीक्षा-शिष्यों की संख्या अगण्य थी, किन्तु बिरला, बूबना, केडिया, मुरारका और खेतान आदि अनेक वैश्य-परिवार उनमें मुख्य हैं।

यज्ञ नारायण में अखण्ड निष्ठा

पण्डित प्रभुदत्त जी स्वयं आहिताग्नि थे और बड़ी निष्ठा के साथ अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमासेष्टि आदि वैदिक क्रियाएँ करते थे। देश-विदेश से अनेक नेता, विद्वान्, सेठ-साहूकार आदि उनके यहाँ यज्ञ भगवान् और अग्नि-नारायण के दर्शन करने आया करते और काशी के अनेक विद्वान्, पण्डित, कर्मकाण्डी तथा गृहस्थ वहाँ से यज्ञ-भस्म भी ले जाते थे। यज्ञ-क्रिया में आपकी अखण्ड और अटूट श्रद्धा थी। 'यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्' (यज्ञ तो सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है) इस मन्तव्य के अनुसार आपका पूर्ण विश्वास था कि यज्ञों के द्वारा मनुष्य जो इच्छा करे, जो संकल्प करे, जो कामना करे, वही पूर्ण होती है और श्रद्धापूर्वक तथा विश्वास के साथ किये यज्ञ कभी निष्फल नहीं

होते। भारतवर्ष में इन्होंने सैकड़ों-सहस्रों यज्ञ कराये और विचित्र बात यह हुई कि यज्ञ-भगवान् की कृपा से सभी यजमानों की सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हुईं।

एक बार की घटना है, दिल्ली में भयंकर अवर्षण हुआ। आधा सावन बीत जाने पर भी जब आकाश में एक दिन भी मेघ का दर्शन न हुआ और जूही की कली का मुँह भरने के लिये भी एक बूँद जल आकाश से नहीं गिरा तो सम्पूर्ण प्रदेश में हाहाकार मच गया। यह सब देख कर वहाँ के धनिकों ने निश्चय किया कि इस दुष्काल की निवृत्ति के लिये कोई विशाल महायज्ञ कराया जाय। तदनुसार उन लोगों ने पण्डित प्रभुदत्त शास्त्रीजी को आचार्य बनाकर निमंत्रित किया और वे काशी के अनेक विद्वानों को लेकर दिल्ली जा पहुँचे। धूमधाम से कालिन्दी के पवित्र कूल पर यज्ञ का विशाल, भव्य और विस्तृत यज्ञमण्डप बनाया गया और चार दिन तक निरन्तर यज्ञ चलता रहा। इतने पर भी आकाश में बादल की एक रेखा न दिखाई दी, कहीं से एक बूँद जल गिरता न दिखाई दिया। भारतीय संस्कृति के विशेषतः वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी लोगों ने इस अवसर का लाभ उठाकर चारों ओर बड़ा कोलाहल करना और अनेक पत्रक छापकर जनता में वितरण करना प्रारम्भ कर दिया। जब यह बात पण्डित प्रभुदत्त जी के कानों में पड़ी और अनेक व्यक्तियों ने आकर विरोधी लोगों के विचारों का परिचय दिया, तो उन्होंने दृढ़ता के साथ संकल्प-पूर्वक कहा—"कौन कहता है कि यज्ञ से वर्षा नहीं होगी ? अवश्य होगी। यदि न हुई तो मैं यहीं शिखासूत्रका परित्याग करके चला जाऊँगा।" यज्ञ भगवान् की कुछ ऐसी अद्भुत कृपा हुई की पूर्णाहुति से दो दिन पूर्व ही दिल्ली में वह मूसलाधार वर्षा हुई, विरोधियों के सारे आयोजनों पर पानी पड़ गया और वे सभी लज्जा से पानी-पानी हो गये। चारों ओर हर्ष और आनन्द व्याप्त हो गया, लोग उल्लास से उन्मत्त होकर नाच उठे और सब लोगों ने एक स्वर से स्वीकार कर लिया कि भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में अपने श्रीमुख से जो कुछ भी कहा था वह निश्चय ही सत्य और अचल है।

'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः।' (यज्ञ से बादल उठते हैं और बादलों से अन्न उत्पन्न होता है) यह वचन सत्य कर दिखाया पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री ने अपने यज्ञ-कर्मकौशल से और उसमें अपनी असामान्य निष्ठा से। इस यज्ञ का इतना प्रभाव जनता पर पड़ा कि सबके हृदय में यज्ञ के प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गई और समस्त नगर के धनिकों, अधिकारियों और नागरिकों ने अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ इनकी बड़ी पूजा की। आज भी दिल्ली के निवासी उस यज्ञ को 'वर्षा-यज्ञ' के नाम से अत्यन्त भाव-गद्गद् होकर स्मरण करते हैं।

ग्रन्थ लेखन

यज्ञ आदि कर्मकांड क्रियाओं में तो वे निष्णात ही थे, किन्तु वैदिक साहित्य-पर भी उनका अखण्ड अधिकार था। इसी अधिकार के बलपर उन्होंने अनेक वेद-विषयक तथा कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थों की रचना कर अपनी अगाध विद्वत्ता का

परिचय दिया। उन्होंने ऋक् प्रातिशाख्य, मीमांसा-परिभाषा, श्राद्ध-काशिका, श्रौत-पदार्थ-निर्वचन तथा खण्ड दीक्षितकृत महारुद्र-पद्धतिका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया तथा स्वयं जीवच्छ्राद्ध पद्धति, वृषोत्सर्ग-निर्णय, सापिण्ड्य-निर्णय तथा कुशकण्डिका भाष्य की रचना की। इन सभी ग्रन्थों का विद्वानों में श्रद्धापूर्ण आदर है।

भ्रातृभक्त

पण्डित प्रभुदत्त जी सगे पाँच भाई थे और भाइयों में सब से छोटे होने पर भी वे गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। पण्डित प्रभुदत्त जी अपने ज्येष्ठ अग्रज पण्डित हरिद्वारी मिश्र के साथ ही विद्याध्ययन के लिये काशी आये थे और उन्हीं की देख-रेख में, उनकी ही प्रेरणा से वेद और शास्त्रों का अध्ययन करके उन्होंने अक्षय्य यश अर्जित किया था। वे निरन्तर अत्यन्त कृतज्ञता के साथ अपने ज्येष्ठ भ्राता पण्डित हरिद्वारी जी मिश्र की कृपा का भावमग्न हो कर वर्णन करते और कहा करते कि 'मेरी सम्पूर्ण उन्नति का श्रेय मेरे ज्येष्ठ भ्राता को ही है। यदि मुझे इस प्रकार उनकी कृपा प्राप्त न होती तो मैं जीवन में कभी कुछ न कर सकता। अपने ज्येष्ठ भ्राता में उनकी इतनी अगाध निष्ठा थी कि वे सदा पिता के समान ही उनका आदर करते थे। अपनी इसी निष्ठा को तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता की कृपा के प्रत्युपकार-स्वरूप निरन्तर इसी चेष्टा में रहते कि मैं किस प्रकार अपनी भ्रातृ-भक्ति प्रदर्शित करके उनका कृपा-पात्र बनूँ और अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ। उन्होंने पण्डित हरिद्वारी जी मिश्र के तीनों पुत्र पण्डित काली प्रसाद शर्मा, हरदत्त शर्मा, गौरीदत्त शर्मा को भी भली-भाँति पढ़ा-लिखा कर उनकी जीविका भी लगवा दी, विवाह भी कर दिया और उनके लिए आठ हजार रुपये का एक मकान काशी में खरीद कर दे दिया।

मातृभक्त

पण्डित प्रभुदत्त जी जब सब प्रकार से योग्य और सम्पन्न हो गये, तब उन्होंने अपनी माताजी को भी काशी में ही बुला लिया। अपनी माताजी में उनकी इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति थी कि उनकी किसी भी आज्ञा का पालन करने में वे अपने को धन्य मानते थे, कभी उनकी कोई आज्ञा टालते नहीं थे। हमारे यहाँ तो कहा ही गया है--'नास्ति मातुः समं तीर्थम्' (माता के समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है) और इसलिए अपनी माताजी को अपने साथ काशी में रखकर उनकी सेवा करते हुए और उन्हें गंगा-स्नान, काशी-विश्वनाथ का दर्शन और अन्त में काशी में मोक्ष प्राप्त करने का सौकर्य प्रदान किया। इस प्रकार की मातृ-भक्ति इस युग में प्रायः बड़ी दुर्लभ होती है, किन्तु वे तो आदर्श पथ-प्रदर्शक थे। इसलिए उन्होंने मातृ-भक्ति का भी बड़ा अनन्य उदाहरण सब के सम्मुख प्रस्तुत किया।

सिरसा-खेड़ी

पण्डित प्रभुदत्त जी के अन्य तीन भाइयों का परिवार उनकी जन्मभूमि के गाँव

सिरसाखेड़ी में ही रहता था। उन लोगों के प्रति भी पण्डित प्रभुदत्त जी का सदा वैसा ही परम आत्मीयतापूर्ण भ्रातृभाव बना हुआ था। इसीलिए वे बीच-बीच में जब तब अवसर निकाल कर अपने गाँव पर जाकर अपने भाइयों का और उनके परिवारों का कुशल-मंगल पूछ आते तथा जब कभी आवश्यकता पड़ती तो समय-समय पर हर प्रकार की सहायता देते ही रहते थे।

जन्मभूमि से स्नेह

यद्यपि पं० प्रभुदत्त जी पूर्णतः ऐसे काशी-वासी हो गये थे कि वे काशी के और काशी उनकी हो गयी थी और यहाँ उन्होंने डी० ७।१५ सकरकन्द गली में अपना भव्य-भवन भी बनवा लिया था, फिर भी उन्होंने अपना जन्म-भूमि का सम्बन्ध कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने अपने गाँव में भी विशाल भव्य-भवन बनवा दिया, जिससे अपने परिवार वालों को भली प्रकार सुख से रहने सहने की सुविधा हो। यह भवन उन्होंने इतनी तत्परता के साथ बनवाया कि स्वयं उसके निर्माण की देख-रेख करते रहे और काशी से कारीगर तथा चुनार से पत्थर ले जाकर उसे बनवाते रहे। आज भी उनका वह भव्य-भवन उनके ग्राम सिरसा खेड़ी में उनकी पुनीत स्मृति को अक्षुण्ण बनाये हुए खड़ा है।

सरोवर-निर्माण

शास्त्रीजी की जन्म-भूमि सिरसा खेड़ी गाँव में उन दिनों कोई ऐसा सरोवर या पुष्करिणी नहीं थी, जहाँ गाँव भर के पशुओं और मनुष्यों को समय पर यथेष्ट जल मिल सके। उष्ण काल में वैशाख और ज्येष्ठ की गरमी के समय इतना भयंकर जलकष्ट होता था कि पशुओं और मनुष्यों के लिये दूर-दूर से जल मँगाकर काम चलाना पड़ता था। यदि गाँव में कोई बड़ा जलाशय होता तो वर्षा का जल एकत्र करके जलके अभाव की पूर्ति की जा सकती थी। फलतः एक बार जब पण्डित प्रभुदत्त जी अपने गाँव पहुँचे तो सब ग्राम-वासियों ने मिलकर उनसे निवेदन किया कि—"पण्डित जी आप बड़े भाग्यशाली हैं। भगवान् ने आप को सब प्रकार से साधन-सम्पन्न किया है। आपकी विद्वत्ता और तेज के कारण केवल इस ग्राम का ही नहीं, समस्त भारत का मस्तक ऊँचा हुआ है। यदि आप-जैसे सम्पन्न महापुरुष के होते हुए भी हम लोग आपके ग्राम-वासी जलाशय के अभाव में घोर जलकष्ट का अनुभव करें तो आपको भी स्वभावतः क्लेश होगा। ऐसी स्थिति में आपसे हमारा अत्यन्त आग्रहपूर्वक नम्र निवेदन है कि यदि आपकी कृपा हो जाय तो आप के इस ग्राम में एक जलाशय का निर्माण हो जाय जिससे ग्राम-वासियों का जलकष्ट तो दूर हो ही जाय, साथ ही इस ग्राम के निवासियों की वर्तमान और आगामी सब पीढ़ियाँ अत्यन्त कृतज्ञता के साथ आप का यशोगान करें और निरन्तर आप का भला मनावें।

अपने ग्राम-बन्धुओं का यह निवेदन सुन कर पण्डित प्रभुदत्त जी कुछ देर तक तो मौन रहे, फिर सहज शान्त गम्भीर स्वर में बोले कि 'मुझे जलाशय

बनवाने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु आप लोगों को भी थोड़ा-सा सहयोग देना होगा और वह यही कि शारीरिक परिश्रम तो आप लोग कीजिये और जितना द्रव्य लगेगा उसकी व्यवस्था मैं कर दूँगा।' पण्डित जी का यह प्रस्ताव सबको बहुत रुचिकर और प्रिय प्रतीत हुआ। सब ग्रामवासी सम्मिलित होकर सेवा-कार्य में जुट गये और सामूहिक श्रम के द्वारा उन्होंने ग्राम के उपकण्ठ में शीघ्र ही बड़ा-सा जलाशय खोदकर तैयार कर दिया और जलाशय खोदे चुके जाने की सूचना पण्डित जी को काशी भेज दी। ज्यों ही यह सूचना उन्हें काशी में मिली त्यों ही वे काशी से चलकर अपनी जन्मभूमि पर आये और कई मास वहाँ रहकर उन्होंने बीसों सहस्र रुपये व्यय करके वहाँ पक्का तालाब बनवा दिया, जिसके दोनों ओर पुरुषों और महिलाओं के प्रयोग के लिये अलग-अलग पक्के घाट बनवा दिये। इतना ही नहीं, वहाँ आने वाले शरणार्थी लोगों को वर्षा और धूप से विश्राम देने के लिये दो पक्के दालान भी अलग-अलग पुरुषों और स्त्रियों के लिये बनवा दिये। आज भी सिरसा-खेड़ी ग्राम के निवासी और वहाँ आने वाले अन्य बाहर के अतिथि तथा पथिक अथवा आस-पास के ग्रामों के निवासी अत्यन्त श्रद्धा के साथ पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री के इस उपकार का बखान करते हुए अघाते नहीं। इस जलाशय से जहाँ एक ओर ग्रामवासियों को अपार सुख और सौविध्य प्राप्त हुआ है वहीं यह जलाशय पण्डित प्रभुदत्त जी की कीर्ति का स्थायी स्मारक भी बन गया है।

शिक्षा से प्रेम

शिक्षा के प्रति आपका स्वाभाविक प्रेम था, क्योंकि आपने स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त करके इसके लाभ का स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किया था। उनकी सदा यही इच्छा रहती थी कि हमारे देश का कोई भी व्यक्ति अपढ़ और निरक्षर न रह जाय, इसलिये वे कभी किसी अच्छी शिक्षण-संस्था की दयनीय दशा न देख सकते थे, न सहन कर सकते थे। इसलिये जब कभी ऐसी लोकोपकारी संस्थाओं में आर्थिक अभाव के कारण कोई बाँधा पड़ती थी तो वे यथासम्भव पूर्ण शक्ति के साथ उसे दूर करने में तत्पर और सन्नद्ध रहते थे। इतना ही नहीं, वे स्वयं अपने पास से अधिक से अधिक आर्थिक सहायता देने की उदारता दिखाते थे। एक बार आपने पंजाब के हिसार प्रान्त में रोहतक नगर के 'गौड ब्राह्मण हाई स्कूल' को एक सहस्र रुपये प्रदान कर अपनी स्वाभाविक दानशीलता का ज्वलन्त परिचय दिया।

सुखी गृहस्थी

श्री प्रभुदत्त जी की सहधर्मिणी श्रीमती नान्ही देवी का यह पुण्य प्रताप था और शास्त्री जी की तपस्या का यह अभिमत फल था कि उनका पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुख—शान्तिमय और समृद्धिपूर्ण था। चाणक्य ने ऐसे ही परिवार का चित्रण करते हुए एक श्लोक कहा है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता प्रियालापिनी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिव-पूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः संगमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

[आनन्द-दायक भवन, विद्वान् तथा बुद्धिशाली पुत्र, प्रियभाषिणी पत्नी, विश्वस्त प्रिय मित्र, पर्याप्त धन, अपनी स्त्री में प्रेम, आज्ञापालक सेवक, अतिथियों का सत्कार, नित्य-प्रति शिव का पूजन, घर में नित्य-प्रति स्वादिष्ट भोजन-पान और निरन्तर सज्जन पुरुषों का संग हो, वह गृहस्थ आश्रम धन्य है।]

एक प्राचीन सुभाषित में छह प्रकार के सुखों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

[मनुष्य मात्र के लिये छह सुख प्रधान माने गये हैं—नित्य धन का आगम हो, सब लोग घर में स्वस्थ और नीरोग रहें, पत्नी अत्यन्त प्रिय और मधुर भाषिणी हो, पुत्र आज्ञाकारी हो और अपने पास धन कमाने वाली विद्या हो।]

उपर्युक्त श्लोकों में जिन सुखों के प्रति संकेत किया गया है, वे सभी प्रकार के सुख पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री के गृहस्थाश्रम में विद्यमान थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र पण्डित विद्याधर जी गौड आप से भी अधिक विद्या-वैभव सम्पन्न हुए और उन्होंने भी शास्त्री जी के ही समान भारत सरकार से 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्राप्त की। पण्डित प्रभुदत्तजी की धर्मपत्नी श्रीमती नान्हीं देवी साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा थीं। आपके मित्रों में भारतवर्ष के सभी वर्गों के प्रमुख महापुरुष, धनी और नेतागण थे। आपने अपने पुरुषार्थ से इतनी अतुल सम्पत्ति अर्जित की थी कि उनके घर में किसी प्रकार की किसी वस्तु की कमी नहीं थी। घर में घी-दूध की नदी बहती थी। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने अन्य सम्बन्धियों और परिवार वालों को भी अपनी उदारता से सम्पन्न कर दिया था। उनके मित्र और शिष्य भी कभी उनकी स्नेहमयी कृपा से वञ्चित नहीं रहे।

अतिथि-सत्कार

पं० प्रभुदत्त जी का द्वार सदा अतिथि-अभ्यागतों के लिये खुला रहता था। नित्य-प्रति अनेक सज्जन दूर-दूर से उनके यहाँ आया करते और सभी वहाँ यह अनुभव करते, मानो अपने ही घर में विद्यमान हैं। छात्रों के लिये तो वे साक्षात् कल्पवृक्ष थे। सैकड़ों विद्यार्थी उनके यहाँ निवास करके और उनका पोषण प्राप्त करके वहीं विद्याध्ययन करते थे और विद्यार्जन कर चुकने के पश्चात् अत्यन्त कृतज्ञता के साथ बाहर जाकर अपनी सात्त्विक जीविका से अपने परिवार का पोषण करते थे और जब कभी किसी को किसी बात की आवश्यकता होती तो तत्काल उनसे सब प्रकार की सहायता भी प्राप्त कर लेते थे।

गो-सेवा

गो-सेवा में आपका अनन्य अनुराग था। भगवान् श्रीकृष्ण ने एक बार अपनी यह कामना व्यक्त की थी—

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

[गौवें मेरे आगे हों, गौवें मेरे पीछे हों, गौवें मेरे हृदय में हों और मैं गौवों के बीच में रहूँ।]

ठीक यही बात अग्निहोत्री जी के साथ थी। गौवें उन्हें इतनी प्रिय थीं कि वे निरन्तर अनन्य-भाव से गौवों की सेवा में संलग्न रहते थे। उनकी देख-रेख करना, खिलाना-पिलाना, नहलाना-धुलाना, उनके स्थान की सुख-सुविधा का ध्यान रखना, सब काम वे अपने हाथ से करते थे। उन्हें कभी दूसरों के हाथ से गौ की सेवा कराना अच्छा ही नहीं लगता था। वे नित्य-प्रति प्रातःकाल स्वयं अपने हाथ से जब तक उन्हें सानी-पानी करके खिला-पिला नहीं लेते थे और गोबर उठाकर उनका स्थल नहीं स्वच्छ कर देते थे तब तक उन्हें संतोष नहीं होता था। उनका अटल विश्वास था कि 'इहलोक और परलोक की सिद्धि के लिये गो-सेवा से बढ़कर कोई दूसरा कल्याणकारी मार्ग नहीं है।' अतः ऐहिक और पारलौकिक सब प्रकार के सुखों की इच्छा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को नित्य-प्रति गौ की सेवा करनी चाहिये। प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य है कि वह कम से कम एक गौ अवश्य रक्खें। यदि देश की समृद्धि करनी हो तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर एक गौ का पालन करके नियमित रूप से उसकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि गौ सब प्रकार से हितकारिणी होती है। गौ के दूध से बालकों को स्वस्थ आहार मिलता है, बड़ों का शरीर पुष्ट होता है। वृद्धों की तेज-वृद्धि होती है, सभी को सात्त्विक बुद्धि उत्पन्न होती है, कभी रक्त-चाप का दोष नहीं होता, उदर-विकार नहीं होता, मस्तिष्क ठंढा रहता है, बुद्धि बढ़ती है, कान्ति और तेज में वृद्धि होती है तथा बलवीर्य का संवर्द्धन होता है। गौ के गोबर से कंडे बनाकर उसकी अग्नि की धुएँ का सेवन करने और राख रखने से कीटाणुओं का नाश होता है। ऐसे उपयोगी जीव का पालन करना स्वतः आनन्ददायक सुव्यसन है, क्योंकि गौ मानवीय जीव है, उसे मनुष्य-समाज में रहने का चाव है और जो उसकी सेवा करता है उसका हित करने के अतिरिक्त वह उससे स्नेह भी करती है और उसी प्रकार स्नेह करती है जैसे कोई घर का प्राणी होता है। गौ को घर में रखने से और उसकी सेवा करने से घर के सभी लोग सक्रिय और कर्मण्य हुए रहते हैं, उनके कारण ही प्रातःकाल उठते हैं, वह अमृतमय दूध देकर सारे परिवार का पोषण करती है। इन सब अनेक कारणों से पण्डित प्रभुदत्त जी स्वयं लोगों की सेवा करते थे, अन्य सभी लोगों को गो-सेवा के लिये उत्साहित करते थे।

गौ में भक्ति होने का कारण

पं० प्रभुदत्तजी की गो-सेवा और गो-भक्ति के सम्बन्ध में बड़ी रोचक कथा है—युवावस्था में सहसा एक बार उनके मुख पर पक्षाघात (लकवे) का आक्रमण हो गया था। यह सहज कल्पना की जा सकती है कि जिसने व्यायाम के द्वारा अपनी शारीरिक शक्ति भली प्रकार समृद्ध कर ली हो, मल्ल-युद्ध में अनेक मल्लों को अखाड़े में पछाड़ दिया हो, उसे इस प्रकार का आकस्मिक आघात सहना पड़े तो उसे कितना हार्दिक क्लेश होगा। इस चिन्ता में आप बहुत व्याकुल थे कि एक दिन रात को स्वप्न में गो-माता ने आपको दर्शन देकर मानवीय वाणी में आदेश दिया कि 'तुम रोग छूटने तक नित्य-प्रति गो-मूत्र का सेवन किया करो। इससे तुम्हारा रोग समूल नष्ट हो जायगा, यह मेरा आशीर्वाद है।' उसी दिन से आपने अपने घर गौ की सेवा करने और गो-पालन करने का व्रत ले लिया और नित्य-प्रति गोमूत्र का पान करने लगे। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में वे पूर्णतः नीरोग हो गये और जीवन-पर्यन्त अत्यन्त उत्साह, लगन और भक्ति के साथ गौ-की सेवा करने लगे। इसी प्रसंग में एक बार उन्होंने बताया था कि उत्तर प्रदेश के पूर्वीय क्षेत्रों और बिहार के कुछ प्रदेशों में श्लीपद रोग की बहुलता होती है, जिसका एकमात्र उपचार गोमूत्र है। जिस व्यक्ति को श्लीपद रोग हुआ हो यदि वह नियमित रूप से नित्य-प्रति गो-मूत्र का पान करे तो उसकी थोड़े दिनों में उस रोग से मुक्ति हो जाती है। यजुर्वेद में तो लिखा ही है कि जो व्यक्ति चालीस दिन तक निरन्तर काली गौ के मूत्र का पान कर ले वह थोड़े ही दिनों में ऐसा सुकण्ठ हो जाता है कि किन्नरों के साथ स्वर मिलाकर गा सकता है—'किन्नरैः सह गीयते।' पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री केवल इस भौतिकवादी लाभ की दृष्टि से ही नहीं, वरन् दार्शनिक दृष्टि से भी गो-सेवा और गो-दर्शन को समस्त सुख, समृद्धि तथा ऐश्वर्य का अमोघ साधन मानते थे।

गावस्त्रैलोक्यमातरः

भारत में तो सदा से विश्वास रहा है—'गावस्त्रैलोक्यमातरः' (गौवें तीनों लोकों की माता हैं)। इसलिये वेदों, पुराणों और भारतके सभी धर्म-ग्रन्थों में गौ माता की महिमा का बड़ा गुणगान किया गया है। इतना ही नहीं, योरोपीय वैज्ञानिकों ने भी गौ के दूध को पूर्ण भोजन माना है। गौ के दूध की प्रशंसा करते हुए उन्होंने बताया है—गाय अद्भुत रसायनशाला है। वह घास-पात खाकर मनुष्य-मात्र के लिए ऐसा पौष्टिक भोजन प्रस्तुत कर देती है जैसा विश्व में कहीं नहीं मिल सकता। वह अमृत पिलाती है। हमारे यहाँ शास्त्रों में भी कहा गया है—

तृणानि भक्षते नित्यममृतं स्रवते प्रभो।
पयसा हविषा दध्ना शकृता चाथ चर्मणा॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
पवित्रं परमं ज्ञेयं स्नाने पाने च भार्गव॥

गौ केवल घास खाकर नित्य अमृत देती है और अपने दूध, घी, दही, गोबर और चाम से सेवा करती है। गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशोदक—ये पदार्थ स्नान और पान दोनों कामों के लिये परम पवित्र माने गए हैं।

गौ के दूध, दही, मक्खन और घी के गुणों का यथार्थतः वर्णन नहीं हो सकता। गोमूत्र और गोबर की भी बड़ी महिमा बताई गई है। जिस लक्ष्मी की उपासना भारत का वैश्यवर्ग करता है और आज के जिस व्यापार पर सब देशों की उन्नति ही नहीं, अभ्युदय भी निर्भर है, उसका आधार, उस लक्ष्मी और संपत्ति का अवलम्ब गोबर है। भारत तो कृषि-प्रधान देश है, जिसका जीवन खेती पर अवलम्बित है। भारत के किसान गाय-बैल का गोमूत्र और गोबर की खाद खेतों में डालकर चौगुनी-पंचगुनी नहीं, वरन् कई गुनी उपज खेतों से निकाल लेते हैं।

गौ का मूल्य

पुराणों में कथा आई है कि एक बार जल में समाधि लगाकर तप करते हुए च्यवन ऋषि को मछुओं ने जाल में फँसा लिया। ऋषि ने पूछा कि मुझे क्यों जाल में फँसाया? तब मछुओं ने कहा कि हमारा व्यापार ही मछली फँसाकर बेचना और उसी से अपने परिवार का पालन-पोषण करना है। इस पर ऋषि ने आज्ञा दी कि तुम मुझे भी बेचकर अपना कार्य करो। बहुत नहीं-नहीं करने पर जब ऋषि न माने, तब मछुए उन्हें उस देश के राजा के पास ले गये। जब राजा ने ऋषि के बदले मछुओं को कुछ धन देना चाहा तब ऋषि ने पूछा कि 'मेरा मूल्य क्या इतना ही धन है?'। राजा बड़े संकट में पड़ गया। जब राजा अपना समस्त राज्य तक देने को तैयार हो गया तब भी ऋषि ने कहा कि 'मेरा मूल्य क्या केवल तुम्हारा छोटा-सा राज्य भर है?' तब राजा ने ऋषियों की सम्मति से एक गौ च्यवन ऋषि के सामने लाकर खड़ी कर दी। च्यवन ऋषि चुप हो गए, क्योंकि गाय में सब देवता वास करते हैं। और कहा भी गया है—'गोभिर्न तुल्यं धनमस्ति किञ्चित्' (गौके समान कोई धन नहीं है)।

गौ का महत्त्व

पौराणिक कथा से परिचित लोग जानते ही होंगे कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का जन्म गो-दुग्ध के हवि के प्रसाद से हुआ था। गोबर सूंघने और नखों में लगाने से क्षय-जैसा भयंकर रोग भी नष्ट हो जाता है। महादेव गोबिन्द रानाडे ने एक साधु के आदेश से एक वर्ष तक गौ को गेहूँ खिला-खिला कर उसके गोबर में से निकले हुए गेहूँ को धो सुखाकर उसके आटे की रोटी बना-बना कर खाई। फल यह हुआ कि वे दीर्घ-जीवी सन्तान पा सके। आयुर्वेद के ग्रन्थों में गो-दुग्ध की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि धारोष्ण दूध

सर्वश्रेष्ठ होता है—'उक्तं गव्यादिकं दुग्धं धारोष्णममृतोपमम् ।' गोदुग्ध में सोंठ घिसकर लगाने से सिर की पीड़ा दूर हो जाती है। कच्चा दूध, घी और मिसरी खाने से गर्मी दूर हो जाती है। गरम दूध और सोंठ का सेवन करने से हिचकी दूर होती है। गौ के दूध में पत्थर बुझाकर पीने से दस्त बन्द होते हैं। छुहारे या अखरोट के साथ गौ के दूध का सेवन करने से वीर्य की वृद्धि होती है तथा मोटापन दूर होता है। तत्काल निकाले हुए दूध में नीबू का रस डालकर सेवन करने से रक्तार्श दूर होता है। काली मिर्च और गर्म दूध पीने से प्रतिश्याय (जुकाम) दूर होता है। मलाई के साथ मिसरी खाने से वीर्य-वृद्धि और रक्त-शुद्धि होती है। गुड़ और गर्म दूध पीने से लघुशंका होती है। गर्म दूध में मधु मिलाकर पीने से कफ दूर होता है। दूध के साथ चार पीपल पीने से जीर्ण ज्वर दूर होता है। कैथ की पत्ती का चूर्ण दूध और मिसरी के साथ पीने से धातु-रोग दूर होता है। गौ के दूध के साथ कैथ की पत्ती और सतावर सेवन करने से स्त्रियों का दूध शुद्ध होता है। श्यामा गौका दूध पीने से क्षय रोग दूर होता है।

गौ के दूध का दही अग्निवर्धक है। दही-खाँड़ खाने से जुकाम दूर होता है। दही में पानी और भूना हुआ जीरा मिलाकर पीने से अजीर्ण दूर होता है। दही-भात खाने से दस्त बन्द होता है तथा आँव की मरोड़ दूर होती है। दही के साथ मिसरी खाने से प्यास शान्त होती है। सिर पर दही मलने से बाल कोमल होते हैं। आयुर्वेद में कहा गया है—

न तक्रसेवी व्यथते कदाचित् न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः॥

[मट्ठा पीने वाले को कभी कोई रोग नहीं होता। मनुष्यों के लिये मट्ठा वैसा ही है जैसा देवताओं के लिए अमृत।]

भोजन के आध घण्टे पश्चात् मट्ठा पीना चाहिए। अजवायन और मट्ठा पीने से अतिसार (दस्त आना), उदर रोग तथा वायुगोला दूर होता है। पीली हरड़ और छाछ सेवन करने से संग्रहणी दूर होती है। मिसरी और मट्ठा पीने से लूबंद दाह दूर होता है। मट्ठा और मधु सेवन करने से दस्त बन्द होते हैं। मट्ठा पीने से बादी दूर होती है तथा तिजरिया शीतज्वर, विषमज्वर, पेट के समस्त रोग और प्रदर रोग दूर होते हैं। तक्र (मट्ठा या छाछ) तो इन्द्र के लिये भी दुर्लभ बताया गया है। आयुर्वेद में कहा गया है—

शयनान्ते पिबेद्वारि मैथुनान्ते पिबेत्पयः।
भोजनान्ते पिबेत्तक्रमेतच्छक्रस्य दुर्लभम्॥

[शयन के पश्चात् जल पीना चाहिए, मैथुन के पश्चात् दूध पीना चाएहि, भोजन के पश्चात् मट्ठा पीना चाहिए, यह इन्द्र के लिये भी दुर्लभ है।]

गौ का घी और मक्खन आयुर्वर्द्धक, रुचिप्रद और शक्तिवर्द्धक होता है। धोया घी लगाने से फुन्सी, जलन और सिरकी पीड़ा दूर होती है। गो-मूत्र का सेवन करने से नेत्र-रोग, उदर-कृमि, पाण्डुरोग, कान की पीड़ा और तिल्ली दूर होती है। आम की गुठली गोमूत्र के साथ घिसकर लगाने से अंड-वृद्धि कम होती है। राख के साथ गो-मूत्र लगाने से फोड़ा अच्छा होता है। गो-मूत्र में सरसों पीसकर लगाने से फीलपांव का रोग दूर होता है। अरण्ड का तेल और गोमूत्र सेवन करने से पेट के कीड़े नष्ट होते हैं। मुख पर गोमूत्र लगाने से मुख की झाईं दूर होती है। काली गौ का मूत्र तीन दिन धूप और चांदनी में रखकर पाँच-पाँच बूँदे दूध में डालकर बच्चे को पिलाने से सूखा रोग (सुखंडी) दूर होता है। गाय का गोबर लगाने से घाव भरता है। नमक रखने के मिट्टी के बर्तन का चूर्ण और गोबर लगाने से शरीर पर पसीना नहीं आता और शरीर की दुर्गन्ध दूर होती है। गोबर से लीपने से स्थान पवित्र होता है। इस प्रकार गौ का दूध, दही, मट्ठा, गोबर और गोमूत्र सभी से मनुष्य का हित होता है। फिर उसे माता क्यों न माना जाय?

गौ-माता के दूध, दही, घी से अनेक प्रकार की मिठाइयाँ और भोजन-पदार्थ बनाए जाते हैं। जो व्यक्ति निरन्तर गाय का दूध और उसके घी का सेवन करता है वह दीर्घजीवी होता है। यही कारण है कि भारत के निवासियों का समस्त भौतिक सुख और धार्मिक जीवन गौ पर ही अवलम्बित है। हमारे लिये तो मृत्यु के पश्चात् भी गौ ही वैतरणी से पार करती है।

सर्वगुण-सम्पन्नता

महापुरुषों में जो सब गुण अपेक्षित होते हैं उनकी वे साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। छल उनको छू भी नहीं गया था, वे स्पष्ट और प्रिय वक्ता थे। कोई भी कटु से कटु और अप्रिय से अप्रिय बात भी न तो कभी छिपाते थे और न कभी किसी के भय या संकोच से सत्य और स्पष्ट कहने में हिचकते थे। क्योंकि उनका मत था कि यदि कटु बात कह देने से किसी का हित होता हो तो केवल मिथ्या लोकाचार की रक्षा के लिये चाटुकारी का आश्रय लेकर उसे भ्रम में डाले रखना घोर अपराध है। यदि कभी कोई व्यक्ति उनके सम्मुख किसी प्रकार का कोई अनुचित कार्य कहता या करता अथवा करने की इच्छा व्यक्त करता, तो वे अत्यन्त स्पष्ट और दृढ शब्दों में उसे उचित निर्देश और परामर्श देते हुए अपना सत्य मन्तव्य व्यक्त कर देते थे। वे कभी किसी का भी अनुचित दबाव कथमपि सहन नहीं करते थे। यहाँ तक कि बड़े-बड़े सेठ, धनी, राजा-महाराजाओं तक को भी फटकारने में संकोच नहीं मानते थे। सब लोग जानते थे कि वे जो बात कहते हैं उसमें लोभ या स्वार्थ की कोई भावना नहीं रहती, इसलिये सभी लोग उनकी बातों का आदर करते थे।

कीर्त्ति और वैभव

पण्डित प्रभुदत्त जी ने अपने परिश्रम से ही कीर्त्ति और सम्पत्ति अर्जित

की थी। आप में इतना अदम्य साहस और इतनी लगन विद्यमान थी कि कभी-कभी उपकरणों के अभाव में आपने केवल अपने अलौकिक पुरुषार्थ और सत्-साहस से ही अपने कार्यों में सर्वदा सिद्धि प्राप्त की। आपका धैर्य अतुलनीय था। कठिन से कठिन विपत्ति या बाधा पड़ने पर भी आप कभी विचलित नहीं होते थे। एक बार आप बहुत रुग्ण हो गये थे। परिवार का सारा भार भी आपके कन्धों पर ही था। ऐसी परिस्थिति में कोई भी सामान्य व्यक्ति सरलता से विचलित हो सकता था, किन्तु आप में ऐसा अतुल धैर्य था कि उस शारीरिक अस्वस्थता की दशा में भी आपने न केवल अपने धैर्य का परिचय दिया वरन् अन्य लोगों को भी धैर्य प्रदान किया। इस धीरता की अवस्था में इनकी विमल विवेकवती बुद्धि सदा सहायक बनी रही। अनेक प्रकार की जटिल समस्याओं का क्षण भर में सरलता के साथ सुलझा देना इनके बायें हाथ का खेल था। हमारे यहाँ एक पुरानी उक्ति है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

[विपत्ति में धैर्य, समृद्धि में क्षमा, सभा में वाक्पटुता, युद्ध में पराक्रम, यश में अभिरुचि, वेद में चाव, यह महात्माओं का प्रकृति-सिद्ध व्यवहार होता है।]

सचमुच ये सभी गुण पूर्ण मात्रा में शास्त्री जी में विद्यमान थे। अतुलित धैर्य, अपरिमित उदारता और क्षमा, अगाध पाण्डित्य और वेद में निष्ठापूर्ण अभिरुचि, ये सभी दैव-गुण तो उनके जीवन में ओत-प्रोत थे। यों कहना चाहिए कि वे पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के महान् यशस्वी साधक थे।

शिष्य-सम्पत्ति

महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री जी के जिन अनेक शिष्यों ने दूर-दूर तक यश अर्जित किया, उनमें निम्नाङ्कित विशेष प्रसिद्ध हैं—

१ स्व० महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधर गौड, काशी।
२ स्व० पं० भीमसेन चतुर्वेदी (अध्यापक—हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी)
३ ,, ,, नाथूराम गौड़ ,, ,,
४ ,, ,, विजयचन्द्र चतुर्वेदी वेदाचार्य (अध्यापक-गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, काशी)
५ ,, ,, अजबलाल झा वेदतीर्थ (अध्यापक-रणवीर सं० पाठ० काशी)
६ ,, ,, अमरनाथ दीक्षित सारस्वत (याज्ञवल्क्य शिक्षा के टीकाकार) काशी।

७ स्व० पं० शशिभूषण अग्निहोत्री, काशी।
८ ,, ,, काशीनाथ अग्निहोत्री कर्मकाण्डाचार्य, काशी।
६ ,, ,, महामहोपदेशक पं०धर्मदत्त वेदशास्त्री (स्वामी धर्मेन्द्रपुरी) काशी।
१० ,, ,, महामहोपदेशक पं० धूमावती पाण्डेय, काशी।
११ ,, ,, रघुवीरदत्त गौड वेदाचार्य (अध्यापक-लक्ष्मणदास यजुर्वेद विद्यालय, खुरजा)।
१२ ,, ,, विश्वनाथ ठाकुर (अध्यापक-विशुद्धानन्द विद्यालय, कलकत्ता)।
१३ ,, ,, देवानन्द झा वेदाचार्य (अध्यापक-गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता)।
१४ ,, ,, शशिनाथ मिश्र (अध्यापक-लक्ष्मीश्वरी सं०विद्यालय, दरभंगा)।
१५ ,, ,, त्रिवेणीश झा वेदाचार्य (अध्यापक—चन्द्रभूषण संस्कृत विद्यालय, खुरखुरा, गया)।
१६ ,, ,, भोलानाथ ब्रह्मचारी अग्निहोत्री (संस्थापक—ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, परमट, कानपुर)।
१७ पं० श्री रामचन्द्र वाजपेयी, कर्मकाण्ड विशारद (अध्यापक—वैदिक पाठशाला कानपुर)।
१८ ,, ,, कन्हैयालाल ज्योतिषी भृगुशास्त्री काशी।
१६ ,, ,, गौरीशंकर वैदिक भृगुसम्राट् ,,
२० ,, ,, जोखीराम गौड अग्निहोत्री ,,
२१ ,, ,, शम्भुदत्त द्विवेदी कर्मकाण्डी ,,
२२ ,, ,, हरिनारायण सारस्वत कर्मकाण्डी ,,

सुयोग्य सन्तति

'बाढ़ै पूत पिता के धर्मो' वाली कहावत के अनुसार आप के तीन पुत्र और एक कन्या थी। आपके सभी पुत्र-रत्न अत्यन्त योग्य, यशस्वी और विद्वान् हुए। आपके सबसे ज्येष्ठ पुत्र पण्डित विद्याधर शर्मा गौड काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मविज्ञान विभाग के अध्यक्ष तथा डीन् आफ् दी फैकेल्टी थे। आप नम्रता, शील, सौजन्य, सदाचार और सौहार्द की साक्षात् मूर्ति थे। इनके पढ़ाये हुए सैकड़ों धर्माचार्य और वेदाचार्य सम्पूर्ण भारतवर्ष में वेद और धर्म-शास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं। अपनी अद्भुत विद्वत्ता और नम्र स्वभाव से इन्होंने भारत के वेदज्ञों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त किया और पिताजी की मृत्यु के बाद श्रौताधान स्वीकार कर लिया। आप के द्वितीय पुत्र पण्डित शिवदत्त मिश्र काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में बहुत वर्षों तक न्याय शास्त्र के प्रधानाध्यापक रहे। शास्त्री जी के तीसरे पुत्र पण्डित देवदत्त शर्मा भी वैदिक विधि-विधान में तथा पौरोहित्य कर्म में बड़े ही प्रवीण और कुशल थे। ये अत्यन्त

सुशील, विनम्र और मृदुभाषी थे। सन् १९३७ में अकस्मात् इनका स्वर्गवास हो गया।

अस्वस्थता और गृहत्याग

अपने योग्य पुत्रों के सब प्रकार से समर्थ हो जाने पर आपने अपना सारा गृहस्थी का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र (पं० विद्याधर जी) को सौंप दिया और काशी से लगभग चार-पाँच मील दूर सारनाथ में पंचक्रोशी की सड़क पर अपने निजी एक उद्यानगृह में अन्तिम दिनों में आप वहीं जाकर रहने लगे थे। उस उद्यान में लगभग डेढ़ वर्ष व्यतीत होने पर उनके पौत्र श्री बलदेव प्रसाद मिश्र (पण्डित विद्याधर जी के ज्येष्ठ पुत्र) का विवाह निश्चित होने पर आप अपने पौत्र के विवाह में सम्मिलित होने अपनी जन्म-भूमि सिरसाखेड़ी, जिला जीन्द (पूर्वी पंजाब) में पहुँचे और वहाँ लगभग एक मास तक निवास करते रहे। उस एक मास के जन्म-भूमि वास में आपने अपने सब परिवार वालों से तथा ग्रामवासियों से स्नेह-पूर्वक मिलकर प्रसंग में अपने परिजनों के बीच एक दिन स्पष्ट घोषित कर दिया कि 'मेरा अपने इस ग्राम में यह अन्तिम आगमन और आप सब लोगों से अन्तिम मिलन है।' उनका यह वचन सुनकर सभी परिवार वालों और ग्रामवासियों को हार्दिक दुःख हुआ। विचित्र बात यह हुई कि जब पौत्र की बारात गाँव लौटने लगी, तो आप गाँव की ओर न जाकर सीधे काशी लौट आये और सारनाथ में स्थित उद्यानमें न जाकर सीधे अपने सकरकन्द गली वाले मकान में ही आकर रहने लगे। यद्यपि वे पहले से ही अस्वस्थ थे, किन्तु इस यात्रा के पश्चात् वे कुछ अधिक अस्वस्थता का अनुभव करने लगे। उनकी इस रुग्णता का समाचार सुनकर आपके अनेक भक्त और शिष्य निरन्तर आपके निवास-स्थान पर आ-आकर आप का दर्शन करते और कुशल पूछते रहे। महामना मालवीय जी महाराज, राजा बलदेवदास बिरला, रायकृष्ण जी, बाबू शिवप्रसाद गुप्त और काशी के तत्कालीन कमिश्नर श्री बी० एन० मेहता प्रभृति अनेक महापुरुष और सज्जन उनके दर्शन और कुशल समाचार जानने के लिये निरन्तर आते रहे।

संसार में कोई वस्तु और कोई भी व्यक्ति अनश्वर नहीं है। हमारे यहाँ तो विश्वास है--

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

[आयु, कर्म या व्यवसाय, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच वस्तुएँ गर्भ में स्थित होने के साथ ही जीव के लिये निश्चित हो जाती हैं।]

गोलोकवास

महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त जी के अस्वस्थ होने पर भी उनके नित्य-कर्ममें कभी कोई बाधा नहीं पड़ी।

१९८६

पौष शुक्लतृतीया को उत्तरायण के संक्रमण समय में ही सम्बत् १६८५ विक्रमी में अपने तीनों पुत्र और पण्डित नाथूराम गौड, पण्डित व्रजबलाल झा और पण्डित हरिनाराण सारस्वत आदि कई शिष्यों के समक्ष प्रातःकाल सन्ध्यावन्दन आदि नित्य-कर्म समाप्त करके अरिष्ट-निवृत्ति के लिये तुलादान करने के निमित्त ज्योंही उन्होंने हाथ में अर्घ्यपात्र लिया कि वह ज्यों का त्यों हाथ में ही रह गया, आपकी आँखें पलट गयीं, नाड़ी छूट गयी। प्राणवायु तथा चैतन्य तत्त्व दोनों शरीर छोड़ कर निकल गये और यह वचन चरितार्थ हो गया--

अनायासेन मरणं विना दैन्येन जीवनम्।
अव्यर्थं यस्य वचनं धन्यं कस्यापि जीवनम्॥

[उस पुरुष का जीवन धन्य है जिसकी अनायास मृत्यु हो जाय, जिसे जीवन में किसी के आगे दैन्य न दिखाना पड़े और जिसका वचन कभी व्यर्थ न हो।]

महामहोपाध्याय जी के इस प्रकार सहसा कैलास-वास से काशी अनाथ हो गयी, वेदविद्या का भासमान सूर्य सदा के लिये अस्त हो गया, सम्पूर्ण काशी के विद्वानों में शोक व्याप्त हो गया और सभी विद्वान् इनके अन्तिम दर्शन के लिये इनके घर पर आ जुटे।

महामहोपाध्याय पण्डित श्री प्रभुदत्तजी गौड ने वेदविद्या की जो उदात्त परम्परा स्थापित की थी उसे उनके सुयोग्य पुत्र पण्डित विद्याधर जी गौड ने निरन्तर वृद्धिङ्गत रक्खा और उन्होंने इस कलियुग में वेद और वैदिक कर्मकाण्ड का उद्धार करके जो धर्म-नेतृत्व किया था उसे भारतवर्ष के सभी विद्याप्रेमी अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ सदा स्मरण करते रहेंगे।

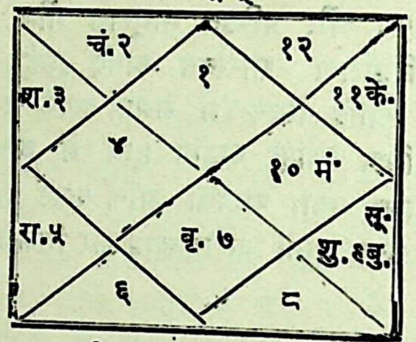
पण्डित विद्याधर गौड का जन्म

पण्डित विद्याधर गौड का जन्म अपने नाना के घर जिला रोहतक के 'पूठी' नामक ग्राम में पौष कृष्ण १३, शुक्रवार संवत् १९४३ विक्रमी को हुआ!

जन्म-कुण्डली

श्री शुभ संबत् १९४३ शके १८०८ याम्यगोलावलम्बिनि भगवति भास्करे याम्यायने हेमन्ततौ मासानामुत्तमे मासे पौषमासे शुभे शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां तिथौ भृगुवासरे ०।३३ रोहिणीभे २३।३४ शुक्लयोगे ३२।८ बालवकरणे ०।३२ तत्र श्रीसूर्योदयादिष्टम् ११।५२ तत्समये मेषलग्नोदये ब्राह्मणवंशावतंसवेदोद्धारक-महामहोपाध्यायपण्डितप्रवर श्रीप्रभुदत्तशास्त्रिमहोदयानां गृहे ज्येष्ठं पुत्ररत्नमजीजनत्। भयातम् ४६।३० भभोगः ६१।१३ रवि ६।२४ शुभम्।

जन्माङ्गम्



इस कुण्डली में आचार्य वराह मिहिर के मत से रवि और चन्द्रमा में बलवान् सूर्य अपने ही द्रेष्काण में है, अतः इनका आगमन पितृलोक से हुआ था और अन्त में वह मोक्ष गति को प्राप्त हुए। उक्तं च—

गुरुरुडुपतिशुक्रौ　सूर्यभौमौ　यमज्ञौ
विबुधपितृतिरश्चो　नारकीयांश्च कुर्युः।
दिनकरशशिवीर्याधिष्ठितात् त्र्यंशनाथात्,
प्रवरसमनिकृष्टास्तुङ्गह्रासादनूके॥

लग्नेश मंगल अपनी उच्च राशि में गुरु से देखा हुआ केन्द्र में है, अतः यह सुन्दर स्वरूप पुण्यात्मा सम्पूर्ण समाज से सम्मानित, सभी प्रकार की सम्पत्तियों से युक्त, ज्ञानी, सुन्दर नेत्रों वाले और मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य थे। उक्तं च—

अङ्गाधीशः स्वगेहे बुधगुरुकविभिः संयुतः केन्द्रगो वा
स्वीये तुङ्गे स्वमित्रे यदि शुभभवने वीक्षितस्सत्स्वरूपः।
स्यान्नूनं पुण्यशीलः सकलजनमतः सर्वसम्पन्निधानं
ज्ञानी मन्त्री चमूपः सुरुचिरनयनो मानवो मानवानाम्॥

इस कुण्डली के अनुसार विद्या का योग तो अपूर्व ही आता है, क्योंकि पञ्चमेश सूर्य त्रिकोण में है—'बली सुतेशे केन्द्रकोणे विद्वान्।'

कर्मेश शनि का भाग्येश गुरु और पंचमेश सूर्य का परस्पर सम्बन्ध होने से राजयोग भी उत्तम पड़े हैं—

सम्बन्धो दशमाधिपस्य नवमाधीशेन येषां जनुः-
काले पंचमभावपेन च बलोपेतस्य तुल्येन चेत्।
प्रस्थाने सति लीलया तनुभृतां वश्यारि-विश्वम्भराः
गर्जद्घोटकमत्तवारणघटाक्रांतः समन्ताद् भवेत्॥

कर्मलग्नयुत पाकदशा में राज्यसम्मान प्राप्ति इत्यादि योग के अनुसार कर्मेश शनि की दशा में इनको सन् १९४० ई० में गवर्नमेन्ट सरकार द्वारा 'महामहोपाध्याय' की पदवी मिली थी और लाभेश भौम की दशा में सन् १९४१ ई० में पौष कृष्ण २ शुक्रवार ता० ५ नवम्बर को इनका स्वर्गवास हो गया।

वस्तुतः जन्माङ्ग चक्र के ग्रहों की स्थिति के अनुसार यह उत्तम लोक से आये थे। अतः ये महापुरुष साक्षात् देवता ही थे। इनमें जो अद्भुत प्रकाण्ड पाण्डित्य,

सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं सौजन्य आदि विविध विशिष्ट गुण थे, वे उत्तम लोक-वासी में ही प्राप्त हो सकते हैं। इन्होंने इस मर्त्य लोक में भी जन्म लेकर उत्तम कार्यों को किया और अपने विद्याबल एवं तपोबल के द्वारा पुनः उसी उत्तम लोक को चले गये। आज भी उनकी कीर्ति सुरक्षित है। सभी लोग उनका स्मरण श्रद्धाभक्ति से करते हैं।

पण्डित गणेशदत्त पाठक, ज्योतिषाचार्य,

ज्यौतिष-विभागाध्यक्ष—गोयनका संस्कृत कालेज, वाराणसी।

पण्डित विद्याधर गौडका बाल्य—काल

पण्डित विद्याधरजी के सम्पूर्ण जातक संस्कार स्वयं इनके पिता जी ने विधि-पूर्वक किये थे। अन्नप्राशन-संस्कार के समय जब अपने सामने रखी हुई अनेक वस्तुओं में से इन्होंने पुस्तक उठायी तो पिता जी ने समझ लिया कि बालक विद्या-व्यसनी होगा। काशी में अध्ययन तथा पठन-पाठन का अत्यन्त अनुकूल वातावरण प्राप्त करने के कारण तथा प्राक्तन जन्म-संस्कार के कारण आपने अपने परम यशस्वी विद्वान् पिता से वेद-विद्या और कर्मकाण्ड की अद्भुत ज्ञानराशि अर्जित कर ली। अपनी कुशाग्र बुद्धि और तीक्ष्ण मेधा-शक्ति के कारण आपको विद्या-सम्पत्ति अर्जित करने में किसी प्रकार की कोई बाधा न हुई। शास्त्र की मर्यादा के अनुसार उचित समय पर यज्ञोपवीत-संस्कार हो चुकने के अनन्तर आपका वेदाध्ययन प्रारम्भ हो गया। पूत के पाँव पालने में ही दिखाई दे जाते हैं। जो वेदमन्त्र आप एक बार अपने प्रातःस्मरणीय पितृचरण से सुनते थे, वह तत्काल इन्हें कण्ठाग्र हो जाता था और फिर बार-बार अनेक विद्यार्थियों से सुनते-सुनते और अभ्यास करते-करते वह पूर्ण रूप से मस्तिष्क में स्थिर हो जाता था।

पूर्वजन्मार्जित विद्या

पण्डित विद्याधर जी की विद्या इस जन्म की नहीं, पूर्व जन्मों की थी। इस पूर्वजन्मार्जित विद्या के अनुसार श्री विद्याधर जी में अद्भुत मेधा और अपार विद्वत्ता थी, वह भी केवल इस जन्म की नहीं, वरन् पूर्व जन्मों की अर्जित थी। यही कारण था कि आपने थोड़ी अवस्था में ही अपनी अतिशय तीव्र कुशाग्र बुद्धि के कारण वेदादि शास्त्रों में ऐसा अखण्ड अधिकार प्राप्त कर लिया था कि केवल भारत में ही नहीं, भारत के बाहर भी आपकी ऐसी अपूर्व ख्याति हो गयी थी कि आप अपने समय में ही वेद-विषय के एक मात्र सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे।

अद्भुत स्मरणशक्ति

शिक्षा पर वातावरण का बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ता है। पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री के यहाँ दिन-रात वेदाध्ययन चलता रहता था। श्रौताधान के

कारण उनके यहाँ नित्य होम के साथ-साथ दर्श-पौर्णमासेष्टि का क्रम भी चलता रहता था। अनेक विद्यार्थी भी वहाँ आकर अध्ययन और स्वाध्याय करते रहते थे। इस निरन्तर पठन-पाठन के वातावरण का अत्यन्त सुलभ परिणाम यह हुआ कि बहुत छोटी अवस्था में ही पण्डित विद्याधर जी ने वेदों पर अखण्ड अधिकार प्राप्त कर लिया। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी अधिक अद्भुत थी कि वे एक बार जो देख लेते उसे जीवन-पर्यन्त कभी भूलते नहीं थे। उनके यहाँ पुस्तकों का अगाध भण्डार था। यदि कोई कभी इनके पास पुस्तक माँगने आता तो इन्हें सूची-पत्र देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। ये झट अपनी स्मरण-शक्ति के बल पर तत्काल बता देते थे कि अमुक कोष्ठ के अमुख बेठन में अमुक पुस्तक रक्खी है, निकाल कर देदो।

महामहोपाध्याय श्री चिन्नस्वामी शास्त्री ने उनके सम्बन्ध में उचित ही कहा था—

"विशिष्ट विद्वानों में जो दैवी-शक्ति विद्यमान होती है वही श्री विद्याधर जी में विराजमान थी। उनकी स्मरणशक्ति बड़ी अद्भुत थी, उनको इतने ग्रन्थ कण्ठस्थ थे जितने किसी विशिष्ट संग्रह के पुस्तकालय में हो सकते हैं।"

गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज (धर्म समाज कालेज) मुजफ्फरपुर के वेद-कर्मकाण्ड के प्राध्यापक वेद-व्याकरणाचार्य पण्डित योगीन्द्र झा जी पण्डित विद्याधर जी गौड के शिष्य रहे हैं। उन्होंने पण्डित विद्याधर जी की स्मृति-शक्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

"गुरुवर श्री भैयाजो (विद्याधर जी गौड) वेद की साक्षात् मूर्ति थे। अङ्गसमवाय-समन्वित सभाष्य वेद-सरस्वती उनकी जिह्वा पर मूर्ति-रूप से विद्यमान थी। आपकी व्याकरण-साहित्यादि शास्त्रानुशीलन-जन्य-व्युत्पत्ति-शक्ति भी अद्भुत थी और आपकी शास्त्रीय स्मरण-शक्ति तो विशेष आश्चर्यजनक थी। कोई भी जिज्ञासु व्यक्ति जब वेद-धर्मशास्त्र-कर्मकाण्डादि विषयक प्रश्न उनके सामने रखते थे तो वे तुरन्त उनका समाधान करके यहाँ तक कह दिया करते थे कि अमुक ग्रन्थ के अमुक पृष्ठ की अमुक पङ्क्ति में बायीं या दाहिनी ओर यह विषय लिखा हुआ है। ऐसा कहकर वे उस जिज्ञासु के सन्तोष के लिए पुस्तक खोलकर दिखला भी देते थे।"

कण्ठस्थ विद्या में आस्था

पण्डित विद्याधर जी अपने सभी शिष्यों से निरन्तर कहा करते थे—"पुस्तकी भवति पण्डितः" (पण्डित वही होता है जिसके पास पुस्तकें होती हैं)। उनका विश्वास था—

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते न सा विद्या न तद्धनम्।

[पोथी में रक्खी हुई विद्या और दूसरे के हाथ में गया हुआ धन आपत्ति पड़ने या समय आने पर कभी काम नहीं आता।]

पण्डित विद्याधर जी 'विद्या कण्ठ पैसा अण्ट' वाले सिद्धान्त को ही मानते थे और कहते थे कि 'जिस व्यक्ति को विद्या कण्ठाग्र न हो भला वह भी कोई पण्डित है।' इसलिये पुस्तक देखकर कर्म-काण्ड कराने वाले को वे 'नकली कर्म-काण्डी' कहा करते थे।

सरलता

पण्डित विद्याधर जी ऐसे सीधे-साधे ढँग से रहते थे कि अधकचरे विद्वानों को कभी यह विश्वास ही नहीं होता था कि वे वेद के इतने बड़े मर्मज्ञ हैं। वेद का मूल-भाग [1]अष्ट-विकृतियों के सहित तो उन्हें उपस्थित था ही, साथ ही अन्य अनेक शास्त्रों का भी उनको बहुत गम्भीर ज्ञान था। कई बार कुछ घनान्ती वेद-पाठियों ने अवसर पाकर उनके समक्ष वेद का जटा-घन आदि से पाठ प्रारम्भ कर दिया और सोचा कि पण्डित विद्याधर जी को यह प्रस्तुत नहीं होगा, किन्तु पण्डित विद्याधरजी को गायत्रीवत् वेद का पारायण करते हुए देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था और वे अपनी भूल तथा अज्ञता पर पश्चात्ताप कर मौन रह जाने में ही अपना कल्याण समझते थे।

वेद-वेदाङ्ग पर अधिकार

वेद के साथ-साथ वेदाङ्गों पर भी उनका अखण्ड अधिकार था। धर्मशास्त्र का उन्होंने अत्यन्त मार्मिक अध्ययन किया था, इसलिये जब कभी किसी सामाजिक समस्या पर उनसे व्यवस्था माँगी जाती थी तो वे जो भी व्यवस्था देते थे वह अद्भुत और अकाट्य होती थी। इतना ही नहीं, मीमांसा, साहित्य और व्याकरण आदि शास्त्रों में भी उनकी बड़ी अपरिमित गति थी।

पिता का आशीर्वाद

महाराज दशरथ के सम्बन्ध में बाल्मीकि-रामायण में लिखा है कि उन्होंने स्वयं राम के आदर्श चरित्र का ऐसा विवेचन और अध्ययन कर रक्खा था कि इसी प्रसंग में पूछने पर एक बार उन्होंने कहा था--

द्विः शरं नाभिसन्धत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥

[राम कभी दो बाण नहीं चलाते, एक बाण में ही लक्ष्यवेध कर लेते हैं। दो बार किसी को आश्रय नहीं देते, एक बार आश्रय देकर सदा के लिये उसे निश्चिन्त कर देते हैं, किसी याचक को दो बार नहीं देते। एक बार ही उसे इतना दे डालते हैं कि उसे फिर माँगना नही पड़ता। राम कभी दो बातें नहीं कहते अर्थात् वे सदा सत्य बोलते हैं।]

---

१. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

अपने पुत्र के गुणों के प्रति इस प्रकार की विश्वासपूर्ण निष्ठा उन्हीं को हो सकती है जिन्होंने गम्भीरता और सूक्ष्मता के साथ अपने पुत्र के गुणों का समीक्षण किया हो। पण्डित प्रभुदत्त जी ने भी पण्डित विद्याधर जी के उन गुणों का समीक्षण और परीक्षण उसी समय कर लिया था जब वे छोटी ही अवस्था के थे। अपनी असाधारण प्रतिभा, पितृभक्ति और विनयशीलता के कारण पण्डित विद्याधर जी ने अपने पिता जी को वशीभूत कर लिया था। लगभग १३ वर्ष की अवस्था से ही वे अपने साथ विद्याधर जी को दूर-दूर तक यज्ञादि में विशिष्ट ज्ञान-सम्पादनार्थ ले जाने लगे थे।

अध्यापन का प्रारम्भ

एक बार पण्डित विद्याधर जी १६ वर्ष की अवस्था में अपने प्रातः-स्मरणीय पूज्य पिता जी के साथ यज्ञार्थ कलकत्ता गये हुए थे। उस यज्ञ में भारत के कोने-कोने से बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र हुए थे। उन सभी विद्वानों ने पण्डित विद्याधर जी की अपूर्व विद्वत्ता और पाण्डित्य का जो अद्भुत चमत्कार देखा तो इतने अधिक प्रभावित हुए कि सबने एक स्वर से भगवान् से यही कामना की कि 'ये विद्यावर्चस्वयुक्त होकर यश प्राप्त करें और विद्वानों में मूर्धन्य स्थान प्राप्त करें।' वहाँ के धनी-मानी लोग भी उनके अद्भुत पाण्डित्य से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने पण्डित विद्याधर जी के लिये यह इच्छा प्रकट की कलकत्ते में रह कर यहाँ के संस्कृतच्छात्र-समाज को वेदविद्या का अध्यापन करावें। उन लोगों का अत्यधिक उत्सुकता-पूर्ण आग्रह देखकर महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त जी ने अनुज्ञा भी दे दी। यद्यपि वे यह नहीं चाहते थे कि इस कच्ची अवस्था में उन्हें अपने से दूर रक्खा जाय, किन्तु जनता का आग्रह टालना भी उन्होंने उचित नहीं समझा, फलतः वे कलकत्ते के 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' में अध्यापन कार्य करने लगे। किन्तु कलकत्ते जैसे व्यवसायी नगर में किसी भी विद्या-व्यसनी व्यक्ति को कभी सन्तोष और शान्ति नहीं मिल सकती। क्योंकि वहाँ का वातावरण विद्यार्जन तथा अध्ययन और अध्यापन के लिए सर्वथा प्रतिकूल था। इसलिये थोड़े ही दिनों में आपका मन वहाँ से ऊब गया और छः मास अध्यापन कराकर आप पुनः काशी लौट आये।

काशी में अध्यापन

कलकत्ता से लौटने पर आपने काशी में ज्ञानवापी के निकट श्रीसत्यनारायण वेद विद्यालय में तथा सरस्वती फाटक के समीप श्रीसत्यनायण वेद विद्यालय में कई वर्ष तक वेदाध्यापन किया। पश्चात् काशीस्थ त्रिपुरा भैरवी (मीरघाट) मुहल्ले में स्थित श्री रामदयाल चुन्नीलाल काजड़िया संस्कृत पाठशाला में दिन में १२ बजे से ३ बजे तक मूल वेद संहिता, पद, क्रम, जटा, घन आदि अष्ट विकृतियों को पढ़ाया करते थे। इस पाठशाला में ५०-६० वेद के विद्यार्थी एक साथ, एक स्वर में मूल वेदपाठ गुणनिका तथा संथा रूप में कण्ठस्थ करते थे। काशी में

यही एकमात्र वेद की पाठशाला थी, जहाँ बिना वृत्ति के वेद के छात्र नियमित रूप से वेदाध्ययन करते थे। काजड़िया पाठशाला में आपने मरणपर्यन्त वेदाध्यापन कराया।

आप सन् १६४० से जीवन के अन्तिम क्षण तक काशी के सुप्रसिद्ध संन्यासी संस्कृत कालेज (अपारनाथ मठ) के 'प्रिन्सिपल' रहे।

स्वर्गीय श्रीमान् सेठ गौरीशङ्करजी गोयनका महोदय ने काशी में 'श्री जोखीराम मटरूमल गोयनका संस्कृत महा विद्यालय' की स्थापना कर आपको ही सर्वप्रथम अपने यहाँ वेद का 'प्रधानाध्यापक' नियुक्त किया। आपने वर्षों गोयनका महा विद्यालय में वाचस्पति, आचार्य, शास्त्री आदि उच्च श्रेणी के छात्रों को अध्यापन कराकर ता० ६--७--३६ को त्यागपत्र दे दिया। गोयनका संस्कृत महा विद्यालय के संस्थापक परम धार्मिक, विद्यानुरागी सेठ गौरीशङ्करजी गोयनका तथा गोयनका संस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पण्डित श्रीहरिहर कृपालुजी द्विवेदी एवं गोयनका संस्कृत महाविद्यालय के मन्त्री पण्डित-प्रवर श्रीचण्डीप्रसादजी शुक्ल महोदय ने पण्डित श्री विद्याधरजी के त्याग-पत्र पर विचार करते हुए यही निर्णय किया 'पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड का सम्बन्ध जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय से आजीवन बना रहना चाहिये।' अतः गोयनका संस्कृत महा विद्यालय के अध्यक्ष तथा मन्त्री महोदय ने आपको वेदाध्यापन से मुक्त करके ता० १-१०--३६ से गोयनका संस्कृत महाविद्यालय के वेद-विभाग का 'निरीक्षक' बना दिया और आपको अधिकार दे दिया कि आप गोयनका संस्कृत महा विद्यालय के चारों वेदों के अध्यापन का प्रत्येक पक्षमें निरीक्षण किया करें और अपनी निरीक्षण कार्य की रिपोर्ट एक रजिस्टर में लिख कर गोयनका संस्कृत महा विद्यालय के अध्यक्ष महोदय के पास भेज दिया करें। इतना ही नहीं, श्रीमान् गोयनका जी ने तथा महामहोपाध्याय पण्डित हरिहर कृपालुजी द्विवेदी महोदय ने श्री विद्याधर जी के सम्बन्ध को विशेष सुदृढ़ रखने के लिए उसी समय सन् १६३६ में आपके सुपुत्र वेदाचार्य पण्डित श्री वेणीराम शर्मा गौड को अपने गोयनका संस्कृत महा विद्यालय में 'वेदाध्यापक' नियुक्त कर दिया।

भारत के शिक्षा-शास्त्रियों में महामना पण्डित श्री मदन मोहन मालवीयजी महाराज की सबसे बड़ी यही विशेषता रही है कि ये जीवनपर्यन्त निरन्तर यही प्रयत्न करते रहे कि अच्छे से अच्छे, बड़े से बड़े सदाचारी गंभीर विद्वान् हमारे विश्व विद्यालय में आकर अध्यापन करें और अपनी विद्या तथा अपने चरित्र से विद्यार्थियों को सच्चरित्र तथा योग्य नागरिक बनाने में सहायक हों। इसी दृष्टि से उन्होंने तत्तद् विषय के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर अपने विश्व-विद्यालय में नियुक्त कर विश्व-विद्यालय की गौरव-वृद्धि की।

विद्वानों के पारखी महामना मालवीयजी महाराज को जब पण्डित श्री विद्याधरजी गौड की वेद-विषय की प्रकाण्ड विद्वत्ता का पता चला तो तत्काल उन्होंने 'रणवीर संस्कृत पाठशाला' (हिन्दू कालेज) में आपको वेद के

'प्रधानाध्यापक' पद पर नियुक्त कर दिया। पश्चात् काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना होने पर सन् १९१७ में हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्म-विज्ञान विभाग में आपको सर्वप्रथम 'प्रधानाध्यापक'-नियुक्त किया। १३-७-१९२७ से आपको धर्म-विज्ञान विभाग के 'अध्यक्ष' पद पर नियुक्त कर दिया। २७-११-१९३५ को आप 'धर्म विज्ञान समज्या (फैकेल्टी) के अध्यक्ष (डीन) बना दिये गए और अपने कार्यकाल के अन्त तक 'डीन' बने रहे। २४-४-१९४० को आपने त्याग-पत्र दे दिया, जिसकी स्वीकृति ३०-४-४० को हुई।

वेद-प्रसारार्थ विविध प्रयत्न

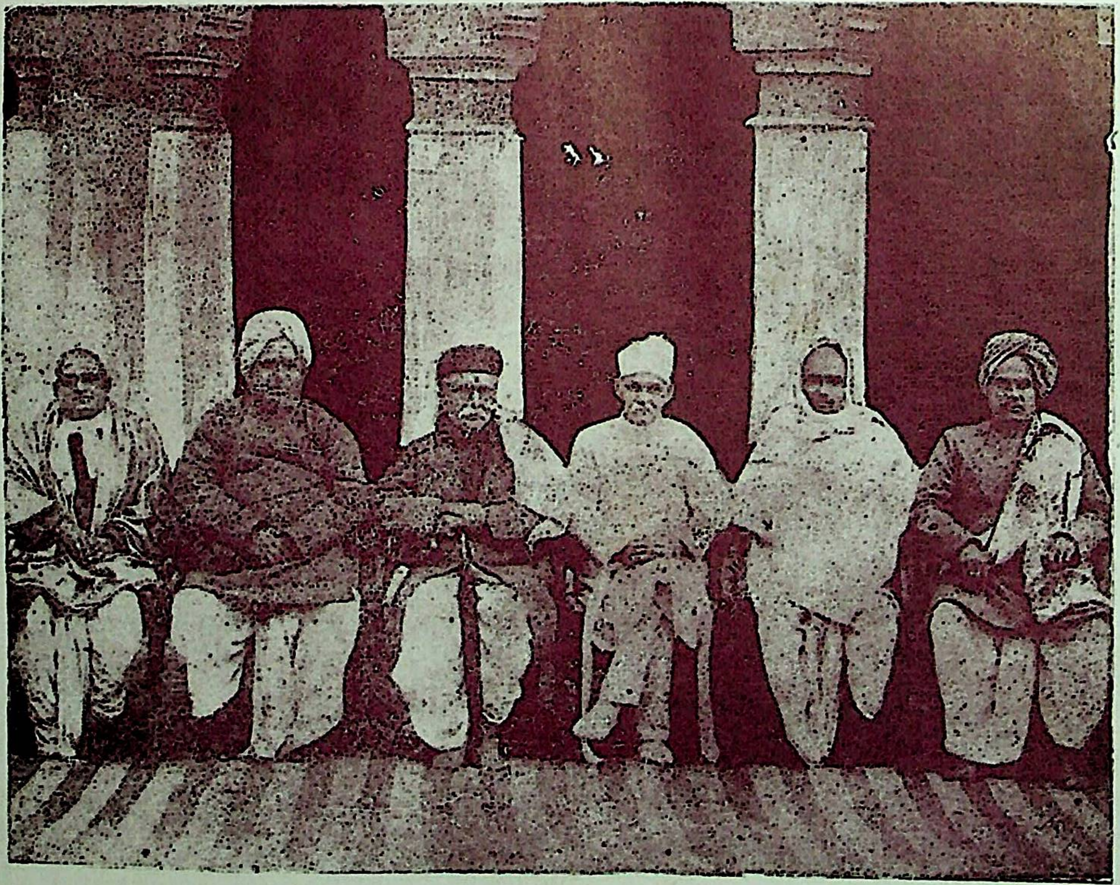
अध्यापन-कार्य के साथ-साथ आप अपना अधिक समय वेद के प्रचार में व्यतीत करते थे। आप साक्षात् वेदमूर्ति और वेदमय थे। आपकी ही प्रेरणा से गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, काशी के तत्कालीन प्राचार्य महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा ने शुक्ल यजुर्वेद के अध्यापन और परीक्षण का प्रारम्भ किया। इसी प्रकार गोयनका संस्कृत महा विद्यालय के संचालक परम सनातन-धर्मानुरागी सेठ गौरीशंकर जी गोयनका को प्रेरणा देकर आपने वहाँ चारों वेदों के अध्यापन का क्रम प्रारम्भ कराया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी पहले केवल शुक्ल यजुर्वेद का ही अध्यापन और परीक्षण होता था, किन्तु आपके ही सत्प्रयत्नों से वहाँ चारों वेदों का अध्ययन-अध्यापन और परीक्षण प्रारम्भ हुआ। आपकी प्रेरणा के फलस्वरूप काशी में सन् १९२१ में "वैदिक कर्म-काण्ड-मण्डल" की स्थापना हुई जिसके द्वारा भारतवर्ष में वेदविद्या तथा कर्म-काण्ड का प्रचुर प्रचार हो रहा है। इतना ही नहीं, सन् १९३७ में आपने अपने पूज्य पितृचरण महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री की पुण्य-स्मृति में "श्री प्रभुदत्त वेद-विद्यालय" की स्थापना की।

विद्वानों को विद्यादान

पण्डित विद्याधर जी से केवल वेद पढ़ने वाले जिज्ञासु छात्र ही वेदाध्ययन नहीं करते थे, वरन् व्याकरण और साहित्य के प्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान् भी आपकी शरण में उपस्थित होकर भाष्य के सहित वेद का अध्ययन करके अपना जीवन धन्य मानते थे। बाहर के भी अनेक विद्वान् अवकाश के समय आपके पास आ-आकर वेद का अध्ययन करते थे। क्योंकि ऐसे सभी विद्वान् यह मानते हैं कि ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर जिसने वेद का अध्ययन नहीं किया उसका जन्म निरर्थक है।

श्री विद्याधर जी के सम्मान में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के प्राच्य विद्या-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डित महादेव शास्त्री पाण्डेय (अब स्वामी महेश्वरानन्द जी सरस्वती) ने लिखा है—

"प्रायः आजकल के लब्धप्रतिष्ठ वैदिक विद्वान् महामहोपाध्याय



म० म० पं० चिन्नस्वामी शास्त्री, म० म० पं० विद्याधर गौड, श्रीआनन्द शङ्कर बापूभाई ध्रुवजी,
महामना मालवीयजी, म० म० पं० बालकृष्ण मिश्र, पं० नाथूराम गौड

पूज्य पण्डित विद्याधर जी के ही शिष्य हैं। इस लेखक को भी सौभाग्यवश आपके चरणारविन्द के समीप उपस्थित होकर कुछ अध्ययन करने का गौरव प्राप्त हुआ है। आप के पद-पङ्कज में श्रद्धावनत तथा चिरकृतज्ञ हूँ।"

चारित्रिक गुण

वर्त्तमान शिक्षित समाज में कुछ ऐसी विचित्र पद्धति चल पड़ी है कि लोग अपने नाम के साथ आचार्य, पण्डित, विद्वान् अथवा इसी प्रकार की कोई यशस्कर उपाधि या तो स्वयं लगाते हैं या अपने शिष्यों से प्रचारित करते हैं। हिन्दी में तो इसका अतिशय दुरुपयोग किया जा रहा है, किन्तु श्री विद्याधर जी को इस पद्धति से स्वाभाविक विरक्ति और संकोच था। वे सदा अपने नाम में केवल विद्याधर शर्मा, विद्याधर मिश्र अथवा विद्याधर गौड ही लिखा करते थे, यहाँ तक कि महामहोपाध्याय होने के पश्चात् भी उन्होंने कभी अपने नाम के साथ 'महामहोपाध्याय' नहीं लिखा और न कभी किसी अन्य को भी लिखने के लिये प्रोत्साहित या प्रेरित किया। ऐसे महात्मा इस युग में देखने को कहाँ मिलते हैं।

सरल जीवन

पण्डित विद्याधर जी गौड बड़े सीधे-सावे, भोले-भाले तथा अत्यन्त सज्जन थे और वे अतिशय सरल जीवन व्यतीत करते थे। भारतीय पण्डितों की परम्परागत सर्वमान्य वेष-भूषा ही उन्हें मान्य थी। वे निरन्तर केवल अत्यन्त साधारण अंगरखा या बगलबन्दी (मिर्जई), सिर पर रेशमी साफा और मस्तक पर अपने अग्निहोत्र के भस्म का त्रिपुण्ड्र अंकित किये रहते थे। उनका जीवन इस सम्पूर्ण सादगी के साथ-साथ साक्षात् धर्ममय था। वैदिक होने के कारण वे स्वभावतः परम आस्तिक थे। ईश्वर में इनकी प्रगाढ निष्ठा और अचल विश्वास था। वे इतने नैष्ठिक सत्य-वक्ता थे कि अपने ऊपर संकट आने की अवस्था में भी कभी सत्य के मार्ग से विचलित नहीं हुए। असत्य भाषण, मिथ्या व्यवहार तथा छल और प्रपञ्च को वे घोर पातक समझते थे। इतना ही नहीं, असत्य बोलने वाले और मिथ्या व्यवहार करने वाले से वे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। उन्हें विलायत वालों के समान वेष-भूषा धारण करने अथवा आचार-विचार रखने वाले से भी इतनी ही विरक्ति थी। उनका विश्वास था कि किसी भी देशवासी को भाषा, भोजन और भेसमें किसी दूसरे का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अपने इस अचल विश्वास के कारण उन्होंने कभी किसी भी ऐसे व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा जिसका आचार-विचार भ्रष्ट, अभारतीय या विकृत हो। अपने इस विचार की दृढ़ता के कारण कभी-कभी उन्हें बहुत असुविधा और हानि भी उठानी पड़ी, किन्तु उन्होंने भय, लोभ या संकोच से सत्य और झूठ में कभी समझौता नहीं किया।

चाटुकारिता से चिढ़

जितना विराग उन्हें मिथ्या व्यवहार से था उतना ही व्यर्थकी चाटुकारी से था। अर्जुन के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है—

पूज्य पण्डित विद्याधर जी के ही शिष्य हैं। इस लेखक को भी सौभाग्यवश आपके चरणारविन्द के समीप उपस्थित होकर कुछ अध्ययन करने का गौरव प्राप्त हुआ है। आप के पद-पङ्कज में श्रद्धावनत तथा चिरकृतज्ञ हूँ।"

चारित्रिक गुण

वर्त्तमान शिक्षित समाज में कुछ ऐसी विचित्र पद्धति चल पड़ी है कि लोग अपने नाम के साथ आचार्य, पण्डित, विद्वान् अथवा इसी प्रकार की कोई यशस्कर उपाधि या तो स्वयं लगाते हैं या अपने शिष्यों से प्रचारित करते हैं। हिन्दी में तो इसका अतिशय दुरुपयोग किया जा रहा है, किन्तु श्री विद्याधर जी को इस पद्धति से स्वाभाविक विरक्ति और संकोच था। वे सदा अपने नाम में केवल विद्याधर शर्मा, विद्याधर मिश्र अथवा विद्याधर गौड ही लिखा करते थे, यहाँ तक कि महामहोपाध्याय होने के पश्चात् भी उन्होंने कभी अपने नाम के साथ 'महामहोपाध्याय' नहीं लिखा और न कभी किसी अन्य को भी लिखने के लिये प्रोत्साहित या प्रेरित किया। ऐसे महात्मा इस युग में देखने को कहाँ मिलते हैं।

सरल जीवन

पण्डित विद्याधर जी गौड बड़े सीधे-साधे, भोले-भाले तथा अत्यन्त सज्जन थे और वे अतिशय सरल जीवन व्यतीत करते थे। भारतीय पण्डितों की परम्परागत सर्वमान्य वेष-भूषा ही उन्हें मान्य थी। वे निरन्तर केवल अत्यन्त साधारण अंगरखा या बगलबन्दी (मिर्जई), सिर पर रेशमी साफा और मस्तक पर अपने अग्निहोत्र के भस्म का त्रिपुण्ड्र अंकित किये रहते थे। उनका जीवन इस सम्पूर्ण सादगी के साथ-साथ साक्षात् धर्ममय था। वैदिक होने के कारण वे स्वभावतः परम आस्तिक थे। ईश्वर में इनकी प्रगाढ निष्ठा और अचल विश्वास था। वे इतने नैष्ठिक सत्य-वक्ता थे कि अपने ऊपर संकट आने की अवस्था में भी कभी सत्य के मार्ग से विचलित नहीं हुए। असत्य भाषण, मिथ्या व्यवहार तथा छल और प्रपञ्च को वे घोर पातक समझते थे। इतना ही नहीं, असत्य बोलने वाले और मिथ्या व्यवहार करने वाले से वे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। उन्हें विलायत वालों के समान वेष-भूषा धारण करने अथवा आचार-विचार रखने वाले से भी इतनी ही विरक्ति थी। उनका विश्वास था कि किसी भी देशवासी को भाषा, भोजन और भेसमें किसी दूसरे का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अपने इस अचल विश्वास के कारण उन्होंने कभी किसी भी ऐसे व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा जिसका आचार-विचार भ्रष्ट, अभारतीय या विकृत हो। अपने इस विचार की दृढ़ता के कारण कभी-कभी उन्हें बहुत असुविधा और हानि भी उठानी पड़ी, किन्तु उन्होंने भय, लोभ या संकोच से सत्य और झूठ में कभी समझौता नहीं किया।

चाटुकारिता से चिढ़

जितना विराग उन्हें मिथ्या व्यवहार से था उतना ही व्यर्थकी चाटुकारी से था। अर्जुन के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है—

'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम् ।'

[अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ हैं, न तो वह किसी के आगे दीनता दिखाता और न युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर पीठ दिखाकर भागता है ।]

पण्डित विद्याधरजी की ठीक यही दशा थी । चाहे कोई कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो और उससे चाहे जितने भी अधिक स्वार्थ की सिद्धि की सम्भावना हो किन्तु वे किसी के घर जाकर न तो उनको चाटुकारी कर सकते थे न उनकी हाँ में हाँ मिला कर व्यर्थ प्रशंसा करते थे और न इस प्रकार के निरर्थक कार्यों में अपना समय ही नष्ट करते थे । उसका कारण यह था कि वे पूर्ण स्वाभिमानी और मनस्वी व्यक्ति थे और ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे के आगे न तो दैन्य दिखा सकता है और न उसकी चाटुकारी कर सकता है । उनकी तो यहाँ तक स्थिति थी कि वे दूसरे के यहाँ स्वयं जाना तो दूर, बहुत बार आग्रह करके आदरपूर्वक बुलाए जाने पर भी बड़ी कठिनाई से जाने को प्रस्तुत होते थे ।

उदारता

पण्डित विद्याधर जी जहाँ एक ओर अपनी विद्वत्ता, असाधारण प्रतिभा और अद्वितीय पाण्डित्य के लिये सर्वपूज्य थे, वहीं उनकी उदारता भी अत्यन्त व्यापक थी । उनके हृदय में परोपवृत्ति कूट-कूट कर भरी हुई थी । वे जहाँ किसी को आपत्ति-ग्रस्त सुनते थे वहाँ तत्काल स्वयं उसकी यथाशक्ति सहायता करने के लिये दौड़ पड़ते थे । नीति का एक श्लोक है--

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलंबिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

[फल से लद जाने पर पेड़ झुक जाते हैं, पानी से भरे होने पर बादल नीचे होकर चलते हैं, इसी प्रकार जो सत्पुरुष होते हैं उन्हें जब समृद्धि प्राप्त होती है तो वे अनुद्धत अर्थात् विनम्र हो जाते हैं । यही परोपकारियों का स्वभाव है ।]

पण्डित विद्याधर जी भी इसी प्रकार स्वभावतः 'सर्वभूतहिते रतः' (सब प्राणियों के कल्याण में लगे हुए रहते थे) थे । वे स्वयं तो किसी की निन्दा करते ही नहीं थे, दूसरे की निन्दा सुनते भी नहीं थे । वे अत्यन्त मृदुभाषी और मितभाषी थे । वे यथासम्भव बहुत कम बोलते थे । स्वभाव से ही वे बड़े संकोची, विनीत, नम्र और लज्जालु थे । वे इतना कम बोलते थे कि सूत्र-वादियों के समान यथासम्भव कम से कम शब्दों में दूसरे का उत्तर दे देते थे । ये सदा नीची दृष्टि ही रखते थे । कभी किसी ने उन्हें सामने आँखें उठा कर देखते या बोलते देखा या सुना नहीं होगा । विद्वान् और पण्डित के लिये शीलयुक्त होना उसकी विद्वत्ता का सबसे बड़ा लक्षण है । अपनी विद्या की डींग वे ही लोग हाँकते हैं जिनका विद्या-वैभव छिछला होता है । 'अधजल गगरी छलकत जाय' । किन्तु जो अगाध पण्डित होते हैं वे सदा शील और विनय की विभूति से सम्पन्न होते हैं । भर्तृहरि ने अपने नीति-शतक में एक श्लोक कहा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्-किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदाल्पज्ञोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

[जब मुझे कुछ थोड़ा-सा ज्ञान हो गया तो मैं हाथी के समान मदान्ध हो गया और यह सोचने लगा कि मैं तो सर्वज्ञ हूँ, मुझसे बढ़ कर कोई कुछ नहीं जानता। किन्तु जैसे-जैसे विद्वानों के साथ में रहने लगा वैसे-वैसे मेरा सारा अभिमान उसी प्रकार उतर गया जैसे ज्वर उतर जाता है।]

किन्तु जो गम्भीर विद्वान् होते हैं उनके मनमें अभिमान का लेश नहीं आता।

अपरिमित धैर्य

पण्डित विद्याधर जी की सबसे बड़ी विशेषता उनका अविचल धैर्य था। किसी भी घोर से घोर संकट की परिस्थिति में भी वे कभी विचलित नहीं होते थे और न कभी अपनी स्वाभाविक गम्भीरता का परित्याग करके उद्विग्न होते थे। अथाह महासागर के समान वे सदा शान्त-चित्त और स्थिर रहते थे। महाकवि कालिदास ने धीर का लक्षण बताते हुए कहा है—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।'

[विकार का कारण होने पर भी जिनके मन में विकार नहीं आता वे ही लोग धीर कहलाते हैं।]

पण्डित विद्याधर जी के साथ भी यही बात थी। किसी प्रकार के विकार की परिस्थिति होने पर भी वे कभी विचलित नहीं होते थे। स्वाभिमानी होने पर भी अभिमान उनको छू नहीं गया था। इतना अगाध पाण्डित्य होने पर भी आपने कभी उस पाण्डित्य के प्रदर्शन का न तो ढिंढोरा पीटा न कभी उस पर अभिमान किया। 'विद्या ददाति विनयम्' (विद्या से विनय प्राप्त होता है) के अनुसार जिसमें विनय न हो उसकी विद्या व्यर्थ और निरर्थक समझनी चाहिए। आप पूर्णतः निर्भय और अजात-शत्रु थे। आपने कभी किसी को न तो अपना शत्रु बनाया और न किसी को अपना शत्रु समझा। यदि कोई कभी इस प्रकार की बात चला भी देता था तो ये तत्काल उसे हँस कर टाल जाते थे। क्योंकि जो अजात-शत्रु होता है उसके मन में कभी किसी के प्रति घृणा, विरोध या बैर की भावना आ ही नहीं सकती।

मादक द्रव्यों से दूर

काशी में रहने वाले व्यक्ति के प्रति साधारणतः सबकी यह धारणा होती है कि यह व्यक्ति विजया (भाँग) और ताम्बूल का सेवन अवश्य करता होगा। यहाँ तक कि ठेठ बनारसी लोग तो स्वयं कहते हैं कि 'जो पान नहीं खाता और भाँग नहीं छानता वह बनारसी कैसा ?' काशी के अधिकांश वैदिक इसी बनारसी

परम्परा का नियमित रूप से पालन करते हैं, किन्तु श्री विद्याधर जी गौड ने न तो कभी भाँग को अपने समीप फटकने दिया और न पान का ही सेवन किया। जीवन-पर्यन्त आपने कभी भाँग अथवा अन्य किसी मादक-पदार्थ का सेवन नहीं किया। पान, जर्दा, तम्बाकू आदि किसी प्रकार के भी मादक-पदार्थ के व्यसनमें नहीं पड़े। यद्यपि बाल्यावस्था में उन्हें ऐसे वैदिक कर्मकाण्डियों का सम्पर्क प्राप्त था जो नियमित रूप से पान, सुर्ती, जर्दा और भाँग का व्यवहार करते थे, किन्तु उनमें से किसी का भी कुप्रभाव आपके आचार-विचार-व्यवहार पर नहीं पड़ा। इस प्रकार की निर्लिप्त भावना प्रबल चरित्र-बल का प्रमाण है और केवल ऐसे ही व्यक्ति इस प्रकार के शुद्ध सात्त्विक जीवन को वहन कर सकते हैं जो 'पद्मपत्र-मिवाम्भसा' (जल में कमल के पत्ते के समान निःसंग होकर रहते हैं।)

भैयाजी

घर में, मित्रों में और शिष्यों में आप 'भैयाजी' के नाम से ही विशेष प्रसिद्ध थे। आप अपने भाइयों में ज्येष्ठ थे इसलिये उनके सभी छोटे भाई आपका नाम न लेकर 'भैयाजी' ही कहा करते थे। उनकी सुनासुनी सभी लोग उन्हें 'भैयाजी' ही कहने लगे और यही नाम परिवार तथा बाहर के सभी छोटे-बड़े लोगों में सम्बोधन और व्यवहार के लिये प्रसिद्ध हो गया।

धर्म-दृढ़ता

महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि प्रदान करते हुए वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय के वेदाध्यापक पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद त्रिपाठी वेदाचार्य ने लिखा है—मैंने अपने प्रथम विद्यागुरु श्रीपरशुराम चण्डिका वेद विद्यालय सोहनाग (पो० सलेमपुर) जि० देवरिया के प्रधानाचार्य पण्डित कमलनाथ जी शुक्ल वेद-धर्माचार्य से पूज्यपाद महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी गौड के सम्बन्ध में उनकी कट्टर धर्मदृढ़ता, उदारता, दयालुता और सहृदयता आदिकी बहुत-सी बातें बहुत बार सुनी थीं। एक बार मेरे प्रथम विद्या-गुरु श्री शुक्लजी ने मुझ से कहा था—

"देश के सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता गोरखपुर के गांधी परमहंस बाबा राघव-दास जी के तत्त्वावधान में और उनके उत्तराधिकारी परमहंस आश्रम के व्यव-स्थापक एवं रामराज्य परिषद् के अखिल भारतीय नेता श्री बाबा सत्यव्रत जी महाराज के यजमानत्व में मारवाड़ी-देशवाली-व्यापारी-धनीमानी, गृहस्थ, रईस, साधु-सज्जन-विरक्त-प्रभृति समस्त जनता की धन-सम्पत्ति, उत्साह, लगन, सहयोग से सुप्रसिद्ध बरहज-बाजार (जि० देवरिया) के श्री सरयू-तट पर विशाल श्री महा विष्णुयज्ञ के समारोह का आयोजन हो चुका था। जनता एवं जिले के समस्त विद्वानों ने एक स्वर से उस महान् यज्ञ के आचार्य पद पर भारत के प्रसिद्ध याज्ञिक—चक्रवर्ती म० म० पं० श्री विद्याधरजी महाराज को रखने का निर्णय किया। स्वीकृति प्राप्त कर ली गई, उनका आना निश्चित हो गया। यज्ञारम्भ

का दिन आसन्न था। जनता अपने पूज्य आचार्य की काशी से बरहज आने के दिन की प्रतीक्षा बड़ी ही श्रद्धा के साथ कर रही थी। महायज्ञ, वेद के महान् विद्वान्, पवित्र सरयू-तट, देश के महान् नेता बाबा राघव दास की जगाई गई जनता, सबका सहयोग-सम्मेलन, अपूर्व पुण्यमय अवसर, बड़ी चहल-पहल, उत्कृष्ट आकर्षण और चौथे दिन से यज्ञारम्भ, यह सब लोग सोच विचार ही रहे थे कि अकस्मात् सुनाई पड़ा कि यज्ञ के मनोनीत आचार्य श्री विद्याधरजी महाराज ने यहाँ के यज्ञ का आचार्य होकर आना अस्वीकृत कर दिया। वे नहीं आवेंगे, क्योंकि उन्हें यह बतलाया गया है कि 'यहाँ होनेवाले इस यज्ञ के अवसर पर सनातनधर्म के विपरीत कुछ कार्यों के भी करने का आयोजन है।' यज्ञ-प्रेमियों को बड़ी निराशा हुई और सम्माननीय कुछ लोग उनके पास काशी पहुँचे और उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराया गया कि दोनों बाबा लोग परम आस्तिक एवं वैष्णव हैं और यज्ञ देश कल्याण एवं देवाराधन की दृष्टि से हो रहा है, सनातन धर्म के विपरीत कोई भी कार्य वहाँ नहीं होगा। जब उन्हें विश्वस्त सूत्रों से ठीक-ठीक यह बात प्रमाणित हुई, तो वे यज्ञार्थ गये। स्व० महामहोपाध्याय जी इस ढंग के कट्टर सनातनधर्मी आस्तिक वैदिक विद्वान् थे। वे जरा-जरा-सी शंका उपस्थित होने पर अपनी हजारों की निश्चित आमदनी, महती प्रतिष्ठा और उच्च सम्बन्ध का त्याग निःसंकोच कर देते थे। यह थी उनकी धर्म की अपूर्व निष्ठा और प्रेम।

स्वतन्त्र वृत्ति

अपनी विशिष्ट विद्वत्ता और योग्यता के कारण उनका सदा सर्वत्र मूर्धन्य रूप में सम्मान हुआ और वे प्रधान पद पर अभिषिक्त करके सम्मानित किये गये। उन्होंने कभी न किसी की अधीनता स्वीकार की और न किसी के अधीन कोई कार्य किया। क्योंकि वे मानते थे—

'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।'

[दूसरे के वश में रहना दुःख है और अपने वश में रहना ही सुख है।]

गरुड़ जी के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है कि एक बार उन्होंने विष्णु भगवान् से आग्रह किया मुझे कुछ समय के लिये इतना अवकाश दे दिया जाय कि मैं थोड़े दिन उस वट-वृक्ष पर जाकर निवास करूँ, जहाँ मेरा जन्म हुआ है। विष्णु भगवान् को बड़ी उत्कण्ठा हुई कि यहाँ हमारे साथ रह कर इसे सब प्रकार के उपभोग सुलभ हैं, फिर भी उस जीर्ण वट-वृक्ष पर जाने के लिये यह क्यों इतना उत्सुक है। उन्होंने अवकाश तो दे दिया, किन्तु साथ-साथ अपने मन में यह भी विचार किया कि मैं भी देखूँ कि वहाँ जाकर यह क्या करता है। पीछे-पीछे जाकर विष्णु भगवान् ने देखा कि वह उस वृक्ष की एक शाखा से दूसरी शाखा पर उड़ता, फुदकता घूम रहा है, बीच-बीच में अत्यन्त उल्लास के साथ चहकता भी जाता है और उस वृक्ष में पकी हुई बड़-पीपलियाँ भी बड़ी उमंग के साथ खाता,

ठोर मारता या उनका चुग्गा लेता चला जा रहा है। लौटने पर विष्णु भगवान् ने उससे पूछा कि 'वहाँ कैसी बीती ?' । इस पर उसने उत्तर दिया कि 'बस कुछ न पूछिये। जितना आनन्द इस अवकाश के समय मिला है उतना कभी नहीं मिला, क्योंकि उतने समय में मैं स्वयं अपना स्वामी था।' इसी प्रकार लंका में पहुँच कर जब लक्ष्मण ने उस स्वर्णमयी लंका का अपार वैभव देखा तो वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने राम से आकर उस वैभव की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस पर राम ने लक्ष्मण से केवल इतना ही कहा—

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

[हे लक्ष्मण ! लंका चाहे जितनी स्वर्णमयी हो, किन्तु वह मुझे फूटी आँखों नहीं सुहाती, क्योंकि माता और जन्मभूमि ये तो स्वर्ग से भी बड़ी होती है। उनके आगे किसी का भी कोई महत्त्व नहीं।]

पत्रोत्तर में तत्परता

प्रायः विद्वान् लोग पत्र-कृपण तथा पत्र-संकोची होते हैं। उनके यहाँ बहुत से पत्र आते हैं, किन्तु वे किसी का उत्तर देते ही नहीं या देते भी हैं तो बहुत विलम्ब करके। परन्तु श्री विद्याधर जी में यह बड़ा विचित्र और श्लाघनीय गुण था कि पत्र पाते ही वे अविलम्ब उसका उत्तर देते थे और कभी इस बात में कोई आगा-पीछा नहीं सोचते या भेद नहीं करते थे कि अमुक व्यक्ति को उत्तर देना चाहिए था नहीं। उनका विश्वास था कि जिसने भी पत्र लिखा है उसने उत्तर की आशा से ही लिखा है, इसलिये उसे उत्तर देना ही चाहिए और उसकी आशा पूर्ण करनी ही चाहिए। यह बहुत बुरा और निन्द्य अभ्यास है कि किसी का पत्र अनुत्तरित रोक रक्खा जाय, क्योंकि उत्तर न पाने से पत्र लिखने वाले को हार्दिक व्यग्रता, चिन्ता, अनिश्चितता और शंका बनी रहती है। इसलिये यह आवश्यक है कि जिसका पत्र मिले उसे तत्काल उत्तर दे दिया जाय, भले ही उस उत्तर में लेखक की इच्छा पूर्ण हो या न हो। कम से कम उसे यह तो विश्वास हो ही जाता है कि मेरी प्रार्थना, निवेदन, इच्छा या भावना के प्रति उत्तरदाता का क्या पक्ष या भाव है। इससे उसके मन को शान्ति, बुद्धि को स्थिरता और निश्चय तथा आत्मा को सन्तोष होता है। इसीलिये विदेशों में पत्र का उत्तर देना आध्यात्मिक पवित्रता और सच्चरित्रता का गुण तथा विशिष्टता का लक्षण माना गया है।

महापुरुष

विद्वान् और महापुरुष का सबसे बड़ा लक्षण है क्षमा करना और अपनी भूल या दोष के लिये क्षमा माँग लेना। एक बार की घटना है कि काशी में आपके एक सुयोग्य वेदाचार्य शिष्य से किसी अन्य घनान्ती वेदपाठी से कुछ परस्पर कहा सुनी हो गयी। आपके शिष्य वेदाचार्य का कथन था कि सुग्गा-रटन्त करके केवल वेद का मूल मन्त्र-भाग रट लेने से कोई लाभ नहीं है। उधर घनान्ती

वेदपाठी महोदय का कथन था कि वेद के मूल-भाग के अभ्यास किये बिना वेद का अर्थ-ज्ञान निरर्थक है। दोनों विद्वान् अपनी-अपनी टेक पर डटे हुए अपने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए वाग्युद्ध करते जा रहे थे और कोई परास्त होने का नाम नहीं ले रहा था। बात बढ़ते-बढ़ते बहुत बढ़ गयी, किन्तु किसी-किसी प्रकार अन्य लोगों ने हस्तक्षेप करके दोनों को समझा-बुझा कर शान्त कर दिया। किसी ने आकर आपको भी समाचार दिया कि आपके एक शिष्य का अमुक वैदिक विद्वान् से छोटी-सी बात पर झगड़ा हो गया था। आप चुपचाप उन वैदिक के घर पहुँचे जिनसे आपके शिष्य का झगड़ा हो गया था। वहाँ पर पहुँच कर आपने अपने शिष्य द्वारा किये गये विवाद के लिये क्षमा माँगी। यह देखकर तो वैदिक महोदय पानी-पानी हो गये और आपकी इस महत्ता का उन्होंने लोहा मान लिया। इतना ही नहीं, इनकी इस क्षमा-याचना का उन दोनों कलह-निरत विद्वानों पर भी बहुत प्रभाव पड़ा और उन्हें यह शिक्षा मिली कि 'वास्तव में क्षमा माँगने वाला व्यक्ति कभी छोटा नहीं, किन्तु बहुत बड़ा होता है।' उनके शिष्य के मन में तो बड़ी ग्लानि हुई कि मेरे कारण मेरे सम्माननीय गुरू जी को दूसरे से व्यर्थ क्षमा माँगनी पड़ी।

तेजःपूर्ण व्यक्तित्व

काशी के गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज (अब संस्कृत विश्वविद्यालय) की संस्कृत पाठशालाओं के भूतपूर्व निरीक्षक, स्वर्गीय माननीय पण्डित काशीराम शर्मा एम० ए०, महोदय ने पण्डित विद्याधर जी के तेजस्वितापूर्ण व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कई मनोरञ्जक और स्मरणीय घटनाओं का उल्लेख किया है। एक प्रसंग की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—

एक बार काशी के एक कलेक्टर ने मुझसे पूछा कि 'काशी में इस समय वेद-विद्या का सबसे बड़ा विद्वान् कौन है?।' मैंने उत्तर में श्री विद्याधर जी का नाम बतलाया। जब उन्होंने उनके दर्शन की इच्छा प्रकट की तब मैं पण्डित विद्याधर जी को कलेक्टर साहब के पास ले गया। कलेक्टर साहब आपसे वार्तालाप करके बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुए और चलते समय अपनी मोटर-गाडी में बड़े सम्मान के साथ उन्हें विदा किया।

एक दूसरी घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि एक बार काशी में एक बहुत बड़े राजकीय उच्चाधिकारी पुरुष आये थे। उस अवसर पर पुनः कलेक्टर साहब ने मुझे बुलाकर कहा कि आप इन उच्चाधिकारी पुरुष को भी पण्डित विद्याधर जी का दर्शन कराइये। उनके कथन के अनुसार मैं पण्डित विद्याधर जी को लेकर उन उच्चाधिकारी के पास गया, किन्तु वे अपने अधिकार और पद की मर्यादा के अनुसार पण्डित विद्याधर जी को देखकर भी बैठे रहे, उठे नहीं। किन्तु जब थोड़ी देर तक पण्डित विद्याधर जी से उनका वार्तालाप हुआ तो वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि लौटते समय वे केवल अपनी

कुर्सी से उठे ही नहीं, वरन् बड़े सम्मान के साथ उन्हें बहुत दूर तक बाहर छोड़ने के लिये चले आये और उन्होंने यह भाव व्यक्त किया कि ऐसे योग्य और पूजनीय विद्वान् के दर्शन करने से मैं कृतकृत्य हो गया और यह मेरा परम सौभाग्य है कि ऐसे महापुरुष से मेरा साक्षात्कार हुआ।

इसी प्रकार की एक और घटना का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि एक बार काशी नगरपालिका के कार्याधिकारी श्री ठाकुर रामसिंह को भी मेरे साथ श्री विद्याधर जी के दर्शन और वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और वे विद्याधर जी के उदात्त, विशाल और सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ विद्याधर जी के चरणों का स्पर्श किया और अपना आदर तथा सम्मान व्यक्त किया।

इसी प्रकार काशी के तहसीलदार ठाकुर वृषभकेतु सिंह ने भी मुझसे पण्डित विद्याधर जी के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। मुझे भली भाँति स्मरण है कि ज्यों ही उन्होंने पण्डित जी की भव्य मूर्ति का दर्शन किया त्यों ही बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ उनके चरणों का स्पर्श किया और हर्ष से गद्गद होकर उनके प्रति अपना आदर तथा सम्मान प्रकट किया।

इस प्रकार सभी वर्गों के लोग तथा अधिकारी उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता और सुशीलता के चमत्कार तथा उनके परम सौजन्य से अतिशय प्रभावित थे।

त्रैपुरुषी विद्या

महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए भारत के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने बड़े सम्मान के साथ इनके सम्बन्ध में संस्मरण लिखते हुए कहा है—

'अत्युच्च सुयोग्य विद्वान् के वैसे ही सुयोग्य पुत्र होना यह श्री विद्याधर जी का ही परम सौभाग्य था। पिता-पुत्र दोनों ने गवर्नमेण्ट से 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्राप्त की हो, ऐसा दृष्टान्त भी मैंने अन्यत्र नहीं देखा। काशी में त्रैपुरुषी विद्या नहीं होती, ऐसा अपवाद पुरातन काल से चला आ रहा है और कहा जाता है कि व्यास जी ने काशी को यह शाप दिया था, किन्तु पण्डित विद्याधर जी का परिवार इसका अपवाद है। क्योंकि श्री विद्याधर जी के पुत्र वेदाचार्य श्री वेणीराम शर्मा गौड भी वेद और कर्मकाण्ड के प्रगाढ़ विद्वान् हैं, यह श्री विद्याधर जी के ही पुण्य का फल है।

विद्वद्रत्न

महाकवि कालिदास ने एक स्थान पर कहा है—'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्' अर्थात् रत्न किसी को ढूँढता नहीं है, उसे ही लोग ढूँढ़ते हैं।

यह उक्ति पण्डित विद्याधर जी के लिये पूर्णतः चरितार्थ है। एक बार ऐसी घटना हुई कि कानपुर के एक लब्धप्रतिष्ठ वयस्क धनी

मारवाड़ी सेठ काशी में मीरघाट पर स्थित रायसाहब की 'पंजाबी कोठी' में ठहरे थे। उनकी प्रबल आकांक्षा थी कि 'मैं काशी में अपना यज्ञोपवीत संस्कार करा कर किसी सुयोग्य गौड विद्वान् से 'मन्त्र-दीक्षा' लूँ।' तदनुसार उन्होंने गुप्त-रूप से सुयोग्य वैदिक विद्वान् की खोज आरम्भ कर दी। धीरे-धीरे यह बात कानों-कान काशी के सभी गौड विद्वानों में फैल गयी। फिर क्या था, लोग अनेक प्रकार से उनके गुरु बनने के लिये प्रयत्न करने लगे और इतना ही नहीं, वे स्वयं जा-जाकर सेठ जी से मिलने भी लगे। किन्तु सेठ जी बड़े चतुर थे। वे तो गुणी की खोज में थे, इसलिये उन्होंने किसी को मुँह न लगने दिया। थोड़े ही समय में अनेक विद्वानों और विशिष्ट नागरिकों के मुख से जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जहाँ तक वैदिक कर्मकाण्ड और सात्विक भावना का प्रश्न है, पण्डित विद्याधर जी के समान कोई दूसरा अत्यन्त प्रतिष्ठित, सुयोग्य वैदिक विद्वान् नहीं है तो उनकी श्रद्धा पूर्ण-रूप से जागरित हो उठी और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे बिना बुलाये किसी के घर जाते नहीं, तब तो उनकी श्रद्धा का कोई पार नहीं रहा। वे तत्काल अत्यन्त विनीत भाव से पण्डित विद्याधर जी के स्थान पर पहुँचे और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्होंने गौड जी से निवेदन किया कि 'आप मेरा यज्ञोपवीत-संस्कार करा कर मुझे मन्त्र-दीक्षित कीजिये।' उनका यह नम्र भाव देख कर गौड जी ने तत्काल प्रार्थना स्वीकार कर ली और उनका उपनयन संस्कार करा कर उन्हें मन्त्र-दीक्षा भी दे दी। सेठ जी को भी अद्वितीय आचार्य और गुरु पाकर हार्दिक प्रसन्नता हुई और वे बहुत ही सन्तुष्ट होकर काशी से गये।

जनता पर प्रभाव

आपका सम्बन्ध भारत के अनेक प्रतिष्ठित राजाओं से रहा है। एक बार जिनका आपसे सम्पर्क हो जाता था वे सदा के लिये आपके भक्त हो जाते थे। ऐसे भक्त राजाओं-महाराजाओं, धनिकों तथा श्रेष्ठियों में बनारस-रामनगर-राज्य के स्व० महाराज सर आदित्य नारायण सिंह, स्वर्गीय महाराज झालावाड़ नरेश, स्वर्गीय महाराज जोधपुर, स्वर्गीय महाराज छत्रपुर, महाराज रंका, काशी के भूतपूर्व कमिश्नर डा० पन्नालाल तथा कमिश्नर श्री साठे, भारत के प्रसिद्ध दान-वीर लक्ष्मीपति राजा बलदेव दास बिरला, काशी के प्रसिद्ध धनिक लोक-सेवक, देशप्रेमी तथा उदारचेता बाबू शिवप्रसाद गुप्त और राजा मोतीचन्द सी०आई०ई० आदि का नाम बड़े सम्मान से लिया जा सकता है।

अधिकारियों पर प्रभाव

जिस प्रकार भारत के अनेक रजवाड़े, धनिक, महापुरुष, पण्डित तथा विद्वान् आपका आदर सम्मान करते थे उसी प्रकार काशी के नागरिक तथा अधिकारी भी आप की विद्वत्ता के कारण आपका बड़ा सम्मान और आदर करते थे।

कुर्सी से उठे ही नहीं, वरन् बड़े सम्मान के साथ उन्हें बहुत दूर तक बाहर छोड़ने के लिये चले आये और उन्होंने यह भाव व्यक्त किया कि ऐसे योग्य और पूजनीय विद्वान् के दर्शन करने से मैं कृतकृत्य हो गया और यह मेरा परम सौभाग्य है कि ऐसे महापुरुष से मेरा साक्षात्कार हुआ।

इसी प्रकार की एक और घटना का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि एक बार काशी नगरपालिका के कार्याधिकारी श्री ठाकुर रामसिंह को भी मेरे साथ श्री विद्याधर जी के दर्शन और वार्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और वे विद्याधर जी के उदात्त, विशाल और सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ विद्याधर जी के चरणों का स्पर्श किया और अपना आदर तथा सम्मान व्यक्त किया।

इसी प्रकार काशी के तहसीलदार ठाकुर वृषभकेतु सिंह ने भी मुझसे पण्डित विद्याधर जी के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। मुझे भली भाँति स्मरण है कि ज्यों ही उन्होंने पण्डित जी की भव्य मूर्ति का दर्शन किया त्यों ही बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ उनके चरणों का स्पर्श किया और हर्ष से गद्‌गद होकर उनके प्रति अपना आदर तथा सम्मान प्रकट किया।

इस प्रकार सभी वर्गों के लोग तथा अधिकारी उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता और सुशीलता के चमत्कार तथा उनके परम सौजन्य से अतिशय प्रभावित थे।

त्रैपुरुषी विद्या

महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए भारत के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने बड़े सम्मान के साथ इनके सम्बन्ध में संस्मरण लिखते हुए कहा है—

'अत्युच्च सुयोग्य विद्वान् के वैसे ही सुयोग्य पुत्र होना यह श्री विद्याधर जी का ही परम सौभाग्य था। पिता-पुत्र दोनों ने गवर्नमेण्ट से 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्राप्त की हो, ऐसा दृष्टान्त भी मैंने अन्यत्र नहीं देखा। काशी में त्रैपुरुषी विद्या नहीं होती, ऐसा अपवाद पुरातन काल से चला आ रहा है और कहा जाता है कि व्यास जी ने काशी को यह शाप दिया था, किन्तु पण्डित विद्याधर जी का परिवार इसका अपवाद है। क्योंकि श्री विद्याधर जी के पुत्र वेदाचार्य श्री वेणीराम शर्मा गौड भी वेद और कर्मकाण्ड के प्रगाढ़ विद्वान् हैं, यह श्री विद्याधर जी के ही पुण्य का फल है।

विद्वद्रत्न

महाकवि कालिदास ने एक स्थान पर कहा है—'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्' अर्थात् रत्न किसी को ढूँढता नहीं है, उसे ही लोग ढूँढ़ते हैं।

यह उक्ति पण्डित विद्याधर जी के लिये पूर्णतः चरितार्थ है। एक बार ऐसी घटना हुई कि कानपुर के एक लब्धप्रतिष्ठ वयस्क धनी

मारवाड़ी सेठ काशी में मीरघाट पर स्थित रायसाहब की 'पंजाबी कोठी' में ठहरे थे। उनकी प्रबल आकांक्षा थी कि 'मैं काशी में अपना यज्ञोपवीत संस्कार करा कर किसी सुयोग्य गौड विद्वान् से 'मन्त्र-दीक्षा' लूँ।' तदनुसार उन्होंने गुप्त-रूप से सुयोग्य वैदिक विद्वान् की खोज आरम्भ कर दी। धीरे-धीरे यह बात कानों-कान काशी के सभी गौड विद्वानों में फैल गयी। फिर क्या था, लोग अनेक प्रकार से उनके गुरु बनने के लिये प्रयत्न करने लगे और इतना ही नहीं, वे स्वयं जा-जाकर सेठ जी से मिलने भी लगे। किन्तु सेठ जी बड़े चतुर थे। वे तो गुणी की खोज में थे, इसलिये उन्होंने किसी को मुँह न लगने दिया। थोड़े ही समय में अनेक विद्वानों और विशिष्ट नागरिकों के मुख से जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जहाँ तक वैदिक कर्मकाण्ड और सात्विक भावना का प्रश्न है, पण्डित विद्याधर जी के समान कोई दूसरा अत्यन्त प्रतिष्ठित, सुयोग्य वैदिक विद्वान् नहीं है तो उनकी श्रद्धा पूर्ण-रूप से जागरित हो उठी और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे बिना बुलाये किसी के घर जाते नहीं, तब तो उनकी श्रद्धा का कोई पार नहीं रहा। वे तत्काल अत्यन्त विनीत भाव से पण्डित विद्याधर जी के स्थान पर पहुँचे और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्होंने गौड जी से निवेदन किया कि 'आप मेरा यज्ञोपवीत-संस्कार करा कर मुझे मन्त्र-दीक्षित कीजिये।' उनका यह नम्र भाव देख कर गौड जी ने तत्काल प्रार्थना स्वीकार कर ली और उनका उपनयन संस्कार करा कर उन्हें मन्त्र-दीक्षा भी दे दी। सेठ जी को भी अद्वितीय आचार्य और गुरु पाकर हार्दिक प्रसन्नता हुई और वे बहुत ही सन्तुष्ट होकर काशी से गये।

जनता पर प्रभाव

आपका सम्बन्ध भारत के अनेक प्रतिष्ठित राजाओं से रहा है। एक बार जिनका आपसे सम्पर्क हो जाता था वे सदा के लिये आपके भक्त हो जाते थे। ऐसे भक्त राजाओं-महाराजाओं, धनिकों तथा श्रेष्ठियों में बनारस-रामनगर-राज्य के स्व० महाराज सर आदित्य नारायण सिंह, स्वर्गीय महाराज झालावाड़ नरेश, स्वर्गीय महाराज जोधपुर, स्वर्गीय महाराज छत्रपुर, महाराज रंका, काशी के भूतपूर्व कमिश्नर डा० पन्नालाल तथा कमिश्नर श्री साठे, भारत के प्रसिद्ध दान-वीर लक्ष्मीपति राजा बलदेव दास विरला, काशी के प्रसिद्ध धनिक लोक-सेवक, देशप्रेमी तथा उदारचेता बाबू शिवप्रसाद गुप्त और राजा मोतीचन्द सी०आई०ई० आदि का नाम बड़े सम्मान से लिया जा सकता है।

अधिकारियों पर प्रभाव

जिस प्रकार भारत के अनेक रजवाड़े, धनिक, महापुरुष, पण्डित तथा विद्वान् आपका आदर सम्मान करते थे उसी प्रकार काशी के नागरिक तथा अधिकारी भी आप की विद्वत्ता के कारण आपका बड़ा सम्मान और आदर करते थे।

एक बार काशी के दो दलों में एक विवाद चल रहा था जिसमें दोनों पक्ष एक दूसरे को अब्राह्मण सिद्ध करने की चेष्टा में प्रयत्नशील थे। जिस मजिस्ट्रेट के न्यायालय में उन दोनों का विवाद चल रहा था उन्होंने दोनों पक्षों का विचार सुन कर एक दिन उनसे यही कहा कि 'तुम लोग क्यों व्यर्थ न्यायालय में विवाद करके व्यग्र हो रहे हो और व्यर्थ धन तथा समय का दुरुपयोग कर रहे हो। यदि तुम दोनों न्यायालय के चक्र से शीघ्र मुक्ति पाना चाहो और उचित न्याय भी कराना चाहो तो काशी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित विद्याधर जी गौड से यह लिखवा कर दिखला दो कि अमुक पक्ष वाला ब्राह्मण है और अमुक पक्ष वाला अब्राह्मण। वे जिस पक्ष को मान्य कर लेंगे वही हमें भी मान्य होगा और उसीके अनुकूल हम निर्णय करेंगे।' मजिस्ट्रेट का वचन सुन कर दोनों पक्ष वाले पण्डित विद्याधर जी के आवास पर पहुँचे और दोनों ने विस्तार के साथ अपनी-अपनी राम-कहानी उन्हें भली प्रकार सुनायी। उनकी बातें सुन कर ही पण्डित जी ने तत्त्व को समझ लिया। क्योंकि पण्डित का लक्षण ही है—

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुंक्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥

[जो अत्यन्त शीघ्र तत्त्व को जान लेता है, देर तक सुनता है और अर्थ समझ कर अपने पक्ष की दृष्टि से उसका उपयोग नहीं करता, बिना पूछे किसी दूसरे के बीच में बोलता नहीं यही पण्डित की पहली पहचान है।]

पण्डित विद्याधर जी ने दोनों का यथार्थ तत्त्व भलीभाँति समझ कर उनको अलग-अलग बुला कर दोनों को एक-एक प्रमाण-पत्र लिख कर दे दिया, जिसमें दोनों पक्ष वालों को उन्होंने 'ब्राह्मण' घोषित कर दिया था। दोनों पक्ष वालों ने जब न्यायाधीश के समक्ष पण्डित विद्याधर जी का लिखा हुआ प्रमाण-पत्र प्रस्तुत कर दिया तो उन्होंने उन्हीं पत्रों के आधार पर दोनों पक्षों को ब्राह्मण घोषित करते हुए कहा कि 'तुम दोनों को अपना बड़ा सौभाग्य मानना चाहिए कि भारत के अद्वितीय विद्वान् तथा धर्मशास्त्री पण्डित विद्याधर जी ने दोनों पक्षों को ब्राह्मण घोषित कर दिया। अब आज से तुम लोग कभी कोई विवाद न करना।' इससे यह सिद्ध होता है कि केवल सामान्य नागरिक ही नहीं, राज्याधिकारी भी यह बात भली भाँति जानते थे कि धर्मशास्त्र में उनकी अप्रतिहत गति है और उनकी सम्मति उतनी ही प्रामाणिक है जितना कोई न्यायनीति का ग्रन्थ।

विदेशों में ख्याति

बाहर विदेशों में भी श्री विद्याधरजी का बड़ा यश और प्रभाव था। एक बार लन्दन के किसी पुस्तकालय ने उनका जीवन-चरित किसी विश्वविद्वत्पुस्तिका (डाइरेक्टरी ऑफ़ लर्नेड मेन् ऑफ़ दि वर्ल्ड) में छापने के लिये मँगाया था। किन्तु इतना प्रभाव होते हुए भी न तो आपने कभी इस पर गर्व किया न अपने लिये उसका उपयोग किया।

महामहोपाध्याय की उपाधि

वेद-विद्या में पूर्ण पारङ्गत होने, वैदिक विद्या का समस्त गूढ़ मर्म समझने, वैदिक कर्मकाण्ड में सविधि वेद का प्रयोग करने तथा वेद-कर्मकाण्ड के अनेक ग्रन्थों के निर्माण करने में अत्यन्त प्रसिद्ध हो जाने के कारण भारत का कोई ऐसा प्रदेश नहीं बचा, जहाँ आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की ख्याति न पहुँची हो। अपनी विशिष्ट विद्या के कारण उन्होंने इतना अधिक सम्मान प्राप्त किया कि देश भर के सभी विद्वान् उन्हें अपना नेता तथा अग्रगण्य मानते थे। परिणाम-स्वरूप स्वयं भारत सरकार भी उनकी यह अद्वितीय कीर्त्ति सुनकर बड़ी प्रभावित हुई और सन् १६४० में भारत सरकार ने इनकी योग्यता और विद्वत्ता पर मुग्ध होकर तथा इनके गुणों का सम्मान करने के लिये इन्हें विद्वानों की सबसे बड़ी उपाधि 'महामहोपाध्याय' से समलंकृत किया।

उनके महामहोपाध्याय पद प्राप्त करने पर अपना उल्लास अभिव्यक्त करने के निमित्त विविध संस्थाओं ने उन्हें अभिनन्दन देकर अपने को गौरवान्वित किया और भारत के विशिष्ट विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण मिश्र आदि विद्वानों ने उनका विशेष अभिनन्दन किया था।

उनके महामहोपाध्याय पदवी पाने पर खानबहादुर मसीहुद्दीन ने उन्हें लिखा था—

"अखबारों के देखने से मालूम हुआ कि इस मर्तबा आपको गवर्नमेन्ट ने 'महामहोपाध्याय' का खिताब अता फरमाया है, जिससे बहुत खुशी हुई। खुशी इस वजह से और भी हुई कि यह खिताब आपके वालिद साहब को भी गवर्नमेन्ट ने दिया था और अब वही खिताब आपको भी मिला, गोया अब यह खिताब आपके घर का हो गया और उम्मीद है कि बड़े जी के जगह जो होगा उसको यह खिताब मिला करेगा। इस खिताब के मिलने से आपको तहेदिल से मुबारकबाद देता हूँ।"

पण्डित विद्याधर जी को 'महामहोपाध्याय' की पदवी देकर भारत सरकार ने सचमुच अपना गौरव संबर्धित किया और एक वास्तविक विद्वान् को उपाधि देकर विभूषित किया। वास्तव में यह पदवी ऐसे ही विद्वानों को शोभा देती है जिन्होंने समस्त विद्याओं को हस्तामलकवत् सिद्ध कर लिया। पण्डित विद्याधर जी में अनेक विशिष्ट गुण विद्यमान थे जिससे भारतवर्ष के विद्वानों ने भी उन्हें मूर्धन्य मान कर उनकी विद्वत्ता और योग्यता के प्रति अपनी आस्था प्रकट की थी। इसलिए यदि भारत-सरकार ने भी उनके स्वर में स्वर मिला कर उनका समर्थन करके उन्हें इस उपाधि से विभूषित किया तो अपना ही सम्मान बढ़ाया।

कुशल लेखक

आप केवल पण्डित, व्याख्याता और अध्यापक ही नहीं थे, वरन् आप अत्यन्त कुशल लेखक भी थे। आपका हस्त-लेख इतना सुन्दर होता था मानो मोती पिरोये हुए हों या फूलों की माला बनी हुई हों। सुन्दर लिपि के सम्बन्ध में कहा गया है—

"लिपिः प्रशस्ता सुमनोलतेव केषां न चेतांसि मुदा बिभर्ति।"

[फूलों की लता के समान, सुन्दर लिपि किस के मन को नहीं सुहाती।]

पण्डित विद्याधर जी की विशेषता यह थी कि वे सुन्दर तो लिखते ही थे वेग से भी लिखते थे। प्रायः ऐसे लेखक बहुत हैं जो धीरे लिखते समय सुन्दर लिखते हैं, किन्तु जब उन्हें वेग से लिखना पड़ता है तो उनका लेख ब्रह्माक्षर हो जाता है, अतः वे स्वयं अपना लिखा नहीं पढ़ पा सकते। किन्तु ऐसे बहुत कम लोग हैं जो क्षिप्रता के साथ भी लिखते हों और सुन्दर भी लिखते हों। आपके घर के पुस्तकालय में दो सौ से अधिक ग्रन्थ आपके हाथ के लिखे हुए रक्खे हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि आपका हस्त लेख कितना सुन्दर और सुहावना होता था। ये सभी ग्रन्थ वेद तथा कर्मकाण्ड की पद्धतियों से सम्बद्ध हैं।

पद्धतियों का संशोधन

पण्डित विद्याधर जी ने कर्मकाण्ड की सभी पद्धतियाँ स्वयं अपने हाथ से शुद्ध लिख कर तैयार कर ली थीं। प्राचीन पण्डितों की प्रशस्त परम्परा के अनुसार वे कर्मकाण्ड के समय हस्तलिखित पुस्तकों का ही प्रयोग करते थे, मुद्रित पुस्तकों का नहीं। उनको स्वयं सभी पद्धतियाँ हस्तामलकवत् प्रस्तुत थीं और कभी किसी पद्धति को हाथ में लेकर कर्मकाण्ड कराने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। फिर भी जब कभी वे कोई पुस्तक हाथ में लेते थे तो वह मुद्रित नहीं होती थी, हस्तलिखित ही होती थी। वे कहा करते थे कि मुद्रित पुस्तकों के सहारे कर्म-काण्ड करानेवाले लोग 'नकली कर्म-काण्डी' होते हैं। उसका कारण यही है कि मुद्रित पुस्तकों में प्रायः छाप की भूलें रह ही जाती हैं चाहे जितनी सावधानी से उनका संशोधन किया जाय। किन्तु जब कोई विद्वान् स्वयं अपने हाथ से विचार-पूर्वक पाठ शुद्ध करके संशोधन पुरस्सर लिखता है तब उसमें अशुद्धि के लिये अवकाश नहीं रहता और उस पद्धति के द्वारा कराया हुआ सम्पूर्ण कर्म-काण्ड शुद्ध और फलप्रद होता है।

ग्रन्थ-रचना

आपने अनेक वैदिक कर्मकाण्ड की पद्धतियों का प्रणयन भी किया है, जिनमें स्मार्त-प्रभु, प्रतिष्ठा-प्रभु, विवाह-पद्धति, उपनयन-पद्धति, वास्तु-शान्ति-पद्धति, शिलान्यास-पद्धति, तथा चूडाकरण-पद्धति आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। आपकी रचित कुछ कर्मकाण्ड को पद्धतियाँ तथा कात्यायन श्रौतसूत्रकी भूमिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वेद-कर्म-काण्ड सम्बन्धी विविध परीक्षाओं में पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हैं।

आपने कात्यायन श्रौतसूत्र और शुल्बसूत्र की बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका की है। और शतपथ ब्राह्मण, श्राद्धसार एवं कात्यायन श्रौतसूत्र की देवयाज्ञिक-पद्धति आदि अनेक ग्रन्थों का सम्पादन तथा 'श्रौतयज्ञ-परिचय' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर वैदिक-जगत् का महान् उपकार किया है।

पण्डित विद्याधर जी ने अपने पूज्य पिता जी के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा व्यक्त करने और कृतज्ञतापूर्वक उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये 'स्मार्त्तप्रभु' तथा 'प्रतिष्ठा-प्रभु' नाम के दो ग्रन्थ लिखे हैं। प्रतिष्ठा-प्रभु ग्रन्थ की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में स्व० महामहोपाध्याय पण्डित नित्यानन्द पर्वतीय जी ने अत्यन्त भाव-विभोर और प्रशंसा-मुखर होकर कहा था—

'श्री विद्याधर जी ने 'प्रतिष्ठा-प्रभु' की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि मुझे आद्यन्त दिखलाई थी। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक में प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में गूढ़ से गूढ़ और दुर्लभ से दुर्लभ विषयों का अत्यन्त सरल ढंग से मर्मोद्घाटन हुआ है। यह विशेषता अन्य किसी प्रतिष्ठा-पद्धति में देखने को नहीं मिलती। प्रतिष्ठा-विषयक ऐसा एक भी ग्रन्थ मेरी दृष्टि में नहीं आया।'

प्रचारवाद से अरुचि

यद्यपि आप बड़े कुशल लेखक थे, किन्तु जब-जब संस्कृत अथवा हिन्दी के दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रों के सम्पादक आपसे लेख भेजने के लिये अनुरोध करते, तब-तब ये स्पष्ट रूप से अपनी अस्वीकृति भेज देते थे, क्योंकि इन पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजना आपको इष्ट नहीं रहा। आपका विचार था और ठीक भी था कि वेदशास्त्र जैसे गम्भीर विषयों के पाठक मिलते कहाँ हैं, इसलिये इन पत्रों में लेख भेज कर अपना समय और पत्रों का स्थान क्यों नष्ट किया जाय? कभी-कभी जब कोई सम्पादक अपने विशेषांक के लिये संस्कृत या हिन्दी में लेख माँगते तो उनके विशेष आग्रह या स्नेह के वशीभूत होकर वे लिख तो दिया करते थे, किन्तु इस प्रकार का लेखदान उनको कभी प्रिय नहीं रहा। जिस किसी विषय का भी वे शास्त्रीय विवेचन करते थे उसका फिर कोई उत्तर नहीं होता था। वह विवेचन इतना अधिक प्रामाणिक, ठोस, साधिकार और युक्तियुक्त होता था कि जो इसे पढ़ता वह उनकी शैली, योग्यता, प्रतिभा, विद्वत्ता और तर्क का लोहा मानता था।

एक बार सन् १६४० में आप काशी के गोयनका संस्कृत महाविद्यालय के वार्षिक विशेषाधिवेशन के 'सभापति' बनाये गये। उस समय सभापति-पद से आपने जो संस्कृत में लिखित व्याख्यान दिया था, उसके सम्बन्ध में महामहोपाध्याय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री हरिहर कृपालु जी द्विवेदी ने तथा उक्त विद्यालय के संचालक सेठ गौरीशंकर जी गोयनका ने बहुत भावपूर्ण प्रशंसात्मक सम्मान के साथ कहा था—"सभापति पद से इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण व्याख्यान सर्वप्रथम महा-महोपाध्याय श्री विद्याधर जी का ही हुआ है।" आपके इस व्याख्यान को

गोयनका जी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराने का भी विचार करते थे, किन्तु संयोगवश व्याख्यान छप नहीं सका। वह व्याख्यान इस स्मारक ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में प्रकाशित किया गया है।

महामना मालवीय जी की ७५ वीं वर्ष गाँठ पर उन्होंने जो पद्यमय प्रशस्ति लिखी थी, वह उनके साहित्य-ज्ञान और काव्य-ज्ञान की पारगामिता का ज्वलन्त प्रमाण है।

संस्कृत से प्रेम

यों तो बहुत से विद्वान् पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये संस्कृत में भाषण या शास्त्रार्थ करते हैं, किन्तु ऐसे बहुत कम लोग हैं जो वास्तव में सांस्कारिक निष्ठा के साथ संस्कृत भाषा से सम्बन्ध रखते हों। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है कि यदि भारत को अपनी संस्कृति पुनर्जीवित करनी हो, अपने साहित्य और संस्कार को प्रबल बनाना हो, भारतीय जीवन में नैतिकता की स्थापना करनी हो तो संस्कृत का अध्ययन और अध्यापन नितान्त अपेक्षित है। संस्कृत के बिना भारत का जीवन निरर्थक और निरुद्देश्य है। हम व्यावसायिक दृष्टि से देश में अनेक प्रकार की व्यवसायी योजनाएँ चला कर चाहे जितने समृद्ध हो जायँ, किन्तु हमारा देश तब तक नैतिक दृष्टि से समृद्ध नहीं हो सकता, जब तक हम संस्कृत-शिक्षा और संस्कृतविद्या का उचित शिक्षण तथा उन्नयन न करें, क्योंकि नैतिक जीवन का उन्नयन केवल सामाजिक दृष्टि से ही आवश्यक नहीं है, वरन् राष्ट्र के आर्थिक, राजनीतिक, कलात्मक और सांस्कृतिक जीवन के लिये भी उसका आधार अपरिहार्य है। बहुत से लोगों का विश्वास है कि आर्थिक समृद्धि होने से हमारे सब कष्ट दूर हो जायँगे और हमें सुख प्राप्त होगा, किन्तु वास्तविक सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य की मनुष्यता उद्बुद्ध हो, उसकी नैतिक भावना जागरित होकर लोककल्याण के लिये अग्रसर हो और यह तभी हो सकता है जब उसमें ईश्वर के प्रति अखण्ड विश्वास, सब प्राणियों के प्रति आत्मीयता और स्वार्थ छोड़ कर परमार्थ सिद्ध करने की भावना विराजमान हो। यह वृत्ति तभी आ सकती है जब मनुष्य धर्मप्राण हो। आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व इसी प्रकार का प्रश्न व्यास जी से किया गया था, क्योंकि सभी युगों में अर्थलोलुप मनुष्य होते चले आये हैं, जिनका यह विश्वास रहा है कि अर्थ ही संसार में प्रधान है। उनका उत्तर देते हुए भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने उसी समय कहा था--

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

[मैं हाथ ऊपर उठा कर चिल्ला रहा हूँ, पर कोई मेरी एक नहीं सुनता कि धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है, इसलिये उसकी क्यों नहीं सेवा करते ?]

इस धर्म की साधना तभी हो सकती है जब धर्म और नीति के ग्रन्थ पढ़ने

पढ़ाने की व्यवस्था हो और यह व्यवस्था अत्यन्त सरलता से सुलभ हो सकती है यदि संस्कृत पढ़ने-पढ़ाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय और वह भी निष्ठा के साथ। पण्डित विद्याधर जी की यही भावना थी कि संस्कृत भाषा के बिना पढ़े हमारे देश का कल्याण नहीं हो सकता। आप केवल संस्कृतभाषा के अनुरागी मात्र नहीं थे, वरन् अनन्य भक्त भी थे। संस्कृत के विद्वानों, पण्डितों तथा संस्कृतज्ञों से आप प्रायः संस्कृत में ही पत्र-व्यवहार करते थे और जब कभी ऐसे संस्कृतज्ञों से सम्पर्क होता था तो आप संस्कृत भाषा में ही वार्तालाप और सम्भाषण करते थे।

धर्माचरण

आपका यह पूर्ण विश्वास था कि प्रत्येक भारतीय को सदाचारी और धार्मिक होना चाहिए। दूसरों को उपदेश देने वाले तो संसार में बहुत होते हैं, किन्तु जो स्वयं अपने विचार और आचार में सिद्ध हो उसे ही श्रेष्ठ पुरुष समझना चाहिए। पण्डित विद्याधर जी साक्षात् धर्म की मूर्ति थे। हमारे यहाँ कहा गया है—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥

[दूसरों को उपदेश देने में पण्डिताई दिखाना तो सबके लिये बड़ा सरल होता है, किन्तु उच्च धर्म या उपदेश का स्वयं पालन करें ऐसे कोई बिरले ही महात्मा होते हैं।]

पण्डित विद्याधर जी ऐसे ही बिरले महात्मा धार्मिकों में से थे। हमारे यहाँ धर्मशास्त्र में धर्म के दस लक्षण गिनाये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

[धैर्य, क्षमा, आत्मदमन, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना ये दस धर्म के लक्षण हैं।]

पण्डित विद्याधर जी में ये सभी गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे। पीछे बताया जा चुका है कि आप में इतना अतुलित धैर्य था कि किसी भी दशा में, किसी भी संकट की परिस्थिति में आप कभी अधीर, विचलित या व्याकुल नहीं होते थे। आपकी क्षमा भी अत्यन्त अद्भुत और श्लाघनीय थी। जो व्यक्ति आप से द्वेष-बुद्धि रखते थे और कभी आपके अहित करने की भी कल्पना करते थे उन्हें भी आपकी क्षमा प्राप्त थी। मन, बुद्धि और हृदय सभी दृष्टियों से आप पूर्ण पवित्र थे। इस युग में भी आपने कभी अपने भोजन या व्यवहार में किसी प्रकार की अशुचिता को स्थान नहीं दिया। मन, वचन, कर्म से भी आप इतने पवित्र थे कि उस पवित्रता को पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिये आप नित्य नियमपूर्वक गंगा-जल का ही व्यवहार करते थे। जहाँ गंगा-जल प्राप्त न होता वहाँ आप

कुएँ के जल से ही काम लिया करते थे, इतना ही नहीं, भोजन के पश्चात् आपके जूठे बर्त्तन भी गंगाजल से ही धोये जाते थे। पवित्रता की इस भावना का उन्होंने जीवनपर्यन्त निर्वाह किया, जो केवल इसी युग में नहीं, इससे पूर्व भी साधारण रूप से सुकर नहीं था।

धार्मिक जीवन-चर्या

धार्मिक आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में उनकी यह कठोर नियम-चर्या सर्व-प्रसिद्ध थी। आप श्रुति, स्मृति, पुराण आदि धर्मग्रन्थ में प्रतिपादित परम्परागत सनातन वैदिक-धर्म के परम अनुयायी थे। आपकी यह धर्मनिष्ठा इतनी प्रबल और सात्विक थी कि चिरकाल से अपने परिवार से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले अनेक धनिक व्यक्तियों का सम्पर्क भी आपने इसलिये त्याग दिया कि उनके सम्पर्क में आने से कहीं मेरी धार्मिक जीवन-चर्या में व्याघात न हो, बाधा न पड़े और दोष न लगे। इस विषय में आप किसी से भी समझौता करने के लिये प्रस्तुत नहीं रहे। इस विषय में आप किसी के प्रभाव, आग्रह या अर्थलाभ आदि किसी प्रकार के संकोच या प्रलोभन से विचलित नहीं हुए। अपने धर्माचरण की रक्षा के लिये अर्थहानि को वे अत्यन्त नगण्य समझते थे। आपकी इस धार्मिक जीवन-चर्या के सम्बन्ध में गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'कल्याण' के विशेषांक 'सत्कथांक' (पृष्ठ ५१८) में लिखा है—

"स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधर जी गौड श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित सनातन वैदिक-धर्म के परम अनुयायी थे, कई ऐसे अवसर आये जिनमें धार्मिक मर्यादा की किञ्चित् अवहेलना करने से उन्हें प्रचुर मान, धन मिल सकता था, परन्तु उन्होंने उसे ठुकरा दिया।"

सिद्धान्त में दृढता

जिन दिनों महात्मा गान्धी ने हरिजन आन्दोलन या अछूतोद्धार आन्दोलन प्रारम्भ किया था उस समय महामना मालवीय जी और गान्धी जी के तत्सम्बन्धी भाव में तो एकता थी, किन्तु उसकी प्रचारपद्धति में बड़ा विरोध था। गान्धी जी देश भर में अछूतोद्धार के कार्य को आन्दोलन के रूप में चलाना चाहते थे, किन्तु मालवीय जी महाराज का मत था कि इसे आन्दोलन के रूप में न चला कर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिए और अस्पृश्यों के मन में संस्कारतः ऐसी भावना उद्दीप्त हो जाय कि वे अपने आचार, विचार और संस्कार ठीक करें, जिससे उनके प्रति उत्पन्न होनेवाली विरति की भावना अन्य लोगों के मन से दूर हो जाय। तदनुसार मालवीय जी महाराज ने विद्वानों और पण्डितों से व्यवस्था लेकर अछूतों को मन्त्र-दीक्षा देने की योजना बनायी और तदनुसार काशी और कलकत्ते में गंगा जी के तट पर तथा नासिक में गोदावरी के तट पर अस्पृश्यों को पंचाक्षर, षडक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों की प्रणव-रहित दीक्षा दी। जब मालवीय जी महाराज विद्वानों से इसके समर्थन में हस्ताक्षर ले रहे थे उस समय पण्डित

विद्याधर जी के पास भी उक्त पत्र विचारार्थ आया था, किन्तु आपने न तो उस पर हस्ताक्षर किया, न उस विषय की किसी सभा में सहयोग दिया। कुछ लोगों ने मालवीय जी महाराज से जाकर कहा कि 'पण्डित विद्याधर जी आपकी ही संस्था में रहकर आपके ही कार्यों का विरोध करते हैं' तो इसके उत्तर में पूज्य मालवीय जी ने अत्यन्त उदारता और स्वाभाविक विचारशीलता से गर्वपूर्वक कहा था—'मुझे इस बात का गौरव और हर्ष है कि हमारे हिन्दू विश्वविद्यालय में पण्डित विद्याधर जी जैसे रत्न और निष्ठावान् सनातनधर्मी हैं, जो अपने विश्वास और सिद्धान्त के आगे किसी के दबाव या प्रभाव की चिन्ता नहीं करते। यही तो वास्तव में उच्च विद्वत्ता का प्रधान लक्षण है। जो व्यक्ति किसी लोभ, द्वेष, भय या प्रभाव के कारण अपने सिद्धान्त से डिग जाता है वह भी कोई मनुष्य है?'

श्री विद्याधर जी अपने सिद्धान्त के बड़े कट्टर पोषक थे। वे किसी भी अवस्था में कभी अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध में किसी से समझौता करने के लिये प्रस्तुत नहीं होते थे, चाहे उससे जितनी भी लौकिक हानि की सम्भावना हो।

एक बार दिल्ली की गौड ब्राह्मण-महासभा के वार्षिकोत्सव पर वहाँ गौड ब्राह्मण नेताओं ने पण्डित विद्याधर जी के पास यह आग्रहपूर्ण पत्र भेजा कि आप इस वार्षिकोत्सव की अध्यक्षता स्वीकार कर लें। आपने अपनी स्वाभाविक उदारता के साथ वह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और यथासमय दिल्ली पहुँच भी गये। वहाँ जाकर आप अपने सम्बन्धी प्रसिद्ध विद्वान् व्याकरणाचार्य पण्डित मुखराम शास्त्री के यहाँ ठहर गये। प्रसंगवश पण्डित मुखराम शास्त्री ने पण्डित विद्याधर जी से कहा कि आप इस गौड-महासभा के सभापति बन कर तो आये हैं, किन्तु इसमें कुछ प्रस्ताव ऐसे भी प्रस्तुत किये जाने वाले हैं जो आपकी इच्छा और नीति के विरुद्ध हैं। जैसे—एक प्रस्ताव यही है कि "भारतवर्ष भर के दशविध ब्राह्मणों में परस्पर रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित हो जाय।" इतना सुना था कि तत्काल पण्डित विद्याधर जी ने गौड-महासभा के अधिकारियों के पास लिख कर भेज दिया कि 'मैं आपकी सभा की अध्यक्षता करने को प्रस्तुत नहीं हूँ।' यह पत्र पाकर सभा के अधिकारी बड़े चिन्तित हुए और उनमें से कुछ सज्जन पण्डित विद्याधर जी के पास आकर आग्रह भी करने लगे कि आप हमारी सभा का सभापतित्व अवश्य ग्रहण करें, किन्तु आपने उन सभी लोगों से स्पष्ट कह दिया कि 'मैं अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं हो सकता।' यह कह कर वे सीधे काशी लौट आये।

आत्म-प्रशंसा से विरक्ति

आत्म-प्रशंसा और आत्म-प्रशंसक दोनों से उनकी स्वाभाविक विरक्ति थी। वे आत्म-प्रशंसा को सभ्य मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्गुण और मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता मानते थे। अहम्मन्यता और आत्मश्लाघा दोनों को वे मनुष्य की उन्नति में उसकी लोककीर्ति के लिये बहुत बड़ा कलङ्क समझते थे।

मनुष्य की परख

मनुष्य की ठीक पहचान करने में वे बड़े सूक्ष्मान्वेषी थे और थोड़ी ही बात-चीत में वे किसी भी मनुष्य के स्वभाव को भलीभाँति पहचान लेते थे। जो लोग चाटुकार, वंचक, छली, मायावी, परच्छिद्रान्वेषी और परद्वेषी होते थे, उन्हें न तो कभी मुँह लगने देते थे न पास फटकने देते थे। अभिमानी, मिथ्याभाषी, आचार-हीन अथवा धर्म-विमुख लोगों से वे किसी प्रकार का कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। उनके स्वभाव की यह बड़ी भारी विचित्रता थी कि किसी को प्रत्यक्षरूप से कभी कोई कटुबचन न कह कर भी बड़े कौशल और बड़ी मृदुता से अपने को ऐसे सभी लोगों से दूर रखते थे। उनके जैसे व्यक्ति के लिये यह बड़ा कठिन था कि किसी को भी विमुख करें या अपने पास से दूर हटने या चले जाने के लिये कहें, क्योंकि कटु-बचन कहना तो उनके स्वभाव में ही नहीं था। किन्तु जिन लोगों से वे बचे रहना चाहते थे उनके प्रति वे ऐसा उदासीनता का भाव रखते थे कि वे स्वयं अपने को अपराधी मानकर दूर रहने का प्रयत्न करते थे।

गोभक्त

अपने पिता जी के ही समान वे भी बड़े भारी गो-भक्त थे और जिस प्रकार पण्डित प्रभुदत्त जी अपने यहाँ 'गो-सेवा' करते थे वैसे ही श्रद्धापूर्ण गोसेवा विद्याधर जी भी करते थे। उनके यहाँ निरन्तर हरियाने प्रान्त की १०, १२ सेर दुग्ध देने वाली सुन्दर, दर्शनीय तीन-चार गौएँ रहती ही थीं। आपका नियम था कि प्रातःकाल उठते ही आप सर्वप्रथम गोमाता का दर्शन किया करते थे और जब भी कहीं काशी से बाहर जाते तो गोमाता का दर्शन और प्रदक्षिणा करके ही बाहर जाते। गोदर्शन और गोप्रदक्षिणा का यह नियम उन्होंने आजीवन पालन किया। उनके यहाँ ऐसी सुन्दर गौएँ थीं कि उनका दर्शन करना स्वयं बड़ा आनन्द-दायक अनुभव होता था। उनके यहाँ पलने वाली हृष्ट-पुष्ट कुण्डोध्नी गौओं का दर्शन करके साक्षात् 'कामधेनु' और 'नन्दिनी' का स्मरण हो आता था।

ब्राह्मण-भक्त

गौ के ही समान वे ब्राह्मणों के भी परम भक्त थे। किसी ब्राह्मण को निन्दा या उसका अपमान कभी सहन नहीं करते थे। इतना ही नहीं, अपने यहाँ आने वाले ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य भी कहीं का कोई ब्राह्मण आ जाता, तो वे अन्न, वस्त्र आदि से उसका सत्कार करके सेवा करते और जिस प्रकार भी हो सकता उसकी सहायता करने का प्रयत्न करते। वे निरन्तर समय-समय पर अनेक सेठों और धनिकों के द्वारा आर्त्त तथा संकट-ग्रस्त ब्राह्मणों की अनेक प्रकार से सहायता किया करते और इस प्रकार उन्होंने लाखों रुपया ब्राह्मणों को दिलवा कर उनका पोषण किया, उनका आर्थिक संकट दूर किया और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की। ब्राह्मणों के अतिरिक्त भी जो कोई उनके यहाँ विपन्न या शरणागत बन कर चला आता उसकी भी वे यथाशक्ति सहायता करते थे। यद्यपि वे

ब्राह्मणों का बहुत आदर करते थे, किन्तु जाति की कट्टरता उनमें तनिक भी नहीं थी। उनके यहाँ कोई भी व्यक्ति जिस किसी इच्छा, आकांक्षा, कामना या कठिनाई लेकर पहुँच जाता था उसकी वे निःसंकोच और निर्मत्सर होकर सहायता करते थे। उनके इस उदार गुण के कारण न जाने कितने संस्कृत के विद्यार्थी उनके यहाँ रह कर तथा भोजन और वस्त्र पाकर निश्चिन्त होकर विद्याध्ययन करते थे।

मातृ-पितृभक्त

हमारे यहाँ जब विद्याव्रत-स्नातक को समावर्त्तन के समय उपदेश दिया जाता था, तो यही कहा जाता था—

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।'

[माता को देवता के समान मानो, पिता को देवता समझो और गुरु को देवता के समान मान कर उनका पूजन करो।]

पण्डित विद्याधर जी ने श्रुति की इस आज्ञा को इतना आत्मसात् कर लिया था कि आप अपने माता-पिता को साक्षात् देव-तुल्य मानते थे और कहा करते थे कि 'मैं जो कुछ भी हूँ वह पिता जी के आशीर्वाद का ही परिणाम है।' इस सम्बन्ध में आप तुलाधार जाजलि की कथा सुनाया करते थे कि 'काशी में एक धर्म-व्याध था, जो माँस बेचा करता था, किन्तु माता-पिता का वह इतना अधिक भक्त था कि उनकी कृपा के कारण ही उसे परम ज्ञान प्राप्त हो गया। जब उसके पास ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने के लिये 'जाजलि' नामक ब्राह्मण आये तो उस तुलाधार ने उनसे कहा कि 'आपको अमुक देवी ने ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्त्यर्थ यहाँ भेजा है।' ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा कि 'तुम माँस बेचने का निन्दित कर्म करते हो, फिर भी तुम्हें ब्रह्मज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो गया?' इस पर उसने कहा कि 'मैं नित्य-प्रति अपने माता-पिता की सेवा करता हूँ। उन्हींके प्रताप से मैंने यह ज्ञान लिया कि आप किस कार्य से यहाँ पधारे हैं।' इसी प्रसंग में वे भीष्म की कथा भी सुनाते थे, जिन्होंने अपने पिता जी को प्रसन्न करने के लिये अविप्लुत ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करके 'इच्छामृत्यु' होने का वरदान प्राप्त कर लिया था। इसी प्रकार श्रवणकुमार ने अपने माता-पिता की सेवा करके अक्षय्य पुण्यलोक प्राप्त कर लिया था।

ऋषि-कल्प

आप जिस कक्ष में रहते थे वह नीचे के तल्ले में था और वह कक्ष भी चारों ओर पुस्तकों से भरा रहता था। आप धरती पर कुशासन या मृगचर्म आदि बिछाकर इस प्रकार अपनी वपुष्मत्ता के साथ विराजमान होते थे कि उन्हें देखकर प्राचीन ऋषि-महर्षियों का श्रद्धापूर्ण स्मरण हो जाता था।

वेदों की मर्यादा-रक्षक

वेदों के सम्बन्ध में उनकी कुछ दृढ़, निश्चित और विशिष्ट भावनाएँ थीं,

जिन्हें वर्त्तमान समाज भले ही उचित न समझे, किन्तु उनकी इस निष्ठा का आदर अवश्य ही करना पड़ेगा। वे केवल द्विजमात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के यहाँ ही कर्म-काण्ड कराते थे, इतर जातियों के यहाँ नहीं। उनकी धारणा थी कि द्विजेतर जातियों के समक्ष वेद-मन्त्र का उच्चारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिन लोगों का वैदिक उच्चारण-संस्कार नहीं होता, वे मन्त्रों का कभी ठीक उच्चारण नहीं कर सकते और अशुद्ध उच्चारण करने से मन्त्रों का उलटा फल हो जाता है। हमारे यहाँ तो प्राचीन उक्ति ही है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

[कोई शब्द यदि स्वर या वर्ण की दृष्टि से दुष्ट हो जाय और उसका मिथ्या प्रयोग हो जाय तो वह वाग्-वज्र बन कर यजमान को उसी प्रकार मार डालता है जैसे इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर का नाश केवल स्वर के दोष से हो गया था।]

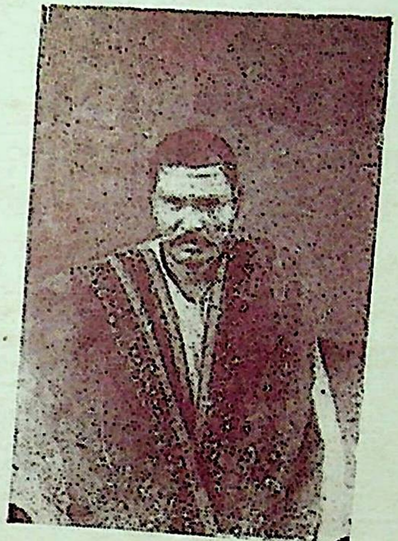
प्राचीन काल में द्विजमात्र को गुरुकुल में रह कर वेद-विद्या के अध्ययन का विधान था, इसलिये उनका वाक्-संस्कार शुद्ध होता था, किन्तु अन्य जातियों को वह सुविधा प्राप्त नहीं होती थी, इसलिये उनके आगे वेदाध्ययन करना अनुचित बताया गया था। यही कारण था कि वे द्विजेतरों के समक्ष वेदमन्त्रों का उच्चारण नहीं करते थे।

एक बार बम्बई के 'ऑल इण्डिया रेडियो स्टेशन' से उन्हें वेदमन्त्र यन्त्रस्थ कराने के लिये निमन्त्रण मिला, किन्तु आपने तत्काल उसे अस्वीकार कर दिया। उनके कुछ शिष्यों ने उनसे निवेदन किया कि 'महाराज रेडियो पर मन्त्र प्रसारित करना तो बहुत लोग अपना परम सौभाग्य मानते हैं, आपने क्यों अस्वीकार कर दिया।' उन्होंने तत्काल उत्तर दिया—'वेदमन्त्रों की एक अपनी गम्भीरता और पवित्रता होती है, उसे इस प्रकार स्थान-स्थान पर सुनाने से उसकी गरिमा, महत्ता और मर्यादा की हानि होती है। इसलिये मैंने यही उचित समझा कि उनका निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया जाय।'

धर्मशास्त्र-व्यवस्थापक

जब कभी काशी के पण्डितों के समक्ष किसी प्रकार की सामाजिक समस्या पर व्यवस्था देने की बात आती थी तो सब लोग इस सम्बन्ध में श्री विद्याधर जी से ही परामर्श करके व्यवस्था दिया करते थे। इतना ही नहीं, काशी में समय-समय पर किसी न किसी धर्म-सम्बन्धी समस्या पर विद्वानों में विचार-विमर्श और शास्त्रार्थ हुआ ही करता था। यद्यपि अब यह प्रणाली बहुत कुछ मन्द हो चली है किन्तु उनके समय इस प्रकार के शास्त्रार्थ बहुत हुआ करते और उन शास्त्रार्थों में इतना खंचाहंच तथा वितण्डावाद होता था कि किसी भी बात पर शीघ्र कोई निर्णय नहीं हो पाता था। जब पण्डित लोग पारस्परिक शास्त्रार्थ करके अनिर्णीत रह जाते थे तब वे अपनी समस्या पण्डित विद्याधर जी के सम्मुख प्रस्तुत करते थे। विचित्र बात

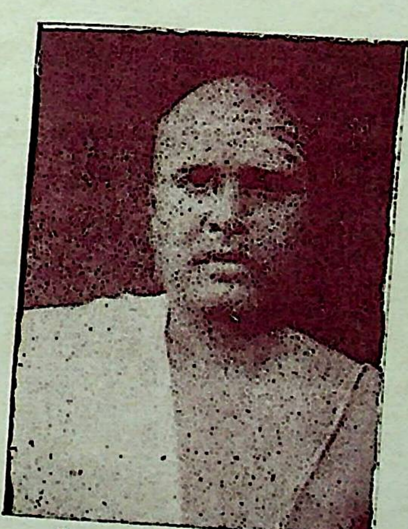
म० म० श्रीविद्याधरजी के अनेक अवस्थाओं के चित्र



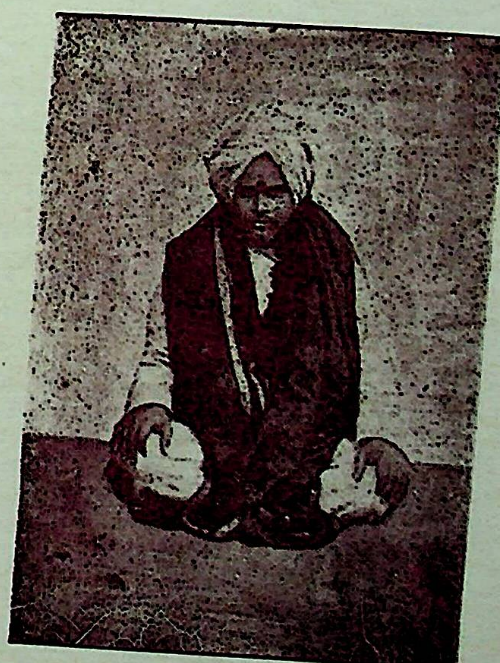
२५ वर्ष की अवस्था में



३५ वर्ष की अवस्था में



४५ वर्ष की अवस्था में



५० वर्ष की अवस्था में



५५ वर्ष की अवस्था में

यह थी कि सब धर्मशास्त्र उन्हें इतने कण्ठाग्र थे कि ग्रन्थ देखने की आवश्यकता नहीं होती थी और वे तत्काल प्रमाण देकर अपना ऐसा सटीक निर्णय दे देते थे, जो सभी को मान्य होता था, क्योंकि उनके निर्णय में शंका के लिये कहीं कोई अवकाश नहीं रह जाता था। जब कभी लोग किसी प्रकार की भी धार्मिक व्यवस्था के लिये तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् दार्शनिकसार्वभौम साहित्यदर्शनाद्याचार्य गोस्वामी श्री दामोदर लाल जी शास्त्री या महामहोपाध्याय पण्डित हरिहर कृपालु जी द्विवेदी या महामहोपाध्याय पण्डित बालकृष्ण जी मिश्र के पास पहुँचते तो वे तत्काल उनसे कह देते थे—'भाई, आप लोग यदि धर्मशास्त्र की उचित व्यवस्था चाहते हों तो महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी गौड के यहाँ जाइये। वे जो भी निर्णय देंगे हम सबको वही निर्णय मान्य होगा और हम उस पर हस्ताक्षर कर देंगे, क्योंकि धर्मशास्त्र जितना अधिक उन्हें प्रस्तुत है, उतना किसी अन्य को नहीं।'

वैदिकों के प्रतिष्ठा-रक्षक

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महामहोपाध्याय पण्डित बालकृष्ण मिश्र जी कहा करते थे—'मैं पहले वैदिकों को साधारण कोटि का मानता था। मैंने पण्डित विद्याधर जी गौड की विशिष्ट विद्वत्ता के सम्बन्ध में सुना तो बहुत था, परन्तु उनसे सर्वप्रथम साक्षात्कार खगड़िया (बिहार) के 'महाविष्णु यज्ञ' में हुआ, जहाँ वे 'आचार्य' होकर गये थे। उनकी व्याकरण-मीमांसा आदि शास्त्रों में अपूर्व विद्वत्ता देख कर वहीं मुझे यह ज्ञान हुआ कि वस्तुतः वे 'यथानाम तथागुणः' हैं। उनसे सम्पर्क स्थापित करने पर मेरी सम्पूर्ण धारणा बदल गयी और मुझे स्पष्ट प्रतीति हुई कि वैदिक भी उच्चकोटि के विद्वान् हो सकते हैं।'

विविध संस्थाओं से सम्मान

आपकी विशिष्ट विद्वत्ता, पाण्डित्य और प्रखर मेधा के कारण अनेक शिक्षा-संस्थाओं ने आपका सम्मान किया और न जाने कितनी संस्थाओं ने आपको अभिनन्दन-पत्र के साथ वैदिक सम्राट्, याज्ञिक सम्राट्, वैदिक चक्रवर्ती, याज्ञिक-चक्रवर्ती, विद्यावाचस्पति, विद्याभूषण, धर्मालंकार, महापण्डित आदि अनेक उपाधियों से अलंकृत किया था। आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभा और विद्वत्ता से प्रभावित होकर भारत सरकार ने सन् १९४० में उन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी से समलंकृत किया था।

विविध संस्थाओं से सम्बन्ध

आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज (अब वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) और बिहार संस्कृत एसोशिएशन समिति की पाठ्यनिर्धारिणी समिति तथा परीक्षाबोर्ड के माननीय सदस्य, परीक्षक तथा प्रश्न संशोधक रहा करते थे। और कलकत्ता, बिहार, जयपुर, लाहौर, नागपुर, उड़ीसा आदि की कालेजों और विश्वविद्यालयों की सर्वोच्च परीक्षाओं के परीक्षक रहते थे।

विशिष्ट ख्याति

आपके विशिष्ट वैदुष्य के कारण स्वल्प अवस्था में ही आपकी समस्त भारत में विशिष्ट ख्याति हो गई थी। विद्वानों में, राजा-महाराजाओं में, श्रेष्ठियों में, नेताओं में, अधिकारियों में तथा सर्वसाधारण जनता में सर्वत्र ही आपकी प्रतिष्ठा, प्रशंसा और समादर था। महामहोपाध्याय पण्डित श्री शिवकुमार शास्त्री जी के बाद विद्वत्ताप्रयुक्त जैसी ख्याति आपको प्राप्त हुई, वैसी अन्य किसी विद्वान् को प्राप्त नहीं हुई।

विदेशों में सम्मान

श्री विद्याधर जी की विद्वत्ता की धाक सुदूर विदेशों तक पहुँची हुई थी। उनकी 'कत्यायन-श्रौत्रसूत्र' की टीका से प्रभावित होकर एक बार लन्दन और जर्मनी के विद्वानों की परिषत् ने उन्हें निमन्त्रण दिया कि आप जर्मनी में हमारे यहाँ आकर वेद की व्याख्या और उसका प्रचार करें, किन्तु अपने सिद्धान्त में दृढ़ निष्ठा के कारण ही उन्होंने अर्थ और यश दोनों को लात मार कर विदेश-यात्रा का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।

काशी-निवास का दृढ़ संकल्प

पण्डित विद्याधर जी की प्रगाढ़ विद्वत्ता का लाभ उठाने के लिये बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने यहाँ होने वाले यज्ञ-महायज्ञ, मन्दिर-प्रतिष्ठा एवं राज्याभिषेक आदि अवसरों पर आपको बुलाया करते थे। आपकी अद्भुत विद्वत्ता पर मुग्ध होकर जोधपुर, अलवर, छत्रपुर एवं झालावाड़ आदि के राजा-महाराजाओं ने आपको अत्यधिक वेतन देकर अपने यहाँ 'राज-पण्डित' के रूप में रखने के लिये बार-बार प्रार्थना की, किन्तु आपने विशेष द्रव्य-लाभ अथवा सम्मान की परवाह न कर किसी भी प्रकार काशी के परित्याग को स्वीकार नहीं किया। आप काशी-निवास को बहुत ही महत्त्व देते थे। आप कहा करते थे—

चना चबेना गङ्ग-जल, जो पुरवे कर्तार।
काशी कबहुँ न छोड़िये, विश्वनाथ दर्बार॥

विद्वत्ता की पूजा

काशीनिवासी स्व० बाबू पुरुषोत्तम दास खत्री ने काशी में अन्नपूर्णा मन्दिर के सन्निकट विशाल दर्शनीय 'श्रीराम मन्दिर' का निर्माण करा कर, उसकी प्रतिष्ठा काशी के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ द्वारा कराने का संकल्प किया। मन्दिर की प्रतिष्ठा के निमित्त 'आचार्य' बनने के लिये कुछ वैदिकों ने स्वयं और दूसरे लोगों के द्वारा बाबू पुरुषोत्तम दास के पास सिफारिश पहुँचाई। बाबू पुरुषोत्तम दास ने सबसे यही कहा—'मैं अपने मन्दिर की प्रतिष्ठा काशी के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ विद्वान् द्वारा करा कर उनकी विद्वत्ता की पूजा करना चाहता हूँ।' बाबू पुरुषोत्तम दास जी के दृढ़ संकल्प को सुन कर सभी को विवश होकर कहना पड़ता था कि—"काशी में पण्डित विद्याधर जी ही सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ हैं।"

विचारशील विद्वानों से पण्डित विद्याधर जी की प्रशंसा सुन कर बाबू पुरुषोत्तम दास ने सन् १६८७ में अपने श्रीराम मन्दिर की प्रतिष्ठा पण्डित श्री विद्याधर जी गौड के आचार्यत्व में करा कर अपनी वास्तविक गुण-ग्राहकता का परिचय दिया और श्रीं विद्याधर जी की विद्वत्ता का यथार्थ पूजन किया।

श्रीराम मन्दिर की प्रतिष्ठा में पण्डित श्री विद्याधर जी जैसे महान् वेदज्ञ के आचार्यत्व में विद्यावयोवृद्ध तपोमूर्ति पण्डित श्री अनन्तराम जी शास्त्री सारस्वत (अध्यक्ष-रणवीर संस्कृत पाठशाला, काशी) तथा वैदिकशिरोमणि पण्डित श्री कुन्दन जी मिश्र सारस्वत आदि अनेक विद्वानों ने सदस्य, ब्रह्मा आदि पद को ग्रहण कर विशेष प्रसन्नता व्यक्त की थी।

पिता जी की यशोवृद्धि में सहायक

संवत् १६७६ की बात है। नागपुर के सुप्रसिद्ध सेठ पोद्दार जी ने नागपुर में 'पोद्दारेश्वर राम मन्दिर' की प्रतिष्ठार्थ काशी में स्व० महामहोपाध्याय पण्डित श्री प्रभुदत्त जी को आचार्य पद के लिये निमन्त्रित किया। नागपुर के कुछ दाक्षिणात्य वैदिक विद्वानों को यह असह्य हो गया। दाक्षिणात्य विद्वानों ने सेठ पोद्दार से कहा—'आपने अपने मन्दिर की प्रतिष्ठार्थ काशी से पण्डित प्रभुदत्त जी गौड को 'आचार्य' पद के लिए जो निमन्त्रित किया है; यह उचित नहीं किया। हमारे सामने वह कर्मकाण्ड नहीं करा सकते। हम उनसे शास्त्रार्थ करेंगे।' सेठ पोद्दार ने काशी में पण्डित श्री प्रभुदत्त जो के पास एक पत्र द्वारा नागपुर के दाक्षिणात्य वैदिक विद्वानों के राग-द्वेषपूर्ण विचारों का उल्लेख करते हुए उन्हें सूचित किया कि 'आप सतर्क होकर नागपुर आवें।' पण्डित प्रभुदत्त जी को अपनी विद्वत्ता पर बड़ा भरोसा था। वह अपनी विद्वत्ता के कारण सर्वदा निर्भीक रहा करते थे। उन्होंने प्रतिष्ठा के निमित्त कुण्ड-मण्डप निर्माणार्थ अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री विद्याधर जी को आठ-दस दिन पूर्व नागपुर भेज दिया। नागपुर के बड़े-बड़े विद्वानों ने श्री विद्याधर जी से वेद-कर्मकाण्ड सम्बन्ध में अनेक जटिल प्रश्न किये। श्री विद्याधर जी ने नम्रतापूर्वक प्रश्नकर्ताओं को जब समुचित उत्तर देकर तृप्त किया, तो वे लोग आश्चर्यचकित होकर दंग रह गये और सभी ने विचार किया कि जब श्री विद्याधर जी ही ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् हैं, तो इनके पिता जी (पण्डित प्रभुदत्त जी शास्त्री) न जाने कैसे होंगे?"। प्रतिष्ठा प्रारम्भ होने के समय पण्डित श्री प्रभुदत्त जी जब नागपुर पधारे, तो वहाँ के उन पण्डितों ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पण्डित जी के चरणस्पर्श करते हुए कहा 'आप काशी के साक्षात् विश्वनाथ हैं और आपके पुत्र श्री विद्याधर जी गणेश। आपके नागपुर में पधारने से महाराष्ट्र का समस्त वैदिक-वर्ग कृतार्थ हो गया।'

इसी प्रकार महाराष्ट्र के वर्धा और मध्यप्रदेश के सागर में होने वाले यज्ञावसर पर पण्डित प्रभुदत्त जी और उनके पुत्र श्री विद्याधर जी को देख कर वहाँ के बड़े-बड़े विद्वान् चकित हो गये और सभी ने आनन्दमग्न होकर पण्डित

प्रभुदत्त जी से कहा—'आप बड़े ही भाग्यशाली हैं। आपके पुत्र साक्षात् वृहस्पति अथवा गणेश के अवतार हैं।'

पिता से अधिक सम्मान

महामहोपाध्याय पं० विद्याधर जी गौड को यह श्रेय प्राप्त है कि उनके सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वानों की यह धारणा थी कि उन्होंने अपने आदरणीय पिता जी से भी अधिक विद्या अर्जित की थी। उनके सम्बन्ध में सभी को यह विश्वास था कि आपने अपने पिता जी के पुण्य-प्रताप से ही यह विद्या-धन प्राप्त किया था। हमारे यहाँ तो कहा ही जाता है—

'सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराजयः।'

[सब स्थानों पर जय की कामना करे किन्तु पुत्र से पराजय की कामना करे अर्थात् यह इच्छा करे कि पुत्र हमसे बढ़ कर हो।]

पण्डित विद्याधर जी की इस विद्याधुरीणता से उनके पिता जी भी बड़े प्रभावित, प्रसन्न और अपने जीवन को कृत-कृत्य समझते थे।

बड़े गुरू जी और छोटे गुरू जी

पण्डित विद्याधर जी अपने शिष्यों को तो पढ़ाते ही थे, समय-समय पर अपने पिता जी के शिष्यों को भी पढ़ाया करते थे। इसीलिये उनका अपना शिष्य-मण्डल और उनके पिता जी का शिष्य-मण्डल दोनों पण्डित प्रभुदत्त जी को 'बड़े गुरुजी' और पण्डित विद्याधर जी को 'छोटे गुरुजी' कहते थे।

श्रेष्ठ याज्ञिक

सुप्रसिद्ध लोकसेवी गोरखपुर के गान्धी स्वर्गीय परमहंस बाबा राघव दास ने विद्याधर जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि प्रदान करते हुए लिखा है—

"श्री वेदशास्त्र-सम्पन्न श्री विद्याधर जी गौड ने अग्निहोत्र की रक्षा कर प्राचीन भारतीय श्री अग्निपूजन का महत्त्व हमारे सामने प्रत्यक्ष कर दिया था। आज धूम्रपान के कारण जो करोड़ों रुपयों की गाढ़ी कमाई हम खर्च कर श्री अग्निदेव का श्राप ले रहे हैं उस समय यह श्री अग्निदेव की अखण्ड पूजा हमारे लिये शिक्षाप्रद ही है। श्री गौड जी के कारण हमें अनेक श्री यज्ञनारायण जी के दर्शन करने का अवसर मिला। श्री यज्ञ की विधि की रक्षा तथा मर्यादा-पालन करने-कराने में श्री गौड जी सफल रहे हैं। श्री यज्ञ का संचालन तथा आरम्भ से लेकर अन्त तक उसको सुचारु-रूप से निभा ले जाना यह भी एक विशेष योग्यता का परिचायक है।

मैंने दूसरे यज्ञ देखे, पर उनमें वह गाम्भीर्य तथा अनुशासन उच्च स्तर का देखने को नहीं मिला, जैसा कि श्री गौड जी के आचार्यत्व में किये गये यज्ञों में देखा गया।"

अग्निहोत्र-ग्रहण

पण्डित विद्याधर जी गौड ने अपने पूज्यपाद पिता जी की वरिष्ठ परम्परा

में सम्वत् १९८७ में 'अग्निहोत्र' ग्रहण करके वैदिक यज्ञ-परम्परा का निर्वाह करने का सङ्कल्प किया। जिस प्रकार उनके पिता जी नियमितरूप से अग्न्याधान करके दर्शपौर्णमासेष्टि आदि सविधिक यज्ञानुष्ठान करते थे उसी प्रकार ये भी वैसे ही शुचिता, दक्षता और निष्ठा के साथ यज्ञाग्नि-सेवा करते थे। क्योंकि जो व्यक्ति स्वतः कोई कार्य न करे उसका प्रभाव दूसरे पर तब तक नहीं होता जब तक कि वह स्वयं अपने आचार और व्यवहार से उसमें अपनी सात्विक वृत्ति न प्रकट करे। इसीलिये नहीं, वरन् इसलिये भी कि वैदिक-विद्या के अनुष्ठान में उनकी स्वाभाविक रुचि और भक्ति भी थी। वे केवल लोकोपचार-मात्र के लिये यज्ञादिक अनुष्ठान नहीं करते थे।

कर्मकाण्ड का प्रचार

आपने अहिताग्नि होकर अपने यहाँ तो अग्निदेव की अर्चना की ही, बाहर (परदेश) भी आपने सम्यक् रीति से वैदिक-कर्मकाण्ड का प्रचार और प्रसार किया। ऐसे कर्मकाण्डी तो प्रायः बहुत होते हैं जो दूसरे स्थानों पर जाकर कर्मकाण्ड कराते हैं, किन्तु ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जो नियमित रूप से अपना कर्तव्य मान कर यज्ञ और वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार किया करते हैं। आपकी सत्प्रेरणा के फलस्वरूप भारतवर्ष भर में सैकड़ों यज्ञ हुए जिनमें आपने स्वयं आचार्य के रूप में कार्य करते हुए अनेक लोगों को प्रेरणा दी और वैदिक यज्ञों के लिए प्रोत्साहन दिया। उनका स्वतः विश्वास था कि वेद और यज्ञों की सेवा करने वाले व्यक्ति को कभी किसी प्रकार कष्ट नहीं हो सकता। स्वयं उन पर ही वेद भगवान् और अग्निदेव की इतनी अद्भुत कृपा थी कि आपकी गृहस्थी सब प्रकार से पुत्र-पौत्रादि और धन-धान्य-समृद्ध थी। यज्ञ-प्रेमियों की भी आप में इतनी निष्ठा थी कि भारतवर्ष भर में जब कहीं कोई बड़ा यज्ञ होता तो आप ही आचार्यत्व के लिये निमन्त्रित किये जाते। बहुत से वैदिक विद्वान् और कर्मकाण्डी यज्ञ कराने से पूर्व दक्षिणा के लिए अधिक चिन्तातुर होते हैं किन्तु पण्डित विद्याधर जी को दक्षिणा की कोई चिन्ता नहीं थी वे यज्ञ की निर्विघ्न परिसमाप्ति को ही अपना परम कर्तव्य मानते थे। आपकी इस निर्लोभ-वृत्ति के कारण अनेक सम्माननीय सेठ तथा धनिक आपके परम भक्त बन गये थे।

विविध कार्य-कुशलता

आप शतावधानियों के सदृश एक ही समय में अनेक कार्य करते थे। एक ओर वेद का मूलपाठ पढ़ाते तो दूसरी ओर वेद-भाष्य आदि का पाठ पढ़ाते थे। इसी प्रकार एक ओर व्याकरण का पाठ पढ़ाते तो दूसरी ओर साहित्य आदि का पाठ पढ़ाते थे। अध्यापन के साथ-साथ ग्रन्थ-लेखन, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था-लेखन और बाहर से आये हुए आवश्यक पत्रों का उत्तर-लेखन आदि विविध कार्य करते रहते थे।

उदारता और परदुःखकातरता

महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधरजी के सम्बन्ध में गीताप्रेस गोरखपुर

के सुप्रसिद्ध कल्याण मासिक पत्र के विशेषाङ्क 'सत्कथा-अङ्क' (पृष्ठ ५१८) में लिखा है—

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधर जी गौड श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित सनातन वैदिकधर्म के परम अनुयायी थे। कई ऐसे अवसर आये, जिनमें धार्मिक मर्यादा की किञ्चित् अवहेलना करने से उन्हें प्रचुर मान-धन मिल सकता था; परन्तु उन्होंने उसे ठुकरा दिया।

इनके पास बहुत से लोगों के मकान वर्षों से रेहन और बन्धक पड़े थे। जब इनकी मृत्यु का समय आया, तब मकानदारों ने आपके शरणागत होकर ऋण चुकाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इन्होंने उनके दुःख से कातर होकर बिना कुछ भी कहे यह कह दिया कि आपकी जो इच्छा हो सो दे जाइये। इस प्रकार कुछ ले-देकर उनको चिन्तामुक्त कर दिया।

आप कहा करते थे—'इस शरीर से यदि किसी की भलाई नहीं की जा सकी, तो बुराई क्यों की जाय।'

सभा-समितियों से विरक्ति

पण्डित विद्याधर जी सभा-भीरु थे। वे किसी प्रकार की संस्था, समिति, सभा आदि में कभी नहीं जाते थे। जब कभी आपको सभापति के रूप में निमन्त्रित किया भी जाता, तो आप तत्काल अपनी अस्वीकृति भेज देते और कहा करते थे कि जितना समय इन सभाओं में नष्ट होता है इतना समय यदि भगवच्चिन्तन में लगाया जाय; तो ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन बन जाय। दूसरी बात यह है कि इन सभा-समितियों में जाने से केवल पारस्परिक राग-द्वेष ही हाथ लगता है, भलाई कम। इन सभी कारणों से आप स्वयं इस प्रकार की सामाजिक प्रवृत्तियों से बहुत दूर रह कर केवल अपने अध्ययन और अध्यापन में लगे रहते और निरन्तर सब परिस्थितियों में अपने सिद्धान्त का पालन करते थे।

लक्ष्मी की कृपा

आप जिस प्रकार माता सरस्वती देवी के कृपा-भाजन थे, उसी प्रकार लक्ष्मी जी के भी कृपा-भाजन थे। आपके अद्भुत विद्या-वैभव से प्रभावित होकर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं ने, श्रेष्ठियों ने और उच्च पदारूढ़ राजकर्मचारियों ने सम्मानपूर्वक बुला कर अनेक यज्ञ-महायज्ञ करा कर, आपका विपुल द्रव्य द्वारा सत्कार किया। वेदज्ञों में आप ही एकमात्र ऐसे विद्वान् थे, जिनको सस्ते समय में भी राजा-महाराजाओं के यहाँ यज्ञ-यागों में पाँच-पाँच हजार दक्षिणा प्राप्त हुई।

दैनिक चर्या

आप सदैव प्रातः ४ बजे उठ कर गंगा-स्नान, सन्ध्या-तर्पण, भगवान् विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा आदि देवी-देवताओं के दर्शन करके प्रतिदिन दुर्गापाठ किया करते थे। आपकी दुर्गापाठ में बड़ी आस्था थी। आपका

अटूट विश्वास था कि जगदम्बा दुर्गा की आराधना और दुर्गापाठ से मनुष्य समस्त प्रकार के सुखों की प्राप्ति कर सकता है।

जीवन-बीमा

पण्डित विद्याधर जी ने अपनी मृत्यु से कुछ ही वर्ष पूर्व चौदह हजार रुपये का जीवन-बीमा करा लिया था। एक बार आपसे किसी ने कहा—'आपने जीवन-बीमा क्यों कराया है'। श्री गौड जी ने उत्तर दिया कि—'मैं चाहता हूँ, मेरे मरने से भी मेरे परिवार वालों का कुछ लाभ हो जाय तो अच्छा है।'

शिष्यों की भक्ति

एक बार भी जो किसी प्रकार की पुस्तक लेकर अध्ययनार्थ आपके चरणों में बैठ गया, वह जीवन-पर्यन्त उन्हें और उनकी शिक्षा-पद्धति को कभी नहीं भूल सका। क्योंकि विद्या के साथ-साथ विनय और शील आप में इतनी अधिक मात्रा में विद्यमान था कि न तो उन्होंने कभी किसी शिष्य को निराश करके लौटाया और न कभी कोई ऐसा अवसर दिया कि कोई उनके यहाँ से विद्यापरान्मुख होकर लौटा हो। उनके ये सब स्वाभाविक सद्गुण सबको वशीभूत करने के लिए पर्याप्त थे। इन गुणों का सबसे उत्तम सुपरिणाम यह होता था कि आपके शिष्यों के चरित्र और व्यवहार पर भी आपके गुणों की गहरी छाप पड़ जाती थी। यही कारण है कि भारतवर्ष भर में जहाँ-जहाँ आपके शिष्य-प्रशिष्य विद्यमान हैं वहाँ-वहाँ उन लोगों ने अपनी-अपनी विद्या तथा विनय और शील से सुन्दर और श्लाघनीय परम्पराएँ स्थापित की हैं। आपके परम सुयोग्य शिष्य 'मन्त्रार्थ-चन्द्रोदय' के लेखक तथा गिद्धौर राज्य के राजकीय संस्कृत विद्यालय के वेद-कर्मकाण्ड के भूतपूर्व अध्यापक वेदाचार्य पण्डित दामोदर झा ने अपने एक व्यक्तिगत पत्र में उन्हें लिखा है—

"सिद्धि श्री १०८ विश्वनाथवदाराध्य प्रणतिमात्रैकसाध्य श्री १०८ गुरुचरण-कमलेषु सादर प्रणामाः सन्तुतरामथत्रृत्तम्।

तारीख ३०-८-४१ को श्रीमान् का शुभाशीर्वादीय पत्र मिला। आपके अस्वस्थ होने का वृत्तान्त बाँचकर बहुत चिन्तित हूँ। श्री १०८ भगवान् से प्रार्थना है कि उनकी कृपा से शीघ्र ही आपकी स्वस्थता का वृत्तान्त सुनने में आवे। श्रीमान् जी की सेवामें मेरे द्वारा लिखित 'मन्त्रार्थ-चन्द्रोदय' पुस्तक अभी तक न भेजने का उल्लेख आपने जो किया है, वह वस्तुतः मेरा अपराध हुआ है। उसको आप क्षमा करेंगे। मन्त्रार्थ-चन्द्रोदय आपकी सेवामें भेज रहा हूँ। आपके ही आशीर्वाद और पुण्य-प्रताप से आपके धर्म-पुत्र ने 'मन्त्रार्थ-चन्द्रोदय' बनाया है और वह श्रीमान् की ही सेवामें समर्पण न हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है।

मैंने सुना है कि आपने 'कात्यायन-श्रौत-सूत्र' पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण सरल

भाष्य किया है, जो कि मुद्रित भी हो गया है। यदि कृपा हो तो उसकी एक प्रति मुझको भी मिलनी चाहिए, क्योंकि मैं आपका प्रथम शिष्य हूँ। आप इस सेवक के ऊपर कृपा रक्खेंगे।"

श्रीमच्चरणसेवकस्य दीन दामोदरस्य।

शिष्य-वर्ग

स्व० म० म० पं० श्री विद्याधर जी के शिष्यों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें से मुख्य प्रसिद्धि-प्राप्त विद्वानों का उल्लेख किया जा रहा है—

१-स्व० पं० विजयचन्द्र चतुर्वेदी वेदाचार्य प्रो० गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, काशी।
२- " " रामजीव द्विवेदी वेदाचार्य प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
३- " " मार्तण्ड शास्त्री घोडेकर वेदाचार्य प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
४- " " कालीचरण झा वेदाचार्य प्रो० मेहता सं०का० प्रतापगढ़ उ० प्र०।
५- " " चन्द्रधर चौधरी वेदाचार्य, माऊ बेहट, दरभंगा।
६- " " चन्द्रभूषण शुक्ल वेदाचार्य प्रो० राधाकृष्ण सं० का० खुरजा।
७- " " वैदिक सम्राट् श्री चन्द्रभाल शर्मा गौड अग्निहोत्री, काशी।
८- " " सत्यदेव झा प्रो० लक्ष्मीश्वरी सं० विद्यालय, दरभंगा।
९- " " काशीनाथ अग्निहोत्री कर्मकाण्डाचार्य, काशी।
१०-पं० श्री विश्वनाथ पाण्डेय वेदाचार्य प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
११- " " भगवत्प्रसाद मिश्र वेदाचार्य प्रो० वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय।
१२- " " वंशीधर मिश्र वेदाचार्य प्रो० गोयनका सं० महाविद्यालय, काशी।
१३- " " गोपाल चन्द्र मिश्र वेदाचार्य प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
१४- " " मङ्गलदत्त त्रिपाठी वेद-व्याकरणाचार्य प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
१५- " " काशी प्रसाद मिश्र वेदाचार्य, प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
१६- " " योगीन्द्र झा वेद-व्याकरणाचार्य प्रो० गवर्नमेन्ट सं० कालेज, मुजफ्फरपुर।
१७- " " दामोदर झा वेदाचार्य (मन्त्रार्थ-चन्द्रोदय के लेखक) दरभंगा।
१८- " " जगदानन्द झा वेदाचार्य प्रो० गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, पटना।
१९- " " रमाकान्त झा वेदाचार्य प्रो० संस्कृत कालेज, सुल्तानगंज, भागलपुर।
२०- " " पीतांबर झा वेदाचार्य प्रो० गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता।
२१- " " सुन्दरलाल झा " दरभंगा
२२- " " गोवर्धन झा " "
२३- " " सत्यदेव झा " "
२४- " " नीरस झा " "
२५- " " आशेश्वर झा महोपदेशक "
२६- " " अच्युतानन्द झा "
२७- " " त्रिवेणीकान्त झा "
२८- " " गुलाब झा "

२९ पं० श्री कमलनाथ शुक्ल वेदाचार्य प्रो० परशुराम चण्डिका वेद विद्यालय, सोहनाग, देवरिया।
३० ,, ,, विश्वनाथ मिश्र वेदाचार्य प्रो० गवर्नमेन्ट हाईस्कूल, आरा।
३१ ,, ,, रामसूरत पाण्डेय वेदाचार्य प्रो० सीताराम पाठशाला, बलिया।
३२ ,, ,, रामशङ्कर द्विवेदी वेदाचार्य प्रो० महाराणा संस्कृत कालेज, उदयपुर।
३३ ,, ,, हरिकेशदत्त गौड वेदाचार्य प्रो० राजकीय संस्कृत कालेज, भरतपुर स्टेट।
३४ ,, ,, चन्द्रशेखर त्रिपाठी वेदाचार्य प्रो० गायत्री पाठशाला, जबलपुर।
३५ ,, ,, जगन्नाथ प्रसाद पाण्डेय वेद-व्याकरणाचार्य प्रो० कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, सासनी, अलीगढ़।
३६ ,, ,, सूर्यनारायण गौड वेदाचार्य प्रो० महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर।
३७ ,, ,, मधुसूदन गौड साहित्याचार्य प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।
३८ ,, ,, दौलतराम गौड वेदाचार्य, प्रो० संन्यासी संस्कृत कालेज, काशी।
३९ ,, ,, वेणीराम गौड वेदाचार्य प्रो० गोयनका संस्कृत कालेज, काशी।
४० ,, ,, रामधारी पाण्डेय प्रो० मुमुक्षु-भवन वेद-वेदाङ्ग विद्यालय, काशी।
४१ ,, ,, जगन्नाथ त्रिपाठी वेदाचार्य प्रो० मारवाड़ी सेवासंघ सं० वि० काशी।
४२ ,, ,, देवीप्रसाद पाण्डेय वेदाचार्य प्रो० मुमुक्षु-भवन सं० वि० काशी।
४३ ,, ,, दयानन्द पाण्डेय वेदाचार्य प्रो० डालमियाँ हाईस्कूल, हथुवा स्टेट।
४४ ,, ,, वासुदेव द्विवेदी वेदाचार्य प्रो० गवर्नमेन्ट हाईस्कूल, गया।
४५ ,, ,, राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय वेदाचार्य प्रो० गवर्नमेन्ट हाईस्कूल, राँची।
४६ ,, ,, शिवमोहन दीक्षित वेदाचार्य, कानपुर।
४७ ,, ,, गिरिजा प्रसाद पाण्डेय वेद-व्याकरणाचार्य, राजपण्डित—भिनगा स्टेट,
४८ ,, ,, रामकृष्ण चतुर्वेदी वेदाचार्य, राजपण्डित, जयपुर।
४९ ,, ,, दुर्गादत्त त्रिपाठी वेदाचार्य, बस्ती।
५० ,, ,, श्यामसुन्दर द्विवेदी वेद-व्याकरणाचार्य
५१ ,, ,, जनार्दन मिश्र वेदाचार्य
५२ ,, ,, श्यामानन्द मिश्र वेदाचार्य, काशी।
५३ ,, ,, मदनमोहन शर्मा वेदाचार्य, जम्बूस्टेट, जम्बू।
५४ ,, ,, गुरुदत्त शर्मा सारस्वत वेदाचार्य, गुरुदासपुर, पंजाब।
५५ ,, ,, गङ्गा प्रकाश ब्रह्मचारी (सन्ध्या ब्रह्मचारी), काशी।
५६ ,, ,, केदारनाथ अग्निहोत्री कर्मकाण्डी, काशी।
५७ ,, ,, हरिनारायण सारस्वत कर्मकाण्डी, काशी।
५८ ,, ,, देवी प्रसाद सारस्वत कर्मकाण्डी, काशी।
५९ ,, ,, काशीनाथ पाण्डेय कर्मकाण्डी, भदैनी, काशी।
६० ,, ,, रामनाथ त्रिपाठी कर्मकाण्डी, रामनगर, काशी।
६१ ,, ,, भैयालाल मिश्र वेदशास्त्री, सागर, मध्यप्रदेश।
६२ ,, ,, यदुनाथ पाठक राजगुरु—डुमराँव स्टेट, पटना।

६३ श्री पं० व्रजभूषण उपाध्याय कर्मकाण्डी, गया।
६४ „ „ गयादत्त मिश्र कर्मकाण्डी, गया।
६५ „ „ चन्द्रदत्त शास्त्री अध्यापक-संस्कृत पाठशाला, पण्डरिया, विलासपुर।
६६ „ „ देवी प्रसाद पाण्डेय वेदाचार्य, चम्पारन (विहार)।
६७ „ „ वेणीप्रसाद शर्मा वेदाचार्य, काशी।
६८ „ „ काशीनाथ उपाध्याय वेदाचार्य, काशी।
६९ „ „ बाबूनन्दन शुक्ल वेदाचार्य, काशी।
७० „ „ हरिहर प्रसाद पाण्डेय वेदाचार्य, काशी।
७१ „ „ इन्द्रासन पाण्डेय वेदाचार्य, काशी।
७२ „ „ भालचन्द्र मिश्र शास्त्री, काशी।
७३ „ „ शिवदयालु त्रिपाठी, मधुबली (बलिया)।
७४ „ „ जलधर मिश्र वेदशास्त्री, दरभंगा।
७५ „ „ चन्द्रकान्त मिश्र „ „
७६ „ „ जीवनाथ मिश्र „ „

पारिवारिक स्नेह

राम और लक्ष्मण का, राम और भरत का या भरत और शत्रुघ्न का भातृप्रेम आदर्श के रूप में आजतक लोकमान्य और लोकवन्द्य रहा है, किन्तु श्री विद्याधर जी का भ्रातृप्रेम भी अत्यन्त विचित्र और सबके के लिये आदर्श और अनुकरणीय था। अपने दोनों छोटे भ्राताओं से उनका अनन्य स्नेह था। वे जो कुछ भी वेतन पाते अथवा यज्ञादि में द्रव्योपार्जन करते, वह सब लाकर अपने कनिष्ठ भ्राता पण्डित देवदत्त जी को दे दिया करते थे और फिर कभी यह भी नहीं पूछते थे कि उस द्रव्य-राशि का क्या हुआ, कहाँ किस प्रकार से व्यय हुआ अथवा उसका किस प्रकार प्रयोग किया गया।

सन् १९३७ में उनके सारनाथ स्थित उद्यान में जब दो-तीन-दिन की रुग्णता में उनके कनिष्ठ भ्राता देवदत्तजी का अकस्मात् गोलोकवास हुआ, तब आपके हृदय को इतना अधिक आघात लगा कि तभी से आपने भी अपने जीवन की आशा छोड़ दी। आपको इतना अधिक मार्मिक कष्ट हुआ कि उस हार्दिक क्लेश के प्रवाह में आप कह भी दिया करते थे कि 'भाई के बिना अब जीवन भार हो गया है, बड़े भाई के रहते छोटा भाई चला जाय, इससे बड़ा और क्या दुःख हो सकता है। अब तो शरीर त्यागने में ही कल्याण है।' उनकी यह निराशा-भरी वाणी सुनकर जहाँ एक ओर श्रोता को मार्मिक पीड़ा होती थी, वहीं वह उनके भ्रातृप्रेम पर मुग्ध होकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ अघाता नहीं था, उसे रोमांच हो आता था और उसे यह समझने को बाध्य करता था कि कलियुग पूर्णरूप से व्याप्त होने पर भी संसार में आदर्श भाइयों की कमी नहीं है।

बहनकी ममता

जिस प्रकार उन्हें अपने भाइयों से स्नेह था उसी प्रकार वे अपनी छोटी बहन गौरी देवी को भी मानते थे, जो ३०-३५ वर्ष से काशी आकर आपके यहाँ काशी में ही रहती हुई आपके परिवार की देख-रेख और व्यवस्था किया करती थीं। अपनी बहन का वे इतना आदर और मान करते थे कि उन्होंने अपने जीवन-काल में ही अपनी बहन के एकमात्र पुत्र का लालन-पालन तथा विवाह-संस्कार करके उसे सब प्रकार योग्य किया और अपनी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व ही एक अच्छा सुन्दर गृह-दान करके उसे आवास की चिन्ता से मुक्त कर दिया। इस प्रकार पण्डित विद्याधरजी गौड अपने परिवार वालों के साथ परम आत्मीयता का भाव रखते थे।

परिवार

पण्डित विद्याधर जी गौड का विवाह २० वर्ष की अवस्था में रोहतक जिले के 'माना' नामक ग्राम के प्रतिष्ठित सम्पन्न ब्राह्मण के परिवार में पण्डित गोकुलचन्द्र जी की कन्या 'वासन्ती देवी' से हुआ। श्रीमती वासन्ती देवी की माता जी तो उन्हें बहुत छोटी अवस्था में छोड़ कर स्वर्ग सिधार गई थीं, इसलिये उनका लालन-पालन उनके पिताजी ने ही किया। किन्तु वे भी इनके विवाह के १७ दिन पूर्व दिवङ्गत हो गये। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती *वासन्ती देवी बड़ी सौभाग्यशालिनी, धर्मनिष्ठ, सुशील, परिश्रमी, मृदुभाषिणी, उपकारी, हँसमुख, उदार और सुचतुर गृहिणी थीं। आपकी गृहकौशल-व्यवस्था के कारण ही पण्डित विद्याधर जी की सद्‌गृहस्थी अत्यन्त सुचारु रूप से और शान्ति के साथ चलती थी, क्योंकि यदि स्त्रियाँ घर में शान्त, एक दूसरे का आदर करने वाली, सबको समान-भाव से देखने वाली, सबकी सुख-सुविधा का ध्यान रखने वाली और निर्मत्सर हो तो गृहस्थी निश्चित रूप से स्वर्गमय हो जाती है। वे नित्य गीता, महिम्नस्त्रोत्र और गंगालहरीका पाठ किया करती थीं। वे इतने सरल स्वभाव की थीं मोटा ही पहनती खाती थीं। उन्हें न सुन्दर कपड़ों का कभी चाव हुआ न स्वादिष्ट चटपटे खाद्य पदार्थों का। जब पण्डित विद्याधर जी ने अग्निहोत्र ले लिया तब से किसी अन्य का या बाजार का भी कुछ ग्रहण करना उन्होंने सर्वथा त्याग दिया।

जिस समय वासन्ती देवी १३ वर्ष के वय में वधू बन कर घर में आईं उस समय घर में अर्थाभाव था। उसी समय काशी के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी स्व० श्रीगणेशदत्त ने कहा था कि 'ये तो साक्षात् लक्ष्मी हैं, अब आप के घर में सारी

---

* श्रीमती वासन्ती देवी की एक बड़ी बहन थी और दो भाई थे। उनमें से छोटा भाई घासीराम तो छोटी अवस्थामें ही परलोकवासी हो गया, बड़े भाई श्री शिवलाल जी जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे और विरक्त होकर सदा भगवच्चिन्तन करते तथा भागवत पढ़ाते रहे। उन्होंने भागवत के १०८ पारायण और कई यज्ञ किये थे। श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी उन्हें बहुत मानते थे।

ऋद्धि-सिद्धि स्वतः आ उपस्थित होगी।' हुआ भी यही, उनके आते ही एक राजा के यहाँ से यज्ञ कराने का निमन्त्रण मिला, उसमें दस सहस्र की द्रव्य-प्राप्ति हुई, तब से घर में धन, धान्य, सम्पत्ति, कीर्त्ति किसी बात की कमी नहीं रही।

पण्डित विद्याधर जी गौड को पाँच पुत्र और दो कन्या-रत्न हुए।

पण्डित विद्याधर जी की सन्तति में सबसे बड़ी कन्या श्रीमती गंगादेवी का विवाह जीन्दस्टेट में हुआ था, किन्तु दुर्भाग्यवश दो-तीन वर्ष पश्चात् ही उन्हें वैधव्य दुःख सहन करना पड़ा। तब से वे अपने पितृकुल में निवास करती हुई काशीवास कर रही हैं।

पण्डित विद्याधरजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री बलदेवप्रसाद मिश्र बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् और लेखक थे। उनका जन्म वैशाख कृष्ण नवमी संवत् १९७० को काशी में हुआ था। उन्होंने गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, काशी से साहित्याचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की और लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रत्न संस्कृति विषय में एम. ए. किया। कहानी लिखने की कला में वे बड़े सिद्धहस्त थे। उनके चार कहानी संग्रह शव-साधन, उलूकतन्त्र, दीपदान और अनुभूति प्रकाशित हैं। वे बड़े कुशल मार्मिक निबन्ध-लेखक भी थे। 'मौलिकता का मूल्य' शीर्षक उनके लेखोंका संग्रह पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है। वे बड़े अच्छे कवि भी थे, उनकी कविताओं का संग्रह 'व्रज-विभूति' के नाम से प्रकाशित है।

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र का पहला विवाह सं० १९८९ में जिला रोहतक के 'दुटोली' ग्राम में हुआ था। उनकी प्रथम पत्नी से 'कमला' नाम की एक कन्या हुई थी जिसका विवाह हो चुका है। प्रथम पत्नी के अवसान के पश्चात् इनका दूसरा विवाह चन्दौसी में सन् १९४३ में हुआ, जिनसे दो पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ। पहला पुत्र विजय कुमार बी० ए० कक्षा में अध्ययन कर रहा है और दूसरा अजय कुमार हाईस्कूल में पढ़ रहा है। कन्या उमा देवी अभी छोटी है।

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति लेखन की ओर ही थी। सन् १९४३ में वे पटने के आर्यावर्त्त पत्र में समाचार-सम्पादक रहे। सन् १९४४ में काशी के 'आज' के रविवार-संस्करण के सम्पादक नियुक्त हुए। सन् १९४८ में वे लखनऊ के 'रक्षक' पत्र में काम करने के लिये गये। उसके थोड़े ही दिनों पश्चात् स्वतन्त्र भारत में 'साहित्य-सम्पादक' नियुक्त हुए और अन्त तक वे इसी पद पर रहे। इनके अतिरिक्त वे आज, सरस्वती, स्वतन्त्रभारत, नवजीवन, प्रताप, भारत, बनारस, त्रिपथगा तथा संसार आदि पत्रों में निरन्तर लेख लिखते रहे। उनकी शैली में व्यंग्य, पाण्डित्य और आकर्षक भाषा-शैली तीनों का समन्वय रहता था। बड़े दुःख की बात है कि ऐसे प्रतिभाशाली युवक का २ मई सन् १९५६ को प्रातः ६॥ बजे लखनऊ के मेडिकल कालेज के अस्पताल में देहावसान हो गया।

पण्डित विद्याधर जी गौड के द्वितीय पुत्र श्री दौलतराम गौड ने काशी

हिन्दू विश्वविद्यालय से 'वेदाचार्य' परीक्षा उत्तीर्ण की और अब संन्यासी संस्कृत कालेज में वेद के 'प्राध्यापक' हैं। उनके दो पुत्र हैं वेदप्रकाश और अशोक कुमार तथा एक कन्या कुमारी पुष्पलता शर्मा है जो विज्ञान लेकर बी० ए० में पढ़ती है। पण्डित दौलतराम जी ने अनेक पुस्तकों का सम्पादन किया है और वे समस्त यज्ञादिक वैदिक क्रियाओं में बड़े निष्णात हैं।

पण्डित विद्याधर जी गौड के तृतीय पुत्र श्री वेणीराम गौड ने गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, काशी से 'वेदाचार्य' परीक्षा उत्तीर्ण की और कलकत्ते से 'काव्यतीर्थ' किया। सन् १९३९ से ये गोयनका संस्कृत महाविद्यालय में वेद के प्राध्यापक हैं। इन्होंने वेद-विज्ञान-मीमांसा, यज्ञ-मीमांसा, यज्ञ-प्रवचन, यज्ञ-प्रसाद, यज्ञ-माहात्म्य, यज्ञ-परिचय, दीक्षातत्त्व-मीमांसा, नारी-दिनचर्या, नारी-धर्मशिक्षा, नारी-सन्ध्या, आशौच-निर्णय, 'कुम्भपर्व-माहात्म्य, प्रयाग-माहात्म्य, विवाह-पद्धति आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की, पारस्कर-गृह्यसूत्र की टीका की तथा अनेक ग्रन्थों का अनुवाद और सम्पादन किया। इनके अतिरिक्त आप 'कल्याण' आदि मासिक पत्रों में निरन्तर लिखते रहते हैं। आपने लगभग २०० बड़े-बड़े यज्ञ कराये, जिनमें 'शतकुण्डी यज्ञ' भी सम्मिलित हैं। आपके दो पुत्र नरेश कुमार और उमेश कुमार हैं। इनमें से नरेश कुमार बी० ए० में अध्ययन कर रहा है और उमेश कुमार वेद का अध्ययन कर रहा है। आपके दो कन्याएँ हैं—गायत्री और आशा।

पण्डित विद्याधर जी गौड के चतुर्थ पुत्र श्री माधव प्रसाद मिश्र ने गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, काशी से दर्शन-मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की। आप कुशल लेखक हैं। अपनी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वे लेखन-कार्य की ओर ही अग्रसर हुए। पहले वे काशी के 'संसार' पत्र में सहायक सम्पादक रहे और आजकल 'बनारस' पत्र के सहायक सम्पादक हैं। आपके दो पुत्र और दो कन्याएँ हैं।

पण्डित विद्याधर जी गौड के पंचम पुत्र दीनानाथ ने गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, काशी से ज्यौतिष-शास्त्र लेकर 'मध्यमा परीक्षा' और उ० प्र० बोर्ड से 'हाईस्कूल' परीक्षा उत्तीर्ण की। स्वभावतः लेखक और पत्रकारिता से स्नेह होने के कारण ये पहले काशी के 'बनारस' पत्र के 'संवाददाता' रहे और अब लीडर भारत के संवाददाता (रिपोर्टर) हैं। आपके दो पुत्र विनय कुमार और कृष्ण कुमार हैं। इनमें से विनयकुमार बी० ए० में पढ़ता है और कृष्णकुमार छोटा है।

पण्डित विद्याधर जी गौड की अन्तिम सन्तति श्रीमती यशोदा देवी हैं, जिनका मंगलोद्वाह झरिया के सम्पन्न परिवार में पं० नारायण प्रसाद शर्मा से हुआ, जो वहाँ प्रसिद्ध व्यवसाय-पीठ 'मेहरचन्द ऐण्ड सन्स' के अध्यक्ष हैं। यशोदा देवी के एक पुत्र और एक कन्या है। पुत्र का नाम मुरारी प्रसाद शर्मा है

जो बी० ए० में अध्ययन कर रहा है और कन्या का नाम कान्ता है जो हाईस्कूल में पढ़ रही है।

धर्मपत्नी का गोलोकवास

सन् १९३७ में फाल्गुन शु० १३ को तीन-चार दिन की बिमारी में श्री विद्याधर जी की धर्मपत्नी श्रीमती वासन्ती देवी का देहान्त काशी में हो गया, जिससे आपको बड़ा सन्ताप हुआ। किन्तु स्वाभाविक धैर्य के कारण आपने इस अप्रत्याशित और अपरिहार्य विपत्ति को भी बड़े धैर्य के साथ वहन किया और दूसरों को भी अपने अतुलित धैर्य का परिचय देते हुए सबको सान्त्वना दी।

महात्मा की सत्य-वाणी

श्री विद्याधर जी गौड का 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' में अखंड विश्वास था। आप अपने शिवलोक-वास से प्रायः एक वर्ष पूर्व कुछ शिथिल रहने लगे थे। परन्तु रोग का ठीक-ठीक निर्णय अन्तिम समय तक नहीं हो पाया। अन्तिम समय से कुछ दिनों पूर्व बहुत से लोगों ने उन्हें सम्मति दी कि आप जलवायु का परिवर्तन करने के लिए मारवाड़ हो आवें अथवा किसी पहाड़ पर घूम आवें। किन्तु आपको काशी छोड़ कर कहीं भी जाने की बात अच्छी नहीं लगती थी। मृत्यु से १५ दिन पूर्व आपके परिवार वालों ने यह सम्मति दी कि 'पटना' (विहार) चलकर रोग का निर्णय कराया जाय। जब अनेक हितैषियों ने और बन्धु-बान्धवों ने बहुत आग्रह किया तो इच्छा न रहते हुए भी आप उन लोगों के आग्रह का मान रखने के लिए पटना चले गये। वहाँ के बड़े-बड़े चिकित्सक जब प्रथम दिन विस्तृत परीक्षा करके रोग का ठीक-ठीक निदान नहीं कर पाये, तो आप उसी दिन रात को १२ बजे उठे और अपने साथ गए हुए नौ-दस व्यक्तियों में से कुछ को जगाकर दृढ़ता-पूर्वक कह दिया कि 'पटने में मेरा अधिक दिनों तक ठहरना अब उचित नहीं है।' इस पर उनके साथियों ने कहा कि 'आप काशी चलने की शीघ्रता न कीजिए, कल पुनः अनेक चिकित्सकों से विचार-विमर्श करके रोग का निदान किया जायगा।' इस पर आपने अपनी स्वाभाविक मन्द स्मिति और दृढ़ता के साथ कहा—'मेरे रोग का निर्णय तो वर्षों पूर्व हो चुका है। मेरा रोग 'मृत्यु' है और मृत्यु की कोई औषधि नहीं होती। ऐसा न हो कि रोग-निदान के फेर में मुझे मुक्ति-पुरी 'काशी' का भी दर्शन न प्राप्त हो। अतः आप लोगों की जब इच्छा हो तब काशी आइये। मैं तो इसी समय पहली गाड़ी से काशी जा रहा हूँ।' यह कह कर आप तत्काल बांकीपुर पटना रेलवे स्टेशन के लिये चल दिये। यह देखकर आपके साथ के अन्य लोग भी तत्काल विस्तर गोल करके उनके पीछे-पीछे स्टेशन पहुँच गये और रातवाली गाड़ी से ही चलकर काशी लौट आए। वहाँ से लौटने पर कुछ लोगों ने पुनः सम्मति दी कि आप लखनऊ मेडिकल कालेज में जाकर दिखाइये और चिकित्सा कराइये। उन्होंने बतलाया कि

'बहुत दिन पूर्व एक महात्मा ने बतलाया था कि आपका जन्म पौष मास में हुआ है, अतः पौष मास में ही आपकी मृत्यु होगी। इसलिये पौष मास बीत जाने पर ही मैं बाहर जाऊँगा।' किन्तु वह काल पौष मास सचमुच 'काल' बनकर आया जिसमें श्री विद्याधर जी की मृत्यु हुई और महात्माजी जी वाणी भी सत्य सिद्ध हुई।

संबत् १९९८ की पौष कृष्ण द्वितीया शुक्रवार तदनुसार ५ दिसंबर सन् १९४१ को प्रातः १०॥ बजे ५५ वर्ष की स्वल्पायु में महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधर जी गौड अपने सुयोग्य पुत्रों, शिष्यों और भक्तों को शोक-सन्तप्त छोड़कर अपने नश्वर पाञ्चभौतिक शरीर का पवित्र काशी में ही त्याग कर मुक्त हो गये।

महामहोपाध्याय विद्याधर गौड लेन

आपके निधन के एक वर्ष पश्चात् 'काशी-नगर पालिका' ने आपके सम्मान में आपके नाम से सरस्वती फाटक से डेढसी के पुल (दशाश्वमेध) तक के राजमार्ग का नाम 'महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर गौड लेन' रक्खा है।

महान् सन्त

संसार में विद्वान् बहुत होते हैं, पण्डित भी बहुत होते हैं और गुणी भी बहुत होते हैं, किन्तु अपनी विद्या और अपने गुण के साथ जिनमें सम्पूर्ण मानव-मात्र के प्रति स्नेह, उदारता, वत्सलता और आत्मीयता का भाव हो तथा जो निरन्तर अपनी परोपकार-वृत्ति से सबको तृप्त करते रहें वे ही वास्तव में सन्त महापुरुष होते हैं। ऐसे ही सन्त महापुरुषों के लिये कहा गया है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

[मन से, वचन से और कर्म से जो पुण्य के अमृत से भरे हुए सम्पूर्ण त्रिभुवन को अपने उपकार की श्रेणियों से तृप्त करते रहते हैं और दूसरों के अत्यन्त नन्हें से गुण को भी नित्य पर्वत बनाकर अपने हृदय में प्रसन्न होते रहते हैं ऐसे सन्त संसार में कितने हैं?]

महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधर जी गौड ऐसे ही सन्तों में थे।

पण्डित विद्याधरजी के निधन-सम्बन्ध में

महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी गौड ने थोडी ही अवस्था में इतना यश और सम्मान अर्जित कर लिया था और इतने अधिक लोगों के वे श्रद्धा-भाजन बन चुके थे कि उनके गोलोकवास का समाचार सुनकर काशी तथा भारतके सभी गुणग्राही विद्वानों और महापुरुषों को मर्मान्तक कष्ट हुआ। ज्यों ही आपके

दिवंगत होने का समाचार महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी को मिला त्योंही अश्रुप्लावित होकर गद्गद् कण्ठ से उन्होंने कहा—

'पण्डित विद्याधर जी के इस आकस्मिक निधन से भारत में वेद की सजीव मूर्ति लुप्त हो गयी। उनकी विद्वत्ता अथाह थी।'

प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति पण्डित अमरनाथ झा ने उनके निधन का समाचार सुना तो स्तब्ध रह गये और लिखा कि 'महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी के उठ जाने से पण्डित-वर्ग की जो अपूरणीय क्षति हुई है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।'

काशी के प्रसिद्ध उद्भट विद्वान् माध्वसम्प्रदायाचार्य गोस्वामी श्रीदामोदरलालजी शास्त्री ने लिखा था—

श्रीविद्याधरजी के निधन से वैदिक विद्वद्वर्ग का बल क्षीण हो गया। अब काशी में उनका स्थान ग्रहण करनेवाला दूसरा कोई वेदज्ञ नहीं रह गया।'

यस्मिन् प्रशस्त-मति-शालिनि-गौडधुर्ये
विद्याधरे सुफलिताऽखिल-वेदविद्या।
तस्मिन् सुरेश्वरपदाङ्कमितेऽत्र तस्याः
सिंहासनं मुषित-रत्नमिवाद्य जातम्॥

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या-विभाग के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण ने उनके गोलोकवास पर शोक-संतप्त-हृदय से यह लिख भेजा था—

'पण्डित विद्याधर जी के स्वर्गवासी होने से भारतवर्ष के समस्त पण्डित-वर्ग की बहुत बड़ी क्षति हुई है। उनका वैदुष्य महत्त्वपूर्ण था। इस भारतभूमि में पं० विद्याधर जी के समान प्रखर विद्वान् पुनः अवतीर्ण होगा, यह विश्वास नहीं होता।'

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महामहोपाध्याय पण्डित बालकृष्ण मिश्र जी ने लिखा था—
'पण्डित विद्याधरजी की अपूर्व विद्वत्ता को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ करता था। वे साक्षात् वेदमूर्ति थे। विधाता ने बहुत शीघ्र उन्हें हमसे दूर कर दिया इस बात का हमें सदैव दुःख रहेगा।'

महामहोपाध्याय पण्डित हरिहर कृपालु द्विवेदी जी ने कहा था—

वेदवल्ली विलूना सा गता सौहार्दमाधुरी।
विधवा भारती भूता गते विद्याधरे दिवम्॥

विद्याधर जी का जैसा नाम था वैसी ही सचमुच उनकी विद्या भी थी। वे वस्तुतः वेदविद्या के 'सम्राट्' थे, उन्होंने अपने जीवन-काल में वेद-कर्मकाण्ड का साम्राज्य स्थापित करके जो वेदविद्या का प्रसार किया वह उन्हीं के जैसे महान् पुरुषों के लिये ही संभव था। वेद-प्रेमियों के लिये वे स्वरचित

कात्यायन श्रौतसूत्र आदि के ऐसे भाष्य छोड़ गये हैं जिनकी शरण में जाकर कोई भी व्यक्ति अमृतमयी वेदविद्या के मधुर फल का आस्वादन करके अपना जीवन कृतार्थ कर सकता है। उनकी विद्वत्ता की कीर्ति का प्रसार सार्वदैशिक था। केवल भारत के ही नहीं, सुदूर विदेशों के विद्वान् भी उनके पाण्डित्य का आदर करते थे। इसलिए इस नश्वर शरीर के छोड़ने पर भी वे सदा अमर रहेंगे और सभी विद्वान् बड़े सम्मान के साथ उनका स्मरण करेंगे।'

राधाकृष्ण संस्कृत कालेज, खुर्जा के प्रधानाचार्य विद्यावारिधि पण्डित परमानन्द जी शास्त्री ने उनके सम्बन्ध में लिखा था—

'पं० विद्याधर जी का निधन सुनकर हृदय पर जो चोट लगी है वह अवर्णनीय है। मेरे मित्र स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० प्रभुदत्त जी अग्निहोत्री के पुत्र होने के कारण वे जीवनपर्यन्त मुझे बहुत उच्च दृष्टि से देखा करते थे। वे घरेलू कार्यों में भी प्रायः मेरी सम्मति के बिना कोई कार्य नहीं करते थे। श्री विद्याधर जी की विद्वत्ता का दिव्य प्रकाश केवल काशी में ही नहीं, देश विदेश में भी व्याप्त था। उनके असामयिक निधन से ब्राह्मण-समाज की, विशेषकर गौड-समाज की बहुत बड़ी शक्ति विलीन हो गयी, जिसके पुनः आगमन की अब कोई आशा नहीं है।'

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीचिन्नस्वामी शास्त्री मीमांसक ने उनके निधन पर शोक व्यक्त करते हुए लिखा था—

'महामहोपाध्याय पं० विद्याधर जी गौड की मृत्यु का समाचार सुनकर मुझे दारुण दुःख हुआ। वे महापण्डित थे। उनके जैसे महापण्डित की संसार में अनन्त कालतक आवश्यकता थी, किन्तु बीच में ही कराल काल ने उन्हें हमसे अलग करके हमें बलहीन बना दिया। वे मेरे परम शुभ-चिन्तक और हार्दिक मित्र थे। मैं उनके वियोग को कभी भूल नहीं सकता।'

भारत के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक और सेन्ट्रल हिन्दू-स्कूल काशी के हेडमास्टर पं० रामनारायण मिश्र जी ने अत्यन्त दुःख-सन्तप्त होकर उनके आकस्मिक देवलोकवास पर लिखा था—

'महामहोपाध्याय पं० विद्याधर जी के निधन से देश की बहुत बड़ी क्षति हुई है। वे केवल वेदज्ञ ही नहीं, अपितु सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे। उन्हें अपनी विद्या का किञ्चिन्मात्र भी अभिमान नहीं था। वे 'विद्या ददाति विनयम्' के साक्षात् प्रतीक थे। मैं उन्हें उच्चकोटि का 'महापुरुष' मानता था।'

सात्त्विक श्रद्धाञ्जलि

पण्डित विद्याधर जी गौड के सम्बन्ध में उपर्युक्त जितने भी उद्गार अङ्कित किये गये हैं उनमें से कोई औपचारिक मात्र नहीं है। सबने सात्त्विक

भावसे उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि भेंट की है, इनके अतिरिक्त उन सैकड़ों, सहस्रों भक्तों, शिष्यों, श्रद्धालुओं और विद्वानों की मूक श्रद्धाञ्जलि तो इसमें आयी ही नहीं, जो उनकी विद्वत्ता और पाण्डित्य से प्रभावित होकर उनका हार्दिक सम्मान करते थे। और जिन्हें उनके निधन का इतना अधिक शोक हुआ कि वह शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। सहसा संस्कृत के उस सूक्तिकार का वचन स्मरण हो आता है—

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः॥

[विधाता अशेष गुणों से युक्त संसार के पुरुष-रत्नों में अलंकरण बनाकर किसी को निर्माण करके भेजता है और फिर तत्क्षण उसे समाप्त कर देता है, यह विधाता की मूर्खता बड़ी कष्टदायक है।]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पण्डित विद्याधर जी के समान सर्वतोमुखी विद्वान्, साधु और शीलवान् पुरुष संसार में कभी-कभी किसी युग में अचानक आते हैं, जो अपने गुणों की वरिष्ठ परम्परा और अपने समुज्ज्वल चरित्र से संसार का पथ-प्रदर्शन करके, आचार-विचार की मर्यादा बाँधकर, विश्व के सम्मुख शील और सौजन्य का आदर्श स्थापित करके सहसा चल देते हैं। किन्तु ऐसे महापुरुष संसार छोड़कर भले ही चले जायँ, उनकी अक्षय्य कीर्ति सदा सबको प्रेरणा देती रहती है। ऐसे सुकृती लोग रस-सिद्ध कवीश्वरों की भाँति अजर और अमर होते हैं—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरा-मरणजं भयम्॥

[उन रस-सिद्ध पुण्यात्मा कवीश्वरों की सदा जय हो, जिनके यशः-शरीर को जरा और मृत्यु का कोई भय नहीं है।]

महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी गौड ऐसा ही यशः-शरीर अजर-अमर कर गये हैं और हमें पूर्ण विश्वास है कि अपने योग्यतम शिष्यों और प्रशिष्यों की जो उदात्त परम्परा स्थापित कर गये हैं वे उनका नाम और यश सदा समुज्ज्वल करते रहेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भारतीय धर्माचार्यों

द्वारा

संस्मरण

॥ श्रीः ॥

(ज्योतिष्पीठाधीश्वर शङ्कराचार्य श्री १००८ स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

महामहोपाध्याय श्री प्रभुदत्तशास्त्री जी के सुपुत्र महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधर जी गौड हिन्दू युनिवर्सिटी काशी के धर्म-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष थे। आप अपने समय में वेद के अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे। कात्यायन श्रौतसूत्र पर 'विवृति' टीका तथा अन्यान्य वैदिक ग्रन्थों को लिखकर एवं अनेक शिष्यों को वैदिक विद्वान् तैयार करके आपने वैदिक वाङ्मय की अपार सेवा की है। आप समूचे भारतवर्ष में यज्ञादि कार्यों में सम्मानपूर्वक आचार्य पद को प्राप्त करते थे। कट्टर सनातनधर्मानुयायी होने के कारण किसी प्रकार विदेशी भावना का संसर्ग नहीं होने देते थे। आपकी विशिष्ट विद्वत्ता को देखकर ही भूतपूर्व गवर्नमेण्ट ने आपको 'महामहोपाध्याय' पदवी से सम्मानित किया था।

(अनन्तश्रीविभूषित श्री १००८ स्वामी करपात्रीजी महाराज)

आम्नायः शेवधिरासीत् सप्ततन्तुसमनुष्ठाननिरतानां ब्रह्मविचारसारपराणां च पुरातनविदुषां 'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते' इत्यादिवचनप्रामाण्यात् तदभ्यासो हि परमं तपोऽमन्यत। परन्तु कालमहिम्ना सा प्रवृत्तिस्तेष्वपि भूयसा अन्यादृशी समजायत। केषाञ्चित्षट्कर्मजुषामसामान्यया तपश्चर्यया त्यागेन चासाधारणेन करालेऽस्मिन् कलिकालेऽपि सा पुराण-परम्परा कथमप्यध्रियतेति प्रमोदस्थानम्। तत्रापि दाक्षिणात्येषु भूसुरेषु प्रचुरप्रचारापीयमाम्नायविद्या पञ्चगौडेषु नितरां विरलप्रचारा समजनि।

तामिमामङ्गैः साकं श्रमक्रमाभ्यां समभ्यस्य करामलकमिव साक्षात्कृत्याधीतिबोधाचरणप्रचारणैरभितः प्रसारयन् वैदिकमण्डलमण्डनतामाप्नुवानो महामहोपाध्यायादिविविधविरुदालङ्कृतः विद्वान् विद्वत्कुटुम्बः प्रखरमतिवैभवः प्रख्यातकीर्तिः मनीषिमण्डलमण्डनभूतो गौडोपाधिप्रसाधितः श्रीविद्याधरमिश्र एवाभवत् पञ्चगौडेषु सर्वप्रथमो वैदिकतल्लजः। यो हि स्वल्पीयसाऽनेहसा पाणिनीयपारावारं साहित्यसारसर्वस्वं मीमांसामांसल-महानिधिं धर्मशास्त्रसौरभसम्भारं च आत्मसात् कुर्वाणः पण्डितसमूहस्य समजीजनच्चमत्कार-चार्वीं स्वान्तवृत्तिपरम्पराम्। यः सौजन्येन चाजानजन्येन विनयेन च लोकोत्तरसीमानमानेयेन सत्येन च साधुप्राशस्त्येन धैर्येण चौदार्यमाधुर्येण ब्रह्मचर्येण च विचक्षणाश्चर्येण विद्यया च परिपाकहृद्यया अध्यवसायेन च सततानुष्ठानकमनीयेन मनांसि समावर्जयत् महीयसां महोद्यमानामपि महोदयानाम्।

ब्राह्म एव मुहूर्ते यस्य जाह्नव्यां नियतमवगाहनम्, दैनन्दिनं येन निर्व्यवहितं भगवान् विश्वनाथो निभालितः, अहोरात्रमविश्राम्यन् यश्च शिष्यान् प्रतिदिशं समवेतान् वेदान् अध्यापयत्, यः वसन्तपूजासु धनिकमतल्लिकाभिः संघटितासु आत्मन एव लोकोत्तरोपस्थितिमानिनः सङ्घशश्छान्दसान् श्रुतिमूलपाठस्पर्धिकायां जटा-घनप्रधानासु विकृतिसमुद्घोषसोपानपारम्परीषु निरायासमसकृद् व्यजेष्ट, सहस्रातीतान् सप्ततन्तून् वैदिकान् स्मार्त्तांश्च स्वीयान् अग्निहोत्रदर्शपौर्णमास-प्रमुखान् दिक्षु विदिक्षु च श्रद्धालुतया वितायमानान् आचार्यकमेव गृह्णानो महामहासंभारान् समपीपदत् दक्षिणाभिश्च विशालपरिमाणाभिः परिकरान् संभावनीयान् समतूतुषदृत्विजः।

काः श्रौतचर्चास्पदतां गमिताः पाठशाला इदमीयेन महनीयेन प्रधानताधिष्ठितत्वेन न समभूष्यन्त ? भारतविश्रुतकीर्त्तेः हिन्दूविश्वविद्यालयस्य वाराणसेयस्य संस्कृतमहाविद्यालये असौ अध्यापनपदमुपक्रम्य धर्मविज्ञानविभागस्य प्रधानाचार्य-पदं संवत्सरान् भूरीन् समध्यतिष्ठत्, गोयनकासंस्कृत महाविद्यालयेऽपि काशिके धवलधामनि समस्तवेदाध्यापनाध्यापकैः स्वोपक्रान्तनिर्मलसंरम्भसफलैः स्वयमपि संपाठने प्रावर्त्तिष्ट।

पुस्तकानि तानि तानि सुदुर्लभरत्नभूतानि वैदिकानि स्मार्त्तानि समचैषीत्, एषां विशालः संग्रहः स्वभवने विद्योदयप्रवर्धने समुद्भासि। नैके दुरवापाः सारा ग्रन्थमणयो मुद्रापिताः, लेखनेन, प्रतिलिपिविधानेन च भूयांसः समुद्धृताः, यानद्यापि निभाल्य परीक्षका विस्मयन्ते, सन्तुष्यन्ति, प्रमोदन्ते, दर्शनमात्रेणापि स्वान् बहु मन्यन्ते प्रशंसन्तो न विरमन्ति।

वैदिकसार्वभौम एवायमभूत् स्वीये समये। प्रायः सांप्रतिकाः श्रोत्रियाः प्रतिष्ठागरिष्ठा अदसीया अन्तेवसन्त एव भवन्ति। महान्तो हिन्दूविश्वविद्यालये केचन अपरे नूतनतमे संस्कृतविश्वविद्यालये प्रतिष्ठानिष्ठामासादयन्तोऽध्यापयन्ति, इतरेऽपि माननीयतां वहन्तस्तेषु तेषु महाविद्यालयेषु पाठनगौरवमागूरयन्ति। केचित् समाजविहितेषु तेषु प्रदेशेषु यज्ञोपवीतविवाहादिकर्मसु, इतरे श्राद्धादि-प्रसङ्गेषु, परे पूर्त्तविधानेषु, विभिन्नवैदिकव्याख्यानप्रभृतिमहोद्भवेषु संसज्जन्ते तदीया विशिष्टाः शिष्याः।

निरलसेन, सततसंरम्भेण, निरन्तरं जाग्रता वैदिककुलकमलमार्त्तण्डेन प्रकृतेनान्तर्वाणिना अन्यान्याः विवाहादिपद्धतयः सन्दब्धाः, स्मार्त्तप्रभुर्विरचितः, शुल्बसूत्रे सरला वृत्तिर्निबद्धा, सर्वतो विशिष्टा कात्यायनश्रौतसूत्रे 'सरला' नाम व्याख्या निर्माणकर्मतामानीता, तत्र भूमिका च गौरवपूर्णा संयोजिता। सभूमिकया एनया वैदिकजगतः कोऽपि प्रबोधो विहितः, नूतनं जागरणं कृतं महती न्यूनता परिहृता। कर्काचार्योऽपि मीमांसादृशैवात्र समर्च्यमानो मुख्येषु वैदिकेषु वक्तव्येषु एभिरतिचक्रमे।

विद्याः संवर्धयन् निरन्तराभ्यासैः, अध्यापयंश्छात्रान्, निर्मिमाणो ग्रन्थान्, संगृह्णानो दुष्प्रापान्, विलिखन् दुरुद्धरान्, उत्साहयन् कर्मकाण्डान्, बध्नन्

विद्वद्गोष्ठीः, पालयन् सदाचारान्, अनुतिष्ठन् अग्निहोत्रमुखान् यागान्, मेदुरयन् गार्हस्थ्यम्, समुपभुञ्जान उत्तमोत्तमसुखानि, यशोभिर्धवलयन् दिशः, मण्डयन् समुद्भटं पाण्डित्यम्, सुगृहीतनामधेयेन विद्वन्मण्डलमण्डितेन महामहोपाध्याय-पण्डितश्रीप्रभुदत्ताग्निहोत्रिणा ससम्मानमवाप्तां महामहोपाध्यायपदवीं प्रशासकैः ससंभावनं विश्राणितां समासीषदद्देषोऽपि विचक्षणानामग्रणीः। एवमयं सम्पूर्णो गुणगणैः धार्मिकाग्रेसरः समुन्नताचारः, अभिनन्दनीयकीर्त्तिरद्यापि जीवत्येव। 'कीर्त्तिर्यस्य स जीवति।'

वाराणस्या अस्या विभूतेर्मनीषिमण्डलमण्डनस्य महाविदुषः महामहोपाध्यायश्रीविद्याधरगौडमहोदयस्य स्मृतये समारब्धस्य समुद्योगस्य हृदयेन निष्प्रत्यूहपूर्तिं कामयमानानामस्माकं तद्वंशेऽपि तादृशा एव महाविद्वांसो वैदिक-प्रवराश्च सर्वदा भवेयुरिति शुभाशंसा।

— o —

(श्रीमद्रामानुजपीठाधीश्वर रामानुजाचार्य श्रीदेवनायकाचार्यजी महाराज)

अस्मद्देशिकमस्मदीयपरमाचार्यानशेषान् गुरून्,
श्रीमल्लक्ष्मणयोगिपुङ्गवमहापूर्णौ मुनिं यामुनम्।
रामं पद्मविलोचनं मुनिवरं नाथं शठद्वेषिणम्,
सेनेशं श्रियमिन्दिरासहचरं नारायणं संश्रये॥

स्वनामधन्य कैलासवासी म० म० पं० श्रीविद्याधर जी गौड को पुण्य-स्मृति में इन कतिपय पंक्तियों को लिखते हुए काशी के तत्कालीन विद्वन्मण्डल का वह चित्र हठात् चित्त में आ खड़ा हो जाता है, जो किसी समय वैसे विद्वद्रत्न के संयोग से अप्रतिम था। कण्ठस्थ अभ्यास और विवेचन शक्ति, ये दोनों जैसे विरोधी गुण हैं। जिन्हें वेद करामलकवत् मुखस्थ रहता है, वे मीमांसा करने में अन्यमनस्क रहते हैं और जो मीमांसा-पटु होते हैं, उन्हें वैसा अभ्यास नहीं रहता, पर विद्वन्मणि श्रीविद्याधर जी महोदय इसके अपवाद थे। वैदिक-मण्डल में वसन्त-पूजा आदि के प्रसङ्ग में प्रतीत होता था कि वेदमन्त्र स्वयं आप के सम्मुख उपस्थित होकर प्रकट हो रहे हैं। विवेचन शक्ति का परिचय तो उनकी सुन्दर कृतियों से आज भी विद्वानों को मिलता है। कात्यायन श्रौतसूत्र की व्याख्या कर आपने जिस प्रगाढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है वह शताब्दियों के बीच बेजोड़ समझा जाता है।

हिन्दी में कहावत है कि—"तुलसी बड़े अभाग से बड़े बाप का पूत।" इसका अभिप्राय यह है कि किसी साधारण व्यक्ति की सन्तान को थोड़े से

गुणोत्कर्ष में कीर्ति मिल जाती है, पर महान् के पुत्र का तो बहुत ही असाधारण गुणगरिमा प्राप्त करने पर ही कुछ यश फैलता है।

कौन नहीं जानता कि म० म० पण्डितप्रवर श्रीप्रभुदत्त जी गौड महोदय वैदिक-जगत् में युगान्तर स्थापक समझे जाते थे। वैसे महापुरुष के यहाँ "योग्य पिता के योग्य पुत्र" की कहावत आपने चरितार्थ की। अतिशयोक्ति नहीं, अपितु वास्तविक पण्डित-लोकोक्ति उसी समय सुनी जाती थी जब पिता, पुत्र दोनों विद्यमान थे कि "गुणप्रकर्षादजयद् गुरुं सुतः" ऐसा भाग्य पूज्य पिता जी के ही सुकृत का सुफल था। अस्तु, सर्वान्तर्यामी समस्त वेदवेद्य श्रीमन्नारायण के चरणारविन्द में मङ्गल-कामना है कि उनकी वंश-परम्परा में उस विद्या और उस शिष्टाचार एवं प्रतिभा का विकास उत्तरोत्तर अभिवृद्ध हो तथा उनके असङ्ख्य धर्मानुयायियों का मुखोल्लास हो।

(जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य "श्री श्री जी" श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज)

वेद आदि शास्त्रों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करके अधिकारी जनों को अध्यापन कराने वाली विप्रवरों की परम्परा भारत में अनादि काल से चली आ रही है। ब्राह्मणों के षट् कर्मों में अध्ययन और अध्यापन को प्रथम स्थान दिया गया है और इसी से "वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः" यह उक्ति चरितार्थ होती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मविज्ञान विभागाध्यक्ष स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधर जी गौड ने उपर्युक्त परम्परा की अच्छी प्रकार से रक्षा की। आपकी विद्वत्ता का परिचय समय-समय पर बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा मिलता रहता है। आपने अनेक श्रौत-स्मार्त ग्रन्थों की रचना कर वैदिक वाङ्मय की जो सेवा की है वह सर्वविदित और अनुकरणीय है। आपकी सुकीर्ति समस्त भारत में छाई हुई है।

यह श्री सर्वेश्वर प्रभु की ही कृपा है कि स्व० महामहोपाध्याय जी के सुपुत्र पं० श्री वेणीराम जी वेदाचार्य भी अपने पितृदेवकी पद-पद्धति पर चलते हुए उनकी सुकीर्ति को चिरस्थायिनी बना रहे हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधर जी गौड की पुण्य-स्मृति में जो स्मारक ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है वह अवश्य ही विद्वानों, छात्रों तथा भावुक जनों को सुन्दर प्रेरणा प्रदान करेगा और वैदिक वाङ्मय की पाठ-परम्परा एवं याज्ञिक-प्रक्रिया को अक्षुण्ण बनाने में सहायक होगा।

—:०:—

(महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी भागवतानन्दजी महाराज, कनखल, हरिद्वार)

इस धराधाम में "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्" इस भगवदुक्ति गीता के अनुसार अलौकिक गुणगण-मण्डन-मण्डित महापुरुष भगवद्विभूतिरूप से आविर्भूत होते हैं। उनके विचित्र पवित्र चरित्र से जनता को अत्यधिक शान्तिप्रद उपदेश प्राप्त होते हैं। ऐसे महानुभाव का जन्म इस उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही होता है। ऐसे ही महानुभावों में एक महानुभाव महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर याज्ञिकसम्राट् वेदाचार्य श्रीमान् विद्याधर जी गौड थे।

हमारे चरित्रनायक पण्डित श्री विद्याधर जी गौड के पिता महामहोपाध्याय याज्ञिकसम्राट् पण्डित श्रीयुक्त प्रभुदत्त जी अग्निहोत्री थे। महामना श्री मदनमोहन मालवीय जी ने आपके ही आचार्यत्व में काशीस्थ हिन्दू विश्वविद्यालय का 'शिलान्यास' और 'यज्ञ' ये दोनों कार्य कराये थे।

पण्डित श्री विद्याधर जी विश्वविश्रुत वैदुष्य होने पर तथा नानाविध यज्ञादिसत्कर्मानुष्ठानजन्य कीर्तिपताका के उच्चतम रहने पर भी अत्यन्त सरल और अभिमानशून्य थे। आप अपने पूज्य पिता के समान ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मविज्ञान-विभाग के 'अध्यक्ष' थे।

इन पंक्तियों के लेखक के 'कनखल' (हरद्वार) के 'भारती विद्यालय' में श्री विद्याधर जी गौड का बहुत बार निवास हुआ था। सन् १९४० में शिकारपुर (सिन्धदेश) में महायज्ञ कराकर हरिद्वार आये, तो वे कनखलस्थ 'भारती विद्यालय' में ही ठहरे थे। यह आपका अन्तिम आगमन था। विशेष सम्पर्क से हमें पूर्ण रूप से ज्ञात है कि आपका पाण्डित्य और सौजन्य अपूर्व था। आपने पञ्चगौडों की कीर्ति का महाविकास किया था। आपने वेद के अनेक ग्रन्थों की रचना कर तथा वेद के बड़े-बड़े विद्वानों को तैयार करके विद्यावंश की भी पर्याप्त वृद्धि की है। अतः आपका यशःशरीर सर्वदा विद्यमान रहेगा। हम आपको श्रद्धापूर्वक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं।

(दण्डीस्वामी श्री १०८ श्रीदत्तपादाचार्याश्रमजी महाराज, *ऋषिकेश*)

महामहोपाध्याय पं० श्री प्रभुदत्तजी शास्त्री का जन्म हरियाना प्रान्त (पंजाब) में हुआ था। उन्होंने काशी में आकर विद्याद्वारा बहुत बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। आपकी विशिष्ट विद्यासम्पत्ति को देखकर भारतभूषण महामना पं० श्री मदनमोहन मालवीयजी ने अपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आपको धर्मज्ञान विभाग (थियालोजी विभाग) का अध्यक्ष और डीन बनाया था। आपको काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में धर्मविज्ञान विभाग का सर्वप्रथम अध्यक्ष बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वेदज्ञ विद्वानों में सर्वप्रथम आपको ही

'महामहोपाध्याय' टाइटिल प्राप्त करने का महान् गौरव प्राप्त हुआ था। आपकी विशिष्ट विद्वत्ता से समस्त भारत की, विशेषतः हरियाना प्रान्त की विशेष शोभा बढ़ी। आप हरियाना प्रान्त के अमूल्य 'रत्न' थे। आप पर वेद भगवान् की महती कृपा थी, जो आपके सुपुत्र पण्डित श्री विद्याधरजी गौड आपसे भी अधिक विश्वविख्यात विद्वान् हुए। आप भी अपने पिता जी के जीवन काल में ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वेद विभाग के 'प्रधानाध्यापक' पद पर आसीन होकर संसार के प्रसिद्ध विद्वानों में अपनी गणना प्राप्त कर चुके थे। आपका भी गवर्नमेन्ट सरकार ने 'महामहोपाध्याय' टाइटिल द्वारा महान् सम्मान किया था। पिता और पुत्र दोनों को 'महामहोपाध्याय' की टाइटिल मिलना, यह इस वेदज्ञ-परिवार की बहुत बड़ी विशेषता रही है। ऐसी विशेषता अन्यत्र नहीं देखी गई।

आजकल वेदज्ञों की कई श्रेणियाँ हैं, जिनमें कुछ तो वेदके मूलभाग के ज्ञाता हैं, कुछ वेदके अर्थभाग के ज्ञाता हैं, कुछ दोनों के ही ज्ञाता न होकर केवल कर्मकाण्डोपयोगी वेदके कुछ मन्त्रों को कण्ठस्थ किये रहते हैं और कुछ वेद के मूल और अर्थभाग से परे रहते हुए वेद-विषयके रिसर्चस्कालर अथवा लेखक-रूप में होते हैं। परन्तु उपर्युक्त सभी श्रेणीके विद्वानों को 'वेदज्ञ' कहना या मानना, मेरी दृष्टि में अनुचित होगा, प्रत्युत वेदका अपमान करना होगा। वस्तुतः वेदज्ञ कहलानेका वही अधिकारी हो सकता है, जो वेद के अष्टविकृतिसहित मूलभाग और वेदार्थ का ज्ञाता हो, साथ ही व्याकरण, मीमांसा आदि शास्त्रों का भी पूर्ण ज्ञाता हो। महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी गौड ऐसे ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण महाविद्वान् थे, जिनकी भारतवर्ष में दूसरी जोड़ी नहीं थी। स्व० महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधर जी गौड को अधिगत वेदविद्या उनके सुयोग्य पुत्रों में प्रतिफलित है, यह वेद भगवान् की विशेष कृपा है। मुझे विश्वास है कि सुप्रसिद्ध महाविद्वान् स्व० महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी गौड की पुण्य स्मृति में जो स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, वह अवश्य ही विद्वानों को सत्प्रेरणा प्रदान करेगा।

(योगिराज गीताव्यास श्री १०८ स्वामी वेदव्यासजी महाराज, ऋषिकेश)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधरजी गौड वेद की साक्षात् मूर्ति थे। उन्होंने जगद्गुरु शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित वेदों का आजीवन रक्षण और प्रचार कर वैदिक-जगत् का बहुत बड़ा उपकार किया। सनातनधर्मी जगत् में उनकी बहुत ही प्रतिष्ठा थी। वे कट्टर सनातनधर्मी थे। भारत का पण्डित-समाज जब तक जीवित रहेगा, तब तक उनका नाम अमर रहेगा।

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि स्व० महामहोपाध्याय जी 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के प्रमाणानुसार अपनी ही प्रतिमूर्ति के रूप में श्री वेणीराम जी गौड वेदाचार्य को छोड़ गये हैं, जो सगुण साकार-रूप में समस्त भारत में वेद-कर्मकाण्ड का प्रसार-प्रचार कर देदीप्यमान हो रहे हैं।

वेद भगवान् से प्रार्थना है कि वे स्वर्गीय महामहोपाध्याय जी जैसे आदर्श, उज्ज्वल चरित्र, ब्राह्मणकुलोत्पन्न महान् वेदमूर्ति विद्वानों को उत्पन्न करें, जो 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' के सिद्धान्त पर आरूढ़ होकर वेद का प्रसार प्रचार करें।

मुझे विश्वास है कि त्यागतपोमूर्ति महान् वेदज्ञ पण्डित विद्याधर जी गौड के सम्मान में जो 'स्मारक-ग्रन्थ' प्रकाशित किया जा रहा है यह आधुनिक युग में लुप्तप्राय वैदिक-संस्कृति का मूर्तिमान् प्रतिनिधित्व करने वाला होगा।

(रामचरितमानस के प्रसिद्ध प्रवक्ता और व्याख्याता गोस्वामी श्रीबिन्दुजी महाराज)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधरजी गौड की कीर्ति-कौमुदी से भारत का कोना-कोना आलोकित है। उन्होंने समस्त भारत में, विशेषतः उत्तर भारत में लुप्तप्राय वैदिक-परम्परा के पुनरुत्थान में जो असाधारण श्रम किया, वह सर्वतोमुख प्रतिभासम्पन्न उन्हीं का कार्य था। राजा, महाराजा और सेठ-साहूकारों के द्वारा बड़े-बड़े यज्ञ-यागों का अनुष्ठान कराकर द्विजोचित वैदिक संस्कारों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कर उत्तम कोटि के अनेक ग्रन्थों का निर्माण एवं व्याख्याएँ लिखकर तथा सहस्रों शिष्यों को अहर्निश निरलस भाव से वेद-विद्या का प्रदान कर वैदिक साहित्य की उन्होंने जो सतत सेवा की, वह सर्वविदित है। अपनी सर्वशास्त्रावगाहिनी मेधा के बल से लोकोत्तर पाण्डित्य प्राप्त कर उन्होंने समस्त भारत में अपना वैदिक विद्वानों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया था। ऐसे महान् विद्वान् के सम्बन्ध में जितना भी लिखा जाय, वह अल्प ही होगा।

भारतीय राजकीय महापुरुषों तथा नेताओं

द्वारा

संस्मरण, श्रद्धाञ्जलि

तथा

ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए

शुभ कामनाएँ

(भारतरत्न डा० श्री राजेन्द्रप्रसादजी महोदय, भू० पू० राष्ट्रपति, भारत)

यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि महामहोपाध्याय श्रीविद्याधर गौड की स्मृति में एक स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन किया गया है। पं० श्री विद्याधरजी ने वैदिक संस्कृति और वैदिक वाङ्मय की जो सतत सेवा की है वह प्रशंसनीय है। मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

(डा० श्रीयुत सर्वपल्ली राधाकृष्णन् महोदय, राष्ट्रपति, भारत)

Dear Sir,

I am glad to know that you will bring out a 500 Page volume to commemorate the Services of the late Vidyadhar Gaud. I wish your publication success.

Yours sincerely,
S. Radhakrishnan

[अनुवाद]

प्रिय महोदय,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप स्वर्गीय श्रीविद्याधर गौड जी की सेवाओं के संस्मरणार्थ ५०० पृष्ठ का ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। आपके प्रकाशन की मैं सफलता चाहता हूँ।

(श्रीयुत बाबू श्रीप्रकाशजी महोदय, भू० पू० राज्यपाल, बंबईप्रदेश)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर जी गौड के सम्मानार्थ काशी में उचित समारोह का प्रबन्ध हो रहा है, यह जानकर मुझे बड़ा सन्तोष और आनन्द हुआ। आपकी विद्वत्ता से वे सब लोग प्रभावित होते थे, जिन्हें आपके निकट सम्पर्क का सौभाग्य हुआ था। काशी विश्वविद्यालय में आपने बहुत दिनों तक उच्च पद से सुन्दर कार्य किया था। सभी लोग इनसे लाभ उठाते थे। मेरी शुभ कामना है कि आपकी कीर्ति स्थायी बनी रहे और उनकी स्मृति से उत्साहित होकर हमारे देश के बहुत से नर-नारी संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करें और अपने सामाजिक और आध्यात्मिक आचार-विचार के प्रचार से संसार का समुचित पथ प्रदर्शन करें।

(श्रीयुत न० वि० गाडगिल महोदय, राज्यपाल, पंजाब)

महामहोपाध्याय श्रीविद्याधर गौड स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है यह एक उचित व सन्तोषजनक बात है। महामहोपाध्याय जी एक बड़े संस्कृत के पण्डित, वैदिक परम्परा के अभिमानी, साहित्यिक विद्वान्, सत्य-चरित्र और सद्गृहस्थ थे। उन्होंने जो कुछ ग्रन्थ-रचना की है वह उनकी विद्वत्ता का और विशाल दृष्टिका एक प्रतिविम्ब है। मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि आदर के साथ समर्पित करता हूँ।

(श्रीयुत बूरूगुल रामकृष्ण रावजी महोदय, भू० पू० राज्यपाल, उत्तरप्रदेश)

मुझे यह जानकर हर्ष है कि स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी गौड की स्मृति को स्थायी रूप देने के हेतु एक स्मारक-ग्रन्थ का आयोजन किया गया है।

पुनर्जागरण युग में गौडजी ने हमारे प्राचीन वाङ्मय के प्रकाश-प्रसार के हेतु जो निःस्वार्थ सेवा की है उसके लिए राष्ट्र उनका चिरऋणी रहेगा।

मैं स्मारक-ग्रन्थ की सफलता के हेतु अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

(श्रीयुत डा० सम्पूर्णानन्दजी महोदय, राज्यपाल, राजस्थान)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर गौड का पाण्डित्य सर्वसम्मत था। वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में उनका जो ऊँचा स्थान था, उसके कारण वे काशी की एक उज्ज्वल विभूति थे। उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए जो प्रयास किया जा रहा है, उसका मैं अनुमोदन करता हूँ।

(श्रीयुत पं० गोविन्द मालवीय, भू० पू० उपकुलपति, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधर जी गौड वैदिक-वाङ्मय के अनन्य साधकों में थे। इस नाते वे समस्त द्विजवर्ग के श्रद्धाभाजन हैं।

मेरे स्व० श्री पिताजी (पण्डित मदनमोहन मालवीय जी) पण्डित विद्याधर जी को भारत का सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ मानते थे। वे समय-समय पर बड़े गर्व के साथ कहा करते थे कि 'हमारे हिन्दू विश्वविद्यालय के वेद-विभागाध्यक्ष पं० श्री विद्याधरजी गौड हैं, जिनकी जोड़ी भारत में नहीं है।' वे धार्मिक मामलों में श्री विद्याधरजी की सम्मति को प्रधानता देते थे।

श्री विद्याधरजी की मृत्यु से उन्हें बहुत क्लेश हुआ था और उन्होंने दुःखित शब्दों में कहा था कि—'श्री विद्याधरजी जैसा वेदज्ञ अब उत्पन्न नहीं होगा।'

म० म० पं० श्री विद्याधरजी गौड महोदय का स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित करने का जो आयोजन किया गया है, यह अत्यन्त समीचीन है। मैं श्रद्धेय महामहोपाध्याय जी को अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

(पं० श्री आदित्यनाथ झा, भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

संस्कृतभाषायां तस्याः सुसमृद्धे विविधे वाङ्मये च सहजश्रद्धतया विद्यते मम संस्कृतविदुषां परिचय-प्राप्तये बाल्यादेव बलवती स्पृहा। परं दैवेच्छया भारतीयनागरिकसेवायां कृतप्रवेशतया प्रशासनस्य विभिन्नक्षेत्रेषु व्यापृतत्वेन तस्या यथेष्टसाफल्येऽहं न प्राभवं नासादयं च समयं तत्र भवतो वेदविद्याऽऽचार्यान् स्व० श्रीविद्याधरशर्मगौडमहोदयान् साक्षात्कर्तुं सुपरिचेतुं च। किन्त्विदं विज्ञाय मनो मे नितरामाह्लादते यद् वाराणस्याः कतिपये विद्वांसस्तेषां सम्माने कञ्चन स्मारकग्रन्थं प्रकाशयितुं प्रयतमानाः सन्ति।

विद्याया धर्मस्य देशस्य चाभ्युदयाय तपस्यतां सत्पुरुषाणां संस्मरणं सम्माननं चान्यजनेषु तदौपयिकीं स्पृहणीयां प्रेरणामादधातीति निश्चप्रचम्। अतस्तेषां स्मरणानुगुणस्य समादरव्यञ्जकस्य च कस्यापि प्रकारस्य प्रतिष्ठापनं सर्वथा स्तुत्यं कर्म।

अहमिच्छामि यत्प्रस्तावितः स्मारकग्रन्थः श्रीगौडमहोदयानां स्वरूपानुरूपो विशिष्टविषयगर्भतया विदुषां प्रीतिकरस्तदीयेषु तनयेषु विद्यार्थिषु भक्तजनेषु च वेदानामुत्कृष्टकोटेः पाण्डित्यस्योपार्जनाय प्रेरणाधायकश्च भवेदिति।

(डा० श्रीमङ्गलदेव शास्त्री, भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

प्रिय श्री गौडजी,

यह जानकर मुझे परम प्रसन्नता हुई कि आप अपने पूज्य पिताजी, म० म० श्रीविद्याधरजी गौड का विशाल 'जीवन-चरित्र' प्रकाशित कर रहे हैं। मुझे पण्डितजी की मित्रता का गौरव प्राप्त था। निःसन्देह अपने समय में वे काशी में मूर्धन्य वैदिक विद्वान् थे। दूर-दूर तक देशमें उनकी मान्यता थी। कात्यायन श्रौतसूत्र की वृत्ति जैसी उनकी विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ उनकी कीर्त्तिपताका के रूपमें उनकी स्मृति को स्थायी करने के लिये पर्याप्त हैं। उनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता तथा अनुसन्धान की गहरी लगन का परिचय अनेक अवसरों पर मुझे बार-बार मिलता रहता था।

(श्रीयुत न० वि० गाडगिल महोदय, राज्यपाल, पंजाब)

महामहोपाध्याय श्रीविद्याधर गौड स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है यह एक उचित व सन्तोषजनक बात है। महामहोपाध्याय जी एक बड़े संस्कृत के पण्डित, वैदिक परम्परा के अभिमानी, साहित्यिक विद्वान्, सत्य-चरित्र और सद्गृहस्थ थे। उन्होंने जो कुछ ग्रन्थ-रचना की है वह उनकी विद्वत्ता का और विशाल दृष्टिका एक प्रतिविम्ब है। मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि आदर के साथ समर्पित करता हूँ।

(श्रीयुत बूरूगुल रामकृष्ण रावजी महोदय, भू० पू० राज्यपाल, उत्तरप्रदेश)

मुझे यह जानकर हर्ष है कि स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी गौड की स्मृति को स्थायी रूप देने के हेतु एक स्मारक-ग्रन्थ का आयोजन किया गया है।

पुनर्जागरण युग में गौडजी ने हमारे प्राचीन वाङ्मय के प्रकाश-प्रसार के हेतु जो निःस्वार्थ सेवा की है उसके लिए राष्ट्र उनका चिरऋणी रहेगा।

मैं स्मारक-ग्रन्थ की सफलता के हेतु अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

(श्रीयुत डा० सम्पूर्णानन्दजी महोदय, राज्यपाल, राजस्थान)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधर गौड का पाण्डित्य सर्वसम्मत था। वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में उनका जो ऊँचा स्थान था, उसके कारण वे काशी की एक उज्ज्वल विभूति थे। उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए जो प्रयास किया जा रहा है, उसका मैं अनुमोदन करता हूँ।

(श्रीयुत पं० गोविन्द मालवीय, भू० पू० उपकुलपति, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधर जी गौड वैदिक-वाङ्मय के अनन्य साधकों में थे। इस नाते वे समस्त द्विजवर्ग के श्रद्धाभाजन हैं।

मेरे स्व० श्री पिताजी (पण्डित मदनमोहन मालवीय जी) पण्डित विद्याधर जी को भारत का सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ मानते थे। वे समय-समय पर बड़े गर्व के साथ कहा करते थे कि 'हमारे हिन्दू विश्वविद्यालय के वेद-विभागाध्यक्ष पं० श्री विद्याधरजी गौड हैं, जिनकी जोड़ी भारत में नहीं है।' वे धार्मिक मामलों में श्री विद्याधरजी की सम्मति को प्रधानता देते थे।

श्री विद्याधरजी की मृत्यु से उन्हें बहुत क्लेश हुआ था और उन्होंने दुःखित शब्दों में कहा था कि—'श्री विद्याधरजी जैसा वेदज्ञ अब उत्पन्न नहीं होगा।'

म० म० पं० श्री विद्याधरजी गौड महोदय का स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित करने का जो आयोजन किया गया है, यह अत्यन्त समीचीन है। मैं श्रद्धेय महामहोपाध्याय जी को अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

(पं० श्री आदित्यनाथ झा, भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

संस्कृतभाषायां तस्याः सुसमृद्धे विविधे वाङ्मये च सहजश्रद्धतया विद्यते मम संस्कृतविदुषां परिचय-प्राप्तये बाल्यादेव बलवती स्पृहा। परं दैवेच्छया भारतीयनागरिकसेवायां कृतप्रवेशतया प्रशासनस्य विभिन्नक्षेत्रेषु व्यापृतत्वेन तस्या यथेष्टसाफल्येऽहं न प्राभवं नासादयं च समयं तत्र भवतो वेदविद्याऽऽचार्यान् स्व० श्रीविद्याधरशर्मगौडमहोदयान् साक्षात्कर्तुं सुपरिचेतुं च। किन्त्विदं विज्ञाय मनो मे नितरामाह्लादते यद् वाराणस्याः कतिपये विद्वांसस्तेषां सम्माने कञ्चन स्मारकग्रन्थं प्रकाशयितुं प्रयतमानाः सन्ति।

विद्याया धर्मस्य देशस्य चाभ्युदयाय तपस्यतां सत्पुरुषाणां संस्मरणं सम्माननं चान्यजनेषु तदौपयिकीं स्पृहणीयां प्रेरणामादधातीति निश्चप्रचम्। अतस्तेषां स्मरणानुगुणस्य समादरव्यञ्जकस्य च कस्यापि प्रकारस्य प्रतिष्ठापनं सर्वथा स्तुत्यं कर्म।

अहमिच्छामि यत्प्रस्तावितः स्मारकग्रन्थः श्रीगौडमहोदयानां स्वरूपानुरूपो विशिष्टविषयगर्भतया विदुषां प्रीतिकरस्तदीयेषु तनयेषु विद्यार्थिषु भक्तजनेषु च वेदानामुत्कृष्टकोटेः पाण्डित्यस्योपार्जनाय प्रेरणाधायकश्च भवेदिति।

(डा० श्रीमङ्गलदेव शास्त्री, भू० पू० उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

प्रिय श्री गौडजी,

यह जानकर मुझे परम प्रसन्नता हुई कि आप अपने पूज्य पिताजी, म० म० श्रीविद्याधरजी गौड का विशाल 'जीवन-चरित्र' प्रकाशित कर रहे हैं। मुझे पण्डितजी की मित्रता का गौरव प्राप्त था। निःसन्देह अपने समय में वे काशी में मूर्धन्य वैदिक विद्वान् थे। दूर-दूर तक देशमें उनकी मान्यता थी। कात्यायन श्रौतसूत्र की वृत्ति जैसी उनकी विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ उनकी कीर्तिपताका के रूपमें उनकी स्मृति को स्थायी करने के लिये पर्याप्त हैं। उनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता तथा अनुसन्धान की गहरी लगन का परिचय अनेक अवसरों पर मुझे बार-बार मिलता रहता था।

मुझे पूर्ण आशा है कि उनकी और उनके उदात्त वंश की विद्यापरम्परा को आप जैसे सुयोग्य विद्वान् पुत्र बराबर चलाते रहेंगे। अन्त में मैं पुनः आपके सत्प्रयत्न की पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

(श्रीयुत न० ह० भगवती महोदय, उपकुलपति, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय)

It is a matter of great pleasure that attempts are being made to bring out a Smarak Granth in memory of late Mahamahopadhyaya Shri Vidyadhar Gaur.

Mahamahopadhyaya Shri Vidyadhar Gaur joined the University as Vedadhyapak in 1917 and from July, 1929 to 1940 he was the principal (first acting and then permanent) of the College of Theology. From November, 1935 he was also the dean of the Faculty of Theology and he continued as such till he remained in the services of the University.

Mahamahopadhyaya Shri Vidyadhar Gaur followed the footprints of his illustrious father Mahamahopadhyaya Pandit Prabhu Dutt Shastri, who was also the Principal of the College of Theology of this University and a well-known scholar and Karmakandi.

I wish all success in the work undertaken by you.

[अनुवाद]

यह प्रसन्नता की बात है कि स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्रीविद्याधर गौडजी की स्मृति में स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन हो रहा है।

म० म० श्रीविद्याधर गौडजी ने सन् १९१७ में वेदाध्यापक के पद पर हिन्दू विश्वविद्यालय में पदार्पण किया और जुलाई सन् १९२९ से १९४० तक वे धर्मविज्ञान महाविद्यालय के अध्यक्ष नियुक्त हुए। नवम्बर सन् १९३५ से वे धर्मविज्ञान समज्या (फैकल्टी ऑफ थियोलौजी) के अधिष्ठाता (डीन) भी रहे और जबतक वे विश्वविद्यालय की सेवा में रहे इस पद पर बने रहे।

म० म० श्रीविद्याधर गौडजी ने अपने प्रसिद्ध पिता म० म० पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री के चरण-चिन्हों का अनुगमन किया, जो धर्मविज्ञान महाविद्यालय के पहले आचार्य तथा प्रसिद्ध विद्वान और कर्मकाण्डी थे।

मैं आपके इस प्रयास की सफलता चाहता हूँ।

(महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र, उपकुलपति, दरभंगा विश्वविद्यालय)

विदितमेतत् सर्वेषां यद्वेदमन्त्राः साधारणतया द्विधा विभक्ताः—कर्मकाण्डमन्त्राः आध्यात्मिकमन्त्राश्च। एतेषां वस्तुतः अविनाभावसंबन्धोऽस्ति। कर्मकाण्डद्वारा अन्तःकरणानाम् परिशोधनं भवति। अन्तःकरणपरिशुद्ध्यैव आध्यात्मिकचिन्तनस्य क्रमशः सामर्थ्यं लभते जिज्ञासुः। चित्तशुद्धिं विना तत्त्वज्ञानस्य संभावनैव नास्ति। इत्थं कर्मज्ञानयोः कार्यकारणभावसम्बन्धो विद्यते।

अन्यच्च कर्मकाण्डे देवतानां विशेषाराधनं कर्तुम् अवसरं लभते कर्मनिष्ठः साधकः। यज्ञेषु देवता आहूताः सत्यः स्वसान्निध्यद्वारा अनुगृह्णन्ति साधकान्। देवतानाम् सान्निध्येनैव विशेषायासं विनैव दुःखत्रयाद्विमुक्ताः भवन्ति जिज्ञासवः। देवतानाम् आगमनेनैव स्वस्वयज्ञभागस्वीकरणेनैव च महत्पुण्यं जायते यजमानस्य। इत्येतत् सर्वं परिज्ञातमेव ज्ञानिनाम्।

चिरात् दाक्षिणात्येषु वेदमन्त्राणाम् अध्ययनाध्यापने सुरक्षिते। नात्युक्तिरियं यत् केनापि कारणेन तेष्वेवाधुना वेदाध्ययनपरम्परा एवं च यजनयाजनपरम्परा निरवच्छिन्ना दृश्येते। यद्यपि शुक्लयजुर्वेदस्य वाजसनेयशाखायाः प्रधानभूमिः मिथिला आसीत्, यत्र महायोगिराजो याज्ञवल्क्यः वसति स्म। तस्यैव योगिराजस्यानुग्रहेण शुक्लयजुर्वेदमन्त्राणाम् अभिव्यक्तिः साक्षात् दिवाकरात् जाता। मिथिलातः उत्तरीये भारते सर्वत्र शुक्लयजुर्वेदस्यैव प्राधान्यं विद्यते। तैत्तिरीयशाखायाश्च तथैव दक्षिणदेशेषु विशेषरूपेण प्रचारो विद्यते।

विश्वेश्वरस्य काशी अनुत्तमा नगरी। अत्र नानादिग्भ्यो विद्वांसः समागत्य स्वस्वपाण्डित्यं दिगन्तेष्वपि प्रचारयामासुः। काशीविश्वनाथस्य प्रसादेनैव नानादिग्भ्यः समागतानां धुरन्धराणां विदुषां चिरात् संमेलनम् आमोदप्रदं च जातम्। तेषां बुद्धिसंघर्षणेनैव शास्त्राणां महदालोचनं च जातम्।

काश्यामपि यजनयाजनयोः परिपाटी निरवच्छिन्नरूपेण विशेषतः शुक्लयजुर्वेदानुसारेण वर्तत एव। कालान्तरे पुनः अन्यासामपि शाखानां परिपाटी प्रचलिता। अस्माकं समये प्रातःस्मरणीयाः महामहोपाध्यायाः गौडवंशावतंसाः प्रभुदत्तशास्त्रिणः कर्मकाण्डरक्षणार्थं महापरिश्रमं कृतवन्तः। तेषामेव परिश्रमेण काश्यामपि यजनयाजनकर्मणोः प्रसिद्धिः बभूव। बहवो वैदिकाः कर्मकाण्डिनः याजनकर्मसंपादनाय सुशिक्षिताः। तेषामेव विदुषां सुशिक्षया अधुनापि काश्यां बहवो वैदिका अस्मिन् कर्मणि निपुणाः सन्ति।

विदुषां गौरवास्पदमेतत् यत् "पुत्रादिच्छेत् पराजयम्" इति चिरन्तनोक्तिं चरितार्थीकृत्य महामहोपाध्यायानां प्रभुदत्तशास्त्रिवराणां ज्येष्ठः पुत्रः महामहोपाध्यायः श्रीविद्याधरमिश्रगौडः महान् वैदिको विद्वान् विद्यते स्म। तस्यापि वेदादिविविधशास्त्रचातुर्येण वयं सर्वे चकिताः स्मः। अन्येऽपि पूज्यवराणां पुत्राः विविधशास्त्रेषु निष्णाताः संजाताः। ईदृशी विद्यासम्पत्तिः भाग्यसन्ततिश्च विदुषां मध्ये विरलैव दृश्यते।

अस्माकमपि भाग्यमेतद् यदेतेषां सर्वेषां पुण्यभाजां विदुषां काशीविश्वनाथकृपया चिरं घनिष्ठः परिचय आसीत्। अनेनैव आत्मानमपि धन्यं मन्ये। एतेषां पुण्यभाजां पुण्यस्मृतिरक्षार्थं यत्किमपि तेषां छात्रैः अन्यैश्च विद्वद्भिः क्रियते तत्सर्वं श्लाघ्यतमं मन्ये। किं बहुना—

काश्यां स्थिता वयं धन्याः काशी धन्यतमा स्मृता।
यत्र तिष्ठन्ति विद्वांसो विश्वनाथपरायणाः॥

(पं० श्री श्यामसुन्दर शर्मा एम्० ए०, रजिस्ट्रार, रुड़की विश्वविद्यालय)

सन् १९२३ की बात है। मैं काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में पढ़ता था। मैं धार्मिक परम्पराओं को मानने वाला था, अतः धर्म-परायण विद्वान् सज्जनों से मिलने की तथा उनके दर्शन एवं सहयोग से लाभ उठाने की मेरी सदैव इच्छा रहा करती थी। मुझे जिन महानुभावों की संगति में जाने का लाभ मिला, उनमें से कुछ नाम ये हैं—

१ वेदमूर्ति महामहोपाध्याय श्रीप्रभुदत्त शास्त्री गौड।
२ महामना पं० श्रीमदन मोहन मालवीय महाराज।
३ पं० श्रीआनन्द शंकर बापूभाई ध्रुव।
४ पं० श्रीबटुकनाथ शर्मा एम्० ए०।
५ पं० श्रीवीरेश्वर शास्त्री द्राविड।

हमारे चरित्रनायक महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधर जी गौड से भी कई बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे अपने पिता के सदृश वेद तथा कर्मकाण्ड में उद्भट विद्वान् तथा सब शास्त्रों में पारङ्गत थे। छोटी अवस्थामें ही वे सम्पूर्ण विद्याओं का अभ्यास करके महाविद्वान् हो गये थे। काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में वे धर्म-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष एवं डीन औफ़ दी फैकल्टी थे। भारत सरकार ने उनकी लोकप्रियता तथा महती विद्वत्ता को देखकर उन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी से अलंकृत किया था। भारत के प्रकाण्ड विद्वानों में उनका स्थान अग्रगण्य था। ईश्वर ने उन्हें जल्दी ही हमारे बीच में से उठा लिया। किसी ने सच कहा है—"जाकी यहाँ चाहना है वाकी वहाँ चाहना है"।

ईश्वर की परम कृपा है कि श्री विद्याधरजी गौड के सुपुत्र श्रीवेणीरामजी गौड वेदाचार्य इस समय भारत के प्रसिद्ध याज्ञिक विद्वानों में प्रथम स्थान रखते हैं।

(पं० श्री गङ्गाप्रसाद मेहता, एम्० ए०, भू० पू० रजिस्ट्रार, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय)

स्व० महामहोपाध्याय पण्ड़ित श्री विद्याधर गौड भारत के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ थे। वे जैसे विद्वान् थे, वैसे ही सरल, नम्र और अभिमानरहित थे। देखते ही उनके प्रति श्रद्धा का भाव उमड़ पड़ता था। वे कट्टर सनातनधर्मी थे। उनकी सनातनधर्मिता और विद्वत्ता पर स्व० महामना मालवीय जी को भी बड़ा गर्व था और वे उनका परम सम्मान करते थे। मैं उन पर परम श्रद्धा रखता था और वे भी मुझ पर बहुत स्नेह रखते थे।

कात्यायन श्रौतसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों पर उनके भाष्य, टीका, निबन्ध आदि आज भी उनके वैदुष्य के कीर्तिस्तम्भ बने हुए हैं।

महामहोपाध्यायजी के स्मृतिग्रन्थ के प्रकाशन का समाचार पाकर उनका वह सारा गुणमयरूप आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। मैं उनके प्रति परम श्रद्धा व्यक्त करना ही अपना सन्देश मानता हूँ।

(पं० श्री रामनरेश मिश्र एम्० ए०, रजिस्ट्रार, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

यह जानकर मुझे परम हर्ष हुआ कि स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० विद्याधर जी गौड की संस्मृति में एक ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। श्री गौड जी उत्तर-भारत के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ थे जिन्होंने वैदिक संस्कृति एवं वैदिक वाङ्मय की रक्षा के लिये अथक परिश्रम किया। महामहोपाध्याय जी ने प्राचीन गुरुपरम्परानुसार स्वशाखीय शुक्ल यजुर्वेद के अध्ययनाध्यापन का विशेष प्रचार किया और आनेवाली वैदिक पीढ़ीके लिये एक उच्च आदर्श स्थापित किया। उन्होंने श्रौताधान किया था। प्राचीन टीकाओं से अस्फुट एवं दुरूह ग्रन्थों की वैदुष्यपूर्ण व्याख्या कर उन्होंने इस परम्परा को बड़ा बल दिया है। श्री गौड जी के पाण्डित्य एवं उनके विशिष्ट कार्यों के उपलक्ष्य में जो स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, उसका मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ।

(सर श्री हरगोविन्द मिश्र, एम्० एल्० सी०, कानपुर)

काशीनिवासी वैदिकसम्राट् महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री वेद के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम पञ्चगौडों में सार्थ वेद के अध्ययनाध्यापन का प्रचार करने का श्रेय प्राप्त किया था। उनका सर्व-प्रथम दर्शन मैंने अलीगढ़ में किया था। उस समय मेरी अवस्था प्रायः ७-८ वर्ष की थी। श्री अग्निहोत्री जी यज्ञान्त में वेद भगवान् की सवारी के साथ रथ में

श्वेतवस्त्र धारण किये और अग्निहोत्र की पवित्र धवल भस्म मस्तक में लगाये हुए बैठे थे। उस समय श्रीमान् अग्निहोत्री जी को देखने से प्रतीत होता था कि ये साक्षात् वेदमूर्ति हैं। मुझे आज भी उनका वह प्रभावशाली भव्य स्वरूप भूला नहीं है। उन पवित्रात्मा वेदमूर्ति के ज्येष्ठ पुत्र महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधर जी गौड अपने श्री पिताजी से भी उत्कृष्ट और गम्भीर विद्वान् हुए। उन्होंने अपने समूचे जीवन में विद्या-प्रदान, ग्रन्थ-लेखन एवं यज्ञादि धार्मिक कृत्यों द्वारा वैदिक-साहित्य की जो अभूतपूर्व सेवा की, वह सदा स्मरणीय रहेगी।

श्री विद्याधरजी गौड 'विद्यया वपुषा वाचा' और 'विद्या ददाति विनयम्' के साक्षात् प्रतीक थे। वे जिस प्रकार पण्डितप्रकाण्ड थे, उसी प्रकार अत्यन्त सरल और परोपकारी थे। उनके दर्शनमात्र से कट्टर नास्तिक भी आस्तिक बन जाते थे। वे कट्टर सनातनी और दृढ़व्रती थे। विद्वानों में जो गुण होने चाहिएँ, वे सभी गुण उनमें मूर्त्तरूपमें विराजमान थे। वे बड़े मनस्वी थे। उनमें चाटुकारिताका तो स्पर्श भी नहीं था। वे बिना बुलाये किसी के यहाँ जाते नहीं थे। उन्होंने वेदादि शास्त्रों में जो अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त की थी, वह उनकी विशिष्ट विद्वत्ता का ही निदर्शन था।

मैं बड़े गौरव और अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि म० म० श्री विद्याधरजी अग्निहोत्री अपने समय के अन्तिम वेदज्ञ विद्वान् थे। मुझे हर्ष है कि आज भी उनकी वह वैदिक-परम्परा उनके वंश में जीवित है। श्री विद्याधरजी के सुयोग्य पुत्र वेदाचार्य पण्डित श्री वेणीरामजी गौड भी अपने पितृ-पितामह को तरह अध्यापन, लेखन एवं याजन द्वारा लोकसेवा कर रहे हैं। वे हमारे यहाँ कानपुर में भी कई वर्ष से यज्ञाचार्य होकर यज्ञ को साङ्गोपाङ्ग कराने के हेतु आने की कृपा करते हैं।

(प्रसिद्ध दार्शनिक, भारतरत्न डा० श्री भगवानदासजी एम्० ए०, डी० लिट्)

स्वर्गीय म० म० पं० श्री प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री मेरे मित्र थे। रणवीर संस्कृत पाठशाला, कमच्छा बनारस में मुझे उनके साथ कुछ दिन काम करने का अवसर प्राप्त हुआ था। वे अपने समय में बहुत प्रतिष्ठित वेदज्ञ माने जाते थे। उनका जीवन बहुत ही आदर्श और उज्ज्वल था। उनके ज्येष्ठ पुत्र म० म० पं० श्री विद्याधरजी गौड अपने पिताजी से भी अधिक विद्वान् माने जाते थे। श्री विद्याधरजी की विद्वत्ता का प्रकाश अनन्त काल तक रहेगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

(सुप्रसिद्ध लोकसेवी, गोरखपुर के गान्धी श्रीयुत परमहंस बाबा राघवदास जी)

वेदशास्त्रसम्पन्न श्री विद्याधरजी गौड ने अग्निहोत्र की रक्षा कर प्राचीन भारतीय अग्निपूजन का महत्त्व हमारे सामने प्रत्यक्ष कर दिया था। आज धूम्रपान के कारण जो करोड़ों रुपयों की गाढ़ी कमाई हम खर्च कर श्री अग्निदेव का शाप ले रहे हैं उस समय यह अग्निदेव की अखण्ड पूजा हमारे लिए शिक्षाप्रद ही है। श्री गौड जी के कारण हमें अनेक श्री यज्ञनारायण जी के दर्शन करने का अवसर मिला। यज्ञ की विधि की रक्षा तथा मर्यादा-पालन करने कराने में श्री गौड जी सफल रहे हैं। यज्ञ का संचालन तथा आरम्भ से लेकर अन्त तक उसको सुचारु-रूप से निभा ले जाना यह भी एक विशेष योग्यता का परिचायक है।

मैंने दूसरे यज्ञ देखे, पर उनमें वह गांभीर्य तथा अनुशासन उस उच्च स्तर का देखने को नहीं मिला, जैसा कि श्री गौड जी के आचार्यत्व में किये गए यज्ञों में देखा गया। मैं ऐसे प्रसिद्ध कर्मकाण्डी तथा श्री अग्निहोत्री विद्वान् वेदाचार्य जी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

———

(सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा, पंजाब के अध्यक्ष गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी महाराज)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी गौड वेद, कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने अपने श्री पिता महामहोपाध्याय पं० श्री प्रभुदत्तजी शास्त्री के नाम को उज्ज्वल किया और वेद-विद्या को सुरक्षित रखा, यही मेरी उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि है।

भारतके गण्य-मान्य विद्वानों

द्वारा

अभिनन्दन, संस्मरण

तथा

श्रद्धाञ्जलियाँ

विशिष्ट विभूति

(विद्वद्वरेण्य महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०)

सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् काशी हिन्दूविश्वविद्यालय-धर्मविज्ञान विभाग के अध्यक्ष महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० विद्याधर जी गौड की पुण्य-स्मृति पर आजकल वे सभी लोग आलोक डाल रहे हैं जो उनके साथ व्यक्तिगत रूप से संसृष्ट रहे और जो उनके प्रगाढ वैदुष्य से परिचित रहे वे भी उसपर प्रकाश डाल रहे हैं। इस पुण्य अवसर पर उनका स्मरण कर मुझे भी आनन्दानुभव हो रहा है। मुझे भी चिरकाल तक निरन्तर उनका संसर्गजनित सौभाग्य प्राप्त हुआ था, इसलिए आज इस संस्मरण के समय उनके अभाव की तीव्र वेदना हृदय में जाग रही है। उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, पर कौन जानता था वे इतनी जल्दी चले जायँगे।

पं० विद्याधर जी अपने समय में वेदविद्या में भारत में मुकुटमणिस्वरूप रहे, यह बात निर्विवाद है। उनकी कात्यायन श्रौतसूत्र पर रचित विवृति से वैदिक कर्मकाण्ड के विषय में उनके अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है। वे वैदिक-साहित्य के अतिरिक्त विभिन्न शास्त्रों में भी सुप्रविष्ट रहे। वे सुवक्ता तथा सुलेखक रहे, सद्धर्म के अनुरागी रहे तथा अपने अमायिक स्वभाव के कारण सर्वजनप्रिय रहे। उनके अनेक कृती शिष्य-प्रशिष्य उत्तराखण्डके विभिन्न भागों में वेदविद्या का प्रचार कर रहे हैं एवं लुप्तप्राय कर्मकाण्ड में जीवनी-शक्ति का संचार कर रहे हैं।

श्री विद्याधर जी के श्रद्धेय पितृदेव के साथ कुछ दिन मुझे एकसाथ कार्य करना पड़ा था। उनकी अधिगत विद्या और यश उनके सुयोग्य पुत्र में अधिक मात्रा में प्रतिफलित हुआ था, यह कम गौरव का विषय नहीं है। आनन्द की बात है कि श्री विद्याधर जी के पुत्र भी वेदविद्या के एकनिष्ठ सेवक हैं। श्रीविश्वेश्वर की शुभ दृष्टि उनके ऊपर नित्य विराजमान रहे, यही हमारी शुभ कामना है।

महामहोपाध्याय श्रीविद्याधरजी गौडके संस्मरण

(महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी महोदय)

देशमान्य वैदिकाग्रगण्य स्व० महामहोपाध्याय श्री विद्याधर जी शास्त्री का मेरे साथ बहुत प्रेमपूर्ण व्यवहार था। मैं जयपुर से जब कभी काशी आता, तो उनसे प्रायः अवश्य मिलता था और वे भी बड़े प्रेम से मुझसे मिलने को उत्सुक रहते थे। इनके पिताश्री स्वनामधन्य महामहोपाध्याय पं० श्री प्रभुदत्त जी शास्त्री की भी मुझपर बड़ी कृपा रहती थी। इस कारण श्री विद्याधर जी भी अपने पिता का स्नेही समझ कर मुझपर एक प्रकार की सम्मान-दृष्टि रखते थे।

पं० श्री प्रभुदत्तजी शास्त्री ने काशी के वैदिक विद्वानों में गौडों को प्रतिष्ठित स्थान दिलाया, जिनकी विद्वत्ता के कारण ही गौड भी वैदिक विद्वान् माने जाने लगे।

श्री विद्याधर जी की यही विशेषता थी कि वे इतने अधिक देशमान्य प्रखर विद्वान् होते हुए भी अत्यन्त विनीत थे। उनकी नम्रता देखकर आश्चर्य हुआ करता था। वे कट्टर धार्मिक थे। धर्म के आगे वे आर्थिक लाभ को तुच्छ समझते थे।

कलकत्ता, अमृतसर आदि कई स्थानों में होने वाले यज्ञों में भी मेरा और श्री विद्याधर जी का साथ रहा है। वे यज्ञ के 'आचार्य' बनकर जाते थे और मैं प्रवचनार्थ उपदेशकरूपमें जाता था। वहाँ भी निकट से इनके विनम्रतापूर्ण व्यवहारों को देखने का अवसर मिला था। वे प्रायः किसी के साथ विवाद नहीं करते थे।

श्री विद्याधर जी अपने समय में भारत के वेदज्ञों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे। जहाँ कहीं भी धर्मशास्त्र और वेद-कर्मकाण्डके सम्बन्ध में कोई शङ्का उपस्थित होती थी, तो आपका ही निर्णय सर्वमान्य माना जाता था।

देशभर में कर्मकाण्ड के लिये परिभ्रमण करते हुए श्री विद्याधर जी ने संस्कृत-साहित्य की अच्छी सेवा की है। आपके बनाये हुए कई ग्रन्थ वेद-कर्मकाण्ड की ग्रन्थियों को सुलझाते हैं और अल्पज्ञ विद्वानों को भी उच्च कर्मकाण्ड कराने का अवसर प्रदान करते हैं।

अध्यापन-प्रौढता भी श्री विद्याधर जी की सुविख्यात थी। इनके कई योग्य शिष्य वेद-कर्मकाण्ड के धुरन्धर विद्वान् आज भी देखे जाते हैं।

अत्युच्च सुयोग्य विद्वान् के वैसे ही सुपुत्र होना यह श्री विद्याधर जी का ही परम सौभाग्य था। पिता और पुत्र दोनों ने गवर्नमेन्ट से 'महामहोपाध्याय' पदवी प्राप्त की हो, ऐसा दृष्टान्त भी मैंने अन्यत्र नहीं देखा। "काशी में त्रैपुरुषी विद्या नहीं होती" ऐसा अपवाद पुरातन काल से चला आ रहा है और कहा जाता है कि व्यासजी ने काशी को यह शाप दिया था, किन्तु पण्डित विद्याधर जी का परिवार इसका अपवाद है। क्योंकि श्री विद्याधर जी के पुत्र वेदाचार्य श्री वेणीराम शर्मा गौड भी वेद और कर्मकाण्ड के प्रख्यात विद्वान् हैं, यह श्री विद्याधर जी के ही पुण्य का फल है।

भारत के गौरव

(महामहोपाध्याय पण्डित श्रीचिन्नस्वामीजी शास्त्री)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्मविज्ञान-विभागाध्यक्ष स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधर जी गौड से मेरा परिचय सन् १६१८ से था और वह परिचय उनके जीवनकाल तक अत्यन्त घनिष्ठ-रूप में अत्यन्त आनन्द और सोल्लास के साथ सदैव एकरस था।

श्री विद्याधर जी मेरे परम हितैषी अभिन्न मित्र थे। हम दोनों का प्रतिदिन हिन्दूविश्वविद्यालय में साक्षात्कार होता था। अवकाश के दिनों में मैं उनके घर और वे मेरे घर आते थे। उनकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा थी। आज उनकी अनुपस्थिति मुझे पद-पद पर खटकती है।

मैंने सौभाग्यवश श्री विद्याधर जी के पूज्य पिता स्व० महामहोपाध्याय पं० श्री प्रभुदत्त जी शास्त्री के भी दर्शन किये थे। वे अपने समय में सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ होते हुए साक्षात् 'महर्षि' प्रतीत होते थे। उन्होंने स्वयं अपने भाग्य का निर्माण किया था। उन्होंने ही सर्वप्रथम पञ्चगौडों में वेदविद्या का प्रचार किया था। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही अपने सुपुत्र श्री विद्याधर जी को अपने से भी अधिक देशमान्य विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित होने का भी सौभाग्य प्राप्त कर लिया था। ऐसा सौभाग्य किसी-किसी पुण्यात्मा पिता को ही मिला करता है।

श्री विद्याधर जी अपने समय में समस्त भारत में वेद के महापण्डित माने जाते थे। उनकी विद्वत्ता अगाध थी। उनका व्याकरण का ज्ञान ऐसा गम्भीर था, जो कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी दुर्लभ है। वह केवल वेदज्ञ नहीं थे, उनका व्याकरण, साहित्य, मीमांसा, धर्मशास्त्रादि पर पूर्ण अधिकार था। उनकी विलक्षण प्रतिभा और विद्वत्ता को देखकर बड़े-बड़े विद्वान् चकित होते थे।

वेद में श्रौत-विषय अत्यन्त कठिन है, किन्तु उस श्रौत-विषय का (जिसका ज्ञान आजकल लुप्त-सा होता जा रहा है) भी श्री विद्याधर जी को अद्भुत ज्ञान था। उनके श्रौत-विषय के विशिष्ट ज्ञान का परिचय उनके 'कात्यायन श्रौतसूत्र' के भाष्य को देखने से मिलता है। मैंने काशी तथा महाराष्ट्रप्रदेश के अनेक वेदज्ञों से समय-समय पर श्रौत-विषय की चर्चा की, किन्तु श्री विद्याधर जी जैसा श्रौत-विषय का परिज्ञान मैंने अन्य किसी विद्वान् में नहीं पाया, यह निर्विवाद है।

आपने कात्यायन श्रौतसूत्र की 'विवृति' नाम की टीका लिखकर वैदिक-साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की है। जो विषय कात्यायन श्रौतसूत्र के कर्कभाष्य से स्पष्ट नहीं होते थे, वे आपकी टीका से सरल और स्पष्ट हो जाते हैं।

आपने कात्यायन श्रौतसूत्र की जो विशद भूमिका लिखी है, वह प्रत्येक संस्कृतज्ञ के लिये पठनीय और मननीय है।

आपका संस्कृत का लेख अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण सरल-सरस भाषा में होता था। आप विद्वानों के साथ प्रायः संस्कृत में ही पत्रव्यवहार करते थे। मेरे पास आज भी उनके कई पत्र संस्कृत में लिखे हुए सुरक्षित हैं।

श्री विद्याधर जी में ही यह अपूर्व बात देखने को मिली कि वह वेद के अर्थज्ञ विद्वान् होते हुए भी वेद के घनान्त मूलपाठ का गायत्रीवत् कण्ठस्थ पाठ करते थे। उनको वेद के ब्राह्मणभाग और सूत्रभाग कण्ठस्थ थे। वह शुक्ल यजुर्वेद संहिता का सस्वर मूलपाठ इतनी द्रुतगति में करते थे कि बड़े-बड़े घनान्तपाठी उनके साथ पाठ करने में घबराते थे। वह शुक्ल यजुर्वेद संहिता में निर्भ्रान्त बतला देते थे कि यह मन्त्र इस अध्याय का और इस संख्या का है।

आपका लेख अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक होता था। आप अत्यन्त द्रुतगति से लिखा करते थे। आपने सैकड़ों दुर्लभ श्रौत-स्मार्त्त पद्धतियों का कठिनता से संग्रह किया था, जो कि आज भी उनके पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। आपके यहाँ चारों वेदों की उपलब्ध सभी शाखाओं का हस्तलिखितरूप में अपूर्व संग्रह है।

आप रात्रिन्दिवा पठन-पाठन में संल्लग्न रहते थे। आपको पढ़ाने में कभी आलस्य नहीं होता था। अवकाश के दिनों में भी आप घर में छात्रों को पढ़ाते थे। मैंने कई बार बहुत प्रातःकाल आप के यहाँ जाकर देखा कि आप अपने अग्निहोत्र की पवित्र धवल त्रिपुण्ड्र भस्म को मस्तक में लगाये हुए उच्च संस्थाओं के वेदाध्यापकों को वेद—कर्मकाण्ड की शिक्षा दे रहे हैं। आपका प्रातःकाल और रात्रि का समय उच्च श्रेणी के अध्यापकों के लिए सुरक्षित रहता था। आपके पढ़ाये हुए सैकड़ों सुयोग्य शिष्य भारत की उच्च संस्थाओं में 'वेदाध्यापक' पद पर प्रतिष्ठित हैं।

यज्ञादि कार्यों के कराने के लिये 'आचार्य' पद के लिये जब यज्ञकर्तागण काशी में उपस्थित होकर सर्वोत्तम याज्ञिक विद्वान् का अन्वेषण करते थे, तो उस समय सर्वप्रथम श्री विद्याधर जी का ही नाम बड़े आदर से लिया जाता था। आप समस्त भारत में होनेवाले बड़े-बड़े यज्ञ, राज्याभिषेक और मन्दिर की प्रतिष्ठार्थ 'आचार्य' पद पर ससम्मान बुलाये जाते थे। आपका कर्मकाण्ड के लिये आना-जाना केवल सेठ-साहूकारों तक ही सीमित नहीं था, अपितु राजा-महाराजाओं के यहाँ भी था।

श्रीविद्याधर जी की विशिष्ट विद्वत्ता का आदर स्व० महामना पं० मदन मोहन मालवीय, स्व० श्री आनन्द शङ्कर बापूभाई ध्रुव (प्रोवाइसचान्सलर हि० वि० वि०), स्व० म० म० डा० सर गङ्गानाथ झा, स्व० म० म० पं० श्री प्रमथनाथतर्कभूषण, स्व० म०म० पं० श्री बालकृष्ण मिश्र, स्व० म० म० पं० श्री हरिहरकृपालु द्विवेदी, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज और महामहोपाध्याय पं० श्री गिरिधर

शर्मा चतुर्वेदी आदि महानुभाव करते थे और समय-समय पर आपकी विद्वत्ता को मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते थे।

आपकी विशिष्ट विद्वत्ता के कारण ही अनेक राजा-महाराजा आपके परम भक्त थे और वे समय-समय पर वेद-धर्मशास्त्र के रहस्यों के जिज्ञासार्थ तथा यज्ञादि कार्यों के सम्पादनार्थ आपको अपने यहाँ आमन्त्रित किया करते थे।

श्री विद्याधर जी ने अपने जीवनकाल में अपनी प्रगाढ विद्वत्ता के द्वारा जैसा सुयश प्राप्त किया था, वैसा सुयश अन्य वैदिक विद्वान् को नहीं मिला। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर गवर्नमेन्ट सरकार ने आपको 'महामहोपाध्याय' की टाइटिल देकर आपका महान् सम्मान किया था। यही सम्मान आपके पिताजी को भी गवर्नमेन्ट सरकार द्वारा प्राप्त था। वैदिक विद्वानों में गवर्नमेन्ट द्वारा 'महा-महोपाध्याय' पदवीसे सम्मान होने का सौभाग्य केवल इसी वंश को प्राप्त हुआ था।

श्री विद्याधर जी के शरीर से अगणित विद्वानों का उपकार हुआ है। काशीस्थ हिन्दू विश्वविद्यालय में वेदाध्यापकों की नियुक्ति के अतिरिक्त वहाँ के संस्कृत के प्रत्येक विभाग के अध्यापकों की नियुक्ति में भी आपका गौरवपूर्ण हाथ रहता था। काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज में वर्त्तमान वेदाध्यापक पण्डित भगवत्प्रसाद मिश्र वेदाचार्य की नियुक्ति का समस्त श्रेय आपको ही था।

आपने अपने अध्यापन काल में काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में चारों वेदों की परीक्षाओं का तथा क्रियात्मकरूप से 'पौरोहित्य-परीक्षा' का प्रारम्भ कराया था। इसी प्रकार आपने स्व० सेठ गौरीशङ्कर जी गोयनका को प्रेरित कर काशीस्थ गोयनका संस्कृत महा विद्यालय में चारों वेदों का अध्यापन और चारों वेदों के अध्यापकों की नियुक्ति कराई थी।

आपका जीवन परोपकारमय था। आपका घर संस्कृत के विद्वानों के लिए एक प्रकार का "धार्मिक बैङ्क" था। विद्वानों को जब द्रव्य की आवश्यकता होती थी, तो वे निःसङ्कोचरूप से आपसे निर्व्याज रुपया लेकर अपना काम चलाते थे। कई बार मुझे भी उनसे ऋणरूप में द्रव्य लेने का अवसर प्राप्त हुआ था।

आप जितने बड़े विद्वान् थे उतने ही अधिक सरल थे। आपका जीवन सादगी से ओतप्रोत था। आप मिथ्या आडम्बर से कोसों दूर रहते थे। आप धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप थे। धर्म के आगे आप द्रव्य-लाभ को नगण्य समझते थे। आप में जो-जो सद्गुण थे, वे सर्वत्र नहीं दिखलाई देते।

आप जिस प्रकार विद्या से परिपूर्ण थे उसी प्रकार धन-धान्य-पुत्र-पौत्रादि समस्त सांसारिक वस्तुओं से भी परिपूर्ण थे। हर्ष का विषय है श्री विद्याधर जी के पुत्र अपनी वेद-परम्परा को अपनाये हुए वेदाध्यापन के साथ-साथ ग्रन्थ-लेखन में पूर्ण निपुण हैं और अपनी पितृ-पितामह की याज्ञिक-परम्परा को भी जीवित रक्खे हुए हैं।

श्री विद्याधर जी जैसे महाविद्वान् की संस्कृत समाज में अनन्त कालतक आव-

श्यकता थी, परन्तु वह बहुत शीघ्र हमसे दूर हो गये, यह संस्कृत-समाज का महान् दुर्भाग्य है। उन्होंने संस्कृत-समाज की जो आदर्श सेवा की है, उसके लिए वह सदा उनका चिरऋणी रहेगा।

हृद्यपद्याञ्जलिः

(वैद्यसम्राट् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पद्मभूषण पं० श्रीसत्यनारायणजी शास्त्री)

दाक्षायणीपरिणये वपुषा कुमारो गङ्गाप्रपातपरिरोधनजूटिकश्च ।
सद्धर्मदर्पदलनैकभिषग्वरेण्य इत्थं त्रिविग्रहशिवस्तनुयाच्छिवं नः ॥ १ ॥
श्रीमान् गौडान्ववायोऽवनिसुरमहितो वेदवेदाङ्गवेत्ता,
विद्वद्वृन्दाभ्यर्चिताङ्घ्रिर्निखिलजनचयख्यातशुभ्रैककीर्तिः ।
यो व्यासोऽन्योऽभिजातो मदनपरिलसन्मोहनो मालवीयः,
तस्यापीष्टो ह्यजस्रं प्रभुरिव प्रभुदत्ताभिधोऽभून्महेड्यः ॥ २ ॥
मीमांसाधर्मशास्त्राद्यधिगतसुबुधैर्याज्ञिकैर्वन्दिताङ्घ्रिः,
दृप्यत्सद्वैदिकानामवजयजनितोत्कृष्टस्वान्तोपलब्धिः ।
सम्राट् सम्मानमाप्तः क्षितितलमहितानेकग्रन्थप्रणेता,
तत्सूनुश्चक्रवर्ती धवलतरयशाः श्रीलविद्याधराख्यः ॥ ३ ॥
आसीच्छ्रौताहिताग्निः शतपथगमकः पञ्चकुण्डस्य होता,
श्रौतज्ञेष्वद्वितीयोऽन्वनुदिनमुभयोः सन्ध्ययोर्होमकर्त्ता ।
गेहेऽर्भाध्यापनाद्यैः सुपथगतिविधौ दत्तचेतास्समन्ता-
दारम्भाद्वाप्यकार्षीदमलतरधियाऽध्यापकाध्यक्षतां यः ॥ ४ ॥
पीयूषाशितहव्यभोजनरता ये सन्ति वै नाकिन-
स्ते विद्याधरविज्ञवैदिकवरे सायुज्यमुक्तिं गते ।
क्रन्दन्त्येव तथाऽनवाप्य प्रचुरं हव्यं च यज्ञे मुदा,
तद्धानेः परिपूर्तिमावितनुते श्रीवेणिरामोऽधुना ॥ ५ ॥
धर्मोद्ध्वंसैकदक्षान् स्मृतिश्रुतिवलितस्वीययुक्त्या विधुन्वन्,
देशे देशे विदेशे प्रवचनपटुताकौमुदीं काशयन् द्राक् ।
विप्राणां कल्पशाखी घटजमुनिनिभो योऽधरे सर्वविद्याः,
धृत्वा सायुज्यभर्त्रे प्रणिहितसुहृदेऽनेकशस्स्युः प्रणामाः ॥ ६ ॥
काश्यामगस्त्याश्रमपत्तनस्य मे सत्यनारायणशास्त्रिणो वै ।
हृद्यानि पद्यानि समर्पितानि स्युस्तन्मनस्तोषकराण्यजस्रम् ॥ ७ ॥

प्रणामाञ्जलिः

(विद्वद्वर पं० श्रीसभापतिजी उपाध्याय, सदस्य-विधान-परिषद्, उत्तरप्रदेश)

काश्यां वेदविदांवरेष्वपि वरो नित्ये विधौ तत्परस्-
त्रेताहोत्रपरायणो बहुगुणो विद्वद्गणैर्मानितः।
आढ्यानां प्रवरेण विड़्लविरलाराजेन राजायितो
हिन्दूविश्वविभूषिते जनहिते विद्यालये धार्मिके ॥ १ ॥
भागेऽध्यक्षपदे स्थितो बहुविधां सम्पादयन्नुन्नतिं
विद्याव्याहृतितो गतो बहुतरं श्रीमालवीयादरम्।
षड्वर्गस्य रिपुर्ममापि सवयाः सौहार्दपाथोनिधि-
र्विश्वस्य प्रभुणाऽवलम्बितशयो विद्वत्तनूजैर्नुतः ॥ २ ॥
आवृत्तेन महापदेन महितोपाध्यायतोऽलङ्कृतो
गौडीयश्रुतिसूरिता-प्रथयिता वेदार्थवैदुष्यभृत्।
प्रीणां शास्त्रपरम्परामनुसरन् विश्वेशतामाप्तवान्
श्रीविद्याधरनामको बुधपतिर्जीवेद्यशोभिश्चिरम् ॥ ३ ॥
नुतिस्रजोऽर्पयत्येताः विद्याधरमनीषिणे।
विधानपरिषत्सूरिरुपाध्यायः सभापतिः ॥ ४ ॥

प्रशस्तं जीवनम्

(सनातनधर्मोपदेशक पं० श्रीअखिलानन्दजी शर्मा, कविरत्न)

अस्ति प्रसिद्धमिह भूवलये समृद्धं मोदाय भूतलभुवां भुवनाधिपेन।
सृष्टं विशिष्टबहुभोगपरंपराभिर्जिन्देति राजनगरं दिशि पश्चिमायाम् ॥ १ ॥
यस्मिन्नभूद्यवनदर्पविमर्दनाय गोविन्दसिंहगुरुरुग्रतरप्रभावः।
शास्ता समस्तजनरक्षणदत्तचित्तः काले गते गुरुपरम्परया परीतः ॥ २ ॥
तत्रावसज्जनपदे सुगृहीतनामा धन्यः स कोऽपि बुधवर्णितदिव्यधामा।
गौडान्ववायतरणिः प्रभुदत्तनामा वव्रे यमुन्नतगुणं कुलजैव रामा ॥ ३ ॥
रामानुरागवशतः स विहाय पूर्वं भाग्योदयादभिजनं सह भृत्यवर्गैः।
मोदेन रोहितपुरं समवाप यत्र यज्ञेन यज्ञमयजन्त महीपदेवाः ॥ ४ ॥
तत्रारणिप्रमथनोद्भववीतिहोत्र-सन्तर्पणादहरहः सुसमिद्धदीप्तिः।
वेदाङ्गवेदपरिशीलननीतकालो वृद्धिं जगाम धनधान्यसमृद्धभोगैः ॥ ५ ॥
पद्मोद्भवाननविनिःसृतमन्त्रवर्गाः सृष्टिं यथाऽऽविविशुरप्रतिषिद्धवेगाः।
वेदास्तथाध्वरविधाननिविष्टबुद्धेरास्यादमुष्य जगदाकलयांबभूवुः ॥ ६ ॥

सर्वत्र विश्रुतकथं निगमैकचर्चं गौडान्ववायतिलकं प्रभुदत्तमेनम् ।
गौराङ्गभूपतिरुपाधिसमर्पणेन सर्वोच्चतामनयदद्भुतमेतदासीत् ॥ ७ ॥
वंशाभिवृद्धिमभिवाञ्छति यायजूके तस्मिन्विधेः करुणया समयः स कोऽपि ।
तत्रागतः सकलमेत्र कुलं द्विजानां येनाभवन्मुदितमत्र महोन्नतानाम् ॥ ८ ॥
शर्वाक्षि - वेद - निधि-शीतगुलब्धसंख्ये श्रीविक्रमार्कनृपतेः समयात्प्रवृत्ते ।
वर्षे वधूर्नियतिनिर्मितदिष्टयोगात्सद्यो नवप्रसवकालमभिप्रपेदे ॥ ९ ॥
कालक्रमानुगतपौषतमिस्रपक्ष-शुक्रत्रयोदशमुपेत्य तिथिं च भव्यम् ।
प्रासोष्ट तं तनयमुग्रतरप्रभावं यस्यावदानमधुनापि वदन्ति विज्ञाः ॥१०॥
जातस्य तस्य तनयस्य विधेर्विधानादेकादशेऽहनि पितास्य चकार मोदात् ।
अन्वर्थमेव चतुरक्षरमिष्टदिष्टं विद्याधरेति विशदं किल नामधेयम् ॥११॥
अन्नाशने कुलजनैरुपनीयमानं नानाविधं शिशुरसौ करणं विलोक्य ।
पस्पर्श दक्षिणकरेण पुरो निविष्टं वेदं समस्तमपि वेष्टनबद्धपत्रम् ॥१२॥
तादृग्विधं चरितमस्य विलोक्य तत्र तातः प्रसन्नहृदयो हृदये दधार ।
शिक्षाक्रमं निजशिशोर्निगमप्रधानं वेदोपवेदपरिशीलनदत्तचित्तः ॥१३॥
पारस्करानुमतमस्य शिशोः क्रमेण गर्भाष्टमे व्रतनिबन्धनमारचय्य ।
यज्ञोपवीतमपि स प्रभुदत्तनामा विद्याधरस्य निगमाध्ययनं ततान ॥१४॥
शिक्षादिकं समधिगत्य षडङ्गजातं तातादयं प्रवणधीर्जगति प्रसिद्धाम् ।
वेदत्रयीमपि जटाघनभेदभिन्नां यज्वा बभूव विविधाध्वरमार्गविज्ञः ॥१५॥
जन्मान्तरागतविशुद्धमतेरमुष्य सङ्केतमात्रमधिगत्य हृदि प्रविष्टाः ।
भासो यथौषधगणं रजनीमुपेता विद्यास्तथैव मुदिताः शरणं प्रपन्नाः ॥१६॥
सर्वाः समाप्य सहसैव पितुः समीपे विद्याः क्रमेण निगमागमभेदभिन्नाः ।
विद्याधरोऽयमधिकं प्रमदाद्दिदीपे भास्वानिवोत्तरगतिं प्रतिपद्य सद्यः ॥१७॥
दारक्रियोचितदशं वयसि प्रविष्टं तातो विलोक्य तनयं तनयां प्रपन्नाम् ।
वैवाहिकेन विधिना प्रतिगृह्य गृह्यं कृत्यं समस्तमपि तस्य चकार यूनः ॥१८॥
अत्रान्तरे विधिवशादुपपन्नमेकमामन्त्रणं समनुगृह्य महाध्वरस्य ।
विद्याधरः स्वजनकेन समं जगाम वङ्गप्रतिष्ठितमहन्नगरं गरीयः ॥१९॥
तत्राध्वरे विविधकर्मठयायजूकैराराधितः प्रचुरवित्तमुपेत्य तुष्टः ।
विद्याधरः स्वजनकेन समं जगाम वाराणसीं शिवपुरीं शिवदर्शनाय ॥२०॥
सम्प्राप्य पुण्यपरिपाकवशेन सद्यः श्रीविश्वनाथनगरीमतिवाह्य रात्रिम् ।
प्रातर्ददर्श विनतो गिरिजागिरीशौ ब्रह्मादिदैवतगणैः परितः परीतौ ॥२१॥
तिष्ठात्र बान्धवजनैः सह सर्वदेति सन्देशमाप्य शिवयोः कृतनिश्चयोऽयम् ।
विद्याधरः सह कुटुम्बिजनैरिहैव वासं चकार निगमागमतत्त्वनिष्ठः ॥२२॥
श्रौताग्निमत्र विधिना निगमोदितेन संस्थाप्य पूर्वपुरुषानुगतं प्रशस्तम् ।
नित्यं तदर्चनपरः समयं मिनाय नानाविधैर्निगमपाठनसम्प्रयोगैः ॥२३॥
कालान्तरे विधिवशान्निगमागमानामध्यापनाय महतीं पदवीमुपेत्य ।
वङ्गीयविश्रुतबुधैरभिमन्त्रितोऽयं वङ्गोदरस्थितमियाय पुरं प्रसिद्धम् ॥२४॥

अध्याप्य तत्र नगरे कतिचिद्दिनानि गौराङ्गभूपतिसमर्पितमादरेण।
दिव्यं महोच्चपदमप्यधिगत्य सद्यो वाराणसीं पुनरियाय पितुर्निदेशात् ॥२५॥
अत्रागतेन किल काशिकहिन्दुविश्वविद्यालये धृतमहोच्चपदेन तेन।
विद्यार्थिनः करुणया विविधप्रदेशादत्रागताः स्वसमतां विनयेन नीताः ॥२६॥
वाराणसीपरिसरे निजहिन्दुविश्वविद्यालयं मदनमोहनमालवीयः।
सम्पाद्य यं प्रथममेव गुरुं चकार विद्याधरः स किल केन न वन्दनीयः ॥२७॥
तातस्मृतिं भुवि चिराय विधातुमारात्तन्नामधेयगतवर्णविशिष्टलेखम्।
विद्यालयं निगममार्गनिदर्शनाय संस्थाप्य यः स्वजननं सफलीचकार ॥२८॥
नानानिबन्धरचनाचतुरोऽयमिष्टं कात्यायनादिमुनिभिः कृतसूत्रतन्त्रम्।
श्रौतं पथं सरलभाष्यपदैर्नियोज्य यज्ञक्रमं बहुविधं विशदीचकार ॥२९॥
वाराणसेयधनिकव्रजकल्पितेषु विद्यालयेषु नियतं समयं प्रदाय।
विद्याधनं स्वगतमेष कुबेरकल्पो विश्राणयन्निजकुलं प्रथयांबभूव ॥३०॥
धर्मे निवेश्य हृदयं सततं विदेश-यात्रानुरक्तमनसो मनुजानमन्दम्।
विद्राव्य यः किल धनादिकमप्यपास्य तद्दत्तमत्र वचसापि न तानगृह्णात् ॥३१॥
भेदं कुलागतमुदस्य निजे समाजे सम्बन्धतत्परमतीनयमेकवीरः।
सद्यो विहाय सहसा सहभोजनेऽपि, वैरुध्यमेव समितिष्वगमत्प्रसङ्गात् ॥३२॥
दैनन्दिनक्रमगतं नियताग्निहोत्रं द्रष्टुं दिगन्तरगता अपि यस्य लोकाः।
काशीमुपेत्य बहुविस्मयमेव जग्मुः किं तस्य विश्रुतकथस्य कथाभिराभिः ॥३३॥
पुत्रीद्वयं तनयपञ्चकमत्र लोके पौत्रानपि प्रथितसद्गुणबद्धभावान्।
सायुज्यमाप्तुमजरं शिवयोर्विहाय सद्यो बबन्ध गमने मतिमद्वितीयाम् ॥३४॥
वस्वङ्कनन्दविधुसङ्कलितं तमेव जन्मानुगं दिवसमेत्य सुखेन वर्षम्।
विद्याधरोऽयमतिवाह्य शशाङ्कमौलेः सायुज्यमापदतिपुण्यवशेन लभ्यम् ॥३५॥
एतावदस्य चरितं विशदं विचित्रं मैत्रीमुपेत्य समये समयेऽनुभूतम्।
आनृण्यमाप कविरेष सनाढ्यवर्यो भाग्यादनूपनगरे वृतदिव्यवासः ॥३६॥

वेदोद्धारक म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौड

(शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री गौड)

अणीयसां जन्मनिवासभूमि—
त्यागो, विपत्त्यै महतां सुखाय।
अब्धेरपेता मणयो व्रजन्ति
राज्ञां शिरः काक-मुखानि भेकाः ॥

संस्कृत साहित्य का यह प्रसिद्ध आभाणक वेदाचार्य स्वर्गीय म० म० श्रीविद्याधरजी शास्त्री गौड महोदय पर सोलहो आने चरितार्थ होता है। आप हरियाना प्रान्त की उस उर्वरा भूमि में उत्पन्न हुए थे, जो कभी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की जन्मभूमि होने का गौरव रखती थी, किन्तु कुटिल कराल काल के प्रभाव से वह बहुत समय से वैदिक-वाङ्मय के लिये ऊषर—सी हो चली थी।

हमारे चरित नायक के पूज्य पिता म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री ने काशी में पहुँचकर वैदिक साहित्य में अद्भुत दक्षता प्राप्त की, जिससे पञ्चगौडों का, विशेषतया 'गौड' जाति का मुख उज्ज्वल हो गया। पञ्चगौडों में सर्वप्रथम यही एकमात्र व्यक्ति माने जा सकते हैं जिन्होंने इस युग में काशी जैसे विद्या केन्द्र में वेद-विद्या में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त किया। दाक्षिणात्य पञ्चद्राविडों में जो वैदिक विद्वत्ता प्रसिद्ध थी, वह केवल वेद के मूल पाठमात्र तक ही सीमित थी, परन्तु श्रीविद्याधरजी ने मूल तथा अर्थभाग दोनों में ही अपूर्व विद्वत्ता प्राप्त करके भूमण्डल के वैदिकों में सर्वातिशायी गौरव प्राप्त किया। प्रभु की कृपा से तीसरी पीढ़ी में भी शास्त्रीजी के योग्य वंशधर वैदिक परम्परा का स्वकुलक्रमागत गौरव बढ़ा रहे हैं जिनमें पं० श्रीवेणीरामजी वेदाचार्य अन्यतम हैं, जो काशीस्थ गोयनका संस्कृत कालेज में वेदों के अध्यापन में तत्पर रहते हैं और भारत में यत्र तत्र सर्वत्र मुख्य-मुख्य यज्ञानुष्ठान, प्रतिष्ठा-महोत्सवादि में आमन्त्रित होकर 'आचार्य' पद को अलंकृत करते हैं।

धर्म्मक्षेत्रे प्रसिद्धे कुरुनृप - रचिते स्थानपिण्डारकाख्ये,
खेड़ी-ग्रामे द्विजानां सुविदितयशसां भूपतिस्तोत्रभाजाम्।
प्रभ्वग्र्यो दत्तनामा निगमविधिनिधिर्गौडवंशावतंसो,
लेभे काश्यां वसन्योऽनवरतयजनाद् अग्निहोत्रि-प्रशस्तिम्॥ १ ॥
दीपाद्दीप इव प्रवर्तित अहो! तत्सूनुरग्रेसरः,
श्रीविद्याधरशर्मगौडविदितो विद्याधरो मूर्तिमान्।
दृष्ट्वा यच्छ्रुतिकर्म्मकाण्डगुरुतां श्रीमालवीयः[1] सुधीः,
वेदाचार्यपदेऽभिषेकमकरोत् श्रीविश्वविद्यालये॥ २ ॥
'विद्या ददाति विनयम्' कविसूक्तिरेषा,
कण्ठी कृता त्वनुदिनं श्रुतिमेवि लोके।
अस्याः पुनर्जगति सार्थकता तु दृष्टा,
विद्याधरे द्विजवरे विनयावतारे॥ ३ ॥
यो विद्ययाऽऽसीत्सुमहान्महात्मा,
महत्तमश्चापि सुशीलवृत्त्या।
अतो महत्त्वद्वययुक्तमस्मै,
ददावुपाध्याय[2]पदं स सम्राट्॥ ४ ॥

१—महामनाः श्रीमदनमोहनमालवीयः। २—महामहोपाध्यायपदवीम्।

गौड़ा महाराष्ट्रभवाः सगुर्जराः,
सकान्यकुब्जा अपि मैथिलास्तथा।
सारस्वता दक्षिणदेश - वासिनो-
यच्छिष्यतां प्राप्य कृतार्थतां गताः॥ ५ ॥

येनाऽऽम्नायविधिः कुकालवशतो गुप्तः पुनर्द्योतितो-
लुप्तं वैदिकवाङ्मयं पुनरहो! यत्नेन संरक्षितम्।
ते तेऽप्राप्यतमाः क्षयं प्रतिगता ग्रन्थाः सुसम्पादिताः,
श्रीविद्याधरशास्त्रिणां सुकृतिनां कां कां कृतिं ब्रूमहे॥ ६ ॥

अन्वर्थो ज्येष्ठपुत्रः स्वरचलनविधौ 'दोलता'[1] यस्य सिद्धा,
श्रीवेणीरामशास्त्री पितृसदृशगुणो मध्यमः कर्मठाग्र्यः।
अन्यैः श्रीमाधवाद्यैर्निगमनयरतैः पुत्रपौत्रैस्तदीयैः,
श्रीमद्विद्याधराणां भुवि विमलयशस्तन्यतेऽद्यापि काश्याम्॥ ७ ॥

विनशनक्षेत्रप्रभव इन्द्रप्रस्थेऽधुना कृताऽऽवासः।
माधवचरणसरोरुह - रसरसिकः शास्त्रिमाधवाचार्य्यः॥ ८ ॥

प्रसूनाञ्जलिः

(पं० श्रीब्रह्मदत्तजी द्विवेदी, अध्यक्ष—मुरारका संस्कृत महाविद्यालय, पटनासिटी)

पारम्पर्यक्रमानुबन्धिसौहार्दभाजा, याज्ञिकसम्राजा, प्रख्यातकर्मणा, श्रीवेणीरामशर्मणा, कथनोपकथनक्रमे विदितवैदुष्यप्रकर्षस्य, स्वीयतातपादस्य स्मृत्यङ्कोऽचिरादेव प्रकाशयिष्यते। तत्र भवताऽपि लेखो देय इति निर्दिशता तत्सम्बधिविषयोपनिबन्धितं पत्रजातं प्राहीयत।

श्रद्धेयपादपाथोजस्य सर्वविद्याधरस्य पण्डितप्रकाण्डस्य श्रीविद्याधरस्य पितृसमस्य स्मृतौ द्वित्राण्यप्यक्षराणि यथाकथञ्चित् प्रयुञ्जीय तदा "कथन्न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति" इत्यनुसरन्नहं वाचः प्रसादयेयमिति धिया नतु पाण्डित्यस्य विख्यापयिषया स्वल्पमपि परं श्रद्धयोपनतं सादरं चरणकमलयोरर्पये पद्यप्रसूनाञ्जलिम्।

जायन्ते बहवः स्वकर्मवशतो भोगाय रोगाय वा
किं तैरत्र जनैरकार्युपकृतिः स्वल्पापि देव्याः श्रुतेः।
एवं व्याकुलमानसा सुरगवी युष्मद्विधैः सेविता
सोत्कर्षं गमिताऽधुना श्वसिति चेत्येतद्धि तथ्यं वचः॥ १ ॥

१—वेदमन्त्राणां स्वरपाठप्रत्ययार्थं दोरिति हस्तोपलक्षणम्, तस्य लतेव कम्पनाद् दौलतरामाभिधानमन्वर्थतां द्योतयति।

आलोड्य साधु सुधिया, श्रुतिसञ्चयाब्धिम्
पीयूषमीप्सितमिदं सुजनाय दातुम् ।
प्रीत्योद्धृतं सुरपतेरपि प्रार्थनीयम्
स्तुत्यो न कस्य भुवने बुधवर्य एषः ॥ २ ॥

विवेकविद्याविनयावदात-
विकस्वरानश्वरगीतकीर्तेः ।
वेदज्ञविद्याधरशर्मणः स्यात्
स्मृतिः सदालोकपथप्रदर्शनी ॥ ३ ॥

म० म० श्रीविद्याधरगौडमहाभागानां कानिचित् संस्मरणानि

(पं० श्रीकेदारनाथजी ओझा, प्राध्यापक—राजकीय संस्कृत कालेज, पटना)

मध्यमायां काशीहिन्दूविश्वविद्यालयेऽधीयानोऽयं जनो वैदिकप्रवरान् श्रीप्रभुदत्ताग्निहोत्रिमहोदयान् धर्मविज्ञानविभागाध्यक्षपदे प्रतिष्ठितान् श्रीविद्याधरवैदिकांश्च वेदप्रधानाध्यापनं निर्वहतः साक्षात्कृतवान्। तदानीन्तनीं पण्डितानां प्रतिष्ठामर्यादां स्मारं स्मारं रोमाञ्चमञ्चति, अवैतनिकमध्यक्षपदं प्रतिष्ठयैव भूषयन्तस्ते न प्रतिदिनं तत्रोपतिष्ठन्ते स्म, किन्तु विशेषपरिस्थितिसमये एव। काशीस्थवैदुष्यधार्मिकसदस्सु साभापत्यं पालयतः धर्मशास्त्रीयव्यवस्थासु अग्रणीतां प्रणयतो नैकशोऽपश्यत्। मम न्यायगुरवः पूज्यचरणस्वर्गीयश्रीशङ्करतर्करत्नभट्टाचार्यमहोदया मारवाड़ीसंस्कृतमहाविद्यालयेऽध्यापयन्तः प्रविदितवैदुष्या निस्पृहाश्च आसन्। पूज्यश्रीगिरीशशुक्लन्यायाचार्यमहोदयानां स्वर्गमनानन्तरं हिन्दूविश्वविद्यालये न्यायप्रधानाध्यापकपदे पाण्डित्यप्रणयिनस्तर्करत्नचरणानेवाभिषेक्तुमकामयन्, परं निस्पृहास्तेऽङ्गीकुर्वाणा अपि प्रार्थनापत्रप्रदानं निराकुर्वाणा आसन्, तदानीं नियोजनविधिर्व्यवस्थापत्रादिकं श्रीप्रभुदत्तमहोदयानां प्रभावेण वचसा च समाहितम् अभूत्। धन्यो हि स समयो यत्र सन्ध्याया उपासकास्तत्र भस्मन आवश्यकताञ्च मन्वाना बहव आसन्, सायमस्याग्निहोत्रिणो गृहे आशुतोषादिव प्रतिदिनं विभूतिं लभमाना जनाः प्रमोदमासादयन्ति स्म। पश्चाच्च श्रीविद्याधरगौडमहोदया धर्मविज्ञानविभागाध्यक्ष्यं कुर्वाणा मम गुरुस्वर्गीय म० म० पं० श्रीबालकृष्णमिश्रचरणैः सह मैत्रीमाश्रयन्तोऽनुकम्पायाः पात्रं मामसकृदकुर्वन्। १९३६ ईश्वीयवत्सरे च वैदिकगवेषणायां नियोजितोऽयमकिञ्चनो वैदुष्यसम्पर्कसौभाग्यमपि अलभत इत्यधमर्णः स्मृतिग्रन्थसम्पादनरतान् विदुषो धन्यान् मन्यमानो विरसान्यपि श्रद्धाधौतानि सदोषाणि तु दोषज्ञदोर्भ्यामर्पणीयानि इमानि पद्यानि उपहरति।

प्रभुदत्त विधुं बुधमण्डलगं पितरं विदुषां श्रुतिशास्त्रवहम् ।
गुरुदीर्घशरीरसदाचरणं शरणं प्रणमामि मनोज्ञरुचम् ॥ १ ॥

आयातः प्रभुदत्तधीरनिलये काश्यां विभूतिप्रदे
आक्रीडन् शिवदत्तसोदरलघुन्यायेन न्यायप्रियः ।
मीमांसामधुरं रसं कविकृतेर्व्याख्यासुधां व्याकृतेः
आस्वादंश्च समस्तवैदिकसुधां विद्याधरोऽराजत ॥ २ ॥

गौराङ्गे भृतभूतिभालपटले दीर्घोत्तरीयच्छटे
सौजन्यामृतपूतसौम्यसरले हास्येन्दुभासं वहन् ।
नेत्रे नीरजसुन्दरे प्रतिजनं स्निग्धे प्रफुल्ले नयन्
गाङ्गं वारि निषेवयन् स्मरहरो ध्यानेन शान्तिप्रदः ॥ ३ ॥

काश्याः पण्डितपुण्डरीकमिहिरो हीरः श्रुतेर्भूषणः
वेदध्वानचतुर्मुखो नु विमुखो वासश्छटारोधनात् ।
धर्माचारविचारचारुचरितः शान्तो रसो मूर्तिमान्
नीतिं धैर्यमुदारताञ्च जनयन् विद्याधरो मानवान् ॥ ४ ॥

नित्यं होत्रविधिं विधाय विविधान् विद्यार्थिनोऽध्यापयन्
कर्माणि श्रुतिनिर्णितानि सकलस्मार्तानि कुर्वन् ददत् ।
आचार्यश्चरणादसौ कृततया विद्याधरोऽभूद् बुधः
तं वन्दे सुचिरं स्मरामि कृपया यस्यास्मि वृद्धिं गतः ॥ ५ ॥

म० म० पं० श्रीविद्याधरगौडमहोदयानां संक्षिप्तपरिचयः

(पं० श्रीमहादेवजी उपाध्याय, प्राध्यापक--वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

अनेकजनिसञ्चितं दुरपनेयमंहोव्रजं
स्मृतापि गहनं यथा दहति दीप्तदावानलः ।
अनादिसमयाज्जगद्विदितभूरिसूरिप्रसूः
गिरीन्द्रतनुजापतेर्जयति काशिकेयं पुरी ॥ १ ॥

विलक्षणविचक्षणव्रजपरम्परायामियं
तनूजमुदपादयत् निगमबोधभारालसम् ।
पद-क्रम-जटा-घनस्फुटनिवासभूताननं
यमाहुरपरं विधिं प्रभुपदादिदत्तं मुनिम् ॥ २ ॥

महेश्वरगिरिं यथाऽचलकुले, मणिं कौस्तुभम्
सुरत्ननिचये, विभाकरमिव ग्रहाणां ततौ।
अवापदमितद्युतिं सकलतन्त्रपारं गतं
यथार्थविदिताऽभिधं सुतवरेण्यविद्याधरम् ॥ ३ ॥

शुभार्थनिधिदर्शनागमनिवासभूताकृती
कृतिप्रवरविश्रुताधिकसमेधमानद्युती ।
अवाप्य शिवदत्तमन्तभवदेवदत्ताभिधं
समानजनुषौ बुधोऽद्युतदतीव यो वह्निवत् ॥ ४ ॥

समस्तनिगमप्रथाऽभ्यसनपाटवे विश्रुताः
गताः श्रवणगोचरं प्रमुखवैदिका नैकशः ।
षडङ्गसमलंकृताविकलवेदतत्त्वार्थवित्
प्रतीतिपदवीं गतो जगति नैव यस्मादृते ॥ ५ ॥

मदीयशुभयत्नतो जगति शर्मभाजो जनाः
भवन्तु नहि दृक्पथे पततु कोऽपि खेदान्वितः ।
चकास्तु विदुषां चयः सपदि पूर्णविद्याधरः
इयं मतिरलौकिकी स्थिरतराऽऽस्त यस्मिन् बुधे ॥ ६ ॥

गतस्य शिवरूपतामपि समग्रविद्याम्बुधेः
शरद्विमलचन्द्रिकासमसमज्ञयाऽलंकृतम् ।
प्रपञ्चभविकप्रदं चरितमत्र देशेऽखिले
प्रसारयति नित्यशोऽगणितशिष्यसन्मण्डली ॥ ७ ॥

चत्वारोऽस्य सुताः परस्परमतिस्पर्धातिरेकान्विताः
गम्भीराकृतयः प्रभूतजनिमत्सेव्या नदीशा यथा ।
आश्चर्यैकनिदानशक्तिनिचिताः कंसद्विषो वा भुजाः
विद्याभिर्वरकीर्तिमस्य विदुषस्तन्वन्ति दिक्षु स्थिराम् ॥८॥

परार्थबद्धकच्छानां विद्यासम्प्लुतचेतसाम् ।
विद्वत्सुराणां पदयोः श्रद्धया नतिरस्ति मे ॥ ९ ॥

वेदविदां वरिष्ठः

(पं० श्रीकालीप्रसादजी मिश्र, भू० पू० प्राचार्य, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

एकोनविंशत्यधिकैकोनविंशतिशततमे-ईशवीये वर्षे यदाहं षड्वर्षाणि प्रयागस्थश्रीधर्मज्ञानोपदेशसंस्कृतपाठशालां निषेव्य अधिकाशि श्रीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य प्राच्यविद्याविभागे वैयाकरणकुलकुमुदकलाधराणाम् अन्तेवासिविकाशिताखिलदिशां महामहाविदुषां श्री १०८ पं० देवनारायणत्रिपाठिमहोदयानां वाराणसेयराजकीयमहाविद्यालये राजकीयैस्सत्कृत्य नियुक्तयनन्तरं रिक्तं तदीयं पदं पण्डितराजश्रीरामावतारशर्मणामध्यक्षतायामग्रहीषम् तदा "विश्वविद्यालये पदग्रहणावसरे प्रायः पण्डिताः प्रथमतस्तत्राध्यापनक्रियापराणां विशिष्टविदुषां दर्शनं कुर्वते" इति प्रथामनुरुन्धानोऽहमपि बहूनां दर्शनानन्तरं वेदकक्षां प्राविक्षम्, तदा प्रथमं दर्शनं श्रीविद्याधरमिश्रमहोदयानां जातम्। सुलभस्नेहासिक्तस्वान्तोऽयं महात्मा दृष्ट्वैव मां बाहुभ्यां परिष्वज्य "गोत्रं नो वर्धताम्" इति प्रसादवाक्यमुच्चैः साह्लादमवोचत् अपृच्छच्च "काश्यामिह कुत्र कुतो निवासः? अस्ति च तत्र सुखावहाऽऽवाससामग्री? किञ्चिदपेक्ष्यञ्चेद्विना संकोचं वक्तव्योऽहम्, यथाशक्ति सौविध्यं सम्पादयितुं यतिष्ये" विद्यालयस्य लेखकं कर्मकरञ्चाहूय मम पुरस्तादेव समादिक्षत् "एतस्य कृते यद्यदपेक्षितं भवेच्छीघ्रं सम्पादय, उपलक्ष्मीकुण्डं भृत्या गृहीते छात्रावासभवनेऽस्य संरक्षकपदे द्रुतं नियुक्तिर्भवितेति समितौ भृशं चर्चितं सदस्यैः। अतो यावन्नियुक्तिर्नास्ति तावदेतस्य निवासायापि प्रबन्धः पर्यालोचनीयः" इत्यादिमदीयहितकरं निखिलं निश्छलं व्यवहारं विलोक्य मनसैव मया चिन्तितम् अहो! अकारणबान्धवस्यास्य मयि कियती अनुकम्पा!! न मनागपि मया कदाचित् दृष्टपूर्वः, अतो न ममास्ति कश्चिदुपकारलेशोऽपि। प्रायो विद्वांसोऽपि ब्राह्मणा विजातीयपण्डितानेकव्यवसायव्यवसितमतीनालोक्य नातिप्रसन्ना निशाम्यन्ते, एष च मयि नितान्तं प्रीतिमानिति, मन्ये नित्यनैमित्तिकोपासनादिकर्मानुष्ठाननिर्मलीकृतान्तःकरणानां वेदविदामेतादृश्येव भवति चर्या असंस्तुतेष्वपि जनेष्विति मनसि चिन्तयन्नेतस्य महिमानं कथमपि तदनुमत्या स्वकक्षां प्राविशम्। उत्तरेद्युरपि प्रकृतिमधुरो दयापरवशान्तःकरणः स मदीयनिवाससौविध्यादिविषये लेखकादीनमन्त्रयत। समलपच्च मया सह विद्यालयविषयकं विविधं कार्यजातमाश्रित्य। निजगुणगौरवेण प्रतिभापटीयस्तया च प्रायः सर्वाभिर्विद्यालयकार्यकारिसमितिभिस्सदस्यत्वेनैष गृहीतपूर्व आसीत्। अकामयत च ममापि सम्पर्कं तास्विति विनैव ममोपरोधं परीक्षकसमितेः सदस्यतया शीघ्रमेव मामयोजयत्। एवमेव छात्रवृत्तिवितरणसमितेरपि सदस्यं व्यधत्त। व्याहरच्च विद्यालयस्य समितिद्वयीयं विशेषतः कार्यकारिणीति भवतां साहाय्यं कामयमानोऽहं भवतामुपरि भारमारोपयितुं विनाऽनुमतिं दुस्साहसमकार्षमिति। एतेनापि मदीयहितानुबन्धिव्यापारविशेषेण नितान्तं प्रमोदसन्दोहमन्वभूवम्। आगते छात्रवृत्तिवितरणसमये प्राच्यविद्याविभागधर्मविज्ञान-

विभागाभ्यां विभक्तेषु च्छात्रजनेषु स्वपरभिदामभजमान एव वृत्तिं व्यतारीत्। प्रायो वृत्तिवितरणे स्वापेक्षितेभ्यो वृत्तिलोभाय चेष्टमानाः कतिपये दृश्यन्ते, परन्त्वेष भावो विद्यावैभवभासुरेऽस्मिन् न कदापि लक्षितो मया लेशतोऽपि। एवं बहूनि वर्षाणि मया सहास्य सहयोगोऽजायत, यत्रावयोः स्नेहः परस्परमुपचीयमान एवादृश्यतोपासितगुरुजनैश्छात्रवृन्दैर्विद्यायशोभासुरमानसैर्विद्वद्भिश्चापि।

काशीस्थविद्वन्मण्डलीमण्डनायमानोऽयं वैदिकशिरोमणितया सहैव धर्मशास्त्रवैदुष्यधुरामपि दधान आसीत्। अत एव भारतीयास्ततोऽन्यत्र निवसतां भारताभिजनानाञ्च नानाविधा जटिला व्यवस्था अपि निर्णयाय एतत्सविधे आगता व्यलोक्यन्त। क्लिष्टा अनिर्णीताः केवलं कल्पनासाध्या बहुविधा व्यवस्थाः स्वयं निर्णीय व्यवास्थापयदिति पूज्यश्रीमालवीयमहोदयानामपि वात्सल्यमत्र प्रबलं प्रचुरञ्चासीत्। देशस्यास्य प्रधानतमनायकतया, संस्कृतवैदुष्येण, सिद्धान्तप्रियतया, स्वातन्त्र्यप्राप्तिप्रबललग्नतया च देशस्य सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक-साहित्यिकादिविविधविषयेष्वपि कार्त्स्न्येनाधीती पूज्यमालवीयमहोदयोऽपि विविधव्यवस्थानिर्णयपरः प्रतिदिनमासीत्। तद्यथा—ब्राह्मणानां हलग्राहिता, द्वादशाब्दात् परतरे वयसि कन्याविवाहः शास्त्रसम्मतो निषिद्धोऽविचारितो वेति। एवमेव षडक्षर-द्वादशाक्षरमन्त्रप्रदानेन अस्पृश्याः द्विजत्वं सच्छूद्रत्वं वा लभेरन्न वा? एवंविधानां प्रश्नानामुत्तराणि चिन्तयन् चिन्तयितुं प्रेरयंश्च तात्कालिकपण्डितजनान् निश्चितप्रज्ञो निश्चयपरो बभूव। अतः प्रतिदिनं प्रतिमासञ्च विषयमेनमाश्रित्य विदुषां परस्परविवादेन पूज्यश्रीमालवीयमहोदयैरपि समं विवादौ प्राभूतामेव। तस्मिन् काले पण्डितप्रकाण्डस्यास्य प्रभावं पाण्डित्यञ्च विलोक्य स्पर्धमाना अपि एतद्यशोभिः स्पर्धमाना एव अभूवन्। बहवस्तत्समकक्षविद्वांस एतदीयमतज्ञानात्पूर्वं स्वमतं प्रकाशयितुं कदापि न अचेष्टिषत। बहुत्र पूज्यश्रीमालवीयमहोदयानां स्वातन्त्र्यप्राप्तिपराणां मतेन भिन्नं मतं प्रकाशयत्सु पण्डितजनेष्वेतदीयं नाम प्रथममासीत्। अतो धर्मे दृढत्वं स्पष्टं प्रतिभासते, श्रीमालवीयमहोदयस्य धर्मप्रियस्य शास्त्रपरवशस्यापि स्वातन्त्र्यप्राप्त्यनन्तरं संस्कृतभाषाप्रसूताया वर्णाश्रमकल्पलताफलीभूताया भारतीयायाः संस्कृतेः शास्त्रीयपरिश्रमप्रजातप्रतिभासरिद्भिः सेचनं कृत्वा तद्रक्षापरा भवेमेत्येव मतिरासीन्नतु शास्त्रातिक्रमे। स श्रुतिं मातरमिव हितकारिणीं सर्वदा अस्मार्षीत्।

एकदाऽधिप्रयागं मकरस्थे भास्करे पूज्यश्रीमालवीयमहोदयैरायोजिते सदसि काशीस्थाः सर्वे वैदिकाः शास्त्रज्ञाश्च निमन्त्रिता आसन्। मकरे गङ्गास्नानफलेन प्रेरिता अपि बहवोऽगच्छन्। तत्र यागोऽपि कश्चित् प्रारभ्यत। पूज्यश्रीमालवीयमहोदयस्तदानीन्तनभारतीयदेशनायकेषु सर्वाधिकप्रभाववानासीत्। अतो यागीयदीक्षाग्रहणाय नासीदवसरः, मया पृष्टो महाराजोऽभ्यधात्—को ह्ययं संशयस्यावसरः पण्डितप्रकाण्डे, सदाचारपूते, पण्डितकुलप्रसूते, वेदविदां वरिष्ठे, मीमांसामांसलप्रज्ञे, बाल्येऽधीतव्याकरणतया उपस्कृतशब्दसुन्दरभाषिणि, पण्डितप्रवरे

श्रीविद्याधरे विद्यमाने। स एव यजमान आचार्यश्च भवत्विति प्रार्थयते मालवीयः।

एवमेवैकदा पण्डितगोष्ठीषु कश्चिद् वैयाकरणतल्लजः पण्डितप्रकाण्डमेनमप्राक्षीत्—"अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां मृदमुत्क्षिप्य" इति वाक्यं मुहुः पठन्ति वैदिकाः, 'परमिदमशुद्धमस्तीति। निशम्यैतत्त्वरितं महानुभाव एष व्याहार्षीत् "शुद्धमपि भवितुमर्हति, यद्यपि प्राण्यङ्गवाचकतयैकवद्भावेन नपुंसकत्वमेकत्वञ्च व्याकरणेन बोध्यते, तथापि एकवद्भावोत्तरम्भाविनमेकशेषं न कश्चिन्निषेद्धुं प्रभविष्यति" इति। तत्रत्याः सर्वे वैयाकरणा निशम्यैतादृशीं व्याकरणव्युत्पत्तिं धन्यवादान् व्याहरन्तो मुदिता अभूवन्।

एवमेव "अथैनं वासः परिधापयति" इति वाक्यस्य साधुतायां सन्दिहानानभिलक्ष्य "परिदधातेरुपरिदेशसंयोगानुकूलव्यापारे शक्तिं कल्पयित्वा गत्यर्थकतया समाधानं विधायापि" सर्वान् वैयाकरणांश्चकितचकितानतनोत्।

मीमांसाशास्त्रीया प्रौढा व्युत्पत्तिस्तु कात्यायनश्रौतसूत्रस्य सरलां टीकां पश्यतां पुरस्तात्पदे पदे प्रकाशत एव। अनया टीकया च पञ्चगौडानां वैदिकविदुषां परमुखापेक्षिता त्याजितेति विद्वन्मुखात्प्रतिदिनं श्रूयते। टीकाया अस्या भूमिकायां वेदविषयको विविधो विचारः प्रदर्शितः। यदीयाऽध्ययनेन वेदस्य नित्यत्वम् अपौरुषेयत्वं तल्लक्षणादिकं चातीव प्रामाणिकपद्धत्या पर्यालोचितं निर्दिष्टं भासते। स्वल्पेनैव कालेन बहून् विद्यार्थिनो वैदिकान् विधाय तेभ्यो वृत्तिं प्रदाप्य च वेदस्य धर्मशास्त्रस्य सनातनधर्मस्य च यावानुपकारोऽनेन पूतात्मना विहितस्तं स्मरंस्तद्वियोगव्यथितहृदयो विरमति।

महामहोपाध्यायश्रीविद्याधरगौडमहोदयाः

(पं० श्रीलक्ष्मीनाथजी झा, वेदान्तविभागाध्यक्ष-हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)

महामान्याः वदान्याः महाविद्वांसः महामहोपाध्यायपण्डितश्रीविद्याधरगौडमहोदयाः प्रख्यातप्रतिभाः सम्पूर्णभारतदेशनिष्ठविराजमानकीर्तिपताकापटाः कुलपरम्पराऽऽयातसंस्कृतशेमुषीसमाराधनलब्धानवद्यविद्यावैभवाः गौडकुलकमलभास्कराः, औदार्यमधुरसत्यवचोभिः अनेकेषां ग्रन्थानां निर्माणैः प्रकाशनैः लेखादिभिश्च सर्वेषामेव मदीयोऽयमिति बुद्धिमुल्लासयन्तः परमपूजनीयतामधृषत। युक्तमेवैतेषामेतत्सर्वम्, यदाहुः प्राञ्चो विपश्चितः—

विद्यया वपुषा वाचा वस्त्रेण विभवेन च।
नरः पूज्यत्वमाप्नोति वकारैः पञ्चभिर्युतः॥ इति।

एतदपीमेऽतिशेरते स्म, यत एते विद्याधरेति स्वनाम्न्यपि वकारं धारयन्तोऽतिपूज्यत्वप्रयोजकं षड्वकारवत्त्वमशिश्रियन्। एते च स्वकीयपितृचरणेभ्यः विद्वद्धौरेयेभ्यः महामहोपाध्यायश्रीप्रभुदत्तशास्त्रिभ्यः वेदकर्मकाण्डग्रन्थानन्यांश्च विद्याप्रकर्षकारकान् ग्रन्थान् श्रमक्रमाभ्यां सम्यगधीतवन्तः। काशीविश्वविद्यालये बहूनन्तेवासिनोऽध्याप्य प्रौढपाण्डित्यं समपादयन्, अत एतैर्बहवो विद्वांस उपकृताः, मैथिलाश्च विशेषतः स्नेहभाजोऽभूवन्। एतेषां महानुभावानामस्माभिरतिपरिचितानामपि गुणगणकीर्तने यथावत्स्वरूपाधिगमने च न सर्वथा वयं शक्नुम इत्युपरमाम इति शिवम्।

———

श्रद्धाञ्जलिः

(पं० श्रीगोपालशास्त्रीजी दर्शनकेसरी, आचार्य, ज्योतिर्मठ, बदरीनाथ)

वाराणस्यां महामहोपाध्यायपण्डितश्रीप्रभुदत्तशास्त्रिगौडमहोदया अग्निहोत्रिणः परमप्रसिद्धाः महावैदिका विद्वांस आसन्। एतेषां ज्येष्ठपुत्राः महामहोपाध्यायपण्डितश्रीविद्याधरशास्त्रिणोऽपि तथैव महाविद्वांसोऽभूवन्। पूज्यपादपण्डितश्रीपद्मनाभशास्त्रिमहोदया मत्पार्श्वे एतेषां कुलपुरुषाणां प्रशंसां कृत्वा कथयन्ति स्म "यत् पश्यतु कीदृग् हि पण्डितविद्याधरशर्मा काश्यामद्वितीयो वैदिको विद्वान् सरलस्वभावो विद्यते, यत्तस्य पार्श्वे अभिमानस्य लेशोऽपि नास्ति। स हि काशी-हिन्दूविश्वविद्यालयस्य धर्मविज्ञानविभागाध्यक्षो विद्यते। तस्य विशिष्टां विद्वत्तां निरीक्ष्य भारतभूषणमहामनःपण्डितश्रीमदनमोहनमालवीयोऽपि मुक्तकण्ठप्रशंसां करोति" इत्यादिगुणकीर्तनं श्रीविद्याधरशास्त्रिमहोदयस्य बहुधा सर्वेषां समक्षे कुर्वन्ति स्म।

प्रशस्तकुलानामेषां मया सह परिचयस्तु बाल्यकालादेवासीत्। मयापि स्वयं श्रीविद्याधरगौडमहोदयानां विशिष्टवैदुष्यस्य, शीलस्य, स्वभावस्य च बहुशोऽनुभवः कृतो विद्यते।

कार्यवशादस्माकं श्रीविद्याधरगौडमहोदयगृहे गमनं स्यात्तदा तत्र साक्षाद्वेदस्वरूपं श्रीगौडमहोदयं अग्निहोत्रहवनं कुर्वन्तं द्विजेभ्योऽग्निहोत्रभस्म ददतं स्वशिष्यानध्यापयन्तं वेदकर्मकाण्डादिविषयकं कमपि ग्रन्थं लिखन्तं कलिकाता-बम्बई-दिल्ली-कानपुर-नगरेभ्यः समागतानां पत्राणामुत्तरं लिखन्तं उपस्थितानां जिज्ञासूनाञ्च प्रश्नस्योत्तरं ददतं पारिवारिकजनान् शास्त्रीयं व्यावहारिकञ्च किञ्चिदुपदिशन्तं दृष्ट्वा मम मनसि महदाश्चर्यमुदपद्यत यद्यापि वाराणस्यां ईदृशा विद्वांसः सन्ति ये रात्रिन्दिवा केवलं "अध्यापनं अध्ययनम्" इति मन्वादिस्मृतिवचनं सार्थकं कुर्वन्ति। वस्तुतः श्रीविद्याधर-गौडमहोदयाः बृहस्पतितुल्या एव आसन्, येषां पार्श्वे विविधशास्त्राणां भाण्डार एव आसीत्, यस्य प्रभावेण समस्तभारतवर्षीयवैदिक-विदुषां मध्ये तेषां प्राधान्यमासीत्।

श्रीविद्याधरशास्त्रिमहोदयाः समस्ते भारते सर्वत्रैव श्रौत-स्मार्त-यज्ञानुष्ठातुं समाहूता आचार्यपदे प्रतिष्ठिता गच्छन्ति स्म। बहुषु यज्ञेषु धर्मोपदेशार्थं प्रायस्ते ममाह्वानं कारयन्ति स्म। तत्र चाहं तेषां विशिष्टं सम्मानं यजमानैः क्रियमाणं वीक्ष्य चकितचकितो भवामि स्म। यत्र समुपस्थिताः सर्वेऽपि विद्वांसः श्रेष्ठिनोऽपि बद्धाञ्जलयो यान् स्तुवन्ति स्वकीयं जीवनं च धन्यमामनन्ति च।

एकदा श्रीविद्याधरगौडमहोदयाः ममोपदेशकमहाविद्यालये स्वयं समागत्य प्रस्तावं कृतवन्तो यद् "वैदिका विद्वांसो धर्मोपदेशं सभायां समुत्थाय कुर्युरित्येवं भवान् शिक्षयतु। एतेन महान् प्रचारो भविष्यति धर्मस्येति। यतो हि वैदिकाः केवलं कर्मकाण्डिन एव भवन्ति, यदि ते धर्मोपदेशका अपि भविष्यन्ति तर्हि देशस्य समाजस्य धर्मस्य च महाँल्लाभः स्यात्।"

एकदा रुग्णावस्थायां ते मत्पार्श्वे पुरुषं सम्प्रेष्य स्वनिवासस्थाने मामाहूतवन्तः। यदा चाहं तत्र गतवान् तदा ते निद्रिता आसन्। तत्रत्यः परिचर्य्या-पुरुषो मामभ्यधात्—'इदानीन्तु ते सुनिद्रिताः सन्ति। वैद्यानामादेशो विद्यते यत्सुप्ते सति न जागरणीयम्। अतः भवान् श्वोदिने आयातु।' यदाऽहं पुनस्तत्र द्वितीये दिवसे गतवान् तदा तु श्रुतमधुनैव तेषां काशीलाभो जातः। मया सह तेषामन्तिमः संल्लापोऽभूदेव न हि। न जाने किं मनसि निश्चित्य ते मामाहूत-वन्त आसन्। तस्याद्यापि मम मनसि क्षोभ एवास्ति, यदन्तिमस्तेषामादेशो मया न श्रुत इति। इदन्तु सुस्पष्टं विद्यते यच्छ्रीविद्याधरगौडमहोदयानां निधनेन न केवलं काशीस्थविद्वत्समाजस्य, अपितु समस्तभारतवर्षीयविद्वत्समाजस्य महती क्षतिः सञ्जाता। अतस्तेषां महामहिमशालिनां सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां प्रशस्यगुणानां गौडमहोदयानां अभूतपूर्वगुणान् स्तुवतो स्मरतश्च मे "वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्" इति श्रीहर्षीयं

पद्यमेव स्मृतिपथमायाति। इत्येतैरेव कियद्भिः शब्दैस्तेभ्योऽचिन्त्यमहिमभ्यः श्रद्धाञ्जलिं वितीर्य विरमामि विस्तरादिति।

पण्डितप्रवराः म० म० श्रीविद्याधरशर्ममहाभागाः

(पण्डित श्रीबदरीनाथजी शुक्ल, प्रधानाचार्य, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

विद्वन्मौलिमणयः प० श्रीविद्याधरशर्माणः सर्वप्रथमं मया काशी-हिन्दूविश्वविद्यालये दृष्टाः। तदानीन्तैस्तत्र धर्मविज्ञानविभागाध्यक्षपदं प्रसाध्यमानमासीत्। अहन्तदा तत्रैको लघुतमश्छात्र एवासम्, नासीन्मे मनागपि सामर्थ्यं तेषां गभीरं पाण्डित्यं परिज्ञातुम्। किन्तु भगवत्कृपया कतिपयेष्वेव दिनेषु तेषां सहज-स्नेहदृष्टिलाभेन निर्भयीभूय प्रायः प्रत्यहमेव तत्समक्षमुपतिष्ठता मयेदं प्रत्यक्षमन्वभावि यद् दृगारोहणमात्रक्रियमाणहर्षवर्षस्तदीयो वपुःप्रकर्षः स्नेह-विश्वासवर्षणप्रवणं तदीयं मनःकर्षणमीक्षणं प्रावृट्पयोदस्तनितप्रतिस्पर्धी तदीयो वेदध्वनिः विद्वद्विद्यार्थिनिवहेनाजस्रं जेगीयमानं तदीयं बहुमुखं वैदुष्यं च तत्समीपमागतान् महामहिम्नोऽपि जनान् प्रसभं तच्चरणप्रणिपातपरायणानकरोत्।

मम गुरुभिः वेदान्तविभागाध्यक्षैः म० म० प० श्रीबालकृष्णमिश्रैः न्यायविभागाध्यक्षैः शिवमयनिःश्वसितैः प० श्रीश्रीशङ्करतर्करत्नैश्च सह तदीय निरुपधिप्रीतिः महाविद्यालयाध्यक्षैः म० म० प० श्रीप्रमथनाथशर्मतर्कभूषणैः सोल्लासं क्रियमाणस्तदीयः सम्मानो विश्वविद्यालयकुलपतिभिर्महामनोभिः प० श्रीमदनमोहनमालवीयमहोदयैर्दीयमानः समादरो विश्वविद्यालयोपकुलपतिभिः प्राच्यप्रतीच्यविद्याऽवदातैः प० श्रीआनन्दशङ्करबापूभाईध्रुवमहानुभावैर्विज्ञाप्यमानो बहुमानो मीमांसाविभागाध्यक्षैः म० म० प० श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिभिः प्रदर्श्यमानो जिज्ञासुभावो व्याकरणविभागाध्यक्षैः प० श्रीकालीप्रसाद-मिश्रैर्विधीयमानो विनयव्यवहारश्च तेषां शीलसौजन्यबहुश्रुततात्रभृतीनां सद्गुण-सम्पदां साक्ष्यमकुर्वन्। ते सहयोगिविदुषां स्वच्छाः सुहृदोऽधिकारिणामसदृश-विश्वासभूमयो विद्यार्थिनां कल्पतरवो धार्मिकजनानां शरण्या वेदवेदाङ्गविद्यामसमाना आश्रयाश्चावर्तन्त। साधारण्येन समग्रे भारते विशेषेणोत्तरभारते च वेदविद्यानामध्ययनाध्यापनयोः या परम्परा कर्मकाण्डस्य याऽनुष्ठानपद्धतिश्च साम्प्रतं प्रचलति साऽमीभिरेव महाभागैः प्रतिष्ठापिताऽमीषां शिष्यप्रशिष्यैरेव परिचाल्यमाना च विद्यत इति प्रायो निर्विवादम्।

ईदृशानां स्वनामधन्यानामनुकरणीयचरितानां नैयायिकप्रवरश्रीशिवदत्त-मिश्रसदृशभ्रातृवैदिकप्रवरश्रीवेणीरामशर्मसदृशपुत्रभाजां कृतिकुलनायकपण्डित-श्रीप्रभुदत्तशर्मतनुजनुषां म० म० प० श्रीविद्याधरशर्ममहाभागानां स्मृतिग्रन्थ-प्रकाशनप्रसङ्ग एभिः कतिभिश्चित्पदैस्तद्गुणगणोद्धर्णनप्रभवपुण्येनाहमात्मानं पुनामीति सप्रश्रयं विज्ञापयति।

किमप्यलौकिकं सत्त्वम्

(पं० श्रीराजनारायणजी शास्त्री, प्रधानाचार्य, शास्त्रार्थ महाविद्यालय, वाराणसी)

अध्ययनार्थं वाराणसीमागतस्य मे सन्ध्यावन्दनादिकर्माङ्गभूताग्निहोत्रभस्मलिप्सा कदाचिदजायत। सतीर्थ्यैस्सह तद्व्याजेन सर्वप्रतिष्ठमग्निहोत्रशालं दिदृक्षुः सकरकन्दवीथ्यां गतोऽपश्यं साक्षाद् गणाधिपमिव विराजमानं भस्मोद्धूलितललाटं गभीरातिगभीरचिन्तनरतं देदीप्यमानमुखमण्डलं किमप्यलौकिकं सत्त्वम्। प्रणिपत्य तदीयचरणकमलयोः कञ्चिद् विलक्षणमेवानन्दमन्वभवम्। तदनु विविधा हि विचारा हृदयदरीं प्रविश्य तर्काकुलमकार्षुः। किमेष साक्षाद् भगवान् विश्वेश्वरः ? महाशयो विद्यानिधिर्गजाननः ? निखिलशास्त्रमूर्त्तिर्भगवान् बादरायणः ? नराकारेण वा साक्षादग्निदेवो विराजते ? महाभागाः कतिपयैः क्षणैरान्दोलितहृदयं मामालोच्यापृच्छन् मधुरातिमधुरया देवगभीरया गिरा परिचयार्थमहमुत्साहितः। कस्यचित् प्रसिद्धपण्डितपरम्पराप्रसूतस्य वाराणसीमध्ययनार्थमधिवसतो निवेदनमाकर्ण्य परमाह्लादव्यञ्जकस्मिताशिषा समबोधयन्। समुदसाहयंश्च विविधां विद्यां स्वपरम्परारक्षणक्षमामर्जयितुम्। 'ऋषीणाम्‌ पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' इति लब्धभूतपूर्वोपदेशस्य चेतसि कियदानन्दजातमुदपद्यतेति न शक्नोम्युपस्थापयितुम्। आहूय कञ्चन सेवकं भस्मपुटकमेकमानाय्य साशीर्वचनं मह्यम् प्रदाय पुनः पुनरागमनायोपादिशन्। तदाप्रभृति प्रतिसप्ताहं व्यासदर्शनमिवाकलय्य नियमतो जाता मे प्रवृत्तिरदसीयदर्शने। उत्तरोत्तरसम्पर्कात् मया हृदयेनानुभूतं यदेते भारतभुवो मुकुटालङ्कारभूता अनादिवेदविद्यावतारा अशेषशास्त्रविचारसारसर्वस्वचिन्तका वचसापि न लोकाहितचिन्तकाः पण्डितमण्डलमूर्द्धन्याः स्वनामधन्या विश्वविदितयशसो याज्ञिकसार्वभौमा वेदितव्यविद्या अन्वर्थविद्याधरा महामहोपाध्यायाद्यनेकविरुदभाजः पूज्यपादाः श्रीमन्तस्तत्रभवन्तो विद्याधरशास्त्रिणः सन्ति।

वेदमन्त्रपाठविषये, तदर्थविचारप्रसङ्गे, मीमांसाशास्त्रावगाहिततत्त्वार्थोपस्थापनसमये, वैदिकव्याख्यानसमये, धर्मशास्त्रादिव्यवस्थापने च तदीया गभीरा वाचोऽद्यापि स्मृतिपथमायाताः कर्णकुहरमान्दोलयन्ति।

सदसि विचारे प्रस्तुते किं नाम शास्त्रमेतैरस्पृष्टमिति नालोचकः कश्चन वक्तुमियेष। विविधविद्यानिधानत्वम् परहितसाधनैककल्पितविग्रहत्वम् विशालाकाराकारिताम् सुधासारसिक्तभाषिताम् लेशतोऽपि क्रोधमोहमदमात्सर्यादिसाहित्यविरहम् कर्मज्ञानोपासनाख्यकाण्डत्रयसमन्वयितां च दर्शं दर्शं किमप्यलौकिकं सत्त्वमिति निरचैषम्।

अनिर्वचनीयं सारल्यं विद्याविनयसम्पन्नेऽपरिचितेऽपि सहजस्नेहम्, दयनीयेष्वहैतुकीं कृपाम्, सुतनिर्विशेषं छात्रपोषणम्, सुरभारतीसेवकः को न जानीते महामनसामेषाम्। काशिकहिन्दुविश्वविद्यालयीय-संस्कृतमहाविद्यालये धर्मविज्ञान-

विभागाध्यक्षतामाजीवनं निर्वाह्यानेकशो वेदधुरन्धरा विद्वांसो दिशि विदिशि प्रतिष्ठापिताः, येऽद्याप्यासेतुहिमाचलं वेदविद्यां प्रचारयन्ति। महापुरुषाणामेषां सुयोग्यास्तनूजा वेदविद्यानदीष्णाः सहृदयहृदया याज्ञिकसम्राजः पं० श्रीवेणीराम-शर्माणः (वाराणसेय-गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालये वेदप्राध्यापकाः) पं० श्री दौलतरामशर्माणः (वाराणसेयसंन्यासिसंस्कृतमहाविद्यालये वेदप्राध्यापकाः) अध्यापयन्तः परश्शतान् वैदिकाँश्छात्रान् सम्पादयन्ति। श्रीमाधवप्रसादमिश्रः श्रीदीनानाथमिश्रश्च पत्रकारितामङ्गीकृत्य नैकपत्रपत्रिकादिसम्पादनेन विशेषतो लोकप्रतिष्ठार्जनेन सौजन्यसम्मानपरम्परां कुलीनां परिवर्द्धयतः। इदन्तु तावन्निःशङ्कं वक्तुमिष्यते यदद्योत्तरभारते या वेदविद्या प्रचारपथमालक्ष्यते साऽस्यैव कुलस्य पराक्रमस्वरूपेति।

यद्यपि महामान्यास्तेऽद्य संसारासारताकवलिताः स्वर्गे विराजन्ते, तथापि स्वपितृपादानां विश्वविदितवैदुष्याणाम् स्व० महामहोपाध्यायपण्डितश्री प्रभुदत्ताग्निहोत्रिणां पदचिह्नानुसरणेन लब्धराजकीयमहामहोपाध्यायादिसम्मान-भाजः कीर्त्तिकल्पद्रुमा जीवन्त्येव। एतेषां प्रेयांसोऽनुजाः स्वपरम्परीणवेदविद्या-विशारदा अपि तर्ककर्कशविचारचातुरीधुरीणा न्यायवागीशाः पूज्यपादाः पं० श्रीशिवदत्तमिश्रमहोदयाः, लेखकगुरवः, वाराणसेयराजकीयसंस्कृतमहा-विद्यालयीयन्यायशास्त्रप्रधानाध्यापकतां नियतराजकालं महत्या प्रतिष्ठया निर्वाह्य दर्शनशास्त्रेषु निगूढतत्त्वाननेकशो ग्रन्थान् लोकोपकारधिया शास्त्र-प्रचारमालक्ष्य विरचय्य प्रकाश्य अहर्निशं शास्त्राध्यापनेन काशीं प्रकाशयन्ति।

वस्तुतः 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', 'सर्वं वेदात्प्रसिध्यति' इति शास्त्रोक्तः सिद्धान्तसार एतेन सामान्यपण्डितकुलेन प्राधान्येनाङ्गीकृतः, तत्फलं च सर्वथा सम्पाद्य लोके प्रदर्शितमनुसरणीयतां गच्छति। किं बहुना शब्दैरेतैरेव स्मारकग्रन्थे ग्रन्थनीये स्वकीयं श्रद्धासुमाञ्जलिमर्पयन् विरमामि।

श्रद्धाञ्जलिः

(मीमांसक पण्डितप्रवर श्रीधर अण्णाशास्त्रीजी वारे, नासिक)

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते' इत्येष सर्वसम्मतः सुभाषितनि-नादितो घण्टाघोषोऽस्माकं श्रद्धेयानां विदुषां कृते यथार्थो भवति। निखिलविद्यापीठे सर्वतीर्थमूर्द्धन्ये पुण्यपावने श्रीकाशीक्षेत्रे बहोः कालादारभ्याद्यावधि विराजमान-सर्वविश्रुतगौडकुलललामभूतानां नानाविद्याविद्योतमानानां प्रातःस्मरणीयानां महाविदुषामाहिताग्नीनां महामहोपाध्यायपदभाजां स्व० श्रीप्रभुदत्तशास्त्रिणां तथा तत्पुत्ररत्नानां पण्डितप्रकाण्डानां नैकशास्त्रमर्मज्ञानां स्वर्गतानां महामहोपाध्यायपदवी-समलङ्कृतानां मान्यवराणां पण्डितप्रकाण्डानां श्रीविद्याधरशास्त्रिमहोदयानां

पन्नता—सिद्धान्तलक्षण—पञ्चलक्षणी—वेदान्तसाराद्यनेकदार्शनिकग्रन्थटीकाकाराणां पण्डितवरेण्यानां न्यायाचार्याणां श्रीशिवदत्तशास्त्रिमहाभागानां चास्माकमपूर्वदर्शनं प्रथमपरिचयश्च खानदेशप्रान्ते बहादुरपुरग्रामे शालिवाहनशके १८४४ तमे वत्सरे श्रीकालूराममिश्रमहोदयैः कारितश्रीबद्रीनारायणपञ्चायतनप्रतिष्ठाप्रसङ्गतः समजनि। स च परिचयः परस्परसुहृद्भावेनोत्तरोत्तरं वृद्धिमापद्यते स्म।

तत्र श्रीमतां प्रज्ञावदग्रगण्यानां श्रीविद्याधरशास्त्रिमहोदयानामस्माकं चान्योन्यदुष्प्राप्यग्रन्थानामादानप्रदानव्यवहारस्तथा प्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यां शङ्कासमाधानाय पत्रव्यवहारश्च सततमासीत्। तेषां वपुः शीलं सौजन्यं शालीनत्वं सुमधुरं भाषणं सरलः स्वभावः बहुश्रुतता सार्वजनीनं नानाशास्त्रपाण्डित्यं तलस्पर्शिमर्मज्ञं विषयावगाहनं चेत्यादयो गुणा मामकीनां स्मृतिं वारं वारमुद्बोधयन्ति।

एतैः काशीस्थहिन्दूविश्वविद्यालये धर्मविज्ञानविभागेऽध्यक्षपदमलङ्कृत्यानवरतविद्यादानं कृत्वा विद्यार्थिसार्थाः कृतार्थीकृताः। तथा एतैः संख्यावद्भिः कात्यायनश्रौतसूत्रीया सरला वृत्तिः कातीयशुल्बसूत्रीया सरला वृत्तिः स्मार्तप्रभुरित्यादयोऽनेके ग्रन्थाश्चापि प्रणीताः। तास्ता वृत्तयः स्वकीयं 'सरला' इत्येतन्नाम चरितार्थयन्तीति प्रतीतमेव विदुषाम्।

श्रीमदीयग्रन्थजातेन तत्तद्विद्याक्षेत्रे बहुमूल्या रत्नपूर्तिः सम्पादितेति को नाम विद्वान्नाभिमन्येत? तेभ्य एतेभ्यो दिगन्तविश्रान्तयशोवद्भ्यस्तत्रभवद्भ्योऽस्मन्मित्रवर्येभ्यः सूरिप्रवरेभ्योऽनन्तश्रिया विराजितेभ्यः श्रीविद्याधरशास्त्रिमहोदयेभ्यः सप्रश्रयं सादरं श्रद्धाञ्जलिरेष समर्प्यते।

विलक्षणता

(पण्डितप्रवर श्रीरामबालकजी शास्त्री, वाराणसी)

काशीयं सृष्टिमारभ्य अद्यावधि विद्याखनिस्तत्रापि वेदविद्यायास्तद्वैदिकानां च कृते तु वैदिकस्थलीति कथने नास्ति किमपि वैमत्यम्। तेषु वैदिकेषु दाक्षिणात्यानामेवासीत् प्राधान्यमिति सर्वविदितम्। शास्त्रस्य विविधविषयेषु बहवोऽभूवन् विद्वद्वरेण्याः पण्डितमूर्धन्याः कृतविद्याः पञ्चगौडेषु। किञ्च वेदविद्यायाः पाण्डित्यगाम्भीर्यार्जनं तदुद्घाटनं चाकरोत् सर्वप्रथमं महामहोपाध्यायः श्रीविद्याधरशास्त्री गौडमहोदय एव। यद्यपि शास्त्रिमहोदयस्यास्य वेदविद्यावैशारद्यं पैतृकसम्पत्तिरूपं स्वनामधन्यात् पितृचरणात् महामहोपाध्यायात् पण्डितप्रभुदत्तशास्त्रिमहोदयात् एव मिलितमासीत्, तथापि 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' इत्यनुसारं महामहोपाध्यायपण्डितविद्याधरशास्त्रिमहोदयः वेद-

विद्यायाः निजपाण्डित्यवैलक्षण्येन अध्यापनकौशलेन च शतशः सहस्रशः वैदिक-कर्मकाण्डिनः शिष्यान् निजप्रतिनिधिरूपान् समुत्पाद्य स्थाने स्थाने च संस्थाप्य तदधिकमपि द्विगुणं त्रिगुणं वा यशोधनमर्जितवान्।

तदानीं वेदार्थज्ञानां वैदिकानां अभाव एव आसीत्। पण्डितविद्याधर-गौडमहोदयस्य वेदमन्त्रेषु यथाधिकारः आसीत् तथैव मन्त्रार्थेष्वपि। वेदस्य श्रौत-विषयः कियान् दुष्करः इति नास्ति तिरोहितं संस्कृतविदुषाम्। तस्य गम्भीर-पाण्डित्यबलेन घोरपरिश्रमेण च कात्यायनश्रौतसूत्रस्य 'विवृति'-टीकया भाष्यं कृत्वा शास्त्रिमहोदयः सर्वसाधारणानां संस्कृतविदुषां कृते सर्वसुलभमकरोत्। तेनायं संस्कृतसमाजः शास्त्रिमहोदयस्य निश्चितमेवाधमर्णः इति मन्ये।

सरस्वतीसमाराधकः संस्कृतपण्डितवर्गः लक्ष्मीकोपभाजनं भवति। तदानीं पण्डितविद्याधरमहोदयस्तादृशपण्डितानां कृते अर्थागारः (अर्थबैंक) इव आसीत्। कोऽपि अर्थेच्छया समागतः पण्डितः गौडगृहात् विमुखो नाभवत् इति काशीस्थपण्डितेषु प्रसिद्धिः। एते सर्वे गुणाः पितृचरणादेव मिलिताः आसन्, त एव गुणाः पण्डितविद्याधरमहोदयस्य सुपुत्रेषु विशेषतया वेदविद्यानिष्णाते श्रीवेणीरामगौडमहोदये समुल्लसन्ति, येन निजपितुः पण्डितविद्याधरगौड-महोदयस्य स्मृतिग्रन्थं प्रकाशयितुं प्रवृत्तः।

म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौडकी पुण्य-स्मृति

(पं० श्रीकमलाकान्तजी मिश्र, अध्यक्ष—गोयनका संस्कृत कालेज, काशी)

जिस समय मैं काशी में अध्ययन करता था उस समय कोडवार रियासत (जि० सुलतापुर) के कतिपय वैदिक छात्र भी मेरे साथ रहते थे। वे लोग स्वर्गीय महामहोपाध्याय वैदिकमूर्द्धन्य पण्डित श्री प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री से वेदाध्ययन करते थे। उन वैदिक छात्रों से मुझे यदा कदा श्री प्रभुदत्तजी के सुयोग्य पुत्र पण्डित श्री विद्याधरजी गौड की विलक्षण कुशाग्र बुद्धि, प्रतिभा और विविध शास्त्रों के परिज्ञान का परिचय मिलता था। श्री प्रभुदत्तजी महाराज सुप्रसिद्ध श्रौतस्मार्त्तकर्मनिष्ठ महावैदिक थे। आपके यहाँ की धवल भस्म को प्रसिद्धि केवल काशी में ही नहीं, सर्वत्र व्याप्त थी। काशी के प्रायः सभी आस्तिक-वर्ग आपके यहाँ अग्निहोत्र की भस्म लेने जाते थे। मैं भी कभी-कभी अग्निहोत्री जी के घर भस्म लेने जाता था। आपके निवासस्थान में पहुँचकर कर्णकुहरों को आनन्दित करनेवाला वेदध्वनि का मधुर श्रवण, चित्त को आह्लादित करनेवाला सरस्वती देवी के भिन्न-भिन्न रत्नों का एक महान् भाण्डारस्वरूप विशाल

पुस्तकालय का दर्शन, पापों का क्षालन करनेवाला पुण्यप्रद अग्निहोत्रशाला का दर्शन, शरीर को पावन करनेवाला अग्निहोत्र के हवन का सुगन्धयुक्त धूम्रका आघ्राण, पुण्यप्रदा एवं दीर्घजीवनदायिनी विविध गोमाता के दर्शन और सर्वोपरि वेदस्वरूप वेदज्ञ परिवार का दर्शन करने से ऐसी अनुभूति होती थी, मानो यह साक्षात् 'देवलोक' है। इस देवलोक के अधिपति म० म० पं० श्री प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री थे। श्री अग्निहोत्री जी महाराज के ज्येष्ठ पुत्र पण्डित श्री विद्याधरजी गौड केवल अवस्था में ही ज्येष्ठ नहीं थे, किन्तु विद्या और गुण में भी ज्येष्ठ थे।

'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इस उक्ति को श्री विद्याधरजी ने अपने विशिष्ट वैदुष्य से स्व-पितृचरणों को ऐसा प्रभावित और सन्तुष्ट कर दिया था कि वे अपने पुत्र की विशिष्ट विद्वत्ता से सन्तुष्ट होकर अपना जीवन सार्थक और धन्य समझते थे। और समय-समय पर वे अपने शिष्यों से साभिमान मुक्तकण्ठ से कह दिया करते थे कि—"अब तुमलोग विद्याधर से पढ़ा करो, वह मेरे से भी अधिक तुम्हारी तुष्टि करेंगे।" और कभी-कभी वे निम्नलिखित श्लोक भी कहा करते थे—

"आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते,
किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति।" (रघुवंश ५।७१)

उपर्युक्त दोनों उक्तियों के श्री विद्याधरजी गौड वस्तुतः एक अपूर्व दृष्टान्त थे।

श्री विद्याधरजी गौड ने इस भूमण्डल पर जन्म लेकर अपनी प्रखर प्रतिभा तथा प्रकाण्ड विद्वत्ता के कारण भारत के वैदिक विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया था। आपको बाल्यकाल से ही प्रतिष्ठा का वरद हस्त प्राप्त था। आपकी लोकोत्तर विद्वत्ता और अध्यापन-पटुता आदि विशेषताओं का प्रकाश समूचे भारत में व्याप्त था। आप केवल वेदों के ही महार्णव नहीं थे, व्याकरण, साहित्य, मीमांसा, धर्मशास्त्र के भी पारदृश्वा थे। आपकी चातुर्दिक् विद्वत्ताको देखकर बड़े-बड़े विद्वान् कहा करते थे कि—श्री विद्याधरजी जैसा वेदज्ञ 'न भूतो न भविष्यति'।

श्री विद्याधरजी के सर्वतोमुख अपूर्व वैदुष्य के कारण उनकी विद्वत्समाज में अत्यधिक प्रशंसा और प्रतिष्ठा थी। आपका यशोवितान अति विस्तृत और सूर्य के प्रकाश के सदृश था, जो कि धार्मिक जनता के हृदयान्धकार को दूर करने में अत्यन्त तेजस्वी और ओजस्वी था। आप जैसे महावैदिक को पाकर समस्त विद्वन्मण्डल अपने को गौरवान्वित समझता था।

वस्तुतः वेदज्ञ वही कहे जा सकते हैं, जिन्हें वेद का मूलभाग अष्टविकृति-सहित गायत्रीवत् कण्ठस्थ हो, जिन्हें श्रौत-स्मार्तकर्म में पूर्ण अभिज्ञता हो और जिन्हें व्याकरणादि शास्त्रों के ज्ञान के साथ-साथ वेदार्थ का भी पूर्ण परिज्ञान

हो। स्वर्गीय श्री विद्याधरजी ऐसे ही सर्वाङ्गपरिपूर्ण वेदज्ञ थे। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि मैंने जिस सर्वाङ्गपरिपूर्ण वेदविद्या का उज्ज्वल प्रकाश श्री विद्याधरजी में देखा था, वह उन्हीं के साथ लुप्त भी हो गया।

श्री विद्याधरजी के दर्शनमात्र से प्रतीत होता था कि आप साक्षात् 'वेदमूर्ति' हैं। आप जैसे प्रकाण्ड विद्वान् थे वैसे ही कट्टर धार्मिक, उदार और परोपकारी थे। आपने समय-समय पर धार्मिक समाज के सम्मुख जिस धार्मिकता, उदारता और परोपकारिता का परिचय दिया था, उससे सभी लोग परिचित हैं।

आपकी विशिष्ट उदारता का परिचय प्राप्त करने का अवसर मुझे भी एक बार मिला था, जिसका उल्लेख करना परमावश्यक प्रतीत होता है। काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज के अध्यक्ष डा० श्री मङ्गलदेव शास्त्री एम्० ए०, डी० फिल्० के समय काशीस्थ राजकीय संस्कृत कालेज की प्राचीन पाठ्यनियमावली के स्थान में नूतन अवाञ्छनीय परिवर्तन किया गया था, जिससे भारत के विशिष्ट विद्वानों को अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हो गया था। हम लोगों ने अवाञ्छनीय परिवर्तन के निराकरणार्थ एक 'संस्कृताध्यापक संघ' तैयार किया। इस संघ को सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनाने के लिए हमलोगों को काशी के पण्डितप्रकाण्ड धार्मिक विद्वानों की सम्मति-सहित हस्ताक्षर की आवश्यकता हुई। हमलोग सर्वप्रथम महा-महोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधरजी के पास पहुँचे और अपने अभिप्राय को उनसे कहा। श्री विद्याधरजी ने सहर्ष तत्क्षण बड़े आदर के साथ लिखा था कि—"प्राचीन पाठ्य-नियमावली के स्थान में जो अब नूतन परिवर्तन किया गया है, यह संस्कृत विद्या का महान् घातक है। निश्चित ही इस परिवर्तन से संस्कृत विद्या का ह्रास होगा।"

श्री विद्याधरजी की सम्मति प्राप्त कर हमलोग पूज्य महामना पं० श्रीमदनमोहन मालवीय तथा सर राधाकृष्णन् महोदय के पास पहुँचे। इन दोनों महानुभावों ने श्री विद्याधरजी की सम्मति देखकर प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने हस्ताक्षर कर दिये, जिससे हमारा 'संस्कृताध्यापक संघ' अत्यन्त प्रबल हुआ। पश्चात् हमलोग तत्कालीन शिक्षामन्त्री डाक्टर पन्नालाल महोदय से मिले। उन्होंने भी हमारे विचारों का समादर किया। इस प्रकार सभी की सहायता से हमलोग अपने कार्य में पूर्ण सफल हुए।

श्री विद्याधरजी ने अपने जीवनकाल में अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण कर वैदिक-साहित्य की अपूर्व सेवा की और अनेकों सुयोग्य विद्वानों को तैयार कर देश का कल्याण किया। मैं समझता हूँ जिन लोगों ने उनके चरणों में बैठकर वेदाध्ययन और कर्मकाण्ड की शिक्षा प्राप्त की, वे लोग धन्य हैं और वे सदा धन्य ही रहेंगे।

प्रायः विद्वानों में किसी न किसी विषय की अपूर्ति देखी जाती है, किन्तु पुण्य-शाली श्री विद्याधरजी ने इस अपवाद को भी अन्यथा कर दिया था। आपने

अपने पुण्यशाली श्री पिताजी के शुभाशीर्वाद और अपने पूर्व पुण्य के प्रभाव से गार्हस्थ्य-जीवन में ही समस्त सांसारिक वस्तुओं को आत्मसात् कर लिया था। श्री विद्याधरजी के महान् पुण्य का फल है कि आज भी उनके परिवार में वेदविद्या की अध्ययनाध्यापनपरम्परा जागृत है। श्री विद्याधरजी के पुत्र वेदाचार्य श्री वेणीराम शर्मा गौड अपने श्री पिताजी के जीवनकाल से ही काशी के सुप्रसिद्ध गोयनका संस्कृत महाविद्यालय में वेदाध्यापक हैं। आप भी अपने पितृ-पितामह की तरह सम्पूर्ण भारत में होनेवाले बड़े-बड़े यज्ञों के 'आचार्य' पद पर सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किये जाते हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि भविष्य में भी यह प्रख्यात वैदिकवंश वैदिकधर्म की रक्षा करता हुआ काशी में सर्वश्रेष्ठ वैदिकधर्म का ज्ञाता बना रहेगा।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इसके अनुसार सभी की मृत्यु अवश्यम्भावी है, किन्तु वे पुरुष अत्यन्त धन्य हैं, जो सदैव सरस्वती माता की उपासना करते हुए देहत्याग करते हैं। मेरी दृष्टि में श्री विद्याधरजी भी ऐसे ही धन्य पुरुषों में थे, जिन्होंने यावज्जीवन अपौरुषेय वेदों के अध्ययनाध्यापन तथा उसके प्रसार-प्रचार में अपने जीवन की आहुति समर्पित कर देश और समाज में स्थायी कीर्ति प्राप्त कर अमरत्व को प्राप्त किया। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति।'

शास्त्रों में कहा है—आदर्श साधु-महात्मा और त्यागतपोनिष्ठ पण्डितप्रकाण्ड विद्वानों के यशोवर्णन करने से मनुष्य की अन्तरात्मा अत्यन्त स्वच्छ होकर अपूर्व ज्योति को प्राप्त करती है, पश्चात् वह आत्मसन्तोष (आत्मसाक्षात्कार) की भी प्राप्ति कर लेती है।

बाह्य मलादि के क्षालनार्थ मृज्जलादि अनेक साधन हैं, किन्तु आन्तरिक मलके क्षालनार्थ केवल त्यागतपोनिष्ठ विद्वानों के पावन चरित्र का वर्णन तथा स्मरण ही शरण है। उदात्तचरित स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री विद्याधरजी गौड का पावन-चरित्र भी ऋषि-महर्षियों जैसा आदर्श रहा है। अतः मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार मैं स्वर्गीय श्री विद्याधरजी गौड के पावन चरित्र का स्मरण कर अपनी आत्मा को क्षालित कर अपने में एक विशिष्ट ज्योतिका आनन्दानुभव कर रहा हूँ उसी प्रकार अन्य लोग भी आपके पावन चरित्र के स्मरण से विशिष्ट ज्योतिस्वरूपा सुख-शान्ति का अनुभव प्राप्त करेंगे।

———

हार्दिक श्रद्धाञ्जलि

(पं० श्रीमहादेवजी पाण्डेय, अध्यक्ष-प्राच्यविद्याविभाग, हिन्दू युनिवर्सिटी, काशी)

विद्वत्प्रवर सुगृहीतनामधेय प्रातःस्मरणीय श्रौतस्मार्त्तकर्मनिष्णात वैदिक-चक्रचूड़ामणि महामहोपाध्याय श्री विद्याधरजी गौड काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में थियालोजी विभाग के 'अध्यक्ष' थे। आप शुक्ल-यजुर्वेद की अष्टविकृतिसहित समस्त संहिता के पूर्णतया न केवल भारतप्रसिद्ध अभ्यासी थे, अपितु सर्वाङ्गीण अर्थतत्त्व के गभीर पारदृश्वा महाविद्वान् थे। आपकी व्याकरण-व्युत्पत्ति, साहित्य सौहित्य, मीमांसा का अभिज्ञतागौरव स्तुत्य था। आपका सौजन्यजन्य यश विश्वविश्रुत था। आप सुयोग्य भविष्णु विद्वानों के संग्रही तथा उनके परम उपकारी थे। आपकी भव्यमूर्ति दर्शनीय थी। आपकी विरचित अनेक पुस्तकें श्लाघनीय विविध व्याख्याएँ अध्ययन और अनुसन्धान के साधन हैं। आप अग्निहोत्री वैदिक थे और अनेक यज्ञों के अनुष्ठाता थे। आप के पूज्य पिता विद्वन्मूर्धन्य वैदिकमण्डलमण्डन म० म० श्री प्रभुदत्तजी महाराज को कौन नहीं जानता ?

पण्डितप्रवर श्री विद्याधरजी अग्निहोत्री के यवीयान् भ्राता तार्किकधुरन्धर पण्डितवर श्री शिवदत्तजी काशी के अलङ्कार हैं और उनके नव्य न्यायके ग्रन्थों पर सुग्रथित व्याख्यान मर्मज्ञों के विस्मयप्रद हैं। आपके पुत्रगण भी विभिन्न विषयों के सम्मानभाजन विद्वान् हैं और वे अध्यापन, ग्रन्थनिर्माण, पत्रकारिता प्रभृति सत्कार्यों के द्वारा अपने पूज्य पितामह तथा पिताके निर्मल कीर्तिप्रवाह को अग्रसारित कर रहे हैं।

प्रायः आजकल के लब्धप्रतिष्ठ वैदिक विद्वान् पूज्य श्री विद्याधरजी महाराज के ही शिष्य हैं। इस लेखक को भी सौभाग्यवश आपके चरणारविन्द के समीप उपस्थित होकर कुछ अध्ययन का गौरव प्राप्त हुआ है। अतः आप के पदपङ्कज में मैं श्रद्धावनत तथा चिरकृतज्ञ हूँ।

महामहिम म० म० श्रीविद्याधरजी गौड

(पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार)

संस्कृत क्षेत्र में महामहोपाध्याय श्री विद्याधरजी गौड का नाम किसको अविदित है ? आपका जन्म एक सर्वविश्रुत वेदज्ञ के यहाँ हुआ और उनके अपने भी पूर्व जन्म के तीव्र संस्कार थे। इसलिये अन्ततक वे वेदां के प्रचार-प्रसार की अध्ययनाध्यापनपरम्परा को स्थिर रख सके। पण्डितपरम्परा की कुछ ऐसी प्रवृत्ति हो चली है, कुछ ऐसी प्रवृत्ति रही है कि वे जिस शास्त्र से एक बार चिपट जाते हैं उसीसे चिपटे रहते हैं। जिन वेदों के परिज्ञान के लिये षडङ्ग बने हैं उन वेदों की ओर इनका ध्यान ही नहीं रहता। इसीलिये वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक आदि की संख्या बढ़ती गई। जब इस प्रथा को भी सुरक्षित न रख सके, तब वे साहित्यिक बनने लगे। वेदान्ती वेदान्त से चिपटे रहे। यह न सोचा कि वेदान्त की फलश्रुति वेदों में कहाँ है ?

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रैर्विहीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कवयो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति ॥

जब वेदों का पठन-पाठन ढीला पड़ गया, तब वेदाङ्गों का जोर बढ़ा, जब उनका भी जोर घटा, तब पुराण आगे आये, काव्य आगे बढ़े, जब इनका भी जोर घटा, तब पण्डित लोग भागवत ले बैठे।

स्व० श्री विद्याधरजी ने निखिलशास्त्रनिष्णात रहने पर भी अपने वेदों को नहीं छोड़ा और वे अन्त तक वेदाभ्यास में निरत रहे। यह उनकी भारी विशेषता रही है। ऐसे गुणी विद्वान् स्व० महामना मालवीयजी की दृष्टि से कैसे बच सकते थे ? वे इनको हिन्दू विश्वविद्यालय में ले गये और इनको धर्मविज्ञान विभाग का 'अध्यक्ष' बना दिया।

गुरु की परीक्षा तो उसके शिष्यों से होती है। इनके प्रकाण्ड शिष्यगण प्रायः 'वेदाचार्य' ही हुए हैं, जो कि उत्तर भारत में सर्वत्र फैले हैं। समय-समय पर आप राजसम्मान के अधिकारी बने हैं। यद्यपि लोक में सरस्वती और लक्ष्मी का एकत्र सहवास कम दिखलाई पड़ता है, किन्तु स्व० श्री विद्याधरजी के यहाँ ये दोनों देवियाँ मेल से रहती थीं और स्व० श्री विद्याधरजी "पात्रवर्षी पर्जन्य" रूप बने रहे। विद्यामद, धनमद, अभिजन (कुलमद) आपको स्पर्श तक नहीं कर सका था। ऐसे वेदविद्या-परम्परा को सुचारु-रूप से सुरक्षित रखने वाले विबुधजनशिरोमणि महामहोपाध्याय श्री विद्याधर-नामक अन्वर्थ संज्ञाधारी को हमारा शतशः बार बार प्रणाम।

———

विनम्र श्रद्धाञ्जलि

(पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, प्रो० हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

वेद के माहात्म्य का यथार्थतः अंकन करना एक असाध्य नहीं तो दुःसाध्य व्यापार अवश्य है। हमारे महर्षियों के प्रातिभ चक्षु से साक्षात्कृत आध्यात्मिक तथ्यों से मण्डित जो शब्दराशि है वही 'वेद' के महनीय अभिधान के द्वारा संकेतित की जाती है। महर्षियों का जीवन पावनता तथा आध्यात्मिकता का प्रतीक था। तपःपुञ्ज से प्रदीप्त इन ऋषियों ने अपने समग्र जीवन का अध्यात्म के चिन्तन में तथा तपस्या के अर्जन में बिताया और दैवी प्रेरणा से जिन मन्त्रों का इन्होंने दर्शन किया वे ही वैदिक संहिताओं में संगृहीत हैं। भारतीय संस्कृति का पीठस्थानीय है वेद। भारतीय धर्म तथा दर्शन को मूल प्रेरणा देने वाला वेद संसार के साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसके टक्कर का प्राचीनतम ग्रन्थ खोजने पर भी नहीं मिलता। आस्तिक विद्वान् तो वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानते ही हैं और इसलिए उनके यहाँ वेद के कालनिर्णय की समस्या उठती ही नहीं। परन्तु पाश्चात्य पद्धति से भी अध्ययन करनेवाले विद्वानों तथा आलोचकों की दृष्टि में वेद कम से कम छ-सात हजार वर्ष पुराना अवश्य है। ऐसे सर्वमान्य ग्रन्थों के अध्ययन में जीवन यापन करने वाला विद्वान् सचमुच धन्य है।

वेदों को पठनशैली भी दो प्रकार की है। एक तो अष्टविकृति के साथ समस्त संहिताओं का पारायण और दूसरा है निरुक्त तथा सायणभाष्य आदि की सहायता से वेद के अर्थ का चिन्तन। पारायण की पद्धति के जानकार वैदिकों की कमी इस भारतवर्ष में नहीं थी। अपनी-अपनी शाखा का अध्ययन करना ब्राह्मणमात्र के लिए पवित्र कार्य था। पतञ्जलि का यह कथन यथार्थ है कि ब्राह्मण को बिना किसी कामना के षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिए और उसके अर्थ का ज्ञान करना चाहिए—'निष्कारणं ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।'

पतञ्जलिके पूर्वोक्त वाक्य में 'अध्येयः ज्ञेयश्च' ये दोनों शब्द बड़े ही महत्त्व के हैं। वे केवल वेद के अध्ययन पर ही आग्रह नहीं दिखलाते, प्रत्युत उसके ज्ञान पर भी अर्थात् वेद के मन्त्रों का शब्दतः अध्ययन तथा उनका अर्थतः ज्ञान दोनों वेदज्ञ के लिए आवश्यक कर्तव्य होते हैं। वह व्यक्ति अवश्य ही धन्य है जिसने वेद के मन्त्रों का शब्दतः अध्ययन किया है और साथ ही साथ उसके अर्थ का भी परिनिष्ठितरूप से ज्ञान प्राप्त किया है। क्योंकि बिना अर्थज्ञान के वेद का शाब्दिक पारायण विशेष महत्त्व नहीं रखता। निरुक्त आदि ग्रन्थों में इसीलिए अर्थज्ञ को भूयसी प्रशंसा की गई है—

'योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।'

यह यास्क का वचन नहीं है, प्रत्युत सामवेदीय 'संहिता ब्राह्मण' का ही वचन है जिसे निरुक्त में उद्धृत किया गया है (निरुक्त १।१८)।

आचार्य श्री विद्याधरजी गौड ऐसी दुर्लभ वैदिक-मण्डली के एक उज्ज्वल रत्न थे। वे शुक्ल यजुर्वेदी थे और इसलिए उन्होंने माध्यन्दिन संहिता तथा तत्सम्बद्ध समस्त वैदिक ग्रन्थों का शब्दतः तथा अर्थतः गाढ़ अनुशीलन किया था। वेदविद्या में नैपुण्य के लिए उनका कुल सदा से प्रख्यात था। उनके पूज्य पिताजी श्री प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री अपने समय के काशी के वैदिकों में शीर्षस्थानीय थे। उन्होंने वेद—कर्मकाण्ड का अभ्यास अपने पूज्य गुरुवर आचार्य श्री युगलकिशोरजी व्यास से किया था, जिसका निर्देश उन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। श्री विद्याधरजी ने अपने पूज्य पिताजी से वेद का तथा कर्मकाण्डका गम्भीर अध्ययन किया था, जिससे उनकी शेमुषी कर्मकाण्ड के विषय में विशेष प्रगल्भ थी। वे अन्य शास्त्रों, विशेषतः मीमांसा में भी बड़े निपुण थे। श्री विद्याधरजी के पास 'आचार्यमुष्टि' न थी। उन्होंने अपने सुचिन्तित वैदिक तत्त्वों को अपनी हथेली के भीतर दबा नहीं रखा, प्रत्युत उनका वितरण अपने छात्रों में अध्यापनद्वारा तथा अन्य जिज्ञासुजनों में अपने ग्रन्थों के द्वारा बड़ी सफलता के साथ किया। मैंने उनके द्वारा व्याख्यात 'कात्यायन श्रौतसूत्र' की प्रमेय-बहुला प्रस्तावना से विशेष लाभ उठाया है। उनका श्रौत-विषय का ज्ञान कितने ऊँचे दर्जे का था, इसका विशद परिचायिका है यह विस्तृत प्रस्तावना, जिसमें नाना यज्ञों का वर्णन बड़े विस्तार तथा वैशद्य के साथ किया गया है। श्रौत यागों का प्रयोग बहुत दिनों से उच्छिन्नप्राय है। ऐसी दशा में यज्ञों के रहस्यको समझना तथा उनके भेद-प्रभेदों के तारतम्य से परिचय रखना आज के युग में एक दुरूह व्यापार है, परन्तु श्री विद्याधरजी की यह प्रस्तावना इस दुरूह व्यापार को भी सुबोध बनाने की क्षमता रखती है। कातीय 'शुल्बसूत्र' की उनकी विवृति भी पर्याप्तरूपेण सुन्दर तथा विषयप्रतिपादक है। दुःख हमें इस बात का अधिक है कि उन्होंने अधिक आयु प्राप्त नहीं की, अन्यथा वे वेदसम्बन्धी अपने अगाध ज्ञान को अन्य ग्रन्थों में भी निबद्ध कर सकते थे। 'श्रेयसि केन तृप्यते ?' उनकी जो कुछ भी रचना है वह हमारे लिए वेदानुशीलन मार्ग का एक बहुमूल्य संबल है। यज्ञनारायण की अनुकम्पा से उनका यह पथ-प्रदर्शन अन्य वैदिकों के लिए स्फूर्ति और प्रेरणा का स्रोत बने, भगवान् से प्रार्थना है। आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि आचार्य श्री विद्याधरजी गौड का आदर्श हमें इस मार्ग पर अधिकता से अग्रसर करता रहेगा।

———

श्रद्धाञ्जलि

(पं० श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, प्रिंसिपल, टाउन डिग्री कालेज, बलिया)

काशी की जिन विद्वद्-विभूतियों की भव्य-कथा ने काशी का महत्त्व और गौरव सम्बर्द्धित किया है उनमें श्रौत और स्मार्त कर्मकाण्ड के आचार्य तथा वेद के धुरन्धर विद्वान् महामहोपाध्याय पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री तथा उनके आदरणीय एवं सुयोग्य आत्मज महामहोपाध्याय पं० विद्याधरजी गौड का नाम काशी के इतिहास में नहीं, भारत के इतिहास में अमर रहेगा।

मेरे पूज्य पिताजी पं० भीमसेनजी वेदपाठी ने म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री से ही श्रौतस्मार्त कर्मकाण्ड तथा वेद की विद्या प्राप्त की थी और उन्हींके स्नेहपूर्ण आशीर्वाद तथा प्रेरणा से उन्होंने मुजफ्फरनगर में जाकर यश अर्जित किया। म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री का दर्शन सर्वप्रथम मैंने अपने बचपन में किया था जब मैं संभवतः सात या आठ वर्ष का था। उन्हीं दिनों साक्षात् शिवस्वरूप पं० शिवकुमारजी शास्त्री का भी दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय के इन दोनों परम आदरणीय महानुभावों का दर्शन और उनका स्वभाव सब प्रकार के सात्त्विक जीवन के लिए परम गंभीर प्रेरणा-स्रोत था। पहले ही दर्शन में पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री ने मेरे हृदय पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी अमिट छाप डाल दी कि धीरे-धीरे मैं उनकी ओर आकृष्ट होता चला गया। यह उनकी महती कृपा थी कि उन्होंने भी अपनी स्वाभाविक मृदुता, ऋजुता और उदारता से मुझे अपना वात्सल्यभाजन बना लिया। जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इन्टर कक्षा में पढ़ने के लिए प्रविष्ट हुआ तब से तो मैं निरन्तर लगभग प्रति सप्ताह उनके दर्शन और उपदेश का सुयोग प्राप्त करने के लिए उनके सकरकन्द गली में स्थित आवास-पर जाकर उनके दिव्य दर्शन का लाभ उठाया करता था।

प्रारम्भ में मैंने भी रुद्री और कर्मकाण्ड का अभ्यास किया था, क्योंकि मुजफ्फरनगर के सेठ चैनसुखराम बड़े आस्तिक व्यक्ति थे। और उन्होंने मेरे पूज्य पिताजी से ही अग्निहोत्र ले रक्खा था। अतः अपने पूज्य पिताजी के साथ मैं भी अग्निहोत्र तथा दर्शपौर्णमासेष्टि में योग दिया करता था। स्वभावतः म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री की कृपा प्राप्त करने के लिए मुझे भी उत्कण्ठा होती थी और फिर अपने पूज्य पिताजी के गुरुगृह के नाते तो मेरा वहाँ जाते रहना स्वाभाविक भी था।

मुझे भलीभाँति स्मरण है और मैं इस समय उनका मानस-दर्शन कर रहा हूँ कि बड़े से तकिए के सहारे वे बाँई करवट लेटे हुए हैं। उनका विशाल शरीर, चौड़ा माथा, उनकी संयत गुरु गंभीर वाणी आज भी मेरे मानस-दृष्टि-पटलपर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रही है। उनके आस-पास सदा अनेक विद्वान् और

छात्र बैठे रहा करते थे। और वे अपनी स्वाभाविक मन्द मुस्कान के साथ अत्यन्त सूक्ष्म शब्दों में सबकी जिज्ञासा तृप्त करते रहते थे और कुशल-मङ्गल पूछते रहते थे। उनकी भव्य आकृति साक्षात् वेद की प्रतिमूर्ति थी। उनके दर्शनमात्र से प्रतीत होता था कि विद्या का अक्षय भण्डार सम्मुख प्रस्तुत है।

म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री का देशभर में बड़ा सम्मान था। प्रायः सभी रजवाड़े और देशभर के प्रसिद्ध धनी उनके परम भक्त थे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर सरकार ने उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि दी थी। महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी भी उनका बड़ा आदर और सत्कार करते थे। वे उन्हें 'महर्षि' कहा करते थे और वे जब सामने आते, तो शास्त्रीजी के चरणों को स्पर्श करते थे। इतना ही नहीं, वे शास्त्रीजी के दर्शन के लिए उनके आवास पर भी यदा-कदा जाया करते थे और अपनी इस आदर की भावना को मूर्त्तरूप देने के लिए उन्होंने म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री को काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के धर्म-विज्ञान विभाग का सर्वप्रथम 'अध्यक्ष' बनाया था। इस नाते वे काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयकी सभी प्रधान प्रबन्ध-समितियों के 'सदस्य' थे। उन दिनों की एक घटना मुझे भलीभाँति स्मरण है। धर्म-विज्ञान विभाग की परीक्षा के लिए जब पाठ्यक्रम बनने लगा उस समय तत्कालीन रजिस्ट्रार परम आदरणीय श्री श्यामाचरणजी डे ने विश्वविद्यालय के अन्य विभागों के नियम के अनुसार यह प्रस्ताव किया कि इस परीक्षा में भी उत्तीर्णाङ्क तैंतीस प्रतिशत हो। उस समय म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री ने कहा कि 'इसमें तो उत्तीर्णाङ्क शत-प्रतिशत होना चाहिए, अन्यथा तैंतीस प्रतिशत में उत्तीर्ण होनेवाले कर्मकाण्डी जो यज्ञ या कर्मकाण्ड करावेंगे उसमें यजमान का सर्वनाश हो जायगा। उनके अशुद्ध कर्मकाण्ड से विश्वविद्यालय की तो अप्रतिष्ठा होगी ही, साथ ही यजमान के इहलोक और परलोक दोनों की हानि होगी।' उनका मत था कि कर्मकाण्ड और आयुर्वेद में उत्तीर्णाङ्क शत-प्रतिशत होना चाहिए। उनकी अध्यक्षता के कारण हिन्दू-विश्वविद्यालय के धर्म-विज्ञान-विभाग की बड़ी प्रतिष्ठा हुई और काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय को बहुत द्रव्य भी मिला। प्रसिद्ध बिड़ला परिवार को विशेषतः राजा बलदेवदासजी बिड़ला को महामना मालवीयजी के सम्पर्क में लाने का सारा श्रेय पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री को ही है।

जब काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई उस समय काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिलान्यास म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री ने ही कराया था। उस समय होनेवाले यज्ञ के वे ही प्रधान 'आचार्य' थे और काशी के तत्कालीन दूसरे परम विद्वान् म० म० पं० शिवकुमारजी शास्त्री उस यज्ञ में 'यजमान' थे।

मेरे जीवन की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना का उनसे बड़ा भारी सम्बन्ध है। सन् १९२६ में जब मेरे विवाह की बातचीत चली तो मैंने उसका विरोध

किया। यद्यपि अपने पिताजी की आज्ञा का विरोध करना मेरी परम मूर्खता थी, किन्तु उस समय वह मूर्खता हो ही गई। मेरे पूज्य पिताजी मुझे म० म० पण्डित प्रभुदत्तजी के पास ले गए और सारी कथा बता गए। सुनते ही शास्त्रीजी ने कहा—'तत्काल विवाह कर लेना चाहिए अन्यथा गली-गली स्त्रियों के पैर (पिंडलियाँ) झाँकते फिरोगे।' मैं निरुत्तर हो गया और उनके आदेशानुसार मैं विवाह के लिये सन्नद्ध हो गया और जहाँ उन्होंने निश्चय किया था वहीं विवाह किया।

उन महापुरुष के दिवङ्गत होने के पश्चात् उनके परम सुयोग्य आत्मज पं० विद्याधरजी गौड ने अपने पूज्य पितृ-चरण के मङ्गल-चिह्नों का अत्यन्त योग्यतापूर्वक अनुसरण किया। उन्होंने अपने परम पूज्य पिताजी के ही समान भव्य, सुन्दर, सौम्य आकृति और परम मृदु-स्वभाव प्राप्त किया था। वेद और कर्मकाण्ड में उनकी अप्रतिहत गति थी। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के वेद-विभाग के वे 'अध्यक्ष' थे। उन दिनों मैं भी काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्राच्य संस्कृत महाविद्यालय का छात्र था और वहीं 'रुइया छात्रावास' में संस्कृत के छात्रों के समान स्वयं पाक करके विद्याध्ययन करता था। इस कारण नित्य-प्रति सर्वप्रथम उनके दर्शन हो जाते थे, क्योंकि जिधर उनका अध्यापन-कक्ष था उधर की सीढ़ी से ही चढ़कर जाना मुझे सुकर होता था। मुझ पर उनकी विशेष कृपा थी और वे नित्य-प्रति स्वभावतः मुझसे कुशल-मङ्गल पूछ लेते थे और पूज्य पिताजी का समाचार भी। यद्यपि मैं उनकी कुछ बहुत सेवा नहीं कर सका, फिर भी जितना अपार स्नेह उन्होंने मेरे प्रति प्रदर्शित किया उसको मैं कभी विस्मरण नहीं कर सकता। इसी वात्सल्य के कारण ही एक बार उन्होंने मुझे कुछ मण्डप-कुण्डों के रेखा-चित्र दिए और आदेश दिया था कि इनकी स्वच्छ प्रतिलिपि कर दो। तदनुसार मैंने अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार यथासम्भव सुचारु-रूप से उस आदेश का पालन किया और मुझे स्मरण है कि इस कार्य पर वे अत्यन्त सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए थे। स्वभावतः मृदु, शीलयुक्त और सङ्कोचशील होने के कारण वे कभी किसी बात में 'नहीं' नहीं करते थे। इसी स्वभाव के कारण जिसकी जितनी सहायता बन पड़ी उतनी उन्होंने अवश्य की। अपने पिताजी में उनकी बड़ी प्रगाढ़ भक्ति थी। वे कभी ऊपर सिर करके नहीं देखते थे। सदा विद्यावान् पुरुष की भाँति नम्र होकर नीची आँखें किए रहते थे। वे बड़े सिद्ध अध्यापक थे। संस्कृत के विद्वान् यों ही अपने विषय के पण्डित होते हैं किन्तु महाकवि कालिदास के शब्दों में—

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

[कुछ विद्वान् ऐसे हैं जो स्वयं तो अपनी विद्या पूरी जानते हैं किन्तु दूसरे को सिखा नहीं सकते। कुछ ऐसे होते हैं जो स्वयं तो पण्डित नहीं होते किन्तु

अभ्यास करके दूसरे को सिखा देते हैं, किन्तु श्रेष्ठ शिक्षक वही है जिसमें ये दोनों गुण हों अर्थात् जो स्वयं भी पण्डित हो और दूसरों को भी सिखा सके।]

पं० विद्याधरजी गौड में ये दोनों गुण थे। उनकी अध्यापन-पद्धति इतनी सजीव और हृदयस्पर्शी होती थी कि एक बार पढ़ा देने पर फिर वह कभी विस्मृत नहीं हो सकता था। यह बड़े खेद और क्लेश की बात रही कि उन्होंने असमय ही यह संसार त्याग दिया। उनके गोलोकवास से काशी की पण्डित-मण्डली को, वैदिक-विद्या को और कर्मकाण्ड-परिपाटी को जो अपरिपूरणीय आघात हुआ है वह शब्दों में नहीं आँका जा सकता।

मुझे यह जानकर परम आह्लाद हुआ है कि पं० विद्याधरजी के सुपुत्र पण्डित वेणीरामजी गौड ने अपने पूज्य पिताजी के स्मारकग्रन्थ के प्रकाशन का आयोजन किया है। मैं उनके इस सत्प्रयास के लिए साधुवाद देता हुआ म० म० पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री और परम आदरणीय पं० विद्याधरजी गौड को अत्यन्त भाव गद्गद होकर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

स्मृति-रेखाएँ

(पं० श्रीपद्मनारायणजी आचार्य, एम्० ए०, प्राध्यापक, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय)

सन् २८ की गर्मियों की बात है। मेरा पूरा परिवार श्राद्ध करने के लिए काशी आया हुआ था। श्राद्ध कराने के लिए 'आचार्य' के रूप में काशी के लब्धप्रतिष्ठ कर्मकाण्डाचार्य श्रीविद्याधरजी आये हुए थे। जिस विधि, सरलता और प्रसन्नता के साथ उन्होंने पूरे कार्य को सम्पन्न कराया उसने आबाल-वृद्ध सभी को सन्तोष दिया। अनेक कालेज के अध्यापक और विद्यार्थी बड़ा कर्मकाण्डी समझ करके बड़े आडम्बर की कल्पना कर चुके थे, पर इस आयोजन ने उनकी कल्पना को असत्य करके उन्हें विशेष-रूप से सुखी किया। अब प्रश्न दो ही बातों का शेष रह गया था—भोजन और दक्षिणा। माताजीने आग्रहपूर्वक दक्षिणा देने का प्रयास किया, पर आचार्यवर ने एक ही शब्द में कहा—'श्राद्ध की दक्षिणा श्रद्धा होती है, वह मुझे मिल चुकी। ब्राह्मण का कोई काम पैसे से नहीं होता। तुम ब्राह्मण हो। मैं इतने से ही प्रसन्न हूँ कि यहाँ आकर मैंने ब्राह्मणों का-सा वातावरण पाया।' भोजन के लिये आवरण-हीन होकर उन्होंने कहा—'बिना कष्ट के आचार्य को प्रसन्न करने की चेष्टा करना चाहिए। अतः जो फलफूल खिलाना है वह मुझे दे दो और मैं उसे घर ले जाकर बच्चोंमें वितरित करके खाऊँगा और खिलाऊँगा।' इस व्यवहार से हम लोगों के

घर में आगन्तुकों के लिए जल्दी भी हो गई और स्वयं आचार्यवर भी जल्दी छुट्टी पा गए। एक तीसरा काम आचार्यजी ने और भी किया। उस दिन दिन-भर जिस वेदाध्ययन की वे चर्चा करते रहे थे, उसके सम्बन्ध में बोले—'इस लड़के को मैं यदि कुछ वेद के सम्बन्ध में पढ़ा सका तो मेरा लाभ होगा।' पण्डितजी सब लोगों की वेदना और प्रसन्नता लेकर आशीर्वाद की वर्षा करके वापस चले गए और हम लोगों पर तीन बातों की छाप छोड़ गए—श्रद्धा, पारिवारिक भोजन और वेद की पढ़ाई से लाभ।

दो दिन बाद हमारे घर में एक नाटकीय घटना हुई। मेरे घर के बच्चे श्राद्ध का खेल खेल रहे थे। उसमें विद्याधरजी का पार्ट ही प्रधान था। बने हुए (शिशु) विद्याधरजी बड़ी सफाई से कह रहे थे 'मुझे केवल श्रद्धा चाहिए और हम तो मिठाई ले जाकर घर के बच्चों में बाटेंगे। आपको कोई कष्ट भी नहीं होगा और इस लड़के को (एक ओर संकेत कर) वेद पढ़ाने से बड़ा लाभ होगा।' और फिर बहुत गम्भीरतापूर्वक वे (शिशु) विद्याधरजी बड़े अभिनय के साथ अपने सभी (शिशु) यजमानों को प्रणाम करने का सरोष आदेश दे रहे थे, क्योंकि वे प्रणाम स्वतः नहीं कर रहे थे। इसी के बाद वह नाटकीय अभिनय समाप्त हुआ।

आज भी श्रीविद्याधरजी की वह सरल और सौम्य आचार्य-मूर्ति हमारे परिवार में संस्मरण की वस्तु है। हम लोग एक बात और कहा करते हैं—संस्था, रूढ़ि, कर्मकाण्ड और परम्परा जब मनुष्य के रूप में द्रवित होकर बहती हैं, तभी उनमें ताजगी रहती है। इस अनुभव को कराने वाला व्यक्ति वही महापुरुष था।

मैं वैदिक-कर्मकाण्ड पर शोध कार्य कर रहा था। सन् ३१ की बात है। श्रीविद्याधरजी से इतना घुलमिल गया था कि उन्हें "भैयाजी" कहा करता था। इसी से ढीठ होकर चाहे जो पूछा करता था और चाहे जो कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक सुनाया भी करता था। एक दिन कुछ बाहर के आगन्तुक आ गए थे। कुछ वेद-मन्त्रों का अर्थ उन लोगों ने श्रीविद्याधरजी से पूछा। उनमें दो मन्त्रों का मुझे स्मरण है। एक मन्त्र पुरुषसूक्त का 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' वाला था और दूसरा महामृत्युञ्जय का मन्त्र था। पण्डितजी के अर्थ बता चुकने पर मैंने कहा—'आज-कल के विद्वान् इन मन्त्रों का दूसरा अर्थ भी करते हैं। बहुत प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने कहा—'तुम इन मन्त्रों का वही अर्थ सुनाओ।' मैंने प्रत्येक मन्त्र के अर्थ अपने ढंग से सुनाए। मेरे किये गए मन्त्रार्थों को सुनकर आचार्यजी की मुखमुद्रा प्रसन्न दिखाई दी और अन्त में उन्होंने मेरी पीठ ठोंकते हुए मुझे सहर्ष आशीर्वाद भी दिया।

उस दिन हम गुरु-शिष्य ने मिलकर एक यह योजना भी बनाई कि एक छोटा—सा वैदिक-कोश बनाया जाय, जिसमें कर्मकाण्ड-परक अर्थों और अन्य

वेदार्थों की तुलनात्मक व्याख्या की जाय। यह काम उसी प्रकार मेरे ऊपर ऋण है, जिस प्रकार अनेक गुरुजनों का ऋण मेरे ऊपर है। मैं उऋण हो सकूँगा, इसकी इच्छा भी नहीं है, कल्पना तो दूर हो ही गई है।

अन्त में, आज इतने दिनों बाद, एक बात और ध्यान में आती है कि जब कभी कर्मकाण्डपरक वेदार्थ की मैं श्रद्धापूर्ण समीक्षा करने लगता था, तो आचार्यवर की आँखों में अधिक तृप्ति दिखाई पड़ती थी। इससे मेरा निचोड़ यही है कि उन्हें मेरी वेदार्थ-समीक्षा विशेष प्रिय थी।

इसी सम्बन्ध में एक प्रिय घटना और स्मरणीय है। महामना मालवीयजी महाराज ने काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों के सामूहिक वेदाध्ययन और वेद-व्याख्यान के लिए एक योजना बनाई थी। उसकी पहली बैठक थी। मालवीयजी महाराज ने आरम्भ में वेद-परम्परा की प्रशंसा करते हुए भारत के वैदिकों की महिमा और कर्मकाण्ड की महिमा सुनाई। और कहा—"भारत का राष्ट्रीय साहित्य-दर्शन और सामाजिक-जीवन सभी कुछ वैदिक-परम्परा पर आश्रित है और उस परम्परा के योग्यतम विद्वान् यहाँ उपस्थित हैं। उनमें दो विद्वान् विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि वे दोनों उच्चकोटि के विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं और अपढ़ जनता के जीवन को भी चलाते हैं। ऐसी विशाल भूमिका में मैं महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रभुदत्तजी तथा पं० श्रीविद्याधरजी इन दोनों पिता-पुत्रों को यहाँ देख रहा हूँ।"

दोनों आचार्यों से वेदार्थ करने का आग्रह किया गया, परन्तु दोनों ने सब के समक्ष वेदार्थ करने का निषेध किया।

एक दिन ऐसा आया कि इस घटना का अच्छा अर्थ भी मुझे हाथ लगा। श्रीविद्याधरजी ने प्रसङ्ग आने पर बतलाया कि "अपनी कर्मकाण्डपरक व्याख्या को सबके सामने सुनाने से लाभ नहीं, हानि होती है। उसका उद्देश्य वेद-परम्परा की रक्षा, कर्मकाण्ड का विकास और श्रद्धा का सञ्चारमात्र है। उसका वातावरण ही दूसरा है। अनुचित वातावरण में रख कर ही कर्मकाण्डियों ने असफल वैद्यों के समान अपनी हँसी कराई है और वेद की हानि की है। अतः सबके समक्ष वेदमन्त्र का उच्चारण अथवा वेदार्थ करना मुझे नापसन्द है। इसलिये अपनी नीति के विरुद्ध मैं कभी कोई काम नहीं करता।" जिस समय उन्होंने अपने यह भाव व्यक्त किये थे, वे मानव की द्रवित की चेतन अवस्था में थे। उस समय केवल सत्य ही बोलता है। वेद का मर्म ही अपनी कहानी सुनाता है।

विशिष्ट विभूति

(पं० श्रीविश्वनाथजी शास्त्री भारद्वाज, एम्. ए., प्राध्यापक-काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीविद्याधरजी गौड अग्निहोत्री (अध्यक्ष—धर्मविज्ञान विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) से मेरा चिरकालतक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आपकी सौम्य, भव्य तथा भस्मत्रिपुण्ड्र से सुशोभित आकृति के दर्शन का और आपके निष्कपट, दयार्द्र तथा स्वच्छ हृदय के उद्गारों का जिन्हें अनुभव हुआ होगा, वे उन्हें कदापि भूल नहीं सकते। आप में उत्कृष्ट विद्वत्ता रहने पर भी अभिमान का लेश तक नहीं था। अनाडम्बर, मितभाषिता तथा त्याग- ये उनके स्वाभाविक गुण थे। परोपकार में उनकी सदैव प्रवृत्ति रहा करती थी।

हिन्दू विश्वविद्यालय से पढ़ाकर घर लौटते समय प्रायः नित्य ही पं० श्रीविद्याधरजी के साथ आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ करता था। कभी-कभी मार्ग में शास्त्रचर्चा प्रारम्भ होती थी, तो पण्डितजी की चतुर्दिक् विद्वत्ता को देख कर आश्चर्य होता था और उनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता और उच्च विचारों को अनुभव कर हृदय प्रफुल्लित हो उठता था। पं० श्रीविद्याधरजी हिन्दू विश्वविद्यालय में यदा-कदा स्वयं मेरे कमरे में आकर इतिहास के विषय में परामर्श किया करते थे। मैंने कई बार नम्रतापूर्वक उनसे निवेदन किया कि 'आप स्वयं यहाँ आने का कष्ट न कर मुझे ही अपने कमरे में बुलवा लिया करें।' इस पर पण्डितजी उत्तर देते थे कि—'क्या मैं आपके यहाँ आने से छोटा हो जाऊँगा ?'

ऐसे उदारचरित महात्मा के सम्बन्ध में जितना भी लिखा जाय उतना थोड़ा ही है। संक्षेप में यह कहना अनुचित न होगा कि भारतवर्ष के वैदिक तत्त्वों को जाननेवाली ऐसी विभूति अब दृष्टिगोचर होगी, यह सन्देहास्पद है।

———

महान् वेदज्ञ

(पं० श्रीकाशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, निरीक्षक, संस्कृत पाठशालाएँ, यू० पी०)

मैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड के वैकुण्ठवासी पिता स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री का समकालीन हूँ। इसलिये मैं श्रीविद्याधरजी को बाल्यावस्था से ही जानता था। आप प्रारम्भ से ही शान्त प्रकृति के पुरुष थे। आपका चित्त सर्वदा विद्याध्ययन में ही लगता था, अन्य प्रपञ्चों से आप दूर रहा करते थे। आपने वेद-वेदाङ्ग का ऐसा सुन्दर अध्ययन किया था कि आप अपनी स्वल्पावस्था में ही वेद के पारङ्गत विद्वान् हो गये थे। आपकी कीर्ति केवल काशी में ही नहीं, किन्तु सारे भारत में व्याप्त थी। आपकी विद्वत्ता का सम्मान विद्वान्, सेठ-साहूकार, राजा-महाराजा सभी करते थे। आपकी विद्वत्ता और योग्यता से सन्तुष्ट होकर गवर्नमेन्ट सरकार ने भी आपका सम्मान 'महामहोपाध्याय' टाइटिल देकर किया था। आप अपने समय में सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ माने जाते थे। आपने खुले दिलवाले दानी के सदृश वेद-विद्या का बड़ी ही उदारता से शिष्यों को दान किया था, जिसका फल यह है कि आज सारे भारत में आपके अनेकों सुयोग्य शिष्य वेदाध्यापक पद पर प्रतिष्ठित होकर वेद-ज्ञान का प्रकाश फैला रहे हैं।

आप काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के अध्यापन के अतिरिक्त अपने सकरकन्द गली वाले मकान के पास ही आम रास्ते पर 'काजड़िया संस्कृत पाठशाला' में भी छात्रों को वेद पढ़ाते थे। जिस समय आप छात्रों को वेद पढ़ाते थे उस समय उस मार्ग से आने-जाने वाले लोगों को वेद-ध्वनि सुनकर बड़ा हर्ष और आनन्द होता था। आप जितने बड़े विद्वान् थे उतने ही बड़े सुशील और विनयी थे।

"विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥"

यह श्लोक आपके जीवन—व्यवहार में अक्षरशः घटता था।

श्रीविद्याधरजी का व्यक्तित्व महान् था। उनसे जो एक बार प्रथम मिलता था वही उनका भक्त बन कर उनका सम्मान करता था। श्रीविद्याधरजी के सम्बन्ध में ऐसी कई घटनाएँ मुझे स्मरण हैं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

१—एक बार श्रीविद्याधरजी के समय के कलक्टर साहब ने मुझ से पूछा—"काशी में इस समय वेद-विद्या का सब से बड़ा विद्वान् कौन है?" मैंने उत्तर में श्रीविद्याधरजी का नाम बतलाया। फिर उन्होंने इनके दर्शन की इच्छा प्रकट की। मैं श्रीविद्याधरजी को कलक्टर साहब के पास ले

गया। कलक्टर साहब आपसे वार्त्तालाप करके बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुए और चलते समय अपनी मोटरकार पर इन्हें विदा किया।

२—एक बार काशी में बहुत बड़े राजकीय उच्चाधिकारी पुरुष आये। उस समय फिर कलक्टर साहब ने मुझ को बुलाया और कहा—"आप पण्डित श्रीविद्याधरजी को आये हुए उच्चाधिकारी पुरुष से भेंट कराइये।" "मैं कलक्टर साहब के कथनानुसार श्रीविद्याधरजी को उक्त उच्चाधिकारी के पास लेकर गया, तो वह उच्चाधिकारी श्रीविद्याधरजी को देख कर अपने अधिकार के अनुसार उठे नहीं, कुर्सी पर ही बैठे रहे। किन्तु जब उनकी श्रीविद्याधरजी से बातें हुईं, तो वह इतने अधिक प्रभावित हुए कि श्रीविद्याधरजी के वापस लौटते समय वह उच्चाधिकारी उठे ही नहीं, बल्कि श्रीविद्याधरजी को बहुत दूर तक बाहर स्वयं छोड़ने के लिये आये और उनके दर्शन से अपने-आपको सौभाग्यशाली समझने लगे।

३—एक बार श्रीविद्याधरजी को अपना मकान बनवाने के लिये म्युनिसिपल बोर्ड से अनुमति की आवश्यकता पड़ी, तो मैं म्युनिसिपल बोर्ड के एक्जीक्यूटिव आफ़िसर श्रीठाकुर रामसिंह को आपके घर बुला लाया। ठाकुर रामसिंह ने जब आपसे वार्त्तालाप किया, तो वे बहुत प्रभावित हुए और चलते समय उन्होंने आपका पादस्पर्श बड़ी श्रद्धा से किया और निवेदन किया—"आप जैसा चाहें वैसा मकान बनवा लीजिये, आपके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है।"

४—एक बार काशी में एक शुद्ध क्षत्रिय तहसीलदार थे, जिनका नाम ठाकुर वृषभकेतु सिंह था। एक दिन उन्होंने भी मुझ से पण्डित श्रीविद्याधरजी के दर्शन करने की अभिलाषा प्रकट की। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि पण्डितजी के दर्शन कर तहसीलदार साहब ने भी बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उनका पादस्पर्श किया था।

५—मैं जिस समय काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज में 'निरीक्षक' था, उस समय बहुत से अंग्रेज विदेश से भारत में भ्रमणार्थ आते थे। उनमें कुछ विद्यारसिक अंग्रेज काशीस्थ 'गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज' को देखते थे। कई बार कुछ विद्याप्रेमी अंग्रेज काशीस्थ उद्भट विद्वानों में श्रीविद्याधरजी के भी दर्शन की अभिलाषा प्रकट करते थे। एक बार एक वेद-प्रेमी अंग्रेज ने श्रीविद्याधरजी के दर्शन की विशेष इच्छा प्रकट की। मैं उन्हें अपने साथ श्रीविद्याधरजी के निवासस्थान पर ले गया। श्रीविद्याधरजी हमें देख कर अपने कमरे से बाहर आ गये और वे अपने मकान के आगे बने हुए पत्थर के चबूतरे पर कुशासन बिछा कर बैठ गये और हमारे लिए एक ऊनी कम्बल बिछा दिया, जिस पर हम दोनों बैठ गये। पश्चात् श्रद्धालु अंग्रेज ने श्रीविद्याधरजी से वेद के सम्बन्ध में कई मार्मिक प्रश्न किये, जिनका उत्तर प्राप्त कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। अनन्तर उन्होंने शुक्ल यजुर्वेद संहिता के एक मन्त्र का

अर्थ पूछा, तो श्रीविद्याधरजी ने उस मन्त्र का अर्थ करते हुए यह भी बतलाया कि यह मन्त्र अमुक अध्याय का और अमुक संख्या का है। पुनः अंग्रेज महोदय ने दो तीन वेद-मन्त्रों के अर्थ पूछे तो फिर उन्होंने पूर्ववत् मन्त्रों की अध्याय-संख्या और मन्त्र-संख्या बतलाते हुए वेदार्थ कर दिया। अंग्रेज महोदय के पास शुक्ल यजुर्वेद संहिता का एक छोटा-सा 'गुटका' पैकेट साइज का था। श्रीविद्याधरजी जब वेद—मन्त्रों के अध्याय और संख्या बतलाते थे, तो अंग्रेज महोदय अपने पासवाले शुक्ल यजुर्वेद संहिता के छोटे-से गुटके को निकाल कर मिलान करते थे। मिलान करने पर जब वेद-मन्त्रों की अध्याय-संख्या और मन्त्र-संख्या को यथार्थ-रूप में पाते थे, तो उन्हें श्रीविद्याधरजी की अपूर्व स्मरण शक्ति को देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता था। अंग्रेज महोदय ने मेरे से कहा—"मैंने विद्या के लिए काशी की जैसी प्रशंसा सुनी थी, उससे भी बढ़ कर काशी को पाया।' अन्त में अंग्रेज महोदय ने बहुत आग्रह करके श्रीविद्याधरजी का एक चित्र स्वयं उतारा और वापस लौटते समय बड़ी श्रद्धा से श्रीविद्याधरजी को अभिवादन कर अपने जीवन को सार्थक माना। यह सब उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता और सुशीलता का महान् प्रभाव था।

श्रीविद्याधरजी के निधन से संस्कृत-समाज की जो क्षति हुई है, वह शीघ्र पूर्ण होती दिखाई नहीं देती। जब से उन्होंने इस संसार को छोड़ा, तब से वेद-विद्या का वास्तविक आनन्द भी हम से दूर हो गया, परन्तु उस आनन्द की स्मृति अभी तक भी हम से दूर नहीं हुई है।

एक कहावत है—'यशो यस्य जीवनं तस्य'। श्रीविद्याधरजी अपने जीवनकाल में यशस्वी थे और इस नश्वर जगत् को छोड़ने के उपरान्त भी यशस्वी हैं। इसलिये मैं यही कहूँगा कि वह सदा अमर हैं और जैसा वेद का प्रचार इस लोक में वे करते थे वैसा प्रचार वे परलोक में भी देवताओं के मध्य में कर रहे होंगे। इत्यलम्।

वेदमार्गदर्शी वेदमूर्तिकी स्मृति

(पं० श्रीसुब्रह्मण्यजी शास्त्री, मीमांसाध्यापक, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

वेदाम्भोजपतङ्गाय मीमांसापारदृश्वने।
नमो विद्वद्वरेण्याय श्रीविद्याधरशर्मणे॥

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड को कौन नहीं जानता? वे बीसवीं शताब्दी में वैदिक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों में एक महान् विभूति थे। इस युग में आपको मन्त्रद्रष्टा कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

आप सौजन्य, सौलभ्य, सारल्य आदि गुणों से विभूषित स्वच्छ, पवित्र और विशाल हृदय के थे। आपके पिताजी परम पूज्य महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री वेद के महान् विद्वान् थे। किन्तु म० म० श्रीविद्याधरजी गौड महोदय ने विद्या, विनय आदि गुणों से अपने पितृपाद को भी परास्त कर दिया था।

'पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इस लोकोक्ति के आप ज्वलन्त उदाहरण थे। आप अलौकिक असाधारण महान् विद्वान् होते हुए भी लोक-व्यवहार में बड़े ही चतुर थे। अहर्निश वेदशास्त्रों का चिन्तन और शिष्यों को अध्यापन यही आपका प्रशंसनीय व्यवसाय था। आपके रचित कई ग्रन्थ बहुत ही उच्च कोटि के और प्रसिद्ध हैं, जिनमें कात्यायन श्रौतसूत्र की टीका और भूमिका अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है। आपने कात्यायन श्रौतसूत्र की भूमिका में वेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के मत का विवेचन प्राचीन भारतीय विद्वानों की दृष्टिकोण से किया है एवं समस्त वेद-शाखाओं का सङ्कलन तथा श्रौत गृह्यसूत्रों का जो संग्रह किया है वह प्रशंसनीय है। आपने स्वामी दयानन्द सरस्वती के भी मत का निरास किया है। जैमिनिसूत्र एवं कात्यायन श्रौतसूत्र आदि का तुलनात्मक ढंग से विचार करते हुए श्रौत-स्मार्त आधानादि अश्वमेधान्त कर्मों का भी संक्षेप से वर्णन किया है। कात्यायन श्रौतसूत्र की टीका में प्रत्येक सूत्र की वृत्ति में मीमांसा-शास्त्र के सिद्धान्तों को सामने रखते हुए सूत्रों का अर्थ स्पष्ट-रूप से विश्लेषण किया है। जहाँ तहाँ मीमांसा के सिद्धान्तों तथा याज्ञिक आचारों के भेद का संग्रहात्मक निरूपण किया है। मैं समझता हूँ भूमिका के साथ-साथ कात्यायन श्रौतसूत्र का सविधि अध्ययन किया जाय तो अच्छा मीमांसक हो सकता है। आपके तत्त्वावधान में काशीस्थ अच्युत ग्रन्थ-माला से 'शतपथ ब्राह्मण' का मूलभाग, विषयानुक्रमणिका, विस्तृत भूमिका तथा शाखान्तरीयवाक्यों के संवाद के सहित प्रकाशित हुआ है।

उत्तर भारत में पञ्चगौडों में आपको श्रौतविद्या का प्रवर्त्तक कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वैदिकों में अच्छे विद्वान् होते हुए भी व्युत्पत्ति का अभाव रहता है, परन्तु इस कलङ्क को आपने परिमार्जित किया। आप वस्तुतः तपस्वी, विद्याव्यसनी तथा विषयपराङ्मुख एक 'ऋषि' थे। आप काशी हिन्दूविश्व-विद्यालय में वेदविभागाध्यक्ष थे। आप काशीस्थ गोयनका संस्कृत महाविद्यालय में भी मध्याह्न में वेद के भाष्यों और श्रौतसूत्रों का अध्यापन करते थे। आपके आचार्यत्व में जिस प्रकार सैकड़ों महत्त्वपूर्ण महायज्ञ हुए हैं उस प्रकार के यज्ञों का दर्शन आजकल सर्वथा असम्भव है।

श्रद्धेय महामहोपाध्यायजी से मेरा तीस वर्ष सम्पर्क रहा है। वे मेरे लिये पूज्य गुरुचरणों की श्रेणी में विराजमान थे। मुझको वे अपने पुत्र के समान हृदय से मानते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति होने पर वे बहुत ही प्रसन्न

हुए और उन्होंने अपने श्रीमुख से मुझ को आशीर्वाद देते हुए कहा—'तुम हमारे सुयोग्य उत्तराधिकारी हो, तुम्हारी नियुक्ति से मुझे बड़ा हर्ष हुआ।'

स्वर्गीय म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौड वेदाचार्य इस युग में श्रौत-स्मार्त-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक 'ऋषि' थे। उन्होंने अपना समग्र जीवन अध्यापन, ग्रन्थ-लेखन, ग्रन्थ-प्रकाशन में व्यतीत कर 'अधीतमध्यापितमर्जितं यशः' इस वचन को सार्थक किया और भारतवर्ष के परिगणित वेदज्ञों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। अतः हमलोगों को भी उन पवित्रात्मा वेदमार्गदर्शी महर्षि के धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन के अनुसार चलना चाहिये, जिससे हम भी महानात्मा और पवित्रात्मा बन सकें।

वैदिक-सम्प्रदायके प्रवर्त्तक

(वैदिकप्रवर पं० श्रीबालकरामजी आहिताग्नि, हृषीकेश)

आज अत्यन्त सौभाग्य का दिन है, जो मुझे ब्रह्मर्षिस्वरूपभूत महापुरुष के विषय में कुछ लिखने का अवसर प्राप्त हुआ है।

अनादि काल से ब्रह्मवंश द्विविध-रूप में प्रवाहित है। प्रथम यौन और द्वितीय विद्या। श्रुति में भी ऐसा ही प्रतिपादित है—

"अथ वँ॒शः। समानमासाञ्जीवीपुत्रात् (यौनवंश)।,
अथ वँ॒ शः। तदिदं वयँ॒ शौपर्णाय्याच्छौपर्णः।"

विद्यावंश गोत्रप्रवराध्याय यौनवंश को ही प्रतिपादित करता है। गोत्र-प्रवर के द्वारा ही वंश का परिचय पूर्व-परम्परा से प्राप्त होता है, किन्तु कालभेद से ब्रह्मवंश की विद्या योगक्षेमार्थ देशान्तरों में प्रतिष्ठित हो गई। हिम और विन्ध्य की सीमापर्वतों से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा होने के कारण आज जगत् में ब्राह्मणों के दो प्रकार के भेद विद्यमान हैं। विन्ध्य के दक्षिण-भागस्थ ब्राह्मणों को 'द्रविड' शब्द से और विन्ध्य के उत्तर-भागस्थ ब्राह्मणों को 'गौड' शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है। परन्तु हम लोगों की सङ्कोचावस्था ने उस गौड में भी अतिसङ्कोच कर दिया है। मेरे विचार से ये सभी पञ्चविध गौड-शब्द से निर्दिष्ट होने चाहिएँ। शिष्टों से सुना जाता है—

"सारस्वताः कान्यकुब्जा गौड-मैथिल-उत्कलाः।
पञ्च गौडाः समाख्याता विन्ध्योत्तरनिवासिनः॥"

यही पञ्चगौड दृशद्वती, शतद्रू, विपाशा, इरावती और चन्द्रभागा आदि नदी के तट के निवास से सारस्वत, कान्यकुब्ज देश-विशेष से कान्यकुब्ज, बंग-देश से गौड, बिहार-प्रान्त से मैथिल और उत्कल-देश से उत्कल कहे जाते हैं। वर्णों में ब्राह्मणों के प्राधान्य होने के कारण देश-विशेष की संज्ञा ब्राह्मणों में ही आरूढ़ हो गई, परन्तु ये पाँच 'पञ्चगौड' शब्द से ही निर्दिष्ट हैं और प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में भी "इति गौडाः" ऐसा उद्धरण मिलता है।

दुर्दैव कलिकाल महाकाल के कारण राजा जनमेजय के अस्त हो जाने के पश्चात् उत्तर-प्रदेश निर्वेद-सा हो चुका था। भगवान् मनु ने भी सर्वप्रथम उत्तर-प्रदेश को ही महत्त्व दिया है—

"कुरुक्षेत्रञ्च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥" (२।१९,२०)

अर्थात्—पूर्वोक्त देशों से उत्पन्न ब्रह्मवंश से सभी मानव—जाति को शिक्षा-ग्रहण करनी चाहिये। किन्तु इन ब्रह्मर्षि-देशों में ही वेदों के, कल्पों के एवं दर्शनों के भाष्यकार उत्पन्न हुए हैं, यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

सर्वप्रथम विन्ध्य के दक्षिण-भाग में ही शबरस्वामी, धूर्तस्वामी, हरिस्वामी, शङ्कराचार्य, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर एवं सायणाचार्य आदि विद्वान् हुए हैं। मेरी दृष्टि में दस शताब्दी के मध्य में उत्तरप्रदेश में ऐसा कोई विद्वान् उत्पन्न नहीं हुआ, जो वेदभाष्यकार एवं वृत्तिकार हुआ हो, इससे बढ़कर हमारे देश का क्या दौर्भाग्य हो सकता है? अस्तु,

मेरे जीवनकाल में पूर्व शताब्दी में उत्तरप्रदेश में शास्त्रों के मर्मज्ञ एवं संशयच्छेदक प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीशिवकुमारजी शास्त्री तथा पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय १००८ जगद्गुरु वैदिकमूर्धन्य महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी महाराज ये दो ही विद्वान् ऐसे हुए, जिनका सूर्य-चन्द्र के समान प्रकाश सर्वत्र व्याप्त था। इन महानुभावों की कीर्ति बाल्यावस्था से ही मैं हृषीकेश में अपने कर्णगोचर करता रहा। हृषीकेश में संवत् १९७२ वै० कृ० १३ को अपने पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीगुरुजी महाराज के ब्रह्मलोक में विदा होने के पश्चात् मैं अध्ययनार्थ श्रीकाशीपुरी पहुँचा। उस समय काशी में महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी महाराज की उज्ज्वल कीर्ति सूर्यवत् प्रकाशमान थी, जिनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता के सामने काशीस्थ दाक्षिणात्य घनान्ती वैदिकमण्डल की ज्योति उसी प्रकार अस्त हो रही थी, जिस प्रकार सूर्योदय होने से चन्द्र एवं तारामण्डलादि की ज्योति अस्त हो जाती है। काशी में एकमात्र श्रीप्रभुदत्तजी महाराज का 'प्रभुत्व' छाया हुआ था। मैं भी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज की छत्र-छाया में अध्ययनार्थ गया, किन्तु वे राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों के यहाँ महायज्ञार्थ

गमनागमन में विशेष व्यस्त रहते थे। अतः श्रीप्रभुदत्तजी के पास समय के अभाव को देख कर मुझे अन्यत्र अध्ययनार्थ प्रस्थित होना पड़ा। किन्तु जब कभी वेद-कर्मकाण्ड-सम्बन्ध में मानसिक शङ्काएँ उत्पन्न हुआ करती थीं, तो मैं श्रीप्रभुदत्तजी महाराज की शरण में उपस्थित होकर निवेदित करता था। श्रीमहाराजजी स्वयं तो मेरी शङ्काओं का समाधान करते ही थे, किन्तु कभी-कभी वे भैयाजी (श्रीविद्याधरजी) से भी पूछने के लिये विशेषरूप से निर्देश किया करते थे।

श्रीप्रभुदत्तजी महाराज अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीविद्याधरजी को अपने से भी उत्कृष्ट विद्वान् समझते थे और कभी-कभी उनके श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा स्वमुख से किया करते थे।

मैंने अपने जीवन में श्रीप्रभुदत्तजी महाराज जैसा पुण्यश्लोक व्यक्ति दूसरा नहीं देखा। उनका प्रभुत्व विद्वत्ता के कारण समस्त भूमण्डल में छाया हुआ था। वे अपने समय में वेद के अद्वितोय विद्वान् माने जाते थे। इसीलिए उनकी सेवामें राजा-महाराजा और बड़े-बड़े कोटिपति सेठ उनके दर्शनार्थ और धर्मव्यवस्थार्थ उपस्थित होते थे। गवर्नमेन्ट सरकार ने भी उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किया था। वेदज्ञों में यह सम्मान सर्वप्रथम आपको ही प्राप्त हुआ था।

श्रीप्रभुदत्तजी महाराज की जीवन-यात्रा में ही उनके पुत्र श्रीविद्याधरजी तथा श्रीशिवदत्तजी न्यायाचार्य दिवाकर और निशाकर-रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। श्रीविद्याधरजो काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय में धर्मविज्ञान विभागाध्यक्ष और श्रीशिवदत्तजी गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज में न्याय-विभाग के प्रधानाध्यापक थे।

श्रीप्रभुदत्तजी महाराज के ज्येष्ठ पुत्र श्रीविद्याधरजी तो साक्षात् 'विद्याधर' ही थे, जो 'गन्धर्वनगर' से अवतीर्ण हुए थे। उनका नाम पूर्णरूप से हो गतार्थ था। विद्या, ब्रह्मविद्या और त्रयी विद्या को पूर्णरूपसे धारण करनेवाले एवं शीलता, सौजन्यता, विनम्रता आदि सद्गुणों से उपेत होने के कारण ही वे 'विद्याधर' नाम से प्रख्यात हुए।

श्रीविद्याधरजी की समस्त शास्त्रों में अप्रतिहत गति थी। इसी कारण वे अपने श्रीपिताजी से भी अधिक विद्वान् माने जाते थे। उन्होंने भी अपने श्रीपिताजी की तरह गवर्नमेन्ट सरकार द्वारा 'महामहोपाध्याय'की उपाधि प्राप्त कर विशेष सम्मान प्राप्त किया था। श्रीविद्याधरजी महाराज ने कात्यायन श्रौतसूत्र की विद्वत्तापूर्ण 'सरला-वृत्ति' करके विद्वद्वर्ग का, विशेषतः वैदिक-समाज का महान् कल्याण किया है। यद्यपि कात्यायन श्रौतसूत्र पर कर्क, देव-याज्ञिक, अनन्त याज्ञिक आदि अनेक आचार्यों के भाष्य हैं, किन्तु उन सभी भाष्यों से श्रीविद्याधरजी की 'सरला-वृत्ति' विशेष महत्त्व रखती है और वह पूर्वाचार्यों के भाष्यों से भी अधिक गूढ़ार्थ-प्रकाश को व्यक्त करती है।

श्रीविद्याधरजी ही एक ऐसे पञ्चविधगौडवंशावतंस विद्वान् हुए, जिन्होंने कल्पकार की व्याख्याओं को करके दाक्षिणात्य विद्वन्मण्डल से भी अधिक सर्वोत्कृष्टता प्राप्त की, जिससे पञ्चगौडों की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि हुई। वस्तुतः श्रीविद्याधरजी वैदिक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। अतः उन जैसे परोपकारी, परम यशस्वी, महाविद्वान् का गुणवर्णन मैं क्या कर सकता हूँ। उनके विषय में जितना भी लिखा जाय, वह स्वल्प ही होगा।

परमादरणीय एवं परम सम्मानास्पद श्रीविद्याधरजी महाराज की मुझ पर विशेष कृपा रहा करती थी। सन् १६४० की बात है। वे शिकारपुर (सिन्ध) से यज्ञ कराकर हरद्वार पहुँचे। मुझे मालूम हुआ कि श्रीविद्याधरजी हरद्वार पधारे हुए हैं और वे कनखल में महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्दजी के यहाँ 'भारती विद्यालय' में ठहरे हुए हैं। मैं उनसे मिलने के लिये कनखल (हरद्वार) पहुँचा। वहाँ उनका दर्शन कर मेरा चित्त गद्‌गद हो गया। मैंने निश्चय किया कि—'आज मैं इन महापुरुष को अपने आश्रम में ले चलूँगा, जिससे मेरा आश्रम अवश्य ही कृतकृत्य होगा।' मैंने उनसे हृषीकेश चलने के लिए प्रार्थना की, तो उन्होंने कहा 'मैंने आपकी यज्ञशाला (अग्निहोत्रशाला) की बहुत समय से प्रशंसा सुनी है। अतः मैं आपकी यज्ञशाला और आपके आश्रम को देखने की भावना से ही हरद्वार आया हूँ और आज आपके यहाँ हृषीकेश चलने का दृढ़ विचार भी था, किन्तु काशी से अभी एक आवश्यक 'तार' आया है, जिस कारण अब कहीं भी न जाकर, सीधा काशी ही जाना उचित है। भगवत्कृपा हुई, तो फिर कभी आपकी यज्ञशाला देखूँगा।' यह कहकर वे काशी के लिये रवाना हो गये। यही मेरी अन्तिम भेंट थी।

दुर्दैव कराल-कलिकाल ने ऐसी महाविभूति को बहुत शीघ्र ही अकस्मात् अपना ग्रास बना लिया, इसका बहुत खेद है। अस्तु, ऐसी ब्रह्मलोकगत महान् आत्मा के प्रति मेरी यही हार्दिक श्रद्धाञ्जलि है कि वे अखण्डानन्त ब्रह्मानन्द में सर्वत्र अपना निवासस्थान बनाकर पुनः पुनः मृत्युलोकस्थ ब्रह्मवंश का उद्धार करते रहें।

वेदादि-शास्त्रोंके मूर्तिमान् स्वरूप

(दिक्प्रवर पं० श्रीरामचन्द्रजी वाजपेयी, कर्मकाण्डविशारद, कानपुर)

म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री का प्रथम दर्शन हमको कानपुर में संवत् १९५९ में हुआ था। कानपुर के अत्यन्त प्रतिष्ठित रईस श्रीमान् पं० पृथ्वीनाथजी वकील ने संवत् १९५९ के कार्तिक मास में कानपुर में 'श्रीमहारुद्र यज्ञ' करने का विचार किया। यज्ञका निश्चय होने पर यज्ञ के लिये सुयोग्य 'आचार्य' की खोज होने लगी, तो सर्वसम्मति से निर्णय हुआ कि 'इस समय काशी विश्वनाथपुरी में सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ विद्वान् पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री हैं, उन्हींको 'आचार्य' पद दिया जाय।' श्रीअग्निहोत्रीजी से पत्रद्वारा आचार्य-पद के लिए प्रार्थना की गई। श्रीअग्निहोत्रीजी ने अत्यन्त कृपा और उदारता के साथ आचार्य-पद को स्वीकार किया। श्रीअग्निहोत्रीजी यज्ञ कराने के लिए यथासमय कानपुर पहुँच गये। उनके साथ काशी के श्रीभीमसेनजी चतुर्वेदी, श्रीनाथूरामजी गौड, श्रीकालीप्रसादजी गौड, श्रीगणेशभट्टजी अथर्ववेदी आदि ११ वैदिक विद्वान् पधारे थे। कानपुर पहुँचकर श्रीअग्निहोत्रीजी ने यज्ञ के यजमान से कहा—'हमें यज्ञार्थ ऐसे विद्वानों की आवश्यकता है, जिन्हें गायत्रीवत् 'रुद्रस्वाहाकार' कण्ठस्थ हो।' यज्ञ के यजमान पं० पृथ्वीनाथजी ने सर्वप्रथम हमको श्रीअग्निहोत्रीजी के समक्ष उपस्थित करते हुए कहा—'आचार्यजी, इन्हें रुद्रस्वाहाकार कण्ठस्थ है, कृपया आप इनकी परीक्षा कर लें।' पश्चात् यजमान तथा काशी से आये हुए पं० भीमसेन चतुर्वेदी एवं पं० नाथूराम गौड के सम्मुख हमसे श्रीअग्निहोत्रीजी ने 'रुद्रस्वाहाकार' पूछा। हमने निर्भीक होकर स्वाहाकार के कतिपय मन्त्र सुनाये, जिन्हें सुनकर श्रीअग्निहोत्रीजी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और हमको आशीर्वाद दिया। पश्चात् यज्ञ के यजमान ने काशीस्थ पण्डितों से हमारे बारे में पूछा-'यह मन्त्रपाठ कैसा करते हैं?' काशीस्थ पण्डितों ने हमारे सम्बन्ध में कहा—'इन्हें रुद्रस्वाहाकार कण्ठस्थ है और इनके मन्त्र कहने की शैली उत्तम है।' श्रीअग्निहोत्रीजी महाराज ने भी हमारे विषय में सहर्ष पुष्टि करते हुए कहा—'ऐसे ही सुयोग्य दूसरे भी ब्राह्मण मिल जायँ, तो श्रेष्ठ होगा।' तदनुसार यज्ञ-यजमान ने सुयोग्य विद्वानों को यज्ञ में सम्मिलित किया और बड़े आनन्द से ११ दिन में 'श्रीमहारुद्र यज्ञ' सुसम्पन्न हुआ। यज्ञान्त में वेद भगवान् की सवारी के साथ 'आचार्य' महोदय की सवारी नगर में निकाली गई, जिसमें यज्ञाचार्यजी के प्रभावशाली दर्शन से आस्तिक लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। पश्चात् यज्ञ के यजमान तथा कानपुर की श्रद्धालु जनता ने यज्ञाचार्यजी का बहुमान सत्कारद्वारा पूर्ण स्वागत किया।

यज्ञावसर में श्रीअग्निहोत्रीजी महाराज के प्रतिदिन दर्शन और सत्सङ्ग करने का हमको अपूर्व लाभ होता था। इसी समय हमने श्रीअग्निहोत्रीजी से बड़े

हो नम्र शब्दों में प्रार्थना को–'महाराजजी, हमको भी अपना 'शिष्य' बनाकर वेद-वेदार्थ पढ़ाने की कृपा कीजिए।' श्रीअग्निहोत्रीजी ने सहर्ष कहा– 'तुम जब चाहो काशी आ जावो, तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण की जायगी।' श्रीअग्निहोत्रीजी महाराज की आज्ञानुसार हम वेदाध्ययनार्थ काशी पहुँच गये और हमने विधिवत् पूज्य महाराजजी से शुक्ल यजुःसंहिता के पद, क्रम तथा अष्टविकृत अध्ययन किया और निरुक्त, प्रातिशाख्य आदि अर्थग्रन्थों को पढ़ा।

एक बार श्रीगुरुजी कानपुर के सुप्रसिद्ध व्यापारी सेठ श्रीजुग्गीलाल सिंहानिया के सुपुत्र श्रीमान् सेठ कमलापतिजी सिंहानिया के 'आनन्देश्वर' शिवमन्दिर (परमटघाट) की प्रतिष्ठा कराने पधारे थे। उस समय श्रीगुरुजी के साथ उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमान् भैयाजी (पं० श्रीविद्याधरजी) भी थे। श्रीभैयाजी की विशिष्ट विद्वत्ता को देखकर कानपुर के बड़े-बड़े विद्वान् चकित हो जाते थे और सब लोग बड़े गुरुजी (श्रीप्रभुदत्तजी महाराज) की प्रशंसा करते थे कि धन्य हैं उन्हें 'वेदावतार' पुत्र की प्राप्ति हुई है।

एक बार श्रीगुरुजी एक ब्रह्मचारीजी का यज्ञ कराने कानपुर पधारे। उस समय हम जनरल गंज, कानपुर की 'वैदिक पाठशाला' में वेद-कर्मकाण्डाध्यापक थे। श्रीगुरुजी महाराज ने श्रीब्रह्मचारीजी के द्वारा काशी से हमारे पास पत्र भेजा कि "अमुक ब्रह्मचारीजी कानपुर में हमारे आचार्यत्व में यज्ञ कराना चाहते हैं, सो तुम नव कुण्ड बनवा देना।" हमने श्रीगुरुजी की आज्ञानुसार कुण्ड-मण्डप बनवा दिया। श्रीगुरुजी यथासमय कानपुर पधारे और उसके साथ श्रीभैयाजी तथा अनेक विद्वान् काशी से पधारे। श्रीगुरुजी महाराज हमारे कुण्ड-मण्डप-निर्माण को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और हमें हृदय से बहुत आशीर्वाद दिया।

काशी से श्रीगुरुजी के पधारने से यज्ञ की महिमा और शोभा विशेष बढ़ गई। कानपुर-निवासियों का यज्ञके प्रति प्रेम और आकर्षण अधिक बढ़ गया, फलतः यह यज्ञ एक मास तक चलता रहा। इस यज्ञ में कानपुर के अतिरिक्त बाहरी विद्वान् भी आये थे, जो कि यज्ञ के अवकाश के समय श्रीभैयाजी से शास्त्रीय विचार-विनिमय किया करते थे। श्रीभैयाजी से सदुत्तर पाकर विद्वद्वर्ग अपने को कृतकृत्य मानते थे और सर्वदा श्रीभैयाजी के दर्शन एवं सत्सङ्ग के इच्छुक बने रहते थे।

एकबार श्रीगरुजी अपने शिष्य श्रीभोलानाथ ब्रह्मचारी (संस्थापक— श्री सरस्वती ब्रह्मचर्याश्रम, परमट घाट, कानपुर) को 'श्रौताधान' दिलाने कानपुर पधारे। उस समय भी श्रीगुरुजी के साथ श्रीभैयाजी पधारे थे।

जिस समय हम काशी में श्रीगुरुजी से वेदाध्ययन करते थे उस समय काशी में केवल श्रीगुरुजी की ही वेदज्ञों में मान्यता थी। श्रीगुरुजी राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों के यहाँ यज्ञ-प्रतिष्ठादि कराने जाया करते थे। उन्हें कर्मकाण्ड से

फुरसत नहीं मिलती थी। श्रौताधान और श्रौत-कर्मकाण्ड की श्रेणी में यदा कदा दाक्षिणात्य विद्वानों से श्रीगुरूजी का कई बार संघर्ष भी हो जाता था, किन्तु विचार विनिमय के बाद अन्त में श्रीगुरूजी महाराज ही सर्वत्र प्राथम्य होकर विजय प्राप्त करते थे।

श्रीगुरूजी वसन्तपूजा के 'सम्राट्' माने जाते थे। वसन्तपूजा में सर्वोच्च उच्चारण श्रीगुरूजी का ही होता था। कुछ दाक्षिणात्य विद्वान् श्रीगुरूजी से स्पर्धा रखते थे। स्पर्धा रखनेवाले विद्वानों से 'वसन्तपूजा' में यदा कदा श्रीगुरूजी की मुटभेड़ भी हो जाती थी। वसन्तपूजा में जब वेद के पद, क्रम, दण्ड, जटा, घन का पाठ प्रारम्भ होता था, तब "सवित्रा प्रसवित्रा" (शु० य० १०।३०) इत्यादि मन्त्रों में अनेक सञ्चारों के परावर्तन में जहाँ कहीं भी किसी पक्ष की ओर से किञ्चिन्मात्र की चुक्की होती थी, तो उस समय श्रीगुरूजी महाराज बड़ी ही गुरुता से शब्दोच्चारण करते थे। प्रतीत होता था कि आकाश में मेघ शब्द-गर्जना कर रहे हैं। कई बार श्रीगुरूजी महाराज के साथ हम भी 'वसन्तपूजा' में जाया करते थे। हमको दाक्षिणात्य वैदिकगण नहीं पहचानते थे। अतः हमारे सामने जब कभी श्रीगुरूजी महाराज की बात चलती थी तो श्रीगुरूजी से स्पर्धा रखनेवाले दाक्षिणात्यवर्ग श्रीगुरूजी की श्रोत्रियता की प्रशंसा ही करते थे। वस्तुतः वे लोग श्रीगुरूजी में अन्तःकरण से श्रद्धा रखते थे और ऊपर से स्पर्धा करते थे।

काशी में जब हम श्रीगुरूजी से वेदाध्ययन करते थे, तो श्रीगुरूजी हमारे ऊपर महती अनुकम्पा रखते थे। वे हमें बहुत ही प्रेम से पढ़ाते थे। उस समय श्रीगुरूजी महाराज ने हमको खण्ड-दीक्षितकृत हवनात्मक महारुद्रपद्धति और शुक्ल यजुःपदपाठ संहिता (जिसमें क्रमसन्धान भी है) ये दो पुस्तकें दीं, जो कि आज भी हमारे पास स्मरणार्थ सुरक्षित हैं। श्रीगुरूजी हमको हमेशा 'वाजपेयी' नाम से सम्बोधन किया करते थे, वही नाम आज भी प्रसिद्ध है।

एक दिन श्रीगुरूजी महाराज हिन्दू कालेज (रणवीर पाठशाला) में अध्यापनार्थ शीघ्रता से जा रहे थे। हम भी उनके साथ अध्ययनार्थ जा रहे थे। मार्ग में चलते-चलते ही बाल्य—कोमलबुद्धि से हमने श्रीगुरूजी से पूछा—'महाराजजी, ब्रह्मयज्ञ में जहाँ "इषे त्वादिषु मन्त्रेषु खं ब्रह्मान्तेषु दशप्रणवसहितेषु" कहा गया है, वहाँ दश प्रणव कौन-कौन हैं?' महाराजजी ने कहा—'बेटा, मार्ग में जूता पहनकर चलते हुए वेद जैसे पवित्र विषयों का उच्चारण अथवा प्रतिपादन उचित नहीं है। पाठशाला अथवा घर पहुँचकर समझ लेना।' हमें अपने कुअवसर पर प्रश्न करने के लिए बहुत लज्जित होना पड़ा। हिन्दू कालेज पहुँचने पर श्रीगुरूजी उपस्थित छात्रों को पढ़ाने में संलग्न हो गये और हमसे बोले—"मार्ग में तुमने जो प्रश्न किया था उसका उत्तर अभी समझना चाहो, तो हमारे समीप के

कमरे में भैयाजी बैठे हुए हैं, उनसे समझ लो।" श्रीगुरुजी की आज्ञानुसार हमने श्रीभैयाजी से अपने अभीष्ट प्रश्न को उपस्थित किया। श्रीभैयाजी ने बड़े प्रेम से हमारे प्रश्न का समाधान कर दिया।

एक बार हम श्रीगुरुजी के दर्शनार्थ काशी गये। काशी पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि श्रीगुरुजी और श्रीभैयाजी दोनों सारनाथ अपनी 'पुष्पवाटिका' में गये हुए हैं। हम श्रीगुरुजी के दर्शनार्थ 'पुष्पवाटिका' में पहुँच गये। उस समय श्रीगुरुजी परीक्षार्थियों की कापियों को जाँच रहे थे। हमें मालूम था कि हमारे कानपुर के वेद के विद्यार्थियों की कापियाँ श्रीगुरुजी के पास आई हैं, सम्भवतः वे उन्हीं को देख रहे थे। हमने अपने स्वार्थवश ससङ्कोच श्रीगुरुजी से प्रार्थना किया—'डूबते हुए विद्यार्थियों को उबारने में आप ही समर्थ हैं।' हमारे कथन को सुनकर श्रीगुरुजी मुसकराये। श्रीगुरुजी का मुसकराना ही हमारे लिए सन्तोषजनक उत्तर था। पश्चात् श्रीभैयाजी ने भी हमारे कथन की पुष्टि श्रीगुरुजी से की।

एक बार हम श्रावणी (उपाकर्म) करने के निमित्त काशी में श्रीगुरुजी की सेवामें उपस्थित हुए। श्रीगुरुजी ने त्रिपुरा भैरवी के समीप 'फूटाघाट' पर श्रावणी-स्नानकर्म कराया, उपरान्त सरस्वती फाटक के समीप सत्यनारायण मन्दिर में ऋषि-पूजनादि कर्म कराया। ऋषि-पूजन में हमें बहुत ही आनन्द आया, जहाँ शुक्ल यजुर्वेद के सस्वर वेदमन्त्रों के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण का भी सुन्दर रोचक पाठ सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्रीगुरुजी के यहाँ श्रावणीकर्म में ५०० से भी अधिक काशी के तथा बाहर के आये हुए धनीमानी, सेठ-साहूकार, विशिष्ट विद्वान् एवं शिष्यगण उपस्थित थे। श्रावणी वाले दिन सायङ्काल हम श्रीगुरुजी के निवासस्थान पर उनके कक्ष में जाकर बैठ गये। श्रीगुरुजी के पास शिष्यगणों का ताँता-सा लगा हुआ था, जो बारी-बारी से श्रीगुरुजी के हाथ से रक्षा बँधाकर उन्हें दक्षिणा देते थे और श्रीगुरुजी से आशीर्वाद प्राप्तकर वापस लौट जाते थे। रक्षासूत्र बँधाने वालों में एक वैश्य की ओर निर्देश करते हुए श्रीगुरुजी ने हमसे कहा—'देखो वाजपेयी यह सेठ काशी के हैं। इनको शुक्ल यजुर्वेदसंहिता और सिद्धान्त कौमुदी कण्ठस्थ है। यह शुद्ध संस्कृत बोलते हैं।'

संवत् १९८६ में हम सपत्नीक गङ्गासागर यात्रार्थ गये थे। गङ्गासागर जाते समय हम श्रीगुरुजी के दर्शनार्थ काशी उतर गये। उस समय श्रीगुरुजी महाराज अस्वस्थ थे। वे अपने मकान के सबसे ऊपर वाले कमरे में पलंग पर लेटे हुए थे, वहीं श्रीगुरुजी ने हम दोनों पति-पत्नियों को बुलवा कर दर्शन दिया। हमको श्रीगुरुजी महाराज का यह अन्तिम दर्शन हुआ था।

हमारे श्रीगुरुजी साक्षात् 'देवता' थे। उनके नाम के अनुरूप ही उनमें गुण थे। वेद के प्रसार-प्रचार और उद्धार के लिए ही प्रभु ने उन्हें मनुष्यरूप में अवतीर्ण कर उनके 'प्रभुदत्त' नाम को यथार्थ-रूपमें सार्थक किया था। उनकी कृपा से असंख्य पञ्चगौड वेदज्ञ बन गये। एक समय था जब कि विष्णुयज्ञ,

रुद्रयज्ञ एवं हरिहर-यज्ञ आदि का प्रचार लोगों में बहुत कम था। यहाँ तक कि 'यज्ञ' का नाम लेने पर लोग आश्चर्य प्रकट करते थे कि 'यज्ञ कैसे होते हैं ?' प्रभु की कृपा से श्रीगुरुजी महाराज ने संसार में अवतीर्ण होकर वेद और यज्ञ का जो प्रसार-प्रसार प्रचार किया, वह वेदप्रेमियों के लिए सदा स्मरणीय रहेगा।

श्रीगुरुजी की मृत्यु का समाचार जानकर हमको अत्यन्त दुःख हुआ और यह अनुभव हुआ कि आज पञ्चगौडों का सूर्य अस्त हो गया। किन्तु सन्तोष और धैर्य इसलिए बना रहा कि हमारे श्रीगुरुजी से बढ़कर उनके ज्येष्ठ सुयोग्य पुत्र श्रीभैयाजी हमारे लिए रत्नकरूप में विराजमान हैं।

श्रीगुरुजी के जीवनकाल से ही श्रीभैयाजी की हमारे ऊपर विशेष कृपा रहा करती थी। वह हमारा बहुत ही आदर किया करते थे। श्रीभैयाजी के साथ हमारा शास्त्रीय विचार-परामर्श-सम्बन्धी पत्रों के अतिरिक्त पारिवारिक सन्ततियों के विवाह-सम्बन्धी समाचार-पत्रों का भी आवागमन होता रहता था। एक बार श्रीभैयाजी ने अपने पुत्र श्रीवेणीरामजी गौड आदि के उपनयन-संस्कार के समय हमारे पास यज्ञोपवीत का 'निमन्त्रण-पत्र' भेजा था। हम उपनयन के समय काशी पहुँचे। एक ही मण्डप में ६ वटुकों के संस्कार और पृथक् पृथक् समिदाधान देखा। सभी ब्रह्मचारियों को बड़े महाराज श्रीहरिद्वारीजी मिश्र (म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री के ज्येष्ठ भ्राता) ने 'मन्त्रोपदेश' दिया। समावर्त्तनान्त तिलक में हमने सुवर्ण-मुद्रा (गिन्नी) दी थी।

श्रीगुरुजी के जीवन-काल में और उनकी मृत्यु के पश्चात् श्रीभैयाजी के समय में जब कभी हम काशी जाते थे तो उनके यहाँ के श्रौताधान, इष्टि-याग का भस्म (अग्निहोत्र भस्म) ले आते थे और उस पवित्र भस्म द्वारा हमलोग उसी प्रकार पवित्र होते थे जिस प्रकार अन्य महापुरुष पवित्र होते थे।

संवत् १९८६ में कानपुर के सुप्रसिद्ध सेठ श्रीजुग्गीलाल कमलापति सिंहानिया के पुरोहित पं० श्रीगजानन्दजी गौड के द्वारा लिखित "उपाकर्मके अधिकारी कौन हैं ?" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने लिखा था— 'अनाहिताग्निकों को श्रावणी (उपाकर्म) नहीं करना चाहिये।' पश्चात् हमारे और पं० गजानन्दजी के उत्तर-प्रत्युत्तर—रूप में खण्डन-मण्डनात्मक ९–१० पत्र (नोटिस) प्रकाशित हुए थे। उस समय हमने काशी में पत्रद्वारा श्रीभैयाजी के पास उपाकर्म के विवाद-ग्रस्त विषय को उपस्थित किया था, तब श्रीभैयाजी ने अपना "उपाकर्मनिर्णयः" शीर्षक विस्तृत लेख संस्कृत में लिखकर हमारे पास भेजा था, जिसमें उन्होंने हमारे ही मत की पुष्टि की थी। पश्चात् श्रीभैयाजी का उपाकर्मवाला वह लेख काशी के 'सुप्रभातम्' मासिक पत्र के कई अङ्कों में प्रकाशित हुआ था।

श्रीभैयाजी विद्या-व्यसनी थे। वे अध्ययनाध्यापन के अतिरिक्त संसारी प्रपञ्चों से सर्वदा दूर ही रहा करते थे। हम जब कभी काशी जाते थे, तो श्रीभैयाजी

को कभी अध्यापन, कभी ग्रन्थावलोकन अथवा कभी लिखते हुए देखते थे। कभी-कभी समुपस्थित देश-देशान्तर के विद्यावयोवृद्ध विद्वानों की उलझाई हुई जटिल ग्रन्थियों को सुलझाते हुए देखते थे। श्रीभैयाजी के मुखारविन्द से शास्त्रीय विचारों को श्रवण कर बहुत ही आनन्द प्राप्त होता था।

एक बार हम श्रीभैयाजी से मिलने काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय पहुँच गये। श्रीभैयाजी धर्मविज्ञान-विभाग के 'अध्यक्ष' और 'डीन' थे। विश्वविद्यालय पहुँचने पर हम श्रीभैयाजी के अध्यापन–कक्ष में जा पहुँचे। वहाँ जाकर देखा तो श्रीभैयाजी वेद-वेदाङ्ग के विद्यार्थियों से घिरे हुए हैं। कोई कात्यायन श्रौतसूत्र, कोई निरुक्त, कोई प्रातिशाख्य, कोई शतपथ ब्राह्मण, कोई महीधर भाष्य, कोई स्वर वैदिकी, कोई सिद्धान्त कौमुदी, कोई पदपाठ और कोई घनपाठ पढ़ रहा है। इस प्रकार उन्हें अध्यापन में प्रवृत्त देखकर हमको विद्याके प्रमुख केन्द्र काशीका मूर्तिमान् स्वरूप स्मरण हो गया कि काशी धन्य है, जहाँ पर ऐसे-ऐसे महाविद्वान् विराजमान होकर काशी का गौरव बढ़ा रहे हैं।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के जन्मदाता और हिन्दू–संस्कृति के प्राण पं० श्रीमदनमोहन मालवीयजी महाराज श्रीभैयाजी को बहुत मानते थे। वे श्रीभैयाजी को 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहा करते थे। उन्हें जब कोई धर्मशास्त्रीय शङ्का प्रस्तुत होती थी, तो उसका समाधान श्रीभैयाजी से ही करते थे। एक बार प्रयाग में कुम्भपर्व के अवसर पर महामना मालवीयजी द्वारा आयोजित महारुद्र-यज्ञ में श्रीभैयाजी 'आचार्य' थे। कुम्भ के अवसर पर यज्ञ के साथ-साथ कई सम्मेलन भी हुए थे, जिनमें विद्वत्सम्मेलन भी हुआ था। हम भी कानपुर से कुम्भस्नानार्थ प्रयाग पहुँच गये। संयोगवश एक दिन हम मालवीयजी महाराज के कैम्प (छावनी) में गये, तो वहाँ विद्वद्गोष्ठी हो रही थी। उस समय काशी, प्रयाग, कलकत्ता, लाहौर, नागपुर आदि के बड़े-बड़े दिग्गज महामहोपाध्याय विद्वान् उपस्थित थे, जिनमें श्रीभैयाजी भी उपस्थित थे। धर्मशास्त्र के कई गम्भीर प्रश्नों पर घण्टों तक तर्क-वितर्क चल रहा था। उस समय श्रीभैयाजीने जो विद्वत्तापूर्ण समाधान किया, उसे सभी विद्वानों ने सहर्ष स्वीकृत किया। उस समय प्रयाग की विद्वद्गोष्ठी में श्रीभैयाजी का विद्या का विकास (प्राचुर्य) देखकर हमें श्रीगुरुजी महाराज का स्मरण हो गया कि यह सब उनके ही पुण्यों का महान् फल है—"बाढ़ै पूत पिता के धर्मा।"

श्रीमान् भैयाजी की विद्वत्ता के सम्बन्ध में कुछ लिखना सूर्य को दीपक ही दिखाना होगा। पूज्य श्रीभैयाजी अपने श्रीपिताजी से भी अधिक विद्वान् थे। उन पर माता सरस्वती की विशेष कृपा थी। अतः उनका सभी शास्त्रों पर पूर्ण अधिकार था। वे वेद की तो साक्षात् 'मूर्ति' थे। उनके विषय में अधिक न लिखकर केवल यही कहा जा सकता है—

"कुम्भः परिमितमम्भः पिबति पपौ कुम्भसम्भवोऽम्भोधिम्।
अतिरिच्यते सुजन्मा कश्चिज्जनकं निजेन चरितेन॥" इति।

"पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाश्चत्वारि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥"

—इस श्लोक के श्रीभैयाजी मूर्तिमान् स्वरूप थे। श्रीभैयाजी ने अपूर्व विद्वत्ता के कारण 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्राप्तकर अपनी पैतृक—सम्पत्ति का संरक्षण और सम्वर्धन किया। श्रीभैयाजी केवल 'विद्वान्' ही नहीं थे, सुप्रसिद्ध 'लेखक' भी थे। उनका लिखित कात्यायन श्रौतसूत्र का भाष्य सुदृढ़ और सुविज्ञ विद्वानों के हृदय कमलों को विकसित कर रहा है और उनके द्वारा लिखित श्रौत-स्मार्त की शृङ्खलाबद्ध पद्धतियाँ वेदमार्ग-पथिकों को प्रमाणीभूत होकर सहायक हो रही हैं, जिनसे देश और समाज का महान् कल्याण हो रहा है।

श्रीभैयाजी के विद्या का प्रभाव और प्रकाश केवल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी था। श्रीभैयाजी जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही नम्र, सुशील, सदाचारी, धार्मिक और परोपकारी थे। दुःख का विषय है कि ऐसे वेदमूर्ति महाविद्वान् का महाप्रयाण बहुत शीघ्र हो गया। यद्यपि आज श्रीभैयाजी इस संसार में नहीं हैं, तथापि उनकी शुभ्र कीर्ति सदा अमर रहेगी। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति।'

महामहोपाध्याय श्रीविद्याधरजी गौड

(पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०, सम्पादक—सन्मार्ग, वाराणसी)

सम्भवतः सन् १९२०, २१ की बात होगी, उन दिनों मैं काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय का 'पुस्तकालयाध्यक्ष' था। तब विश्वविद्यालय का कार्य कमच्छा-स्थित 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज' के भवनों में ही होता था। 'काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग पुस्तकालय भवन' में ही विश्वविद्यालय का पुस्तकालय था। एक दिन सन्ध्या समय पुस्तकालय बन्द कराकर मैं जब बाहर आया, तब महामना मालवीयजी के साथ एक पण्डितजी को देखा। मालवीयजी ने मुझसे कहा—'पण्डितजी के लिए 'निर्णय सिन्धु' की पुस्तक निकालो।' मैंने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'महाराज, पुस्तकालय बन्द हो गया।' उन्होंने मेरी ओर ताक कर कहा—'जानते नहीं हो, ये पण्डित प्रभुदत्तजी शास्त्री हैं।' मैंने प्रणाम किया और पुस्तकालय खोला। उन दिनों बिजली भी नहीं थी। दियासलाई के प्रकाश से पुस्तक ढूँढी और लाकर पण्डितजी को दे दी। इस विचित्र प्रकार से मेरा परिचय श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री से हुआ। मालवीयजी का उनके प्रति बड़ा आदर था। उनसे मेरा सम्पर्क तो अधिक नहीं था, किन्तु उनकी कृपा मुझपर बराबर रहती थी। जब कभी दर्शन होते कुशल-क्षेम अवश्य पूछ लिया करते थे। किन्तु उनके सुपुत्र श्रीविद्याधरजी गौड से मेरा प्रायः सम्पर्क रहता था, वे बड़े विद्याव्यसनी थे और पुस्तकें लेने तथा

पढ़ने के लिए प्रायः पुस्तकालय आया करते थे। तब उनसे विभिन्न विषयों पर वार्तालाप होता था, उनका ठोस पाण्डित्य देखकर चकित होना पड़ता था। 'सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र' यह बात प्रायः कम ही देखने में आती है, किन्तु श्रीप्रभुदत्तजी तथा श्रीविद्याधरजी के सम्बन्ध में उसे चरितार्थ होते देखा।

नम्रता की तो वे मूर्ति थे, अपने पाण्डित्य का गर्व उन्हें छू तक नहीं गया था। प्रथम बार उनसे मिलने पर किसी को यह आभास भी नहीं होता था कि उनमें इतना ठोस पाण्डित्य भरा हुआ है। किन्तु थोड़े ही वार्तालाप के पश्चात् वह प्रस्फुटित होने लगता था। वे काशी की विभूतियों में से एक थे, उनके जैसे पण्डित का दर्शन आजकल दुर्लभ ही है, इन शब्दों के साथ मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

वेदके अद्वितीय विद्वान्

(श्रीयुत हनुमानप्रसादजी पोद्दार, सम्पादक—कल्याण, गोरखपुर)

प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड अपने समय में समस्त भारत में वेद के अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे। उनकी विलक्षण प्रतिभा और विद्वत्ता को देखकर बड़े-बड़े विद्वान् चकित होते थे। आप जैसे वेदादि शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् थे, वैसे ही आप कट्टर आस्तिक थे। आप धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप थे। आपका जीवन परम धार्मिक था। धर्म के पीछे आप सदैव मर-मिटने को तैयार रहते थे। आपकी धर्मशास्त्रीय व्यवस्था का बहुत गौरव था। धर्मपर जब कभी विचार-परामर्श होता, तो आपकी सम्मति अवश्य ली जाती थी।

आपकी विद्वत्ता का प्रकाश भारत में ही नहीं, विदेशोंतक में भी व्याप्त था। आपको देखने से प्रतीत होता था कि आप साक्षात् 'वेदमूर्ति' हैं। आपके दर्शन से ही धार्मिक जनों को सुख-शान्ति का अनुभव होता था। आपकी विशिष्ट विद्वत्ता का समादर स्व० महामना पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी महाराज भी करते थे और इसी कारण उन्होंने श्रीगौडजी को अपने हिन्दू-विश्वविद्यालय में धर्म-विज्ञान-विभाग का 'अध्यक्ष' पद देकर उनका विशेष सम्मान किया था। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर गवर्नमेन्ट सरकार ने भी आपको महामहोपाध्याय' की टाइटिल देकर अपने कर्त्तव्य का परिपालन किया था।

आपकी संस्कृत-समाज में अनन्त कालतक आवश्यकता थी, किन्तु भगवद्-विधान के आगे किसीका वश नहीं चलता, अतः आपके निधन से संस्कृत-समाज

की गहरी क्षति हुई है, वह शीघ्र पूर्ण होती नहीं दिखाई देती। परन्तु हर्षका विषय है कि वेद भगवान् की कृपा से आज भी म० म० श्रीविद्याधरजी गौड के सुपुत्र वेदाचार्य श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड उसी वैदिक-परम्परा के रक्षार्थ प्रयत्नशील हैं और विद्वत्समाज में आपकी विशेष ख्याति भी है।

(पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री, सम्पादक—कल्याण, गोरखपुर)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड को मैं अपनी छात्रावस्था से ही जानता था। मैं जिन दिनों काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहा था, पहले उनके स्वनामधन्य पितृचरण महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रभुदत्तजी महाराज तथा उनके काशीवास के अनन्तर उनके यथार्थ उत्तराधिकारी श्रीविद्याधरजी महाराज हिन्दू-विश्वविद्यालय के धर्माचार्य एवं डीन ऑफ दी फैकल्टी ऑफ थीयालोजी के पद को सुशोभित कर रहे थे। उनका वैदिक ज्ञान अगाध तथा कर्मकाण्ड-विषयक पाण्डित्य अद्वितीय था। उनके चरणों में बैठकर काशी के अनेकों कर्मकाण्डी विद्वानों ने वैदिक ज्ञान तथा कर्मकाण्ड में व्यावहारिक कुशलता प्राप्त की थी। युगधर्म से लुप्त होती हुई वैदिक-परम्परा को सुरक्षित रखने में उनका बहुत बड़ा हाथ था। उनके इस उपकार के लिये धार्मिक जगत् सदा ऋणी रहेगा। विद्या के साथ उनका विनय अनुकरणीय था। आशा है, आचार्य श्रीवेणीरामजी गौड जैसे सुयोग्य सुपुत्रद्वारा यह वैदिक ज्ञान-वितरण-परम्परा अक्षुण्ण रहेगी।

मङ्गलमयी स्मृति तथा हार्दिक श्रद्धाञ्जलि

(पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, गीताप्रेस, गोरखपुर)

संवत् १९९५ की बात है, मैं गीताप्रेस, गोरखपुर से 'नित्यकर्म प्रयोग' के सम्पादन के कार्य से 'काशी' गया था। इस कार्य में विशेष सहयोगी स्व० पं० मदनमोहनजी शास्त्री (प्रिंसिपल—मारवाड़ी संस्कृत कालेज, काशी) थे। उन्होंने बताया—'इन दिनों पञ्चगौडों में वैदिक वाङ्मय के सबसे बड़े विद्वान् पूज्यपाद म० म० पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री वेदाचार्य हैं। आपने सोमयागपर्यन्त सारा

वैदिक कर्मकाण्ड करामलकवत् कर रक्खा है। अतः आपसे ही कर्मकाण्ड-सम्बन्धी जटिल प्रश्नों का निर्णय कराना चाहिये।' इस निश्चय के अनुसार मैं उक्त शास्त्रीजी के साथ त्रिपुराभैरवीस्थित 'श्रीरामदयाल चुन्नीलाल काजड़िया पाठशाला' में गया, जहाँ वटुसमुदाय के वेदोच्चारण की ध्वनि गूँज रही थी। वहाँ गुरु की गौरवपूर्ण गद्दी पर बैठे हुए पूज्य गौडजी का दर्शन और वन्दना करके मुझे बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हुआ। विद्या के गौरव के अनुरूप ही गुरुतर शरीर, सौम्य, शान्त एवं प्रसन्न मुखाकृति, विद्यामयी विभा, सहज प्रतिभा और ब्रह्मतेज का प्रकाश—सबमें अद्भुत आकर्षण था। लगा कि मैं किसी मन्त्रद्रष्टा महर्षि के निकट आ गया हूँ। प्रारम्भिक शिष्टाचार के पश्चात् जब मैंने अपना प्रयोजन प्रस्तुत किया, तब आपने बड़ी रुचि और उत्साह के साथ मेरे कार्यमें योगदान का आश्वासन दिया तथा मैं प्रतिदिन नियत समय पर पूज्यपाद गौडजी की सेवामें उपस्थित होने लगा। उन दिनों आपकी ज्ञानगरिमा का जो किञ्चिन्मात्र आभास मुझे मिला, उसकी कहीं तुलना नहीं थी। सन्ध्या के मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता एवं विनियोग के स्वरूप के विषय में उठनेवाले विवाद का, तर्पण के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य विषयों का तथा नित्यहोम एवं ब्रह्मयज्ञ आदि विषयक बहुसंख्यक जटिल प्रश्नों का जितना सुन्दर, हृदयग्राही एवं प्रामाणिक समाधान आप तत्काल करते थे, वह सब देख-सुनकर आश्चर्य होता था। व्याकरण, वेद, उपनिषद्, ब्राह्मणभाग, आरण्यकभाग तथा धर्मशास्त्र आदि सब विषयों में आपकी समान गति थी। किसी भी प्रश्न के लिए ग्रन्थ देखने की आवश्यकता नहीं, सबका समाधान आपकी कण्ठगत सरस्वती तत्काल कर देती थी। यह महामहोपाध्यायजी की विद्वत्ता तथा कुशाग्र बुद्धिता के विषय में किञ्चित् निवेदन किया गया। आपका स्वभाव भी बहुत ही सरल एवं उदार था। विद्या का अभिमान तो आपको छू भी नहीं सका था। मुझ-जैसे शिष्य-कोटि में गणनीय व्यक्ति के साथ भी आप प्रिय सुहृत् के सदृश बर्ताव करते थे। आपके निर्देश के अनुसार मैंने जब पद्धति तैयार कर ली, तब उसपर कुछ विद्वानों की सम्मति लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन दिनों पूज्यपाद गौडजी काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में वेद-विभाग के 'अध्यक्ष' थे। आपने मुझे विश्वविद्यालय में आने के लिये कहा। आज्ञानुसार मैं वहाँ पहुँचा तो अवश्य, परन्तु कुछ विलम्ब हो गया था। संस्कृत-विभाग अब बन्द होने जा रहा था। वहाँ गौडजी महाराज ने संस्कृत के कुछ अध्यापकों को उक्त पद्धति पर सम्मति लिखने को प्रेरित किया। फिर क्या था, किसी ने पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी। सुप्रसिद्ध मीसांसक श्रीचिन्नस्वामीजी तथा अन्य सभी प्रमुख अध्यापकों ने ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए उस पर अपनी शुभ सम्मति लिखकर दे दी। नगर में रहने वाले अनेक विद्वानों ने भी यही किया। बात-की बात में सम्मति के ढेर लग गये। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काशी के बड़े-बड़े विद्वान् भी आपका कितना समादर एवं विश्वास करते थे। तबसे मैं जब-जब काशी जाता, पूज्य

महाराजजी से अवश्य मिलता और आप भी घनिष्ठ आत्मीय मानकर मुझपर सदा ही स्नेह की वर्षा किया करते थे। अब आपका पार्थिव शरीर न रहा, परन्तु अपने यशःशरीर से आप सदा ही अजर-अमर रहेंगे। काशी में निर्वाण पाकर आप सच्चिदानन्दघन महेश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं, अतः आप का यशःकीर्तन, वन्दन एवं स्मरण भी परम मङ्गलमय है। मैं आपके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

हार्दिक प्रार्थना

(श्रीयुत ए० सी० बाली, सम्पादक-'ट्रिब्यून', अम्बालाछाउनी)

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि स्व० महामहोपाध्याय पण्डित प्रभुदत्तजी शास्त्री और उनके सुपुत्र स्व० महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधरजी शास्त्री की जन्मभूमि 'पंजाब' थी। इन दोनों महानुभावों ने पंजाब में जन्म लिया और विद्या के प्रधानकेन्द्र काशी में जाकर वेद-विद्या में अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त की, इस बात का गौरव समस्त पंजाब को होना चाहिये।

महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधरजी के सुपुत्र पण्डित वेणीरामजी गौड वेदाचार्य वेदके धुरन्धर और प्रख्यात विद्वान् हैं। आप जिस प्रकार सम्मानपूर्वक निमन्त्रित होकर अन्य स्थानों में यज्ञ कराने जाते हैं, उसी प्रकार सनातनधर्म-सभा, अंबालाछाउनी के द्वारा आयोजित यज्ञों में भी 'आचार्य' होकर यज्ञ कराने के लिये समय-समय पर पधारते रहते हैं। यज्ञावसर पर आपकी अपूर्व विद्वत्ता और त्यागशीलता का परिचय मुझे प्राप्त हुआ है। वेदाचार्यजी के आचार्यत्व में मुझे भी कई बार यज्ञ का 'यजमान' बनने का शुभावसर प्राप्त हुआ है। मैं वेदाचार्यजी के महत्त्वपूर्ण वैदुष्य एवं साधु-स्वभाव की विशेष प्रशंसा करता हूँ, जिन्होंने अपनी पितृ-पितामहकी विद्या-परम्परा की रक्षा करने का महान् व्रत धारण कर रक्खा है। ऐसे सम्माननीय वेदाचार्यजी के पूज्य पिताजी का 'स्मारकग्रन्थ' प्रकाशित हो रहा है, यह अत्यन्त आनन्द की बात है। सर्वान्तर्यामी प्रभु से हार्दिक प्रार्थना है कि यह स्मारक-ग्रन्थ सभी के लिये कल्याणकारी हो।

श्रीगौडजीका पुनीत स्मरण

(पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री सारस्वत, प्रिन्सिपल-संस्कृत महाविद्यालय, देहली)

महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड महोदय से मेरा कोई वैयक्तिक परिचय नहीं था, पर उनके गुणों की सुगन्ध बहुत दूरसे मेरे पास भी पहुँचती रहती थी। 'सुप्रभात' आदि पत्रों से मुझे उनका ज्ञान होता रहता था। पर जब मैंने उनका अकाल में अत्यन्त वियोग का वृत्त सुना था, तो मुझे विचार हुआ कि जैसे विद्वान् जा रहे हैं; वैसे आ नहीं रहे हैं। जब मैंने उनका 'कात्यायन श्रौतसूत्र' पर भाष्य देखा, तो मुझे लगा कि वे हमें छोड़कर कहीं दूर नहीं गये; वे हममें अब भी विचर रहे हैं। आज जब मुझे पता लगा कि उनका 'जीवन-चरित्र' प्रकाशित हो रहा है, तब मैं भी उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि देने का लोभ रोक न सका। तदनुसार मैं उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा हूँ। यह और भी हर्ष रहा कि वे हमें अपनी सम्पत्ति पं० श्रीवेणीराम गौड वेदाचार्य को भी दे गये हैं, तब हम उनके आत्यन्तिक वियोग से दुःखी भी क्यों होवें ?।

भारतकी महान् विभूति

(पण्डितप्रवर श्रीछज्जूरामजी शास्त्री विद्यासागर, देहली)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री ने कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि 'सिरसा खेड़ी' (जि० जीन्दस्टेट) ग्राम में जन्म लिया था। अपने ग्राम में साधारण शिक्षा प्राप्त कर आप वेदाध्ययनार्थ वाराणसी पुरी पहुँच गये। कुछ ही दिनों में आपने वेदविद्या में अद्भुत वैदुष्य प्राप्तकर काशी के वेदज्ञों में अपना सर्वप्रथम स्थान बना कर, पञ्चगौडों का मुख उज्ज्वल कर दिया। वेद भगवान् की कृपा से आप काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के वेद-विभागाध्यक्ष बनाये गये। गवर्नमेन्ट सरकार ने भी आपका 'महामहोपाध्याय' की पदवी द्वारा सम्मान किया। 'किं पाण्डित्यमतः परम्'।

म० म० पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री के ज्येष्ठ सुपुत्र म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड अपने पूज्य श्रीपिताजी से भी अधिक विद्वान् हुए। उन्होंने अपने पूज्य पिताजी की तरह काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के वेद-विभागाध्यक्ष पद को प्राप्त करते हुए 'महामहोपाध्याय' पदवी को भी प्राप्त किया था। पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड की अगाध वैदिक विद्वत्ता का ज्वलन्त प्रमाण उनकी 'कात्यायन श्रौतसूत्र' और 'शुल्वसूत्र' की टीका है।

पण्डित श्रीविद्याधरजी गौडं ने ही सर्वप्रथम विद्वत्समाजके समक्ष अभूतपूर्व आदर्श उपस्थित किया है कि "एक 'महामहोपाध्याय' विद्वान् का पुत्र भी 'महामहोपाध्याय' बन सकता है।" म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी बड़े ही विद्वत्प्रिय, लोकप्रिय, दयालु, परोपकारी और गुणग्राही थे। वे सर्वदा विद्वानों का समादर किया करते थे। उनके द्वारा हमारा भी काशी में महान् सम्मान हुआ था। ऐसी महान् विभूति 'न भूतो न भविष्यति'।

श्रद्धा-कुसुम

(पं० श्रीब्रह्मानन्दजी शुक्ल, प्राध्यापक, राधाकृष्ण संस्कृत कालेज, खुरजा)

निकट और दूर दोनों ही दृष्टियों से मैंने स्व० पूज्य श्रीभैयाजी (म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड) को देखा था। वे शिष्टता, सरसता एवं सरलता की मञ्जु महिमामयी सजीव मूर्ति थे। उनका-सा वात्सल्य अन्यत्र बहुत कम देखने को मिला। जहाँ वे माता सरस्वती के श्रद्धास्पद पुत्र थे, वहाँ जगदम्बा लक्ष्मी के भी अनन्य कृपापात्र थे। उनमें विद्वत्ता एवं श्रीसम्पन्नता होने पर भी तज्जन्य मद का लेश भी नहीं था। 'गर्व' किसे कहते हैं? यह वे नहीं जानते थे।

यों तो वाराणसी विद्या-केन्द्र है, वहाँ अनेक उद्भट विद्वान् सदा से होते आये हैं तथापि श्रीभैयाजी अपनी अनेक विशेषताएँ रखते थे। उनमें "न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाऽशुभा मतिः" के साथ "विद्या ददाति विनयम्" का मणि-काञ्चन संयोग प्रेक्षकों के मनपर अपना प्रभाव प्रदर्शित किये बिना नहीं रहता था।

अपने पूज्य पिताजी (म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री) के सम्मुख जब वे बैठते थे, तो दर्शक यह विश्वास ही नहीं कर सकता था कि आप इतने बड़े विद्वान् होंगे, वे उनके समक्ष प्रायः मौन ही रहते थे। अपनी विद्या के द्वारा ही उन्होंने अपने पूज्य पिताजी से भी अधिक अदम्य प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। उनकी लेखनी से कैसे-कैसे अनुपम ग्रन्थरत्नों का जन्म हुआ, यह विद्वानों से तिरोहित नहीं है। सभी वैदिक-पदार्थ उनको हस्तामलक थे। वैदिक-वाङ्मय का उन्हें 'भाण्डागार' कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। वेद-विद्या के अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रों में भी उनका असमान ज्ञान था। उन्होंने सर्वात्मना अपने शुभ्र गुणों से गौड ब्राह्मणों का मस्तक उन्नत किया। ऐसे नर-रत्न की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। मैं अत्यन्त श्रद्धा के साथ अपनी श्रद्धा के कतिपय कुसुम उन्हें समर्पित करने में अपने को कृत-कृत्य मानता हूँ। भगवान् उनके वंश की श्रीवृद्धि करें।

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजीकी पुनीत स्मृति

(*पं० श्रीलक्ष्मीनारायणजी मिश्र, एम्० ए०, बी० टी०, मुजफ्फरनगर*)

काशीनिवासी सुप्रसिद्ध वेदज्ञ स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री अग्निहोत्री मेरे स्व० श्रीपिताजी पं० श्रीपरमानन्दजी शास्त्री (अध्यक्ष-राधाकृष्ण संस्कृत कालेज, खुरजा) के 'बालसखा' थे। कभी-कभी मेरे पिताजी अपनी और अग्निहोत्रीजी की बाल्यकालसम्बन्धी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ सुनाया करते थे, जिनको सुनकर हमें सुन्दर-सुन्दर सत्प्रेरणाएँ प्राप्त होती थीं।

"उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥"

उपर्युक्त श्लोक पूज्य पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री के सम्बन्ध में यथार्थ रूप से घटित होता था। उनमें उद्यम, साहस आदि सभी बातें मूर्तरूप से मौजूद थीं, जिनसे उनके प्रत्येक कार्य में देवगण भी सहायक होते थे। इसीसे वे अपने समस्त कार्यों में सफल होकर काशी के वेदज्ञों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें महामना पं० श्रीमदनमोहन मालवीयजी ने अपने काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में धर्म-विज्ञान विभाग का 'अध्यक्ष' बना दिया था। गवर्नमेन्ट सरकार ने भी 'महामहोपाध्याय' की पदवी देकर उनका विशेष सम्मान किया था।

म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री स्वयं अपने भाग्य के निर्माता थे। उन्होंने अपने कठिन परिश्रम और अध्यवसाय से बहुत ही शीघ्र जीवन के उच्च शिखर पर पदार्पण कर लिया था। उन्होंने अपने जीवन में उदारशीलता और परोपकारशीलता का व्रत लेकर अगणित शिष्यों को विद्यादान देकर उन्हें सुयोग्य विद्वान् बनाया और अगणित व्यक्तियों को स्वयं तथा दूसरों से द्रव्यदान दिलाकर उन्हें समुन्नत किया। जिस व्यक्ति ने भी आपके चरणों का हृदय से आश्रय ग्रहण किया, वह सर्वप्रकार से समुन्नत और सफलायास हुआ।

म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री बड़े भाग्यशाली थे, जिनको अपने ही अनुरूप महाविद्वान् श्रीविद्याधरजी जैसे सुपुत्र की प्राप्ति हुई थी। उन्होंने अपने जीवन में ही बड़े-बड़े विद्वानों से अपने पुत्र की बारम्बार प्रशंसा सुनी थी और स्वयं भी उनकी विशिष्ट विद्वत्ता का अनुभव किया था। भगवत्कृपासे श्रीअग्नि-होत्रीजी के जीवन में कभी किसी वस्तु की कमी नहीं रही। आपके यहाँ 'यत्र द्वयं श्रीश्च सरस्वती च' की उक्ति चरितार्थ थी। लक्ष्मी और सरस्वती का एकत्र समन्वय प्रायः दुर्लभ ही देखा गया है, किन्तु आपको इसका अपवाद ही पाया गया।

श्रीअग्निहोत्रीजी के ज्येष्ठ पुत्र पं० श्रीविद्याधरजी गौड अपने श्रीपिताजी के जीवनकाल में ही बहुत बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे और वे अपने समय में

समूचे भारत में वेद के अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे। आपकी विद्वत्ता के यश का सौरभ समग्र भारत में व्याप्त था। आपको महामना पं० श्रीमदनमोहन मालवीयजी महाराज ने अपने काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के स्थापन के समय ही सर्वप्रथम आपको वेद के 'प्रधानाध्यापक' पद पर नियुक्त किया, पश्चात् आपको वेद-विभाग का 'अध्यक्ष' और 'डीन' बनाया। गवर्नमेन्ट सरकार ने भी 'महामहोपाध्याय' की टाइटिल देकर आपका महान् सम्मान किया था। आपने अपने जीवनकाल में अगणित सुयोग्य वेदाचार्य और कर्मकाण्डी विद्वानों को तैयार कर वेद का अपूर्व प्रसार-प्रचार किया और अनेक श्रौत-स्मार्त ग्रन्थों की रचना कर वैदिक वाङ्मय की महत्त्वपूर्ण सेवा की; जिसके लिये विद्वद्वर्ग आपका चिरऋणी रहेगा।

म० म० पं० श्रीविद्याधरजी केवल पण्डित ही नहीं थे, वरन् व्यवहारज्ञ भी थे। वे अपने गुरुजनों से जो सद्व्यवहार रखते थे, वह आदर्शपूर्ण और अनुकरणीय था। मैं उनके केवल एक पत्र को उद्धृत करता हूँ, जो कि उन्होंने देहली से मेरे श्रीपिताजी के पास अपनी बिमारी के सम्बन्ध में लिखा था।

ओः

श्री १०६ मत्सु पितृव्यचरणेषु प्रणामाः सन्तु।

आपका पत्र अभी मिला। यहाँ मेरी शिरोव्यथा खुरजा से भी कम है। कभी-कभी कुछ पीड़ा हो जाती है, निःशेष नहीं है। वह भी आपके शुभाशीर्वाद से ठीक हो जायगी। यहाँ उत्तरोत्तर बहुत अच्छा क्रम है। अतः यहाँ दिसम्बर तक रहना चाहता हूँ।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के श्रीरजिस्ट्रार महोदय का पत्र मुझे मिला है। उन्होंने ता० २१।१२।३६ को विश्वविद्यालय में उपस्थित होने के लिये लिखा है। शरीर की लाभस्थिति को देखते हुए अभी काशी जाने का विचार नहीं है। काशी जाकर प्रपञ्चग्रस्त हो जाऊँगा। यहाँ एकान्त स्थान है। चित्त लग रहा है। तीन-चार मील नित्य प्रातःकाल भ्रमण करता हूँ। क्षुधा भी पहले से ठीक है। दुग्ध, दलिया, पालक का साग और फल खाता हूँ।

आप काशी जाने वाले हैं। कृपाकर आप श्रीरजिस्ट्रार महोदय से मिलकर कह दीजिएगा कि मेरा दिसम्बर तक दिल्ली रहने का विचार है। मैंने भी आज श्रीरजिस्ट्रार महोदय को पत्रद्वारा सूचित कर दिया है। आप काशी जाकर मेरे घर पर ही ठहरियेगा और सबको यथोचित उपदेश कीजिएगा। सेठ गौरीशङ्कर गोयनका से मेरा शुभाशीर्वाद कह दीजिएगा। चि० माधव यहाँ से उसी दिन काशी गया और वह वहाँ जाकर ज्वरग्रस्त है। शिवदत्त से मेरी शारीरिक व्यवस्था कह दीजिएगा।

योगमायामन्दिर, देहली
१७।१२।३६ } विद्याधर शर्मा

म० म० श्रीविद्याधरजी मेरे श्रीपिताजी का बड़ा सम्मान करते थे। वे मेरे पिताजी को सर्वदा 'चाचाजी' कहा करते थे और अपने घर के सभी कार्यों में मेरे पिताजी की सम्मति लिया करते थे। मेरे पिताजी भी श्रीविद्याधरजी पर बड़ा स्नेह रखते थे। दोनों परिवारों में होनेवाले विवाहादि शुभ कार्यों में मेरे श्रीपिताजी का और श्रीविद्याधरजी का आना-जाना होता था। श्रीविद्याधरजी के पुत्रों के विवाह में कई बार मेरे श्रीपिताजी सम्मिलित हुए थे और मेरे द्वितीय विवाह में श्रीविद्याधरजी भी पधारे थे।

सन् १९४० में श्रीविद्याधरजी को गवर्नमेन्ट सरकारद्वारा 'महामहोपाध्याय' की उपाधि मिली, तो मेरे पिताजी के हर्ष का ठिकाना न रहा। उन्होंने हर्ष के साथ कहा कि—"मैं भारतविख्यात विद्वान् 'महामहोपाध्याय' का 'पितृव्य' हूँ, इसका मुझे विशेष गौरव है।"

सन् १९४१ में जब श्रीविद्याधरजी की मृत्यु का समाचार मेरे पिताजी ने सुना, तो उन्होंने अत्यन्त शोकग्रस्तावस्था में अश्रुपात करते हुए कहा—"आज वेद का सूर्य अस्त हो गया।"

वेद भगवान् की कृपा से म० म० श्रीविद्याधरजी के दो सुयोग्य पुत्र 'वेदाचार्य' हैं, जो कि काशी के प्रतिष्ठित विद्यालयों में वेदाध्यापक पद-पर प्रतिष्ठित रहकर अपनी प्राचीन वेद-विद्या के संरक्षण और संवर्धन में सर्वदा तत्पर रहते हैं। वेद भगवान् से प्रार्थना है कि स्व० श्रीविद्याधरजी का परिवार सदैव वेदविद्या के प्रकाश से प्रकाशित होकर देश और समाज का कल्याण करता रहे।

वेदके धुरन्धर विद्वान्

(पं० श्रीकैलाशपतिजी तिवारी, महन्त-श्रीविश्वनाथ मन्दिर, वाराणसी)

काशीनिवासी स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री और उनके सुपुत्र महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री ये दोनों महानुभाव वेद के धुरन्धर विद्वान् थे। आप लोगों की विद्वत्ता की ख्याति सर्वत्र व्याप्त थी। हमारे परिवार से आप लोगों का विशेष सम्पर्क प्राचीन काल से चला आ रहा है। हमारे यहाँ आवश्यकता पड़ने पर आप लोगों के द्वारा ही धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाओं का निर्णय होता था।

यह जानकर महान् हर्ष हुआ कि वेद के अद्वितीय विद्वान् महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड का स्मारकग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। मुझे विश्वास है कि यह स्मारक ग्रन्थ सरस्वती के समुपासक विद्वानों को विशेष प्रेरणा देगा और आधुनिक युग में लुप्तप्राय वैदिक-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाला होगा।

श्रद्धाञ्जलि

(पं० श्रीसरयूप्रसादजी 'द्विजेन्द्र' साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, काशी)

(१)

श्रीशम्भुकी नगरी पवित्र विचित्र लोक - उजागरी ।
है भुवन में सुप्रसिद्ध सिद्ध जनानुरागी - आगरी ॥
उत्तरप्रदेश विशेष वैभव भुक्ति - मुक्तिप्रदायिनी ।
वाराणसी में 'सकरकन्दगली' सुसिद्धि विधायिनी ॥

(२)

वैदिक विभूति प्रभुत्व मम 'प्रभुदत्त' की महिमा बड़ी ।
जिनके विषय में लेखनी कुछ सोचने लगती खड़ी ॥
है शक्ति तो मुझमें नहीं, कैसे लिखूँ, मैं क्या कहूँ ? ।
यदि हो कृपा प्रभु की यहाँ, चुपचाप भी कैसे रहूँ ? ॥

(३)

है लेखनी मम उठ रही प्रभुदत्त - सुत - सम्मान में ।
जो मस्त रहती सर्वदा सर्वत्र गौरव - गान में ॥
है हो रही कृतकृत्य वह, वैदिक - शिरोमणि - मान से ।
किं वा 'द्विजेन्द्र' पवित्र गौरव गान के श्रुतिपान से ॥

(४)

इस हेतु आज पवित्र इस 'स्मृति - ग्रन्थ' में पढ़ लें सभी ।
वैदिक - सुधाकर - लोक में जा यान विन चढ़ लें अभी ॥
सुख - शान्ति - शीतलता लता—सी लहलहाती जो वहाँ ।
पाकर उसे है कौन, जो त्यागे भला, कहिये यहाँ ? ॥

(५)

'थे कौन वे प्रभुदत्त - सुत' ? यह प्रश्न होता है नहीं ।
क्या सूर्य को है नेत्रवाला पूछता सबसे कहीं ? ॥
जो हैं स्वयं देदीप्यमान गुणावली से नित्य ही ।
उसकी कथा क्या गुप्त है ? जो वेद—वेत्ता सत्य ही ॥

(६)

थे गौड़ वे, पर मुख्य होकर विप्रकुल - शिरमौर्य थे ।
वे दान्त थे वेदान्त - विद्या वेद - विदवर - आर्य थे ॥
विद्या - विनय - सम्पन्न थे, व्युत्पन्न, वित्तापन्न थे ।
काशीस्थ विद्वन्मण्डली में, सर्वथा सम्पन्न थे ॥

(७)

जो विश्व में विख्यात थे, प्रख्यात भारतवर्ष में ।
जो विप्रवंश—धुरीण, ऋण से रहित थे, उत्कर्ष में ॥

जो मूलतः पंजाब के रोहतक-'पूठी' ग्राम में।
थे जन्म लेकर मातृकुल के गौरवान्वित-धाम में॥

(८)

गुण वेद ग्रह शशि-अब्द पौष त्रयोदशी कृष्णा रही।
जो एकमात्र पवित्र विप्र चरित्र की तृष्णा सही॥
अपने पिता के ज्येष्ठ, गुण में श्रेष्ठ पुत्र बने गुनी।
श्रीमान पण्डितवर्य श्री'प्रभुदत्त'-पुत्र रहे धनी॥

(९)

जो पितृ-पक्ष पवित्रतम थे, मातृ-पक्ष कुलीनतम।
जो विज्ञवर वैदिक-शिरोमणि, कर्मकाण्ड प्रवीणतम॥
जो अग्निहोत्र-परम्परा में थे सुधी प्राचीनतम।
जो श्रौतयज्ञ-प्रवर्त्तकों में एकमात्र नवीनतम॥

(१०)

अपने समय के अग्निहोत्री-जगत में जो सूर्य थे।
देते रहे दिनरात वे सुप्रकाश वैभवपूर्ण थे॥
जो वेद-विद्यालय-सरोवर के सरोज विकास-हित।
देते रहे निज रश्मि-दान प्रमान से करुणासहित॥

(११)

जो दीनबन्धु दयालु 'प्रभु'-प्रिय विप्रवर मानी रहे।
सर्वत्र विद्यार्थीजनों के हेतु वरदानी रहे॥
जिज्ञासु जन-मन-मोद-हित वे नित्य विज्ञानी रहे।
वैदिकशिरोमणि विज्ञ 'विद्याधर' महाज्ञानी रहे॥

(१२)

जो कर्मकाण्ड-प्रकाण्ड पण्डित, मान-मण्डित देश में।
थे वेदशास्त्र-पुराण के वे व्यास यों नर-वेश में॥
वे पूज्य 'विद्याधर' महोदय यशोमूर्त्ति विराजते।
सर्वत्र विद्वन्मण्डलो में आज भी गुण राजते॥

(१३)

वैदिक अनेकों ग्रन्थ पर टिप्पण तथा प्रवचन किया।
श्रौत—स्मार्त—पद्धति विषय में सद्ग्रन्थ सम्पादन किया॥
यज्ञादि साधन-संगठित बहुकार्य देखे जा रहे।
सुन्दर अनेकों हस्त—लिपि—संग्रह तिहारे पा रहे॥

(१४)

बहुमूल्य संग्रह आपका है, वृद्धि उनकी हो रही।
गौड़ 'वेणीराम' वेदाचार्य बढ़ाते हैं वही॥

यह 'ग्रन्थ-स्मारक' आपका, प्रभुदत्त विप्र प्रताप का।
पढ़कर सुखी संसार हो, क्षय हो तथा सन्ताप का॥

(१५)

वसु-ग्रह-ग्रहेन्दु—सुवर्ष पौषाऽसित द्वितीया शुक्र को।
पूर्णायु पा, नश्वर शरीर विहाय वे जग—चक्र को॥
निज पुण्यभूमि सुपुण्य तिथि देकर गये सुरधाम को।
अभिराम नाम बना गये, वे त्याग 'वैदिक—धाम' को॥

(१६)

इस हेतु आज "द्विजेन्द्र" यह पुष्पाञ्जली लेकर यहाँ।
श्रद्धाञ्जली के रूप में अर्पण करे सुख से महा॥
विद्वत्समाज—धुरीण श्रीगुरुदेव विद्याधर! अहो!
तव ज्ञानदत्त प्रसून से सुरभित सदा संसार हो॥

आदर्श यज्ञाचार्य श्रीविद्याधरजी गौड

(श्रीयुत बाबा सत्यव्रतजी महाराज, बरहज बाजार, देवरिया)

सन् १९२८ में श्रीपरशुराम धाम, सोहनाग (जि० देवरिया) में 'महारुद्र यज्ञ' तथा सन् १९३४ में बरहज बाजार (देवरिया) में 'महाविष्णु यज्ञ' हुआ था। इन दोनों यज्ञों के आचार्य भारतप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य म० म० पं० श्रीविद्याधरजी महाराज थे और मैं जनता के प्रतिनिधिरूप में दोनों यज्ञों में 'यजमान' था। इसलिये यज्ञ जैसे पवित्र कार्य में श्रीमान् यज्ञाचार्यजी के सम्पर्क में अधिक रहने के कारण मुझे विशेष आनन्द प्राप्त हुआ, जिसका ठीक-ठीक वर्णन करना मेरी शक्ति-सामर्थ्य से बाहर है।

आचार्य श्रीविद्याधरजी महाराज का भारत के वेदज्ञों में सर्वश्रेष्ठ स्थान था। उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा बड़े-बड़े विद्वान् किया करते थे। वे साक्षात् वेदमूर्ति थे। यज्ञावसर पर उनके भावपूर्ण वेदमन्त्रोच्चारण के समय देवताओं की उपस्थिति प्रत्यक्षरूप में प्रतीत होती थी। वेदों में और देवताओं में उनका जैसा अटूट विश्वास था, वैसा विश्वास होना इस युग में असम्भव ही नहीं, तो कठिन अवश्य है।

यज्ञारम्भ से यज्ञ-समाप्ति-पर्यन्त आचार्यत्व को कैसे निभाया जाता है, यह शिक्षा उनके आचार्यत्व से मिलती थी। वे एक आदर्श यज्ञाचार्य थे। उनकी आदर्श-निष्ठा और कर्तव्य-परायणता के कारण उनके आचार्यत्व में रहनेवाले

सभी विद्वान् अपने-अपने कर्तव्य के पालन में तत्पर रहते थे। इसलिये जिस यज्ञ में वे 'आचार्य' रहते थे, उस यज्ञ की सम्पन्नता में कोई सन्देह नहीं रहता था।

बरहज बाजार के यज्ञ में आचार्य श्रीविद्याधरजी महाराज की वेदमन्त्रों के प्रति सच्ची निष्ठा और विश्वास का प्रत्यक्ष चमत्कार देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। बरहज में सरयूतट पर 'महाविष्णु यज्ञ' हो रहा था। यज्ञ के पाँचवें दिन की बात है। दिन में चार बजे यज्ञ-हवनकुण्ड में अग्निदेव प्रचण्डरूप में प्रज्वलित होकर वैदिक विद्वानों के द्वारा विधिवत् हव्य ग्रहण कर रहे थे। उस समय यज्ञशाला में पूज्य बाबा श्रीराघवदासजी महाराज भी उपस्थित थे। यज्ञशाला के चारों ओर यज्ञप्रेमी जनता की अपार भीड़ थी। अकस्मात् भयङ्कर कोलाहल सुनाई दिया कि 'सरयूजी की आधी धारा तक बड़ी वेग से आँधी आ चुकी है और वह यदि इस पार यज्ञशाला तक आ गई, तो निश्चित ही यज्ञाग्नि की ज्वाला भीषण रूप धारण कर यज्ञशाला को भस्मीभूत कर देगी, जिससे यज्ञ में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी और यज्ञ-विरोधी जनता को ननु नच करने का अवसर मिल जायगा।' इस बात को विचारकर सभी लोग भयभीत हो रहे थे। जनता की घबराहट को देखकर यज्ञ के श्रीआचार्यजी ने बड़ी दृढ़ता से कहा—'आप लोग तनिक भी न घबरावें। वेदमन्त्रों के पाठ से तत्काल आँधी का वेग शान्त हो जायगा।' इतना कहकर श्रीआचार्यजी ने वेदपाठ प्रारम्भ कर दिया। वेदपाठ के प्रभाव से पाँच मिनट में ही आँधी का प्रबल वेग शान्त हो गया और आँधी जहाँ की तहाँ रुक गई अर्थात् वह आँधी सरयूजी की आधी धारा तक ही रहकर विलीन हो गई।

श्रीआचार्यजी के वेदपाठ के तात्कालिक प्रत्यक्ष प्रभाव को देखकर सभी लोगों ने श्रीआचार्यजी की सच्ची निष्ठा तथा वेदपाठ के प्रभाव की बार-बार प्रशंसा की। इसी प्रकार पूज्य श्रीआचार्यजी में अनेक दैवी विशेषताएँ थीं, जिनका अनुभव पारखियों ने समय-समय पर किया था।

पूज्य श्रीआचार्यजी जिस प्रकार वेदों के अद्वितीय विद्वान् माने जाते थे, उसी प्रकार वे भारतीय संस्कृति, सभ्यता और मर्यादा के संरक्षक एवं पोषक माने जाते थे।

पूज्य श्रीआचार्यजी के महाप्रयाण से भारत के एक देदीप्यमान परम धार्मिक एवं महान् आदर्शनिष्ठ वेदज्ञ विद्वान् का अभाव हो गया, जिस अभाव की पूर्ति अत्यन्त असम्भव है। मैं इन शब्दों द्वारा स्वर्गीय आचार्य महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड महोदय के प्रति अपनी श्रद्धापूर्वक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

आदर्श सन्त म० म० श्रीविद्याधरजी गौड

(श्रीयुत बाबू देवीनारायणजी एडवोकेट, (विद्यासागर, शास्त्राचार्य, काशी)

काशी सन्तों, महात्माओं और विद्वानों की खान है। गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं—

"मुक्तिजन्म महिजान, ज्ञानखानि अघहानिकर।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न॥"

स्व० महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री काशी के एक उज्ज्वल रत्न थे। उन्होंने अपने सुपुत्र श्रीविद्याधरजी को अपने से भी अधिक वेद का विद्वान् बनाने का दृढ संकल्प किया था। वेद भगवान् की कृपा से उनके जीवन काल में ही उनका वह संकल्प सत्य सिद्ध हुआ। बड़े-बड़े विद्वान् कहते थे-'पण्डित श्रीविद्याधरजी अपने पूज्य श्रीपिताजी से भी अधिक विद्वान् हैं।'

पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड जिस प्रकार वेदादि शास्त्रों के प्रतिभाशाली अलौकिक, मर्मज्ञ, विशिष्ट विद्वान् थे, उसी प्रकार वे उच्चकोटि के आदर्श सन्त भी थे। सन्तों में जो चमत्कार और गुण होते हैं, वे श्रीविद्याधरजी में प्रत्यक्ष-रूप में विराजमान थे। उनमें जन्म से ही अनेक अद्‌भुत चमत्कार थे, जिनसे यह प्रत्यक्ष मालूम होता था कि काशी के आध्यात्मिक वातावरण ने अपनी प्रकृति के अनुसार उनमें एक अत्यन्त सुन्दर और सुगन्धित गुलाब का फूल विकसित कर दिया था।

जिस दृष्टिकोण से उन महापुरुष की जीवनी पर दृष्टि कीजिये, एक विलक्षण दिव्य ज्योति का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। विद्या की दृष्टि से, चरित्र की दृष्टि से और धर्म की दृष्टि से अथवा किसी भी दृष्टि से देखा जाय, तो उनमें शान्त और अमर किरणें प्रस्फुटित-सी दिखाई देती हैं।

पण्डित श्रीविद्याधरजी अत्यन्त नम्र, विनयी और परोपकारी थे। वे किसी का दुःख देखते थे, तो उनका कोमल हृदय आर्द्र हो जाता था और वे यथाशक्ति तन, मन, धन, पुस्तक, वस्त्र आदि बहुमूल्य वस्तुओं से पण्डित, विद्यार्थी एवं साधारण जनता की सेवा करते थे।

पण्डित श्रीविद्याधरजी ने अनेक विद्वानों को अध्यापक पद पर संस्थापित कराया, अनेक निराश्रित गृहस्थों की आजीविकार्थ व्यवस्था करायी और अनेक छात्रों को स्वयं बौद्धिक तथा आर्थिक सहायता देकर तथा दूसरों से सहायता दिलाकर उनका जीवन उज्ज्वल तथा आदर्शमय बनाया।

पण्डित श्रीविद्याधरजी के जीवन का लक्ष्य था "मनुष्य बनाना"। उन्होंने जीवनपर्यन्त अपने लक्ष्य को विद्या, सत्य, न्याय और धर्मद्वारा भली-भाँति पूर्ण किया।

पण्डित श्रीविद्याधरजी की प्रेरणा से मुझे भी कई बार छात्रों और

पण्डितों की सेवाकरने का अवसर मिला है। मेरे पास पण्डितजी का एक पत्र है, जिसको मैं यहाँ उद्धृत कर अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। पण्डितजी के पत्र से स्पष्ट हो जाता है कि वे दीन-दुखियों की सहायता के लिये बहुत ही व्याकुल रहा करते थे।

श्रीः

प्रिन्सिपल,
कालेज ऑफ थियालोजी,
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी।
१६।७।१६३६

श्रीमान् प्रिय देवीनारायण जी,

सविनय निवेदन है कि मैं आपकी सेवामें एक अकिञ्चन छात्र को भेज रहा हूँ। आपके द्वारा इसका कुछ कष्ट दूर हो सके तो बहुत अच्छा है।

भवदीय
विद्याधर शर्मा

वेदोद्धारक म० म० श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री

(श्रीयुत बाबू भगवतीप्रसादजी काजड़िया, काजड़िया हाउस, कलकत्ता)

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड महाराज के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु उनकी अपूर्व विद्वत्ता और कट्टर धार्मिकता आदि का परिचय बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा समय-समय पर मिलता रहता है।

परम सौभाग्य की बात है कि हमारे पूर्वजों के द्वारा संस्थापित काशीस्थ 'काजड़िया संस्कृत पाठशाला' में पूज्य पण्डित श्रीविद्याधरजी और इनके पूज्य पिता स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी गौड महोदय ने आजीवन वेदाध्यापन किया। अब पण्डित श्रीविद्याधरजी के सुयोग्य सुपुत्र वेदाचार्य पण्डित श्रीवेणीरामजी गौड वेदाध्यापन कर रहे हैं।

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी वेद की प्रत्यक्ष मूर्ति थे। उन्होंने जगद्गुरु शङ्कराचार्यद्वारा प्रतिष्ठापित वेदों की रक्षा और प्रचार कर वैदिक-

परम्परा के पुनरुत्थान में असाधारण श्रम किया था। भारत का समस्त विद्वत्समाज सदा-सर्वदा उनका चिरऋणी रहेगा।

वेदाचार्य पण्डित श्रीवेणीरामजी गौड भी अपनी पितृ-पितामह-परम्परा के अनुसार अध्यापन, लेखन तथा यजन-याजन में तत्पर रह कर वेद के प्रसार-प्रचार में सर्वदा संलग्न रहते हैं। आप समस्त भारत में सम्मान-पूर्वक निमन्त्रित होकर बड़े-बड़े यज्ञों को कराने जाते हैं। संवत् २०१७ में कलकत्ता में हमारे ज्येष्ठ भ्राता श्रीवनारसीलालजी काजड़िया ने आपके ही आचार्यत्व में 'गायत्रीपुरश्चरण महायज्ञ' कराया था। उस समय पण्डित वेणीरामजी की विद्वत्ता, त्याग और विनय को देखकर हमें विशेष हर्ष हुआ। पण्डितजी 'विद्या ददाति विनयम्' के साक्षात् प्रतीक हैं।

वेदोद्धारक महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज के सम्मान में पुण्यपुरी काशी में 'महामहोपाध्याय स्मारक-ग्रन्थ' प्रकाशित करने का जो पुण्यमय पवित्र कार्य किया जा रहा है, यह अवश्य ही विद्वानों के लिये विशेष कल्याणकारी होगा।

महामहोपाध्यायजी परमात्माकी विशिष्ट शक्ति थे

(पं० श्रीपुरुषोत्तमदेवजी कर्मकाण्डी, मथुरा)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सर्वशास्त्रनिष्णात सर्वशास्त्रावगाहनप्रभातभातभानु-कमनीय श्री १००८ महामहोपाध्याय स्वर्गीय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड जैसे महापुरुष अब कहाँ देखने को मिलेंगे? वह पुरुष नहीं थे, वह तो कोई ऋषि या परमात्मा की विशिष्ट शक्ति थे, जो संसार में आकर अपना काम करके फिर ईश्वर में जा मिले। वे देवतास्वरूप थे। इस भूतल पर वेदज्ञों में वही ऐसे विद्वान् थे जो वेद का अर्थ जानते थे। अब उनके जैसा अर्थज्ञ विद्वान् होना कठिन है। भारतवर्ष में कर्मकाण्ड करानेवाले विद्वानों में वे सर्वश्रेष्ठ थे। उनका गला बड़ा मधुर था। उनके जैसा मधुर वेद-मन्त्रोच्चारण मैंने दूसरे विद्वानों से नहीं सुना। काशीनिवासी वेदमूर्ति पण्डित बाबू खुन्टेजी (जो इस समय मथुरा में निवास कर रहे हैं) भी उनकी बहुत प्रशंसा किया करते हैं।

पूज्य पण्डितजी महाराज भारतविख्यात विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा अथवा गुणानुवर्णन मैं अल्पज्ञ क्या कर सकता हूँ? उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी ही है।

महामहोपाध्यायजी ने वेद-कर्मकाण्डके अनेक ग्रन्थों की सारगर्भित टीकाकर

बहुत ही लोकोपकार किया है। संसार में सब स्वार्थवश किसी के लिये रोते हैं। आज हम भी स्वार्थवश उनका स्मरण कर रोते हैं। हमारे ऊपर उनकी बड़ी कृपा रहा करती थी। जब कभी कोई शंका होती थी तब हम उनसे पूछ लेते थे और वे तुरन्त उत्तर दे देते थे। आज मैंने उनके पत्र देखे, तो उनके हाथ के लिखे हुए ३५ पत्र मुझे मिले जो मेरे पास सुरक्षित हैं।

एक बार मथुरा के स्व० पं० अमृतराम पण्ड्याजी से मेरा शास्त्रार्थ हुआ था। पण्ड्याजी का कहना था कि "हम ऋग्वेदी होते हुए भी सब शाखावालों के कार्य करा सकते हैं।" मैंने इसका खण्डन किया और कर्काचार्यकृत लघुकारिका के—

ब्रह्मा कार्यं स्वशाखोक्त आचार्योऽपि तथैव च।
अन्यथा कुरुते यस्तु स गच्छेन्नरकं ध्रुवम्॥

—इत्यादि वाक्य उपस्थित किये थे। इस विषय पर दो वर्ष तक नोटिसबाजी चलती रही। अन्त में मैंने बाहर के विद्वानों से सम्मतियाँ मँगाई कि 'इस विषय पर शास्त्रीय सम्मति प्रदान करें।' उस समय एक पत्र पूज्य म० म० पं० श्रीविद्याधर जी महाराज के पास भी सम्मत्यर्थ भेजा था। उन्होंने कृपा कर मेरे पक्ष का ही समर्थन किया था।

त्याग और औदार्यकी साकार मूर्ति

(पं० श्रीब्रह्मदेवजी शास्त्री, प्राध्यापक-हरिराम गोयनका सं० वि० रामेश्वर, काशी)

प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद वेदमूर्ति महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री जिस प्रकार विद्वत्ता में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे, उसी प्रकार वे त्याग और औदार्य में भी अपना विशिष्ट स्थान रखते थे।

लगभग ३० वर्ष की बात है। काशीस्थ पञ्चक्रोशी के अन्तर्गत 'रामेश्वर' स्थान में श्रीमान् बाबा युगलदासजी वैष्णव एक तपस्वी महात्मा रहते थे, जो कि वहाँ के 'राधाकृष्ण मन्दिर' के महन्त थे। वे परम धार्मिक और परोपकारी थे। अहोरात्र भगवद्भजन में ही उनका अधिक समय व्यतीत होता था। रामेश्वर की तथा आस-पास के ग्रामों की जनता उन्हें परम पूज्य दृष्टि से देखती थी। उस समय वहाँ 'रामेश्वर गोशाला' के संस्थापक त्यागमूर्ति ब्रह्मचारी श्रीझावरदत्तजी शर्मा रहा करते थे। श्रीब्रह्मचारीजी और बाबा युगलदासजी वैष्णव का परस्पर बड़ा स्नेह था। एक दिन प्रसङ्गवश ब्रह्मचारी श्रीझावरदत्तजी

ने बाबा श्रीयुगलदासजी से कहा– 'महात्माजी, बहुत समय से रामेश्वर में यज्ञ नहीं हुआ है, अतः आप यहाँ 'महाविष्णुयाग' करा दीजिये।' बाबाजी धर्मात्मा पुरुष थे। वेदोक्त यज्ञ-यागादि सत्कर्मों में उनकी अगाध श्रद्धा रहती थी। ब्रह्मचारी झावरदत्तजी की प्रेरणा से बाबाजी 'यज्ञ' कराने के लिये सहर्ष तैयार हो गये।

पूज्य बाबाजी तथा ब्रह्मचारी झावरदत्तजी ने भारतप्रसिद्ध विद्वान् पूज्यचरण म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री को यज्ञ का 'आचार्य' बनाने का निश्चय किया। पश्चात् बाबाजी और ब्रह्मचारी झावरदत्तजी पूज्य श्रीविद्याधरजी महाराज की सेवामें उपस्थित हुए। बाबाजी ने कहा—'मैं दीन-हीन, अकिञ्चन साधु हूँ। मेरे पास आपको देने के लिये दक्षिणा नहीं है, किन्तु श्रद्धा-भक्ति अवश्य है। अतः आप यज्ञ के आचार्य-पद को स्वीकार कर हमें ऐसा शुभाशीर्वाद दें, जिससे यज्ञ निर्विघ्न सानन्द परिपूर्ण हो और जनता जनार्दन का कल्याण हो।'

श्रीमान् बाबाजी की सात्त्विक प्रार्थना को सुनकर पूज्यपाद पण्डितजी ने कहा—'आप जैसे सन्त-महात्माओं का यज्ञ कभी विफल नहीं हो सकता। महात्माओं के द्वारा आयोजित यज्ञ से रोग-शोक दूर होकर धन-धान्यादि की वृद्धि होती है। अतः आपके द्वारा आयोजित यज्ञ में मेरी सहर्ष स्वीकृति है। मैं आपके यज्ञ में द्रव्यरूपी दक्षिणा का इच्छुक नहीं हूँ, किन्तु आपको आशीर्वादरूपी दक्षिणा का अवश्य इच्छुक हूँ।'

पूज्य पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज की त्यागमयी और औदार्यमयी वाणी को सुनकर बाबाजी और ब्रह्मचारीजी गद्गद हो गये और वे दोनों श्रद्धेय पण्डितजी की प्रशंसा करते हुए रामेश्वर वापस लौट आये। बाबाजी बड़े उत्साह से यज्ञ की तैयारी में संल्लग्न हो गये। रामेश्वर तथा रामेश्वर के आस-पास के ग्रामों में यज्ञ का खूब प्रचार हो गया। यज्ञ की तैयारी धूमधाम से होने लगी। यज्ञार्थ चन्दा होने लगा। रामेश्वर तथा रामेश्वर के आस-पास के ग्रामों से प्रचुर अन्न और घृत एकत्रित होने लगा। दुग्ध और दधि की तो प्रतिदिन नदी–सी प्रवाहित होने लगी।

यज्ञ प्रारम्भ होने के पूर्व यज्ञाचार्यजी अपने साथ चारों वेदों के विशिष्ट वैदिक विद्वानों को लेकर 'रामेश्वर' पहुँच गये। यज्ञ प्रारम्भ हो गया। यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये काशी के अतिरिक्त बाहर से भी अच्छे-अच्छे विद्वान्, सन्त-महात्मा और उपदेशक आमन्त्रित होकर आये थे। यज्ञ भगवान् की कृपा से यज्ञ में किसी बात की कमी नहीं रही। सभी लोग अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार तन, मन और धन से सहायता करने लगे। काशी के धनी-मानी सेठों ने भी यज्ञ में आर्थिक सहायता दी, जिनमें राजा बलदेवदासजी विरला, सेठ राधाकृष्ण शिवदत्त राय और सेठ जयदयाल सागरमल का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ था।

राजा बलदेवदासजी विरला ने अपनी ओर से यज्ञ के प्रारम्भ में यज्ञ के समस्त ऋत्विजों को वरण-सामग्री और यज्ञान्त में समस्त विद्वानों को दक्षिणा प्रदान कर विशेष उदारता का परिचय दिया था।

यज्ञकी पूर्णाहुति के दिन यज्ञ और यज्ञाचार्यजी के दर्शनार्थ रामेश्वर में अपार भीड़ एकत्रित हुई थी। पूर्णाहुति के समय यज्ञमण्डप के मध्य में बैठे हुए पूज्य पण्डित श्रीविद्याधरजी वृहस्पति के सदृश शोभायमान हो रहे थे। यज्ञ के यजमान श्रीमान् बाबा युगलदासजी विष्णुयज्ञ की सुसम्पन्नता से विशेष प्रभावित हुए और उन्होंने विशेषरूप से वस्त्र, आभूषण एवं द्रव्यद्वारा श्रीमान् यज्ञाचार्यजी का सत्कार करने का निश्चय किया। तदनुसार वे अपार जनता-जनार्दन के समक्ष यज्ञमण्डप में बैठे हुए श्रीमान् यज्ञाचार्यजी के समीप पहुँचे और वस्त्र,आभूषणादि से उनका विशिष्ट सत्कार किया। पूज्य आचार्यजी ने श्रीमान् बाबाजी के द्वारा दिये हुए समस्त वस्त्र, आभूषणादि वस्तुओं में से केवल एक 'फल' को आशीर्वादरूप में ग्रहण किया और बाकी समस्त वस्तु वापस करते हुए यज्ञाचार्यजी ने कहा—'मुझे आपका केवल अशीर्वाद चाहिये। महात्माओं के आशीर्वाद से कभी किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। अतः आप यदि मेरी सन्तुष्टता चाहते हैं, तो आप यज्ञ के समस्त ऋत्विजों को पर्याप्तरूप में दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करने की कृपा करें।'

श्रीमान् बाबाजी ने पूज्य यज्ञाचार्यजी की आज्ञा के अनुसार यज्ञ के समस्त ऋत्विजों को उचितरूप में दक्षिणा देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। पूज्य यज्ञाचार्यजी के त्याग और औदार्य को देखकर समस्त जनता मुग्ध हो गई और सब ने उनकी प्रशंसा की। आज भी जब कभी रामेश्वर के यज्ञ की चर्चा चलती है, तो पूज्य यज्ञाचार्यजी के त्याग और औदार्य की स्मृति हठात् उपस्थित हो जाती है।

श्रद्धाञ्जलि

(पं० श्रीजगन्नाथजी मिश्र, नयागंज, हाथरस)

साहित्यामृतसिक्तकल्पलतिका वेदान्तविद्यालया,
सद्धर्मद्रुममाश्रिता श्रुतिपथश्रान्तश्रमान्तक्षमा।
वेदाचार्यविशेषकौशलकलावैचित्र्यमातन्वती,
श्रीविद्याधरसद्विदां दिवि गता भा भातु भव्या भुवि॥ १॥
एको यागः कर्णवासे पुराऽभूदाचार्यत्वे श्रीमतां तत्र काम्यः।
आज्यङ्गव्यं हूयमानं हि दृष्टं नान्यत्रैतत्तथ्यमावेदयामि॥ २॥
श्रीमद् धाथरसस्थगुप्तसुकुलोत्पन्नेन सम्पादितः,
पूर्णानन्दकृपैकभाजनगणेशीलालनाम्ना पुरा।
गव्येनाज्यभरेण केवलमहो यागो महारुद्रकः,
यत्राग्नावनिशं सुराजतघटाविच्छिन्नधाराऽपतत्॥ ३॥
श्रीविद्याधरवेदपूर्णविदुषामाचार्यता तन्मख-
स्यासीद् बालकरामवह्निहुतकृद् ब्रह्मा हृषीकेशगः।
वित्पत्पद्ममधुव्रतानुगजगन्नाथस्सदस्योऽभव-
मन्ये वेदपरा विदः सुबहवश्चासन् महारुद्रके॥ ४॥

पूज्यपाद ब्रह्मीभूत श्रीउड़िया बाबाजी (स्वामी पूर्णानन्दजी महाराज) की सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर हाथरसनिवासी परम धार्मिक लाला गणेशीलालजी (फार्म—लालजीमल टीकाराम) ने संवत् १९९३ में कर्णवास (जि० बुलन्द-शहर) में पतितपावनी भागीरथी के पुनीत तट पर माघ शुक्ला वसन्त पञ्चमी से माघ शुक्ला पूर्णिमा पर्यन्त 'महारुद्र यज्ञ' किया था। इस महायज्ञ में पूज्यपाद म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज 'आचार्य', पण्डित श्रीबालकरामजी अग्निहोत्री 'ब्रह्मा' और मैं 'सदस्य' था। इस महायज्ञ में १२५ विद्वानों का वरण हुआ था। काशी से पूज्य श्रीमान् यज्ञाचार्यजी के साथ १५ विद्वान् पधारे थे। इस महायज्ञ में यज्ञ के यजमानने भारतप्रसिद्ध विरक्त सन्त-महात्माओं को भी विशेषरूप से बुलाया था, जिनमें ब्रह्मीभूत श्रीउड़िया बाबाजी, पूज्यपाद शङ्कराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज और पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यह महायज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आकर्षक था। पूज्यपाद श्रीयज्ञाचार्यजी महाराज के विद्वत्तापूर्ण याज्ञिक विधि-विधान को देखकर सभी विद्वान् उनकी हृदय से स्तुति किया करते थे। यज्ञ के यजमान की ओर से यज्ञ में आगन्तुक सज्जनों को यथेच्छ भोजनादि देने की पूर्ण व्यवस्था थी। "दीयतां भुज्यताम्" की ध्वनि से यज्ञ की विशेष शोभा बढ़ गई थी। यज्ञ में आये हुए पूज्य साधु-सन्तों के अमूल्य उपदेशों को श्रवण कर तथा महायज्ञ के

दर्शन कर जनता-जनार्दन ने विशेष आनन्दानुभव प्राप्त किया। आज भी उस महायज्ञ की जब पवित्र स्मृति होती है, तो स्वर्गीय आनन्दानुभूति होती है।

पूज्यपाद श्रीविद्याधरजी महाराज की मुझपर विशेष कृपा रहती थी। उन्होंने मेरे कई धर्मशास्त्रीय निबन्धों पर अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मति प्रदान की थीं, जो कि स्वर्णाक्षररूप में मेरे पास सुरक्षित हैं। मैं पूज्यपाद महामहिम, वैदिकतिलक, वेदाचार्य, महामहोपाध्याय स्व० पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड अग्निहोत्री के प्रति अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

———

शिष्यों - द्वारा

हार्दिक श्रद्धाञ्जलि

वाग्देवतावतार पूज्य गुरुदेवकी स्मृति

(पं० श्रीयोगीन्द्रजी झा, वेदाचार्य, प्रो० गवर्नमेन्ट सं० का०, मुजफ्फरपुर)

प्राप्तमुक्तिसाम्राज्य परम गुरूजी महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री अग्निहोत्री मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद-वेदाङ्गों के असाधारण विद्वान् थे। आपकी मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों एवं अष्टाध्यायी के अनुसार पाणिनीय व्याकरण, निरुक्त, शतपथब्राह्मण, प्रातिशाख्य, कल्पसूत्रादिकों की अध्यापनशैली को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि आप साक्षात् 'वेदावतार' हैं। आपके अध्यापन-जन्य यशोव्रात से आकृष्ट होकर प्रत्येक प्रान्त के द्विजगण काशी आकर आपसे वेद और कर्मकाण्ड की शिक्षा प्राप्त कर अपने को गौरवान्वित समझते थे। आपकी कर्मकाण्डकुशलता, श्रौतस्मार्तयज्ञ-सम्पादननिपुणता और वेदमन्त्रोच्चारणशैली अद्‌भुत थी।

पञ्चगौडों में वेद-कर्मकाण्ड के प्रसार-प्रचार का अधिक श्रेय परम गुरूजी (पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री) को ही है, जिन्होंने अगणित शिष्यों को वेद-कर्मकाण्ड की शिक्षा देकर तथा अनेकानेक श्रौत-स्मार्त यज्ञों को समस्त भारत में कराकर वेद और कर्मकाण्ड का प्रचार और संरक्षण किया।

परम गुरूजी जैसे वेद के महाविद्वान् थे, वैसे ही वे महात्यागी भी थे। आपने अपने जीवन में 'भृतकाध्यापन' (वेतन लेकर वेदाध्यापन) नहीं किया। आप श्रौत-स्मार्त यज्ञों को निर्लोभ कराते थे। आप यजमान से दक्षिणा निश्चित कर यज्ञादि नहीं कराते थे। आप यजमान को यज्ञ के विधि - विधान को यथार्थरूप में करने के लिये विशेष जोर दिया करते थे। आप अपनी विद्वत्ता तथा त्याग से यजमान तथा जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे।

आपकी विशिष्ट विद्वत्ता आदि गुणों से प्रभावित होकर गवर्नमेन्ट सरकार ने आपका 'महामहोपाध्याय' की उपाधिद्वारा महान् सम्मान किया था। वेदज्ञों में सर्वप्रथम यह सौभाग्य आपको ही प्राप्त हुआ था। आपके ऊपर वेद भगवान् की महती कृपा थी, जिनकी कृपासे आपको वाग्देवता के अवतारस्वरूप पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड जैसे महाविद्वान् पुत्र की प्राप्ति हुई। गुरुवर पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराजकी विद्वत्ताके विषय में क्या लिखा जाय ? आप वेद की साक्षात् मूर्ति थे। अङ्गसमवायसमन्वित सभाष्य वेदसरस्वती आपकी जिह्वापर मूर्तरूप से विराजमान थी। आपकी वेद-विद्या-वैभवशक्ति तथा मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याकरण, साहित्यादि शास्त्रानुशीलनजन्य व्युत्पत्तिशक्ति अद्‌भुत थी। कोई भी जिज्ञासु वेद-कर्मकाण्ड एवं धर्मशास्त्रादि विषय के प्रश्नों को लेकर आपके सामने उपस्थित होता था, तो तत्काल आप उसका समुचित समाधान कर देते थे। आप में परस्पर विरुद्ध अभ्यास-शक्ति और व्युत्पत्तिशक्ति समभाव में विराजमान थी। आपकी

अद्‌भुत और अपुस्तक मन्त्रब्राह्मणात्मक सभाष्य वेदग्रन्थों और व्याकरण साहित्य, मीमांसा, धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों की अध्यापनशैली को देखकर हम लोगों को ऐसा प्रतीत होता था कि आप उन्नीसवीं शताब्दी में साक्षात् वेदव्यास के रूप में अथवा याज्ञवल्क्य के रूप में अवतीर्ण होकर यवनों एवं नास्तिकों के आघात से लुप्तप्राय वेदों के पुनरुद्धारार्थ अवतीर्ण हुए हैं। आपकी कात्यायनश्रौतसूत्र और शुल्बसूत्र की महत्त्वपूर्ण टीका को देखकर ज्ञात होता है कि आप वेदाध्यायी शिष्यों के लिए साक्षात् भगवान् 'कात्यायन' ही अवतीर्ण हुए थे। आपने अध्यापनद्वारा, ग्रन्थलेखन-द्वारा और यज्ञ-यागादिद्वारा वैदिक-समाज का जो कल्याण किया है, उसके लिए वैदिक-जगत् सर्वदा आपका ऋणी रहेगा।

जिस प्रकार आपके पूज्य श्रीपिताजीने अपनी विशिष्ट विद्वत्ता के प्रभाव से गवर्नमेन्ट सरकारद्वारा 'महामहोपाध्याय' की सम्मानित उपाधि प्राप्त की थी, उसी प्रकार आपने भी अपने प्रखर पाण्डित्य से गवर्नमेन्ट सरकारद्वारा 'महामहोपाध्याय' की विशिष्ट उपाधि प्राप्त की थी। पिता और पुत्र का यह महान् सम्मान विद्वानों के लिए, विशेषतः वेदज्ञों के लिए अत्यन्त गौरव का विषय है।

वैदिक वाङ्मयके भाण्डागार

(पं० श्रीजगदानन्दजी झा, वेदविभागाध्यक्ष-गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, पटना)

आम्नायवाचामाचार्यानाहिताग्निशिरोमणीन्।
वन्दे विद्याधराँस्तत्र भवतो गुरुपुङ्गवान्॥

यज्ञोपवीत-संस्कार के बाद 'वेदो नित्यमधीयताम्' के अनुसार मैंने वेदाध्ययन को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य बनाया। मैंने वेदाध्ययनार्थ दरभंगा के विद्वानों से परामर्श किया, तो सभी ने कहा– 'काशीमें स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री और उनके सुपुत्र म० म० पं० श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री का गृह मिथिला के वैदिकों के लिये 'कुलगुरु' के रूप में विराजमान है। मिथिला के समस्त सुप्रसिद्ध वेदज्ञ स्व० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री और उनके पुत्र पं० श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री के शिष्य हैं। अतः तुम भी काशी में जाकर पण्डित श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री से वेदाध्ययन करो। पण्डित श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री काशी में साक्षात् वेदावतार के रूप में विराजमान हैं, जो 'यथा नाम तथा गुणः' इस लोकोक्ति के अनुसार विविध विद्याओं को धारण किये हुए हैं।'

मैं वेदाध्ययनार्थ भगवान् विश्वनाथ की पवित्र पुरी में आने के लिये तथा पूज्य श्रीगुरूजी के दर्शन के लिये विशेष व्याकुल रहने लगा। भगवत्कृपा से मैं सन् १६२६ में विद्या के प्रधान केन्द्र काशी में पहुँच गया। काशी में पहुँच कर पूज्यपाद श्रीगुरूजी महाराज के दर्शनार्थ मैं उनके निवास-स्थान में सायङ्काल ५ बजे पहुँचा, तो ज्ञात हुआ कि श्रीगुरूजी अग्निहोत्र' के कार्य में संल्लग्न हैं। मैं अग्निहोत्रशाला के पास जाकर बैठ गया। वहाँ पर अग्निहोत्र की भस्म को लेने के लिये कई सज्जन बैठे थे। अग्निहोत्र के सुगन्धयुक्त पवित्र धूम्र के आघ्राण से मुझे परम सुख-शान्ति मिली और ऐसा प्रतीत होने लगा कि मैं साक्षात् 'देवलोक' में बैठा हुआ हूँ।

कुछ समय के बाद पूज्यपाद श्रीगुरूजी महाराज अग्निहोत्र का कार्य पूर्ण कर अग्निहोत्रशाला से बाहर निकल कर पक्के दालान में बिछे हुए कुशासन पर बैठ गये· हम सभी लोग श्रीगुरूजी को देखकर खड़े हो गये और उनके चरणों को स्पर्श करके बैठ गये। श्रीगुरूजी ने हम सबको अग्निहोत्र की शुभ्र भस्म दिया। भस्म ग्रहण कर सब लोग वापस चले गये, किन्तु मैं वहीं पर बैठा रहा। श्रीगुरूजी के दर्शन कर मुझे भान होने लगा कि 'यह साक्षात् भगवान् शङ्कर अथवा वेदों के मूर्तिमान् स्वरूप हैं और यह वेदोद्धारार्थ संसार में कुछ काल के लिये अवतरित हुए हैं।' श्रीगुरूजी ने मेरे से पूछा—'तुम कहाँ रहते हो?' संक्षेप में अपना पूरा विवरण बतलाते हुए मैंने कहा—'मेरा काशी में आप से अध्ययन के निमित्त आना हुआ है।' श्रीगुरूजी ने सहर्ष अपनी शरण में रखकर वेदाध्यापनार्थ आज्ञा प्रदान कर मेरे उत्साह की अभिवृद्धि की। मैंने काशीस्थ गोयनका संस्कृत महाविद्यालय में 'शुक्ल यजुर्वेद सम्पूर्ण मध्यमा' परीक्षा में अपना नाम लिखा लिया और श्रीगुरूजी से वेद-मध्यमा के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करने लगा। श्रीगुरूजी की कृपा से मैंने सन् १६३० में काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज की सम्पूर्ण 'शुक्ल यजुर्वेद मध्यमा' परीक्षा उत्तीर्ण की। पश्चात् वेदशास्त्री और वेदाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की।

जिस समय मैं काशी में वेदाध्ययन करता था, उस समय श्रीरमाकान्त झा वेदाचार्य भी श्रीगुरूजी से वेदाध्ययन करते थे। हम दोनों सहपाठी थे। वेद-मध्यमा से वेदाचार्य तक हम दोनों का अध्ययन एक-साथ ही हुआ था।

पूज्यपाद श्रीगुरूजी में यह विलक्षण शक्ति थी कि वे अष्टविकृतिसहित वेद का समस्त मूलभाग गायत्रीवत् कण्ठस्थ पढ़ाते थे। वे जैसे वेद के अर्थ-भाग के प्रकाण्ड विद्वान् थे, वैसे ही वेद के मूलभाग के प्रकृष्ट विद्वान् थे। मैं और श्रीरमाकान्त झा वेदशास्त्री के प्रथम खण्ड की तैयारी कर रहे थे। उस समय वेदशास्त्री के प्रथम खण्ड में वेद के पद, क्रम, जटा, घन आदि के कुछ अध्याय परीक्षा में रखे गये थे। हमलोग मध्याह्न में 'काजड़िया संस्कृत पाठशाला' त्रिपुरा भैरवी गली में श्रीगुरूजी से वेद के पद, क्रम, जटा आदि

का स्वाध्याय किया करते थे। उस समय हम लोगों को श्रीगुरुजी की विलक्षण प्रतिभा को देखकर आश्चर्य होता था कि--वे एक ओर ३०, ३५ छात्रों को शुक्ल यजुर्वेद संहिता पढ़ा रहे हैं, दूसरी ओर वेद की अष्टविकृति पढ़ा रहे हैं, तीसरी ओर वेद के भाष्य पढ़ा रहे हैं और चौथी ओर मध्यकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी, रघुवंश, किरात, माघ, कुमारसंभव, नैषध और शकुन्तला नाटक आदि ग्रन्थों को पढ़ा रहे हैं।

पूज्यपाद श्रीगुरुजी की जो विद्वत्ता थी, वह ईश्वरीय थी। इसीलिये उनकी समस्त शास्त्रों में अप्रतिहत गति थी। उनकी सार्वभौम विद्वत्ता पर भारतीय विद्वानों को विशेष गर्व था।

प्रातःस्मरणीय श्रीगुरुजी सच्चे अर्थ में 'वेदवित्' थे। वे चारों वेदों का भाष्य अभ्रान्त पढ़ाते थे। उनके पढ़ाये हुए अनेक विद्यार्थियों ने चारों वेदों की अनेक परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं। मैंने भी श्रीगुरुजी से सामवेद के समस्त अर्थ-ग्रन्थों का अध्ययन कर सन् १९३६ में विहार संस्कृत एसोशियेशन, पटना की 'सामवेदाचार्य' परीक्षा उत्तीर्ण की। सामवेदाचार्य-परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर मैंने सामवेद के 'पुष्पसूक्त' के भाष्य के अध्ययनार्थ काशी के तथा अन्यत्र के सामवेद के विशिष्ट विद्वानों से चर्चा की, किन्तु सभी ने इस कठिन ग्रन्थ के अध्यापनार्थ निषेध कर दिया। अन्त में मैंने निराश होकर अपने श्रीगुरुजी से 'पुष्पसूक्त' के अध्ययनार्थ निवेदन किया। श्रीगुरुजी ने सामवेद के 'पुष्पसूक्त' को ऐसे सुन्दर और सरल ढंग से पढ़ाया कि मैं आश्चर्यचकित हो गया। मेरी दृष्टि में भारतवर्ष में सामवेद के 'पुष्पसूक्त' को पढ़ानेवाला अब कोई विद्वान् नहीं है।

श्रीगुरुजी की मुझ पर विशेष कृपा थी। उन्होंने मुझे केवल 'विद्या' प्रदान नहीं किया, किन्तु अपने जीवनकाल तक मुझे अपने गृह में पुत्रवत् रखकर अन्न, वस्त्र आदि भी प्रदान किया। गुरुगृह में रहकर मैं समस्त परिवार का अत्यन्त प्रेमपात्र बन गया था। मुझे यह नहीं प्रतीत होता था कि मैं किसी दूसरे के यहाँ निवास कर रहा हूँ।

मैंने वर्षों श्रीगुरुजी के साहचर्य में रहकर अपने जीवनरूपी अनेक अध्यायों के अनेक पृष्ठों को पलटा है, जो निकष पर खिंचे हुए स्वर्णरेखातुल्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और समुज्ज्वल हैं, जिनका यथार्थ वर्णन मेरी बुद्धि और शक्ति के बाहर है।

---

१. ऋचो यजूँषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद् वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥ (मनु० ११।२६४)
'ऋग्वेद के, यजुर्वेद के और विविध प्रकार के साममन्त्रों को 'त्रिवृद् वेद' कहते हैं। जो इसको जानता है वही वेदवेत्ता है।'

'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव' के अनुसार श्रीगुरुजी समुद्र की तरह गम्भीर और हिमालय पर्वत की तरह धैर्यवान् थे। उन्होंने अपने तपःपूत जीवन से अपने गृह को वेदविद्या का पवित्र स्रोत बना दिया था, जिस वेदविद्या के स्रोतद्वारा अगणित विद्यार्थियों ने वेदाध्ययन कर अपना और समाज का कल्याण किया है।

कुछ व्यक्ति अपने जीवनकाल में ही प्रसिद्ध रहते हैं, किन्तु मृत्यु के अनन्तर उनकी स्मृति अथवा कीर्ति अकारण ही क्षीण पड़ जाती है। कुछ व्यक्ति अपने जीवनकाल में अप्रसिद्ध रहते हैं, किन्तु मृत्यु के बाद वे अपनी योग्यता, प्रतिभा और तपस्या के कारण जन-जन की स्मृति में विशिष्ट ख्याति प्राप्त करते हैं। किन्तु इन दोनों श्रेणियों से अलग एक तीसरी विशिष्ट पङ्क्ति के भी मनुष्य इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं जो अपने जीवनकाल में और मृत्यु के अनन्तर भी अमरकीर्तिशाली और महामान्य बने रहते हैं।

पूज्यचरण स्वर्गीय श्री १०८ गुरुजी की गणना तृतीय श्रेणी की विशिष्ट व्यक्तियों में थी, जिन्होंने अपने जीवन में अध्यापन, ग्रन्थनिर्माण और यज्ञयागादिद्वारा लोकोत्तर प्रतिष्ठा प्राप्त की और महाप्रयाण के बाद उनके निर्माण किये हुए ग्रन्थों से, उनकी सुयोग्य शिष्यपरम्परा से तथा उनके सदाचारमय, परोपकारमय और आदर्शमय जीवन से देश और समाज का महान् कल्याण हो रहा है, जिससे उनकी कीर्ति सदैव अजर-अमर रहेगी।

अन्तमें मैं प्रातस्स्मरणीय श्री १०८ गुरुजी के सम्बन्ध में स्वरचित कुछ श्लोकों को उद्धृत कर अपने लेख को समाप्त करता हूँ।

महामहोपाध्यायपदं येनाजनि पूतम्
यो वेदानामुद्धरणेऽधारयदाकूतम्।
यस्य घनान्ते वेदे न प्रापि प्रतिवादी
श्रौतस्मार्त्तविधानकृते यः सदाऽप्रमादी॥ १॥

प्रभुदत्तः शास्त्री गौडो ब्राह्मणाग्रयायी
अग्न्याधानपवित्रितसद्मा वाणीध्यायी।
साङ्गं सरहस्यं वेदं सहिताखिलभेदम्
यो व्याख्यच्छिष्येभ्यः सततमनाहितखेदम्॥ २॥

तत्तनयो विद्यानामखिलानामाधारः
अन्वर्थाभिख्यो विद्याधरशर्माऽपारः।
सागर इव वैदिकविज्ञानपयोराशीनाम्
अन्वभवत्सर्वामपि सिद्धिं सदनासीनाम्॥ ३॥

तदात्मजान्यतमो वैदिकनिवहानां नेता
वेणीरामसुधीरयमनुपधि ममताजेता ।
स्वपितुर्जीवनवृत्तं ज्ञापयितुं यतमानः
बुधनिवहस्य पुरस्तात्स्वोद्योगेऽप्रतिमानः ॥ ४ ॥

श्रद्धाभक्तिभरेण यथामति विभवं कृत्वा
सङ्ग्रहमदसीयं सकलं वृत्तं हृदि धृत्वा ।
प्रकाशयति पुस्तकमिति मनो मदीयं हृष्टम्
तद्गुणावलीं वक्तुमुद्यमं कुरुते धृष्टम् ॥ ५ ॥

विद्याधरशर्मा मर्माणि विदन् वेदाना-
मन्येषामङ्गानामपि च बृहद्भेदानाम् ।
अध्यापिपदस्मान्सकलान् ग्रन्थसमूहान्
हृदयङ्गमतामनयच्चाखिलतत्त्वव्यूहान् ॥ ६ ॥

योगक्षेमविधौ पुत्रानिव नो मन्वानः
प्रतिपलमनायासमथ धीवृद्धिं तन्वानः ।
कथमेषामुपपद्येत प्रतिभेति सचिन्तम्
पुष्पाणामस्माकं यो जायते स्म वृन्तम् ॥ ७ ॥

तत्प्रत्युपकृत्यक्षमता मयि जगदानन्दे
सदा स्थायिनो धिया समृद्ध्या तथातिमन्दे ।
कः प्रत्युपकर्तुं शक्नोति घनस्य जघन्यः
चातककुलजातो यस्तत्पयसाभूद्धन्यः ॥ ८ ॥

सदास्तु तत्पदद्वन्द्वे मनसस्तुष्टये मम ।
श्रद्धाभक्तिसमायुक्तः प्रणामसुमनोऽञ्जलिः ॥ ९ ॥

बड़े गुरुजी और छोटे गुरुजी

(पं० श्रीहरिनारायणजी सारस्वत, कर्मकाण्डी, वाराणसी)

हमारे बड़े भाई पं० श्रीप्रयागनारायणजी ने बड़े गुरुजी पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री से वेद-कर्मकाण्ड का अध्ययन किया था। हमारी भी वेदाध्ययन करने की विशेष इच्छा थी, किन्तु हमारे श्रीपिताजी हमको वेदाध्ययन न कराकर व्यापार लाइन में प्रविष्ट करना चाहते थे। हमारे विषय में बड़े गुरुजी को जब यह विदित हुआ, तो उन्होंने हमारे श्रीपिताजी से कहा—'आप हरिनारायण को व्यापार में न लगाकर वेदाध्ययन कराइए। "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" के अनुसार ब्राह्मण को निष्कारण षडङ्ग वेदाध्ययन करना चाहिए।' हमारे पिताजी ने बड़े गुरुजी के कथनानुसार हमको भी वेदाध्ययन की आज्ञा दे दी। हमने आठ वर्ष की अवस्था से ही बड़े गुरुजी के चरणों में उपस्थित होकर 'वेदाध्ययन' प्रारम्भ किया। जिस पर गुरु की कृपा होती है, वही वेदाध्ययन कर सकता है और उसी का वेदाध्ययन सफल होता है। ईश्वर की कृपा से हमारे ऊपर गुरुजी की बड़ी कृपा थी। उन्होंने बड़े प्रेम से हमको वेद-कर्मकाण्ड की शिक्षा दी और स्वल्पावस्था में ही वह हमको यज्ञादि में ले जाने लगे।

४ फरवरी, सन् १६१६ ई० में वसन्त पञ्चमी के शुभावसर पर सम्राट् के प्रतिनिधि भारतवर्ष के गवर्नर जनरल श्रीमान् लार्ड हार्डिञ्ज महोदय के द्वारा काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय का *'शिलान्यास' हुआ था। शिलान्यास के समय 'महारुद्र यज्ञ' और 'गायत्री पुरश्चरण' ये दो महायज्ञ हुए थे।

---

*काशीस्थ 'सारस्वत सभा' की ओर से प्रकाशित होनेवाले संबत् २०१७ के 'तिथि-पर्व-निर्णय' (पृष्ठ ५६) में छपा है कि—'संवत् १६७२ में पं० कुन्दनलालजी मिश्र के आचार्यत्व में भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज महोदय ने काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय का 'उद्घाटन' किया। और आपके ही आचार्यत्व में अमृतसर के दुर्ग्याना मन्दिर की प्रतिष्ठा और तडागोत्सर्ग पण्डित मदन मोहन मालवीयजी के करकमलों द्वारा सुसम्पन्न हुआ।'

यह दोनों समाचार बिलकुल असत्य, निराधार और भ्रामक प्रकाशित किये गये हैं। संवत् १६७२ में लार्ड हार्डिञ्ज द्वारा हिन्दूविश्वविद्यालय का 'उद्घाटन' नहीं हुआ किन्तु 'शिलान्यास' हुआ था। वह शिलान्यास पं० कुन्दनलालजी मिश्र के आचार्यत्व में नहीं, किन्तु म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री के आचार्यत्व में हुआ था।

अमृतसर के सुप्रसिद्ध दुर्ग्याना मन्दिर की प्रतिष्ठा, तड़ागोत्सर्ग और यज्ञ—ये तीनों कार्य सन् १६२५ ई० में महामना पण्डित मदन मोहन मालवीयजी के यजमानत्व में एवं म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री और उनके सुपुत्र म० म० पं० श्रीविद्याधरजी के आचार्यत्व में सुसम्पन्न हुए थे। अमृतसर के 'दुर्ग्याना' मन्दिर की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में काशी के सुप्रसिद्ध 'सुप्रभातम्' मासिक पत्र के विशेषाङ्क 'वैदिकाङ्क' (पृष्ठ ७) में स्व० म० म० अग्निहोत्रीजी के जीवनचरित में स्पष्ट लिखा है—'अमृतसर-नगरीय-सुप्रसिद्ध 'दुर्ग्याना' मन्दिर-संस्थापनमेतेषां हस्तेनैवाभवत्।'

महारुद्र यज्ञ के 'आचार्य' बड़े गुरूजी म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री थे और गायत्री पुरश्चरण महायज्ञ के आचार्य छोटे गुरुजी पं० श्रीविद्याधरजी गौड थे। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में पं० कुन्दनजी सारस्वत, पं० छुन्नाजी कर्मकाण्डी, पं० नाथूरामजी गौड, पं० शम्भुदत्तजी द्विवेदी, पं० शिवनाथजी (बच्चेजी) सारस्वत, पं० गोविन्दरामजी सामवेदी, पं० गणपतिजी जोशी ऋग्वेदी, पं० बाबू दीक्षितजी जड़े ऋग्वेदी, पं० काशीनाथजी मिश्र कर्मकाण्डी आदि वैदिक विद्वान् सम्मिलित हुए थे। हम भी इस कार्य में सम्मिलित थे।

शिलान्यास के अवसर पर होनेवाले महारुद्र यज्ञ में म० म० पण्डित श्रीशिवकुमारजी शास्त्री 'यजमान' थे और गायत्री पुरश्चरण-महायज्ञ में म० म० पण्डित श्रीआदित्यरामजी भट्टाचार्य 'यजमान' थे।

सन् १९२१ ई० में अमृतसर के सुप्रसिद्ध दुर्ग्याना-मन्दिर की स्थापना, तड़ागोत्सर्ग और यज्ञ—ये तीनों कार्य पूज्य मालवीयजी के यजमानत्व में और हमारे बड़े गुरूजी म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री और छोटे गुरूजी म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौड के आचार्यत्व में हुए थे। इन कार्यों के सम्पादनार्थ गुरूजी के साथ काशी से स्व० पं० कालीप्रसादजी गौड, स्व० पं० गणपतिजी जोशी ऋग्वेदी, स्व० पं० हरिजी कर्मकाण्डी (स्व० पं० छुन्नाजी कर्मकाण्डी के पुत्र), स्व० पं० गोविन्दरामजी सामवेदी, स्व० पं० कालीदासजी गौड, स्व० पं० सुमतिरामजी सामवेदी, पं० शम्भुदत्तजी द्विवेदी और हम भी गये थे। हमलोग अमृतसर के सुप्रसिद्ध रईस नत्थूमल रंगवाले की कोठी में ठहरे थे। उसी कोठी में पूज्य श्रीमालवीयजी महाराज भी ठहरे थे।

पूज्य मालवीयजी महाराज बड़े गुरूजी (पं० श्रीप्रभुदत्तजी) को 'महर्षि' कहा करते थे और वे प्रायः बड़े गुरूजी के पादस्पर्श भी किया करते थे। श्रीमालवीयजी महाराजने बड़े आग्रह से बड़े गुरूजी को हिन्दू-विश्वविद्यालय का वेदविभागाध्यक्ष और 'डीन' बनाया था। बड़े गुरूजीने हिन्दू-विश्वविद्यालय की जीवनपर्यन्त अवैतनिक सेवा की थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय के वेदविभागाध्यक्ष बनने का सर्वप्रथम सौभाग्य बड़े गुरूजी को ही मिला था।

पूज्य बड़े गुरूजी बहुत ही परोपकारी थे। उन्होंने महामना मालवीयजी से सिफारिश कर हिन्दू-विश्वविद्यालय में बहुत से सुयोग्य अध्यापकों की नियुक्ति कराई, हजारों विद्वानों को अनेक प्रकार से द्रव्य दिलाकर उनकी सहायता की और हजारों सुयोग्य शिष्यों को तैयार कर वेद का प्रचार किया।

काशी के वैदिकों में पूज्य श्रीगुरूजी का सर्वोच्च स्थान था। सन् १९२४ में गवर्नमेन्ट सरकार ने 'महामहोपाध्याय' की उपाधि देकर आपका महान् सम्मान किया था। वेदज्ञों में यह सम्मान सर्वप्रथम आपको ही प्राप्त हुआ था। आप 'विद्यया वपुषा वाचा' के साक्षात् प्रतीक थे। आपका जो एक बार दर्शन कर लेता था, वह आपका सदैव के लिये भक्त बन जाता था। आप बहुत ही स्पष्ट-

वक्ता, निर्लोभी और कट्टर धार्मिक थे। आपकी धार्मिकता प्रसिद्ध है। आपने स्वधर्मरक्षार्थ 'रणवीर संस्कृत पाठशाला' का परित्याग कर दिया और धर्मरक्षार्थ समय-समय पर बड़े-बड़े धनिक राजा-महाराजाओं तक का भी त्याग कर दिया था। आपको अपनी वेद-विद्या पर बड़ा भरोसा था। आपका विश्वास था कि—"वेदों में आस्था रखनेवाले को कभी किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। वेदज्ञ दूसरों को दिलाकर स्वयं अपना भी सुखपूर्वक उदरपोषण कर सकता है।"

बड़े गुरूजी बड़े भाग्यवान् थे जिनके ज्येष्ठ पुत्र पं० श्रीविद्याधरजी गौड उनसे भी बढ़कर विद्वान् हुए। यह सौभाग्य बहुत कम पिताओं को देखने-सुनने को मिलता है, जिनके जीवनकाल में ही 'पुत्र' की विद्वत्ता की विजय-वैजयन्ती की पताका फहराने लगे। बड़े गुरूजी के सामने ही छोटे गुरूजी (श्रीविद्याधरजी) काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में वेद के 'प्रधानाध्यापक' पद पर प्रतिष्ठित होकर भारत-विख्यात वेदज्ञ विद्वान् माने जाते थे। बड़े गुरूजी की तरह आपको भी यज्ञ-यागादि से फुरसत नहीं मिलती थी। आप अहोरात्र अध्यापन और ग्रन्थलेखन में निरत रहा करते थे। आपकी विशिष्ट योग्यता के कारण ही बड़े गुरूजी के सभी शिष्य आपसे भी अध्ययन किया करते थे। इसीलिये बड़े गुरूजी (म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री) और छोटे गुरूजी (म० म० पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री) के द्वारा पिता और पुत्र का सम्बोधन होता था।

बड़े गुरूजी की मृत्यु के बाद छोटे गुरूजी ने जिस योग्यता से अपनी प्राचीन परम्परा की मर्यादा को सुरक्षित और वृद्धिङ्गत किया, वह सर्वविदित है। आपकी अपूर्व विद्वत्ता से प्रभावित होकर आपका सन् १६४० ई० में गवर्नमेन्ट सरकार ने 'महामहोपाध्याय' की टाइटिल देकर सम्मान किया। इस प्रकार पिता और पुत्र दोनों का अभूतपूर्व महान् सम्मान केवल इसी वेदज्ञ परिवार में देखा गया।

हम अपने को परम भाग्यशाली समझते हैं कि हमने वेदमूर्ति श्रद्धेय बड़े गुरूजी और छोटे गुरूजी का आश्रय प्राप्तकर वेदाध्ययन किया। भगवत्कृपा से किसी किसी शिष्य को ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है। छोटे गुरूजी की विद्वत्ता के बारे में हमने पूज्य मालवीयजी महाराज, म० म० पं० श्रीलक्ष्मण शास्त्रीजी द्राविड, म० म० पं० श्रीनित्यानन्दजी पर्वतीय, म०म० पं० श्रीबालकृष्णजी मिश्र, वैयाकरणकेसरी पं० श्रीचन्द्रधरजी शास्त्री आदि से सुना था कि—"श्रीविद्याधरजी अपने श्रीपिताजी से भी अधिक विद्वान् हैं।"

संवत् १६८७ में काशीस्थ अन्नपूर्णामन्दिर के समीप काशीनिवासी लाला पुरुषोत्तमदास खन्ना ने 'श्रीराम पञ्चायतन मन्दिर' की स्थापना की। उस समय मन्दिर की प्रतिष्ठा के 'आचार्य' बनने के लिये काशीस्थ सारस्वत वैदिक विद्वानों में बड़ा संघर्ष चल रहा था। वे लोग लाला पुरुषोत्तमदास के पास सिफारिश पहुँचाने लगे कि-'तुम खत्री हो, इस नाते किसी सारस्वत ब्राह्मण को ही

'आचार्य' बनाना चाहिये।' लाला पुरुषोत्तमदास का कहना था कि—'मुझे जातीयता का ध्यान नहीं है, विद्वत्ता का ध्यान अवश्य है। सबलोग काशी में पण्डित श्रीविद्याधरजी को वेदका सर्वश्रेष्ठ विद्वान् बतलाते हैं। अतः मैं उन्हें ही 'आचार्य' बनाऊँगा।' लाला पुरुषोत्तमदास ने किसी की सिफारिश पर ध्यान न देकर हमारे गुरुजी म० म० पं० श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री को ही 'आचार्य' बनाया। पूज्य श्रीगुरुजी के आचार्यत्व में पं० अनन्तरामजी सारस्वत, पं० कुन्दनलालजी मिश्र सारस्वत, पं० जगतरामजी गोस्वामी सारस्वत, पं० शिवरामजी सारस्वत, पं० प्रयागनारायणजी सारस्वत, पं० गयादत्तजी व्यास, पं० गोविन्दरामजी सामवेदी, पं० शम्भुदत्तजी द्विवेदी, पं० मदन मोहनजी गोस्वामी सारस्वत आदि विद्वानों ने ब्रह्मा, सदस्य, द्वारपाल आदि पदों पर प्रतिष्ठित होकर कार्य किया था।

काशी के कुछ मूल घनान्त वेदपाठियों को हमारे गुरुजी के प्रति यह भ्रान्ति थी कि यह रात्रिन्दिवा वेदों के भाष्यों, व्याकरण साहित्यादि ग्रन्थों के अध्यापन और ग्रन्थलेखनादि कार्यों में सर्वदा संल्लग्न रहते हैं, तो इन्हें अष्टविकृति-सहित वेद का मूलपाठ किस प्रकार सर्वदा अभ्यस्त रह सकता है? अतः ऐसे लोगों ने अवसर पाकर कई बार वसन्तपूजा और यज्ञ आदि में छोटे गुरुजी के समक्ष ज्ञानपूर्वक वेद के क्रम, जटा, घन आदि का मूलपाठ प्रारम्भ करके उनकी परीक्षा की, किन्तु सभी लोगों को परास्त होना पड़ा।

वस्तुतः छोटे गुरुजीकी विद्वत्ता अलौकिक और पूर्वजन्मार्जित थी। वे वैदिक वाङ्मय के भाण्डागार अथवा साक्षात् वेदमूर्ति थे। उनकी मूल वेदपाठ की विचित्र उपस्थिति को देखकर समय-समय पर सभी भ्रान्त व्यक्तियों को नतमस्तक होना पड़ता था।

धर्मप्राण भारतवर्ष का महान् दुर्भाग्य है कि वेदमूर्ति गुरुजी (म० म० पं० श्रीविद्याधरजी गौड) महाराज का स्वर्गवास बहुत जल्द हो गया। यदि वे अधिक समय तक जीवित रहते तो वेदमार्ग-पथिकों का विशेष लाभ होता।

वेद भगवान् की कृपा से काशी में आज भी इनका वंश वेदज्ञों में सर्व-प्रसिद्ध और सर्वप्रतिष्ठित माना जाता है। भारत में होनेवाले बड़े-बड़े यज्ञों में आज भी हमारे गुरुजी के पुत्र 'आचार्य' पद को प्राप्त करते हैं। आज भी हमारे गुरुजी के पुत्रों के साथ यज्ञों में १००, ७५, ५१ संख्या तक ब्राह्मण जाते हैं। गुरुजी के दो सुपुत्र 'वेदाचार्य' परीक्षोत्तीर्ण कर काशी के सुप्रसिद्ध गोयनका संस्कृत कालेज तथा संन्यासी संस्कृत कालेज में वेदाध्यापक हैं और वे दोनों ही वेद-कर्मकाण्ड के अनेकानेक ग्रन्थों को लिखकर वेदकर्मकाण्डपथिकों का कल्याण कर रहे हैं। हर्ष का विषय है वड़े गुरुजी की चतुर्थ पीढ़ी में आज भी वेदाध्ययनपरम्परा चल रही है। आशा है, भविष्य में भी गुरुजी के परिवार में वेद के अध्ययनाध्यापन की परम्परा सर्वदा चलती रहेगी।

गुरुर्देवो महेश्वरः

(*धर्मोपदेशक श्रीयुत गङ्गाप्रकाशजी ब्रह्मचारी, वाराणसी*)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भारतभूषण महामना पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी महाराज की सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर मैं संवत् १९७८ में काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के धर्म-विज्ञान विभाग में प्रविष्ट हुआ और उस विभाग के अध्यक्ष भारतविख्यात वेदमूर्धन्य पण्डितप्रवर श्रीविद्याधरजी गौड अग्निहोत्री महोदय से साङ्गोपाङ्ग वेद और वेदार्थ का सविधि अध्ययन किया। साथ ही निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन किया। इस प्रकार संवत् १९८४ तक मेरा अध्ययन चलता रहा। मैं हिन्दू विश्वविद्यालय की परीक्षा नहीं देता था और न वहाँ की किसी प्रकार की 'छात्रवृत्ति' ही लेता था। इसलिए मेरे अध्ययन में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। श्रद्धेय गुरुजी की मुझपर विशेष कृपा रहा करती थी। वे प्रथम घण्टे में मुझे ही पढ़ाते थे। मैं प्रातः ६॥ बजे से ८ बजे तक श्रीगुरुजी के सान्निध्य में रहकर जो पाठ पढ़ता था, उसे तत्काल वहीं विचार लिया करता था। यह प्राचीन पद्धति है। इस पद्धति से विद्यार्थियों का ग्रन्थ विशेष पुष्ट होता है। किन्तु आज इस पद्धति का छात्रों में सर्वथा अभाव पाया जाता है, जिससे छात्रों में ग्रन्थाभ्यास की न्यूनता देखी जाती है।

मैं अपने पूज्यपाद गुरुदेव स्व० महामहोपाध्यायजी के सम्बन्ध में अधिक न लिखकर केवल इतना ही लिखना पर्याप्त समझता हूँ कि वे 'यथा नाम तथा गुणः' थे। उन्होंने अपने नाम के अनुरूप ही अद्भुत विद्या प्राप्त की थी। 'पूर्वजन्मार्जिता विद्या' के अनुसार उनकी विद्यासम्पत्ति पूर्वजन्मार्जित थी। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी विद्या-वैभव की प्रशंसा करते हुए सहर्ष कहा करते थे कि 'अब श्रीविद्याधरजी गौड जैसा विद्वान् होना दुर्लभ है।'

'अध्यापनं अध्ययनम्' के अनुसार मेरे गुरुदेव को अध्ययनाध्यापन का ही व्यसन था। रात्रिन्दिवा विद्यार्थियों को पढ़ाना और शास्त्रचर्चा करना यही उनका मुख्य कार्य था। आपसे अध्ययन कर वेद के अनेकानेक विद्वान् तैयार हुए हैं जो भारत के विभिन्न स्थानों में 'प्राध्यापक' पदपर प्रतिष्ठित होकर विद्या का प्रचार कर रहे हैं।

पूज्य गुरुदेव ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उद्धार किया है, जिनमें 'कात्यायन श्रौतसूत्र' की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध और मान्य मानी जाती है। कात्यायन श्रौतसूत्र की टीका जब विदेश के विभिन्न पुस्तकालयों में पहुँची, तो

वहाँ के गुणग्राही विद्वान् पुस्तकालयाध्यक्षों ने पूज्य गुरुजी के पास अनेक प्रशंसापत्र भेजे थे।

पूज्य श्रीगुरुजी की मेरे लिए सर्वदा यही आज्ञा रही कि—'तुम द्विजों को सदा-सर्वदा सर्वत्र 'वेदाध्ययन' और 'सन्ध्या' करने का उपदेश दिया करो।' श्रीगुरुजी की आज्ञानुसार मैंने जीवनपर्यन्त के लिये द्विज-बालकों को वेदाध्ययन और सन्ध्या करने का उपदेश देने का नियम कर लिया और एतदर्थ मैंने समूचे भारत का कई बार भ्रमण भी किया है। समस्त भारत के भ्रमण में मुझे संस्कृत के अनेक प्रख्यात विद्वानों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन विद्वानों से जब काशी के विद्वानों की चर्चा चलती थी तब वे मेरे गुरुजी की विद्वत्ता की बड़ी ही प्रशंसा करते थे। मैं अपने को महान् भाग्यशाली समझता हूँ कि मुझे पूज्य श्रीमालवीयजी महाराज की कृपा से वेद के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को 'गुरु' बनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः' के अनुसार मैं अपने श्रीगुरुदेव को साक्षात् 'देवता' समझता था। जो शिष्य अपने गुरु को देवता मानकर उनसे विद्याध्ययन करते हैं, उनकी ही विद्या सफल होती है। अतः मैं संस्कृत विद्या के अध्ययन करनेवाले गुरुभक्त विद्यार्थियों से निवेदन करूँगा कि वे भी अपने-अपने गुरु को साक्षात् 'देवता' मानकर विद्याध्ययन करें, जिससे उनकी विद्या सफल और चमत्कारपूर्ण हो। गुरुभक्तों को श्वेताश्वतरोपनिषद् के निम्न-लिखित वाक्य को सदा स्मरण रखना चाहिए—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

श्रद्धाञ्जलि

(पं० श्रीधर्मवीरजी वशिष्ठ, एम्० ए०, सदस्य-विधान परिषद, पंजाब)

मुझे यह जानकर अत्यन्त खुशी हुई कि स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड का जीवन-चरित पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में सन् १९३३ से १९३५ तक दो वर्ष मुझे भी उनसे वेद की धर्मशिक्षा पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

आदरणीय पण्डितजी जि० रोहतक (पंजाब) में पैदा हुए थे, इस बात का गौरव सारा पंजाब कर सकता है।

पण्डितजी अपने शुभ्र गुणों के कारण बहुत ही प्रतिष्ठित और यशस्वी थे। मैं अत्यन्त श्रद्धा के साथ अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

वैदिक वाङ्मयके उज्ज्वल रत्न

(राजवैद्य पं० श्रीरामशङ्करजी भट्ट, आयुर्वेदाचार्य, सुड़िया, काशी)

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि श्रद्धेय गुरुवर स्व० महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज की पुण्य स्मृति में एक विशाल 'स्मारकग्रन्थ' प्रकाशित होने जा रहा है।

पूज्य महामहोपाध्यायजी वैदिक वाङ्मय के उज्ज्वल रत्न थे। उनकी प्रशंसा बड़े-बड़े विद्वान् किया करते थे। जिस समय पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज काशीस्थ 'रणवीर संस्कृत पाठशाला' में वेदाध्यापक थे, उस समय मैंने भी उनसे कुछ काल तक वेदाध्ययन करने का गौरव प्राप्त किया है। अतः मैं पूज्य चरणों में सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

वेद-विद्याके प्रवर्त्तक

(पं० श्रीकमलनाथजी शुक्ल, वेदाचार्य, सोहनाग जि० देवरिया)

प्रातःस्मरणीय श्री १०८ गुरूजी (म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजो अग्निहोत्री) महाराज की विद्वत्ता के सम्बन्ध में मेरे जैसा व्यक्ति क्या लिख सकता है ? पूज्य श्रीगुरूजी की विद्वत्ता सर्वविश्रुत थी। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी प्रशंसा किया करते थे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण, महामहोपाध्याय पं० श्रीबालकृष्णजी मिश्र और वैयाकरणशिरोमणि पण्डितप्रकाण्ड पं० श्रीचन्द्रधरजी प्रभृति विद्वान् पूज्य श्रीगुरूजी के विषय में मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहा करते थे—

"पं श्रीविद्याधरजी गौड जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभावाला वेदज्ञ विद्वान् भारत में दूसरा नहीं है। किसी भी प्रश्न का तत्काल संप्रमाण उत्तर देना यह उन्हीं का कार्य है। उत्तर देते समय प्रतीत होता था, जैसे उन्होंने पहले से ही विवेचना कर रक्खी हो।"

यह तो निःसन्देह स्पष्ट ही था कि एकमात्र श्रीगुरूजी ही वेद के ऐसे विद्वान थे, जिनके शिष्यों को दूसरे विद्वानों के पास जाकर अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं होती थी। श्रीगुरूजी महापण्डित और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे। वे सभी विषयों पर समान अधिकार रखते थे।

पूज्य श्रीगुरुजी जैसे प्रकाण्ड विद्वान् थे वैसे ही उदार भी थे। विद्वानों में जब चन्दा माँगने की आवश्यकता होती थी, तो यह निश्चय होता था कि ऐसे विद्वान् के पास चला जाय, जहाँ से विमुख न होना पड़े। सब की दृष्टि में श्री गुरुजी ही ऐसे व्यक्ति थे, जिनके यहाँ से किसी को विमुख नहीं होना पड़ता था। विद्वानों में श्रीगुरुजी के यहाँ से ही चन्दा का श्रीगणेश होता था।

आज समस्त भारत में वेदाचार्य-परम्परा का जो विकास देखा जा रहा है, उसका समस्त श्रेय वेद-विद्याप्रवर्त्तक श्रीगुरुजी को ही है। अतः पूज्यपाद श्रीगुरुजी के पवित्र चरणों में सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

वेद-विद्याके युगपुरुष विद्वान्‌की पवित्र स्मृति

(पं० श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी त्रिपाठी, वेदाध्यापक—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)

अष्टादश पुराणकर्ता भगवान् वेदव्यासजी ने धर्मप्राण भारतवर्ष की स्थिति को देखकर बड़े दुःख के साथ अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर तत्कालीन विचारशील विवेचकों के समक्ष धर्म के सम्बन्ध में चिन्ता प्रकट करते हुए कहा था—

"ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥"

व्यासजी के कथन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप धर्म का अस्तित्व समाप्त-सा हो गया। अनन्तर उस धर्म के मूलभूत वेद (वेदोऽखिलो धर्ममूलम्) के विरोध में भगवान् बुद्ध की आवाज बुलन्द हुई। वे वेदों के पीछे हाथ धोकर पड़ गये। भगवान् बुद्ध के वेद-विरोधी आन्दोलन की अग्नि की चिनगारी दिन दूनी, रात चौगुनी होकर देशव्यापी हो गई, जिससे वैदिकपरम्परा, वेदपाठ, अग्निहोत्र और यज्ञ-यागादि सब का लोप-सा हो गया। वेदों के रसातल जाने जैसी स्थिति हो गई। भगवान् के निःश्वासभूत वेदों की अवहेलना देख कर एक दिन काशीराज की कन्या अत्यन्त चिन्ता और दुःखभरे ऊँचे स्वर में बोल उठी—

"किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति।"

शोकातुरा राजकन्या के दुःखमय वचन संयोगवश श्रीकुमारिल भट्ट के कर्णकुहरों में प्रवेश कर गये और तत्काल ही उन्होंने राजकन्या को आश्वासन देते हुए कहा—

'मा विभेहि वरारोहे भट्टाचार्योऽस्ति भूतले।'

कुमारिल भट्ट का यह आश्वासन कार्यरूप में परिणत हुआ। वे वेदप्रचार के क्षेत्र में संल्लग्न हो गये। पश्चात् भगवान् शङ्कराचार्य का आविर्भाव हुआ। उन्होंने वैदिकमार्ग की पुनः पर्णरूप से प्रतिष्ठा कर दी, जिससे भारत ने पुनः कह किया—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

वहुत समय तक सर्वत्र वैदिक-मार्ग की स्थापना हो गई। सभी लोग वेद के प्रेमी और अनुयायी बन गये। सर्वत्र वेद का प्रचार हो गया। सब लोग वेद को अपना परम धर्म मानने लगे, किन्तु जब विदेशी सत्ता का साम्राज्य स्थापित हुआ, तो फिर भारतवर्ष दीन-हीन हो गया। विधर्मियों के द्वारा ऐसा प्रयत्न होने लगा कि जिससे देश में पुनः अधर्म की स्थापना हो जाय और वेदों का अध्ययनाध्यापन समाप्त हो जाय। विदेशियों का प्रयत्न सफल हुआ, धर्मप्राण भारतवर्ष घोर अन्धकार में पड़ गया। परिणामस्वरूप उत्तर भारत में वेदविद्या का सूर्यास्त हो गया। ब्राह्मणों में, विशेषतः पञ्चगौड़ों में समस्त यज्ञविद्या श्रौतस्मार्त—कर्मकाण्ड गुरुपरम्परानुसार उच्चारणानुचारण अभ्यासपूर्वक वेदों का घनान्तकण्ठस्थीकरण एवं वैदिकग्रन्थस्थलविशेष की अर्थगुत्थियों को सुलझाने की दिशा में मार्गप्रदर्शक उच्च वेदविद्याविभव-सम्पन्न योग्य गुरु का सर्वथा अभाव हो गया था, सकल वैदिक कर्मकाण्ड लुप्तप्राय हो चला था, इनके उद्धार का मार्ग सूझ नहीं रहा था, प्रवल अन्धकार छाया हुआ था, सहसा काशी नगरी में महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रभुदत्तजी गौड अग्निहोत्री के रूप में एक दिव्य प्रकाश की झलक दीख पड़ी, कुछ ढाढ़स बँधा, समाज को बल मिला, एक परम्परा की नोव पड़ी और कुछ दिनों के बाद वह प्रकाश पुञ्जीभूत होकर श्रद्धेय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड के रूप में प्रकट हुआ, जिसने उत्तर भारत के समस्त ब्राह्मणों का मुख समुज्ज्वलित कर दिया। कुछ वर्षों के ही भीतर संस्कृत पण्डितमण्डल के सम्पूर्ण भारत का कोना-कोना इस प्रकाश की ओर उन्मुख हो गया, लाभ उठाने लगा, अनेक सुयोग्य वैदिक तैयार होने लगे।

श्रीविद्याधरजी गौड नाम से प्रख्यात यह पुञ्जीभूत प्रकाश वैदिक भारत का देदीप्यमान सूर्य था और वह अथाह वेदविद्यारूप क्षीरसागर चन्द्र था, जिसे महामना मालवीयजी महाराज के काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हमने विराजमान देखा और सन्तोष का अनुभव किया।

महामना मालवीयजी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की शोभा बढ़ाने के लिए उन्हें अपने यहाँ धर्मविज्ञान विभाग के 'अध्यक्ष' पद पर बैठाकर वेदों के प्रति अपनी आदर भावना प्रकट की और भारत सरकार ने उपाधि प्रदान के अपने

कार्यक्रम को पवित्र और सर्वथा उचित प्रमाणित करने के लोभ से उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि दी। सारे भारत के कोने-कोने में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वैदिकसम्राट् महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजो गौड की विशिष्ट कीर्ति व्याप्त हो गई थी। वे साक्षात् वेदमूर्ति थे। उन्हें सस्वर वेदमन्त्र कितने कण्ठस्थ थे, इसका थाह कोई न पा सका। उन्हें वेद की आठों विकृतियाँ सस्वर कण्ठस्थ थीं। दक्षिण देश के उच्चतम वैदिकों ने वेद के कण्ठस्थीकरण में लोकोत्तर शक्ति का उनमें दर्शन किया था।

वेदार्थ में एक-एक वैदिक शब्दों के विभिन्न अर्थों की विलक्षण कल्पना, भाष्यकारों और शास्त्रकारों की पद्धति के अनुगमन के साथ नवीनार्थ कल्पना, अन्य वैदिक अर्थग्रन्थस्थलों की गुत्थियों का विभेदन, मीमांसा-ग्रन्थों के सरल सुबोध अध्यापन, धर्मशास्त्रों की उलझी हुई जटिल से जटिल व्यवस्था पर सरलता के साथ कण्ठस्थ सप्रमाण व्यवस्थाप्रदान आदि को देखकर संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वानों ने अपने मुक्तकण्ठ से उन्हें वेदों का 'अवतार' कहा। अनुकरणीय सदाचरणचर्या, सुदृढ़ धार्मिकता, श्लाध्य ऋजुता, उत्कृष्ट विद्या, सुलभ निर्भीकता, महनीय उदारता, कमनीय सहृदयता, सकल विद्वद्वृन्दवन्दित उनके परिपूर्ण विद्यावैभव आदि का पुण्य-स्मरण कर आज भी समस्त पण्डितमण्डल, वैदिक जगत्, धार्मिक सद्गृहस्थवृन्द अपने में गौरव का अनुभव करता है ।

आप साङ्गोपाङ्ग वेदविद्या के युगपुरुष विद्वान् और वैदिक-साहित्य के अवतार थे। यह कहना उचित होगा कि सनातन कर्मकाण्ड में समस्त भारत के लिये आप उतने ही प्रतिष्ठित और आदरणीय थे जितना कि हिन्दुओं के लिये वेद। जहाँ तक ज्ञात है, इस शताब्दी में वेद का ऐसा धुरन्धर विद्वान् दूसरा कोई नहीं हुआ था। समस्त वैदिक वाङ्मय के पुनरुज्जीवन का पूर्ण श्रेय आपको ही प्राप्त है। भारतीय पण्डितवर्ग में आज भी आपका नाम आदर से स्मरण किया जाता है। विरोधी भी आपके पाण्डित्य का लोहा मानते हैं। आपके स्वर्गमन से काशी की शोभा में ही विशेष कमी नहीं हुई, किन्तु वैदिक-साहित्य के उद्धार का मुख्य आधार ही समाप्त हो गया।

वैदिक विद्वानों की भी उनके प्रति समय-समय पर प्रकट की गई श्रद्धाओं एवं आस्थाओं के वर्णन की चर्चा से लेख विस्तृत होगा। मुझे ज्यों का त्यों स्मरण है श्रद्धेय महामहोपाध्यायजी (श्रीविद्याधरजी) के कैलाशवासी होने पर "वैदिक मण्डल, काशी" (जिसके वे संस्थापकों में से थे) की ओर से शोक-सभा का आयोजन काशीस्थ 'मारवाड़ी संस्कृत कालेज' में किया गया, जिसके सभापति म० म० पं० चिन्नस्वामीजी शास्त्री थे। उन्होंने महामहोपाध्यायजी को अपने समय का सर्वश्रेष्ठ वैदिक विद्वान् अनेक उदाहरणों से सिद्ध किया था।

एक बार काशीस्थ नीची ब्रह्मपुरी में 'वैदिक मण्डल' की बैठक हुई। मैं 'वैदिक मण्डल' का उस समय मन्त्री था। प्राचीन वेदज्ञों की चर्चा चल रही थी।

मैंने प्रसङ्गवश अपने पूज्य गुरूजी पं०भगवत्प्रसादजी मिश्र (प्रोफेसर, गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस) से निवेदन किया कि पूज्यचरण श्रीभैयाजी (पं० श्रीविद्याधरजी महाराज) की वेदविद्या की क्षमता पर आप कुछ प्रकाश डालिये। उन्होंने कुछ कहना प्रारम्भ किया कि उनकी आँखे भर गईं, गला रुँध गया, कुछ देर के बाद वे बोलने की स्थिति में हुए तो कहा–'पूज्य श्रीभैयाजी (गुरूजी) की लोकोत्तर विद्या थी, उनकी अलौकिक प्रतिभा का वर्णन मेरी वाणी की सामर्थ्य के बाहर है। इधर सैकड़ों वर्षों में ऐसा सुसज्जित साङ्गोपाङ्ग वेद का सुप्रतिष्ठित विद्वान् नहीं हुआ है। साङ्गोपाङ्ग वेद-वेदार्थ में और श्रौतविद्या में उनकी अव्याहत गति थी। उनके सम्बन्ध में यही कहना उचित होगा कि इस शताब्दी में ऐसा विलक्षण वैदिक विद्वान् न भूतो न भविष्यति।'

इसी प्रकार उनकी विद्वत्ता, उदारता, धर्मदृढता, दयालुता और सहृदयता आदि की बहुत-सी बातें बहुत बार मैंने अपने प्रथम वेदविद्यागुरु पं० श्रीकमलनाथजी शुक्ल वेदाचार्य (वेदप्रधानाध्यापक – श्री परशुराम चण्डिका वेद विद्यालय, सोहनाग, जि० देवरिया) से भी सुनी थीं।

देश के सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता गोरखपुर के गान्धी परमहंस बाबा श्रीराघवदासजी के तत्त्वावधान में और उनके उत्तराधिकारी परमहंस अखिल भारतीय नेता बाबा श्रीसत्यव्रतजी महाराज के यजमानत्व में मारवाड़ी देशवाली व्यापारी धनीमानी, गृहस्थ रईस साधु–सन्त-विरक्तप्रभृति समस्त जनता की धन-सम्पत्ति, उत्साह, लगन, सहयोग से सुप्रसिद्ध बरहज बाजार (जि० देवरिया) के श्री सरयूतट पर विशाल श्री महाविष्णु यज्ञ के समारोह का आयोजन हो चुका था। जनता एवं जिले के समस्त विद्वानों ने एक स्वर से उस महान् यज्ञ के आचार्य पद पर भारतप्रसिद्ध याज्ञिकचक्रवर्ती म० म० पं० श्री विद्याधरजी महाराज को रखने का निर्णय किया। स्वीकृति प्राप्त कर ली गई। उनका आना निश्चित हो गया। यज्ञारम्भ का दिन आसन्न था। जनता अपने पूज्य आचार्य की काशी से बरहज आने के दिन की प्रतीक्षा बड़ी ही श्रद्धा के साथ कर रही थी। महायज्ञ, वेद के महान् विद्वान्, पवित्र सरयू तट, देश के महान् नेता बाबा राघवदास की जगाई गई जनता, सब का सहयोग सम्मेलन, अपूर्व पुण्यमय अवसर, बड़ी चहल-पहल, उत्कृष्ट आकर्षण और चौथे दिन से यज्ञारम्भ, यह सब लोग सोच-विचार ही रहे थे कि अकस्मात् सुनाई पड़ा—'यज्ञ के मनोनीत आचार्य श्रीविद्याधरजी महाराज ने यहाँ के यज्ञ का आचार्य होकर आना अस्वीकृत कर दिया। वे नहीं आएँगे, क्योंकि उन्हें यह बताया गया है जि यहाँ होनेवाले यज्ञ के अवसर पर सनातनधर्म के विपरीत कुछ कार्यों के भी करने का आयोजन है।' बड़ी निराशा हुई। कुछ लोग उनके पास काशी पहुँचे और उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराया गया कि दोनों बाबा लोग परम आस्तिक वैष्णव हैं और देशकल्याण एवं देवाराधन की दृष्टि से यज्ञ हो रहा है। सनातनधर्म के विपरीत

कोई भी कार्य वहाँ नहीं होगा। जब उन्हें अपने विश्वस्त सूत्रों से ठीक ठीक यह बात प्रमाणित हुई, तो वे यज्ञार्थ गए। स्व० म० म० जी इस ढँगके कट्टर सनातनधर्मी आस्तिक वैदिक विद्वान् थे। वे जरा-जरा सी आशंका उपस्थित होने पर हजारों की निश्चित आमदनी, महती प्रतिष्ठा और उच्च सम्बन्ध का त्याग धर्म के निमित्त कर देते थे।

काशी आने के बाद स्वयं मैंने भी अनुभव किया था। "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" यह वेदवाक्य उनमें मूर्तरूप से चरितार्थ था।

श्रद्धेय स्व० महामहोपाध्यायजी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये आवश्यक है कि काशी में वेद-वेदार्थ वैदिकग्रन्थसहित समस्त श्रौत-स्मार्त्त कर्मकाण्ड की सुदृढ़ रक्षा के लिए "महामहोपाध्याय श्रीविद्याधर वेद-विद्यापीठ" की स्थापना हो। इसके लिए विपुल द्रव्य संग्रह किया जाय, जिससे चारों वेदों का स्वाध्याय, चारों वेदों की और कर्मकाण्ड की क्रियात्मक परीक्षाएँ, परीक्षोत्तीर्णों को प्रमाणपत्र और वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन आदि ठोस कार्य हों। इस प्रकार की योजना से संस्थापित वेद-विद्यापीठ और वैदिक-संस्कृति की अभिवृद्धि होगी। अतः मेरी देश के विभिन्न भाग में रहनेवाले स्व० महामहोपाध्यायजी के श्रद्धालु शिष्यों, भक्तों, प्रेमियों और वेदविद्या की अभ्युन्नति के इच्छुकों से निवेदन है कि उन्हें इस महनीय कार्य की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। इस दिशा में स्व० महामहोपाध्यायजी के उत्तराधिकारी विद्वान्, यशस्वी एवं कर्मठ पुत्र श्रीवेणीरामजी गौड वेदाचार्य को सहयोग प्रदान करना चाहिये। पं० श्रीवेणीरामजी गौड वेदाचार्य उन्हीं महापुरुष के अंश हैं, जिनमें मैं उन स्वर्गीय महापुरुष का दर्शन करता हूं—'स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्त्तते।'

स्वर्गीय स्मृति

(पं० श्रीमङ्गलदत्तजी त्रिपाठी, वेद-व्याकरणाचार्य, वाराणसी)

भगवान् आशुतोष श्रीविश्वनाथजी के वरद पुत्र महामहोपाध्याय वैदिक-मूर्धन्य श्री ६ पं० प्रभुदत्तजी शास्त्री अग्निहोत्री को पण्डित-समाज में कौन नहीं जानता ? वह पवित्रतमा स्वनामधन्या काशीपुरी में पञ्चगौड़ों में वेद—कर्मकाण्डावतार होकर सर्वप्रथम स्थान को प्राप्त हुए थे। उन्होंने अपने विशुद्ध आचार-विचार, सद्व्यवहार तथा शास्त्रीय पाण्डित्य के द्वारा लोकसम्मान के साथ साथ राजसम्मान को भी प्राप्त किया था।

प्रातःस्मरणीय पूज्यचरण अग्निहोत्रीजी की निरन्तर अग्निसेवा से प्रसन्न होकर अग्निनारायण ने उन्हें स्वनामधन्य महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड जैसा सुपुत्र प्रदान किया। इन मनुष्य रत्न को घरवाले सभी "भैयाजी" कह कर सम्बोधित करते थे।

सन् १६१५ ई० में मुझे मेरे पूज्य पिताजी ने उपनयनानन्तर ब्रह्मचर्यावस्था में पूज्य गुरुचरण म० म० पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री के चरणों में अध्ययनार्थ समर्पण कर दिया। तब से मैं श्रीगुरुचरणों की सेवामें रह कर गुरुजी के घर पर ही भोजन और वेदाध्ययन करता था। जिस समय मैं वेदाध्ययन करता था उस समय बड़े गुरुजी नये सत्यनारायण के मन्दिर (बाँस फाटक) में मध्याह्नोत्तर विद्या-प्रदान करते थे और भैयाजी प्रातःकाल पुराने सत्यनारायण के मन्दिर (सरस्वती फाटक) में अध्यापन कार्य करते थे। सौभाग्यवश मुझे पूज्य बड़े गुरुजी तथा पूज्य छोटे गुरुजी दोनों महानुभावों से वेदाध्ययन करनेका महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पूज्य श्रीभैयाजी महाराज शुक्ल यजुर्वेद के समस्त विकृतियों के तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अभ्यासी होते हुए पूर्ण अर्थज्ञ थे।

पूज्य श्रीभैयाजी ने कात्यायन श्रौतसूत्र की 'सरला' विवृति टीका जो लिखी है, उसको देखकर आपका पाण्डित्य और मर्मज्ञता पूर्ण-रूप से प्रकट होती है। इस ग्रन्थ की जो भूमिका लिखी गई है, उसने तो मणिकाञ्चन का संयोग कर दिया है। उसमें समस्त वैदिक प्रकृति-विकृति के रहस्यों को उद्घाटन किया गया है, जिसकी प्रशंसा एतद्देशवासी विद्वान् ही नहीं, किन्तु विदेशों के विद्वान् भी करते हैं और वे समय-समय पर प्रचुर संख्या में प्रशंसापत्र भी प्रेषित करते रहे हैं। और भी बहुत से ग्रन्थ 'स्मार्त प्रभु' आदि आपने लिखे हैं, जिनके द्वारा वैदिक-जगत् का विशेष लाभ हो रहा है।

पूज्य श्रीभैयाजी के पाण्डित्य और शास्त्रमर्मज्ञता के कारण महामना पं० मदन मोहन मालवीयजी ने उन्हें अपने विश्व विद्यालय में वेद का 'अध्यक्ष' पद

दे दिया था। गवर्नमेन्ट ने भी आपका 'महामहोपाध्याय' की पदवी-द्वारा सम्मान किया था। इस जगत् में ऐसा अन्यत्र नहीं देखने में आया था कि पिता और पुत्र दोनों गवर्नमेन्ट से 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्राप्त किये हों। यह स्वर्ण अवसर आपके ही वंश को प्राप्त हुआ था।

श्रीभैयाजी के पुत्रगण भी प्रायः सभी विद्वान्, कर्मठ, सच्चरित्र और सुशील हैं, जिनमें वैदिक-साहित्य में पं० दौलतरामजी गौड वेदाचार्य और पं० वेणीरामजी गौड वेदाचार्य हैं, जो कि तत्तद् विद्यालयों में अध्यापक पद पर नियुक्त हैं।

पूज्य भैयाजी बड़े ही यशस्वी विद्वान् थे। वे ऐहिक समस्त प्रकार के सुख, धन, जन, पुत्रादि से युक्त होकर पारलौकिक भगवान् विश्वनाथजी का चिन्तन करते हुए पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर जीवन्मुक्त हो गये। ऐसा सौभाग्य बड़े ही पुण्य से प्राप्त होता है। पूज्यपाद बड़े गुरुजी तथा पज्य छोटे गुरुजी दोनों महानुभावों की शिष्यवात्सल्यता, दयालुता, प्रसन्नता, शास्त्रपाठनशीलता, विषयनिरूपणता, संशयनिराकरणता आदि विशेषताओं को ध्यान में रखकर यह कहना पड़ता है कि इस प्रकार का सर्वसामञ्जस्य अन्यत्र देखने में नहीं मिलता।

मेरे गुरुदेव : एक मधुर संस्मरण

(पं० श्रीविश्वनाथजी मिश्र वेदाचार्य, प्रो० गवर्नमेन्ट हाईस्कूल, आरा)

मुख पर साधना की घनी रेखा और उज्ज्वल आँखों में सब कुछ भूलकर वेद भगवान् की सेवा करने की निरभिमान साध, रहन-सहन में सादगी, मस्तिष्क में ज्ञानज्योति का प्रावल्य, हृदय में स्नेह, ममता तथा प्रतिभा छलकती-सी और भारत में अपने विषय का अकेला विद्वान्!! जिनका मधुर स्मरण जब आता है तब आँसुओं के तार बँध जाते हैं। हृदय के नीरव एकान्त में उनकी अमृतमयी वेदवाणी गूँज उठती है और तब स्मृति-पटपर एक स्वस्थ प्रतिमा निखर उठती है। वह प्रतिमा दुग्ध की तरह शुभ्र, बालक की मुसकान-सी सरल, हिमालय-सी प्रांशु और हिन्द–महासागर–सी विस्तीर्ण प्रतीत होती है। मैं लपक कर अपने बौने हाथों से गुरुदेव के व्यक्तित्व की इस महान् उँचाई को छूना चाहता हूँ, पर मेरे संकुचित ज्ञान की सम्पुटित और धूमिल किरणें क्या उन्हें छू पाती हैं? अधिक क्या, मैं अपना सिर धुनता हूँ आज वह विश्व की अलौकिक किरण कहाँ है, वह विलक्षण प्रतिमा कहाँ है, जिसने अपने अप्रतिम आलोक से भारतीय ज्ञानाकाश को उद्भासित कर, पुनः एक बार भारत की इस पवित्र धरती में वेदज्ञान और वेदप्रकाश

का माङ्गलिक उद्घोष किया था ? जिनकी वाणी में प्राचीन भारतीय ज्ञान और तपश्चर्या मूर्त होकर श्रवण-पुटों में अमृत का सिञ्चन करती थीं, जिन्होंने यज्ञकी पुरातन महिमा को पुनरुज्जीवित कर पुनः एकबार अध्यात्म और पुण्य के संस्कारकी स्थापना की थी।

भगवान् विश्वनाथ की पुरी काशी आज भी गुरुदेव के वेदगान से निनादित हो रही है, भगवती भागीरथी की उद्वेलित लहरें आज भी उनके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड को प्रतिध्वनित कर रही हैं। इतना ही नहीं, भारत के अणु-परमाणु भी उनके वेदज्ञान की गौरव-गाथा अपनी मूक वाणी में पवन के थपेड़ों द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। ऐसे विश्वविख्यात 'महामहोपाध्याय' पदवी से विभूषित, अद्वितीय विद्वान् मेरे पूज्य गुरुदेव श्रीविद्याधरजी गौड थे।

विद्या के प्रति गहरा अनुराग, शैशव में ही वेद-वेदाङ्गों पर पूर्ण अधिकार एवं शास्त्र-विवेचन की अतुलनीय प्रतिभा जिनमें विद्यमान थी, जिनके पितृदेव वेद के पारङ्गत हों, वे भला क्यों न अपनी वंशगत मान-मर्यादा का संवहन करें ? संस्कृत-साहित्य की अजस्र धारा में अवगाहन करनेवाले बहुत से विद्वान् हुए हैं और हैं भी, परन्तु वेद-कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र का पारङ्गत विद्वान् मेरे गुरुदेव जैसा इस धरती पर कई शताब्दी से कोई नहीं हुआ। यदि मैं उनकी उपमा सायण, कर्क अथवा महीधर से करूँ, तो अत्युक्ति नहीं होगी। मुझे तो ऐसा लगता है कि सायणाचार्य की आत्मा ही उनमें अवतरित हुई थी। इसी कारण मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक का वास्तविक तथ्य और रहस्य उन्हें ज्ञात था। उनमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—इन तीनों का समन्वित संगठन हुआ था और वे श्रौत-स्मार्त यज्ञों के सुसम्पन्न करने में पूर्ण निष्णात थे। इनके विधि-विधान शास्त्रीय होते थे।

शिष्यों के लिये कल्पतरु थे। उनका मधुर भाषण शिष्यों की ज्ञानधारा को विकसित और गतिशील बनाने वाला था। उनकी अद्भुत शास्त्रीय प्रतिपादन-शक्ति को श्रवण कर शिष्य-मण्डली मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। गहन से गहन और दुरूह से दुरूह शङ्काओं का समाधान मन्द मुसकान के साथ तत्काल कर देते थे। सुननेवाला श्रोता विस्मय-विमुग्ध हो मन-ही मन मूक श्रद्धा उनके चरणों पर अर्पित कर देता था। ये सारी की सारी बातें मेरे मन-मन्दिर में झाँक जाती हैं और शनैः शनैः मेरी अमित श्रद्धा के भीतर से एक पतली और मधुर आवाज निकल कर उनके पावन नाम का मधुर स्मरण कर लेती है।

सन् १६३२ की वह अपराह्न वेला थी, जिसमें मैंने अपने पूज्य गुरुदेव का साक्षात्कार किया था। उसका अमिट छाप मेरे हृदय पर आज भी अङ्कित है। जब मैं पहले पहल अपने पिताजी के साथ गुरुदेव के गृहद्वार पर पहुँचा, तो सकुचाते हुए, भय खाते हुए मैंने उनका चरणस्पर्श किया। उन्होंने अपना वरद हस्त उठा मुझे आशीर्वाद दिया। मेरे पूज्य पितामह पं० श्रीरामगोविन्दजी

शास्त्री का परिचय प्राप्त कर वे हर्ष-विभोर हो उठे और बोले—'तुम बहुत ही प्रतिष्ठित विद्वान् के वंशज हो, निश्चय ही तुम्हें वेद में प्रवीणता प्राप्त होगी।' इतना ही नहीं, उन्होंने मेरे रहन-सहन की व्यवस्था भी कर दी। मैंने अपने गुरुदेव में एक अद्भुत तपस्या का तेज पाया। उनका अपूर्व स्नेह और ममत्व पितृतुल्य था। उनकी वाणी में मधु और नवनीत दोनों का अद्भुत सम्मिश्रण था। उनका स्पर्श पाते ही मेरी प्रतिभा निखरने लगी। मैं आस्थापूर्वक एक ही वाक्य में कह सकता हूँ कि उनका भव्य शरीर देवताओं का, मस्तिष्क ऋषियों का, चिन्तनशक्ति दार्शनिकों की एवं विधि-विधान सुसम्पन्न करने की प्रक्रिया गौतम और भरद्वाज जैसी थी। कहाँतक कहूँ, पूज्य गुरुदेव की स्मृति से मुझे आभास होता है कि वे मेरे जीवन के सच्चे शोधक थे। उनके अध्यापन-सम्बन्धी स्मृतियों के अनेक खण्डचित्र मेरे मानस में कुहराम मचा देते हैं। बीते हुए युग के वे दिन, जिनमें पूज्य गुरुदेव का सहवास किया था, आँखों में नाचने लगते हैं।

पूज्य गुरुदेव के वे वरद हस्त याद आते हैं, जो पहले पहल मेरे ऊपर सन् १९३२ में आशीर्वाद के लिए उठे थे। सचमुच मेरे गुरुदेव मानव-काया में ज्ञान और तपश्चर्या की मूर्ति थे। उनमें वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन की शैली देवताओं के गुरु बृहस्पति के सदृश थी। वे आराध्य और वरेण्य थे, यह कहते-कहते आँखों में बरसात छा जाती है और सद्भावनाओं की पवित्र धारा शतशः असंख्य परिधियों को तोड़कर (पारकर) पूज्य गुरुदेव की प्रबुद्ध प्रेम-भावना से टकरा जाती है, जो लोकोत्तर, दुष्प्राप, अगाध और शब्दातीत है।

पूज्य गुरुदेव सबके कल्याणार्थ अमूल्य उपदेश दिया करते थे, जिनके पालन करने से निश्चिव ही सुख-शान्ति का अनुभव होता है। सार-रूप में यहाँ गुरुदेवके कुछ उपदेश प्रस्तुत कर रहा हूँ—

१—मन और वाणी पर सदा कन्ट्रोल करो। २—सत्य का सर्वदा पालन करो। ३—किसी की बुराई न चाहो। ४—सबका हित करो। ५—सबको अपने से श्रेष्ठ समझो। ६—परोपकारमय जीवन बना लो। ७—समय को नष्ट न होने दो। ८—दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझो। ९—व्यसनों से सर्वदा दूर रहो। १०—स्वधर्म का सर्वथा पालन करो। ११—आत्म-प्रशंसा से डरो और दूसरों की प्रशंसा से प्रसन्न रहो।

———

पूज्य गुरुजी भगवान् वेदव्यासके अवतार थे

(पं० श्रीगिरिजाप्रसादजी पाण्डेय, वेद-व्याकरणाचार्य, भिनगा, जि० बहराइच)

सन् १६३० ई० में काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज से 'व्याकरणाचार्य' परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मेरा विचार वेदाध्ययन की ओर हुआ। मैं अध्ययन की कामना से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वेद-कक्ष में पहुँचा, वहाँ पर साक्षात् बृहस्पति के तुल्य श्री १००८ गुरुजी (पूज्यपाद पं० श्रीविद्याधरजी गौड अग्निहोत्री) के दर्शन हुए, जो वेद के मन्त्रों की व्याख्या रघुवंश काव्य की तरह करके छात्रों को परितृप्त और हृदयङ्गम करा रहे थे। श्रीगुरुजी की वेदमन्त्रों की व्याख्या करने की विचित्र पद्धति थी। श्रीगुरुजी के द्वारा की गई वेदमन्त्र की व्याख्या प्राचीन महीधर, उव्वट आदि आचार्यों की भाष्यसम्मत व्याख्या होते हुए भी अपनी एक अलौकिक विशेषता रखती थी। श्रीगुरुजी वैदिक शब्दों को पाणिनीय के सूत्रों से सिद्ध करके बतलाते थे। इसी प्रकार जहाँ मीमांसाशास्त्र की आवश्यकता होती थी, वहाँ मीमांसा का उद्धरण कर देते थे। मैं गुरुजी की अद्भुत विद्वत्ता को देखकर अवाक् रह गया। मैंने 'वेदशास्त्री' में नाम लिखा लिया और श्रीगुरुजी के चरणों में आठ वर्ष तक रहकर सार्थ वेदाध्ययन करके 'वेदाचार्य' परीक्षा उत्तीर्ण की। श्रीगुरुजी से अध्ययन करते समय मुझे ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार श्रीगुरुजी वेदविद्यावारिधि हैं उसी प्रकार ये व्याकरण-मीमांसा-धर्मशास्त्रादि विषयों में भी पारङ्गत हैं। मैं श्रीगुरुजी से अध्ययन करते समय व्याकरण-विषय में भी सन्दिग्ध स्थलों में प्रश्न करता तो वे सिद्धान्तकौमुदी और महाभाष्य के उदाहरण देकर समाधान करते थे। श्रीगुरुजी की कृपा से मैंने 'वेदाचार्य' की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर 'स्वर्णपदक' प्राप्त किया, तो मेरे कुछ असहिष्णु सहपाठियों ने क्षोभ प्रकट किया। उस समय श्रीगुरुजी ने मेरी योग्यता को बतलाते हुए असहिष्णु छात्रों को जो उत्तर दिया था, वह उनकी महामहिमा का परिचायक था, जो कि मेरे लिए जीवनपर्यन्त अविस्मरणीय रहेगा।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में तो श्रीगुरुजी से केवल परीक्षार्थी ही अध्ययन करते थे, किन्तु उनके घर में परीक्षा के अतिरिक्त भी छात्र अध्ययन किया करते थे। श्रीगुरुजी का निवासस्थान एक महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र 'महाविश्वविद्यालय' था, जिस महाविश्वविद्यालय में अनेक विषय के विद्वज्जन आकर अनेक विषयों में शास्त्र की जिज्ञासा करते थे और श्रीगुरुजी से उचित समाधान और विशेष ज्ञान प्राप्त कर वे अपने घर लौटते थे। श्रीगुरुजी के अद्भुत वैदुष्य को देखकर बड़े-बड़े विद्वानों को ज्ञात नहीं होता था कि इनका प्रधान विषय कौन है और यह किस विषय के विद्वान् हैं? वस्तुतः श्रीगुरुजी भगवान् वेदव्यास के साक्षात् अवतार थे। उन्होंने वेदव्यास की तरह जीवनपर्यन्त अपने शिष्यों को विद्या का दान कर बहुत ही उपकार किया है। श्रीगुरुजी अपने पीछे बहुत बड़ी संख्या में

सुयोग्य शिष्य-परम्परा छोड़ गये हैं, जो कि भारत में नहीं, देश-विदेश में भी वेद का प्रसार-प्रचार कर श्रीगुरुजी की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं।

मुझे यह जानकर महान् हर्ष हुआ कि वेदव्यास के अवतार पूज्यपाद १००८ श्रीगुरुजी की स्मृति में एक विशाल 'स्मारक ग्रन्थ' प्रकाशित हो रहा है। मुझे विश्वास है कि यह स्मारकग्रन्थ विद्वानों के लिए एक अनुपम वस्तु होगा। अन्त में गुरु-महत्त्वसूचक एक श्लोक को उद्धृत कर अपने संक्षिप्त वक्तव्य को समाप्त करता हूँ—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

— —

श्रद्धेय गुरुजीकी पवित्र स्मृति

(पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी पाण्डेय, वेद-व्याकरणाचार्य, सासनी, जि० अलीगढ़)

प्रातःस्मरणीय गुरुवर पूज्य महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड आहिताग्नि के चरणकमलों की शिष्यरूप से उपासना करने का सौभाग्य जिन लोगों को प्राप्त हुआ है, उनमें से एक मैं भी हूँ। मैंने लगभग ६ वर्ष तक उन भव्य गरिमामयी देवमूर्ति के दर्शनों से केवल अपने नेत्रों को ही नहीं, किन्तु उनकी प्रखर पाण्डित्यपूर्ण वेदसुधामयी वाणी से अपने कर्णपुटों को भी पवित्र करके अज्ञानान्धकार को दूर किया है।

श्रीगुरुजी के सामने उपस्थित होकर उनके दर्शनमात्र से प्रत्येक व्यक्ति भावाभिभूत होकर यह अनुभव करता था कि 'मैं प्रत्यक्ष शरीरधारी वेद भगवान् के दर्शन कर रहा हूँ।'

गुरुजी की ख्याति युवावस्था में ही अपने पूज्य पिता प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री के जीवनकाल में अद्वितीय वेदज्ञ के रूप में हो चुकी थी, जिस कारण महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी ने उनको अपने हिन्दू विश्वविद्यालय में धर्मविज्ञान-विभाग का 'अध्यक्ष' पद दिया था।

मैं व्याकरण—साहित्य आदि विषयों की आचार्य-परीक्षा उत्तीर्ण कर तथा उक्त विषयों का उच्च ज्ञान प्राप्त कर वेदाध्ययनार्थ गुरुजी की सेवामें उपस्थित हुआ था। किन्तु गुरुजी के व्याकरण, साहित्य, मीमांसा एवं धर्मशास्त्रादिविषयक अगाध ज्ञान के सामने नतमस्तक होना पड़ता था। गुरुजी की अध्यापन-शैली अद्भुत और विद्वत्तापूर्ण थी। मैं कुछ उदाहरण उपस्थित करता हूँ।

(१) एक बार वेदभाष्य पढ़ते समय 'युवम्' पद आया, तो मैंने सूत्र की विस्मृति के कारण गुरुजी से प्रश्न किया—गुरुजी 'युवम्' कैसे ? गुरुजी ने उत्तर दिया—'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' वेदेतु 'युवम्'।

(२) मैंने एक बार गुरुजी से पूछा—कहीं 'मृन्मये' और कहीं 'मृण्मये' प्रयोग मिलता है, इनमें कौन शुद्ध है ? उत्तर मिला—'पदान्त में णत्व नहीं होता, नकार णत्व की दृष्टि में असिद्ध भी है।'

(३) एक बार मैंने गुरुजी से प्रश्न किया—'गुरुजी माध्यन्दिनी शाखा में हल् वर्ण 'म्' को 'मा' ऐसा दीर्घ की तरह उच्चारण क्यों किया जाता है ? गुरुजी ने उत्तर दिया—

"अनुस्वारे विवृत्यान्तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठौ तु विगृह्णीयात् यत्रोकारवकारयोः॥"

याज्ञवल्क्यशिक्षा के इस श्लोक के आधारपर ऐसा ही उच्चारण होता है।

गुरुजी धर्मशास्त्रसम्बन्धी व्यवस्थाओं के समुचित समाधान करने में सिद्धहस्त थे। धर्मशास्त्रसम्बन्धी जटिल समस्या उपस्थित होने पर जब अन्य लोग उचित निर्णय देने में असमर्थ हो जाते थे, तो गुरुजी उसका सन्तोषप्रद यथार्थ निर्णय देकर सबको चकित कर देते थे।

गुरुजी को एकमात्र विद्या का व्यसन था। वे अहोरात्र अध्यापन तथा ग्रन्थलेखन में निरत रहा करते थे। गुरुजी के दर्शनार्थ हमलोग जब उनके घर में जाते थे, तो वहाँ भी वे छात्रों को अध्यापन कराते हुए अथवा वेद-कर्मकाण्ड-विषयक कोई न कोई ग्रन्थ लिखते हुए ही मिलते थे। कर्मकाण्ड की पद्धति लिखते हुए वे वेदमन्त्रों के साथ-साथ श्लोकों को भी निर्माण कर लिखते थे। गणेशजी के सदृश न तो उनकी लेखनी कहीं रुकती थी और व्यासजी के सदृश न उनकी श्लोक-कल्पना का तारतम्य ही टूटता था। इस प्रकार गुरुजी को देखकर प्रतीत होता था कि इनके हाथ में गणेशजी तथा बुद्धि में भगवान वेदव्यासजी निवास कर रहे हैं।

पण्डित-समाज में आपका उतना ही गौरव माना जाता था, जितना कि संस्कृत-साहित्य में वेदों का गौरव माना जाता है।

जिस प्रकार आपका गम्भीर तथा प्रभावशाली पाण्डित्य था उसी प्रकार आप दया और क्षमा की मूर्ति थे। अभिमान तो लेशमात्र भी आपको स्पर्श न कर सका था। क्रोध पर आपने विजय कर लिया था। कभी भी मैंने उनको किसी के प्रति क्रुद्ध होते नहीं देखा। आपका जीवन ही परोपकारमय था। कोई भी आपकी शरण में किसी भी कार्य के लिए उपस्थित होता था, तो वह कभी विफल नहीं लौटता था।

एक बार मैं ग्रीष्मावकाश के बाद अपने घर से लौटा तो काशी में हमारे रहने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं मिला। मैंने गुरुजी से स्थान के लिए निवेदन किया। गुरुजी ने तत्काल पण्डित नाथूरामजी गौड (अध्यापक-हिन्दू-

विश्वविद्यालय, काशी) से कहकर मेरे लिए स्थान का प्रवन्ध करा दिया। पण्डित नाथूरामजी गौड ने अपने घर में ही मुझे एक स्वतन्त्र कोठरी दे दी, जिसमें मैंने बहुत वर्ष तक निवास किया और शनैः शनैः मैं गुरुवर पण्डित नाथूरामजी गौड का एक कुटुम्बी-सा बन गया। आज भी मेरा उनके परिवार से उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना कि पैतृक-परिवार से। यह समस्त श्रेय पूज्य महामहोपाध्याय श्री १००८ गुरुजी को ही है।

एक बार काशी में हिन्दू-मुस्लिम दंगे का भयानक रूप उपस्थित हो गया था, जिस कारण सारे शहर में १४४ धारा लागू थी। मार्ग में चलने-फिरने की सख्त मनाही थी। ऐसे भयङ्कर समय में संस्कृत के कई विद्यार्थी गुरुजी की शरण में पहुँचे और उनसे प्रार्थना किया 'संस्कृत के कई निरपराध छात्रों को भेलूपुर के थानेदार ने थाने में बन्द कर दिया है, उन्हें मुक्त करा दीजिए।' गुरुजी तत्क्षण छात्रों की रक्षार्थ भेलूपुर थाने में पहुँच गये और वहाँ के थानेदार से कह-सुनकर छात्रों को मुक्त करा दिया। छात्रों को मुक्त करने के बाद थानेदार ने गुरुजी से क्षमा-याचना करते हुए कहा—'आपको थाने में आना पड़ा, इसके लिए मैं क्षमा-याचना करता हूँ, किन्तु इस बात का मुझे महान् हर्ष है कि आज आपके श्रीचरण आने से यह स्थान पवित्र हो गया।' यह थी गुरुजी की परोपकार-भावना। वे सदा-सर्वदा सबके सुख-दुःख में हाथ बँटाते थे। सबका कार्य करने में उन्हें परम सुख और आनन्द मिलता था।

गुरुजी के जीवन का अन्तिम समय उपस्थित था। काशी के सुप्रसिद्ध दैनिक 'आज' अखबार में गुरुजी की बिमारी की सूचना कभी-कभी प्रकाशित होती रहती थी। बिमारी के समय गुरुजी ने सर्वसाधारण से मिलना-जुलना बहुत कम कर दिया था, किन्तु उस समय भी मैं गुरुजी के दर्शनार्थ उनके निवासस्थान पर पहुँचा। गुरुजी की शारीरिक स्थिति को देखकर मेरे नेत्रों में दुःख के आँसू आ गये। गुरुजी ने मेरी ओर देखकर हँसते हुए कहा—'दुःख क्यों करते हो? निरुक्त के 'शीर्यते इति शरीरम्' इस वाक्य को क्या भूल गये? शरीर का तो यही वास्तविक स्वरूप है, अतः इस नाशवान् शरीर के लिए चिन्ता और व्यामोह अनावश्यक है।' इस प्रकार पूज्य श्रीगुरुजी अनेक प्रकार से मुझे समझाने लगे और अन्त में गुरुजी ने हँसते हुए कहा—'अब तुम जाओ और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करो। वेद की उपासना सर्वदा करते रहना। वेद भगवान् की कृपा से सर्वदा सुखी रहोगे।' यही गुरुजी का मेरे लिये अन्तिम उपदेश और आशीर्वाद था। गुरुजी के जीवन के अध्ययन से मेरी यह धारणा है कि गुरुजी कुछ दिनों के लिए वेदप्रचारार्थ देवयोनि से ही मनुष्य योनि में आये थे और वे अपना कार्य कर पुनः उसी देवयोनि में चले गये। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति' के अनुसार वे आज भी हमारे लिए इस मृत्युलोक में अमर ही हैं।

———

मेरे गुरुदेव !

(पं० श्रीदुर्गादत्तजी त्रिपाठी, वेदाचार्य, बस्ती शहर)

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥"
"वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।"

—इत्यादि वचनों के अनुसार बाल्यावस्था से ही वेदाध्ययन की ओर मेरी विशेष प्रवृत्ति थी। मैं संवत् १९८५ में वेदाध्ययनार्थ काशी पहुँच गया और काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर वेद की परीक्षा देने लगा और संवत् १९९५ में मैंने 'वेदाचार्य' (धर्माचार्य) परीक्षा उत्तीर्ण की।

मुझे भारतप्रसिद्ध महापण्डित स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी शास्त्री गौड के चरणों में १० वर्ष तक रहकर उनसे वेदाध्ययन करने का महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे वेदविद्या-गुरु महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के धर्मविज्ञान-विभाग के अध्यक्ष थे। उनकी प्रतिष्ठा सर्वत्र समानरूप में व्याप्त थी। भारतवर्ष के बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों के द्वारा गुरुजी की प्रशंसा सुनने में आती थी। श्रद्धेय महामना पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी महाराज उनका बहुत आदर करते थे। वे उनको भारत का सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ मानते थे। पूज्य मालवीयजी महाराजको इस बात का बड़ा गर्व था उनके हिन्दू विश्वविद्यालय में श्रीविद्याधरजी गौड जैसे महाविद्वान् धर्मविज्ञान-विभाग के अध्यक्ष हैं।

पूज्य गुरुजी का सम्मान बड़े-बड़े धर्माचार्यों, साधु-महात्माओं, राजा-महाराजाओं और सेठ-साहूकारों में था। गवर्नमेन्ट सरकारने भी आपका 'महामहोपाध्याय' द्वारा महान् सम्मान किया था। जिस समय आपको 'महामहोपाध्याय' की टाइटिल प्राप्त हुई थी, उस समय समस्त भारत के उदार गुणग्राही विद्वानों में एक प्रकार का विलक्षण आनन्दोल्लास दिखाई दे रहा था और सभी के मुख से यह शब्द निकल रहे थे कि—'आज महामहोपाध्याय की उपाधि श्रीविद्याधरजी गौड से सम्बन्धित होकर परम पवित्र, धन्य और भाग्यशाली बन गई।'

मैं अपने गुरुदेव के विषय में अधिक न कहकर यही कहूँगा कि वे अपने शिष्यों के लिये साक्षात् 'कल्पवृक्ष' थे। कोई भी शिष्य उनकी शरण में जाकर कभी विमुख नहीं लौटता था। वे अपने शिष्यों से 'पुत्रवत्' स्नेह करते थे और उनको सदा सर्वप्रकार से सहायता और रक्षा करते थे। शिष्यों के प्रति उनका चित्त बड़ा उदार था। उनमें जातीयता का भेदभाव नहीं था। इसीलिए वे सर्यूपारी,

सारस्वत, गौड और मैथिल आदि पञ्चगौडों को तथा पञ्चद्राविड़ों को समानरूप से मानते थे।

पूज्य गुरुदेव गणेशजी अथवा वेदव्यास के अवतार थे। उनकी विद्या अगाध थी। वे सदैव सुरभारती की सेवामें रत रहा करते थे। उनका सारा जीवन अध्यापन तथा ग्रन्थ-लेखन में ही व्यतीत होता था। उन्होंने "कात्यायन-श्रौतसूत्र" की पाण्डित्यपूर्ण टीका तथा उसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका एवं कर्मकाण्डोपयोगि अनेकानेक पद्धतियाँ लिखकर वैदिक-जगत् का महान् कल्याण किया है। यद्यपि आज श्रीगुरुजी संसार में नहीं हैं, तथापि उनकी कीर्ति आज भी जीवित और सुरक्षित है। वेदशास्त्र में श्रद्धा रखनेवाले बड़े-बड़े पारखी विद्वान् आज भी बड़ी श्रद्धा से श्रीगुरुजी का स्मरण कर नतमस्तक होते हैं।

अन्तमें मैं अपने कल्याणकारी, उदारचेता, तपस्वी, मनीषी, वेदावतार, महापुरुष, पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों में नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हुआ श्रीमद्भगवद्गीता के—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

—इस महावाक्य का स्मरण करता हूँ, जिसके कि श्रीगुरुदेव साकार स्वरूप थे।

पवित्र स्मृति

(पं० श्रीकाशीप्रसादजी मिश्र, वेदाचार्य, अध्यापक-काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय)

मैंने अपने गुरुदेव स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड से अष्टविकृतिसहित वेद का मूलभाग तथा वेद का अर्थभाग एवं मीमांसा और धर्मशास्त्र का अध्ययन कर शुक्ल यजुर्वेद की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। आपकी पढ़ाने की शैली अद्भुत थी। आप वेदमन्त्रों का अर्थ रघुवंश के श्लोकों की तरह व्याख्या करके पढ़ाते थे। आप जिस प्रकार पढ़ाने में दक्ष थे उसी प्रकार लेखन-कला में भी निपुण थे। आपके विषय में अधिक लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है। सच तो यह है कि मेरे पूज्य गुरुदेव वेद के उद्धारार्थ ही मानव-शरीर धारण कर इस भूमण्डल पर अवतीर्ण हुए थे। मुझे महान् हर्ष है कि आज मैं अपने पूज्य गुरुदेव की पवित्र स्मृति में दो शब्द लिखकर पावन बन रहा हूँ।

श्रद्धेय म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज

(राजज्योतिषी पं० श्रीलक्ष्मीनारायणजी त्रिपाठी, नरसिंह गढ़, मध्यभारत)

सन् १९३३ में मैं वेद-कर्मकाण्ड तथा कुण्डमण्डपनिर्माण प्रक्रिया को सीखने के लिये काशी आया था। काशी में आकर मैंने अपने ज्योतिषशास्त्र के गुरु स्व० पण्डित श्रीरामयत्नजी ओझा (प्राध्यापक-हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) से निवेदन किया कि 'मैं वेद-कर्मकाण्ड की शिक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ, अतः किसी ऐसे सुयोग्य वेदज्ञ विद्वान् का नाम बतला दीजिये, जिनसे मेरी पूर्ण तृप्ति हो।' श्रीमान् गुरुवर्य ओझाजी ने पूज्य म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड महाराज का नाम बतलाया। मैं श्रीगौडजी की सेवामें अध्ययनार्थ उपस्थित हुआ। उन्होंने बड़े प्रेम और हर्ष के साथ मुझे वेद-कर्मकाण्ड तथा कुण्ड-मण्डप-निर्माण की शिक्षा देकर अत्यन्त कृपा की थी, जिस कृपा को मैं आजीवन विस्मृत नहीं कर सकता।

सन् १९३६ में श्रीमान् माननीय त्यागतपोमूर्ति महात्मा श्रीनाथजी महाराज ने राजगढ़ में 'अतिरुद्र यज्ञ' कराने का विचार किया। महात्मा श्रीनाथजी महाराज के यज्ञ समाचार को सुनकर राजगढ़-नरेश श्रीमान् वीरेन्द्रसिंहजी साहब बहादुर ने अपने राज्य की ओर से स्वयं यज्ञ कराने का निश्चय किया और मुझे बुलाकर श्रीमन्त नरेश ने आदेश दिया—'तुम महात्माजी के यज्ञ की व्यवस्था करो और श्रेष्ठ विद्वानों—द्वारा यज्ञकार्य को सुसम्पन्न कराओ।' श्रीमन्त राजगढ़ नरेश की आज्ञानुसार मैंने महात्मा श्रीनाथजी के अतिरुद्र यज्ञ की व्यवस्था का भार स्वीकार किया और मैंने यज्ञ के आचार्य-पद के लिये पूज्य गुरुवर्य महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी की सेवामें पत्र लिखा। महामहोपाध्यायजी ने अपनी सहर्ष स्वीकृति लिख भेजी। यज्ञ की तैयारी धूमधाम से हो रही थी। संयोगवश श्रीमन्त राजगढ़ नरेश श्रीवीरेन्द्रसिंहजी साहब बहादुर का—जिनका स्वास्थ्य कुछ दिन से खराब चल रहा था—सितम्बर सन् १९३६ में स्वर्गवास हो गया। राजगढ़-नरेश के स्वर्गवासी होने के कारण उस समय कुछ काल के लिये यज्ञकार्य स्थगित हो गया। पश्चात् राजगढ़ के दीवानसाहब श्रीमन्त देवीसिंहजी महोदय ने स्वर्गीय राजगढ़नरेश श्रीवीरेन्द्रसिंह साहब बहादुर-द्वारा किये गये यज्ञ-सङ्कल्प को पूर्ण करने का निश्चय किया और सन् १९३७ की फरवरी में राजगढ़ की ओर से 'अतिरुद्र यज्ञ' कराया गया। उस यज्ञ में भारत के सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज ने पधार कर 'आचार्य' पद ग्रहण किया था। महामहोपाध्यायजी के सौम्य-स्वरूप और उनके अद्भुत वैदुष्य को देखकर महात्मा श्रीनाथजी महाराज ने तथा अन्य समस्त जनता ने अति प्रसन्नता व्यक्त की थी। मैंने भी अपने जीवन को अत्यन्त धन्य समझा, जो यज्ञ के कारण मुझे

पूज्य गुरुदेवजी की सेवाका शुभावसर विशेष-रूप से प्राप्त हुआ। यज्ञावसर पर मुझे पूज्य गुरुदेव की विविध विशिष्ट विशेषताओं का अद्भुत अनुभव हुआ था, जिनका स्मरण कर मैं अपने जीवन को कृतार्थ मानता हूँ।

वेदमार्गप्रतिष्ठापक पूज्य श्रीगुरुदेवकी स्मृति

(पं० श्रीरामनाथजी त्रिपाठी, कर्मकाण्डी, रामनगर, वाराणसी)

प्रातःस्मरणीय वेदावतार श्रीमान् गुरूजी (महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड अग्निहोत्री) के विशिष्ट वैदुष्य से अनेकानेक राजा-महाराजा प्रभावित रहते थे और वे समय-समय पर अपने यहाँ विशेष कार्यों में पूज्य श्रीगुरूजी को आमन्त्रित कर, उनकी विद्या से विशेष लाभान्वित होते थे।

स्वर्गीय श्रीमन्महाराजाधिराज द्विजराज काशिराज श्रीप्रभुनारायणसिंहजी महोदय पूज्यपाद श्रीगुरूजी को विशेष मानते थे। वेद-कर्मकाण्ड अथवा धर्मशास्त्रसम्बन्ध में उन्हें जब जिज्ञासा होती थी, तब पूज्यपाद श्रीगुरूजी से ही परामर्श एवं निर्णय कराते थे और समय-समय पर अपने यहाँ राजभवन (किले) में उन्हें सादर आवाहन किया करते थे।

श्रीमान् महाराजाधिराज काशिराज श्रीप्रभुनारायणसिंहजी के देहावसान के बाद उनके सुपुत्र श्रीमान् महाराजाधिराज काशिराज श्रीआदित्यनारायणसिंहजी अपने स्व० श्रीपिताजी से भी अधिक पूज्यपाद श्रीगुरूजी को मानते थे। वे गुरूजी के परम भक्त थे। वेद-कर्मकाण्ड एवं धर्मशास्त्रसम्बन्धी समस्त कार्य श्रीमान् गुरूजी की सम्मति से ही करते थे।

१—श्रीमान् महाराजाधिराज काशिराज श्रीआदित्यनारायणसिंहजी जब राज्यसिंहासनारूढ़ हुए, तब राज्याभिषेक की व्यवस्था पूज्य श्रीगुरूजी के उपदिष्ट विधानानुसार ही हुई थी। उस समय श्रीमान् गुरूजी ने राज्याभिषेक-सम्बन्धी जो व्यवस्था लिखकर दी थी, वह आज भी 'श्रीकाशिराज सरस्वती भण्डार' में सुरक्षित है।

२—एक बार श्रीमन्महाराजाधिराज काशिराज श्रीआदित्यनारायणसिंहजी की राजमाता महोदया ने 'धान्याचल' किया था, जिसके आचार्य श्रीमान् गुरूजी ही थे। धान्याचल के समय श्रीराजमाता महोदया ने नगवामें श्रीमान् गुरूजी को दक्षिणारूप में कुछ जमीन भी अर्पण की थी।

३—श्रीमन्महाराजाधिराज काशिराज श्रीआदित्यनारायणसिंहजी अपने

यहाँ स्टेट में जब कभी 'वसन्तपूजा' कराते थे, तो श्रीमान् गुरुजी के ही द्वारा पञ्चगौड वैदिक विद्वानों को बुलवाते थे।

४—श्रीमन्महाराजाधिराज काशिराज श्रीआदित्यनारायणसिंहजी ने श्रीमान् महाराजाधिराज काशिराज श्रीविभूतिनारायणसिंहजी एम्० ए० महोदय को जिस समय 'दत्तक'-रूप में पुत्र-ग्रहण करने का विचार किया था, उस समय श्रीमान् गुरुजी ने 'दत्तक-विधान' की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था बड़े ही परिश्रम से तैयार की थी। तदनुसार ही श्रीमान् महाराजासाहब श्रीविभूतिनारायणसिंहजी का दत्तक-विधान विधिवत् सुसम्पन्न हुआ था। श्रीमान् गुरुजी के द्वारा लिखित 'दत्तक-विधान' की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था सम्प्रति 'श्रीकाशिराज सरस्वती भण्डार' (रामनगर स्टेट) में सुरक्षित रखी हुई है।

प्रातःस्मरणीय श्रीगुरुजी और इनके स्वर्गीय पिता पूज्यपाद महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री से मेरे पूज्य पितृव्य स्वर्गीय पण्डित श्रीजगन्नाथजी त्रिपाठी ज्योतिषी का सम्बन्ध बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है। मेरे स्व० पितृव्य महोदय इन दोनों महानुभावों के परम भक्त थे। मेरे बड़े भाई स्व० श्रीमङ्गलाप्रसादजी त्रिपाठी और मैंने वेद-कर्मकाण्ड का अध्ययन पूज्यपाद श्रीमान् गुरुजी से ही किया है। मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि भगवत्कृपा से मुझे भारतप्रसिद्ध वेदमार्गप्रतिष्ठापक परम पूज्य महान् वेदज्ञ वेदावतार श्रीगुरुजी के शिष्य होने का शुभावसर प्राप्त हुआ है और कुछ दिन उनके सान्निध्य में रहकर उनकी शुभ-सेवा करने का भी अवसर प्राप्त हुआ है। अतः मैं पूज्यपाद स्वर्गीय श्रीगुरुजी के पवित्र चरणकमलों में अत्यन्त श्रद्धासमन्वित होकर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हुआ निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत कर अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ।

यस्यास्य-पङ्कज-गता लसदङ्गभूषा,
नाना-विलासरुचिराऽजनि वेदविद्या।
विद्याधरं विबुध-वन्दित-वन्द्यभावं,
हा हन्त! सम्प्रति न राजति तं विना सा॥

प्रातःस्मरणीय श्रीगुरुजी महाराज

(त्यागमूर्ति श्रीमान् ब्रह्मानन्दजी सिद्ध महाराज, वाराणसी)

संवत् १९८४ में परम पवित्र वाराणसी नगरी में आकर मुझे प्रातःस्मरणीय शिवस्वरूप वेदमूर्ति श्रीगुरुजी म० म० पं० श्रीविद्याधरजी महाराज से वेदाध्ययन करने का शुभावसर प्राप्त हुआ। श्रीगुरुजी की मुझ पर अत्यन्त कृपा रहती थी। वे मुझे बार-बार आशीर्वाद दिया करते थे—'तुम सदा सुखी रहोगे।' श्रीगुरुजी की कृपा से मैं सर्वदा सुखी रहता हूँ। जब मैं अपने को आपत्तिग्रस्त समझता हूँ तब मैं देवस्वरूप श्रीगुरुजी का स्मरण कर लेता हूँ। श्रीगुरुजी के स्मरण करने का मुझे प्रत्यक्ष फल यह होता है कि वे शीघ्र ही स्वप्न में दर्शन देते हैं। श्रीगुरुजी के दर्शनमात्र से ही मेरे समस्त सङ्कट टल जाते हैं। मेरी सत्य-भावना के अनुसार वस्तुतः श्रीगुरुजी का दर्शन ही मेरे लिये सर्वथा कल्याणकारक सिद्ध होता है। मैं श्रीगुरुजी को मनुष्य-कोटि में नहीं, किन्तु साक्षात् देवकोटि में मानता हूँ। मेरे लिये वे साक्षात् देवता हैं।

काशीस्थ ढुण्ढिराज गली में त्याग-तपोमूर्ति सिद्ध महात्माओं-द्वारा संस्थापित 'श्रीराजराजेश्वर सिद्धपीठ' है। यह सिद्धपीठ अत्यन्त प्राचीन है। इस सिद्धपीठ के अध्यक्ष बड़े-बड़े विद्वान्, सिद्ध-महात्मा होते चले आ रहे हैं। उक्त सिद्धपीठ में जब 'अध्यक्ष' पद का स्थान रिक्त हुआ, तब प्रातःस्मरणीय श्रीगुरुजी महाराज ने मेरे को वहाँ 'अध्यक्ष' पद पर प्रतिष्ठित करने की सम्मति दी। अतः सर्वसम्मति से मैं ही अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित किया गया। मैं इस सिद्धपीठ की लगभग ३० वर्ष से सेवा करता हुआ सर्वदा स्व० श्रीगुरुजी का स्मरण किया करता हूँ। श्रीगुरुजी मेरे लिये उपास्य हैं और मैं उनका उपासक हूँ। श्रीगुरुजी की उपासना से मुझे निश्चित ही सुख-शान्ति का अनुभव प्राप्त होता है। अतः मेरे लिये श्रीगुरुजी परमाराध्य देवता हैं और वे ही सब कुछ हैं। 'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।'

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

गुरुकृपाका प्रत्यक्ष फल

(ज्योतिर्वित् पं० श्रीबालमुकुन्दजी गौड, काशी)

मेरे स्व० पिताजी पं० श्रीनाथूरामजी गौड ने प्रातःस्मरणीय स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रभुदत्तजी अग्निहोत्री से वेदाध्ययन किया था और उन्हींकी अनुकम्पा से उन्हें काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में 'वेदाध्यापक' पद भी प्राप्त हुआ था। मेरे पिताजी अपने पूज्य गुरूजी को अपने पिताजी से भी अधिक मानते थे और श्रीगुरूजी भी उनको पुत्र से अधिक मानते थे। मेरे पिताजी कहा करते थे—'मैं जब कभी अपने को सङ्कटापन्न समझता था, तब मैं अपने श्रीगुरूजी का स्मरण किया करता था, जिससे मेरे सारे सङ्कट तत्काल टल जाते थे।'

मेरे पिताजी के चार विवाह हुए थे। उनमें पहली तीन धर्मपत्नियों से तीन कन्या और छः पुत्र हुए थे। दैववश तीनों कन्याएँ तो जीवित रहीं, किन्तु पुत्र सभी मृत्यु को प्राप्त हो गये। पिताजी ने अपनी तीन धर्मपत्नियों की मृत्यु के बाद अपनी अधिक आयु देखकर निश्चय किया कि 'मेरे भाग्य में पुत्र का सुख नहीं है। यदि पुत्र का सुख होता तो पहले की पत्नियों से कई पुत्र होकर मरते ही क्यों?' अतः उन्होंने चतुर्थ विवाह का विचार स्थगित कर दिया। किन्तु पूज्यपाद श्रीगुरूजी ने चतुर्थ विवाह करने के लिये पिताजी को विशेष बाध्य किया और कहा—'तुम आँख मीचकर विवाह करलो, चतुर्थ पत्नी से निश्चित ही दीर्घजीवी पुत्र होंगे और उनसे तुम्हारी वंश-परम्परा सुरक्षित रहेगी।' पिताजी अपने श्रीगुरूजी के वाक्य को 'ब्रह्मवाक्य' मानते थे और पूर्ण विश्वास भी करते थे। पिताजी ने श्रीगुरूजी की आज्ञानुसार संवत् १६८५ के ज्येष्ठ मास में अपना विवाह कर लिया। विवाह के बाद तत्काल द्विरागमन कराकर पिताजी सपत्नीक श्रीगुरूजी के दर्शनार्थ आषाढ़ शुक्ला 'गुरुपूर्णिमा' के दिन 'गुरुगृह' पहुँचे। पश्चात् पिताजी ने गुरूजी का विधिवत् पूजन किया। नव-दम्पति को देखकर श्रीगुरूजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने मेरी माताजी को आशीर्वाद-रूप में दो आम्र-फल देते हुए कहा—'मैं तुम्हें दो आम देता हूँ, तुम दोनों आमों को खा लेना। भगवत्कृपा से निश्चित ही दो पुत्र होंगे।'

श्रीगुरूजी की आज्ञानुसार श्रद्धा-भक्ति से मेरी माताजी ने दोनों आमों को खा लिया। गुरुकृपा से दसवें महीने में फाल्गुन मास संवत् १६८५ में मेरा जन्म हुआ। पश्चात् संवत् १६६२ के चैत्र मास में मेरे दूसरा भाई 'राधेश्याम मिश्र' का जन्म हुआ।

पूज्यपाद श्रीगुरूजी महाराज को 'वाक्सिद्धि' थी। वे प्रसन्न होकर शुभाशीर्वाद-रूप में जिससे जो कह देते थे, वह निश्चित ही पूर्ण होकर रहता था। मेरे स्व० श्रीपिताजी प्रसङ्गवश कभी-कभी अपने पूज्य श्रीगुरूजी की वाक्सिद्धि के अनेक उदाहरण सुनाया करते थे, उन्हींमें से मैंने यहाँ केवल एक घटना का उल्लेख किया है।

पूज्यपाद श्रीगुरुजी के ज्येष्ठ सुपुत्र महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री में भी मेरे पिताजी की अपार श्रद्धा थी। वे 'गुरुवद् गुरुपुत्रेषु' की दृष्टि से उन्हें भी गुरुजी की तरह मानते थे और वे भी मेरे पिताजी को अपने अग्रज की तरह मान-मर्यादा करते थे। जीवनपर्यन्त दोनों महानुभावों का परस्पर भ्रातृवत् स्नेह-सम्बन्ध अटूट रहा।

मेरा यज्ञोपवीत-संस्कार पूज्यपाद म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री ने कराया था और उन्होंने ही मुझे 'गायत्री-मन्त्र' की दीक्षा दी थी। मैं अपने जीवन को कृतार्थ मानता हूँ, जो मुझे वेद के अद्वितीय विद्वान् का शिष्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मेरे पिताजी स्व० म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री की भी अनेक चमत्कारमयी घटनाएँ सुनाया करते थे। वे कहा करते थे—'पण्डित श्रीविद्याधरजी को सरस्वती देवी का इष्ट था। सरस्वती की कृपा से वे जङ्गल में भी जाकर बैठ जाते, तो वहाँ भी मङ्गल हो जाता था।' माता सरस्वती की उनपर पूर्ण कृपा थी। वस्तुतः 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' यह वाक्य उनपर प्रत्यक्ष रूप में घटता था।

स्व० म० म० पण्डित श्रीप्रभुदत्तजी महाराज तथा उनके सुपुत्र स्व० म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी महाराज वेद की प्रत्यक्ष मूर्ति थे। दोनों महानुभावों ने वैदिक-जगत् में सूर्य के सदृश प्रकाशमान् होकर जीवनपर्यन्त वेद का प्रसार-प्रचार किया। ऐसे परम पूजनीय वेदमूर्तियों के चरणों में मेरा बार-बार प्रणाम है।

पूज्य गुरुजी साक्षात् देवता थे

(वैदिकप्रवर पं० श्रीभैयालालजी मिश्र, सागर, मध्यप्रदेश)

प्रातःस्मरणीय पूज्यचरण १०८ श्रीगुरुजी (म० म० पं० श्रीविद्याधरजी अग्निहोत्री) के विषय में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाना होगा। उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा काशी के बड़े-बड़े विद्वान् करते हुए गद्गद हो जाते हैं। वे साक्षात् वेद-मूर्ति थे। भारत के वेदज्ञों में उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान था। वे जिस प्रकार वेदशास्त्र के पूर्ण मर्मज्ञ थे, उसी प्रकार व्याकरण-साहित्यादि विषयों के भी पूर्ण मर्मज्ञ थे। उनका संस्कृत का लेख अत्यन्त सरल, सरस, सुन्दर और भावपूर्ण होता था। श्लोकरचना करने में भी वे अत्यन्त कुशल थे। उनके निर्मित श्लोक उनके वेद-कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में यत्र तत्र प्राप्त होते हैं।

संभवतः सन् १९३७ में महामना पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी के होनेवाले अभिनन्दन-समारोह में पूज्य श्रीगुरुजी ने भी मालवीयजी महाराज का स्वरचित पद्यात्मक 'अभिनन्दन' किया था। वह अभिनन्दन इस प्रकार था—

अभिनन्दनम्

श्रीमतां तत्रभवतां श्रीसनातनधर्मधुरन्धराणाम्, भारतभुवो भूषणानां, सुयशःपटहप्रमाथिताशेष-वैधेयपटलानां, भुवनाभिरामहिन्दूविश्वविद्यालयसमुज्जीवनेन विधातृनिर्विशेषं भारतीय-सारस्वतलक्ष्मीं लालयतां, लोकोत्तरकीर्तिस्वर्गङ्गावगाहनधवलसुमनोमनोराजहंसानाम् महामान्य-महर्षि-श्रीमन्मदनमोहनमालवीयमहाभागानां महनीयसेवायाम्—

विश्वानि देव! सवितर्दुरितानि तानि
सद्यः परासुव जगद्भयकारणानि।
भद्रञ्च यद्भवतु नः शुभहेतुभूतं
शीघ्रं तदासुव हरे! निखिलान्तरात्मन्॥ १॥

क्षीणाः कालकरालदण्डनिहता यो धार्मिकाग्रेसरः
साङ्गा ब्रह्मवतोः श्रुतीः पुनरपि प्राचीकटद्भूतले।
तस्य श्रीलमतेः प्रभोः कुलपतेः कारुण्यवारां निधेः
कैः शब्दैः कतिभिः पदैर्गुणगणान् स्तोतुं क्षमा मादृशाः॥ २॥

देशं धर्मयुतं समाजमखिलं त्रातुं परैर्यः कृतान्
दुःखानां निवहान् सहेत सततं स्वातन्त्र्यचिन्ताश्रितः।
आचारः किल मूर्तिमान्, सुकृतभूः, श्रीमत्समः संसृतौ
कोऽद्यत्वे प्रथितप्रतापविभवो धर्मव्रती धीनिधिः॥ ३॥

सूर्यः प्रातरुदेति चारुकिरणो रात्रौ च चन्द्रो भुवि
ज्ञातुं विश्वविभूषणं धृतिमयं श्रीमालवीयोपमम्।
मन्येऽत्रैव कृतौ तयोरनुचरीभूतः स पुंस्कोकिलः
वासन्तेऽधिरसालपल्लवकले मत्तोऽसकृत्कूजति॥ ४॥

प्रेम्णा हार्देन भव्यां जगदुपकरणं धर्मविज्ञानकक्षां,
संस्थाप्यालङ्कृतोऽलं यमनियममयो विश्वविद्यालयोऽयम्।
नोपेक्ष्या दिव्यदिव्या ननु विबुधवराः! सर्वमान्याः समन्तात्
वृद्धिं प्राप्नोतु यस्याः सततमथ कृतिः सा विधेया भवद्भिः॥ ५॥

कल्याणामृतभाजनं विबुधतावल्लीप्रसूनाञ्चलः
ब्रह्मण्यः श्रुतिसम्मताचरणवान् सर्वार्थचिन्तामणिः।
पीयूषोत्तरमिष्टवाङ् मतिमतां सम्मानपात्रं चिरं
जीयात्सोऽयमशेषमङ्गलमयः श्रीमालवीयो महान् ॥ ६ ॥

धर्मविज्ञानविभागः
हि० वि० वि०, काशी ।

श्रीविद्याधरशर्मा
(प्रिन्सिपल)

पूज्य श्रीगुरुजी की अद्वितीया प्रतिभा, श्रौत-स्मार्त यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड की निपुणता, विविध शास्त्रों की अध्यापन-पटुता और शास्त्रीय जटिल विषयों के समाधान करने की क्षमता विचित्र थी ।

पूज्य श्रीगुरुजी केवल महापण्डित ही नहीं थे, वरन् महान् लेखक भी थे । कात्यायन-श्रौतसूत्र की अभूतपूर्व टीका लिखकर आपने श्रौतमार्ग–पथिकों का महान् कल्याण किया है । आपने कात्यायन–श्रौतसूत्र की जो 'भूमिका' लिखी है, वह अत्यन्त ही विद्वत्तापूर्ण और पठनीय है । आपकी कात्यायन-श्रौतसूत्र की भूमिका के विषय में देश-विदेशप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा एम्० ए०, डी० लिट्० (वाइस चान्सलर, इलाहाबाद युनिवर्सिटी) महोदय ने पूज्य गुरुजी के पास इस प्रकार पत्र लिखकर भेजा था—

श्रीः

इलाहाबाद
१३ । ८ । ३१

नमस्कार

श्रौतसूत्र की भूमिका मिली । बड़ा ही उपकारक ग्रन्थ हुआ है । मीमांसाध्यायियों के लिये तो पढ़ना अत्यावश्यक होगा ।

कृपाभिलाषी—
गङ्गानाथ झा

गुरुजी ने मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व अपना जीवन-बीमा चौदह हजार रुपये का करा लिया था । मृत्यु के बाद बीमा-कम्पनी ने रुपया देने में जब टाल-मटोल की बात की, तो गुरुजी के पुत्र वेदाचार्य पं० वेणीरामजी गौड महामना पं० श्रीमदनमोहन मालवीयजी महाराज की सेवामें पहुँचे और उनसे बीमाकम्पनी की रुपया न देने की बात कही । पूज्य मालवीयजी महाराज पूज्य गुरुजी को बहुत मानते थे । उन्होंने तत्काल एक सार्टिफिकेट देते हुए कहा—'इसको बीमा-कम्पनी

के पास भेज दो, वह तत्काल रुपया भेज देंगे। यदि रुपया भेजने में आना-कानी करें, तो फिर मेरे से मिलना। मैं रुपया दिलवा दूँगा।' पूज्य मालवीयजी का दिया हुआ पत्र बीमाकम्पनी के पास भेजा गया, जिसको पढ़कर बीमाकम्पनी ने तत्काल चौदह हजार रुपये भेज दिये।

महामना मालवीयजी महाराज ने जो सार्टिफिकेट दिया था, वह निम्नलिखित है—

Rector's Lodge,
Hindu University,
Benares.
5th Dece. 1943.

I know the late Mahamahopadhyaya Pt. Vidyadharjee Gaud, who was a professor and Principal of the College of Theology in the Benares Hindu University. I much respected him for his learning and character. He kept good health as long as he was professor. He resigned his service on the 30th April 1940. He breathed his last on the 5th Dece. 1941. that is nearly two years after his retirement.

Sd /- M. M. Malaviya.

अनुवाद

रेक्टर भवन,
हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस,
५ दिसम्बर, १९४३

मैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित विद्याधरजी गौड को जानता हूँ, जो बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में थियालोजी कालेज के प्रोफेसर और प्रिंसिपल थे। मैं उनकी विद्या और चरित्र का बहुत आदर करता था। वे जब तक यहाँ प्रोफेसर थे तब तक बड़े स्वस्थ थे। उन्होंने ३० अप्रैल सन् १९४० को अपने पद से त्यागपत्र दिया था। उनका ५ दिसम्बर सन् १९४१ को स्वर्गवास हो गया। हिन्दू विश्वविद्यालय से रिटायर होने के बाद वे लगभग दो वर्ष जीवित रहे।

(ह०) एम्० एम्० मालवीय

गुरूजी (म० म० श्रीविद्याधरजी) परमोपकारी थे। वे अपने शिष्यों को केवल विद्या-प्रदान ही नहीं करते थे, किन्तु अन्न, वस्त्र और द्रव्य भी देते थे। दीन-हीन विद्यार्थियों का उपकार करना उनका सहज स्वभाव था।

गुरूजी कट्टर सनातनधर्मी थे। धर्म के सम्मुख वे अर्थलाभ को नगण्य समझते थे। कई बार ऐसा अवसर आया कि उन्होंने धर्मरक्षार्थ विशिष्ट अर्थलाभ को ठुकरा दिया।

मैं श्रीगुरूजी को साक्षात् 'देवता' मानता था। गुरूजी की मुझ पर बड़ी ही कृपा रहती थी। मुझे अपने जीवन में गुरूजी जैसे पुत्रवत् स्नेह करनेवाले दूसरे कोई अध्यापक नहीं मिले। पूज्य गुरूजी के शुभाशीर्वाद से मैं अपनी जन्मभूमि सागर (मध्यप्रदेश) में प्रतिष्ठा के साथ जीवन-यापन करते हुए अपने ८२ वर्ष पूर्ण कर चुका हूँ। मैं प्रतिदिन प्रातःस्मरणीय पूज्य श्रीगुरूजी की मधुर मूर्ति का स्मरण करता रहता हूँ और उन पवित्र महान् आत्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे ऐसा शुभाशीर्वाद दें, जिससे इस शरीर को पुनः मोक्षपुरी काशी में पहुँचने का परम सौभाग्य प्राप्त हो और वहीं पर इस शरीर का विसर्जन होकर मानवजन्म सफलीभूत हो।

———

परिशिष्ट-भाग

[सन् १९४० में भारत सरकार—द्वारा 'महामहोपाध्याय' पदवी प्राप्त करने के उपलक्ष्य में सम्माननीय महानुभावों के द्वारा प्रदत्त बधाई के पत्र तथा विभिन्न संस्थाओं-द्वारा दिए हुए अभिनन्दन-पत्र]

बधाईके पत्र

(१)

गवर्नमेन्ट सरकार-द्वारा आप 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित किये गये हैं, यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ। यह उच्च सम्मान आपके अनुरूप ही है।

मदन मोहन मालवीय

(२)

आपके पूज्य पिताजी जिस 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से सम्मानित हुए थे, उसी 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से आप भी सम्मानित किये गये हैं, यह विशेष गौरव की बात है। निश्चित ही आपके परिवार में वेद भगवान् की पूर्ण कृपा है।

प्रयाग,

गङ्गानाथ झा
(महामहोपाध्याय)

(३)

श्रीमन्तो महामहोपाध्यायपदव्यालंकृता भारतचक्रवर्तिना। उचिते स्थाने महत्याः पदव्या विनियोगः कस्य वा नानन्दमुदञ्चयेत्। सर्वदैवगुणैः श्रीमतः सुप्रसिद्धान् पितृपादाननुकुर्वन्तस्तत्रभवन्तः श्लाघ्यया पदव्यापि तत्साम्यमाप्नवन्त इति प्रमोदास्पदम्। आनन्दातिरेकेणाहमस्मिन्नवसरे तत्र भवतोऽभिनन्दामि। आशासे च तत्रभवतामनुपलमेधमानमभ्युदयमिति।

महाराजा-संस्कृत-कालेज,
जयपुर सिटी

भावत्को—
गिरिधरशर्मा चतुर्वेदः
(महामहोपाध्यायः)

(४)

पूर्वत एवास्माभिरभिलषितं यन्महामहोपाध्यायपदं भवद्भिः सङ्गतं तेन एतस्मै पदाय धन्यवादमर्पयामि।

हिन्दूविश्वविद्यालयः
काशी

भवदीयः—
बालकृष्ण मिश्रः
(महामहोपाध्यायः)

(५)

गवर्नमेन्ट सरकार ने श्रीमान्‌जी को 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित कर संस्कृत-समाज के गौरव की महती प्रतिष्ठा की है। आप इस सम्मान के पूर्णरूप से अधिकारी हैं। एक ही घर में पिता और पुत्र दोनों को 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्राप्त हुई हो, ऐसा आपके यहाँ ही देखने को मिला। मैं इस अवसर पर आपको हार्दिक बधाई देता हूँ।

काशी। } हरिहरकृपालु द्विवेदी
(महामहोपाध्याय)

(६)

सम्राट्-समर्पितदुराप-महामहोपा-
ध्यायाख्यभव्यपदवीपरिदीपितश्रीः !
विद्याधरो विजयते प्रभुदत्तजन्मा
शम्भोरलीकतिलकेन्दुरिवाकलङ्कः !!

सरस्वतीभवनम्
काशी } नारायणशास्त्री खिस्ते
(महामहोपाध्याय)

(७)

श्रीमत्सु गौड़वंशावतंसेषु वैदिकवाङ्मयप्राङ्गणरिङ्गणविहारिषु महामहोपाध्याय-श्रीविद्याधरशर्मशास्त्रिमहोदयानां चरणकमलेषु सप्रश्रयं प्रणतिततयः समुल्लसन्तुतराम्—

समाचारपत्रैः श्रीमतां महामहोपाध्याय-पदवीप्राप्तिं समाकलय्य सद्यः समविन्दममन्दमानन्दम्।

भवतामभिनवेनानेन गौरवेण गौरविता नो गौड़जातिः, सम्मानसीमामधिरूढः सनातनधर्मः, विश्ववन्द्यत्वमभजत् सद्वृत्तपरिष्कृतं ब्राह्मणत्वम्।

शुभावसरेऽस्मिन् सबहुमानं वर्धापनं समर्पयता मया प्रार्थ्यते जानकीजानिर्यद्धि भवादृशां विदुषां चैरायुष्येण वयमपि चिरजीविनः स्याम।

कौल (करनाल) } वशंवदो माधवाचार्यः

(८)

श्रीमदित्यादिगुणगणमण्डितपण्डितमण्डलसार्वभौमपण्डितश्रीविद्याधरगौडमहिममहानुभावमहोदयेषु सप्रेम सनति सादरञ्च निवेदयति वशंवदः—

श्रीमन् ! महोदार ! विशालबुद्धे !
निःशेषसच्छास्त्रसजीवमूर्ते !
विद्वद्वरेण्य ! प्रथितोरुकीर्ते !
वर्द्धापनम्मे कृपया गृहाण !!

भवदीयो—
बुलाकिरामः

(९)

सम्मान्य !

चिरकालसहावासात् ज्ञात्वा त्वद्गुणगौरवम् ।
हर्षोत्फुल्लमनाः किञ्चिद्वक्तुकामोऽस्मि साम्प्रतम् ॥१॥
महामहोपाध्यायस्त्वं शासकैः सत्कृतः कृतः ।
वृत्तान्तोऽयं सुखकरः सर्वेषां स्नेहिनां तव ॥२॥
वीरोऽसि वीरपुत्रोऽसि स्वधर्मैकपरायणः ।
चकास्ति संस्था त्वत्सङ्गात्ते शोभा नास्ति संस्थया ॥३॥
प्रभुदत्तसुतप्रेम्णा प्रभुदत्तो दिवं गतः ।
समयोग्यत्वमापन्नं त्वां सुतं वीक्ष्य हर्षितः ॥४॥
हरिरिव हरिरिव सततं यं देशं त्वं श्रयिष्यसे प्राज्ञ ।
तं तं निजभुजविजितं विधास्यसीसि दृढं नु विश्वसिमि ॥५॥
विद्याधरोऽप्यविद्याधर इति सिद्धं मनुष्यकायेन ।
विद्याधरोऽसि विद्याधर इति नाम्ना पङ्क्त्या च ॥६॥

हिन्दूविश्वविद्यालयः काशी । } श्रीमतां विश्वनाथशास्त्री भरद्वाजः, एम्० ए०

(१०)

अनन्तानवद्यविद्यासुधानिधिमथनसमुदितयशश्चन्द्रचन्द्रिकाचकासितजगतीतले शश्वच्छात्रव्रातसमभ्यर्चितपादतले वैदिकसाहित्यसमुद्धारधुरीणे प्रकाण्ड-पाण्डित्यचमत्कृतभारतसम्राट्समुपहृत 'महामहोपाध्याय' महोपाधिदेदीप्यमाने माननीय-जगद्वन्दित-श्रीविद्याधरशास्त्रिमहानुभावे सादरं सनमस्यं च निवेदयते—

अयि मनीषितल्लज !

न खलु जातु रमणीयो मणिः परतः परापतितेन द्योतेन विद्योतत इति प्रेक्षाव-च्चक्रवालातिललाममणिं स्वीयभासैव भृशं भासमानं तत्रभवन्तं भारतसम्राजा सब-हुमानं समुपहृतोऽपि 'महामहोपाध्याय' महोपाधिर्न लेशतोऽप्यतिशयितुमीष्टे यद्यपि, तथापि सोऽपि महोपाधिर्भवद्विधमेवागाधविद्यावारिधिमधिगत्य सार्थाभिधानः सम्पद्यत इति भवदुपाधिसमधिगत्या परं प्रमोदते पण्डितमण्डलः ।

वीराणां तनुजा भवन्ति भुवने वीरा इयं या परा
ख्यातिस्तां विदधद् गुणैरवितथां यः सद्व्रजे भ्राजते ।
विद्यावैभवभूरितोषित-महासम्राट्समाराधितं
श्रीविद्याधरशास्त्रिणं कृतिवरं भूम्नाऽभिनन्दामि तम् ॥

विश्वविद्यालय, लखनऊ । } भवदनुकम्पावाप्तिपरः झोपाह्वो घूटरः

(११)

आप 'महामहोपाध्याय' हो गये, यह सुनकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई।

राधाकृष्ण संस्कृतकालेज, खुरजा। } परमानन्दशास्त्री (प्रिन्सिपल)

(१२)

I Congratulate you on the title of Mahamahopadhyaya, which has been bestowed on you in the last Honour's list.

Yours truly,
J. L. Sathe I. C. S.
Allahabad

(१३)

I am extremely pleased to see that after all your great scholarship has been recognized by the conferment of the much coveted title of Mahamahopadhyaya on you, which you richly deserved. I hope you will continue to devote your time and attention to scholarship and research.

Pannalal I. C. S.

(१४)

I am so glad to learn that the title of Mahamahopadhyaya has been conferred on you. Please accept my heartiest congratulations on the same. I pray that may more titles follow this, I sincerely trust that this will find you in the very best of health. It is needless to say that the blessings of your revered father has brought you this high honour and I am sure that this is the forerunner of many more titles to follow.

Yours sincerely,
Madhoram Sand
(Rai Bahadur)
Benares

(१५)

I hasten to send you my most sincere and heartfelt congratulations on your getting the well-deserved...distinction and wish it will be forerunner of many higher ones.

Yours sincerely,
Kedarnath Goenka
Monghyr

(१६)

अखबारों को देखने से मालूम हुआ कि इस मर्तबा आपको गवर्नमेन्ट ने 'महामहोपाध्याय' का ख़िताब अता फर्माया है जिससे बहुत खुशी हुई। खुशी इस वजह से और भी हुई कि यह ख़िताब आपके वालिद साहब को भी गवर्नमेन्ट ने दिया और अब वही ख़िताब आपको मिला; गोया अब यह ख़िताब आपके घर का हो गया और उम्मीद है कि बड़े जी की जगह पर जो होगा उसको यह ख़िताब मिला करेगा। इसलिये इस ख़िताब के मिलने पर आपको तहे दिल से मुबारकबाद देता हूँ।

मुहम्मद मसीहुल्दीन
खाँबहादुर

(१७)

आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि मिलने का संवाद सुनकर बहुत ही प्रसन्नता हुई। इसमें हमारे विश्वविद्यालय की गौरव-वृद्धि हुई और आपकी वंशमर्यादा अक्षुण्ण रही। ईश्वर आपको दीर्घ-जीवी करें और उत्तरोत्तर सम्मान बढ़ावें।

ज्ञानेन्द्रनाथ बसु
कलकत्ता

(१८)

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने श्रीमान् को 'महामहोपाध्याय' की पदवी से विभूषित किया है। इस अवसर पर अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

ललिता प्रसाद
लखनऊ। (रायसाहब)

(१९)

आपकी इस यशःप्राप्ति पर हार्दिक बधाई देता हूँ। आशा है कि इसी प्रकार आपका यशोवर्द्धन होता रहेगा।

ज्ञानपुर
(बनारस-स्टेट)

विजयीप्रसाद सिंह
मजिस्ट्रेट और कलक्टर

(२०)

'हिन्दुस्तान टाइम्स' में यह देखकर कि इस बार आपको 'महामहोपाध्याय' की डिगरी प्रदान कर गवर्नमेन्ट ने अपनी रुचि का अच्छा परिचय दिया। अतः विशेष प्रसन्नता हुई। इस अवसर पर मेरी भी श्रीचरणों में श्रद्धाञ्जलि स्वीकार हो।

स्टेट हाईस्कूल, बीकानेर

गौरीशङ्कर शर्मा
विद्याभास्कर

(२१)

इधर बहुत वर्षों से 'महामहोपाध्याय' की टाइटिल का यथार्थ सदुपयोग नहीं हो रहा था। इस बार आपको 'महामहोपाध्याय' की टाइटिल देकर अधिकारियों ने अपनी बुद्धिमत्ता और अधिकार का ठीक-ठीक परिचय दिया है।

महामहोपाध्याय की टाइटिल मिलने से आपकी शोभा नहीं, बल्कि 'महामहोपाध्याय' टाइटिल की शोभावृद्धि हुई है।

सम्पादक 'आज'
काशी।

बा० वि० पराड़कर

(२२)

सम्राट्ने आपके लिये जो उच्च सम्मान प्रदर्शन किया है वह आप जैसे महानुभाव के ही अनुकूल है। इससे हमें अत्यन्त आनन्द हुआ। आप हमारा हार्दिक धन्यवाद ग्रहण करें। यह आपके यहाँ कोई नई बात नहीं है। आपके पूज्य पिताजी भी इस उपाधि से विभूषित हुए थे। आशा है भविष्य में भी ऐसा होता रहेगा।

ईश्वरीप्रसाद गोयनका
कलकत्ता

(२३)

आज 'महामहोपाध्याय' की पदवी वास्तव में कृतार्थ हुई।

नारायणदत्त शास्त्री विद्यालङ्कार
बिडला हाईस्कूल, देहली

(२४)

हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये। गौड़-समाज के लिये यह अत्यन्त ही गौरव की बात है।

धन्नूलाल शर्मा
कलकत्ता

(२५)

पत्रों में यह पढ़कर बहुत आनन्द हुआ कि सरकार बहादुर ने आपको सर्वोच्च उपाधि देकर विशेष शोभायमान किया है, जिसके कि आप पूर्णरूप से अधिकारी हैं। एक ही घर में-पिता और पुत्र को यह सर्वोच्च मान्य प्राप्त हुआ हो, यह कहीं देखने में नहीं आता। यह सौभाग्य आपको ही प्राप्त हुआ है। हमारे लिये यह गर्व की बात है।

हीरालाल मुरारका
कलकत्ता

(२६)

आज के समाचार पत्रों में यह पढ़कर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई कि सम्राट् के जन्म-दिन को उपाधियों में आप 'महामहोपाध्याय' बनाये गए हैं। अपनी विद्वत्ता के कारण आप इस उपाधि के अच्छी तरह अधिकारी थे। मैं आपको हार्दिक बधाई देता हूँ। ईश्वर करे आपका मान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाय।

धन्नीराम भल्ला
लाहौर

———

❀ श्रीजानकीजानये नमः ❀

श्रीमतां तत्रभवतां भवतां निखिलनिगमागमप्राप्तवैभवानां वैदिकसाम्राज्य-
मधितिष्ठतां सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां विश्रुतदिग्दिगन्तप्रतिष्ठानां
गौडान्ववायालङ्काराणां सम्मान्यश्रीविद्याधरशास्त्रिमहोदयानाम्
महामहोपाध्यायपदोपलब्धिनिमित्तम्—

शुभाभिनन्दनम्

(१)

विद्वद्राजिशिखामणे ! तव गुणैर्वैदुष्यमुख्यैश्चिरं,
तोषं कञ्चन मानसं विशदयन् सम्राट् समायोजयत् ।
विख्यातेन सगौरवेण महता विद्वज्जनोपाधिना,
यत्तेनातितरां मुदा परिगताः सुस्वागतं ब्रूमहे ॥

(२)

आनेपालमहाचलं मलयजाक्रान्तं तथाऽऽसिंहलम्,
आपूर्वोदधिपश्चिमोदधि चिरख्याताय यच्छ्रीमते ।
आयातोऽयमुपाधिरङ्ग ! सुषमां स्वीयां समावर्धयन्,
शशाङ्की हि कला महेशशिरसाऽऽश्लिष्टा प्रणम्याऽभवत् ॥

(३)

औदार्यादिगुणा भवन्ति भवतः पार्श्वे कियत्सङ्ख्यकाः,
इत्येवं गणनारता नहि वयं तिष्ठामहे साम्प्रतम् ।
सिन्धौ वारि कियन्नभस्युत कियाँस्तारागणानां गणः,
कः सङ्ख्यातुमपीहते ननु जनः स्वीयं बलं चिन्तयन् ॥

(४)

मान्या वैदिकवैदुषी विपुलया ख्यात्या समेता चिराद्,
आयान्ती भवतः कुले सहचरीं लक्ष्मीं नयन्ती बलात् ।
एनां पण्डितवाञ्छनीयपदवीमप्यानिनाय स्वयं,
येनैषाऽपि कुलक्रमेण भवतः सेवासु सन्तिष्ठते ॥

(५)

यो विद्याधर एव तस्य विपुला विद्येति केयं कथा,
को ब्रूते मृगराज एष बलवान् हंहो मृगाणां पतिः ।
किंवाऽन्यत् कथयामहे ! दिवि तते सूर्ये नु का वर्णना,
मोदस्यावसरे नुता नु भवतो वर्धापनं कुर्महे ॥

ऋषिनन्दाङ्कभूवर्षे
कृष्णाष्टम्यामिषे शुभे

वाराणसेय—
श्रीसरयूपारीणपण्डितमण्डलसदस्याः ।

❀ श्रीमैथिली-विजयते ❀

गौडवंशावतंसश्रीमद्विद्याधरमिश्रमहानुभावानां महामहोपाध्यायपदाधिगमनोपलक्ष्ये कृतं

शुभाभिनन्दनम्

—०—

कीर्त्त्या यस्य सदा जगन्ति विशदीभूतानि सन्त्येव हि,
प्राज्यं प्रेम लसत्तरङ्गनिपतत्सर्वान्तरानन्दनम् ।
औदार्य्यञ्च परोपकारजनकं धैर्य्यं सदैव स्थिरम्
गाम्भीर्य्यं सुखदुःखयोः सममिदं कारुण्यमार्त्ते जने ॥१॥

विद्या हृद्यतमा च कर्म्मविषये प्राप्तं परं पाटवम्,
शीलं सर्वजनातिशायि च सदाचारः परं शोभनः ।
नैपुण्यं समशास्त्रतत्त्वकथने शिष्यान्तरस्याङ्कने,
जागर्त्येव सदा जनैः सुविदितो विद्वत्समाजादरः ॥२॥

तत्त्वानाञ्च निबन्धने निजकृतौ ख्यातं परं सौष्ठवम्,
विश्वेषाञ्च हितोपदेशवचने श्रद्धा च भक्तिस्तथा ।
दृष्टौ दृष्टियुगं श्रुतौ श्रुतियुगं रूपस्य वाचां तथा,
मूर्द्धा हस्तयुगं च पादपतने सर्वं सदा सस्पृहम् ॥३॥

इत्येवं गुणगौरवं सुविदितं विज्ञाय सम्राडपि
प्राप्तप्राज्यसुसम्भ्रमेण सहजप्रेम्णा च भक्त्यापि च ।
पादाब्जे समुपाहरन् पदमिदं विद्वज्जनप्रेप्सितं
लोकेऽस्मिन् स्वगुणज्ञतां प्रथितवान् राजाधिराजेश्वरः ॥४॥

सम्प्राप्तञ्च पदे शुभे पदमिदं श्रुत्वैव कर्णैर्निजै-
र्योग्ये योग्यमिदं वितीर्णमिति तु स्वर्णे सुगन्धो यथा ।
जातः सम्प्रति सत्वरं त्रिजगतामानन्दकन्दाङ्कुरः,
सोऽयं सम्प्रति राजते शिवपुरे विद्याधरः शङ्करः ॥५॥

एतल्लोकदृशा मयाप्यभिहितं नो जानता तत्त्वत-
स्तस्मात्सम्प्रति वस्तुतस्तु कथये विज्ञाय तत्त्वेन तु ।
कर्त्तुं पादयुगं क्षमं पदमिदं नालं स्वयं भूषितं,
सत्येवं सुमते कियानवसरो हर्षस्य नः कथ्यताम् ॥६॥

एतत्षट्कसुपद्यपुष्परचना मालेयमाविष्कृता,
संख्यासम्मितवादरायणमतप्राप्तप्रमाणान्विता ।
नामख्यापितधीरभावभवतः कण्ठे बुधैरर्पिता,
मोदायास्त्वभिनन्दनप्रतिनिधिश्चित्ते चिरं प्रार्थ्यते ॥७॥

बालबोधमिश्रः
(सभापतिः—मै० वि० स०, काशी)

अभिनन्दकाः—
काशीस्थमैथिलविद्वज्जन—
समितिसदस्याः ।

———

❋ श्री विश्वनाथश्शरणम् ❋

श्रीमतान्तत्र भवतां महामहिमशालिनां वेदविद्यावताराणां भारतप्रसिद्ध-विदुषां गौडकुलालङ्काराणां श्रीविद्याधरशास्त्रिमहोदयानां महामहोपाध्यायोपाध्युपलब्धिनिमित्तम्—

शुभाभिनन्दनम्

—:०:—

विज्ञान - शेवधि - समस्त - जगत्प्रसिद्ध-
श्रौतप्रपञ्च – शतपत्र - सहस्ररश्मिः ।
प्रौढ - प्रताप - विमलोद्भव—मञ्जलश्रीः
विद्याधरो गुरुवरः सुचिरं चकास्तु ॥ १ ॥

काशीसंस्कृत-पीठ-सत्प्रभुवरो विद्वज्जनेष्वग्रणीः
मर्मज्ञो निगमागमस्य विनयो, धीराशयो धीनिधिः ।
कोऽप्येषोऽमरभारतीहितकृतां कल्पद्रुमः सर्वथा
भास्वद्भारतवर्ष-हर्षणपरो राराज्यते राजवत् ॥ २ ॥

याते दिवं पितरि तत्तनयोऽपि तद्वल्
लोकोत्तरं पदमुपैतु ऋते भवन्तम् ।
विद्याधरीकृत—जगत्त्रय ! नो द्वितीयं
दृष्टान्तमस्ति किल भूवलये द्वितीयम् ॥ ३ ॥

श्रीगौर'गौड'कुलपङ्कज – चञ्चरीकः
शशाङ्क – भास्वर – समुज्ज्वलकीर्तिकान्तः ।
सारस्वतामृत – निधिः प्रभुदत्ततेजाः
विद्याधरो गुरुवरो विजयं तनोति ॥ ४ ॥

चूडामणिः सकल-भारत-वैदिकेषु
प्राप्ता प्रधानपदवी जगदेकधन्या।
श्रीमान् सदा जयतु देवगिरः प्रचारे
सुस्वागतं वयमिदं भवते वदामः ॥ ५ ॥

वाराणसी }

अभिनन्दकाः—
काशीस्थवैदिककर्मकाण्डमण्डलसदस्याः।

—:०:—

अभिनन्दनम्।

श्रीमन्माननीयानां महामहिमशालिनां श्रौतस्मार्त-धर्ममर्यादा-संरक्षण-विचक्षणानां गौडकुलालङ्काराणां महामहोपाध्यायादि-विविधोपाधि-विभूषितानां स्वर्गीयश्रीमत्प्रभुदत्तशर्म्मतनुजन्मनां वैदिकशिरोमणीनां भारत-प्रसिद्धविदुषामाहिताग्नीनां श्रीमद्विद्याधरशर्म्ममहोदयानां सादरं शुभाभिनन्दनम्।

अयि वैदिकशिरोमणयः!

तत्र भवतां कुलपरम्परया सम्प्राप्त-वैदुष्यवैभवानां, श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठाननिष्ठान्तःकरणानां, साङ्गवेदशास्त्र-परिशीलन-समधिगताशेषशेमुषीकाणां, साम्प्रतिकसंस्कृत-साहित्यसमाजे, भारतीय-संस्कृतिसंरक्षणसंवर्धननिदर्शनानां विविधवेदवेदाङ्गग्रन्थ-प्रणयनप्रकटितप्रतिभाप्रकर्षाणां वैदिकसम्राजां सर्वमाननीयानां श्रीमतां दिगन्तप्रसृतं वेदवैदुष्यं समीक्ष्य भारतीयसम्राट्प्रधानप्रतिनिधिभिः (वाइसरायमहोदयैः) साम्प्रतं सर्वमान्यं 'महामहोपाध्याय' इति पदं श्रीमद्भ्यः प्रदाय यद् रत्नकाञ्चन-संयोगन्यायश्चरितार्थितस्तेन तदीयसमुचितयोग्यायोग्यविवेकशीलतां प्रशंसन्ती प्रमुदितान्तःकरणेयं श्रीकाशीपण्डितसभा "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति" इति भगवदुक्त्यनुसारं श्रीमतां प्रौढगुणग्रामाणां 'शुभाभिनन्दनं' विदधती श्रीकाशीविश्वेश्वरमभ्यर्थयते यत् स भवतामुत्तरोत्तरं समुन्नतिमभ्युदयञ्चिरायुष्यञ्च विदध्यादिति शम्।

सभाकार्य्यालय—
दर्शनविद्यालय, लक्ष्मीकुण्ड, काशी। }

मन्त्री—
श्रीकाशीपण्डितसभायाः।

महामहोपाध्यायपदम् ।

[काशीस्थ 'सूर्योदय' - मासिकपत्रस्य संपादकमहोदयेन सामयिकेऽङ्के तत्र भवतां अग्निहोत्रि-महोदयानां महामहोपाध्यायपदप्राप्त्यवसरे यत् प्रकाशितं तदविकलमिह प्रकाश्यते]

महामहोपाध्यायपदमिदानीं संस्कृतविद्वत्सु बहु प्रतिष्ठितं विद्यते। ये संस्कृतवाङ्मयमहार्णवे महान्तो विद्वांसो भवन्ति तेभ्य एवेदं पदं भारतसम्राट्प्रतिनिधिना वायसराय-महोदयेन समर्प्यते । बहूनीतराण्यपि सम्मानसूचकानि पदानि तत्तदधिकारिभ्यो वितीर्य्यन्ते। परन्तु तान्यन्ययोग्यतासूचकानीति न तादृशसमादरणयोग्यानि। पदमिदन्तु वैदुष्ययोग्यतासूचकमिति भारतीयैर्बहुसमादरणीयं विद्यते। भारते सर्वतोऽपि सरस्वत्याः समादरणं समधिकं भवति। यतो हि सर्वमान्येन विष्णुदेवेनापि सरस्वत्याः समादरः समधिकः कृतो दृश्यते। तथाहि उक्तञ्च श्रीहर्षेण सुकविना—

"स्वानुरागमनघः कमलायां वेदयन्नपि हृदि न्यसनेन।
गौरवं व्यधित वागधिदेव्याः श्रीगृहोर्ध्वनिजकण्ठनिवेशात् ॥"

अस्तु, सम्प्रति पदेनानेन काशीस्था वैदिकशिरोमण्योऽग्निहोत्रिणः श्रीमन्तः पण्डितश्रीविद्याधरगौडमहोदया विभूषिता इति संस्कृतज्ञानां विदुषां प्रमोदस्थानमस्माकम्। इमे हि गौडमहोदयाः सम्प्रति काश्यामद्वितीयाः श्रौतस्मार्तक्रियाकलापानुष्ठापने प्रवीणाः कर्मठाः सन्ति। इमे हि स्वभावतः सरलाः सुविद्वांस एतत्पदयोग्या अस्माकं बहुशो धन्यवादार्हाः। एतेषां पितृपादा अपि एतेन पदेनालङ्कृता आसन्निति विदुषां विशेषसमादरणीयमेतेषां वैदिकप्रवराणामिदं वंशपरम्परावैदुष्यसूचकं पदमिति भूयो भूयो धन्यवादराशिमेतेभ्यो वितरन्तो वयं विरमामो विस्तरात्। (स० सं०)

— :०:—

म० म० पण्डित विद्याधर गौडका जीवन-चरित समाप्त।

❀ इति ❀

महामहोपाध्याय-स्मारक-ग्रन्थः

द्वितीयखण्डः

महामहोपाध्यायपण्डितश्रीविद्याधरगौडलिखितलेखसंग्रहः

॥ श्रीः ॥

वेदस्याध्ययनम्

इह खलु सर्वोऽपि जन्तुरात्मनः सुखप्राप्तिं समीहते दुःखपरिहारं च। उभयमप्येतज्जन्यतामाश्रयते।

अखण्डब्रह्मानन्दात्मकं वर्जयित्वा नित्यसुखमन्यस्य सर्वस्यापि वृत्त्यात्मकस्य सुखदुःखादेर्जन्यतामेवाङ्गीकुर्वते वेदान्तिनोऽपि।

तस्यैतस्य वृत्तिरूपस्य सुखस्यावश्यं केनचित्कारणेन भवितव्यम्।

लोके हि जन्यमात्रं किञ्चन कारणमपेक्षते। अत एव प्रकृतयोः सुखप्राप्तिदुःखपरिहारात्मकयोः कार्ययोरपि यत्किञ्चित्कारणजन्यत्वनियमावश्यम्भावे सति किं तत्कारणमिति कारणगवेषणायां बुद्धिरुदेति। एवं विविधवैचित्र्यशालिनोऽस्य चराचरात्मकस्य जगतोऽपि न केवलं केनचित्कारणेन भाव्यम्; किन्तु तद्गतेन वैचित्र्येणाप्यवश्यं भाव्यमिति निश्चिनुते परीक्षकः परीक्षायां प्रवृत्तः।

तत्र च प्रथमं लौकिकैः प्रमाणैस्तत्परीक्षितुमीहमानस्तत्र तत्र प्रत्यक्षानुमानादिषु बहुशो दृष्टव्यभिचारः स्वप्रवृत्तौ वैफल्यमेव समश्नुते। एवं लौकिकेषु प्रमाणेषु विफलप्रयत्नोऽयमलौकिकं पुरुषबुद्ध्यगोचरं प्रमाणं किञ्चन मृगयते।

अन्विष्य च कञ्चन शब्दराशिमलौकिकार्थवेदकं पुरुषबुद्ध्यसंस्पृष्टं सर्वार्थवद्योतकमुपलभते। उपलभ्य च स्वस्थचित्तो भवति।

स्वस्थचित्तश्च तदुक्तेन पथा यथावदनुतिष्ठति। अनुष्ठाय च स्वेप्सितं प्राप्नोति पदम्, प्राप्तफलश्च सन्तुष्यति।

तत्र योऽयं शब्दराशिरलौकिकार्थवेदकतयाऽनेनोपलब्धः स एव वेदपदाभिधेयः। तत्प्रतिपाद्य एव चार्थो धर्मशब्देन व्यवहारं लभते। स एव चाद्यः पुरुषार्थः सर्वेषां पुरुषार्थानां मूलभूतः।

अत एव च त्रयोऽप्यन्ये पुरुषार्थाः प्रभवन्ति। स एव च सर्वस्यापि श्रेयसः सम्पादकः, दुःखस्य परिहारकश्च। अस्मिन्नेव च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः। उक्तं हि—

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा धर्मेण पापमपनुदति" इति।

इममेव च धर्मं बहुप्रकारं स्वेतरप्रमाणाविषयं जनिमदनुग्रहाय अवबोधयितुं प्रवृत्ता वेदाः। अत एव च तेषां वेदत्वम्।

उपदिशन्ति हि वेदलक्षणमेवमार्याः—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥" इति।

पूर्वोक्तस्य अलौकिकश्रेयःसाधनभूतस्य धर्मस्य प्रमाणान्तरेणैव जिज्ञासमानाः

तदर्थं बहु क्लिश्यन्तस्तत्र च प्रयत्नवैफल्यमवाप्य अन्ते भगवन्तं वेदमेव तद्विषये शरणीकुर्वाणा अस्मत्प्राचीनतमा महर्षयो मन्वादयश्च सर्वज्ञकल्पा अपि—"वेदो धर्ममूलम्" (गौ० ध० सू०), "उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्" (बौ० ध० सू०) "श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः" (वा० ध०), "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनुस्मृतिः) इत्येककण्ठेन वेदस्यैव धर्ममूलतामवोचन् प्रथमम्। अनन्तरं च तदनुसारिणीनां स्मृतीनामपि तदनुसारेणैव प्रामाण्यमवोचन्। तदुभयानुसारिणश्च शिष्टाचारस्य।

एवं च स्मृतेः शिष्टाचारस्य वा यदुक्तं धर्मे प्रामाण्यं तद्वेदाविरोधेनैव।
यदि तु केनाप्यंशेन तयोर्वेदेन सह विरोधः प्रतिभायात्तदाऽग्राह्यतैव स्यात्।
अनेनैव चाभिप्रायेण—

"धर्मज्ञसमयः प्रमाणं तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्" (वा० ध०) इत्यादिकं महर्षयः प्राब्रुवन्। न हि धर्मस्य लौकिकप्रामाण्यग्राह्यं मूर्तिमद्वा स्वरूपं किञ्चिदस्ति।

अत एव च मीमांसकैरपि "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै० सू०), "श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते" (श्लो० वा०) इत्यादि जोघुष्यते।

यद्यपि च यागदानहोमादिक्रियास्वेव धर्मत्वं वदतां क्रियायाः प्रत्यक्षविषयतां चोरीकुर्वतां भाट्टानां मते धर्मस्यापि प्रत्यक्षविषयता प्रसज्ज्यते, तथापि न ते क्रियात्वेन रूपेण धर्मत्वं वदन्ति, किन्तु अलौकिकश्रेयःसाधनत्वेन रूपेण। तच्च स्वरूपं न प्रत्यक्षादिगम्यं किन्तु वेदैकसमधिगम्यं तदनुसारिस्मृत्यधिगम्यं तदनुशीलनैकसंस्कारपरिपक्वशिष्टबुद्धिबोध्यं चेति नान्यदस्ति किञ्चिद् धर्मस्वरूपपरिचायकम्।

इममेवाभिप्रायमनुसन्दधानो भगवान् महर्षिरापस्तम्बोऽपि—

"न हि धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति न देवगन्धर्वाः, न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति, यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः" (७।६-७) इति।

अरण्यसिंहन्यायेन तत्तादृशप्रमाणान्तरानधिगतधर्मस्वरूपावेदकत्वादेव वेदस्य प्रामाण्यं गौरवं च निरतिशयमनुसन्दधते प्रामाणिकाः परीक्षकाश्च। तादृशपुरुषबुद्धिदोषलेशाद्यसंस्पृष्टसर्वज्ञकल्पवेदबोध्यत्वादेव च धर्मे निरङ्कुशं गौरवमाबध्नन्ति। एतादृशमतिगहनवेदगम्यं धर्मस्वरूपं यथावदधिगन्तुमनीशानां मन्दमतीनामनुग्रहायैव, अर्थात् तेऽपि धर्मस्वरूपं यथावदवबुद्ध्य अनुष्ठाय स्वाभिलषितं फलं सुखविशेषं दुःखपरिहारं वा प्राप्य निर्वृतिं भजेयुः, तथा तदनुगृहीतमेव सर्वाण्यङ्गानि शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तज्योतिश्छन्दांसि, उपाङ्गानि पुराणन्यायमीमांसारूपाणि, किं बहुना समस्तमपि संस्कृतं वाङ्मयं भगवन्तं वेदपुरुषमवबुद्ध्यैव वेदार्थमुपबृंहितुं वेदप्रतिपाद्यं धर्मस्वरूपं सरलेन सन्दर्भेण विवरीतुमाख्यायिकोपाख्यायिकादिकथनपूर्वकं

तेषु तेषु धर्मेषु तत्तदधिकारिणो जनान् प्रवर्तयितुमेव च लोके प्रवृत्तम् ।

न केवलं संस्कृतवाङ्मयम्, भाषामया अपि ग्रन्था भारतदेशीयाः सर्वेऽपि तमेवार्थं विवृण्वन्ति वहुभिः प्रकारैः ।

इतश्च सर्वोऽप्यास्माकीनः शब्दसन्दर्भः साक्षात्परम्परया वा भगवतो वेदपुरुषस्य अवयवत्वमेव समश्नुत इति वस्तुतः पर्यालोच्यमाने भगवतः सर्वव्यापिनः सर्वशक्तिमतः परमेष्ठिनोऽपेक्षया भगवति तत्तादृशे वेदपुरुषेऽन्यूनां मतिं गौरवं चादधाना वयं मन्यामहे नानौचित्यभागियमस्माकं मतिरिति ।

एवं च सर्वेषां प्राणिनां साक्षात्परम्परया वा निखिलपुरुषार्थप्रापको धर्मः यथाधिकारम् ।

स च धर्मो यथावदवगन्तुं शक्यते वेदादेव । वेदादेव च तदनुसारिप्रमाणेभ्योऽवगतो यथानियममनुष्ठितश्च यथाविधि प्रयोजनाय कल्पते ।

स च वेदो विधिवदधीत एव स्वार्थमवबोधयन् फलत्यभिलषितं फलम् ।

नियमरहितेन सन्नधीतोऽपि वा सनियममध्ययनं विना (गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमत्राध्ययनमभिप्रेतम्) पुस्तकपाठादिना गृहीतः सुबह्वभ्यस्तोऽपि, कर्मणि यथाविधि प्रयुक्तोऽपि न किञ्चन फलं प्रसूते ।

अतो ये केचनेदानीं वेदाध्ययनाङ्गतया स्मृत्यादिविहितान् निखिलानपि नियमान् दूरीकृत्य यथाकथञ्चिद्रघुवंशादिकाव्यवत्कृतधारणास्तमेव च शब्दराशिं कर्मसु प्रयुञ्जाना निःसारेण तेन शब्दराशिना कर्मणि प्रयुक्तेन तदनुसारेण कृतेन प्रसूतं किमपि फलमपश्यन्तः कर्मण एव वैदिकस्य वैफल्यं, मन्त्राणां निःसारतां वाऽभिदधतः श्रद्धालून् जनान् मोहयन्ति; तदिदं तेषामात्मदोषाज्ञानमेव 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' इति न्यायमनुसरताम् ।

प्रतिदिनमेषा दुर्दशा प्रवर्द्धते वैदिकस्य मार्गस्य । नूनमियं निरोद्धव्या धार्मिकैः श्रद्धालुभिर्वेदमार्गनिरतैः ।

एतावतेदमधिगतम्—यद् यथानियममधीतादेव वेदादर्थज्ञानं सम्पाद्य कर्माण्यनुष्ठेयानि । तादृशा एव मन्त्राः कर्मसु प्रयोक्तव्याः, तादृशान्येव च कर्माणि स्वं स्वं फलं दातुमीशते, नान्यथा ।

यथा अङ्कुरजननसमर्था शक्तिमात्मनि दधाना अपि व्रीह्यादयो देशकालसंस्कारादिरहिता नाङ्कुरं जनयन्ति, तद्वत् कर्मापि फलजननशक्तिसामर्थ्यविशिष्टं सदपि विगुणमनुष्ठितं चेन्नैव फलं ददाति । अतो धर्मतः फलं प्रेप्सुभिः पुरुषैः प्रथमतो वैगुण्यनिराकरणे यतितव्यम् । अतएवोक्तं शबरस्वामिना—

"स यथावदनुष्ठितः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति" इति ।

अतः पुरुषाभिलषितसर्वश्रेयःप्रापको धर्मः, स च वेदैकसमधिगम्यः । वेदोऽपि बहुधा विभिन्नो विध्यर्थवादमन्त्रनिषेधनामधेयात्मना सर्वांशेनापि धर्ममेवाभिवदति ।

विधिर्हि धर्मस्वरूपं तदङ्गं द्रव्यं देवतामन्यद्वा विदधाति । अर्थवादोऽपि तमेव स्तौति पुरुषस्य रुच्युत्पादनद्वारा तत्र तं प्रवर्तयितुम् । मन्त्रो हि अनुष्ठानकाले उच्चारितः सन् तमेव स्मारयति धर्मम् । निषेधोऽपि च अधर्मस्वरूपं ज्ञापयन्

तदितरस्य धर्मतामाक्षिपति। नामधेयमपि कर्मणः संज्ञारूपमितरस्माद् धर्मस्वरूपं व्यावर्तयत् सङ्कल्पव्यवहारादौ साहाय्यमाचरति।

अतएव च तत्र तत्र सूत्रकारो भगवान् जैमिनिः "तद्भूतार्थानां क्रियार्थेन समाम्नायः, आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्, उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं स्यात्" इत्यादि बहुत्र वदति।

एवं च वेदस्य एकैकोऽप्यंशो धर्मप्रतिपादकतां न व्यभिचरति, तद्द्वारा पुरुषस्य श्रेयःप्राप्तिसम्पादनान्न हीयते। तेनैव चात्मानं कृतार्थं मनुते। अतएव भगवान्मनुरपि—

"वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।"

इति स्पष्टमूचे। अतः सर्वात्मना पुरुषनिःश्रेयसकरं वेदं यथावधीत्य यथानियमं च तदर्थं ज्ञात्वा यथाविधि यथाधिकारं च तानि तानि कर्माण्यनुष्ठाय जनाः स्वाभिलषितां सुखप्राप्तिं दुःखपरिहारं वा प्राप्नुयुरित्याशास्महे। सर्वमिदं कुक्षौ कृत्वैवाभिदधति स्मास्मदाचार्याः पूर्वतनाः—

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इति।

वेदापौरुषेयत्वम्

इदानीं स मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदपदाभिधेयोऽस्मादृशैः पुरुषैः प्रत्यक्षादिप्रमाणैरगतानर्थान् परान् प्रत्याययितुं तदावेदकशब्दान् सङ्ग्रथ्य वेदात्मना विरचितः, उत सर्वज्ञेन सर्वशक्तिमता परमेश्वरेण विरचय्य लोके प्रख्यापितः। अथवा कालाकाशादिवत् नित्य एवायं शब्दराशिः केनापि नोत्पादित इति विचार्यते।

तत्र केचिदेवमाशेरतेऽधुनातनाः पाश्चात्याः पण्डिताः—(१) योऽयं मन्त्रब्राह्मणात्मना द्विधा विभक्तो ग्रन्थराशिरार्याणां धार्मिकेषु ग्रन्थेषु उच्चतमां कोटिमधितिष्ठति, स आर्यावर्तनिवासिभिः प्राचीनैर्बहुवेदिभिर्महर्षिभिरेव तात्कालिकीं परिस्थितिमपरोक्षीकृत्य तामेव च ग्रन्थारूढां कर्तुमारचितो ग्रन्थराशिरेव। अतएव यत्र ते न्यवात्सुः, तत्रत्यानां नदीनां पर्वतानां च नामानि बहून्युल्लिखितानि। तत्काले च या या देवतास्तेषां मनसि स्फुरिता आसन् तास्तास्तैः स्तुता मन्त्रेषु। त एव मन्त्रा एकत्र सङ्ग्रथीकृता ऋग्वेद इत्युच्यते। अयमेव ऋक्संहिता इति चोच्यते। सर्वापेक्षया प्राथमिकोऽयं ग्रन्थः। गच्छति च कस्मिंश्चन काले ततो यजुर्वेदस्तत्कुलीनैरेव कैश्चिन्महर्षिभिरारचित इत्यादि। तत्रापि च मन्त्रभागानां प्रथमं निर्माणम् पश्चाद् ब्राह्मणभागानाम्। एवं मन्त्रब्राह्मणयोर्महर्षि-

(१) मेकडानलप्रभृति।

प्रणीतत्वे सिद्धे कोऽसौ कालो भवितुमर्हति यत्र वेदाः प्रणीता इति जिज्ञासायां समुदितायाम् ईसवीयशताब्द्याश्चतुःसहस्रेभ्यो वर्षेभ्यः पूर्वं नैवासन् वेदाः। तदनन्तरमेव सर्वेऽपि वैदिका ग्रन्थाः समारचिताः। अतश्च ईसवीयाब्दारम्भात्पूर्वं चतुःसहस्र्यभ्यन्तरकाल एव रचनाय समारब्धो वेदराशिः क्रमशस्तैर्महर्षिभिरारचितः प्रवृद्धिं गतः। तादृशी च रचना ईसवीयशताब्द्यवधि किञ्चित्कालपर्यन्तमपि अनुवृत्ताऽभूत्। तत्रापि मन्त्राणां रचनं पूर्वं, ततो ब्राह्मणभागस्येति।

अत्रेदमार्यावर्तनिवासिभिः सूक्ष्मेक्षिकया विचारणीयम्। इतो वर्षसहस्र-द्वितयात्पूर्वं भगवान् पतञ्जलिरासीत् इति तैरेव पाश्चात्यपण्डितवर्यैर्निर्णीतं बहुत्र बहुभिः। ततोऽपि बहुप्राचीनकालं समलंकृतवान् महर्षिर्जैमिनिः। ततोऽपि प्राचीनतमः कश्चन मीमांसाचार्यः काशकृत्स्निरासीत् इति भगवत्पतञ्जलिभाष्या-लोकनेनैवावगम्यते। यत उक्तं तैः

"काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी" (पा० ४।१।१ आ०) इति।

पाणिनिसमकालिकेन महर्षिणा कात्यायनेनापि स्वग्रन्थेऽनूदितोऽयं काशकृत्स्निः।

"सद्यस्त्वं काशकृत्स्निः" (४।३।१७) इति।

पाणिनिकालश्च खिष्टजन्मतः पूर्वं सप्तमी शताब्दीति तैरङ्गीकृतम्। यद्यपीदं नास्मन्मनो रञ्जयति, यतः सत्यव्रतसामश्रमिणा निरुक्तालोचने कलेरष्टम्यामेव शताब्द्यां खिष्टजन्मतश्च प्राक् चतुर्विंशतिशताब्द्यामिममार्यावर्तं भूषयामास पाणिनिरिति बहुभिः प्रमाणैरुपपादितम्, तथापि पाश्चात्यपण्डितोक्तिपर्यालोचन-याऽपि इदं स्पष्टमवगम्यते—भगवान् काशकृत्स्निराचार्य इतो वर्षसहस्रत्रितयात्पूर्वं भूमिमिमामलञ्चकारेति। तेन च वेदानामपौरुषेयत्वं साधितमेव भवेदित्यप्यभ्यूह्यते।

यद्ययमभ्यूहः समञ्जसः स्यात्तदा तेनापि काशकृत्स्निना वेदकर्ता कश्चित् नैव श्रुतो न केवलम्, किन्तु अपौरुषेयत्वमेव तदानीं प्रथितमासीत् इत्यप्यभ्युपगन्त-व्यम्। यदि नाम तत्कालाद् वर्षसहस्रात्पूर्वं वेदा रचिता अभविष्यन्, तदा कथं नाम नास्मरिष्यन् तदानीन्तनाः पुरुषाः, विशेषतो महर्षिराचार्यः काशकृत्स्निः सर्वज्ञकल्पः? वयमल्पमतयोऽपि यदि नाम इतो वर्षसहस्रत्रितयात् वर्षसहस्रचतु-ष्टयाद्वा पूर्वकालिकमितिहासमनुमातुं शक्नुयाम, तर्हि को नाम तादृशो महान् प्रतिबन्ध एषामासीत् स्वपूर्वकालिकेतिहासपरिज्ञाने, येन ते सर्वथा तमपरिज्ञाय वेदेऽपौरुषेयत्वं साधयन्ति। अन्तेऽपि प्राचीनकालिकैस्तत्तच्छास्त्राणां प्रवर्तयितृभि-र्महर्षिभिः कैरपि वेदकर्ता न ज्ञात इति पूर्वोक्तैः प्रमाणैरवगम्यते। अतएव चात्र बहुपरिश्रान्तैर्मीमांसकैः प्राचीनैः सूत्रकारैस्ततः किंचिदर्वाचीनैर्भाष्यकारादिभिश्च वेदेऽपौरुषेयत्वस्वीकरणं विना नान्या गतिरस्तीति मत्वैव तदङ्गीकृतम्।

जैमिनिर्हि भगवान् पौरुषेयत्वखण्डनप्रस्तावे सूत्रयति—

"उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्" (१।१।२९) इति।

तस्यायमभिसन्धिः—वयं तावत्पश्यामः, ये नाम अधीयते वेदमिदानीन्तनाः,

सर्वेऽपि ते गुरुमुखादेवाधीयते, ये च तेषामध्यापयितारो गुरवस्तेऽपि स्वगुरोः सकाशादधीत्यैवाध्यापयन्ति, न पुस्तकादिकं स्वयं दृष्ट्वा। एवमेव सर्वदाऽपि इयमेवाध्ययनपरम्परा प्रचलति स्म इत्यनुमातुं शक्यते। इदमेव चानुमानमेतत्सूत्राऽभिप्रायभूतं विस्पष्टयति स्म वार्तिककारः—

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा॥" (श्लो० वा० वाक्याधि० ३६६)

इत्यनेन वार्त्तिकेन।

एवं च न कदापि तादृशः काल आसीत् यत्र वेदा वा तदध्ययनं वा नासन्। किन्तु सार्वादिकोऽयं व्यवहारः प्रवर्त्तते स्म।

किञ्च वयं ग्रन्थराशिमिममध्ययनेनाध्यापनेन वा मात्रामात्रमप्यपरित्यज्य पालयामः। तत्तादृशैः सर्वैरीश्वरतुल्यतया संरक्ष्यमाणस्य पूज्यमानस्य ग्रन्थस्य यदि कर्ताऽपि कश्चित्स्यात् तर्हि कथं तं वयं प्रस्मर्तुमीश्महे परित्यक्तुं वेति।

केचिदाशेरते—पुरुषनिर्मितत्वाङ्गीकारे दौर्बल्यं मन्यमानैस्तत्र दार्ढ्य-सम्पादनायैव पौरुषेयत्वं जानद्भिरेव भवद्भिः स कर्त्ताऽपह्नुत इति।

नेदं प्रेक्षावतां बुद्धिमनुरञ्जयति। यतो वयं भारतीया धर्मलिप्सवोऽद्यापि भारत-भागवतादीन् ग्रन्थान् पुरुषकृतत्वेन निःसंशयं जानन्तोऽपि तत्र सुतरामादराति-शयमेव प्रकटीकुर्मः। पुरुषकृतत्वमभ्युपगच्छद्भिरपि व्यासवाल्मीकिप्रभृतिभ्योऽ-न्यूनमहिमभिरेव महर्षिभी रचितो वेदराशिरित्यभ्युपगन्तव्यं भवति। यद्येवं तादृशेषु महर्षिषु तत्र तेषु वा ग्रन्थेषु को नाम धार्मिकः पुरुषोऽनादरमाविष्कर्तुं प्रभवेत्, तानेकान्ततो विस्मरेद्वा। अतोऽवश्यं स्मर्तव्यानां पुरुषधौरेयाणां वेदकर्तॄणां कदापि यदा विस्मरणमद्यत्वे पूर्वतने वा नासीत्, तदा अस्य वेदराशेर्नास्त्येव कर्तेति निश्चय एव साधीयान्। कर्तुरुच्छेदो हि क्वचिद्देशस्यैवोच्छेदेन वा अध्येतृपुरुषाणां सर्वनाशेन वा भवितुमर्हति। न तदुभयमत्र संभाव्यते। यतो वयं तामेवानु-पूर्वीमक्षरराशिं च तादृशमेवेदानीमप्यधीमहे। तत्र कर्ता परं विस्मृत इति साहस-मात्रमिदम्। अत एव दृश्यादर्शनबाधितोऽयं वेदेषु कर्ता।

ये तावदस्मानेवोपहसन्ति—भवतामेव केचन तीर्थकारा वेदस्येश्वरकृतत्व-मुद्घोष्य पौरुषेयतां विस्पष्टं साधयन्ति, कथं भवद्भिरन्यो देशान्तरीय उपालभ्यतेऽस्मि-न्विषय इति, तान्प्रति इदमेव प्रतिवक्तुमभिलषामो वयम्, न तैस्तीर्थकारैः सहा-स्माकं विरोधः। नहि ते अस्मादृशपुरुषकृतत्वमर्वाचीनकालिकत्वं वा वेदस्याभ्यु-पगच्छन्ति। किन्तु सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्यैव तदङ्गीकुर्वते। नैतावता पञ्चषसहस्रेभ्यो वर्षेभ्यः पूर्वं नासीद्वेदराशिरित्यवगम्यते। न वयं पाश्चात्या इव ततः पूर्वं जगदभाववादिनः। अस्माकं तु कल्पा बहवः, तेऽपि कल्पपूर्वाः। अतोऽ-स्मिन् कल्पे वेदराशिरयं प्रथमं निर्मित इति केन वा सूक्ष्ममतिनाऽपि वक्तुं शक्यते।

नत्परत्वमेकेरणं तावत् वेदभाग... ...भिन्ना ... ध्यायके—"वेदा

(जै० १।१।२७) इति प्रथमं सूत्रम् । एके नैयायिकादयीयते"

मन्यन्ते । यतस्ते पुरुषाणां कठकलापादीनां नाम्ना व्यव। पूर्वमन्वन्तरस्थितानुपूर्वी-

वेदभागस्य सर्वस्यापि पुरुषकृतत्वं पूर्वपक्षितम् । अन...मेव । अतो वेदराशेरीश्वर-

(जै० १।१।२८) इत्यपरं सूत्रम् । अनित्यानां जराम... मीमांसकेभ्यो नातिदूरं

दर्शनादपि वेदानामनित्यत्वमिति तदर्थः । अनेन सूत्रेण ... साधयितुं शक्यते । किन्तु

(तै० सं० ७।२) "कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत" (शब्दराशेः तदानुपूर्व्या वा

ब्राह्मणवाक्यान्येवाभिसंहितानीत्यवगम्यते । तथैव च...त्वासंभवात् ईश्वरमेव

सर्वैरपि ।

यदि पूर्वसूत्रे जैमिनिर्भगवान् मन्त्रभागस्यैव वेदत्वम... ...कशब्दसन्दर्भस्य पुरुष-

... ...णभागसङ्ग्राहकमारचयिष्यत । "वेदसंयोगात्" (जै० ... ...मः । सर्वं तु प्रमाण-

स... ... निश्चेतुं शक्नुमः ।

लौ... तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्यं दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भ... तत्र सकर्तृकता-

मङ्गी... ...सुवर्णधारणस्य वेदेन सह संयोगोऽभिधीयते । अत्र ...निगोचरतामापादयि-

तुमीश्मह ... उत क्रत्वर्थत्वम् (२) इति सन्दिह्य वेदे 'आध्वर्यवभगतोऽर्थः स्वमनीषया

कल्पयितुं शक्य... =सम्बन्धात् तस्य चाग्निहोत्रादिधर्मविधा वैदिकशब्दे तदपोद्यत

इति कर्तारं निषेध... ...ति पूर्वपक्षाशयः । यदि ब्राह्मणभागस...दवगच्छामो, न

कृत्वा संबन्धं व्यवहा... ... सुवर्णधारणस्य कथं वेदसंयोग... ...द्यपि च विस्म-

रणमुपपद्येत तथापि न ... ...२), "वेदसंयोगान्न प्रकरणे... ...तपद्येमहि । यथा

विद्यमानस्याप्यनुपलम्भो भवतीति, ...देशं स्युः" (जै० ३।७ ... ...विना प्रमाणेन शशविषाणं

प्रतिपद्यामहे" (शा० भा० १।१।५) (१) इति ।

"येऽपि हि पौरुषेयतां मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेष-स्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम् । सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति, केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम् । न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत्स्मर्यमाणे कथंचिदवकल्पते । नहि मानवे भारते शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेषं प्रति कश्चिद्विवदते । तस्मात्स्मर्तव्यत्वे सति अस्मरणाददृश्यादर्शनबाधितं सामान्यतो दृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम्" (शास्त्र दी० १।१।८) इति च (२) भाष्य-शास्त्रदीपिकादिग्रन्थैर्निपुणतरमुपपादितः । अतोऽस्मत्प्राचीनानामस्माकं च अद्य यावदयमेव निर्णयो—वेदः सर्वथा न कृत्रिम इति ।

---

(१) चौखम्भासंस्कृतसीरिजमुद्रितपुस्तके पृ० १२ द्रष्टव्यम् ।

(२) निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके पृ० १६२ द्रष्टव्यम् ।

सर्वेऽपि ते गुरुमुखादेवाधीयते, ये च तेषामध्यापयितारो गुरवस्तेऽपि स्वगुरोः सकाशादधीत्यैवाध्यापयन्ति, न पुस्तकादिकं स्वयं दृष्ट्वा। एवमेव सर्वदाऽपि इयमेवाध्ययनपरम्परा प्रचलति स्म इत्यनुमातुं शक्यते। इदमेव चानुमानमेतत्सूत्राऽभिप्रायभूतं विस्पष्टयति स्म वार्तिककारः—

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा॥" (श्लो० वा० वाक्याधि० ३६६)

इत्यनेन वार्त्तिकेन।

एवं च न कदापि तादृशः काल आसीत् यत्र वेदा वा तदध्ययनं वा नासन्। किन्तु सार्वादिकोऽयं व्यवहारः प्रवर्त्तते स्म।

किञ्च वयं ग्रन्थराशिमिममध्ययनेनाध्यापनेन वा मात्रामात्रमप्यपरित्यज्य पालयामः। तत्तादृशैः सर्वैरीश्वरतुल्यतया संरक्ष्यमाणस्य पूज्यमानस्य ग्रन्थस्य यदि कर्ताऽपि कश्चित्स्यात् तर्हि कथं तं वयं प्रस्मर्तुमीश्महे परित्यक्तुं वेति।

केचिदाशेरते—पुरुषनिर्मितत्वाङ्गीकारे दौर्बल्यं मन्यमानैस्तत्र दाढ्र्य-सम्पादनायैव पौरुषेयत्वं जानद्भिरेव भवद्भिः स कर्त्ताऽपह्नुत इति।

नेदं प्रेक्षावतां बुद्धिमनुरञ्जयति। यतो वयं भारतीया धर्मलिप्सवोऽद्यापि भारत-भागवतादीन् ग्रन्थान् पुरुषकृतत्वेन निःसंशयं जानन्तोऽपि तत्र सुतरामादराति-शयमेव प्रकटीकुर्मः। पुरुषकृतत्वमभ्युपगच्छद्भिरपि व्यासवाल्मीकिप्रभृतिभ्योऽ-न्यूनमहिमभिरेव महर्षिभी रचितो वेदराशिरित्यभ्युपगन्तव्यं भवति। यद्येवं तादृशेषु महर्षिषु तत्र तेषु वा ग्रन्थेषु को नाम धार्मिकः पुरुषोऽनादरमाविष्कर्तुं प्रभवेत्, तानेकान्ततो विस्मरेद्वा। अतोऽवश्यं स्मर्तव्यानां पुरुषधौरेयाणां वेदकर्तॄणां कदापि यदा विस्मरणमद्यत्वे पूर्वतने वा नासीत्, तदा अस्य वेदराशेर्नास्त्येव कर्तेति निश्चय एव साधीयान्। कर्तुरुच्छेदो हि कचिद्देशस्यैवोच्छेदेन वा अध्येतृपुरुषाणां सर्वनाशेन वा भवितुमर्हति। न तदुभयमत्र संभाव्यते। यतो वयं तामेवानु-पूर्वीमक्षरराशिं च तादृशमेवेदानीमप्यधीमहे। तत्र कर्ता परं विस्मृत इति साहस-मात्रमिदम्। अत एव दृश्यादर्शनबाधितोऽयं वेदेषु कर्ता।

ये तावदस्मानेवोपहसन्ति—भवतामेव केचन तीर्थकारा वेदस्येश्वरकृतत्व-मुद्घोष्य पौरुषेयतां विस्पष्टं साधयन्ति, कथं भवद्भिरन्यो देशान्तरीय उपालभ्यतेऽस्मि-न्विषय इति, तान्प्रति इदमेव प्रतिवक्तुमभिलषामो वयम्, न तैस्तीर्थकारैः सहा-स्माकं विरोधः। नहि ते अस्मादृशपुरुषकृतत्वमर्वाचीनकालिकत्वं वा वेदस्याभ्यु-पगच्छन्ति। किन्तु सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्यैव तदङ्गीकुर्वते। नैतावता पञ्चषसहस्रेभ्यो वर्षेभ्यः पूर्वं नासीद्वेदराशिरित्यवगम्यते। न वयं पाश्चात्या इव ततः पूर्वं जगदभाववादिनः। अस्माकं तु कल्पा बहवः, तेऽपि कल्पपूर्वाः। अतोऽ-स्मिन् कल्पे वेदराशिरयं प्रथमं निर्मित इति केन वा सूक्ष्ममतिनाऽपि वक्तुं शक्यते।

...ीयते"

...। पूर्वमन्वन्तरस्थितानुपूर्वी-
...मेव । अतो वेदराशेरीश्वर-
... मीमांसकेभ्यो नातिदूरं
... साधयितुं शक्यते । किन्तु
...ब्दराशेः तदानुपूर्व्या वा
...त्वासंभवात् ईश्वरमेव

...कशब्दसन्दर्भस्य पुरुष-
...मः । सर्वं तु प्रमाण-
स... निश्चेतुं शक्नुमः ।
लौ... तत्र सकर्तृकता-
मङ्गी... ...ानगोचरतामापादयि-
तुमीश्मह... ...गतोऽर्थः स्वमनीषया
कल्पयितुं शक्य... वैदिकशब्दे तदपोद्यत
इति कर्तारं निषेध... ...ादवगच्छामो, न
कृत्वा संबन्धं व्यवहा... ...द्यपि च विस्म-
रणमुपपद्येत तथापि न ... ...तिपद्येमहि । यथा
विद्यमानस्याप्यनुपलम्भो भवतीति, ...विना प्रमाणेन शशविषाणं
प्रतिपद्यामहे" (शा० भा० १।१।५) (१) इति।

"येऽपि हि पौरुषेयतां मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेष-स्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम् । सामान्यतोदृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति, केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम् । न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत्स्मर्यमाणे कथंचिदवकल्पते । नहि मानवे भारते शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेषं प्रति कश्चिद्विवदते । तस्मात्स्मर्तव्यत्वे सति अस्मरणाद्दृश्यादर्शनबाधितं सामान्यतो दृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम्" (शास्त्र दी० १।१।८) इति च (२) भाष्य-शास्त्रदीपिकादिग्रन्थैर्निपुणतरमुपपादितः । अतोऽस्मत्प्राचीनानामस्माकं च अद्य यावदयमेव निर्णयो—वेदः सर्वथा न कृत्रिम इति ।

---

(१) चौखम्भासंस्कृतसीरिजमुद्रितपुस्तके पृ० १२ द्रष्टव्यम् ।

(२) निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके पृ० १६२ द्रष्टव्यम् ।

सति चैवं वेदे मन्त्रभागे …
मन्येषां वा पुरुषविशेषाणां …
तेषामुपपत्तिरिति सत्यमिदं …
सन्दधति - वेदे यानि ना …
केषांचिद्राज्ञां पुरुषविशेषाणां …
श्रुतिः संव्यवहारार्थं प्र …
स्म । तानि च वेदारूढानि …
नामत्वेन तदाचरितत्वेन …
साक्षात्प्रजापतिरेव । त …
एभिः स्वनामत्वेन परिव … ।

"वेदेन नाम …
"सर्वेषां तु … ।४
वेदशब्देभ्य … २।६२)

इत्याद्याः श्रुतिस्मृत …

यद्यपीदमाधुनिका …
विशेषाणां केषाञ्चन प … सर्गाकलितसंस्कार-
अत्र परिश्राम्यता म … । पदं निदधाति, तथापि
कमपि पूर्वाचार्येषु अ … ढो निश्चय आसीत्, यश्चास्मा-
वतां पुरतो निक्षिप्तो दृष्टः इतस्त … कम्पनीयोऽद्य यावद्वर्वर्त्ति, स प्रेक्षा-

ब्राह्मणभागस्यापि वेदत्वम्

अस्मत्प्राचीनतमा महर्षयः कल्पसूत्रादिकारास्तीर्थकृतश्च मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदत्वं निःसंशयमभिदधति । भगवता बौधायनेन "मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः" (बौ० गृ० २।६२) इति स्वकीये धर्मसूत्रे, "आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि" (कौ० सू० १।३) इति कौशिकेन, आपस्तम्ब-कात्यायनाभ्यां च "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आप० यज्ञप० २४।१।३१, कात्या० प्रतिज्ञाप० १।१) इत्युभयोरपि भागयोर्वेदत्वमभ्युपगतम् । अतिगहने दुरधिगमानेकमार्गगभीरे अपरिमेयान्तःसारे वेदकान्तारे स्वच्छन्दं विहरता जैमिनिकेसरिणाऽप्ययमेवाशयः साधु सङ्घटितः स्वकीये मीमांसादर्शने । एतदुपोद्बलकानि कानिचन तदीयानि सूत्राण्युदाह्रियन्ते—अपौरुषे-

...करणं तावत् वेदभाग... ...ध्यायके—"वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः" (जै० १।१।२७) इति प्रथमं सूत्रम्। एके नैयायिकादयो वेदान् सन्निकृष्टकालकृतान् मन्यन्ते। यतस्ते पुरुषाणां कठकलापादीनां नाम्ना व्यवह्रियन्ते इति तदर्थः। तत्र वेदभागस्य सर्वस्यापि पुरुषकृतत्वं पूर्वपक्षितम्। अनन्तरम्—"अनित्यदर्शनात्" (जै० १।१।२८) इत्यपरं सूत्रम्। अनित्यानां जरामरणवतां बबरादीनां पुरुषाणां दर्शनादपि वेदानामनित्यत्वमिति तदर्थः। अनेन सूत्रेण "बबरः प्रावाहणिरकामयत" (तै० सं० ७।२) "कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत" (तै० सं० ७।२२) इत्यादीनि ब्राह्मणवाक्यान्येवाभिसंहितानीत्यवगम्यते। तथैव चोदाहृतं भाष्यकारादिभिः सर्वैरपि।

यदि पूर्वसूत्रे जैमिनिर्भगवान् मन्त्रभागस्यैव वेदत्वममंस्यत कथं सूत्रमिदं ब्राह्मणभागसङ्ग्राहकमारचयिष्यत। "वेदसंयोगात्" (जै० ३।४।२२) इति सूत्रेणापि "तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्यं दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति" इति वाक्यविहितस्य सुवर्णधारणस्य वेदेन सह संयोगोऽभिधीयते। अत्र हि सुवर्णधारणस्य पुरुषार्थत्वम् (१) उत क्रत्वर्थत्वम् (२) इति सन्दिह्य वेदे 'आध्वर्यवम्' इति समाख्याते (३) वेदभागे संयोगात्=सम्बन्धात् तस्य चाग्निहोत्रादिधर्मविधायकत्वात् तादृशकर्मधर्मएवेदं सुवर्णधारणमिति पूर्वपक्षाशयः। यदि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं नाभविष्यत् तादृशब्राह्मणवाक्यविहितस्य सुवर्णधारणस्य कथं वेदसंयोग उपापत्स्यत। एवं "वेदो वा प्रायदर्शनात्" (३।३।२), "वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत" (३।३।८), "वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः" (जै० ३।७।५०), "संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन्" (जै० ३।८।३) इत्यादीनि सूत्राणि ब्राह्मणभागस्यापि वेदत्वं परिपोषयन्ति। एतेषामर्थो नात्र विस्तरभयाल्लिख्यते। स च शाबरभाष्यादिमीमांसाग्रन्थतोऽवगन्तव्यः। एवं सर्वैरपि सूत्रकारैर्महर्षिभिर्मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि वेदत्वं निःशङ्कमभ्युपगतम्।

अत्र केचिदेवं प्रत्यवतिष्ठन्ते—बौधायन-कात्यायनापस्तम्बादिमहर्षीणां तावत् मन्त्रब्राह्मणयोरुभयत्रापि वेदत्वमभिमतमासीत्, तन्मतानुयायिभिश्च सायणादिभिराचार्यैरपि तदेवोररीकृतम्। परन्तु केचिदाधुनिका ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव "य एवं वेद" (तै० ब्रा० ३।८।६, श० ब्रा० १।६।३।१३) इति बहुत्र दर्शनाद् ब्राह्मणग्रन्थानामेव प्रथमं वेदपदाभिधेयता उपक्रान्ता। ततो गच्छति महति काले मन्त्रेष्वपि वेदशब्दः

---

(१) पुरुषाभिलषितफलजनकत्वं पुरुषार्थत्वम्।

(२) क्रत्वपेक्षितोपकारजनकत्वं क्रत्वर्थत्वम्।

(३) श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यारूपेषु षट्सु प्रमाणेषु अन्तिमं प्रमाणं समाख्या। सा च यौगिकशब्दरूपा।

प्रयोक्तुमुपक्रान्तः । अस्माभिस्तु मन्त्रभागस्य ... ...वेदपदवाच्यता । तत... ब्राह्मणेऽपि स प्रयुक्त आसीत्, यतो हि वेदशब्दो विद्यापरपर्यायः । मन्त्रभाग एव च सर्वासां विद्यानां निदानमासीत् । अतश्च कारणाद् विद्याऽपरपर्यायवेदशब्दवाच्यत्वं मन्त्राणामेवाभिप्रेयते । सूत्रकाले परं मन्त्रब्राह्मणयोरुभयत्रापि वेदशब्दः प्रयुक्त आसीत्—इति । तत्र च ददति च बहूनि प्रमाणानि "वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ" (शु० य. १९।७८), "यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपाः' (अ० ४।७।६), "त्रयो-वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सामवेद आदित्यात्" (ऐ. ब्रा. २५।७), "वेदा वा एते अनन्ता वै वेदाः" (तै. ब्रा. ३।१०।११।४), "स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमप्याथर्वणं चतुर्थम्" (छां. ७।१।२) इत्यादीनि । एवमुदाहृतेषु प्रमाणेषु श्रूयमाणो वेदशब्दस्त्रयीमन्त्रपरकः । अतश्च त्रय्यपरपर्यायो वेद-शब्दो मन्त्रभागमेवाभिधत्ते, न ब्राह्मणभागमिति तेषामभिसंहितम् ।

अत्रेदं विचार्यते प्रथमं तावदिदंवादिन एवं पृच्छामः—त्रयीशब्दो मन्त्रमात्र-परक इति कथमेभिरवगतमिति । यान्येभिरुदाहृतानि वाक्यानि "त्रयो वेदा अजा-यन्त" इत्यादीनि, तेषु वेदशब्दो मन्त्रब्राह्मणोभयपरको नेत्यत्र किं प्रमाणम् । इमान्येव वाक्यान्युदाहृत्य जैमिनिना द्वितीयाध्याये तृतीये पादे प्रथमाधिकरणे विचारितम्—"उच्चैर्ऋचा क्रियत, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना" (ऐ० ब्रा० ५।५।५) इत्यादि-वाक्यविहितानामुच्चैस्त्वादीनां ऋङ्मात्रधर्मत्वम्, उत ऋग्वेदादिविहितकर्मधर्मता ? इति । तत्र ऋगादिशब्दानामपि ऋग्वेदपरत्वं बहुत्र श्रुतमिति भाष्यकारेणोदाहृतम्—यथा "ऋगादयः शब्दाः शक्नुवन्ति वेदमभिवदितुमिति ऋग्भिः पूर्वाह्णे देव-ईयते, यजुर्वेदे तिष्ठति मध्य अह्नः, सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशून्यस्त्रि-भिरेति सूर्यः" (तै० ब्रा० ३।१२।९) इति द्वौ वेदौ संकीर्त्य ऋक्शब्दं च त्रिषु पादेषु, चतुर्थे पादे उपसंहरति बहुवचनेन, "वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य इति" (शा० भा० ३।३।२) (१) ।

अस्मिन्मन्त्रे प्रथमत 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे' इति ऋक्शब्देनोपक्रम्य अनन्तर-मुभयत्र वेदशब्दं पठित्वा उपसंहारे च 'वेदैरशून्यस्त्रिभिः' इति वेदत्रयप्रतिपादनात् ऋक्शब्दस्यापि वेदपरकत्वमेवेति भाष्याभिप्रायः । एवं "त्रयी विद्याख्या च तद्विदि" (जै० ३।३।५) इति सूत्रस्थेन "यस्त्रीन् वेदानधीते स त्रयीविद्यः । ऋक्सामयजूंषि इति त्रयो वेदा उच्यन्ते । तद्विदि त्रयीविद्याख्या युज्यते" इति भाष्येण ऋगादिपदानां मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदपरत्वं, त्रयीशब्दस्यापि च

(१) काशीचौखम्भासंस्कृतसीरीजमुद्रितपुस्तके पृ० १९१ द्रष्टव्यम् ।

तत्परत्वमेवेति सुस्पष्टमवगम्य… त्रयीशब्दस्य मन्त्रमात्रपरत्वं "त्रयो वेदा अजायन्त" (ऐ० ब्रा० २५ । ७) इति ब्राह्मणवाक्यस्थवेदशब्दस्य च भवदभिप्रेतमन्त्रात्मकत्रयीमात्रपरत्वं सूत्रकारेण भाष्यकारेण वाऽभिप्रेतं स्यात्, तर्हि सिद्धान्ते ऋग्वेदादिविहितकर्ममात्राङ्गत्वमुच्चैस्त्वादीनामिति कथं ताभ्यां सिद्धान्तितं सङ्गच्छेत ।

किञ्च यतो भाष्यकारेणोदाहृतमिदम्—"ऋग्भिः पूर्वाह्णे" इति, सोऽयमनुवाकः 'ऋचां प्राची महती दिगुच्यत' (तै० ब्रा० ३।१२।६) इत्यारभ्यते, तत्र इयमानुपूर्वी दृश्यते 'ऋचां प्राची महती दिगुच्यते । दक्षिणामाहुर्यजुषामपाराम् । अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची । साम्नामुदीची महती दिगुच्यते । ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्य अह्नः सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः । ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः । यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम् । सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः' (तै० ब्रा० ३।१२।६) इति ।

तत्र प्रथमतः "ऋचाम्" "यजुषाम्" "साम्नाम्" इति ऋगादिशब्दान् प्रयुज्य "तत ऋग्भिः", "यजुर्वेदे" "सामवेदे" इति वेदशब्दसंयुक्ततया पठित्वा अन्ते 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरि'ति वेदशब्दसंवलिततयैवोपसंहृतम् । तत्र पूर्वोत्तरसन्दर्भपर्यालोचनया यजुर्वेदशब्दस्येव ऋग्यजुरादिशब्दानामपि तत्तद्वेदपरत्वमेवेत्यकामेनाप्यभ्युपगन्तव्यं भवति । अत ऋगादिशब्दा ऋग्वेदपरका इत्यत्र इतः परं किमधिकमन्वेष्टव्यं प्रमाणम् । वेदशब्दश्च मन्त्रब्राह्मणोभयपरक इति च निरूपितमधस्तात् । मन्त्रश्चायं वेदत्रयसहचरितत्वं वेदत्रयात्मकत्वं वा भगवतः सूर्यस्याऽऽवेदयति इति निर्विवादम् । तैत्तिरीयान्तर्गतः "आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति" (तै० आ० १०।१३) इत्युपक्रान्तः सर्वोऽप्यनुवाकोऽमुमेवार्थं सुस्पष्टं निरूपयति । अतश्च 'ऋचां प्राची' इत्यनुवाकस्य अस्य चानुवाकस्य एकार्थतैव प्रतीयते इति तदनुवाकेन भगवतः सूर्यस्य ऋग्वेदादिसहचरितत्वप्रतिपादनात् अत्रापि तदेव प्रतिपादनीयम् । एतदनुवाकान्तर्गतं च वाक्यमेकं श्रूयते "सैषा त्रय्येव विद्या तपति य एषोऽन्तराऽऽदित्ये हिरण्मयः पुरुषः" (तै० आ० १०।१३) इति । वाक्यमिदं पूर्वोक्तार्थस्योपसंहारकम् । अतश्च मन्त्रब्राह्मणात्मकभागमेव त्रयीशब्दोऽप्यभिदधाति न मन्त्रमात्रमिति सुस्पष्टमेतत्प्रमाणेनावगम्यते । एवं बहून्यपि प्रमाणानि वेदादेवोदाहर्तुं शक्यन्ते यद्यपि, तथापि अतिविस्तरभयाद् दिङ्मात्रमिह दर्शितम् । अतो वेदशब्दः ऋगादिशब्दः त्रयीशब्दो वा मन्त्रब्राह्मणात्मकस्यैव भागस्याभिधायक इति प्रमाणेन सिद्ध्यति । यानि च तदुदा-

हृतानि साभिप्रायावष्टम्भकत्वेन प्रमाणानि, . तन्मतं पोषयितुं नेशत इति केवलस्य मन्त्रभागस्यैव वेदपदवाच्यत्वमभ्युपगच्छतां न किंचिदाग्रहादन्यत्प्रमाणं पश्यामः ।

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः

उपनीतस्य माणवकस्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनं विहितम् । तत्र अध्यायशब्दः शाखापरः । तत्र स्वत्वस्य एकत्वस्य च विवक्षितत्वात् एकैव शाखा एकवेदसम्बन्धिनी स्वपरम्परागता अध्येतव्या "अनया त्रय्या विद्यया लोकं जयति", "वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्" इत्यादिशाखापर्यालोचनया वेदान्तराध्ययनस्यापि कर्त्तव्यतावगमात् ऋग्वेदादिषु एकैकस्मिन्वेदे एकैका शाखा अध्येतव्या इति फलति । तत्रापि प्रथमं स्वशाखामधीत्य वेदान्तरगतशाखान्तराध्ययनं कर्त्तव्यम् । इदं सर्वं पूर्वमीमांसायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे शाखान्तराधिकरणे वार्तिकादौ स्पष्टम् । तत्रापि श्रौतानि कर्माणि, स्मार्तानि शान्तिकपौष्टिकानि च स्वशाखयैव कर्त्तव्यानि । स्वशाखाया लाभे तां परित्यज्य शाखान्तरपरिग्रहे प्रत्यवायस्मरणात् । अलाभे तु स्वशाखाऽविरुद्धं शाखान्तरोक्तमप्युपादेयम् । अत्र प्रमाणवचनानि वीरमित्रोदय-रुद्रकल्पद्रुमादावुक्तानि । तानि यथा—

पारम्पर्यगतां मुक्त्वा स्वां समाख्यादिबन्धिनीम् ।
शाखां शाखान्तरं युक्तं नाध्येतुं सदृशे श्रमे ॥
पारम्पर्यगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः ।
तच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत् ॥
अधीत्य शाखामात्मीयां परशाखां ततः पठेत् ।
स्वेन पित्रादिभिर्वाऽपि यः कल्पादिः पुराऽऽदृतः ।
स तु नैव परित्याज्यः इति वेदानुशासनम् ॥
एकवेदेऽपि शाखानां मध्ये योऽन्यतमां श्रयेत् ।
स्वशाखां तु परित्यज्य शाखारण्डः स उच्यते ॥
यः स्वशाखां परित्यज्य पारक्यामधिगच्छति ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥
आत्मशाखां परित्यज्य परशाखासु वर्त्तते ।
उच्छेत्ता तस्य वंशस्य रौरवं नरकं व्रजेत् ॥

स्वीया शाखोज्झिता येन ब्रह्मतेजोऽर्थिना स्वयम् ।
ब्रह्महैव परिज्ञेयः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥
न जातु परशाखोक्तं बुधः कर्म समाचरेत् ।
आचरन् परशाखोक्तं शाखारण्डः प्रकीर्तितः ॥
यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत् ।
अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति ॥
स्वशाखाश्रममुत्सृज्य परशाखाश्रमं तु यः ।
कर्त्तुमिच्छति दुर्मेधा मोघं तत्तस्य चेष्टितम् ॥
अक्रिया त्रिविधा प्रोक्ता विद्वद्भिः कर्मकारिणाम् ।
अक्रिया च परोक्ता च तृतीया चायथाक्रिया ॥
ऊनो वाऽप्यतिरिक्तो वा यः स्वशाखोदितो विधिः ।
तेनैव तनुयाद्यज्ञं न कुर्यात्पारशाखिकम् ॥
बहुलं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्त्तितम् ।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत् ॥
यत्राम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत् ।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत् ॥
परशाखोऽपि कर्त्तव्यः स्वशाखायां न नोदितः ।
सर्वशाखासु यत्कर्म एकं प्रत्यवशिष्यते ॥ इति ।

एवमाचार्यस्यापि कारयितुः स्वशाखीयस्य लाभे प्रथमं स एव शान्त्यादिकर्मसु वरणीयः। तेनाप्याचार्येण गुरुमुखात् यथावदधीतवेदेन सम्यक् ज्ञातकर्मकाण्ड-प्रक्रियेण च भाव्यम्। अन्यथाऽऽचार्यस्याध्ययनाद्यभावेऽनधीतानां मन्त्राणां फला-जनकत्वस्य तत्र तत्र शास्त्रकारैः समुद्घुष्यमाणत्वात् तादृशैर्मन्त्रैः कृतं कर्म न केवलं निष्फलं भवति, अपि तु "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा" इति न्यायेन कर्मकर्तु-र्यजमानस्यानिष्टमपि सम्पादयति। अतश्च यद्याचार्यः अधीतवेदः स्वशाखीयो लभ्यते तदा स एव ग्राह्यः। यदि तादृशो न लभ्यते तर्हि अन्यशाखीयोऽपि यदि यजमानशाखां विधिवदधीत्य तच्छाखीयान् पदार्थांश्च सम्यग् जानाति, स एव कर्मसु नियोज्यः। न तु स्वशाखीय इति कृत्वा अनधीतवेदः अपरिज्ञातकर्मकलाप आचार्यो योजनीयः। एतदभिप्रायेणैव सर्व आचार्यो यजमानशाखीय एव। अन्यथाऽऽचार्यस्य यजमानशाखाध्ययनाभावे तच्छाखीयपदार्थानां निर्वाह एव न स्यात्। स्वशाखयाऽनुष्ठाने वैगुण्यं स्यात् इति प्रतिष्ठेन्दु-शान्तिकमलाकरादावुक्तम्। एवं च रुद्रकल्पद्रुमे—"रुद्राध्यायस्य च यजुर्वेदशाखास्वेव आम्नातत्वेन तदितरवेद-

शाखासु तदभावेन च यजुर्वेदभिन्नवेदशाखीयानां रुद्राध्ययनाभावेन तज्जपादौ तेषामनर्हत्वम्।" अत एव बह्वृचाश्छन्दोगा आथर्वणाश्च विप्रा रुद्रजपादावार्त्विज्ये वर्ज्याः। यथाह शाङ्खायनः—

"बह्वृचाः सामगाश्चैव तथा चाथर्वणा द्विजाः।
महारुद्रजपे नैव शस्तास्ते श्रुतिधर्मतः॥"

इति यदुक्तं तत् अनधीतरुद्राध्यायस्य आर्त्विज्यनिषेधपरतया नेयम्। न तु रुद्राध्यायिनोऽपि अन्यशाखीयस्य निषेधपरम्। अत एव च "बह्वृचाद्या अपि याजुषरुद्राध्ययनवन्तो रुद्रजपसमर्थास्तु वरीतव्या" इत्युत्तरत्र तत्रैव लिखितम्। एवं सर्वत्र यजमानसमशाखीया इति पद्धतिकाराणामभिप्रायो बोध्यः। यद्यपि—

"वेदैकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्वशाखाढ्य-(ज्ञ) मनालस्यं विप्रं कर्मारमीप्सितम्॥"

इति श्लोके आचार्यस्वरूपनिरूपणपरे स्वशाखाढ्यमित्यस्ति पदम्। तेन च स्वशाखीय एव आचार्यः कर्तव्य इति प्रतिभाति, तथापि अन्यवाक्यस्य उपनयनप्रकरणस्थत्वात् उपनेतृस्वरूपमात्रनिरूपणपरत्वम्, न तु शान्तिक-पौष्टिकादि-सर्वकर्मसु अस्य वचनस्य प्रवृत्तिः सम्भवति। अन्यप्रकरणस्थस्य वचनस्य अन्यत्र गन्तुमसामर्थ्यात्। अत एव च सर्वैरपि निबन्धकर्तृभिर्वचनमिदमुपनेतुराचार्यस्य स्वरूपनिरूपणपरतयैव व्याख्यातम्, यथा-स्मृतिमुक्ताफले उपनयनकर्त्तारमाह व्यासः 'वेदैकनिष्ठ'मिति। वीरमित्रोदय-संस्काररत्नमालादावपि उपनेतृपरकत्वमेवास्य वचनस्योपवर्णितम्, न तु कारयितृपरकत्वमुक्तं कुत्रापि। लोकेऽपि च इदानीं यजुराद्येकशाखीयः स्वशाखां प्रथमतोऽधीत्य ततो वेदान्तर्गतं शाखान्तरमप्यधीयानः तद्वेदीयं हौत्रमौद्गात्रं च श्रौतेषु कर्मसु करोत्येव। शिष्टा अपि तत्कर्म सदाचारतया परिगृह्णन्त्येव! अतश्चेदं सिद्धं भवति प्रथमतः स्वशाखाध्यायी स्वशाखीय आचार्यत्वेन कर्मसु नियोक्तव्यः। तदलाभे अन्यशाखीयोऽपि यजमानशाखामधीतवाँश्चेत् सोऽपि नियोगमर्हति। प्रथमतः स्वशाखीयस्यैव प्रतीतेः; इतरशाखीयस्य विलम्बेन प्रतीतेश्च। प्रथमोपस्थित-परित्यागे कारणाभावाच्चेति शम्।

उपनयने गायत्र्युपदेशप्रकारः

सर्वस्मृतिपर्यालोचनया सर्वगृह्यपर्यालोचनया च उपनयने गायत्र्युपदेशे अयं क्रमः प्रतीयते। ओङ्कारपूर्वं व्याहृतिपूर्वं च आचार्यः प्रथमं पादं स्वयमुक्त्वा ततस्तं वाचयेत्। द्वितीयपादमर्द्धर्चमुक्त्वाऽथ वाचयेत्। यदि माणवकः पादं पादम् अर्द्धर्चमर्द्धर्चं सर्वां च वक्तुं न शक्नुयात् तर्हि यथाशक्ति तं वाचयेत्।

तृतीयस्मिन्वारे माणवकेन सहैव सर्वामृचम् आचार्यो ब्रूयात्, न तु पूर्वस्मिन्वारद्वये इव प्रथममाचार्यस्योक्तिः, अनन्तरं माणवकस्योक्तिः।

"अथास्मै सावित्रीमन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्त्तयन्" इति पारस्करगृह्यात्।

तृतीयेनेति हेतौ तृतीया, न तु सहयोगे। तथा सति 'पुत्रेण सहागतः पिता'इत्यस्य यथा पुत्रेण सह पितुरागमनमर्थः तथा अत्रापि तृतीयस्यैवावर्तनं स्यात्। अतस्तृतीयस्मिन्वारे आचार्यो माणवकेन सहैव अनुवदेदिति सूत्रार्थः। अयमेवार्थः अत्र तु सहपाठो विशेष इति ब्रुवतां पद्धतिकाराणामपि अभिप्रेतः। अत्रापि यदि समग्रं मन्त्रमभिधातुं न शक्नुयात् माणवकस्तर्हि यथाशक्त्येवाभिधानम्। परन्तु उभाभ्यां सहैव वक्तव्यम्, न तु पूर्ववद्वचनानुवाचने। एवं सति ये प्रणवव्याहृतिरहितामेव गायत्रीमुपनयने उपदिशन्ति तृतीयस्मिन्नपि वारे प्रथमद्वितीयोपदेशवत् अनुवचनं च कुर्वन्ति न सहानुवचनम्, तेषामनुष्ठाने न किञ्चित्प्रमाणं पश्यामः।

अत्र प्रमाणमाश्वलायनगृह्ये—

"जान्वाच्योपसंगृह्य ब्रूयादधीहि भोः सावित्रीं भो अनुब्रूहीति। पाणिभ्यां च पाणी संगृह्य सावित्रीमन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां यथाशक्ति वाचयीत।"

आश्वलायनकारिकायाम्—

"ओंभूर्भुवःस्वःपूर्वान्तु सावित्रीं वाचयेदथ।
पादं पादं च सावित्र्याः स्वयमुक्त्वाऽथ वाचयेत्॥
ततस्त्वर्द्धर्चमर्द्धर्चं सर्वां तामथ वाचयेत्।
एवं वक्तुमशक्तं तु तं यथाशक्ति वाचयेत्॥"

आपस्तम्बसूत्रे—

"सावित्रीं भो अनुब्रूहीति तस्माऽअन्वाह तत्सवितुरिति पच्छोऽर्द्धर्चशस्ततः सर्वां व्याहृतीर्विहृताः पादादिस्थलेषु वा तदार्द्धर्चयोरुत्तमां कृत्स्नायाम्।"

पारस्करगृह्ये—

"अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय।", "पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्त्तयन्।"

गोभिलगृह्ये—

"तस्माऽ अन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चश ऋक्श इति महाव्याहृतयश्च ओंकारान्ताः।" (२।१०।३९-४०)

लौगाक्षिः—

"ओं भूर्भुवः स्वरित्युक्त्वा तत्सवितुररिति सावित्रीं त्रिरन्वाह पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वामन्ततः।"

शौनकः—

"सावित्रीं स्वयमाचार्यः पूर्वं पच्छस्तथैव तम्।
शिष्यं च वाचयेत्पश्चादुच्चार्यार्द्धर्चशः स्वयम्॥
तथैव वाचयेच्छिष्यमथोक्त्वा तु कृतां स्वयम्।
पूर्वं तथैव शिष्यश्च वाचयेदित्ययं क्रमः॥
त्रिष्वप्येतेषु पद्येषु यथा शिष्यस्तु शक्नुयात्।
वक्तुं तथैव आचार्यो वाचयेदवधानतः॥"

यमः—

"ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रः सावित्रीं यश्च विन्दति।
चरति ब्रह्मचर्यं च स वै श्रोत्रिय उच्यते॥"

तिस्रः व्याहृतीरिति शेषः।

स्मृत्यन्तरे—

"ओंपूर्वा व्याहृतीस्तिस्रः समस्तास्तु सकृद्वदेत्।
पच्छस्त्वर्द्धर्चशः सर्वां सावित्रीं त्रिर्वदेदथ॥"

अत्र सावित्रीं वाचयन् सन्धिकृतं वर्णविकारं नान्यथा कुर्वीतेति स्मृतिकौस्तुभे।

चौलोपनयनयोः शिखास्थापनविचारः

उपनयने उपनेयस्य माणवकस्य चूडाकर्मणि धृतां शिखां वर्जयित्वा वपनम् उत सशिखवपनम् इति विचारे इदमत्र प्रतिभाति—

चौले तावद् बौधायनापस्तम्बाश्वलायन-पारस्करादिमहर्षिभिः—

'अथैनमेकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषां कुलधर्मः स्यात् यथर्षि शिखां निदधातीत्येके।"(बौ० गृ० २। ४। १७।१७)

"यथर्षि शिखां निदधाति यथैवैषां कुलधर्मः स्यात्।" (आप० गृ० १।६।१५)

"यथामङ्गलं केशशेषकरणम्।"(पार० गृ० २। १। २१)

इत्यादिसूत्रैः शिखाधारणस्य आवश्यकता प्रतिपादिता।

"केशशेषं ततः कुर्याद्यस्मिन्गोत्रे यथोचितम्।
वासिष्ठा दक्षिणे भागे उभयत्रापि काश्यपाः॥

शिखां कुर्वन्त्यङ्गिरसः शिखाभिः पञ्चभिर्युताम् ।
परितः केशपङ्क्त्या वा मुण्डाश्च भृगवो मताः ॥"

इत्यादिस्मृत्या च कुमारस्यार्षसङ्ख्यया कुलधर्मतो देशविशेषे शिखारक्षणं विधीयते । उपनयनेऽपि—"कुमारं भोजयित्वा तस्य चौलवत्तूष्णीं केशानुप्य स्नातं शुचिवाससं बद्धशिखं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्चन् वाचयति" (२।५।७)

इति बौधायनसूत्रे चौलवदिति चौलधर्मातिदेशाद् बद्धशिखमिति कुमारविशेषणाच्च मध्यशिखावर्जमेव उपनयने वपनमभिप्रेतमिति गम्यते । सशिखवपने पञ्चशिखमिति विशेषणं कथं सङ्गच्छेत ?

आपस्तम्बगृह्येऽपि "प्रतिदिशं प्रवपति" इति दिग्वपनस्यैव विधानं न तु सर्ववपनस्य । "पर्युप्तशिरसमलङ्कृतमानयन्ति" (२। २। ५) इति पारस्करगृह्येऽपि प्रतिदिग्वपनमेवाभिप्रेतमस्ति । अतएव संस्कारकौस्तुभे—"चौलकालधृतशिखानां मध्ये मध्यशिखेतरशिखानामुपनयनकाले वपनं कार्यम् ।

"मध्ये शिरसि चूडा स्याद्वसिष्ठानां तु दक्षिणे ।
उभयोः पार्श्वयोरत्रिकश्यपानां शिखा मता ॥"

इति वृद्धोदाहृतवचसि मध्यशिखाया निमित्तविशेषसंयोगं विना विहिताया नित्यत्वेन, सदा बद्धशिखेनेति नित्यविधिविषयत्वौचित्यादितरशिखानामनुपनीतधार्यत्वेन माधवोक्तेश्च" इत्युक्तम् । तासां मध्यशिखावर्जमुपनयने वपनं कार्यम् । 'रिक्तो वा एष यन्मुण्डस्तस्यैतदपिधानं यच्छिखा' इति श्रुतेरिति कमलाकरोऽप्याह ।

"केशश्मश्रु वपते वाऽशिखम्" (२ । १ । ६) इति कत्यायनीयश्रौतसूत्रे कर्काचार्योऽप्येवम् ।

किञ्च—'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च' इति भृगुस्मृतौ सदाशब्दश्रवणात् नित्यत्वप्रतीत्या नित्यानामकरणे प्रत्यवायापत्त्या—

"शिखां छिन्दन्ति ये मोहाद् द्वेषादज्ञानतोऽपि वा ।
तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥"

इति हारीतेन शिखाविनाशे प्रायश्चित्ताभिधानात् ।

"अथ चेत्प्रमादान्निःशिखं वपनं स्यात्तदा कौशीं शिखां ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितां दक्षिणकर्णोपर्याशिखाबन्धाद्धत्तिष्ठेत्" इति वीरमित्रोदये काठकगृह्ये शिखानाशे प्रतिनिधिविधानाच्च चौलप्रभृति यावज्जीवं शिखाया अवश्यधार्यत्वमवगम्यते । एवं पुरुषोद्देशेन विहितत्वात् पुरुषार्थस्यापि शिखाधारणस्य—

"विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्"

इति पूर्वोक्तयैव स्मृत्या शिखां विना कर्मानुष्ठाने कर्मणो वैफल्यस्मरणात् शिखाधारणस्य सर्वकर्माङ्गत्वमवगम्यते। यद्यपि आर्षसङ्ख्याकशिखाविधानेन "गोत्रचिह्नं शिखाकर्म" इति शिखाधारणस्यैव गोत्रचिह्नत्वावगतेस्तस्य "वासिष्ठानां नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजः" इत्यादौ गोत्रसाध्ये कर्मण्युपयोग इति गोत्रख्यापकत्वमात्रं दृष्टं फलमित्यवगम्यते, तथापि संस्कारेषु शिखाकर्मणोऽपि पाठात् इतरसंस्कारवत् अस्याप्यदृष्टार्थत्वमेव। गोत्रज्ञापनं तु आनुषङ्गिकं फलं न तु मुख्यम्; द्विजत्वचिह्नार्थं यज्ञोपवीतवत्।

तेन शिखाधारणस्य अदृष्टार्थत्वावगमात् अकरणे प्रत्यवायभिया अवश्यं धार्यैव शिखेति। सशिखकृतचौरमिति क्वाचित्कलेखनं तु श्रुतिस्मृतिसूत्राज्ञानमूलकं श्रुतिसूत्र-विरोधात् संस्कारभास्करादिग्रन्थेष्वनुपलम्भाच्चासङ्गतमेव। कौथुमराणायनादिच्छन्दोग-माणवकस्य तु प्राक् समावर्त्तनात् सशिखमेव वपनम्।

"केशश्मश्रुलोमनखानि वापयति शिखावर्जम्" (गो० गृ० सू० ३।४।२४)

इति गोभिलगृह्ये समावर्तने शिखारहितवपनोपदेशात् अर्वाक् सशिखवपनावगतेः।

"सशिखं वपनं कार्यमास्नानाद् ब्रह्मचारिणाम्" इति कर्मप्रदीपे कात्यायनोक्तेश्च।

"यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव" (शु० य० १७।४८) इति तु छन्दोगपरमिति निर्णयसिन्धौ।

इदं च विशिखा विगतशिखा मुण्डितमुण्डा इत्यस्मिन्नर्थे योज्यम्। विशिखपदस्य विविधशिखावत्त्वरूपमर्थमङ्गीकुर्वतां न्यायसुधा-मीमांसाकौस्तुभकारादीनां मते तु छन्दोगेतरपरमिदम्। वस्तुतस्तु विविधशिखायुक्तत्वमेवात्र विशिखपदार्थः। अन्यथा तस्मिन्मन्त्रे बाणैः सह कुमाराणां दृष्टान्तकरणस्यासङ्गत्यापत्तेः। यथैव विविधशिखाः कुमारा आगच्छन्ति एवं युद्धे अनेकबाज-(पत्र) युक्ता बाणा आगच्छन्तीति दृष्टान्तार्थः। यदि विविधशिखपदस्य मुण्डितशिरस्कत्वमप्यर्थोऽभिप्रेतस्तदा बाजयुक्तैर्बाणैः सह मुण्डितशिरस्कानां कुमाराणां कथं सादृश्यमुपपन्नं स्यात्।

अत एव यस्य माणवकस्य स्वगृह्ये उपनयने सशिखमुण्डनं कण्ठतोऽभिहितं तं वर्जयित्वा अन्यस्य कस्याप्युपनयने सर्वमुण्डनं न कार्यमेव। यत्र तु प्रायश्चित्तादौ सामवेदिमाणवकोपनयने सत्रे च सर्वमुण्डनं विशेषतोऽभिहितं तत्र सदोपवीतिनेति सामान्यशास्त्रस्याप्रवृत्त्या विशिखेन कर्मानुष्ठानेऽपि न प्रत्यवाय इति। अत्र प्रयोगदीपे विशेषः। तथा हि—

"अत्र सशिखं वपनं कारयन्ति वृद्धाः। तत्र वृद्धाचार एव शरणम्।"

"विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्" इति विशिखस्य कर्मनिषेधात्। यत्तु मनुः—

"मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।"

यच्च गौतमः—"मुण्डी शिखी वा" इति ।

यच्च कात्यायनः—

"सशिखं वपनं कार्यमास्नानाद् ब्रह्मचारिणः ।"

इति, तत्सामगविषयम् ।

तथा च विष्णुपुराणे लिङ्गम्—

"एते लूनशिखास्तस्य दशनैरचिरोद्गतैः ।
कुशकाशा विराजन्ते वटवः सामगा इव ॥" इति ।

न च 'पर्युप्तशिरसम्' इति 'परीति सर्वतो भावम्' (निरुक्त १।१।५) इति यास्कवचनाद् भविष्यतीति वाच्यम्; परितः समन्तादिति तस्यार्थः, पर्युह्य परिस्तीर्येत्यादौ तथा दृष्टत्वात् ।

किञ्च "अधिपरी अनर्थकौ" (पाणि० सू० १।४।९३) इति पाणिनिसूत्रेणानर्थकस्य परीत्यस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा प्राप्नोति, अतोऽनर्थकोऽपि परिशब्दो दृश्यते। अत एव 'परित उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य' इति कर्कादिभिर्व्याख्यातं, न तु 'परितः सर्वतः' इति व्याख्यातम्। कातीयश्चाशिखमेव वपनं कारयति । कथं वृद्धैः शाङ्खायनशाखिभिः 'सशिखं वपनं कार्यम्' इति मूलं न विद्म इति ।

उपाकर्मोत्सर्गनिर्णयः

उपाकर्मोत्सर्गविषये कर्तव्यपदार्थेषु, अग्नौ, अधिकारे च बहवो बहुधा विवदन्ते, अतस्तन्निर्णयार्थं यत्यते ।

उपाकर्मशब्दार्थः

तत्र प्रथमं तावत् उपाकर्म-शब्दार्थो निरुच्यते। सूत्रकारास्तावत् "अथातोऽध्यायोपाकर्म" (पार० गृ० सू० २।१०।१) इत्यादिना "अध्यायोपाकर्म" इत्यनेन कर्मेदं अध्यायोपाकर्म इति व्यवहरन्ति ।

मन्वादयोऽपि "अध्यायानामुपाकर्म" "वेदापाकरणे प्राप्ते" "छन्दसामुपाकरणम्" "अध्यायोपाकर्म" (आप० गृ० ५।१।२), "श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य" (आप० धर्म० १।३।१) इत्यादिपदेन व्यवहरन्ति। अत एव कर्मणोऽस्य "वेदोपाकरणम्" इति वा "अध्यायोपाकरणम्" इति वा मुख्यं नामधेयम्। 'उपाकर्म' इति तु एकदेशेन व्यपदेशः। अध्यायोपाकर्म—अधीयन्त

इत्यध्याया वेदाः। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यत्र अध्यायशब्दस्य तथैव व्युत्पत्तेः शास्त्रेषु दर्शनात्। अध्यायानामुपाकर्म प्रारम्भोऽध्यायोपाकर्म। एवं च वेदाध्ययनारम्भ एव अध्यायोपाकर्मपदार्थ इति फलितम्। अत एव वीरमित्रोदयकारोऽपि "अधीयन्त इत्यध्याया वेदाः, तेषामुपाकर्म प्रारम्भः" इत्येवं व्याचख्यौ।

"उपाक्रियते प्रारभ्यते वेदस्याध्ययनं येन कर्मणा तदुपाकरणं नाम कर्मविशेषो विद्यासंस्कारकः" इत्युक्तं गोभिलगृह्यभाष्येऽपि।

"अध्यायो नाम वेदः स्यात्तस्योपाकरणं पुनः।
आरम्भणमिति प्रोचुर्भवनागादयः स्फुटम्॥" इति।

"उपाकरणशब्देन वेदारम्भणमुच्यते" इति च गृह्यकारिकायाम्। इदं च कर्म केवलेनोपाकर्मपदेनापि व्यवह्रियते ग्रन्थेषु।

"उपाकरणोत्सर्जने व्याख्यास्यामः" (आप० गृ० ५।१।१)
"प्रौष्ठपदीं० हस्तेनोपाकरणम्" (गो० गृ० ३।३।१)
"अथोपाकरणम्" (शां० गृ० ४।५।१)
"उपाकर्म न कुर्वन्ति क्रमात्सामर्ग्यजुर्विदः।"
"उपाकृतिस्तु पञ्चम्यां कार्या वाजसनेयिभिः।" इति।

उत्सर्जनशब्दार्थः

एवमुत्सर्जनपदार्थोऽपि श्रावण्यामारब्धस्य पौष्यां विवरणमेव। इदमपि च अध्यायोत्सर्ग-वेदोत्सर्गादिपदेन मुख्यतया व्यवहरणयोग्यमपि केवलोत्सर्जनपदेनापि व्यवह्रियते।

साङ्गस्यैवोपाकर्मणः कर्तव्यता

यद्यप्यत्रोपाकर्मणि वेदाध्ययनस्यैव विधेयत्वात् तस्यैव प्राधान्यं प्रतीयते, तथापि केवलस्य तस्य प्रधानमात्रानुष्ठानस्य क्वचिदर्थानुष्ठानादर्शनात् साङ्गस्यैव कर्त्तव्यताप्रतीतेः साङ्गमेवेदं कर्मानुष्ठेयम्।

पारस्करमतेनोपाकर्मणि कर्तव्यपदार्थानां निरूपणम्

तत्र पारस्करमते स्वगृह्योक्तविधानेन आज्यभागान्ते कर्मणि कृते प्रतिवेदं चतस्रो वेदाहुतयः, ततः सप्त अन्या आहुतयः, तत आचार्यकर्तृकास्त्रयोऽक्षतधानहोमाः, ततः समिद्धोमः, आचार्येण सर्वेषामध्यायादीनां मन्त्राणां पठनम्, तत उत्तरतन्त्रमित्येतावन्तः पदार्था उपाकर्मण्यनुष्ठेयाः।

उत्सर्जने कर्तव्यपदार्थाः

उत्सर्जने च उदकसमीपं गत्वा देवादीनां सन्तर्पणं सावित्र्याश्चतुर्वारमुच्चारण-

पूर्वकं "विरताः स्मः" (पा० गृ० सू० २) इति कथनम्, तत उपाकर्मवत्सर्वेषा-मध्यायादीनां मन्त्राणां पठनमित्येतावन्ति कर्माणि ।

गणस्नानर्षिपूजनयोरुपाकर्मोत्सर्जनाङ्गत्वम्

यद्यपि सूत्रकारमतपर्यालोचनया उपाकर्मण्युत्सर्गे च एतावन्त एव पदार्थाः कर्तव्यतया प्रतिभान्ति, तथापि स्मृत्यन्तरपर्यालोचनया गणस्नानमृषिपूजनं च उपाकर्मोत्सर्गाङ्गत्वेन विहितत्वात्कर्तव्यमेवेत्यवगम्यते-(ऋष्यादितर्पणं तूत्सर्जन एव) । तथा च कात्यायनस्मृतिः—

"वेदाश्छन्दांसि सर्वाणि ब्रह्माद्याश्च दिवौकसः ।
जलार्थिनोऽपि पितरो मरीच्याद्या महर्षयः ॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे स्नानार्थं ब्रह्मवादिनः ।
पिपासूननुगच्छन्ति संहृष्टा ह्यशरीरिणः ॥
समवायश्च यत्रैषां तत्रान्ये बहवो मलाः ।
नूनं सर्वे क्षयं यान्ति किमुतैकं नदीरजः ॥" इति ।

'उपाकर्मणि चोत्सर्गे रजोदोषो न विद्यते' इत्यादिना चोपाकर्मोत्सर्जनयोः स्नानस्याप्यवश्यकर्तव्यता ।

आचार्यः शिष्याश्च गणशः सम्भूय यत्स्नानं कुर्वन्ति तद् गणस्नानम्, ऋषीणां तत्तन्मन्त्रद्रष्टॄणां यत्पूजनं तदृषिपूजनम् । अनेनैव प्रमाणेन गणस्नानमृषिपूजनं चोपाकर्मोत्सर्जनयोरुभयोरप्यङ्गमित्यपि सिद्ध्यति ।

उपाकर्मोत्सर्जनयोः कालः

अनयोर्गृह्यान्तरे तत्तच्छाखिन उद्दिश्य विभिन्नाः काला विहिता यद्यपि, तथापि अस्माकं वाजसनेयिनां 'श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्याम् ।', 'श्रावणस्य पञ्चमीꣳ हस्तेन वा ।' (पार० गृ० सू० २ । ६ । २-३) इति सूत्राभ्यां उपाकर्मणः श्रावणी पूर्णिमा, श्रावणशुक्लपञ्चमी वा मुख्यकालतया विहिता ।

उत्सर्गस्य 'पौषस्य रोहिण्यां मध्यमायां वाऽष्टकायामध्यायानुत्सृजेयुः' (पार० गृ० सू० २ । १२ । १) इति सूत्रात् पौषकृष्णाष्टमी कालः । अतस्ते उभे अपि स्व-स्वकाले एवानुष्ठेये पृथक् पृथगिति मुख्यः पक्षः । यदि दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबन्धात्पौषकृष्णाष्टम्यामुत्सर्गो नानुष्ठातुं शक्यते, तदा उपाकर्मदिन एव प्रथमत उत्सर्गमनुष्ठाय तत उपाकर्मानुष्ठेयम् ।

'पुष्ये तूत्सर्जनं कुर्यादुपाकर्मदिनेऽथवा' इति वचनात् ।

इदन्तु द्वितीयाद्युपाकर्मविषयम् । प्रथमोपाकरणस्तु ततः पूर्वमुपाकरणा-भावेनोत्सर्गस्याप्रसक्त्या तस्मिन्दिने केवलमुपाकर्मैवानुष्ठेयम् ।

केवलमुत्सर्गकर्मणोऽनुष्ठानस्य निर्मूलत्वम्

अनेनैव न्यायेन उपाकर्म अननुष्ठाय केवलमुत्सर्गकर्मणोऽनुष्ठानं क्वचिद् दृष्टं तन्निर्मूलमेवेति प्रतीमः ।

उत्सर्जनपदार्थो हि श्रावण्यामारब्धस्य वेदाध्ययनस्य परित्यागरूप इत्युक्तं प्राक्, यदि पूर्वमारम्भ एव न स्यात् तर्हि कस्योत्सर्गः क्रियेत, अत उपाकरणमुत्सर्गश्चेति द्वयं तदधिकारिभिः कार्यम्, नान्यदुपाकरणमात्रमुत्सर्गमात्रं वा। अत एव 'अधीत्योत्सृजेयुः' (पार० गृ० सू० २ । ११ । १०) इति भगवान् पारस्करोऽप्यवोचत्। किञ्च केवलोत्सर्गाचरणेऽप्युपाकर्माकरणे हेमाद्र्युक्तप्रायश्चित्तमपि न सङ्गच्छते। तथाहि—

"अकृत्वा ब्रह्मचारी वा द्विजो वा वेदसम्मतम् ।
एवं श्रावणकं होमं त्यक्त्वा यदिह वर्तते ॥
तप्तत्रयं व्रती कृत्वा गृहस्थोऽपि द्वयं चरेत् ।
कृत्वैतद्वार्षिकं प्रोक्तं शुद्धिमाप्नोति पूर्वजः ॥
प्रत्यब्दं यस्त्यजेत्कर्म श्रावणाख्यं पवित्रजम् ।
पतितः स तु विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥" इति ।

उपाकर्मोत्सर्जनयोस्त्रैवर्णिकानां त्रयाणामाश्रमिणां साग्निकानां निरग्नीनां चाधिकारः

अत्र च त्रैवर्णिकानां वेदाध्ययनाधिकारिणां यथाऽधिकारस्तथा ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वानप्रस्थानां त्रयाणामप्याश्रमिणामधिकारः;

"उपाकर्मोत्सर्जनञ्च वनस्थानामपीष्यते ।
धारणाध्ययनाङ्गत्वाद् गृहिणां ब्रह्मचारिणाम् ॥"

इति गोभिलवचनात्।

"वेदव्रतानि कृत्वैव विप्रो यश्चोद्वहेत्ततः ।
अधीयीत गृहस्थोऽपि नियमाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥"

इति संस्कारगणपतौ वचनाच्च।

'समावृत्तो ब्रह्मचारिकल्पेन। यथान्यायमितरे। जायोपेयेत्येके' (३।४।११-१३) इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रेषु गृहस्थानामपि ग्रहणाध्ययनविधानात् मन्वादावुपाकर्मणो गृहस्थधर्ममध्ये पाठाच्च ।

येन नियमविशेषेण युक्तो ब्रह्मचारी अधीयीत तेनैव नियमेन समावृत्तोऽप्यधीयीत । समावृत्तादितरे ब्रह्मचारिणस्तु यथान्यायं स्वविध्युक्तप्रकारेण-

धीयीरन्, तथा जायोपेतो गृहस्थोऽपि ब्रह्मचारिवन्नियमोपेतोऽधीयीत । न च समावृत्त-गृहस्थयोर्ग्रहणाध्ययनाधिकारे समाप्य 'वेदं समाप्य स्नायात्' (पा० गृ० सू० २ । ६ । १) इति विरुध्येतेति वाच्यम्; तस्य वचनस्य विद्यास्नातकविषयत्वात् । अतएव 'वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा' इति पक्षद्वयोपन्यासो दर्शितः । ये नाम गृहस्था ग्रहणाध्ययनं न कुर्वते तेषां धारणाध्ययनाङ्गत्वेनापि उपाकर्मानुष्ठानम् । पूर्वोक्ते कात्यायनवचने धारणाध्ययनाङ्गत्वस्यापि श्रवणात् । "एतच्च ग्रहणाध्ययनं गृहस्थानामपि" इति हेमाद्रिश्च ।

अधिकारिनिर्णयः

अत्राधिकारिविषये कर्काचार्या अन्यथैव मन्यन्ते । ते हि अध्ययनाङ्गत्वादुपाकर्मणः, तदन्तर्गतहोमानां गृह्याग्निसाध्यत्वात् यो नाम साग्निरध्यापयिता च स एवाचार्यः शिष्यैः साकमधिकारी, नान्योऽध्यापयन्नाप्यनग्निः, साग्निरप्यनध्यापयन् इत्यभिप्रयन्ति । इदं हि तेषां वचनम्—"अध्ययनमध्यायः तस्योपाकर्म स्वीकरणम्, तच्चाग्निमतोऽध्ययनप्रवृत्तस्यैव भवति, अतोऽध्यापयतोऽपि, निरग्नेः साग्नेरप्यनध्यापयतो नाधिकारः" इति । तदेवानुसृत्य अन्येऽपि केचन साग्नेरेवाधिकारं मन्वते । तत्र कर्मेदं लौकिकेऽग्नौ कर्तव्यं मा वा कर्तव्यमिति समनन्तरमेवाग्निनिर्णयनिरूपणावसरे निरूपयिष्यामः । सम्प्रति अनध्यापयतोऽधिकारोऽस्ति नवेत्येव विचारयामः ।

"प्रत्यब्दं यदुपाकर्म सोत्सर्गं विधिवद् द्विजैः ।
क्रियते छन्दसां तेन पुनराप्यायनं भवेत् ॥
अयातयामैश्छन्दोभिर्यत्कर्म क्रियते द्विजैः ।
क्रीडमानैरपि सदा तत्तेषां सिद्धिकारणम् ॥"

इति कात्यायनमहर्षिवचनेन तत्तत्कर्मविशेषे, ब्रह्मयज्ञादौ पठ्यमानानां मन्त्राणामयातयामत्वसिद्ध्यर्थं च उपाकर्मोत्सर्जनयोरवश्यकर्तव्यता प्रतीयते ।

"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः"
"यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इतिवत् ।

प्रत्यब्दमिति वीप्साश्रवणाच्च यावज्जीवं नित्यवत्कर्तव्यताऽपि प्रतीयते । स्मृतावस्यामाचार्यपदाश्रवणात् अधीतानां छन्दसाम्, तत्क्रियादिषु पठ्यमानानां च मन्त्राणां वीर्यतमत्वसिद्ध्यर्थमेव प्रतिवत्सरमुपाकर्मोत्सर्जनयोरविशेषेण विधानप्रतीतेर्यावज्जीवं केनाप्याचार्यसमीप एव वस्तुमशक्यत्वात् स्वतन्त्रेणापि पुरुषेणो-

पाकर्मोत्सर्जनाख्यमिदं कर्मद्वयं कर्तुं शक्यमित्यवगम्यते। तथैव सार्वदेशिकः शिष्टाचारोऽपि दृश्यते। न चाविशेषश्रुताया अस्याः स्मृतेः कर्कवचनेन सङ्कोच इति वाच्यम्; स्मृतिवचनस्य भाष्यवचनेन सङ्कोचानुपपत्तेः। अतएव "उपाकर्मोत्सर्जने ब्रह्मचारि-समावृत्त-वानप्रस्थ-गृहस्थैः सर्वैः कर्तव्ये", "त्रयाणामपि वर्णानां ब्रह्मचारि-गृहस्थान्यतराश्रमिणामपि ग्रहणाध्ययनाङ्गतया धारणाध्ययनाङ्गतया वाऽनुष्ठेयम्, वानप्रस्थाश्रमिणामपि धारणाध्ययनाङ्गतयाऽनुष्ठेयम्" इति धर्मसिन्धु-स्मृतिकौस्तुभकारादयः। "प्रतिवर्षमेतत्कर्मद्वयं भेदेन तन्त्रेण वा विद्याकामैः सर्वैरप्यनुष्ठेयमेव" इति संस्कारगणपतौ च।

"अयातयामतां पूजां सारत्वं छन्दसां तथा।
इच्छन्त ऋषयोऽपश्यन्नुपाकर्म ततो बलात्॥
तस्मात्षट्कर्मनित्येनात्मनो मन्त्रस्य सिद्धये।
उपाकर्तव्यमित्याहुः कर्मणां सिद्धिमिच्छताम्॥"

इत्यादिवचनं चात्रानुकूलम्।

अत्र "कस्मिन्नग्नावुपाकर्मोत्सर्जने कर्तव्ये" इति विचारोऽवशिष्यते। तच्चाग्निमतोऽध्यापनप्रवृत्तस्येति वचनात् कर्काचार्याणामावसथ्येऽग्नावनुष्ठानमभिप्रेतम्, एतस्यायमाशयः—उपाकर्मणः सूत्रकारेण गृह्यमध्ये पाठात् गार्ह्याणां च कर्मणां गृह्याग्निसाध्यत्वात् उपाकर्मणोऽपि गृह्याग्निसाध्यत्वमेव। किञ्च कात्यायनेनापि छन्दोगपरिशिष्टे—

"न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्।
स्वगर्भसत्क्रियार्थाश्च यावन्नासौ प्रजायते॥"

इति समिदाहुतेः स्वाग्न्यधिकरणकान्यकर्तृकहोमविषयनिषेधे समिदाहुतेरविषयत्वकथनात् "मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्" इति सामान्यतः समिदाहुत्युपादानेऽपि अन्यस्याः कस्याश्चित् समिदाहुतेरप्रसिद्धत्वादुपाकर्मान्तर्गताया आचार्याग्न्यधिकरणिकायाः शिष्यकर्तृकसमिदाहुतेरेव ग्राह्यत्वावसायात्, उपाकर्मणस्तत्तद्बलादाचार्यावसथ्याग्नावेव कर्तव्यताप्रतीतेर्गृह्याग्निमात्रसाध्यमिदं कर्म, न तु निरग्नेरधिकार इति। इदमेव कर्कमतमवलम्बमाना धर्मसिन्धु-वीरमित्रोदय-रेणुकारिका-गृह्यकारिकाकारादयः। कात्यायनैस्तु—

"आवसथ्येऽग्नावेव होतव्यं न लौकिकाग्नौ" (धर्मसिन्धौ)

"उपाकर्मणि आचार्यस्याग्नौ समिदाहुतिर्यस्मात्। तेनाध्यापयतोऽपि निरग्नेः साग्नेरप्यनध्यापयतो नाधिकारः" (वीरमित्रोदये)

"अग्निमानधिकारीह नेतरः कर्कसम्मतिः ।
सम्यगध्ययने सोऽपि प्रवृत्तस्तस्य तत्क्रिया ॥"
(रेणुकारिकायाम्)

"अध्यायोपाकृतिं कुर्यात्तत्रौपासनवह्निना ।" इति ।
"कर्मद्वयमिदं केचिल्लौकिकाग्नौ प्रकुर्वते ।"
(गृह्यकारिकायाम्)

इति सुस्पष्टं साग्नेरेवाधिकारं समर्थयन्ते ।

एतद्वचनबलादेव लौकिकेऽग्नावनुष्ठानस्य अद्य यावत् शिष्टाचारपरिगृहीतस्याचारमूलकत्वं मन्यमानाः "यत्तु लौकिकेऽग्नौ तदनुष्ठानं तत्राचारमात्रं मूलम्" इति लिखन्ति हरिहरादयः ।

अग्निनिर्णयः

अत्र प्रसङ्गादग्निनिर्णय उच्यते । तत्र मनुः (३। ६७)—

"वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गार्ह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानञ्च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥" इति ।

अत्र गृह्यशब्दो गृह्यसूत्रोक्तकर्मपरः । अत एव—

"स्मार्तं वैवाहिके त्वग्नौ श्रौतं वैतानिकाग्निषु ।
कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही ॥
दायकालाहृते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥"

इत्यादिव्यास-याज्ञवल्क्यवचनगतः स्मार्तशब्दो गृह्यकर्मपर इत्यपरार्कोऽपि 'स्मार्तं गृह्योक्तं कर्म प्रत्यहं नित्यस्मार्तहोम-पार्वणश्राद्धहोमादिरि'ति व्याचख्यौ । एतेन वचनजातेनेदं सिद्धं भवति श्रौतान्यग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-सोमयागादीनि श्रौताधाननिष्पन्नेष्वग्निषु कर्तव्यानि, गृह्योक्तानि च अष्टकादीन्यावसथ्याग्नावेव कर्तव्यानि । यानि च पौराणिकानि ग्रहयज्ञ-महारुद्र-शतचण्डी-विनायकशान्त्यादीनि शान्तिक-पौष्टिकानि कर्माणि तानि साग्नेरपि लौकिकेऽग्नावेव कार्याणि । एवं च सति "नौपासनश्रुतेः" (१।१।१६) इति कातीयश्रौतसूत्रव्याख्यानावसरे देवयाज्ञिकैः "भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा तत्र गृह्याणि" इति गौतमधर्मसूत्रमुदाहृत्य तत्रत्यगृह्यपदस्य "गृहाय हितं गृह्यम्, गृह्यशब्दो दम्पतिपरः, अतो यद्दम्पत्योर्हितं दम्पतिसमवेतफलजनकं तत्सर्वमावसथ्याग्नौ कर्तव्यम्, नान्यद् गृह्योक्तमपि कर्म नामकरणादि स्वाग्नावनुष्ठातुं शक्यते । अत एव—

"न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम् ।
स्वगर्भसत्क्रियार्थांश्च यावन्नासौ प्रजायते ॥

अग्निस्तु नामधेयादौ होमे सर्वत्र लौकिकः ।
न हि पित्रा समानीतः पुत्रस्य भवति क्वचित् ॥"

इति कात्यायनोऽपि । अत्र "न स्वेऽग्नौ" इत्यनेन दम्पतिगामिफलककर्मातिरिक्तानि कर्मणां स्वेऽग्नौ निषेधे प्राप्ते "मुक्त्वैकाम्" इत्यादिना तस्य प्रतिप्रसवः क्रियते । उपाकर्मणि शिष्यकर्तृका या समिदाहुतिः, सीमन्तोन्नयनादिका ये गर्भसंस्काराः, ते तु वचनात् जातेष्टिवत् स्वेऽग्नावेव कर्तव्याः । मुक्त्वैतानि कर्माणि अन्यद् गृह्योक्तमपि यजमानगामिफलकं न चेत् न स्वेऽग्नावनुष्ठेयानि" इत्यभिहितम्, तन्न युक्तिसहम् । दम्पतिशब्दस्य गृह्यवाचकस्य क्वचिदप्यश्रवणात् । सीमन्तोन्नयनादीनां पारस्कराचार्येण "पञ्चसु बहिः शालायाम्" (पार० गृ० सू० १।४।२) इत्यादिना शालातो बहिरेव विधानात् तेषामावसथ्याग्निसाध्यत्वे विना वचनमावसथ्याग्नेः स्वायतनबहिर्भावस्य निषिद्धत्वात् । अन्यथा "औपासनमरण्यं हृत्वा" (पा० गृ० सू० ३ । ८ । ३) इति शूलगवे बहिःशालायां प्रणयनविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अतः साग्नेरपि सीमन्तोन्नयनादिकं लौकिकाग्नावेव । न स्वेऽग्नाविति वचनं तु छन्दोगपरिशिष्टान्तर्गतत्वाच्छन्दोगपरमित्येवास्थेयम् । समिदाहुतिस्त्वन्यविषयैव । तेषामुपाकर्मणि समिदाहुतेरभावात् । एवञ्च तत्प्रतिप्रसवबलात् उपाकर्मण आवसथ्याग्निसाध्यत्वं प्रतीयते । इदमेव च कर्काचार्याणामुपाकर्मण आवसथ्याग्निकथने मूलम् । किञ्च यानि गृह्योक्तानि कर्माणि तेषां सर्वेषां विशेषविधिविमुक्तानामावसथ्याग्निसाध्यत्वमेवाभिप्रेतम्, विशेषवचनमपि सूत्रकारेणैव यल्लिखितं स्यात्तदेवाचार्यैर्गृह्यते नान्यत्स्मृत्यन्तरोक्तमपि । यथा—उतूलपरिमेहादौ, तेषु हि "दावाग्निमुपसमाधाय" (पा. गृ. सू० ३।७।३) इत्यादिना सूत्रकारेणैव दावाग्न्यादिसाध्यत्वमुक्तम् । अत एव च श्राद्धस्यापि पार्वणादेः स्मृत्यन्तरेण लौकिकाग्निकर्तव्यतायां प्रतीयमानायामपि सूत्रकारानभिहितत्वात् स्मृत्यन्तरवचनमनादृत्य साग्नेरेव तत्राधिकारमभिप्रयन्ति कर्काचार्याः । परन्त्विदानीं निरग्नेरपि श्राद्धकर्मण्यधिकारः सर्वैरङ्गीक्रियते । खण्डितं च कर्कमतं गदाधर-निर्णयसिन्धुकारादिभिः । तद्वदेव उपाकर्मणोऽपि लौकिकाग्निसाध्यत्वमप्यङ्गीकर्तव्यम् । अत एव "औपासनवह्निना" इति तु "कर्मद्वयमिदं केचिल्लौकिकाग्नौ प्रकुर्वते" इति गृह्यकारिकोक्तलौकिकाग्निना विकल्प्यते । तत्र "अथाध्याप्यैरन्वारब्धः" इति सूत्रात् सशिष्यत्वे तदधिकारिकस्याचार्याग्नौ नान्यस्याग्नावन्यो जुहुयादिति निषेधाल्लौकिक एव । तदभावे तु स्मार्त्त इति निगर्वः, इति निर्णयसिन्धावुक्तम् । वस्तुतस्तु यजुर्वेदित्वेऽपि, यथा तैत्तिरीयाणां साग्नीनामपि उपाकर्मोत्सर्जने लौकिकाग्नावेव कर्तव्ये इति नियमः शास्त्रविहितः, एवमेव कातीयानामपि इति भ्रमो मा भूत्, किन्तु यो नाम साग्निकः स नियमेन आवसथ्याग्नावेवोपाकर्मोत्सर्जने कुर्यात्, निरग्निस्तु लौकिकाग्नौ कुर्वन्न निवार्यते इत्येतत्तात्पर्यकं कर्कवचनमिति युक्ततरं प्रतीमः ।

तदयं निर्गलितोऽर्थः। कात्यायनीयानां साग्निकत्वे स्वेऽग्नावुपाकर्मानुष्ठेयम्, निरग्नित्वे तु "प्रत्यब्दं यदुपाकर्म" इत्यादिना नित्यत्वश्रवणात् नित्यस्य परित्यागे प्रत्यवायोत्पत्तेस्तत्परिहारार्थं पार्वणश्राद्धादिवत् लौकिकेऽग्नावपि कर्त्तव्यमेव न तु परित्याज्यम्। एवमुत्सर्गेऽपि। बह्वृचादीनां तु उपाकर्मणि एकानेककर्तव्यता-विधानात् यदा एक एव करोति तदा स्वेऽग्नौ, यदा तु आचार्यः शिष्या इत्यनेके मिलित्वा कुर्वन्ति तदा साग्नेरपि लौकिकाग्नावेव। उक्तञ्च स्मृतिकौस्तुभकारैः— "ब्राह्मणोऽपि यदाऽन्यैः सह कर्म कुर्यात्तदा लौकिकाग्नौ, अन्याग्नौ क्रियमाणेन कर्मणाऽन्येषां फलासम्भवात्। यदा त्वेकः कुर्यात्तदा स्वगृह्याग्नौ कुर्यात्। बाधकाभावे गृह्यकर्मणां तत्रैवानुष्ठानौचित्यात्।" इति।

अतो निरग्निभिरपि अनध्यापयद्भिरपि स्वे स्वे जपादौ तत्तत्कर्मसु च प्रयुज्य-मानानां मन्त्राणामयातयामत्त्वसिद्ध्यर्थं वीर्यवत्त्वसम्पत्त्यर्थं च प्रत्यब्दमुपाकर्मो-त्सर्जने अवश्यमनुष्ठेये एवेति सिद्धम्।

—:०:—

हरिहरयाग-मीमांसा

पवित्रतमोऽयं भारतदेशो देशान्तराण्यतिशय्य विराजत इति न केवल-मस्माभिरुच्यते, किन्तु देशान्तरस्थैरपि निर्विचिकित्समभ्युपेयते। तत्कस्य हेतोः? देशान्तरेषु हि द्वितीय-तृतीयपुरुषार्थयोरेवार्थकामयोः प्राधान्यमवलम्बमाना-स्तत्रत्याः स्व-स्व-समाजस्य सभ्यतायाश्च विवृद्धये प्रयतमाना यथावत्स्वस्व-समीहितं साधयितुं न प्रभवन्ति। य एव हि देशः विलासितायामत्यन्तं निमग्नः धर्ममार्गाच्च विमुखः, तस्याचिरादेव नाश इत्यत्र सुलभान्युदाहरणानि। अस्माकं भारतदेशः पुनरा च परमेष्ठिनः प्रथमायास्सृष्टेः आ चैतन्निमेषात् धर्मोत्तर एवाव-तिष्ठत इति देशान्तरापेक्षया उत्कृष्टत्वे निदानम्। धर्मपथं विहाय स्वेच्छाचारेण वर्तमानानां जनानां पशुभिस्सह तुल्यतैवेत्यत्र न संशयः कस्यापि, प्रत्युत पशव एव श्रेयांसः, यतश्च ते प्रत्यवायभागिनो न भवन्ति। अत एवोक्तम्—

'पशुतैव वरं तेषां प्रत्यवायाप्रवर्तनात्।' इति।

पशुप्रायवृत्तयश्च देशान्तरस्थाः, भारतनिवासिनश्च न तथा। एकैकस्यापि जनुष्मतो भारतीयस्य यथारूपं स्व-स्व-धर्मेऽभिरतिर्नियता आसीदिति प्राचीनेति-हासतोऽवगच्छामः। अतएव प्राञ्चस्सुमतयो महर्षयः वेदाम्नायाद्यपरपर्यायां भगवतीं श्रुतिं सेवमानास्तत्र सञ्जातसमधिकगौरवाः—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते।
न वेदाच्च परं शास्त्रं न दैवं शङ्करात्परम्॥

इत्युद्घोषयन्तः, तदुदितधार्मिकपदार्थानां जगत्कल्याणाधायकानां प्रचाराय सुपरिश्रम्य नैकविधान् धार्मिकान् स्मृतिपुराणग्रन्थान् प्रवर्तयाम्बभूवुः। एवं ग्रन्थ-प्रवर्तनेऽमीषां प्राचीनानामपरोऽभिप्रायः—यदुक्तं भारतवर्षस्योत्कर्ष आध्यात्मिकाधिदैविकशक्त्यधीनः, आध्यात्मिकशक्तिराधिदैविकशक्तिश्च धर्मानुष्ठानाधीने। अतो धर्मप्रचारोऽत्यावश्यक इति। अतएव चोभे अपीमे शक्ती उत्सृजन्तो देशान्तरीया आधिभौतिकीमेव शक्तिं समाश्रित्य परस्परं निधनमुपयन्तीत्यनुमातुं शक्यते। पूर्वोक्तशक्तिद्वयविवृद्धये निदानभूतस्य धर्मस्य वेदोदितस्य स्वरूपं विवरीतुमेव दर्शनानि न्यभान्त्सुर्व्यास-जैमिनिप्रभृतयो महर्षयः।

तत्र धर्मस्य स्वरूपं वेदवोधितश्रेयस्साधनमिति कथयन्तः शास्त्रकारा न केवलं याग-दान-होम-द्रव्यगुणानामेव धर्मत्वमभिप्रयन्ति, किन्तु 'अयन्तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्यादि-याज्ञवल्क्यस्मृतिप्रमाणजातेनात्मज्ञानस्यापि धर्मत्वमाशेरते।

एवं वदतां ग्रन्थकाराणामयमाशयः प्रतिभाति यद् वेदे कर्मज्ञानोपासनारूपेण विभक्तानां काण्डानां प्रतिपाद्यविषयेषु सत्यपि भेदे तेषां परस्परमस्ति महान् सम्बन्ध इति। अतएव कर्मणां ज्ञानस्य भक्तेश्च धर्मशव्देन व्यवहारस्तत्र तत्र ग्रन्थकाराणां सङ्गच्छते।

तत्र कर्माण्याधानसिद्धगार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निरूपत्रेताग्नि-साध्याग्निहोम-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-ज्योतिष्टोमादीनि श्रौतान्यनन्तानि, वैवाहिकाग्नि- (औपासनाग्नि) साध्यान्युपनयन-विवाहप्रभृतीनि बहूनि, कुशकण्डिकादिसंस्कारसंस्कृताग्निसाध्यानि पौराणिकानि रुद्र-विष्णु-चण्डी-हरिहरात्मकयागरूपाणि विविधानि यदा चाग्रे श्रौतानां स्मार्तानां वा कर्मणामनुष्ठाने लोकानां श्रद्धाया न्यूनता भविष्यतीत्यपश्यन् ज्ञानचक्षुषो महर्षयः, तदा पुराणाभिहितकर्मानुष्ठानेन स्वस्वाभिलषितं सम्पादयन्तु लोका इति मनीषया तानि प्रवर्तयाम्बभूवुः। यैव देवता समाराध्यत्वेन स्वसमीहितफलप्रदत्वेन वा येन निश्चीयते यथा केनचन रुद्रः, अपरेण विष्णुः, अन्येन देवी, इतरेण हरिहरात्मको देवः स तां तां देवतां कर्मभिः सन्तोष्य फलभोक्ता भवत्विति पुराणप्रवर्तकानामृषीणामाशयः प्रतिभाति।

तत्र हरिहरात्मक-यागानुष्ठाने केषाञ्चनैवं शङ्का भवति—'हरिहरनामको यागः' क विहितः, कथं वेदं नाम प्रसिद्ध्यति, देवताद्वयस्यैकस्मिन् कुण्डे आहुतयः केन प्रमाणेन हूयन्ते, किं वास्य फलम्, के वात्र मन्त्राः, कथञ्च तेषां विभागः, का वेतिकर्तव्यता ? इति।

अत्र ब्रूमः—पौराणिकानां यागानां श्रौत-स्मार्तकर्मणामिव प्रत्यक्षविधिबलादेवानुष्ठानमिति न नियमः। श्रौतेष्वपि कर्मसु बहुत्र प्रत्यक्षविध्यभावेऽपि कल्पितविधिबलादनुष्ठानं स्वीक्रियते। यथा दर्शपूर्णमासयोः आग्नेययागस्य। तस्य चोत्पत्तिवाक्यम्—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'

इति। अत्र न यागबोधकः शब्दः, नापि कापि विधिविभक्तिः, सत्यप्येवं विधिं परिकल्प्य यागोऽनुष्ठीयत इति सम्प्रतिपन्नमिदं सर्वेषाम्। एवंप्रायाण्युदाहरणानि श्रौतेषु कर्मसु "अग्निहोत्रं जुहोति, सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति, यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति, यस्य खादिरः स्रुवो भवति, अक्ताश्शर्करा उपदधाति, तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते" इत्यादीनि बहूनि। एषां वर्त्तमानकालबोधकलकारघटितानामपि कल्पितविधिद्वारा विधायकत्वमिष्यते शास्त्रकारैः। क्वचनार्थवादवाक्यानामेवानर्थक्यानुपपत्त्या विधिकल्पकत्वमिष्टं शास्त्रकाराणाम्। यथा—'औदुम्बरो यूपो भवति ऊर्ग्वा उदुम्बरः, ऊर्क्, पशवः, ऊर्जैं वास्मा ऊर्जं पशूनाप्नोति, ऊर्जोऽवरुध्यै' इत्यस्य समुदितस्य स्तावकत्वपक्षेऽविहितस्य स्तुत्यनुपपत्तेरौदुम्बरविधायकत्वं वाक्यानां परिकल्प्यते। तेन च यदौदुम्बरत्वं विहितं, तदनेन समस्तेन वाक्येन स्तूयत इति मीमांसकानां सिद्धान्तः।

एवञ्च 'हरिहरदेवतया यजेत' इति वाक्यश्रवणाभावेऽपि हरिहरदेवतायाः स्तुतिबोधकैर्वाक्यैः हरिहरदेवताकर्मविधायकवाक्यं परिकल्प्य तस्यानुष्ठानं न विवादाय कल्प्येत। अन्यथा देवतास्तावकानां वाक्यानां पुराणेषु तत्र तत्रोपलभ्यमानानामानर्थक्यमेव स्यात्। तत्तद्देवतासमाराधनेन जपेन ध्यानेन पूजया तर्पणेन होमेन च भवतीति कर्मकाण्डिकानामविप्रतिपन्नमिदम्। हरिहरदेवताविषयकं ध्यानं पूजनं च कूर्मपुराणादिषु समुपलभ्यते। इदञ्च विलोक्यास्मत्पूर्वजाः शिष्टाः कतिपये हरिहरात्मकयागमपि स्वीयाविगीताचारेण प्रवर्तयाञ्चक्रुः। ये हि हरिं हरञ्चोभयात्मिकां देवतामभिन्नां समुपासते, तेषामिदमनुष्ठानं कथमिव निन्दाविषयः स्यात्, एवं च पुराणादिषु समुपलभ्यमानहरिहरविषयकध्यान-स्तुति-पूजनप्रतिपादकैः श्लोकैः हरिहरात्मकयागविधायकवाक्यं परिकल्प्यते, हरिहरात्मकयागेन स्वसमीहितं सम्पादयेदिति, अथवा शिष्टाचारेणानुमीयते तादृशो विधिः। यावच्च शिष्टाचारविघातकं स्मार्तं श्रौतं वा प्रमाणं नोपलभ्यते तावत्स आचारः प्रमाणमिति शास्त्रोन्नीतः पन्थाः। न क्वापि स्मृतिषु पुराणेषु वा 'हरिहरात्मकयागं न कुर्यात्' इति निषेधः समुपलभ्यते। नापीदं कर्म केनापि दृष्टेन कारणेन गर्हितं प्रतीयते।

किञ्च यावन्तः सम्प्रति पौराणिका यागा अनुष्ठीयन्ते, अनुष्ठाप्यन्ते वा रुद्रविष्णु-चण्डीप्रभृतीनाम्, अमीषाञ्च विधानं पौराणिकवचनेभ्यः कल्पितैरेव विधिवाक्यैः स्वीकर्तव्यम्, स्मृतीनां पुराणानाञ्च श्रुतिमूलकत्वेनैव प्रामाण्यात्। न हि कापि प्रत्यक्षो विधिः समुपलभ्यते 'रौद्रेण यजेत', 'वैष्णवेन यजेत' इति येन प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वममीषां स्यात्। यद्यपि 'शतरुद्रियं जुहोति' इति विधिः उपलभ्यते, तथापि यादृशपद्धत्या साम्प्रतं रुद्रादयो यागा अनुष्ठीयन्ते, तेषां तन्मूलकत्वमेवेति वक्तुं न शक्यते, किन्त्वनुमितश्रुतिमूलकत्वमपीति स्वीकर्तव्यम्। तथा च हरिहरदेवतास्तावकपुराणवचनेभ्योऽनुमितं यद्विधिवाक्यं, तदेव शिष्टैरनुष्ठितहरिहरात्मकयागस्य मूलमिति सिद्ध्यति।

यागस्यास्य नामविषये एवं प्रष्टारो भवन्ति—केन प्रमाणेनास्य 'हरिहर' इति नामेति। तत्रेदमुच्यते—मीमांसायां निमित्तचतुष्टयान्नाम्नः सिद्धिरभिहिता मत्वर्थलक्षणाभीत्या 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादिषु, वाक्यभेदभीत्या 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यादिषु, तत्प्रख्यशास्त्रात् 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिषु, तद्व्यपदेशात् 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादिषु, एवं श्रौतेषु कर्मसु सत्यपि नियमे 'सोमयागः', 'आग्नेययागः' 'उपांशुयागः'—इत्यादीनि कर्मनामानि याज्ञिका व्यवहरन्ति। इमानि च नामानि न पूर्वोक्तप्रमाणैः साधयितुं शक्यन्ते। ज्योतिष्टोमशब्दस्य तत्प्रख्यशास्त्रान्नामत्वं साधयितुं शक्यते, न 'सोमशब्दस्य', तथा सति 'सोमेन यजेत' इत्यत्र विनैव मत्वर्थलक्षणया शाब्दबोधः स्यात्। एवमेव 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यत्रापि मन्त्रवर्णरूपतत्प्रख्यशास्त्रेणाग्नेः प्राप्तिमङ्गीकृत्याग्नेयशब्दस्य नामत्वं यद्युच्येत, तर्हि 'आग्नेय' शब्दस्याग्नेयाधिकरणे गुणसमर्पकत्वसिद्धान्तो भग्नः स्यात्। अत एवमादिनामव्यवहारस्य मूलं याज्ञिकानां प्रसिद्धिरित्येव वक्तव्यम्। सोमद्रव्यकत्वात् सोमयागः, अग्निदेवताकत्वात् आग्नेययागः, उपांशुक्रियमाणत्वात् उपांशुयागः, इत्येवं याज्ञिकप्रसिद्धेरुपपत्तिः। एवमेव 'रुद्रयागः' इति नाम रुद्रदेवताकत्वात्। न चात्र तत्प्रख्यशास्त्रेणैव नाम्नः सिद्धिरिति वक्तुं शक्यते, तत्प्रख्यशास्त्रत्वेनाभिमतरुद्रमन्त्रे रुद्रशब्दवत् शङ्कर-मयस्करादिशब्दानामपि सत्त्वात् 'शङ्करयागः', 'मयस्करयागः' इत्यपि व्यवहारापत्तेः। तत्तु नेष्यते, व्यवहाराभावस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वात्। अतो रुद्रदेवताकत्वात् 'रुद्रयागः' इति प्रसिद्धिः। एवमेव विष्णुदेवताकत्वात् 'विष्णुयागः' इति, तथैव हरिहरदेवताकत्वात् 'हरिहरात्मको यागः' इति नामापि सिद्ध्यति। एवञ्च क्वचन द्रव्यमादाय, कुत्रचिद् देवतामादाय क्वचनान्यगुणमादाय याज्ञिकव्यवहारस्योपपत्तिः सिद्ध्यति, न तु मीमांसाभिहितप्रमाणचतुष्टयेनैव। एतेन 'पुरोडाशयागः', 'पशुयागः' इत्यादिव्यवहारोऽपि व्याख्यातः।

वस्तुतस्तु मीमांसादृष्ट्या यदि पर्यालोच्यते, तर्हि साम्प्रतं क्रियमाणानां रुद्रादिदेवताकानां कर्मणां यागशब्देन व्यवहारोऽसङ्गत एव, अमीषां यजतिचोदनाचोदितत्वाभावात्। अत्र च वैदिकानां प्रसिद्धिरेव शरणीकरणीया। न हि वैदिका मीमांसका वोपनयने विवाहे च क्रियमाणान् होमान् सत्यपि तेषूद्देशत्यागे यागशब्देन व्यवहरन्ति 'उपनयनयागः', 'विवाहयागः' इति। श्रौतस्यापि कर्मणोऽग्निहोत्रस्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपयागपदार्थविशिष्टस्य 'अग्निहोत्रयाग' शब्देन व्यवहारो न केषामपि सम्मतः। अतश्चैवमादिषु स्थलेषु 'रुद्रयागः', 'विष्णुयागः' इत्यादीनां यथोपपत्तिस्तथैव 'हरिहरात्मको यागः' इत्यस्याप्युपपत्तिरिति न नामधेयस्यासङ्गतिरिति सिद्धम्।

एकस्मिन् कुण्डे हरिहरात्मकयागस्यानुष्ठानं कथम् ? हरिर्यदा होमेन समाराध्यते, तदा पुरुषसूक्तमन्त्रेण, हरश्च यदा होमेन समाराध्यते, तदा रुद्राध्यायमन्त्रेण । तथा रुद्रयागो विष्णुयागश्च स्याताम् । तयोश्चैककुण्डानुष्ठेयत्वं कथं भवेदिति केचनाक्षेप्तारो भवन्ति ।

अत्र वदामः—दर्शपूर्णमासयोराग्नेययागोऽस्ति, स च प्रकृतिः । यद्यस्य विकृतिरप्यग्निदेवताका तदा आग्नेययागीययाज्यापुरोनुवाक्यामन्त्रैरेव वैकृताग्नेये क्रियमाणे दार्शपूर्णमासिकाग्नेयः कृत इति व्यवहारः किं कस्यापि सम्मतो वा ? न कोऽप्येवं व्यवहरति । तथैव प्रकृतमपि हरिहरात्मकं कर्म रुद्राध्यायेन पुरुषसूक्तेन च क्रियमाणं न रुद्रयागो विष्णुयागो वा भवेत्, किन्तु ततो विलक्षणमेवेदं कर्म । तथा सत्येककुण्डानुष्ठेयत्वमस्य कथं नाम न भवेत् ? विभिन्नदेवतयोरेकस्मिन् कुण्डे कथं होमो भवितुमर्हतीति न शङ्कितुं शक्यम् ; पौर्णमास्यां दर्शे वा नानादेवतानामेकस्मिन्नाहवनीये होमानां सम्पद्यमानत्वात् । अत्र हरिहरयोर्देवतात्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वादग्नीषोमादिवन्नानुपपत्तिः काचन ।

इयांस्तु विशेषः—श्रौतेषु कर्मसु विधिप्रतिपाद्या देवता स्वीक्रियते । क्वचित्तद्धितेन देवताया विधिः, क्वचिच्च चतुर्थ्या, क्वचिच्च मान्त्रवर्णिकदेवताया विधिः । नैतादृशविधानं हरिहरयोरुपलभामहे, किन्तु हरिहरक्षेत्रादिषु हरिहरात्मकदेवतायाः प्रसिद्धत्वात्, तस्याश्च पूजनादिकस्य वर्त्तमानत्वात् तदाराधनाय यागोऽपि शिष्टैः प्रवर्तित इति हरिहरयोर्देवतात्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वं स्वीक्रियते । यद्येतादृशं देवतात्वं नाभविष्यत्, तर्हि **हरिहरमण्डलम्**, **हरिहरध्यानम्**, **हरिहरस्तुतिः**, **हरिहराष्टोत्तरशतनामावलिः**—इत्यादिकमपि नाभविष्यत् । सर्वतोभद्र-लिङ्गतोभद्रादिवत् हरिहरमण्डलमेव हरिहरयोर्व्यासज्यवृत्तिदेवतात्वमवगमयति ।

किञ्च मीमांसका इव याज्ञिका न देवतास्वरूपमभ्युपयन्ति । मीमांसका हि शब्दैकसमधिगम्यं देवतात्वं स्वीकुर्वन्तः देवतानां करचरणाद्यवयववत्वं नाभ्युपगच्छन्ति, नापि तासां फलप्रदातृत्वशक्तिं वा स्वीकुर्वन्ति । याज्ञिकास्तु देवतानां विग्रहादिमत्त्वं फलप्रदातृत्वञ्च स्वीकृत्य स्वस्वाभिलषितफलप्राप्तये तां तां देवतां जप-होमादिभिस्तपर्यन्ति । अतश्च मीमांसकानां मते विधिविहितस्यैव देवतात्वम्, याज्ञिकानां तु विधितदतिरिक्तप्रमाणगम्यस्य देवतात्वमिति सिद्ध्यति । एवञ्च हरिहरयोर्व्यासज्यवृत्त्यैव देवतात्वं स्वीकृत्यैकस्मिन् कुण्डे रुद्राध्यायेन पुरुषसूक्तमन्त्रेण च हरिहरात्मकयागे क्रियमाणे न कोऽपि दोष इति सिद्धम् ।

किञ्च **'फलकर्मदेशकालद्रव्यदेवतागुणसामान्ये'** (का० श्रौ० सू० १।७।३) **'तद्भेदे भेदः'** (का० श्रौ० सू० १।७।४) इति कात्यायनश्रौतसूत्राभ्यां फलकर्मादीनां भेदे कर्मणो भेदः, तदभेदे चाभेद इत्युक्तम् । प्रकृते च हरिहरयोर्विद्यमानस्य देवतात्वस्यैकत्वात् भेदाभावाच्चैककुण्डानुष्ठेयत्वे न कस्यापि विप्रतिपत्तिः ।

कस्मिंश्च कर्मणि हरिहरयोस्तन्त्रेण कथमनुष्ठानमिति प्रश्नस्येदमुत्तरम्- तन्त्रं हि

नामानेकोद्देशेन सकृदनुष्ठानम्। यथा दर्शपूर्णमासयोरनेकान्याग्नेयादिषट्-प्रधानान्युद्दिश्य प्रयाजानुयाजादीनां सकृदनुष्ठानं तत्तत्पर्वणि भवति। तत्र सम्भवतामङ्गानां तन्त्रमसम्भवत्त्वावृत्तिरिति न्यायोन्नीतः पन्थाः।

यदुच्यते कैश्चित् 'अपवृत्तकर्मा लौकिकोऽर्थसंयोगात्' (का० श्रौ० सू० १।३।२८) इति कात्यायनीयं सूत्रमादाय प्रकृतिकर्मणि रुद्राध्यायेन होमे समाप्ते पुनः पुरुषसूक्त-होमकरणेऽग्नेर्लौकिकत्वमापाद्यत इति। तत्र ब्रूमः—हरिहरात्मकयागप्रयोगस्यासमाप्त-त्वात्कथमप्रवृत्तकर्मा जातः? हरिहरयोर्व्यासक्तदेवतात्वेऽपि तथाविधमन्त्राणामनु-पलम्भाद् रुद्र-विष्णुयागीयमन्त्रान् तदङ्गानि चात्रातिदिश्यायं प्रयोगः कर्तव्यः इत्यस्मत्पूर्वजानामेतत्कर्मानुष्ठातॄणां शिष्टानामाशयः।

तत्र रुद्रहोमे समाप्तेऽपि प्रकृतप्रयोगस्यासमाप्तत्वादग्नेर्लौकिकत्व कथमापादयितुं शक्यते?

किञ्च—

"शृणु देवि महाभागे यागं हरिहरात्मकम्।
कुर्वन् सिद्धिमवाप्नोति पुत्र-पौत्रप्रदायकम्॥"

इत्यादितन्त्रान्तरवचनाद् हरिहरात्मकयागस्य तत्रानुष्ठानप्रतीतेः कथं कात्यायनश्रौत-सूत्रस्य प्रकृते प्रवृत्तिः?, तस्मात् हरिहरात्मकयागस्य निर्दुष्टत्वात्, शास्त्रीयत्वात्, शिष्टाचारपरिगृहीतत्वात्, स्वस्वाभिलषितसाधकत्वाद्, अगर्हितत्वाच्च स्वीकर्तव्यत्व-मुचितमेव।

ये हि हरिहरावुभावेकेनैव प्रयोगेण सन्तोष्य स्वस्वसमीहितं सर्वमपि फलं साधयितु-मभिलषन्ति, तेषां समभावेन देवताद्वयमेकीकृत्य समाराधयतां सौकर्याय शिष्टैः प्रवर्त्तितस्य हरिहरात्मकयागस्यौचित्यं प्रतीयते।

'न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' इति न्यायमनुसृत्य हरिहरयागस्यानुष्ठानेऽनुष्ठापने चानुष्ठातॄणामनुष्ठापयितॄणाञ्च सद्गतिरेव स्यादिति निश्चप्रचमेव।

कन्यादान-मीमांसा

इदमत्र विचार्यते। कन्यादाने दातुः स्व-स्वत्वनिवृत्तिर्भवति नवेति। केचिदत्रैवमा-शेरते—'गोदानादौ इमां गां तुभ्यमहं सम्प्रददे' इत्युक्त्वा ततः स्वस्वत्वनिवृत्ति-बोधकं 'न मम' इति पदद्वयमपि उच्चार्यते, अतस्तत्र स्वस्वत्वनिवृत्तिर्जायते। कन्यादाने तु 'इमां कन्यां तुभ्यमहं सम्प्रददे' इत्येवोक्त्वा विरम्यते, न तु 'न

मम' इति पदद्वयमुच्चार्यते। अतश्च गोदानवत् नात्र स्व-स्वत्वनिवृत्तिर्भवति। अतएव सकृद्दत्ताऽपि पुनर्दातुं शक्यत इति। ते तावत्प्रष्टव्याः, आस्तां तावत् 'न मम' इति पदद्वयम्, कन्यादानेऽपि गोदानवत् दाधातुरुच्चार्यते नवेति। यदि चेदोमिति ब्रूयुस्तर्हि तत्रोच्चार्यमाणस्य दाधातोः कोऽर्थ इति 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक-परस्वत्वापादानरूपो व्यापारो दाधात्वर्थः' इति शास्त्रकारैः सर्वत्राङ्गीकृतः। "दानं चापुनर्ग्रहणाय स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम्" इति 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (अष्टा० १।४।३२) इति सूत्रे तत्त्वबोधिनीकारः।

शास्त्रदीपिकायामपि पार्थसारथिमिश्रैः चतुर्थेऽध्याये द्वितीयपादे द्वादशेऽधिकरणे यागहोमादीनां भेदकथनावसरे "देवतोद्देशेन स्वद्रव्यपरित्यागो यागः, स एव प्रक्षेपाधिको होमः, स्वीयस्य परकीयत्वापादनं दानम्' इत्युक्तम्। 'सम्प्रदान-स्वत्वापादको द्रव्यत्यागो दानपदार्थः' इति च तत्रैव भाट्टदीपिकायाम्। एवं च सति दाधातुरेव स्वस्वत्वनिवृत्तिं परस्वत्वापादानं च कथयति इति यत्र दाधातुः प्रयुज्यते तत्र स्वस्वत्वनिवृत्तिरपि जायत एवेति किमवशिष्यते यत् 'न मम' इति पदद्वयेन बोध्यते।

स्मृतिकारैः परं स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं दाधातुकार्थीया एव स्वत्वनिवृत्तेर्न ममेति पद-द्वयेनापि अनुवादः कार्य इति मत्वैव 'न ममेति स्वसत्ताया निवृत्तिमपि कीर्तयेत्' इत्युक्तम्। अतश्च सर्वत्र दानस्थले 'न मम' इति कथनमनुवादरूपमेवेति तदनुक्तावपि स्वत्वनिवृत्तिर्जातैवेति मन्तव्यम्। अत एव गोदानादावपि क्वचिद् देशे 'न मम' इति शिष्टा नोच्चारयन्ति। यागादौ परम् इदमग्नय इत्यादिचतुर्थीमात्र-प्रयोगात् दाधातोरप्रयोगेण चतुर्थ्या च त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वमात्रकथनात् तत्र स्वत्वनिवृत्तेस्तयाऽप्रतीतेस्तत्प्रतीत्यर्थं 'न मम' इति पदद्वयमुच्चारणीयमेव। किञ्च यदि कन्यादाने न स्वत्वनिवृत्तिर्जायते तर्हि पुत्रदानेऽपि कथं सा जायते? यदि चेष्टापत्तिः—"गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्रिमः सुतः" इत्यादिगोत्ररिक्थनिवृत्ति-बोधकानां शास्त्राणां का वा गतिः? कथं वा स पुत्रः प्रतिग्रहीतरि मृते पुनरन्यस्मै न दातुं शक्यते? कथं वा कन्या पुत्रैः साकमंशहरा न भवेत्? अतो यथा दत्तकहोमा-नन्तरं पुत्रो जनकगोत्राद् भ्रश्यति तस्य चास्य च जन्य-जनकभावसम्बन्धमन्तरा नान्योऽस्ति कश्चित्सम्बन्धः। एवं वैवाहिकसप्तपद्यनन्तरं कन्यायाः पितुश्च तादृशं सम्बन्धमन्तरा नान्यः सम्बन्धः कश्चिदस्ति। अत एव च कन्यां परकीयद्रव्यन्यासरूपां समामनन्ति। "प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा" (शकुन्तलानाटक, ४।२४) इति महर्षिः कण्वः कथयति।

'कन्यादानं त्रिः कार्यम्' इति शौनकोक्तिस्तु प्राथमिकदानेऽपि दानसम्पत्तौ सत्यां पुनर्वारद्वयमदृष्टार्थं शब्दोच्चारणं कार्यमित्येवमर्थिका। यथा मधुपर्के सकृदुच्चा-

रणेनापि सिद्धे कार्ये 'मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः' इति वारत्रयमुच्चार्यते। यथा वा सोमयागे दीक्षाप्रकरणे दीक्षितावेदनसमये 'दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः' (का० श्रौ० सू० ७।४।११) इति सकृदुच्चारणेनापि कार्यसिद्धौ "त्रिरुपांश्वाह त्रिरुच्चैः" इति विधानमदृष्टार्थम् तद्वत्।

अयमत्र निष्कर्षः—गोदानवत् कन्यादानेऽपि दाधातुप्रयोगात् स्वत्वनिवृत्तिर्भवत्येव। 'न मम' इति शब्दोच्चारणं भवतु मा वा। अत एव च गोदानेऽपि क्वचित् 'न मम' इति न प्रयुज्यते, कन्यादानेऽपि क्वचित्प्रयुज्यते।

क्वचिद् देशे 'प्रजासहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयामि' इत्येव प्रयुज्यते। तत्र प्रतिपादनमपि दानापरपर्यायमेव। अतो दानानन्तरकालिकवैवाहिकसप्तपद्यामेव कन्यायाः पितृगोत्रनिवृत्तेः पितुस्तस्याश्च पितृत्वकन्यात्वरूपसम्बन्धं विना अन्यस्य स्वत्वादेरभावात् न सा कन्या पुनरन्यस्मै केनापि कारणेन दातुं शक्येति।

—※—

विवाहस्यानादिता

विवाहशब्दस्तु—विपूर्वकवहधातोर्भावे घञि प्रत्यये कृते निष्पन्नो विशिष्टं वहनमभिदधाति। विशिष्टं वहनं च कन्याया अन्यदीयायाः स्वीयत्वापादनपूर्वकं संस्काराधानम्। स्वीयत्वापादनं च अन्यदीयस्य वस्तुनः प्रतिग्रहमूलकम्। प्रतिग्रहश्च दानमूलकः। अतश्च कन्यापित्रादिना कन्याया दाने कृते तां प्रतिगृह्य स्वीयामापाद्य पाणिग्रहणादिहोमसंस्कारैः संस्कृतत्वसम्पादनमेव विवाह-पदार्थ इति सिद्धयति। एवं च विवाहे दानम्, प्रतिग्रहः, पाणिग्रहणम्, होमादिः, इति पदार्थचतुष्टयं प्राधान्येन परिगणनीयं भवति, अन्यत्सर्वमङ्गतया। तत्र दानं कन्यापितरं प्रति, अन्यद्वरं प्रतीति विवेक्तव्यम्।

अयं च विवाहः स्त्रिया भार्यात्वापादकवत् पुरुषस्य पतित्वापादकोऽपि। अतश्चोभयसंस्कार एवायम्, न स्त्रीमात्रसंस्कारो, नापि पुरुषमात्रसंस्कारः। यथा च उपनयनं माणवकस्य अध्ययनयोग्यतारूपसंस्काराधायकम्, एवं विवाहः स्त्रीपुंसयोरन्याधानाग्निहोत्रपाकयज्ञादि-श्रौतस्मार्त्तकर्मानुष्ठानयोग्यताधायकः। नह्यविवाहिता स्त्री पुमान्वा क्वचित् श्रौते स्मार्त्ते वा कर्मण्यधिक्रियते। अत एव विवाहः स्त्रिया एव संस्कारको नित्यः, पुरुषस्य तु काम्य ऐच्छिक इति ये केचिद्वदन्ति तेषामुक्तिर्गगनकुसुममवलम्बते। स्त्रीसंस्कार इव पुरुषसंस्कारेऽपि युक्तितौल्यात्। अत एव गौतमादिभिः अष्टाचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृत इत्यारभ्य तन्मध्ये विवाहस्यापि सहधर्मचारिणीसंयोग इति पुरुषसंस्कारमध्ये परिगणनं कृतम्। अतश्च यथाऽऽधानाग्निहोत्रादीनां नित्यत्वम् (अवश्यानुष्ठेयत्वम्) उभयसंस्कारकत्वं च, तद्वत् विवाहस्यापि

नित्यत्वमुभयसंस्कारकत्वं चाविरुद्धम् । द्वितीयादिविवाहस्तु पुंसः काम्यः; स्त्रियस्तु नास्त्येव ।

विवाहस्य सत्यपि रतिसम्पादकत्वे पुत्रोत्पत्तिसाधनत्वे च देशान्तरवत् नास्माकं भारतीयानां तदर्थत्वमात्रे तस्य पर्यवसानमिष्टम्, किन्तु मुख्यतया धर्मार्थत्वमेव, पुत्रोत्पत्तेरपि च नित्यत्वमेवास्माकं मते । यस्यैव अनिष्टयज्ञस्य मोक्षेच्छायां दोषश्रवणम्, एवमनुत्पादितपुत्रस्यापि दोषः श्रूयते स्मर्यते च । अत एव च अध्ययनयजनसुतोत्पादनानां नित्यत्वं श्रुतिर्बोधयति—"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी ।" (तै० सं० ६।१।११)
इत्यत्र ऋणरूपत्वमेव अवश्यापाकरणीयत्वं च पूर्वोक्तैव श्रुतिरवबोधयति—

"अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ।"
(अथर्व० ६।११।७।३)

एतच्छ्रुत्यवलम्बेनैव जैमिनिरपि त्रयाणामेषां नित्यत्वं सूत्रयति—"ब्राह्मणस्य सोमविद्याप्रजमृणवाक्यसंयोगात्" (६ । ३) । एतेन देवर्णात् पितृऋणाच्च आनृण्यसम्भवेऽवश्यकर्तव्यो दारसंग्रहः । कृते तस्मिन् आनुषङ्गिकतया रत्युत्पत्तिः इति न तस्य मुख्यफलत्वमभिमतमस्मदाचार्याणाम् ।

वैवाहिकी प्रथा कदाप्रभृति अस्माकं देशे प्रचलिता इति केषांचिद्विचारशीलानां प्रश्नस्य इदमेवोत्तरं नित्यैवेयमिति । वैदिकानामस्माकं मते मीमांसकानामिव—

"वाचा विरूपनित्यया" (तैत्ति० सं० १०)

"अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानात् ब्रह्मस्वयम्भ्वेवाभ्यानर्षत्"
(तैत्ति० ब्रा० ११)

"अनादिनिधना वेदवागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।" (महाभारत, शान्तिपर्व, २३३।२४)

इत्यादिश्रुति-स्मृति-पुराणादिभिर्वेदस्यानादित्वमेव, नतु पुरुषकृतत्वरूपं पौरुषेयत्वम् । अतश्च ऋग्वेदादयः सर्वेऽपि वेदाः क्रमं विना सार्वकालिका एवेति सिद्ध्यति । तत्र च ऋग्वेदे अष्टमाध्याये—

"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽऽसः ।"

"तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥'

"पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥" (ऋ० १०।८५)

"समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।"

इत्यादयो बहवो मन्त्राः पाणिग्रहणरूपविवाहार्थं प्रवृत्तास्तमेवाभिवदन्ति।

"इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥" (ऋ० १०।८५।४२)

"आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥"
(ऋ० १०।८५।४३)

इत्यादयो वधूवरयोराशीरूपं फलं वदन्ति। एवम्—

"सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥" (ऋ० १०।८५।४६)

एवं सर्वेष्वपि वेदेषु विवाहमन्त्राः सुप्रसिद्धा एव। न चेदमत्र शङ्कनीयम्—मन्त्रा इमे यागादौ क्वचित् क्रियाङ्गत्वेन प्रवृत्ता विवाहेऽपि सूत्रकारेण विनियुक्ता अङ्गारकादिमन्त्रवत्, अतश्च नैतेषां मन्त्राणां विवाहैकान्तिकत्वं वक्तुं शक्यत इति; एतेषां विवाहं परित्यज्य अन्यत्र कुत्रापि विनियोगादर्शनात्। तेषां मन्त्राणां तत्र तत्र तांस्तानितरान् मन्त्रान् तत्तत्कर्माङ्गत्वेन तत्तत्क्रत्वङ्गभूतशास्त्राद्यङ्गत्वेन वा विनियुञ्जानोऽपि माधवाचार्य इमान् मन्त्रान् पाणिग्रहण एव विनियुङ्क्ते।

विवाहे कन्याग्रहणे गृभ्णामीत्येषा—सूत्रितं च "गृभ्णामि ते" इति। 'उदीर्ष्वातः" इति मन्त्रं च विवाहस्तावकत्वेन व्याख्याति। अत्रेदं भाष्यम्—'आभिर्नृणां विवाहः स्तूयते' इत्यादि।

एवं च प्रकरणमिदं साक्षात्परम्परया वा विवाहाङ्गभूतं मन्त्रसमुदायसन्दब्धम्। तत्रैव सर्वे मन्त्रा विनियुक्ता नान्यत्र क्वचिदपि।

एवं बहुत्र सहस्रशो वेदेषु पतिपत्नीसम्बन्धः श्रुतः, स सर्वोऽपि विवाहमूलक एव प्रसिद्ध्यति इति सुविदितमेव। किञ्च चतुर्ष्वपि वेदेषु उपासना-ज्ञानकाण्डे मुक्त्वा अन्यः सर्वोऽपि भागो यज्ञार्थमेव प्रवृत्त इति तु निश्चप्रचम्। यज्ञानुष्ठानं तु प्रायशो दम्पतिकर्तृकम्। दाम्पत्यं तु विवाहैकसाध्यम्। अतश्च यज्ञादिकं विदधद्भिर्वेदभागैः स्वसिद्ध्यर्थं विवाहोऽप्याक्षिप्यत इत्यनादिरियं वैदिकी प्रथाऽस्मद्देशे।

ये नाम वेदानां पौरुषेयत्वमर्वाचीनकालिकत्वं वाऽभिप्रयन्ति यज्ञैकान्तिकत्वं वा नेच्छन्ति, तेषां मते यत्किञ्चित्सिद्ध्यतु। परन्तु अयमपि पक्षोऽस्माभिः कात्यायनश्रौतसूत्रभूमिकायां निपुणतरमुपपाद्य निरस्तस्तत एवावगन्तव्यः।

एवं विवाहस्यानादित्वे धर्ममूलत्वे नित्यत्वे (अवश्यकर्तव्यत्वे) वेदादेव सिद्धे ये नाम केचित् महाभारतस्य श्वेतकेतूपाख्यानादिना विवाहस्य सादित्वं स्त्रीणां यथेष्टाचारत्वं सर्वोपभोग्यत्वं च साधयन्ति ते कुशकाशावलम्बना एव। तथा हि एवं ते प्रष्टव्याः—

भारतादीनां वेदमुपजीव्यैव प्रामाण्यमुत स्वातन्त्र्येण ? यदि स्वातन्त्र्येण इति कथयन्ति तेन ते वन्ध्या एव । सर्वेषां स्मृतिपुराणेतिहासादीनां वेदमूलत्वेनैव प्रामाण्यमभ्युपगच्छतामस्माकं न ततो वहिर्भूतैरन्यैः सह संव्यवहारो युज्यते ।

यदि वेदमूलत्वेन तर्हि वेदेनैव अनादितया सिद्ध्यन्तं विवाहं वेदोपजीवकं भारतं कथं वा प्रतिसिषेधे । प्रतिषेधद्वा कथं प्रामाण्यमाप्नुयात् ?

अतश्च उपाख्यानस्यास्य अन्यपरतैव वर्णनीया । युक्तं चैतत् । तत्र हि महर्षिशापेन निवारितसंभोगः पाण्डुः स्वपत्न्यां पुत्रोत्पत्तिमभिलषन् तां तदर्थमन्यत्र नियोजयामास, तदनिच्छन्ती सा—

एवमुक्त्वा महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत ।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥
न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथञ्चन ।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २ ॥
त्वमेव मुनिशार्दूल मय्यपत्यानि भारत ।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥
स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया ।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥
नह्यहं मनसाऽप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम् ।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ॥ ५ ॥
(१।१२०। महा० भा० ५)

इत्यादिना निराचकार ।

एवं व्यभिचारदोषात् अतीव विभ्यतीं तां पुत्रगृध्नुः पाण्डुस्तद्भयापाकरणार्थं तत्र प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं च श्वेतकेतूपाख्यानादिकं किञ्चित्कथयति स्म । अतः पाण्डुवचनस्य नोपाख्याने तात्पर्यं किन्तु तस्याः प्रवर्तने ।

उक्तं हि कुमारिलभट्टेन तन्त्रवार्तिके—"एवं भारतादिवाक्यानि व्याख्येयानि ।' तेषामपि हि "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इत्येवमादिविध्यनुसारेण पुरुषार्थत्वान्वेषणादक्षरादिव्यतिक्रम्य धर्मार्थकाममोक्षा धर्मानर्थदुःखसंसारसाध्यसाधनप्रतिपत्तिरूपादानपरित्यागाङ्गभूताः फलम् । तत्रापि तु दानराजमोक्षधर्मादिषु केचित् पुनः परकृतिपुराकल्परूपेणार्थवादाः । सर्वोपाख्यानेषु च तात्पर्ये सति श्रावयेदिति विधेरानर्थक्यात्कथञ्चिद् गम्यमानस्तुतिनिन्दापरिग्रहः । तत्परत्वाच्च नातीवोपाख्यानेषु तत्वाभिनिवेशः कार्य इति ।

अनेन अन्येऽपि ये केचन एतादृशानन्यार्थस्तावकत्वेन प्रवृत्तान् उपाख्यानरूपानर्थवादानवलम्ब्य यं कञ्चन स्वार्थं साधयितुमीहन्ते तेऽपि प्रत्युक्ताः । अनेन नैवं

मन्तव्यम्, अस्माकं भारतादिगतानामुपाख्यानानां सर्वेषामसत्यतैवाभिप्रेतेति। असति प्रबलप्रमाणविरोधे तेषामपि प्रामाण्यं स्वीकुर्म एव। परन्तु अनन्यपरैर्बलवत्तमैर्वेदभागैः सिद्धयन्तमर्थमेतादृशानि वेदापेक्षया दुर्बलप्रमाणकान्युपाख्यानानि न कम्पयितुमीशत इति। अतः सिद्धं प्रथेयं वैवाहिकी भारतीयानामस्माकमनादिसिद्धेति।

यज्ञोपवीत-संस्कारस्यावश्यकता

उपनयनशब्दोऽयमुपपूर्वकनीधातोर्ल्युंप्रत्यये कृते निष्पद्यते। एवं च उप=आचार्यसमीपे नयनं=विद्यार्थं प्रापणमुपनयनम्। अतश्च पित्रादिः स्वं पुत्रादिकं विद्याध्ययनार्थं कस्यचिदाचार्यस्य समीपं यत् प्रापयति स एवोपनयनशब्दार्थः।

यद्यपि शब्दत एतावानेवार्थो लभ्यते तथापि शास्त्रकारैरेतत्पूर्वोत्तराङ्गतया बहवः पदार्थाः विहिताः, तैः सर्वैरेव सहितमुपनयनमित्युच्यते। ते सर्वे पदार्था उपनयनपद्धतितोऽवगन्तव्या भवन्ति।

सत्स्वपि संस्कारेषु षोडशसु तदधिकेषु वा अस्यैव प्राधान्यादितरापेक्षयाऽभ्यर्हितत्वं सर्वैरपि धर्मशास्त्रकारैरैककण्ठ्येनोररीकृतम्।

यतो हि अयमेव संस्कारो यथावदनुष्ठितस्तत्तज्जातिवाचकशब्दव्यवहार्यतां तत्तज्जात्युक्तकर्माधिकारितां च सम्पादयति। अन्यथा पतितो न कस्मैचित्कर्मणे ऐहिकायामुष्मिकाय वा कल्पते जनः।

अनुपनीतस्य न विवाहादौ सन्ध्या-तर्पणादौ श्रौतेषु स्मार्तेषु वा कर्मस्वधिकारः। न केवलं तेषु कर्मसु, सर्वस्मादपि द्विजकर्मणः सहपङ्क्तिभोजनादावप्यधिकारो नास्त्येव। अत उपनयनाख्यमिदं द्विजत्वस्य ख्यापकमुत्तेजकं वा त्रैवर्णिकैरवश्यं स्वस्वकालमनतिक्रम्य कर्तव्यम्।

तत्र केचित् सर्वं कालमतीत्य विवाहेन सहैवोपनयनं कुर्वन्ति। केचिच्च यज्ञोपवीतधारणमेवोपनयनसंस्कारं मन्वाना यत्र कुत्रचिद् विन्ध्यपर्वतादौ गत्वा विनैव कमपि संस्कारं यज्ञोपवीतमेव स्वबालकान् धारयन्ति।

देशेऽस्मिन् ब्राह्मणकुलेष्वेवोपनयनसंस्कारस्तथा लोपमापन्नो यं स्मृत्वैवास्माद‍ृशां मनः कम्पते। इदमेव चेदानीं त्रैवर्णिककुलेषु परिदृश्यमानानां सर्वेषामनर्थानां सर्वासां दुःखपरम्पराणां च परमं निदानमिति सखेदं ब्रूमः।

अत आत्मानं त्रैवर्णिकं वदद्भिः सर्वैरास्तिकवर्यैः स्वबालका अवश्यं यथावदुपनेयाः, येन स्वकुलस्य स्वजातेर्ब्राह्मतेजसश्च पुनरुत्कर्षो यथावत्प्राप्य विराजेत। येन चास्माकीनमिदं भारतवर्षं स्वं तेजः प्राप्य समुल्लसेत्।

इतरेषां संस्काराणां यथावदनुष्ठातुमशक्तावपि सर्वस्यापि मूलभूतोऽयं संस्कारो विधेय एव। यत इतरेषां संस्काराणां गृह्याद्युक्तानां परम्परया श्रुतिमूलत्वेऽपि अयमुपनयनसंस्कारः साक्षात् श्रुतिविहित इति स्वयमेव कथयति भगवानापस्तम्बः—"उपनयनं विद्यार्थः श्रुतितः संस्कारः" इति।

यद्यप्यत्र विद्यार्थ इत्युक्तं तथापि द्विजमात्रस्य स्वीयं द्विजत्वं रिरक्षिषतोऽयं संस्कार इति सर्वेषां स्मृतिकाराणां दुन्दुभिनिर्घोषः। अस्य श्रुतिबोधितत्वमथर्ववेदे उक्तम्।

तद्यथा—

"ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥
ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स
देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥
आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ८ ॥
इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षाम जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

(अथर्ववेद का० ११। सू० ५। मन्त्र १-९)

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥

(अथर्ववेद का० ११। सू० ५। म० १७)

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥१९॥

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२१॥

(अथर्ववेद का० ११ । सू० ५ । मन्त्र १९-२१)

एवं शतपथ-गोपथ-ब्राह्मणादिभिरुपनीतस्य ब्रह्मचारिणो नियमान् विस्तरशो विदधानैः सम्यगाविष्कृतमेतस्य श्रुतिबोधितत्वम् ।

शतपथब्राह्मणे (११ । ५ । ४)—

"ब्रह्मचर्यमागामित्याह", "अथास्य हस्तं गृह्णाति", "इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति", "अथैनं भूतेभ्यः परिददाति प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वेत्यादि", "ब्रह्मचार्यसीत्याह", "अपोऽशान", "कर्म कुरु", "मा सुषुप्थाः", "वाचं यच्छ", "समिधमाधेहि", "अथास्मै सावित्रीमन्वाह", "तां वै पच्छोऽन्वाह", "आग्नेयो वै ब्राह्मणः सद्यो वा अग्निर्जायते", "न ब्रह्मचारी सन्मध्वश्नीयात्" इत्यादि ।

गोपथब्राह्मणे (पू० प्र० २ खं० ५-६)—

"तमुपसंगृह्य पप्रच्छाधीहि भो किं पुण्यमिति ब्रह्मचर्यमिति, किं लौक्यमिति ब्रह्मचर्यमेवेति, तस्मा एतत्प्रोवाचाष्टाचत्वारिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं द्वादश वर्षाण्यवरार्द्धमपि स्नास्यंश्चरेद्यथाशक्त्यपरम् । ब्रह्म ह वै प्रजा मृत्यवे सम्प्रयच्छत्, ब्रह्मचारिणमेव न सम्प्रददौ, तस्माद् ब्रह्मचार्यहरहः समिध आहृत्य सायं प्रातरग्निं परिचरेत्, तस्मात् ब्रह्मचारिणेऽहरहर्भिक्षां दद्यात्, समिद्भैक्षे सप्तरात्रमाचरितवान् ब्रह्मचारी पुनरुपनेयो भवति ।"

एवं ब्रह्मचारिधर्मा अपि सर्वैः सूत्रकारैर्गोपथब्राह्मणादेवोद्धृत्य स्व-स्वग्रन्थे निवेशिताः । तद्यथा—"नोपरिशायी स्यान्न गायनो न नर्तनो न सरणो न निष्ठीवेत् न श्मशानमातिष्ठेत्" इत्यादि (गो० ब्रा० पूर्वा० द्वि० प्र० खं० ७) ।

युक्तं चैतत्—श्रौताः स्मार्ताश्च सर्वाः क्रियास्तमेवोपनयनसंस्कारमुपजीव्य यतः प्रवृत्ताः । यथैवाऽन्याधानमन्तरा श्रौतेषु स्मार्तेषु वा कर्मसु नाधिकार इत्याधानमवश्यं विधेयमासीत् । अत एव च सर्वसंस्कारापेक्षयाऽस्य श्रेष्ठत्वमवगम्यते स्वीक्रियते च धर्मज्ञैः ।

अत्र न केवलं यज्ञोपवीतधारणेन गायत्र्युपदेशमात्रेण वोपनयनं सिद्ध्यति,

किन्तु साङ्गस्यानुष्ठानेन तत्स्वरूपसिद्धिः। तत्र समन्त्रकं माणवकस्योपनयनं गायत्र्युपदेशश्च प्रधानम्, इतरत्सर्वमङ्गम्।

अत्रोपनयनदिन एव वेदारम्भं समावर्तनं च केचिदनुतिष्ठन्ति, केचिच्छाखिन उपनयनदिने उपनयनमात्रम्, उपाकर्मदिने वेदारम्भम्, विवाहात्पूर्वदिवसे समावर्तनमनुतिष्ठन्तो दृश्यन्ते। केचिच्चोपनयनदिने वेदारम्भमननुष्ठाय तस्मिन्नेव दिने समावर्तनमनुतिष्ठन्ति।

तत्र शाखान्तरीयाणां स्व-स्वशाखानुसारेण सत्यपि तथाऽनुष्ठानेऽस्माकं वाजसनेयिनामुपनयनदिने एव वेदारम्भ-समावर्तनानुष्ठाने न कमपि दोषमुत्पश्यामः। यतो हि हरिहरप्रभृतिभिर्व्याख्यानावसरे उपनयनपद्धतिपरिसमाप्त्यनन्तरमुपनयनदिन एव वेदारम्भकर्तव्यतोक्ता। अत उपाकर्मदिन एव वेदारम्भ इति प्रमाणाभावात् "एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु" (पा० गृ० सू०) इति वेदारम्भहोमस्य पृथग्विधानाच्च उपनयनदिने वेदारम्भो युक्तः।

यद्यपि तस्मिन्नेव दिने समावर्तनं न कर्तव्यतयोक्तम्, तथापि ब्रह्मचारिधर्माणां स्मृत्युक्तानां यथावत्परिपालने दुःशकत्वम्, अपरिपालने च पातित्यं पश्यन्तोऽस्मत्प्राचीनास्तस्मिन्नेवोपनयनदिने समावर्तनमप्यनुष्ठितवन्तः। स एवाचारोऽद्य यावत्प्रतिष्ठितः प्रचलितश्च वर्तते। अतोऽविरुद्धत्वात् प्राचीनसम्प्रदायानुवर्तितत्वाच्च त्रितयमपि एकस्मिन् दिनेऽनुष्ठीयते माध्यन्दिनैः।

इतरशाखिनां तु उपनयनदिने वेदारम्भस्याविधानात् उपाकर्मदिने विधानात् तैरुपाकर्मदिने एव वेदारम्भः क्रियते नोपनयनदिने।

उपाकर्मपर्यन्तं यैर्वेदो न पठ्यते तैर्गायत्र्या ब्रह्मयज्ञोऽनुष्ठीयते। परं तैरपि समावर्तनं वेदारम्भात्पूर्वमेवानुष्ठीयते तद्युक्तमयुक्तं वेति विचारणीयम्। यतस्तेषां सूत्रेऽप्युपाकर्मानन्तरं समावर्तनविधिरस्ति। अतस्तैरपि कालापकर्षं कृत्वा यथाकथञ्चिदुपनयनदिने वेदारम्भं विधायैव समावर्तनं कर्तव्यमिति समीचीनः पन्थाः।

ब्रह्मचर्यधारणपक्षे उपनयनाग्नेर्यावद् ब्रह्मचर्यधारणं तत्रैव च समिदाधानादीत्येकः पक्षः। लौकिकाग्नौ समिदाधानादीति पक्षान्तरम्। अस्मिन् कल्पेऽपि त्रिरात्रमुपनयनाग्निर्धार्य इति बौधायनादयः। सद्यः समावर्तनपक्षेऽसद्यः समावर्तनपक्षे वा समावर्तनानन्तरं त्रिरात्रव्रतानुष्ठानं कार्यमेव। "तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्" (पा० गृ० सू० २।८।१) इत्यनेन तथाविधानात्। अतः समावर्तनानन्तरं त्रिरात्रमध्ये विवाहो न कार्यः। 'त्रिरात्रं स्त्रीदर्शननिषेधाच्च' (पा० गृ० सू० २)।

अतएव वङ्गदेशे समावर्तनानन्तरं त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणाऽवगुण्ठनं क्रियते। पारस्करगृह्यपरिशिष्टेऽप्येवमेवावगुण्ठनविधिरस्ति।

अस्योपनयनस्य ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां क्रमेण अष्टौ, एकादश, द्वादश वर्षाणि मुख्यः कालः। ततः षोडश, द्वाविंशतिः, चतुर्विंशतिर्वर्षाणि गौणः कालः। तत्र मुख्यकालातिक्रमे गौणकालेऽप्यनादिष्टप्रायश्चित्तं कृत्वोपनयनं भवति। गौणकालातिक्रमे तु व्रात्य-

स्तोमं प्रायश्चित्तं कृत्वोपनयनम्। पतितसावित्रीका व्रात्या उच्यन्ते। व्रात्यकर्तृको यज्ञो व्रात्यस्तोमः।

तत्र व्रात्याश्चतुर्विधा भवन्ति। हीनाचाराः, पापाध्यारोपेण जातिबहिष्कृताः, युवावस्थायामेव ज्ञातिबहिष्कृताः, अपगतप्रजननेन्द्रियसामर्थ्या वृद्धव्रात्याः। एतैः शुद्ध्यर्थं क्रियमाणो यज्ञो व्रात्यस्तोमोऽपि चतुर्विधः। एषु द्वितीय उक्थ्यसंस्थः। इतरेऽग्निष्टोमसंस्थाः।

अयं च गणयज्ञः। अतोऽयं नैकेन व्रात्येन कर्तुं शक्यते। व्रात्यस्तोमोऽयं लौकिकेऽग्नौ भवति (का० श्रौ० सू० १।१।१४)। व्रात्यस्तोमयज्ञविधिः कात्यायनश्रौतसूत्रे (२२।४) द्रष्टव्यः।

अस्य यज्ञस्य पाशुकत्वाद् गणयज्ञत्वाच्च नास्मिन् युगेऽनुष्ठानम्। अतः स्मृत्युक्तेन प्रत्याम्नायेन शुद्धिः संपाद्या। प्रत्याम्नायोऽपि गोनिष्क्रयदानमेव प्रत्याम्नायान्तरापेक्षया सुकरः। तत्र ब्राह्मणस्य द्वादशाब्दम्, क्षत्रियस्य नवाब्दम्, वैश्यस्य षडब्दम्। एषु क्रमेण ३६०, २७०, १८० गावस्तन्निष्क्रया वा दातव्या भवन्ति।

कलौ उपनयनयोग्यक्षत्रिय-वैश्ययोरभावान्न तयोरुपनयनमिति नागोजिभट्टप्रभृतयो दाक्षिणात्याः। सर्वेषु देशेषु अयं ब्राह्मणः, अयं क्षत्रियः, अयं वैश्यः, इत्यविगीतव्यवहारस्य जातिनिर्णायकस्य विद्यमानत्वात् स्व-स्वजात्युचितधर्माचरणरहितानामपि तत्तज्जात्युचितधर्माचरणशीलैः सह भोजनादिव्यवहारस्य दर्शनात् वणिज इत्याद्यनभिचरिताविगीतव्यवहाराच्च अगरवालाः सर्वेऽपि तृतीयवर्णाः प्रायेणोपनयनादिसंस्कारभाजः शिष्टैः परिगृहीता भवन्ति। अतः सर्वेऽपि प्रायश्चित्ते कृते उपनयनार्हा भवन्ति। तत्र त्रिपुरुषं पतितसावित्रीका एवोपनयनार्हा नतु दशविंशतिपुरुषपर्यन्तमस्मर्यमाणोपनयना अपीति केचन दाक्षिणात्याः।

बहुकालतोऽस्मर्यमाणोपनयनानामपि क्षत्रिय-वैश्यानामुपनयनार्हत्वं प्रायश्चित्तेन निष्कण्टकमिति सर्वं। इति शम्।

चूडाकरणे शिखास्थापनविचारः

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म-चौड-मौञ्जी-निबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

(मनु० २।२६-२७)

इत्यादिवचनजातबलाद् द्विजानां स्वशरीरसंस्कारकं जातकर्मादि अवश्यमनुष्ठेयमित्यवगम्यते। तत्संस्कृत एव च पुरुषः कर्मण्यो भवति। तेषु च कर्मसु चूडाकरणमपि मुख्यं कर्म। यस्यानुष्ठानं प्रथमादिषु उपनयनकालान्तेषु अयुग्मवर्षेषु अनुष्ठेयतया गृह्यकाराः सर्वेऽपि कथयन्ति। इदं च चूडाकरणं शिखास्थापनार्थं द्विजातिभिरवश्यमनुष्ठेयं कर्म। अतश्चूडानिधानायैवेदं कर्म कर्तव्यतया विहितम्।

यतो हि "यथर्षि शिखां निदधाति, यथैवैषां कुलधर्मः स्यात्"

(आप० गृ० सू० १।६।१५)

"यथाकुलधर्मं केशवेषान् कारयेत्" (आश्व० गृ० सू० १।१६।१६)

"यथामङ्गलं केशशेषकरणम्" (पा० गृ० सू० २।१।२१)

इति भगवान् पारस्करः अन्येऽपि च सूत्रकाराः शिखानिधानमेव विदधति तत्तत्कुलधर्मानुसारेण। हरिहर-गदाधरादयोऽपि "केशानां शेषकरणं शिखास्थापनं यथाकुलाचारव्यवस्थापनम्", "केशानां शेषकरणं शिखारक्षणं स्थापनं कर्तव्यम्" इति स्व-स्वभाष्ये—"वपनं कुर्वन् केशशेषरक्षणं करोति", "यथामङ्गलं शिखास्थापनं नापितः करोति" इति पद्धतावपि शिखास्थापनं लिखन्ति, न सर्वमुण्डनम्। नात्र संशयितव्यं "यथामङ्गलं केशशेषकरणम्", "यथाकुलाचारव्यवस्थामनतिक्रम्य" इत्यादिभिः स्व-स्व-कुलाचारोऽप्यनुक्रान्तः। एवं च येषां कुले सर्वमुण्डनाचारोऽस्ति तैः स्वकुलाचारानुसारेण सर्वमुण्डनमेव कर्तव्यमित्यप्यस्मादेव ग्रन्थात् प्रतीयत इति, यतः कुलाचारशब्दं त एव भाष्यकारा अग्रे विवृण्वन्ति।

कुलाचारश्च बहुधा। तद्यथा लौगाक्षिः—"दक्षिणतः कम्बुजवसिष्ठानाम्, उभयतोऽत्रिकश्यपानाम्, मुण्डा भृगवः, पञ्च चूडा आङ्गिरसः, वाजसनेयिनामेका, मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्ये" इति।

अत्र च वचने येषां शाखिनां यो य आचारः स स्पष्टमुपात्तः। तत्र "मुण्डा भृगवः" इति भृगुगोत्राणामेव सर्वमुण्डनम्। अस्माकं तु वाजसनेयिनाम् "एका" इत्यनेन एकशिखानिधानमेव विहितम्। एवं तदुपात्तायां कारिकायामपि —

कम्बुजानां वसिष्ठानां दक्षिणे कारयेच्छिखाम्।
द्विभागेऽत्रिकश्यपानां मुण्डाश्च भृगवो मताः॥
पञ्च चूडा अङ्गिरस एका वाजसनेयिनाम्।
मङ्गलार्थं शिखिनोऽन्य उक्तश्चूडाविधिः क्रमात्॥

इत्येकशिखानिधानमेव वाजसनेयिनां विहितम्। अतश्च यथाकुलाचारमित्यस्य शिखानिधानमेवास्माकं शास्त्रसम्मतमिति अस्मत्पूर्वाचार्याणां हरिहर-गदाधर-प्रभृतीनामभेद्यः सिद्धान्तो न तु सर्ववपनम्।

इदं च शिखारक्षणम्—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥

इति भृगुस्मृतिवचनबलादवश्यमेव कर्तव्यम्। शिखां विना अनुष्ठितानां कर्मणां वैफल्यबोधनात्। यद्यपि "गोत्रचिह्नं शिखाकर्म" इति वचनात् गोत्रचिह्नत्वं प्रतीयतेऽस्य, तथापि संस्कारगणमध्ये पाठात् अवश्यं कर्तव्यमेव। एवमवश्यकृतस्य शिखाकरणस्य गोत्रचिह्नत्वमपि भवत्यानुषङ्गिकं फलम् । अतएव कुमारिलपादा अपि—"गोत्रचिह्नं शिखाकर्म" । तत्राप्याचारनियमस्यादृष्टार्थत्वान्न तावन्मात्रमेव प्रयोजनम्। तेनान्य एवाभिप्रायः। कर्माङ्गभूतं तावच्चतुरवत्तपञ्चावत्ततादिविभागसिद्ध्यर्थमवश्यं स्मर्तव्यम्। अतश्च तच्चिह्नार्थमपि तावच्छिखाकल्पस्मृतेः प्रामाण्यमस्तु—इति गोत्रचिह्नत्वस्यानुषङ्गिकफलत्वमेवाभिप्रयन्ति तन्त्रवार्त्तिके, यथोपनयनमध्येऽवश्यकृतस्योपनयनधारणस्य त्रैवर्णिकत्वपरिचायकत्वम्।

एवमिदं शिखाकर्म न केवलं स्मार्त्तम्, किन्तु श्रुतिप्रतिपाद्यमपि—"यशसे श्रियै शिखा" (शु० य० १९।९१) इत्यादिना शिखाधारणस्य श्रीप्रभृतिश्रेयस्सम्पादकत्वकथनात्।

"यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव" (शु० य० १७।४८) इति श्रुतिरपि शिखासत्तामेव प्रतिपादयति कुमाराणाम्। न ह्यत्र विशिखपदस्य शिखारहितत्वमर्थः। पूर्वमीमांसायां (१।३) स्मृतिप्रामाण्याधिकरणे "शिखाकर्म कर्तव्यम्" इति स्मृतिवाक्यमुदाहृत्य तदुपष्टम्भकतयाऽस्य वाक्यस्य भगवता शबरस्वामिनोदाहरणात्।

"विशिखा विविधशिखा विकीर्णशिखा वा" इत्येव व्याख्यातृभिर्व्याख्याकरणाच्च ।

एवं च सति ये नामेदानीं केचन वाजसनेयिनामस्माकं चौलकर्मणि सर्ववपनं कुर्वन्ति कारयन्ति च तद् दृष्ट्वा केचिदिममशिष्टाचारं पद्धत्यादावपि आरोपयन्ति, तां च प्रमाणं मन्यमाना अनुष्ठापयन्ति च तत्सर्वं सूत्रकारविरुद्धं हरिहर-गदाधर-प्रभृतिभाष्यपद्धत्यादिकर्त्रस्मत्पूर्वाचार्यमतविरुद्धमस्मत्पितृ-पितामहाद्यनुष्ठितप्राचीनाचारविरुद्धं च। लौगाक्षिवचने भृगूणां सर्वमुण्डनविधानाच्छन्दोगानां स्वगृह्ये तद्विधानाच्च तेषामुभयेषामेव चौले सशिखं सर्ववपनम्। इतरेषां सर्वेषामपि शिखाऽवश्यं निधापनीया।

ये नाम स्वकुलानुरोधेन स्वकुलदेवतायै केशदानं प्रतिजानते कुर्वन्ति च तैरपि चूडाकरणात्पूर्वमेव तत्कर्तव्यम्, न ततः परम्। चूडाकरणे शिखाऽवश्यं रक्षणीया। तस्याश्च प्रायश्चित्तविशेषं विना कर्तनं लोपनं वा न कदापि कार्यम्। अतो यथाऽयं संस्कारो यथावदनुष्ठितो भवेत् यथा च प्राचीनां शास्त्रीयां रीतिमनुल्लङ्घ्य चूडाकरण

एव शिखां निधाय तद्युता यावज्जीवं स्व-स्ववर्णोक्तानि कर्माणि अनुतिष्ठन्तस्तज्जनितं समग्रं फलं सर्वश्रेयोरूपं प्राप्नुयुर्धार्मिका जना इति। अतः सर्वान् सनातन-धर्मावलम्बिनः सविनयं प्रार्थये यच्छास्त्रसम्मतिं स्वमनीषयाऽपि च युक्तायुक्तत्वं विचार्य यथोचितं कुर्युरिति।

याग-पदार्थनिरूपणम्

देवतोद्देशेन अग्नौ प्रक्षेपविशिष्टो द्रव्यत्यागो यागः। सर्वत्र हि यजति-चोदना-चोदितस्थले अर्थात् 'सोमेन यजेत' इत्यादौ यजिधात्वर्थः कश्चित्प्रतीयते। तस्मिन्नेव वाक्ये तदुद्देशेन किञ्चिद् द्रव्यमपि विधीयते। वाक्यान्तरेण च देवताया अपि विधानमस्ति। तत्र तां देवतामुद्दिश्य तस्य द्रव्यस्य यस्त्यागः 'इदमिन्द्राय न मम' इत्यादिरूपो मानसिकव्यापारः स एव यागपदार्थः। स च त्यागरूपत्वाद्यजमानेनैव कर्तव्यो न तु ऋत्विगादिभिः। तेषां यजमानद्रव्ये स्वत्वाभावेन त्यागकरणेऽ-सामर्थ्यात्।

ते च यागाः प्रकृतिभूता विकृतिभूताश्च सन्ति। तत्र यस्य कर्मणः सन्निधाने तदपेक्षितं सर्वमप्यङ्गजातं पठितम् अन्यतश्चाङ्गापेक्षा नास्ति सा प्रकृतिः। अथवा यतो विकृतिरङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिः। यथा दर्शपूर्णमासौ। तत्र हि अन्वाधानादि-ब्राह्मणतर्पणान्तानि सर्वाण्यङ्गानि स्वसन्निधान एवाम्नातानि। नान्यतोऽङ्गान्यागच्छ-न्ति। अस्मादेव सर्वास्विष्टिषु धर्मा अतिदेशेन गच्छन्ति, अतो दर्शपूर्णमासयागः सर्वासामिष्टीनां प्रकृतिरुच्यते। इयं प्रकृतिर्द्विधा– मूलप्रकृतिः, अवान्तरप्रकृतिश्च। यत्कर्म सर्वथा स्वाङ्गविषये कर्मान्तरं नापेक्षते स्वापेक्षितसर्वाङ्गविशिष्टमेव पठितं सा मूलप्रकृतिरित्युच्यते, यथा दर्शपूर्णमासादिः। यत्तु कर्म स्वाङ्गविषये किञ्चित्कर्मा-न्तरमपेक्षते साऽवान्तरप्रकृतिरित्युच्यते। यथाऽग्नीषोमीयः पशुः। अयं च [1]प्रयाजा-

---

१. प्रयाजाः—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति इति पञ्चभिर्वाक्यैर्विहिताः समिदादिसंज्ञकाः पञ्च यागाः प्रयाजा इत्युच्यन्ते। इमे च दर्शपूर्ण-मासप्रकरणे पठितास्तदङ्गभूताः। तत्र दर्शपूर्णमासयोः पञ्चैव प्रयाजाः। विकृतौ क्वचिन्नव प्रयाजा इज्यन्ते। 'एकादश प्रयाजान् यजति' इत्यादिना संख्याधिक्यमपि यत्र विहितं तत्र एतेषामेव पञ्चानामावृत्त्या संख्याधिक्यं सम्पादनीयम्। अत्र समित्, तनूनपात्, इट्, बर्हिः, इति चत्वारि चतुर्णां प्रयाजानां नामधेयानि तानि च तन्नामकदेवतासम्बन्धं निमित्तीकृत्यैव प्रवृत्तानि। अत एव तादृशेषु चतुर्षु प्रयाजेषु समिदादयः क्रमेण देवताः, पञ्चमे परप्रयाजे वक्ष्यमाणदेवतानां स्वाहाग्निमित्यादिनामसंकीर्तनात् ता एव देवताः। यत्र तु संख्याधिक्यं तत्र देवताभेदः।

[1]नुयाजाद्यङ्गविषये दर्शपूर्णमासावपेक्षते । सवनीयादीनां पशुयागानां यूपादिविषये अपेक्षा भवति । तत्र तिस्रो मूलप्रकृतयः—दर्शपूर्णमासौ, अग्निहोत्रम्, अग्निष्टोमसंस्थाको ज्योतिष्टोमश्च । एषु च न कुतश्चित्कर्मणोऽङ्गान्यतिदिश्यन्ते ।

विकृतिः—यत्र कानिचिद्देवाङ्गानि पठितानि इतराणि तु अपेक्षितानि अन्यत आनीयन्ते सा विकृतिः । यथा "सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इति विहिता सौर्येष्टिः । तत्र हि स्वसन्निधाने न समग्राङ्गोपदेशः, किन्तु 'प्रयाजे-प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' इत्यादिकतिपयानामेवाङ्गानाम् । इतराणि तु दर्शपूर्णमासत एवानीयन्ते ।

त्यक्तस्य हविषो विहितदेशे आहवनीयादौ यः प्रक्षेपः स होम इत्युच्यते । स द्विविधः—प्रधानहोमः, अङ्गहोमश्चेति । 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादयः प्रधानहोमाः तत्तत्फलोद्देशेन विहिताः । तत्र न प्रक्षेपमात्रं धात्वर्थः, किन्तु प्रक्षेपः, उद्देशः, त्याग इति त्रितयमपि ।

यद्यपि एतदंशत्रयं यागेऽप्यविशिष्टं देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य प्रक्षेपविशिष्टस्यैव यागपदार्थत्वात्, होमेऽपि देवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागस्य सत्त्वात् । तथापि त्रयाणामंशानां समप्राधान्यं होमस्थले, यागस्थले तु प्रक्षेपस्याङ्गत्वम्, इतरयोः समप्राधान्यमिति विशेषः । अयमेव प्रक्षेपो यागाङ्गभूतोऽङ्गहोम इत्युच्यते । अयमेव प्रभेदः सूत्रकारेण जैमिनिना 'यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदायं कृतार्थत्वात्', 'तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात्' (जै० सू० ४।२।२८, २६) इति सूत्राभ्यां प्रकटीकृतः । 'यज्ञं व्याख्यास्यामः', 'द्रव्यं देवतात्यागः' (का० श्रौ० सू० १।२।१-२) इति कात्यायनोऽपि ।

याग-होमयोर्भेदनिरूपणम्

यागहोमयोः को भेद इति विचारे प्रथमं तावदिदं निर्णीयते—यत्र यजेतेति यजधातुना क्रियाभिधानं जुहोतीति हुधातुना च होमविधानम्, तत्र उभयत्रापि अंशत्रयमस्ति । उद्देशांशः, त्यागांशः, प्रक्षेपांशश्च । यत्र देवतामुद्दिश्य 'इदं न मम' इति द्रव्यं त्यज्यते तत्र देवतागत उद्देशांशः, द्रव्यगतस्त्यागांशः, देवतामुद्दिश्य त्यक्तस्य द्रव्यस्य कुत्र प्रक्षेप इत्याकाङ्क्षायां "यदाहवनीये जुहोति" (तै० ब्रा० १०।१०।१०) इत्यादिना आहवनीयादिष्वग्निषु यः प्रक्षेपः क्रियते स प्रक्षेपांशः । एतत् त्रितयमपि यागे होमे च विद्यत एव, तथापि प्रक्षेपांशस्य अङ्गत्वम्, उद्देशांश-

१. अनुयाजाः—दर्शपूर्णमासयागे त्रयोऽनुयाजाः । अत्र समिदादिवत् न त्रयाणां नाम श्रुतं किन्तु मन्त्रवर्णबोध्याया एव देवताया अत्रापि स्वीकारात्, तन्नाम्नैव बर्हिः, नराशंसः, स्विष्टकृत्, इति नाम्ना व्यवह्रियन्ते । इमेऽनुयाजा अपि प्रयाजवद्विकृतौ नवैकादशादिसंख्याविकल्पं भजन्ते तत्रापि प्रयाजवदेव देवतान्तरं बोध्यम् ।

त्यागांशयोः प्राधान्यं च यत्रास्ति स यागपदार्थः। उद्देशांशत्यागांशप्रक्षेपांशानां यत्र समं प्राधान्यं स होमपदार्थः। अयं च विभागो याज्ञिकैः जैमिन्यादिभिः सूत्रकारैश्चाङ्गीकृतः। अत एव जैमिनिः—

'यजति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्, तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात्' (४।२।२७।२८) इति सूत्रयामास।

व्याख्यातारश्च "देवतोद्देश्यद्रव्यत्यागप्रक्षेपेषु समप्रधानेषु जुहोतिपदप्रयोगः। अतश्च प्रक्षेपाङ्गकक्रियाद्वयवृत्तिजातिर्यागत्वम्, क्रियात्रयवृत्तिजातिश्च होमत्वम्" इति (भाट्टदीपिकायां ३।४।१८) स्पष्टमूचिरे।

अतश्च यजिधातुना विहितो यागः, स च एतादृशस्वरूपः। हुधातुनाऽभिहितश्च होमः, स च एवंरूप इति फलितम्। एवं च यत्र शान्तिक-पौष्टिकादिषु कर्मसु यजिधातुना विधानाभावः, तत्र यागत्वं नास्ति इति शतरुद्रियादौ जुहोतिचोदनाचोदितत्वात् होमत्वमेव तेषाम्, इति तत्र सङ्कल्पादौ होमपदस्यैवोल्लेखः कार्यः, न तु याग पदस्य। अत एव अग्निहोत्रे प्रातरग्निहोत्रं 'होष्यामि' इत्येवोल्लेखः, न तु 'यक्ष्ये' इति।

एवं च नवग्रहहोमादिषु होमस्यैव विशेषतोऽभिधानात्तेषां होमत्वमेव, न तु यागता। अत एव शान्तिक-पौष्टिकादिहोमेषु नवग्रहधर्मातिदेशोक्तिस्तत्र तत्र ग्रन्थकृतां सङ्गच्छते। यदि नवग्रहहोमस्य यागत्वं स्यात्तर्हि यागीयानां धर्माणां होमे अतिदेशाभावकथनं विरुद्ध्येत। निर्णीतं हि पूर्वमीमांसायाम् (४।२) यागहोमयोः वैसादृश्यं परस्परं धर्मानतिदेश इति।

एवं च नवग्रहहोमादिषु मख-यज्ञादिशब्दप्रयोगो गौणः। यथा—**'स एष यज्ञः पञ्चविधः-अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः'** इति (ऐत० ब्रा०)। अग्निहोत्रेऽपि यज्ञशब्दप्रयोगो गौणः तद्वत् इति।

ग्रहहोम-निर्णयः

प्रतिष्ठाभास्कर-प्रतिष्ठासरण्यादिमते—अर्कादिसमित्, तिलाः, चरुः, आज्यं चेति चत्वारि हवनीयद्रव्याणि। मयूखे तु—समित्, चरुः, आज्यमिति द्रव्यत्रयमेव विहितम्, न तिलाः। अतो मयूखमनुसरद्भिर्द्रव्यत्रयेणैव होमः कार्यः। साम्प्रदायिकास्तु द्रव्यचतुष्टयमेव जुह्वति।

अथैककुण्डीपक्षे ग्रहहोमक्रमः। तत्र द्रव्यत्रयेण होमपक्षे त्रयो होतारः, द्रव्यचतुष्टयेन होमपक्षे चत्वारो होतारः सूर्यादिनवग्रहेभ्यः प्रतिदैवतं अर्कादिसमिच्चर्वाज्यैः, पक्षे अर्कादिसमित्तिल-चर्वाज्यैः प्रतिद्रव्यमष्टाष्टसङ्ख्यया अष्टवारंसावृत्तैर्नाममन्त्रैस्तत्तदावाहनमन्त्रैर्वा जुहुयुः। यदा षट् होतारस्तदा चतुरावृत्तमन्त्रै-

र्होमः। द्रव्यचतुष्टयपक्षे अष्टौ होतारस्तदापि चतुरावृत्तैरेव मन्त्रैर्होमः। अस्मिन् पक्षे स्रुवाहुतिद्वयम्, पात्रासादने स्रुवद्वन्द्वस्यासादनादिकार्यम्। ततस्तावन्त एव होतारस्तावद्भिरेव द्रव्यैश्चतुश्चतुःसङ्ख्यया अधिदेवताभ्यः प्रत्यधिदेवताभ्यः जुहुयुर्नाममन्त्रैस्तत्तदावाहनमन्त्रैर्वा चतुर्वारमावृत्तैः। ततस्तावन्त एव होतारस्तावद्भिरेव द्रव्यैः प्रतिद्रव्यं द्विद्विसङ्ख्यया विनायकादिलोकपालान्तेभ्यः (लोकपालाश्चाष्टौ दश वा) देवताभ्यो जुहुयुर्द्विवारमावृत्तैर्मन्त्रैः।

पञ्चकुण्डीपक्षे—अष्टाहुतिपक्षे ग्रहहोमक्रमः। पञ्चसु कुण्डेषु द्रव्यत्रयपक्षे त्रयस्त्रयो होतारः, द्रव्यचतुष्टयपक्षे चत्वारश्चत्वारो होतारः सूर्यादिनवग्रहेभ्यः प्रतिदैवतमर्कादिसमिच्चर्वाज्यद्रव्यैः (पक्षे—अर्कादिसमित्-तिल-चरु-आज्यैः) प्रतिद्रव्यमष्टाष्टसङ्ख्यया प्रथमावृत्तौ पञ्चसु कुण्डेषु, द्वितीयावृत्तौ आचार्यादिकुण्डत्रये जुहुयुस्तत्तदावाहनमन्त्रैः। द्वितीयावृत्तौ पश्चिमोत्तरकुण्डयोर्न होमः, किन्तु तयोः कुण्डयोर्होतारस्तूष्णीमासीनाः स्युः। ततः पञ्चसु कुण्डेषु तावन्त एव होतारस्तावद्भिरेव द्रव्यैः प्रतिद्रव्यं चतुश्चतुःसङ्ख्यया अधिदेवताभ्यः प्रत्यधिदेवताभ्यश्च जुहुयुराचार्यादीनां चतुर्षु कुण्डेषु। उत्तरकुण्डे अधिदेवता-प्रत्यधिदेवतानां न होमः। ततः पञ्चसु कुण्डेषु तावन्त एव होतारस्तावद्भिरेव द्रव्यैः प्रतिद्रव्यं द्विद्विसङ्ख्यया विनायकादिलोकपालान्ताभ्यो देवताभ्यः प्रतिदैवतमाचार्यकुण्डे पूर्वकुण्डे च जुहुयुः। दक्षिणादिकुण्डत्रये विनायकादिलोकपालान्तानां न होमः, लोकपालाश्चाष्टौ दश वेत्युक्तं प्राक्। इत्यष्टाहुतिपक्षे होमक्रमः।

अष्टाविंशत्याहुतिपक्षे तु—पञ्चभिरावृत्तिभिः पञ्चसु कुण्डेषु हुत्वा षष्ठावृत्तकुण्डत्रये जुहुयुर्नवग्रहेभ्यः। षष्ठावृत्तौ पश्चिमोत्तरकुण्डयोर्न होमः। अधिदेवताभ्यः प्रत्यधिदेवताभ्यश्चास्मिन्पक्षे अष्टाष्टसङ्ख्यया होमः, तेन प्रथमावृत्तौ पञ्चसु कुण्डेषु, द्वितीयावृत्तौ आचार्यादिकुण्डत्रये होमः। पश्चिमोत्तरकुण्डयोरधिदेवता-प्रत्यधिदेवतानां न होमो द्वितीयावृत्तौ। विनायकादिलोकपालान्तेभ्यश्च चतुश्चतुःसङ्ख्यया होमः आचार्यादिकुण्डचतुष्टये। उत्तरकुण्डे विनायकादीनां न होमः। इत्यष्टाविंशत्याहुतिपक्षः।

अथाष्टोत्तरशतपक्षः। अष्टोत्तरशतपक्षे तु पञ्चसु कुण्डेषु एकविंशत्यावृत्तिभिर्होमः। द्वाविंशावृत्तौ आचार्यादिकुण्डत्रये एव होमो नवग्रहाणाम्, न पश्चिमोत्तरकुण्डयोः। ग्रहाणामष्टोत्तरशताहुतिपक्षे अधिदेवताभ्यः प्रत्यधिदेवताभ्यश्च अष्टाविंशत्यष्टाविंशतिसङ्ख्यया होमः। तेन पञ्चसु कुण्डेषु पञ्चभिरावृत्तिभिर्होमं कृत्वा षष्ठावृत्तौ आचार्यादिकुण्डत्रये एव होमः कार्यः, न पश्चिमोत्तरकुण्डयोः। विनायकादिलोकपालान्तेभ्यस्तु अष्टाष्टसङ्ख्यया होमोऽस्मिन्पक्षे। सोऽपि होमः प्रथमावृत्तौ पञ्चसु कुण्डेषु, द्वितीयावृत्तौ तु कुण्डत्रय एवेति सङ्क्षेपः। एवमष्टोत्तरसहस्रपक्षेऽप्यूह्यम्। इत्यष्टोत्तरशतपक्षः।

नवकुण्डीपक्षे—अष्टाविंशत्याहुतिहोमपक्षे ग्रहहोमक्रमः। नवकुण्ड्यामष्टाहुतिपक्षो नास्तीत्युक्तं प्राक्। तत्र नवसु कुण्डेषु त्रयस्त्रयो होतारः। अर्कादिसमिच्चर्वाज्यैः प्रतिद्रव्यं सूर्यादिनवग्रहेभ्यः प्रतिदैवतं प्रथमावृत्तौ द्वितीयावृत्तौ तृतीयावृत्तौ च जुहुयु-

मन्त्रैः। चतुर्थावृत्तौ तु आचार्यकुण्ड एव त्रयो होतारो जुहुयुः। अन्येष्वष्टसु कुण्डेषु न होमः, इत्थमष्टाविंशतिसङ्ख्यो होमो निष्पद्यते। ततः आचार्यादीनामष्टसु कुण्डेषु त्रयस्त्रयो होतारः समिच्चर्वाज्यैरेव प्रतिद्रव्यं अधिदेवता-प्रत्यधिदेवताभ्यः प्रतिदैवतमष्टाष्टसङ्ख्यया जुहुयुः। ईशानकुण्डे अधिदेवतानां प्रत्यधिदेवतानां च न होमः। ततः त्रयस्त्रयो होतारः तैरेव द्रव्यैः प्रतिद्रव्यं चतुश्चतुःसङ्ख्यया विनायकादिलोकपालान्तदेवेभ्यः आचार्यादीनां चतुर्षु कुण्डेषु जुहुयुः। नैर्ऋत्यादिकुण्डेषु विनायकादीनां न होमः। इत्यष्टाविंशतिहोमपक्षः।

समित्तिलचर्वाज्यैरिति द्रव्यचतुष्टयपक्षे तु चत्वारश्चत्वारो जुहुयुः सर्वत्रेति विशेषः।

अष्टोत्तरशतपक्षे तु—नवसु कुण्डेषु त्रयस्त्रयश्चत्वारश्चत्वारो वा होतारः द्रव्यत्रयेण द्रव्यचतुष्टयेन वा द्वादशावृत्तिभिः नवग्रहेभ्यो जुहुयुः। अधिदेवताभ्यः प्रत्यधिदेवताभ्यश्च तावन्त एव होतारस्तैरेव द्रव्यैः प्रतिद्रव्यमष्टाविंशत्यष्टाविंशतिसङ्ख्यया नवसु कुण्डेषु आवृत्तित्रयेण जुहुयुः। चतुर्थावृत्तौ तु—आचार्यकुण्डे एव होमः। अन्येष्वष्टसु कुण्डेषु अधिदेवता-प्रत्यधिदेवतानां न होमश्चतुर्थावृत्तौ। ततः विनायकादिलोकपालान्तेभ्यस्तावन्त एव होतारस्तैरेव द्रव्यैः प्रतिद्रव्यमष्टाष्टसङ्ख्यया आचार्यादीनामष्टसु कुण्डेषु जुहुयुः। ईशानकुण्डे विनायकादीनां न होमः। इत्यष्टोत्तरशतहोमपक्षः। एवमष्टोत्तरसहस्रपक्षेऽप्यूह्यमिति।

शान्तिक–पौष्टिकहोमनिर्णयः

प्रतिष्ठायां शान्तिक-पौष्टिकहोम आचार्यकर्तृकः। अतोऽयं होमः पञ्चकुण्डीपक्षे नवकुण्डीपक्षे च आचार्यकुण्डे एव भवति, नान्यकुण्डेषु। तेन शान्तिक-पौष्टिकहोमो विभागरहित एव, विभागोक्त्यभावात्। न च "आचार्यः क्रमेण पलाश-उदुम्बर-अश्वत्थ-अपामार्ग-शमीसमिधो द्वादशसहस्र-षट्सहस्र-त्रिसहस्र-अष्टोत्तरसहस्र-अष्टोत्तरशतान्यतमसङ्ख्यया स्वकुण्डसमीपे संस्थाप्य शान्तिक-पौष्टिकमन्त्रैर्यथाविभागं सऋत्विग् जुहुयात्" इति ग्रन्थेन मयूखे यथाविभागंसर्त्विक् इति विभागेन होमविधानाद् विभागप्राप्तिरिति वाच्यम्; समिधां द्वादशसहस्रादिकं कुण्डसमीपे पलाशादिक्रमेण संस्थाप्य षड्भिः शान्तिक-पौष्टिकमन्त्रैः द्वादशसहस्रादिसंख्या यथा सम्पन्ना स्यात्तथा ऋत्विग्भिः सह स्वकुण्डे जुहुयात् इति तदर्थात्। न च "दैशिको मूर्तिपैः सह" इत्यधिवासनहोमवत् ऋत्विक्साहित्यं हवनक्रियायामस्ति, अतः सर्वेषु कुण्डेषु होमः स्यादिति वाच्यम्; तत्र प्राग्वदिति विशेषवचनात्। यत्र च कुण्डेषु होमोऽभिप्रेतो भवति तत्र प्राग्वत् (ग्रहवास्तुवत्) "कुण्डसङ्ख्यया विभज्य", "कुण्डेषु विभज्य वा जुहुयात्" इत्युच्यते तथात्रानुक्तत्वाच्च। अतः शान्तिक-पौष्टिकहोमे विभागोक्तिः समित्परा, न कुण्डपरा। अतश्च पलाशादिसमित्पञ्चकमध्ये एकैकया समिधा षड्भिर्मन्त्रैः षडावृत्तिर्होमः

कार्यः। तेन प्रतिमन्त्रेण अष्टादशाष्टादशसङ्ख्यया होमे अष्टोत्तरशतमष्टोत्तरशतं होमाः प्रतिद्रव्यं स्युः। समिधां द्वादशसहस्रपक्षे एकैकेन मन्त्रेण द्विसहस्रहोमैः षड्भिर्मन्त्रैर्द्वादशसहस्रमाहुतयः। अत्रैकैकस्याः समिधो द्वादशसहस्रादिहोम इति प्रागुक्तं न विस्मर्तव्यम्। षट्सहस्रपक्षे प्रतिमन्त्रेण एकसहस्रमाहुतयः। द्विसहस्रपक्षे प्रतिमन्त्रं प्रतिद्रव्यं पञ्चाशतमाहुतयः। अष्टोत्तरसहस्रपक्षे प्रतिमन्त्रं प्रतिद्रव्यम् अष्टषष्ट्युत्तरशतमाहुतय इति बोध्यम्। अनेकेषां स्थापनायामपि एक एवायं होमः, स्थाप्यदेवतापरत्वाभावात्। अत्रेदमपि बोध्यम्—ग्रहहोमानन्तरं सर्वे होमा विभागरहिता एव, विभागोक्त्यभावात्। विभागस्तु वास्तुहोमे ग्रहहोमे च नान्यत्रेति।

वेदस्य चतुर्धा विभागनिरूपणम्

तत्र विधिः प्रमाणान्तराज्ञातफलवति कार्ये पूर्वमप्रवृत्तं पुरुषं यः प्रवर्त्तयति स विधिरित्युच्यते। अतएव प्रवर्तना, प्रेरणा, प्रैष इत्यादयो विधेः पर्यायशब्दाः। अज्ञातज्ञापकोऽप्रवृत्तप्रवर्तकश्च विधिरिति च न्यायविदः। स च लोके आचार्यादिपुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः। लोके हि आचार्यादिः स्वशिष्यं भृत्यं वा क्वचित्कर्मणि प्रेरयितुमिच्छन् लिङ्घटितं वाक्यमुच्चारयति तच्छ्रुत्वा च शिष्यादिः तस्मिन् कार्ये झटिति प्रवर्तते, प्रवृत्तश्च केनचित्पृष्ट आचार्यप्रेरितोऽहमिदं करोमि इति वदति। सोऽपि आचार्यादिरहमेनमस्मिन्कार्ये प्रवर्त्तयामि इति अभिमनुते। अनेन व्यवहारेण आचार्यादिप्रेरकनिष्ठोऽभिप्रायविशेष एव विधि-प्रेरणादिशब्दाभिधेय इत्यवगम्यते। वेदे च स धर्मविशेषो विध्यादिशब्दनिष्ठ एवेति वेदस्यापौरुषेयत्वमभिदधतां मीमांसकानां सिद्धान्तः। ईश्वरकर्तृकत्वं तु वेदस्याङ्गीकुर्वतां नैयायिकादीनां मते ईश्वरेच्छैव स इति सिद्ध्यति। तत्तत्क्रियाजन्यमपूर्वमेव नियोगशब्दाभिधेयं विधिशब्दवाच्यं मन्यन्ते मीमांसैकदेशिनः प्राभाकराः। विधेयधात्वर्थादिनिष्ठमिष्टसाधनत्वमेव विधिरिति मण्डनमिश्रप्रभृतयः केचित्। वैयाकरणा अपि मण्डनमिश्राशयमेवानुरुन्धते।

इष्टसाधनत्वम्, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम्, कृतिसाध्यत्वम्—इति त्रितयमपि विधिः इत्यपि केचन नैयायिकाः। एवं प्रेरणादिपदार्थस्य लिङ्बोध्यस्यैव मुख्यतो विधित्वेऽपि तद्घटितवाक्यस्य विधिरिति व्यवहारः क्रियते लोके वेदे च। तादृशो विधिश्चतुर्विधः। उत्पत्तिविधिः, विनियोगविधिः, प्रयोगविधिः, अधिकारविधिश्चेति।

तत्रोत्पत्तिविधिः

येन विधिना इदं कर्म कर्तव्यम् इत्यवबोध्यते स उत्पत्तिविधिः। उत्पत्तिरत्राज्ञातज्ञापनम्, एतद्वाक्याभावे प्रमाणान्तरेण केनापि एतत्कर्मस्वरूपं नावगमितम्, अतश्च अनेनैव विधिना कर्मस्वरूपं कर्तव्यतया अवबोध्यत इति कर्मस्वरूपमात्र-

बोधकस्य विधेरुत्पत्तिविधिरिति व्यवहारः। यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात्', 'सोमेन यजेत' इत्यादयः।

विनियोगविधिः

उत्पन्नस्य कर्मणः अर्थात् प्रमाणान्तरेणावगतस्य द्रव्यदेवतादेर्वा लोकावगतस्य अन्याङ्गतो बोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा - 'दध्ना जुहोति' अत्र लोकावगतस्य दध्नः अग्निहोत्राङ्गत्वमनेन विधिना बोध्यत इति, अयं विधिर्विनियोगविधिरित्युच्यते। एवं 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इत्यादावपि लोकावगताऽग्न्यादिदेवताया होमाङ्गत्वमवगम्यत इत्ययमपि विधिर्विनियोगविधिरित्युच्यते। विनियोगोऽङ्गत्वबोधनम्, तत्सम्बन्धी विधिर्विनियोगविधिरित्यर्थः।

प्रयोगविधिः

दर्शपूर्णमासादिप्रकरणेषु पृथक् पृथक् श्रुतानां प्रधानविधीनामङ्गविधीनां च एकवाक्यतासम्पादनेन अनुष्ठानस्य यथावत्सिद्धये यो विधिः कल्प्यते स प्रयोगविधिः। यथा—दर्शपूर्णमासप्रकरणे एव 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति प्रधानविधिः श्रूयते, तत्रैव 'समिधो यजति' इत्यादयोऽङ्गविधयोऽपि। तेषां क्रमेणानुष्ठानसिद्धये 'समिदाद्यङ्गविशिष्टाभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं सम्पादयेत्' इति यो विधिः कल्प्यते स प्रयोगविधिः। प्रयोगोऽनुष्ठानम्, तद्बोधको विधिः प्रयोगविधिः।

अधिकारविधिः

विहितस्य कर्मणः फलसम्बन्धो येन विधिना बोध्यते सोऽधिकारविधिः। अधिकारः फलभोक्तृत्वम्, तत्सम्बन्धबोधको विधिरधिकारविधिरित्यर्थः। यथा - 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति। यः स्वर्गं कामयते स तत्सम्पादनाय अग्निहोत्रहोमं कुर्यादिति। एवं च अस्य कर्मण इदं फलमिति यो विधिर्बोधयति सोऽधिकारविधिरिति फलितम्। स विधिः पुनस्त्रिविधः—अपूर्वविधिः, नियमविधिः, परिसंख्याविधिश्चेति।

अपूर्वविधिः

एतद्विधिप्रवृत्तेः पूर्वं यः पदार्थः प्रमाणान्तरेण सर्वथाऽज्ञातः तादृशार्थबोधको विधिरपूर्वविधिः। यथा 'व्रीहीन् प्रोक्षति', 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिः। अत्र हि एतद्विध्यभावे प्रोक्षणादि केनापि प्रमाणान्तरेण न प्राप्तं तादृशमर्थमवबोधयत्येष विधिः।

नियमविधिः

एतद्विधिप्रवृत्त्यभावेऽपि विधेयार्थस्य यत्र विकल्पेन (पाक्षिकतया) प्राप्तिः तत्र यः प्राप्यमाणस्य अप्राप्तांशः तादृशांशप्रापको विधिर्नियमविधि। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' अत्र एतद्विध्यभावेऽपि अवहननस्य प्रमाणान्तरेण प्राप्तिरस्ति। कथमिति चेत् ? 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः पौर्णमास्याममायां चाच्युतो भवति' इति वाक्येन

पुरोडाशद्रव्यको यागो विहितः, तेनैव पुरोडाशसम्पादनमर्थप्राप्तम् । पुरोडाशश्च पिष्टपिण्डरूपः, पिष्टानि च तण्डुलैः सम्पाद्यानि, तण्डुलाश्च विमुक्ततुषा व्रीहय उच्यन्ते, वितुषीभावश्च अवहननेन सम्पाद्यते, एवं च अवहननमन्तरा वितुषीभावस्यासम्भवाद् अवहननं पुरोडाशान्यथानुपपत्तिरूपया अर्थापत्त्या अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चावगम्यत एव । तथापि अवघातस्य वितुषीभावसाधनत्वेनैव प्राप्तेर्वक्तव्यत्वाद् वितुषीभाव-साधनानां नखविदलनादीनामपि प्राप्तिः कदाचिद् भवतीति, तत्पक्षे अवहननस्य प्राप्तिर्नास्ति । अतश्च अवहननस्य पाक्षिकी एव प्राप्तिरिति । नखविदलनदशायां या अप्राप्तिरस्ति तादृशाप्राप्तांशपूरकत्वाद् विधिरयं नियमविधिरित्युच्यते । नियमोऽ-प्राप्तांशपूरणम्, तद्बोधको विधिर्नियमविधिरित्यर्थः ।

परिसंख्याविधिः

उभयोः साधनयोः प्राप्तौ इतरव्यावृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः । परि-संख्या व्यावृत्तिः, तद्बोधको विधिः परिसंख्याविधिरित्यर्थः । यथा—'पञ्च पञ्च-नखा भक्ष्याः' अत्र शशादिपञ्चनखपञ्चकस्य तदतिरिक्तपञ्चनखस्य च भक्ष्यत्वेन प्राप्तौ सत्यां पञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षणव्यावृत्तावेव विधेस्तात्पर्यमिति परिसंख्या-विधिः । शशादीतरपञ्चनखभक्षणव्यावृत्तिरनेन विधिना क्रियत इति विधिरयं परिसंख्याविधि । नियमविधेरप्राप्तांशपूरणं व्यापारः, इतरनिवृत्तिस्तु आर्थिकी । परिसंख्याविधौ तु इतरनिवृत्तिरेव व्यापार इति तयोर्भेदः ।

मन्त्रः

अनुष्ठेयक्रियादिस्वरूपप्रकाशका मन्त्रा इत्युच्यन्ते । विधिना हि तत्तत्कर्म-कर्तव्यतया विहितम् । अनुष्ठेयस्य कर्मणोऽप्रमादायानुष्ठानकाले स्मरणमपि अवश्य-कर्त्तव्यतया समापतति, तच्च स्मरणं तदर्थबोधकैर्मन्त्रैः क्रियत इति मन्त्राणां प्रयोग-समवेतार्थस्मारकत्वं सिद्ध्यति ।

यद्यपि उपायान्तरेणापि स्मरणं कर्तुं शक्यते, तथापि अन्येनोपायेन स्मरणे कारिते तत्तत्प्रकरणपठिता मन्त्रा निरर्थका भवेयुः । नह्यन्यत् प्रयोजनं तेषामुपपाद-यितुं शक्यते । अतस्तदानर्थक्यभिया मन्त्रैरेव स्मरणमुपादेयम्, नान्येनोपायेनेति नियमः क्रियते । नियमस्वरूपं तु नियमविधिस्वरूपनिरूपणावसरे निरूपितम् । ते च मन्त्रा अनेकप्रभेदभिन्ना अपि प्राधान्येन चातुर्विध्यभाजः । करणमन्त्रः, क्रियमाणानुवादिमन्त्रः, अनुमन्त्रणमन्त्रः, जपमन्त्रश्चेति ।

करणमन्त्रः

तत्र पूर्वं मन्त्रमुक्त्वा मन्त्रान्ते यत्र कर्म क्रियते स करणमन्त्रः । यथा—याज्या-पुरोऽनुवाक्यादयः । तत्र हि यद्देवताकं हविरग्नौ प्रक्षेप्तुमिष्यते तद्देवताकां याज्यां पठित्वा याज्यान्ते वषट्कारे कृते हविरग्नौ प्रक्षिप्यते । अतः प्रक्षेपपूर्वभावित्वात् मन्त्रोऽयं करणमन्त्र इत्युच्यते ।

क्रियमाणानुवादी मन्त्रः

यत्र मन्त्रोच्चारणकाल एव कर्म क्रियते स क्रियमाणानुवादी मन्त्रः, क्रियमाणस्य कर्मणोऽनुवादकरणात्। यथा—यूपपरिव्याणमन्त्रः। स हि त्रिवृता रशनया अध्वर्युणा यूपे परिवेष्ट्यमाने तत्काल एव 'युवा सुवासा' इति मन्त्रोऽध्वर्युणा पठ्यते। अतः क्रियमाणकर्मसमकालमेव मन्त्रपाठात् मन्त्रोऽयं क्रियमाणानुवादी-इत्युच्यते।

अनुमन्त्रणमन्त्रः

हविःप्रक्षेपाद्यनन्तरं यो मन्त्रः पठ्यते सोऽनुमन्त्रणमन्त्रः। यथा—'एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः त्विषिमान् भूयासम्' इति। स हि अध्वर्युणा हविःप्रक्षेपे कृते स्वेनापि 'इदमग्नये न मम' इति उद्देश्यत्यागरूपे यागेऽनुष्ठिते समनन्तरमेव यजमानेन पठ्यते। अतः अनु = यागानन्तरं मन्त्र्यते = उच्चार्यते इत्यनुमन्त्रणमन्त्र इति व्युत्पत्त्याऽनुमन्त्रणमन्त्रत्वमस्य।

जपमन्त्रः

केवलमदृष्टार्थमपि जपरूपत्वेन ये पठ्यन्ते ते जपमन्त्राः। 'मयीदमिति यजमानो जपति' इत्येवमादिः। अत्र पूर्वोक्तानां त्रयाणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकविधयाऽदृष्टार्थत्वम्। अन्तिमस्य तु केवलमदृष्टार्थत्वमिति केषाञ्चिन्मतम्। जपमन्त्रस्यापि अर्थस्मारकविधमेव प्रयोजनवत्त्वमिति केचित्। एतेषामृग्यजुःसामरूपेण पुनस्त्रैविध्यम्। तत्र पादबद्धा अर्थात् छन्दोबद्धा मन्त्रा ऋचः, प्रश्लिष्टतया संहितारूपेण पठिता मन्त्रा यजूंषि, ऋचामुपरि क्रियमाणो गीतिविशेषः साम इत्युच्यते।

अर्थवादः

विधिसमीपे विधेयार्थस्तावकतया प्रवृत्तं वाक्यमर्थवादः। विधिर्हि यं कञ्चनार्थं विदधाति तत्र पुरुषाणां प्रवृत्तिसिद्धये तद्विषयिणीं स्तुतिमपेक्षते। अर्थवादश्च तादृशमर्थं स्तौति। यथा लोके इयं गौः क्रेतव्येत्युक्ते तावन्मात्रेण पुरुषाणां प्रवृत्तिर्न जायते। इयं बहुक्षीरा जीवदपत्या साध्वी इत्यादिस्तुतौ कृतायां समनन्तरमेव प्रवृत्तिर्जायते पुरुषाणाम्। वेदेऽपि विधिमात्रेण पुरुषाणां प्रवृत्त्यनुदयात् तत्सिद्ध्यर्थं स्तुत्या कयाचन भाव्यम्। तादृशी स्तुतिरर्थवादेन क्रियते। एवं निषेधस्थलेऽपि निषेध्यादर्थात् पुरुषाणां निवृत्तिसिद्धये निषेधोऽपि निषेध्यस्य निन्दामभिलषति। सा निन्दा च तत्सहितेनार्थवादेन क्रियते। एवं च अर्थवादस्य विधिसन्निहितस्य प्रवृत्तिजनकत्वम्, निषेधसन्निहितस्य निवृत्तिजनकत्वमिति भेदोऽपि फलितः। अस्य च चातुर्विध्यमुपलभ्यते वेदे निन्दा-प्रशंसा-परकृति-पुराकल्पभेदात्। निन्दाप्रशंसयो स्वरूपमधुनैवोपवर्णितम्। यत्रैककर्तृकमुपाख्यानं श्रूयते सा परकृतिः। यत्र त्वनेककर्तृकमुपाख्यानं स पुराकल्पः। इतोऽप्यधिकतया भेदा उपात्ता भाष्यादौ—

"हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु॥" इति।

ते च भेदाः पूर्वोक्तेषु चतुर्ष्वेवान्तर्भूताः।

वस्तुतस्तु अर्थवादानां स्तुतिनिन्दान्यतरबोधकत्वेनैव फलवत्त्वस्याप्यङ्गीकरणीयतया स्तुतिनिन्दान्यतरबोधकं वाक्यमर्थवाद इति लक्षणमनुगमय्य तेषां द्वैविध्याङ्गीकरणमेवोचितं प्रतीयते। इति दिक्।

अङ्गताबोधकश्रुत्यादिप्रमाणषट्कनिरूपणम्

अत्राङ्गत्वनिर्णायकानि श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या रूपाणि षट् प्रमाणान्युक्तानि, तान्यपि सुखावबोधाय उदाह्रियन्ते।

तत्र श्रुतिर्नाम

अङ्गत्वबोधने प्रमाणान्तरापेक्षां विना स्वातन्त्र्येण यः समर्थः शब्दः स श्रुतिरित्युच्यते। इयं श्रुतिस्त्रिविधा—विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री चेति। तत्र यः प्रवर्तनारूपविधिबोधकः शब्दः स श्रुतिः विधात्रीत्युच्यते। स च लिङ्-लेट्-लोट्-तव्यप्रत्ययादिः, तस्यैव हि विधायकत्वं शास्त्रकारैरभिमतम्, यथा—यजेत, यजानि, यष्टव्यमित्यादि।

शक्त्या स्वार्थाभिधायकः शब्दः (श्रुतिः)अभिधात्रीत्युच्यते। यथा—'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र व्रीहिपदं सतुषद्रव्यव्रीहिरूपस्वार्थाभिधायकम्। यद्यपि इयं श्रुतिर्लिङ्गप्रमाणेऽन्तर्भूतैवाभाति शब्दगतस्यार्थप्रतिपादनसामर्थ्यस्यैव लिङ्गत्वात्, तथापि मन्त्रघटकीभूतपदानां यत् सामर्थ्यं तल्लिङ्गमित्युच्यते। विधिवाक्यगतस्य तस्यैव सामर्थ्यस्य श्रुतित्वमिति बोध्यम्। अङ्गत्वबोधने या प्रमाणान्तरं नापेक्षते सा विनियोक्त्री श्रुतिस्तृतीया, यथा -'दध्ना जुहोति' इत्यत्र दधिपदोत्तरं तृतीया श्रूयते, सा च 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (पा० सू० २।३।१८) इत्यनेन करणत्वे कर्तृत्वे च विहिता। करणत्वं च -'साधकतमं करणम्' (पा० सू० १।४।४२) इत्यनेन यत्क्रियानिर्वृत्तौ अन्तरङ्गं साधनं तदेवोच्यते। एवं च दध्नेति तृतीयया श्रुतमात्रया स्ववाक्योपात्तहोमं प्रति स्वप्रकृत्यर्थस्य दध्नः साधकतमत्वरूपकरणत्वं बोध्यते। नात्र प्रमाणान्तरमपेक्ष्यते। तच्च करणत्वमेव अङ्गत्वापरपर्यायम् इति व्यवह्रियते। इयं द्वितीया-तृतीयादिविभक्तिः श्रुतिरित्युच्यते। अत एव 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' इति लक्षणमुक्तं मीमांसकैः। इयं विभक्तिरूपा श्रुतिः। अत्र सत्यपि सर्वासां विभक्तीनां विभक्तित्वे समाने न सर्वासां श्रुतित्वम्, किन्तु द्वितीया-तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी-सप्तमीरूपाणां पञ्चानामेव विभक्तीनां श्रुतित्वम्। षष्ठ्यास्तु सम्बन्धमात्रबोधिकाया न श्रुतित्वम्। प्रथमाविभक्तेस्तु केषाञ्चिन्मते श्रुतित्वं केषाञ्चिन्मते न। अत्र द्वितीयाश्रुतेरुदाहरणं 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति। तृतीयाश्रुतेः 'दध्ना जुहोति', 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादि। चतुर्थीश्रुतेः 'विप्राय गां ददाति', 'आत्रेयाय हिरण्यं ददाति' इत्यादि। पञ्चमीश्रुतेः 'अग्नेस्तृणान्यपचिनोति', 'धान्याद् गां वारयति' इत्यादि (लोके)। सप्तमीश्रुतेः 'यदाहवनीये जुहोति', 'पदे जुहोति' इत्यादि।

कर्मषष्ठ्या अपि अङ्गत्वं केचनेच्छन्ति—यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यत्र इन्द्रियकामस्येति द्वितीयार्थे षष्ठी। दध्ना इन्द्रियं भावयेदिति हि तदर्थः। श्रुतेरस्या विनियोक्त्र्या अन्ये अपि द्वे विधे स्तः, समानाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र यः शब्दः प्रकृतिप्रत्ययाद्यात्मना अविभाज्यः सन् अनेकधर्मविशिष्टः तत्तद्धर्मावच्छिन्नत्व-पुरस्कारेणानेकमर्थमभिदधाति स समानाभिधानश्रुतिरित्युच्यते—यथा 'रामेण' इत्यत्र रामप्रातिपदिकोत्तरं श्रूयमाणा एकैव विभक्तिः, सा च विभागानर्हा, परन्तु तत्र विभक्तित्वम्, एकवचनत्वम्, पुंल्लिङ्गत्वमिति धर्मत्रयमस्ति। तत्र विभक्तित्व-धर्मपुरस्कारेण करणत्वं ब्रूते, एकवचनत्वधर्मपुरस्कारेण एकत्वम्, पुंल्लिङ्गत्व-पुरस्कारेण च पुंस्त्वमभिधत्ते। एतेषां त्रयाणामर्थानामभिधायक एक एव शब्दः समान एवेति समानाभिधानश्रुतिरित्युच्यते। एवं यजेतेत्याद्याख्यातस्थलेऽपि बोध्यम्। तत्रापि लिङ्त्वावच्छिन्नेन तेन प्रवर्तनायाः, आख्यातत्वावच्छिन्नेन तेन आर्थीभावनायाः, एकत्वावच्छिन्नेन एकत्वसंख्यायाश्च बोधनात्। अनेकेषामर्थानामभिधायकस्य शब्दस्य समानत्वात् समानाभिधानश्रुतिरिति।

यत्प्रकृतिप्रत्ययरूपेण एकं पदं सत् प्रकृत्यात्मना कञ्चिदर्थम्, प्रत्ययात्मना च कञ्चिदर्थमवबोधयति सा एकपदश्रुतिः। यथा 'यजेत' इत्यत्र प्रकृत्या यागोऽभिधीयते, प्रत्ययेन च एकत्वम्। तत्र एकत्वात्मिकायाः संख्याया यागाङ्गत्वं तदेकपदश्रुत्या। इयं समानपदश्रुतिरित्यपि क्वचिदभिधीयते। अत्र विनियोक्त्र्या एव श्रुतेस्त्रिविधाया अङ्गत्वे प्रामाण्यम्। इतरयोस्तु प्रकारान्तरेण प्रमाणमङ्गीकृतं मीमांसकैः। इयं च श्रुतिरङ्गत्वबोधिका पूर्वमीमांसायां द्वितीयेऽध्याये निरूपिता। अन्या च काचित्पञ्च-माध्यायगोचरा। साऽनुष्ठेयपदार्थानां क्रमबोधिका, 'अथ ततः प्रथमं कृत्वा परिवीय' इत्येवमादिरूपा। यथा—'अथैष ज्योतिः', 'ततो होतारं वृणीते', 'वषट्कर्तुः प्रथम-भक्षः', 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति', 'यूपं परिवीय सवनीयं पशुमुपाकरोति', अत्र पूर्वं किञ्चिदनुष्ठाय अनन्तरं कर्तव्यत्वेन बोधनीये पदार्थे 'अथ', 'ततः' इत्यादिशब्दः प्रयुक्तः। एवं च आनन्तर्यक्रमरूपबोधको यः शब्दः स श्रुतिपदवाच्यः पाञ्चमिकः। अतश्च तृतीयाध्यायनिरूपिता श्रुतिरङ्गत्वबोधिका। पञ्चमाध्यायगता चानन्तर्यरूप-क्रमबोधिकेत्यवगन्तव्यम्।

लिङ्गम्

तत्तत्पदार्थगतं सामर्थ्यं लिङ्गमित्युच्यते। तथा चोक्तं 'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्ग-मित्यभिधीयते'। एवं च यस्य यत्सामर्थ्यं तल्लिङ्गम्; यथा खनित्रस्य मृत्खनने साम-र्थ्यम्, कुठारस्य वृक्षच्छेदने सामर्थ्यमित्यादि।

तच्च द्विधा विभक्तं शब्दगतम्, पदार्थगतं चेति। पदार्थगतं सामर्थ्यं च अनन्तरोदाहृतम्। शब्दगतं सामर्थ्यं च तत्तदर्थप्रकाशनरूपम्—यथा 'अग्निर्मूर्द्धादिवः' (शु० य० ३।१२) इति मन्त्रः अग्निं प्रकाशयति। 'इमं मे वरुण' (शु० य० २१।१) इति मन्त्रो वरुणं प्रकाशयति। एवं च तत्तत्पदार्थगतं स्वमर्थमालोच्य तत्तत्कार्ये तेषां तेषां यो विनियोगः क्रियते स लिङ्गात्। यथा खनित्रस्य खननसामर्थ्यं पर्यालोच्य

खनने विनियोगः क्रियते। यथा वा 'हस्तेनावद्यति' इत्यत्र हस्तस्य कठिनद्रव्यावदान एव सामर्थ्यमवगम्य चरुपुरोडाशरूपहविरवदान[1] एव विनियोगः क्रियते, न तु मांसाद्यवदानेऽपि। एवं 'स्वधितिनावद्यति' इत्यत्र स्वधितेः सामान्यतोऽवदानाङ्गत्वश्रवणेऽपि मांसावदाने एव तस्य सामर्थ्यं दृष्ट्वा तत्रैव तस्याङ्गत्वं प्रकल्प्यते, न तु चरुपुरोडाशाद्यवदानेऽपि। इदमेवार्थगतं लिङ्गमित्युच्यते।

शब्दगतं तु लिङ्गमर्थप्रकाशनरूपसामर्थ्यं पूर्वमुक्तम्। तेन तत्तन्मन्त्राणां तेषु तेषु कार्येषु अङ्गत्वं बोध्यते—यथा 'बर्हिर्देवसदनं दामि' (मै० सं० १।१२) इति मन्त्रस्य बर्हिर्लवनप्रकाशकत्वरूपं सामर्थ्यं बुद्ध्वा अनेन मन्त्रेण दर्शपूर्णमासाङ्गभूतबर्हिर्लवनं कर्तव्यमिति बर्हिर्लवने विनियुज्यते। एवं सत्यपि लिङ्गस्य द्वैविध्ये शब्दगतस्यैव सामर्थ्यस्य लिङ्गत्वमित्यभिप्रयन्त्यर्थसंग्रहकारादयः 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति वाक्यमुदाहरन्तः। परन्तु शब्दगतार्थगतयोरुभयोरेव सामर्थ्ययोर्लिङ्गत्वं ग्रन्थकारैरुक्तम्, तदेव युक्तमित्युत्पश्यामः।

वाक्यम्

'समभिव्याहारो वाक्यम्' इति सामान्यतो वाक्यलक्षणं कथयन्ति। समभिव्याहारश्च एकस्मिन्वाक्ये अङ्गित्वेन अङ्गत्वेन च अभिमतयोः पदार्थयोरुपादानम्—यथा 'औदुम्बरो यूपो भवति' इत्यत्र यूपः अङ्गित्वेनाभिमतः, औदुम्बरत्वं चाङ्गत्वेन। तयोरौदुम्बरो यूपो भवतीत्येकस्मिन्वाक्ये सहोपादनमेव वाक्यम्। अत्र च लक्षणे अङ्गत्वबोधकद्वितीयातृतीयाद्यभावे सतीति निवेशनीयम्। अन्यथा 'दध्ना जुहोति' इति श्रुतिविनियोगस्थानेऽपि वाक्यविनियोगः प्रसज्येत। यद्यप्यत्रापि समभिव्याहारोऽस्त्येव, तथापि तत्र दध्नेति तृतीयाविभक्तेः श्रवणात् तस्याश्च श्रुतिरूपत्वात् श्रुतेश्च सर्वापेक्षया प्रबलत्वात् 'प्रधानेन व्यपदेशो भवति' इति न्यायेन श्रुतेरेवोदाहरणमिदं न तु वाक्यस्य। एवं च श्रुतिवाक्यस्थलयोरुभयत्रापि एकवाक्योपादानरूपसमभिव्याहारसत्त्वेऽपि तत्र यदि द्वितीयातृतीयादिसंयोगस्तदा श्रुत्या विनियोगः, तदभावे तु वाक्यीयो विनियोग इति ध्येयम्। यत्तु 'एकतिङ् वाक्यम्' इत्यपि वाक्यस्य लक्षणं क्रियते वैयाकरणैः, 'पदसमूहो वाक्यम्' इति तु नैयायिकाः, तत्सर्वमर्थावबोधकस्य लौकिकस्य वाक्यस्य लक्षणम्, न तत्राङ्गाङ्गिभावावबोधनमस्ति। पूर्वोक्तं तु वाक्यमङ्गत्वबोधकप्रमाणेष्वन्तर्गतं मीमांसकैरभिधीयते।

एकवाक्यम्

एकवाक्यस्य लक्षणम्—"अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षञ्चेद्विभागे स्यात्" (जै०सू० २।१।४६) इति जैमिनिनोक्तम्। तस्यायमर्थः—वाक्यत्वेनाभिमतानां पदसमूहानां मध्ये एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा ततो विभागे यदि पदान्तराणि साकाङ्क्षाण्येवावतिष्ठन्ते न कञ्चनार्थमवबोधयितुं शक्नुवन्ति, सर्वाणि पदानि मिलितानि च सन्त्येकमेवार्थ-

---

१. अवदानं नाम समुदायरूपेण तत्तद्यागसिद्धये सम्पादितानां हविषां स्रुवहस्तादिना हवनार्थं यद् ग्रहणं तदुच्यते।

मवबोधयन्ति तदेकं वाक्यमिति, यथा 'देवस्य त्वा०....गृह्णामि' (शु० य० १, १०)। अत्र सर्वाणि पदानि मिलित्वा निर्वापरूपमेकमर्थं प्रतिपादयन्ति । देवस्यत्वेत्यादि-निर्वपामीत्यन्तेषु पदेषु मध्ये कस्यापि पदस्य विभागे सति इतराणि पदानि साकाङ्क्षाण्येव सन्ति, न च कञ्चनार्थमवबोधयन्ति, समुदितान्येव हि निर्वापरूपार्थप्रतिपादकानि । अतः साकाङ्क्षत्वे सति एकार्थप्रतिपादकत्वरूपमेकवाक्यत्वं सर्वैरपि शास्त्रकारैरङ्गीक्रियते ।

प्रकरणम्

'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्' उभयोरङ्गभावेन अङ्गिभावेन चाभिमतयोर्वस्तुनोर्या परस्पराकाङ्क्षा सा प्रकरणमित्युच्यते । तथाहि दर्शपूर्णमासप्रकरणे—'आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः' इत्यादिवाक्यैराग्नेयादयो यागा विहिताः, तेषां च 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्येन स्वर्गरूपफलार्थत्वमवगमितम्—दर्शपूर्णमासशब्दवाच्यैराग्नेयादिभिर्यागैः स्वर्गं सम्पादयेदिति । तेषां च आकाङ्क्षा उदेति कथं स्वर्गः सम्पादनीय इति । यथा हि लोके कुठारेण छिनत्तीत्येतावदुक्ते यो नाम छेदनप्रकारं न जानाति तस्य आकाङ्क्षोदेति 'कथमनेन कुठारेण द्वैधीभावः सम्पादयितुं शक्यते' इति तद्वदत्रापि । अत्र लोके कुठारं हस्ताभ्यामुद्यम्य कुठाराग्रभागं काष्ठोपरि पातयेत्, एवं बहुवारं निपातने कृते द्वैधीभावः सम्पद्यत इति वक्तव्यं भवति। एवमुक्ते तत्प्रकारमभिज्ञाय तथैव कुर्वन्पुरुषः काष्ठे द्वैधीभावरूपं फलं प्राप्नोति। एवं कथमेभिः स्वर्गः सम्पादयितुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायामुदितायामन्वाधानादीनि ब्राह्मणतर्पणान्तान्यङ्गानि एवमेवानुष्ठेयानि, एवमनुष्ठितेषु तेषु तैरुपकृता आग्नेयादयो यागाः स्वर्गरूपं फलं जनयन्ति—इत्युक्ते अन्वाधानादीन्यङ्गान्यनुष्ठातुमुद्यतः पुरुषः यथोक्तमनुतिष्ठन् तदुपकृतैर्दर्शपूर्णमासयागैः स्वर्गरूपं फलं प्राप्नोति । अतश्च दर्शपूर्णमासयागानां कथम्भावाकाङ्क्षायाः सत्त्वाद् अन्वाधानादीनां क्रियाणां प्रयोजनाकाङ्क्षायाश्च सत्त्वाद् उभयाकाङ्क्षा वर्तते । अनया चोभयाकाङ्क्षया परस्परं सम्बन्धो भवति अन्वाधानादिभिरङ्गकलापैर्दर्शपूर्णमासोपकारं भावयेत्। तदुपकृतैर्दर्शपूर्णमासयागैः स्वर्गं सम्पादयन्ति । एवं च या दर्शपूर्णमासयागानामन्वाधानादीनां च कर्मणां परस्पराकाङ्क्षा सैवोभयाकाङ्क्षारूपं प्रकरणं तेन च उभयेषामङ्गाङ्गिभावः सिद्ध्यति । इदं च प्रकरणं द्वेधा कथ्यते मीमांसकैः—महाप्रकरणम्, अवान्तरप्रकरणं चेति । तत्र प्रधानयागस्य तदङ्गानां च या परस्परमुपकार्योपकारकभावविषयिणी आकाङ्क्षा सा महाप्रकरणमित्युच्यते—यथा दर्शपूर्णमासप्रयाजयोः परस्पराकाङ्क्षा । दर्शपूर्णमासाः प्रधानानि प्रयाजाश्चाङ्गानि, तेषां च याऽऽकाङ्क्षा सा महाप्रकरणम्। तदङ्गानां च या परस्परमाकाङ्क्षा सा अवान्तरप्रकरणम्—यथा प्रयाजा दर्शपूर्णमासाङ्गभूताः, तेषां तदङ्गानामभिक्रमणादीनां च याऽऽकाङ्क्षा साऽवान्तरप्रकरणम् । अभिक्रमणं नाम—प्रयाजहोमकाले. एकैकामाहुतिं प्रति किञ्चित् किञ्चिदग्रे पदनिक्षेपणरूपं गमनम् । इतिकर्तव्यता नाम—कथमिदं कर्तव्यमित्याकारिका याऽऽकाङ्क्षा सोच्यते । 'पचेत्' इत्युक्ते कथमहं पचेयमित्याकाङ्क्षोदेति ।अस्या

एवेतिकर्तव्यतायाः कथम्भावाकाङ्क्षा, इत्थम्भावाकाङ्क्षा, प्रकरणविशेषाकाङ्क्षा इत्यादि व्यवहार इति।

स्थानम्

अन्यतराकाङ्क्षा स्थानम्। अङ्गत्वेनाङ्गित्वेन च सम्बन्धयोग्ययोः पदार्थयोरन्यतरस्य स्वापेक्षितोपकारकलाभेन उपकार्यलाभेन वा निवृत्ताकाङ्क्षत्वे सति अन्यतरस्य तादृशाकाङ्क्षासत्त्वे इतरस्यापि आकाङ्क्षामुत्थाप्य यः परस्परं सम्बन्धः स स्थानमित्युच्यते—यथा 'अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् स्वर्गकामः' इत्यनेन काचनेष्टिः नक्षत्रेष्टिसंज्ञिका विहिता। सा च औषधद्रव्यका दर्शपूर्णमासविकृतिः। तस्याश्च साध्याकाङ्क्षायां स्ववाक्योपात्तं स्वर्गादिकं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां समानपदोपात्तो धात्वर्थः करणत्वेनान्वेति। तत इतिकर्तव्यताकाङ्क्षोदेति। उदितायां च तस्यां तच्छामकत्वेन स्वप्रकृतिभूताद् दर्शपूर्णमासयागात् प्रयाजादयो धर्मा अतिदिश्यन्ते। यद्यपि सौर्ययागसन्निधावपि उपहोमसंज्ञकाः केचन होमाः पठिताः। ते च सौर्ययागेन सह इतिकर्तव्यतया सम्बद्धुं शक्नुवन्ति। तथापि सौर्ययागो न तान् प्रथमतः स्वाकाङ्क्षाशामकत्वेन परिगृह्णाति, तेषां प्रथमतया स्वसन्निधावेव पठितत्वेन ततः पूर्वं कचिदपि तैरुपकाराजननात्, स्वापेक्षितोपकारजननेऽनिश्चितत्वात् निश्चिततया कृतोपकाराणि प्रयाजादीनि प्राकृतान्येव स्वोपकारजनकत्वेनापेक्षन्ते, तेषां तु प्रकृतावुपकारसम्पादनेन कृतार्थत्वाद् आकाङ्क्षा विनिवृत्ता। शान्ताकाङ्क्षाणामपि तेषां पुनराकाङ्क्षामुत्थाप्य सौर्ययागेन साकं सम्बन्धः सम्पाद्यते। अतश्च सौर्ययागस्य साकाङ्क्षत्वात् प्रयाजादीनां च निराकाङ्क्षत्वाद् अन्यतराकाङ्क्षैव वर्वर्ति, नोभयाकाङ्क्षा—इति विकृतिप्राकृताङ्गयोर्योऽङ्गाङ्गिभावेन सम्बन्धः सोऽन्यतराकाङ्क्षारूपस्थानप्रमाणेनैव। एवं प्राकृताङ्गसम्बन्धेन विनिवृत्ताकाङ्क्षायां प्रकृत्यां तस्याः पुनराकाङ्क्षामुत्थाप्य स्वसन्निधिपठिताङ्गैः साकं यः सम्बन्धः क्रियते सोऽप्यन्यतराकाङ्क्षयैव। विकृतिसन्निधौ पठितान्युपहोमादीनि अनन्यप्रयोजनानि स्वप्रयोजनलाभार्थं विकृतिसम्बन्धमपेक्षन्ते। विकृतिस्तु प्राकृतैरङ्गैर्निराकाङ्क्षा तिष्ठति। एवं निराकाराकाङ्क्षया प्रकृत्या सह साकाङ्क्षाणामुपहोमानां विकृतेराकाङ्क्षामुत्थाप्य यः सम्बन्धः सोऽप्यन्यतराकाङ्क्षारूपस्थानप्रमाणेन।

एवं च यत्राङ्गाङ्गिनोरुभयोरपि स्वारसिक्येवाकाङ्क्षा प्रकरणम्। यत्र तु द्वयोरन्यतरत्र प्रकारान्तरेण शान्ताकाङ्क्षत्वम्, अन्यतरस्य च साकाङ्क्षत्वम्, तत्र यो निराकाङ्क्षस्यापि आकाङ्क्षामुत्थाप्य इतरेण सम्बन्धः स स्थानमिति। इदमेव च क्रम इत्यप्युच्यते। इदमङ्गत्वग्राहकेषु प्रमाणेषु पञ्चमं प्रमाणम्। इदमेव सादेश्यमित्युच्यते। सादेश्यं च समानदेशवत्त्वम्। समानदेशश्च पाठतोऽपि संभवत्यनुष्ठानतोऽपि। अत इदं पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यमिति द्विधा विभक्तम्। तत्र पाठतः सादेश्यं यथा 'दैव्याय कर्मणे शुन्धद्ध्वं देवयज्यायै' (शु० य० १।१३) इति मन्त्रः सान्नाय्ययागसन्निधौ पठित इति कृत्वा सान्निध्यपाठात् सान्नाय्यपात्राङ्गं भवति। अनुष्ठानेन ययोः पदार्थयोरेकस्मिन्काले एकस्मिन् देशे वाऽनुष्ठानं तयोरङ्गाङ्गिभावोऽ-

नुष्ठानसादेश्यात् । यथा सोमयागाङ्गभूतोऽग्नीषोमीयपशुयागो द्वितीयदिनकर्तव्यस्य सोमक्रमस्य सन्निधौ पठितः, तथापि तत्र पाठे औपवसथ्याख्ये चतुर्थेऽहनि अनुष्ठानं तस्य विहितम्, तद्दिनकर्तव्यताङ्गमध्ये उपाकरणनियोजनादयः पदार्थाः पठिताः, तेषां च तद्दिन एवानुष्ठानं कर्तव्यम् । तस्मिन्नेव च दिनेऽग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठेय इति तेषां पदार्थानामग्नीषोमीयपशुयागाङ्गत्वमनुष्ठानसादेश्यात् समानदेशेऽनुष्ठानात् । अत्र देशशब्देन कालोऽभिधीयते, एकस्मिन्काले चतुर्थेऽहनीति यावत् । पाठसादेश्यमपि द्विधा विभक्तम्—यथाक्रमपाठः, सन्निधिपाठश्चेति । यथाक्रमपाठः—प्रथमं पठितस्य यागस्य प्रथमपठितो मन्त्रोऽङ्गम्, द्वितीयं पठितस्य यागस्य द्वितीयपठितो मन्त्रोऽङ्गमित्येवं रीत्या । सन्निधिपाठस्तूदाहृत एव ।

समाख्या

इदमङ्गत्वबोधने षष्ठं प्रमाणम् । समाख्या संज्ञा । सा च यौगिकी गृह्यते, तयाऽप्यङ्गत्वं बोध्यते—यथा आध्वर्यवम्, औद्गात्रम्, हौत्रमित्यादिसंज्ञया तत्तद्भागपठितेषु मन्त्रेषु पदार्थेषु वाऽध्वर्य्वादीनां कर्तृतयाऽङ्गत्वम् । रूढसंज्ञा तु लिङ्गेऽन्तर्भवति । इत्यलं विस्तरेण ।

दर्शपूर्णमासवेदिनिर्माणप्रकारः

गार्हपत्यमध्यादाहवनीयस्य मध्यपर्यन्तं मध्येऽन्तरमष्टौ, एकादश, द्वादश वा प्रक्रमाः । गार्हपत्यमध्यं केन्द्रत्वेन परिकल्प्य सार्धत्रयोदशाङ्गुलमितरज्ज्वा वृत्तं कार्यम् । इदं गार्हपत्याग्नेः स्थानम् । आहवनीयस्थानमायामतो विस्तारतश्च हस्तमितम् । गार्हपत्याहवनीयान्तरस्य द्वादशपदपरिमितत्वपक्षे तदन्तरस्य षड्ढस्तात्मकत्वात् षड्ढस्तां तदीयषष्ठभागेन हस्तात्मकेन संयोज्य अर्थात् सप्तहस्तां रज्जुं गृहीत्वा तस्या अन्तयोः पाशौ कृत्वा, मध्ये च तृतीये तृतीये भागे चिह्नं कृत्वा, एकं पाशं गार्हपत्यमध्यशङ्कौ आसज्य, द्वितीयपाशमाहवनीयमध्यशङ्कौ आसञ्जयेत् । रज्जुमध्यवर्तिनोर्द्वयोश्चिह्नयोः पश्चिमचिह्नस्थाने रज्जुं गृहीत्वा दक्षिणत आकर्षयेत्, यत्र तच्चिह्नं पतति तत्र तच्चिह्नं कृत्वा तस्मात्स्थानाद् उत्तरतः सार्धनवाङ्गुलव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः । शङ्कुस्थानं केन्द्रत्वेन परिकल्प्य यवाधिकोनविंशत्यङ्गुलमितरज्ज्वा वृत्तं कार्यम् । वृत्तमध्ये केन्द्रसंलग्ना परिधिपूर्वभागमादाय परिधिपश्चिमं यावत्सरलरेखा कार्या । रेखात उत्तरभागस्य त्यागः कार्यः । वृत्तस्य दक्षिणार्धं दक्षिणाग्निस्थानम् । पूर्वोक्तयोश्चिह्नयोः पूर्वचिह्नस्थाने रज्जुं गृहीत्वा उत्तरत आकर्षणे यत्र चिह्नं पतति तदुत्करस्थानम् । आहवनीयमध्यशङ्कुसकाशात् पश्चिमतस्त्र्यरत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः । आहवनीयप्राचीशङ्कुसकाशात् सार्धारत्निव्यवहिते देशे दक्षिणत उत्तरतश्च शङ्कुर्देयः । चतुर्षु कोणस्थशङ्कुषु

सूत्रार्पणादविषमचतुरस्रं भवति । प्राचीशङ्कुमारभ्य पश्चिमशङ्कुपर्यन्तं कोणद्वय-वेष्टनेन सूत्रं प्रदेयम् । तत्सूत्रार्धपरिमितेन सूत्रेण प्राचीशङ्कुमारभ्य दक्षिण-कोणस्थशङ्कुवेष्टनेन दक्षिणतः, उत्तरकोणस्थशङ्कुवेष्टनेन उत्तरतश्च शङ्कुर्देयः । ताभ्यां शङ्कुभ्यां पूर्वार्धचतुर्थांशेन वेदिमध्ये सङ्ग्रहौ कार्यौ । द्वादशाङ्गुलं पदम् । अष्टयवमङ्गुलम् । चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः । (का० शु० प० १।२६-३०) इति ।

चातुर्मास्यवेदिनिर्माणप्रकारः

चातुर्मास्ययागे पूर्वस्यां दिशि वेदिद्वयं निर्मातव्यम् । तत्र दक्षिणस्यां प्रतिप्रस्थातुः, उत्तरस्यामध्वर्योः । प्रतिप्रस्थातुर्वेदिर्दर्शपूर्णमासवद्भवति । अत्र गार्हपत्य-दक्षिणाग्नी न भवतो नाप्युत्करः । अध्वर्योर्वेदिरपि दर्शपूर्णमासवदेव भवति, परन्तु तत्र पूर्वपश्चिमयोर्दैर्घ्यं सप्तारत्निमितं षडरत्निमितं वा भवति । विस्तारस्तु दर्शपूर्णमासवदेव । अत्र संग्रहौ न भवतः । आहवनीयस्थाने द्वात्रिंशदङ्गुलदीर्घा तावद्विस्तारा समचतुरस्रा चतुरङ्गुलोच्चा उत्तरवेदिः कर्तव्या । तन्मध्ये प्रादेशदीर्घा तावद्विस्तारा एकाङ्गुलोच्चा नाभिर्भवति । पश्चाद्भागे उभयोर्वेद्योरन्तरालं प्रादेशमितं भवति । उत्करो दर्शपूर्णमासवत्पूर्वतृतीये वेद्या बहिर्भवति । स च षडङ्गुलवृत्तभ्रामणेन द्वादशाङ्गुलवृत्तो द्व्यङ्गुलखातश्च निष्पाद्यः । उत्करात्पूर्वस्यां दिशि द्वात्रिंशदङ्गुलमितं देशं त्यक्त्वा द्वात्रिंशदङ्गुलदीर्घस्तावद्विस्तारोऽष्टाङ्गुलषडङ्गुलान्यतरपरिमाण-खातवान् चात्वालनामको गर्तो निष्पादनीयः । अध्वर्युवेदेः पश्चिमदिशि अरत्निद्वय मुक्त्वा गार्हपत्यखर एकचत्वारिंशमितहस्तेन अष्टचत्वारिंशाङ्गुलमितहस्तेन वा दर्शपूर्णमासवत् सम्पादनीयः । दक्षिणाग्निखरश्च पश्चिमवितृतीये देशे दक्षिणस्यां दिशि गार्हपत्यात् सपादहस्तद्वयमितमन्तरालं त्यक्त्वा सम्पादनीयः । दक्षिणाग्नेः पश्चिमदिशि द्व्यङ्गुलमितमन्तरालं मुक्त्वा प्रतिप्रस्थातृवेदिमध्यस्य समानसूत्रा प्राकृती वेदिः सभ्यावसथ्यगार्हपत्यदक्षिणाग्निसंग्रहोत्कराहवनीययुता कार्या । प्राकृत्या एतद्वेद्याः सम्बन्धिनो दक्षिणाग्नेर्हस्तमितमन्तरालं मुक्त्वा दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणाग्निमध्यसमसूत्रा पितृयज्ञवेदिर्दर्शपूर्णमासवत् कार्या । इयं वेदिर्दक्षिणस्यां त्र्यरत्निविस्तारा उत्तरस्यां चतुररत्निविस्तारा त्र्यरत्निदीर्घा मध्ये दक्षिणाग्नियुता भवति । अत्र गार्हपत्याहवनीयसंग्रहोत्करा न भवन्ति । एवमुत्तरस्यां दिशि चतुष्पथे वा त्र्यम्बकेष्ट्यर्थं प्राकृती वेदिराहवनीययुता प्रकृतिवत् कार्या । इयं वेदिरुत्तरस्यां दिशि त्र्यरत्निविस्तारा दक्षिणस्यां चतुररत्निविस्तारा त्र्यरत्निदीर्घा भवति । गार्हपत्य-दक्षिणाग्निसंग्रहोत्कराणामभावोऽत्रेति । इति दिक् ।

सौमिकवेदिनिर्माणप्रकारः

आदौ यागयोग्यां भूमिं निश्चित्य तत्र पश्चिमभागे द्वादशभिर्दशभिर्वा अरत्निभिः परिमितं चतुरस्रं मण्डपमनुदग्द्वारं प्राग्वंशं पञ्चहस्तमितैश्चतुर्भिः स्तम्भैर्युतं सर्वत उपरि च समाच्छादितं निर्मिमीते। उपरि दक्षिणोत्तरं तृणबलिकादिनिधानम्। अयं मण्डपः प्राचीनवंशशब्देन विमितशब्देन च व्यपदिश्यते। प्राचीनः प्रागग्रो वंशो मध्यवलो यस्येति। अरत्निद्वयविस्ताराणि द्वाराणि सर्वत्र। विमितस्य पूर्वस्मादन्ताद् द्व्यरत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स आहवनीयमध्यः। आहवनीयस्थानमायामतो विस्तारतश्च हस्तमितम्। तस्मात्पश्चात् सप्तारत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स गार्हपत्य-मध्यः। तत्र सार्धत्रयोदशाङ्गुलमितरज्ज्वा वृत्तं कार्यम्, स गार्हपत्यः। चतुरङ्गुलविस्तारा द्वादशाङ्गुलोत्सेधा मेखलाः सर्वत्र। आहवनीयमध्यशङ्कोरारभ्य गार्हपत्यमध्यं याव-द्वर्तमानस्य भूभागस्य सप्तारत्निपरिमितत्वात् सप्तारत्निपरिमितां रज्जुं गृहीत्वा तदीयसप्तमभागेन अरत्न्यात्मकेन संयोज्य, अर्थादष्टहस्तां रज्जुं गृहीत्वा तस्या अन्तयोः पाशौ कृत्वा, मध्ये च तृतीये तृतीये भागे चिह्नं कृत्वा, एकं पाशं गार्हपत्य-मध्यशङ्कौ आसज्ज्य, द्वितीयपाशमाहवनीयमध्यशङ्कौ आसञ्जयेत्। रज्जुमध्यवर्तिनोर्द्वयो-श्चिह्नयोः पश्चिमस्थाने रज्जुं गृहीत्वा दक्षिणत आकर्षयेत्। यत्र तच्चिह्नं पतति तत्र तच्चिह्नं कृत्वा तस्मात्स्थानादुत्तरतः सार्धनवाङ्गुलव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः। शङ्कुस्थानं केन्द्रत्वेन परिकल्प्य यवाधिकोनविंशत्यङ्गुलमितरज्ज्वा वृत्तं कार्यम्। वृत्तमध्ये केन्द्र-संलग्ना परिधिपूर्वभागमादाय परिधिपश्चिमं यावत् सरलरेखा कार्या। रेखात उत्तरस्य भागस्य त्यागः कार्यः। वृत्तस्य दक्षिणार्धं दक्षिणाग्निस्थानम्। पूर्वोक्तयो-श्चिह्नयोः पूर्वचिह्नस्थाने रज्जुं गृहीत्वा उत्तरत आकर्षणे यत्र तच्चिह्नं पतति स उत्कर-मध्यः। तत्र त्र्यङ्गुलेन भ्रमणं कार्यम्, एकाङ्गुलो गर्तश्च कार्यः। आहवनीयमध्य-शङ्कोः पश्चात् त्र्यरत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः। तस्माद्दक्षिणत उत्तरतश्च द्व्यरत्नि-व्यवहिते देशे शङ्कू देयौ, ते श्रोणी। आवहनीयपूर्वशङ्कोर्दक्षिणत उत्तरतश्च सार्धारत्नि-सार्धारत्निव्यवहिते देशे शङ्कू देयौ तावंसौ। चतुर्षु कोणस्थशङ्कुषु सूत्रार्पणाद् विषमचतुरस्रं भवति। वेदेर्दक्षिणकोणमारभ्य दक्षिणपार्श्वे द्वात्रिंशदङ्गुले देशे शङ्कुर्देयः, स सङ्ग्रहमध्यः। तत्र एकोनविंशत्यङ्गुलमितकर्कटेन वेदिमध्येऽर्धवृत्तं कार्यम्, स सङ्ग्रहः। एवमुत्तरतोऽपि सङ्ग्रहः कार्यः। त्र्यङ्गुलखाता वेदिः। अखातौ सङ्ग्रहौ मतौ। गार्हपत्यस्योत्तरेऽवकाशं विहाय गार्हपत्यवत् सभ्यायतनं कर्तव्यम्। एवमाहवनीयस्योत्तरे आवसथ्यायतनं गार्हपत्यवत्। अयमेव प्राकृतिको विहारः। विशे-षस्तु गार्हपत्यमध्यशङ्कोरुदक् सार्धद्व्यरत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स खरस्य मध्यः। तत्र चतुर्विंशत्यङ्गुलमितं द्व्यङ्गुलोत्सेधं चतुरस्रं मृदा कुर्यात् स खर इत्युच्यते। एवमेवाहवनीयस्योत्तरतो द्वितीयः खरः कर्तव्यः। विमितस्य पश्चादुत्तरतश्च पञ्चारत्नि-परिमितं परिवृत्तद्वयं कर्तव्यम्। तत्रैकं पत्नीशाला, अपरं दीक्षास्नानस्थानम्, घर्मपात्र-पाकस्थानं च। परिवृत्तद्वयेऽपि उत्तरे द्वारं कार्यम्। विमितपूर्वद्वारमध्यशङ्कोः सकाशात्

पूर्वस्यां दिशि द्विपदात्मकप्रक्रमत्रयव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, सोऽन्तःपात्यः। सोमे द्विपदप्रक्रमेणैव मानम्। पदं तु दशाङ्गुलम्, द्वादशाङ्गुलम्, पञ्चदशाङ्गुलं वेति। दशाङ्गुलपदपक्षे सदोमानमरत्निनैव कार्यम्। अन्तःपात्याद्दक्षिणत उत्तरतश्च पञ्चदशसु पञ्चदशसु प्रक्रमेषु शङ्कू देयौ, ते महावेदेः श्रोणी। अन्तःपात्यशङ्कोः सकाशात् पूर्वस्यां दिशि द्विपदात्मकषट्त्रिंशत्प्रक्रमव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, तस्माद्दक्षिणत उत्तरतश्च द्वादशसु द्वादशसु प्रक्रमेषु शङ्कू देयौ, तावंसौ। अन्तःपात्यशङ्कोः पूर्वस्यां दिशि द्विपदात्मकसार्धप्रक्रमव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स सदसः पश्चिमप्रान्तः। तस्माद्दक्षिणत उत्तरतश्च नवारत्निव्यवहिते देशे शङ्कू देयौ, ते सदसः श्रोणी। सदसः पश्चिमशङ्कोः पुरस्तान्नवारत्नि-नवारत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स सदसः पूर्वप्रान्तः। तस्माद्दक्षिणत उत्तरतश्च नवारत्निव्यवहिते देशे शङ्कू देयौ तावंसौ सदसः। सदसः पश्चिमे पूर्वे च द्वारे कार्ये। अन्तःपात्यात्पूर्वस्यां दिशि षट्सु प्रक्रमेषु शङ्कुर्देयः, तस्माद्दक्षिणतः पञ्चारत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, तदौदुम्बरीस्थानम्। षट्प्रक्रमान्ते निहितशङ्कोः पूर्वस्यां दिशि एकविंशत्यङ्गुले शङ्कुर्देयः, तद्दक्षिणत एकोनत्रिंशदधिकशताङ्गुलेषु शङ्कुर्देयः, स प्रशास्तृधिष्ण्यमध्यः। एवं पृष्ठ्यात उत्तरतो नवाङ्गुले शङ्कुर्देयः, स होतृधिष्ण्यमध्यः। वेदिमध्ये वर्तमाना प्राचीरेखा पृष्ठ्या। तस्मादुत्तरतः षट्त्रिंशदङ्गुलान्तराश्चत्वारः शङ्कवो निखेयाः। ते ब्राह्मणाच्छंसि-पोतृ-नेष्टृच्छावाकधिष्ण्यानां मध्याः। शङ्कुषु अष्टादशाङ्गुलानि चतुरस्राणि चतुरङ्गुलोच्चानि स्थण्डिलानि मृदा कर्तव्यानि, तानि धिष्ण्यान्युच्यन्ते। यूपावटदेशात्पश्चिमतः पदं त्यक्त्वा शङ्कुर्देयः, तस्मात् पश्चिमतः पञ्चारत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, तस्माद्दक्षिणत उत्तरतश्च सार्धद्व्यरत्नि-सार्धद्व्यरत्निव्यवहिते देशे शङ्कू देयौ, ते उत्तरवेदेः श्रोणी। एवं पूर्वस्मादंसौ। इयं दशपद्योत्तरवेदिः कार्या, सा च चतुरङ्गुलोच्चा हस्तोन्नता वा। उत्तरवेदेः पश्चात् पदद्वयात्मकप्रक्रमव्यवहिते देशे हविर्धानपूर्वद्वारमध्ये शङ्कुर्देयः। तस्मात्पश्चाद्दशसु प्रक्रमेषु पश्चिमद्वारमध्यशङ्कुः। द्वारशङ्कोर्दक्षिणे उत्तरे च पदद्वयात्मकपञ्च-पञ्चप्रक्रमव्यवहिते देशे शङ्कुचतुष्टयं देयम्। एवं कृते दशप्रक्रममितश्चतुरस्रश्चतुस्तम्भो हविर्धानमण्डपः सम्पद्यते। हविर्धानमण्डपे समप्रमाणानि चत्वारि कोष्ठकानि भावयित्वा, आग्नेयकोष्ठस्य मध्ये चतुर्विंशत्यङ्गुलमितं समचतुरस्रं प्रकल्प्य. तस्य चतुर्षु कोणप्रान्तेषु प्रादेशमात्रविस्तारान् प्रादेशान्तरालान्बाहुमात्रनिम्नान् गर्तान् खनेत्। तेषामुपरि वारणानि फलकानि भूसंलग्नानि स्थपुटयेत्। एते गर्ता उपरवशब्देन व्यपदिश्यन्ते। हविर्धानस्य वायव्यकोणादुत्तरे समसूत्रतया पदद्वयात्मकचतुःप्रक्रमव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स आग्नीध्रीयस्य नैर्ऋत्यकोणः। तस्मादुत्तरतः पञ्चारत्निव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स आग्नीध्रीयस्य वायव्यकोणः। तयोः शङ्क्वोरार्जवेन पुरस्तात् पञ्चारत्निव्यवहिते देशे शङ्कू देयौ। तौ आग्नेयैशानौ। पञ्चारत्निपरिमितं चतुरस्रमाग्नीध्रीयं कार्यम्। तस्य दक्षिणे पूर्वे च द्वारे कर्तव्ये। एवमेव दक्षिणे आग्नीध्रीयस्य समसूत्रतया मार्जालीयागारं पूर्वद्वारवर्जमुदग्द्वारमाग्नीध्रीयवत्कर्तव्यम्। उभयोर्मध्येऽष्टादशाङ्गुलपरिमिते धिष्ण्ये कर्तव्ये। महावेदेरुत्तरांसादुदक् त्रिंशदङ्गुले शङ्कुर्देयः।

तस्मात्प्रत्यक् चतुस्त्रिंशदङ्गुलव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः, स चात्वालमध्यः। द्वात्रिंशदङ्गुल-परिमितश्चतुरस्रश्चात्वालः कार्यः। उत्तरांसात्पश्चाद् द्वादशसु प्रक्रमेषु पृष्ठ्याया उत्तरतश्च चतुर्दशसु प्रक्रमेषु उत्करमध्यः। तत्र षडङ्गुलेन भ्रमणं कार्यम्, चतुरङ्गुलो गर्तश्च कार्यः। चात्वालादुत्तरतः पूर्वद्वारं पञ्चारत्निमितं शामित्रम्। हविर्धानमण्डपस्योपरि च्छदिस्त्रयेण, सदसो नवभिश्छदिर्भिरुदगग्रैराच्छादनम्। सदोमण्डपे कोणेषु स्तम्भचतुष्टयम्। महावेद्या अवशिष्टांशस्य आच्छादनं भवेन्न वा। उत्तरवेद्यास्तु आच्छादनं क्रियते। सदोहविर्धानयोः परितोऽपि च्छादनम्। त्र्यङ्गुलखाता महावेदिः। इति सङ्क्षेपः।

यज्ञकालनिर्णयः

अथेदानीमिदं विचार्यते यदेकं कर्म एकस्मिन् समारब्धमपरस्मिन् पक्षे समापयितुं शक्यते न वा? तत्र श्रौतेषु कर्मसु पर्यालोच्यमानेषु स्पष्टं निर्णेतुं शक्यते। शुक्लपक्षे कृष्णपक्षे वा प्रारब्धं कर्म तदितरस्मिन् पक्षे समापयितुं शक्यत इति। इष्टिपशुसोमरूपेण विभक्तानां क्रतूनां "य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वा यजेत" इत्यनेन वाक्येन पर्वकालानुष्ठेयत्वं बोध्यते। तत्रेष्टयः द्व्यहकालाः सद्यस्कालाश्चेति द्वेधा विभक्ताः। दर्शेष्टिः द्व्यहकाला, सौर्यादिविकृतयः सद्यस्काला अपि भवन्ति। दर्शेष्टिरिति सा व्यवह्रियते, या अमावास्यानन्तरं शुक्लपक्षप्रतिपदि क्रियमाणेष्टिः। तत्र अमावास्यायामेव तदीयानि कानिचनाङ्गानि प्रारभ्यन्ते सायं दोहशाखाहरणवत्सापाकरणादीनि। अवशिष्टानि चाङ्गानि प्रधानानि च प्रतिपदि समाप्यन्ते। एतेनेदं निश्चितं भवति 'यदेकस्मिन् पक्षे एकं कर्म उपक्रम्यापरस्मिन् पक्षे समापयितुं शक्यते' तथैव ज्योतिष्टोमः पञ्चदिनसाध्यः। "य इष्ट्या" इति वाक्यबलेन स यागः कस्मिंश्चन पक्षे एकादश्यां प्रारभ्यते, समाप्यते च पर्वकालस्यार्धरात्रे। अवभृथस्नानं न समाप्तम्, तर्हि प्रतिपदि प्रातस्तत्कर्म समाप्यते। एवं क्रियमाणमिदं कर्म विगुणं भवति, फलप्रदं न भवति, इति च मीमांसका याज्ञिका वा नाङ्गीकुर्वते। एवमेव नक्षत्रेष्टिः सप्तविंशतिदिनेषु सम्पत्स्यते। तत्र चावश्यं पक्षद्वयसाध्यत्वं, तस्य कर्मणः स्वीकर्तव्यमिति को वा नाङ्गीकुर्यात्? एवमेव द्वादशाहमारभ्य सहस्रसंवत्सरपर्यन्तं साध्यानि यान्यसंख्येयानि कर्माणि तेषामेकस्मिन्नेव पक्षे समाप्तिः कथं भवेत्? अत्र चावश्यं भिन्न-भिन्नपक्षानुष्ठेयत्वं स्वीकर्तव्यमिति कः सन्दिहीत? एतान्युदाहरणान्यादाय स्मार्तकर्मसु रुद्र-विष्णु-सूर्ययागादिष्वपि व्यवस्था कर्तुं शक्यते। यच्छुक्लपक्षे कृष्णपक्षे वा रुद्रादियागमुपक्रम्य तदितरस्मिन् पक्षे समापयितुं शक्यत इति। कश्चन यजमानः रुद्रादियागे लक्षसंख्याका आहुतीश्चिकीर्षति, अपि चाल्पसंख्याकानेव ऋत्विजोऽवृणोत्, स कथमिव तावत्संख्याका आहुतीः एकस्मिन् पक्षे समापयितुं प्रभवेत्? रुद्रयागादिविधायकवाक्येषु कुत्रापि नायं विशेषः कथितः—

यदेकस्मिन्नेव पक्षे समापनीया इमे यागा इति। प्रारम्भदिनान्येव तत्र तत्र निर्दिष्टानि, समापनदिनानि तु ऐच्छिकान्येवेति प्रयोगविधितोऽवगन्तव्यं भवति। प्रयोगविधिर्हि सर्वत्र श्रौतेषु स्मार्तेषु वा कर्मसु अविलम्बेन पदार्थाननुष्ठापयति। तत्र तत्र श्रौतकर्मणां नियतदिनानुष्ठेयत्वं विधिना बोधितम्। तथा स्मार्तयागविधायकवाक्येष्वश्रवणात् कथमिव वक्तुं शक्यते, यदेकस्मिन्नेव पक्षे समारब्धं कर्म परिसमापनीयमिति। अतः स्मार्तकर्माणि रुद्रयागप्रभृतीनि एकस्मिन् पक्षे प्रारभ्यापरस्मिन् पक्षे समापयितुं शक्यन्त इति बोध्यम्।

यज्ञादौ आचार्यप्रतिनिधित्वविचारः

यज्ञादौ आचार्यस्य प्रतिनिधिर्भवितुमर्हति न वेति विषये महती विप्रतिपत्तिर्दरीदृश्यते। आदौ आचार्यशब्देन कोऽर्थो विवक्ष्यते, तस्य कुत्र शक्तिः? कुत्र लक्षणा? इति विषयो विचारमर्हति। विषयेऽस्मिन् शास्त्रकाराणां कीदृशोऽभिप्राय इति च किञ्चित् प्रस्तूयते। तथा हि आचार्यशब्द एवं निरुक्तः मन्वादिभिर्महर्षिभिः—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

अनेनाचार्यलक्षणमुच्यत इत्यविप्रतिपन्नं समेषां विदुषाम्। तथा वाचस्पतिमिश्रोऽपि सूत्रे प्रसङ्गात् समन्वयप्राचीनसम्मतमाचार्यलक्षणमुपावर्त्तयत् तदुपोद्बलकत्वेन—

"आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे यस्मात्स आचार्य उदाहृतः।"

इतीदं वाक्यमुदाहार्षीत्। एवमेवान्यैरपि प्राचीनैः महर्षिभिः स्वेषु स्वेषु ग्रन्थेष्वाचार्यलक्षणं प्रणायि। तत्राचार्यशब्दो मुख्य इति।

एवं कर्मकाण्डे वैदिकैः कर्मादौ "सकलकर्मकर्तारमाचार्यं त्वामहं वृणे (वृणीमहे)" इति पठ्यते। अतः वैदिकप्रक्रियायामाचार्यशब्दः सकलकर्मकर्तृबोधनतात्पर्येण प्रयुज्यत इति सम्प्रधार्यते, पूर्वोक्तावाचार्यौ नाभिप्रेतौ, किन्तु अयमेवाचार्यः सम्मत इति। आचार्यवरणानन्तरं च ऋत्विजो वृणीते। तदनन्तरं च यजमान एवं सङ्कल्पयते "एषां वृतानां ब्राह्मणानामन्योन्यसाहाय्येनाचार्यमुखेन च इदं कर्म कारयिष्ये" इति। अतः यथा ऋत्विजः दक्षिणया परिक्रीयन्ते, एवं सकलकर्मकर्त्ता आचार्योऽपि। तस्य विशिष्य दक्षिणाम्नानात्। अयं क्रियमाणस्य कर्मणः न्यूनातिरेकादिकृतं दोषं परिहाय कर्म सगुणं साङ्गोपाङ्गतया च सुष्ठु सम्पादयतीति वैदिके कर्मणि दर्शपूर्णमासादावध्वर्युरिव प्रधानभूतः सन् आचार्यः इत्यभिधीयते। तस्माद्दक्षिणया परिक्रीतत्वादस्य ऋत्विक्त्वं न विहन्यते। अत एव प्रधानभूतऋत्विगित्यप्युच्यते। उपक्रमे विषयोऽयं प्रस्तुतः यत् कर्मकाण्डे कर्मस्वरूप-

सम्पादकस्य चाचार्यपदवाच्यस्य भवति प्रतिनिधिर्नवेति। तत्राचार्यस्यापि प्रतिनिधिरस्तीति सोपपत्तिकमुपपादयामः। तथाहि कर्मणः द्रव्यदेवतामन्त्रऋत्विगादिना साध्यत्वेन श्रुतद्रव्याद्यपचारे अन्यस्य प्रतिनिधिरस्ति न वेति विचारः पूर्वमीमांसादर्शनाधिकारलक्षणे प्रतिनिधिपादे कृतः। तत्र केषां नेति विचिकित्सायां देवतायाः प्रतिनिधिर्न भवति, आहवनीयाद्यग्नीनां प्रतिनिधिर्भवति न मन्त्रस्य, न वा अदृष्टार्थस्य प्रयाजादेः। अयमभिप्रायः—देवतादीनां शास्त्रैः समधिगम्यत्वेनाग्निदेवतया यददृष्टमुत्पद्यते, तदेवादृष्टं सूर्यदेवतया समुत्पद्यत इत्यत्र प्रमाणाभावात् देवतादीनां प्रतिनिधिर्न भवति। तथा च जैमिनिसूत्रम्—"**न देवताग्निशब्दक्रियादृष्टार्थत्वात्**" इति। तथा यजमानस्यापि प्रतिनिधिर्न भवति। यजमानस्यापि प्रतिनिधित्व-स्वीकारे प्रतिनिहितोऽपि स्वयमेव यजमानः स्यात्, न तु प्रतिनिधिरिति। तस्माद्यजमानस्य प्रतिनिधिर्न भवतीति। तथा चोक्तं जैमिनिना—"**तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात्**" इति। अतः एतेषां पूर्वोक्तानां प्रतिनिधिर्न भवतीति। ऋत्विजां तु प्रतिनिधिर्भवत्येव, तेषां कर्मकरत्वात्। आचार्योऽपि "ऋत्विग्जातीयः" इत्युक्तम्। ऋत्विजस्तु प्रत्यक्षमेव कर्मस्वरूपं सम्पादयन्तीति न तेषामदृष्टार्थत्वम्, अपि तु दृष्टार्थत्वमेवेति समधिगतमीमांसा-न्यायतत्त्वानां पुरतः न किञ्चित् पिष्टं पिष्यते। अत्र दैवान्मानुषाद्वा अपराधात् रोगादेर्वा यदि वृतोऽप्याचार्यः कर्ममध्ये उपरमेत तदानीं प्रारब्धस्य कर्मणः अवश्यपरिसमापनीयत्वेन अन्याचार्यः वरणीय एव। अन्यथा "**कर्मणः फलजनकत्वासम्भवात्**"। तस्मादन्यस्याचार्यस्य प्रतिनिधित्वेन वरणं शास्त्रीयमेवेति न किञ्चिद्वक्तव्यमवशिष्यते विदितवेदितव्यानां पुरस्तात्। अपि च एवं बहुषु स्थलेषु व्याध्यादिना उपपीडितमाचार्यं परित्यज्य शिष्टसम्प्रदाये बहुधा चाचार्यान्तरवरणं दृष्टमिति। शिष्टाचारोऽप्यमुमेवार्थं द्रढयतितराम्। जैमिनिरपि उपक्रान्तस्य काम्यस्य कर्मणः नित्यस्य वा अवश्यपरिसमापनीयत्वेन विहितद्रव्यऋत्विगाद्यपचारे अन्यः आगमयितव्य इति सुस्पष्टं प्रत्यपीपदत्—"**आगमो वा चोदनार्थाविशेषात्**" इति। अन्यशेषः प्रतिनिधेयस्य ऋत्विगादेरिति। तस्मादाचार्यस्य प्रतिनिधित्वे न किञ्चिद् दुष्यति। अपि च मीमांसकेश्वरः जैमिनिः—अस्मिन्नेव प्रकरणे "**अन्यमागमयेद् वैगुण्यात्**" इति सूत्रयामास। अस्यायमर्थः—'यदा वृतानां मध्ये अन्य ऋत्विगाचार्यपदवाच्यः प्रधानऋत्विग्वा यद्युपचरेत् केनचिन्निमित्तेन तदानीं कर्मणो वैगुण्यपरिहारार्थं साङ्गोपाङ्गतासिद्ध्यर्थं चान्यः प्रतिनिधेय इति' अन्यथा वैगुण्यापत्तेरिति। तस्मादयमर्थः पर्यवस्यति—ऋत्विज आचार्यस्य वा केनचिन्निमित्तेनापचारे अन्यः कश्चन प्रतिनिधेयः, स च प्रतिनिहितः लौकिकेन शास्त्रीयेण वा वरणेन संस्कृतः न स्वयं प्रत्यवैति, न वा यजमानं प्रत्यवायेन योजयति, अभिमतेन फलेन च सङ्गमयतीति समेषां वैदिकविदुषां निश्चप्रचोऽर्थः। तस्माद् वयमिदमेवान्ते प्रतिपादयिष्यामः यद् यजमानस्य प्रतिनिधिर्न भवति, आचार्यादेस्तु वरणेन संस्कृतस्यापि दैवान्मानुषादपरा-

धादपचारे अन्यः प्रतिनिधेयः। स च शास्त्रीयेण लौकिकेन वा वरणेन सामिधेनी-प्रवचनकाले होतृवत्संस्कृतः साङ्गोपाङ्गतया कर्मसाद्गुण्यं सम्पादयितुं प्रभवति। स न दुष्यति, न वा यजमानः प्रतिनिहितेनाचार्येण समनुष्ठितात्कर्मणः प्रत्यवायं भजते। अपि तु समीहितेन फलेनात्मानं संयुनक्तीति सोपपत्तिकं प्रतिपादयितुमुचितम्।

यज्ञादौ स्त्रीणामधिकारविचारः

रुद्रयाग-विष्णुयागादौ पुरुषवत् स्त्रीणामप्यधिकारो भवति नवेति विचारे—यद्यपि स्त्रीणां वेदाध्ययननिषेधेन विद्याभावान्मन्त्रग्रहणासम्भवाच्च मन्त्रसाध्येषु श्रौतेषु कर्मसु स्वातन्त्र्येणाधिकारो नास्तीति जैमिनि-कात्यायनादिभिर्महर्षिभिर्निर्णीतम्। तथापि स्मार्तेषु रुद्रयागादिष्वधिकारो भवितुमर्हति। यथा हि वैदिकमन्त्रसाध्येषु श्राद्धादिषु स्त्रीणां स्वतो मन्त्रोच्चारणनिषेधेऽपि ऋत्विग्द्वारा श्राद्धादिकरणेऽधिकारोऽस्त्येवेति निर्णीतं निबन्धकृद्भिः।

"विधवा स्वयं सङ्कल्पं कृत्वा, अन्यद् ब्राह्मणद्वारा यज्ञादि कारयेत्" इति निर्णयसिन्धौ। यथा शान्तिक-पौष्टिक-वास्तु-तडागोत्सर्गादिषु स्मार्तकर्मसु वैदिकमन्त्रसाध्येष्वपि ऋत्विक्कर्तृकमन्त्रोचारणपूर्वकं स्वातन्त्र्येण स्त्रीणामधिकारः स्थापितो दानकमलाकरादौ। तथा हि गृह्यसूत्राद्युक्तहोमाङ्गकुशकण्डिकाद्यङ्गापेक्षेषु तुलादानादिषु तदध्ययनाभावे कथं स्त्रीणामधिकार इति चेद् न। गृह्योक्ताङ्गज्ञानस्योपदेशादिना सम्भवात् वरणाम्नानेन ऋत्विक्कर्तृकहोमे वैदिकमन्त्रो भवत्येव इति दानकमलाकरे। एवमेव रुद्रयागादावपि ऋत्विग्भिरेव मन्त्रपठनात् स्त्रीणां केवलं द्रव्यत्यागस्यैवानुष्ठेयतया तदनुष्ठाने निषेधाभावात् स्त्रीणामपि ऋत्विग्द्वारा स्मार्त्त-रुद्रविष्णुयागाद्यनुष्ठानेऽधिकारो भवत्येवेति युक्तमुत्पश्यामः।

यत्तु रुद्रकल्पद्रुमकारैः स्त्री-शूद्रानुपनीतानां वैदिकमन्त्रयुक्तकर्मस्वध्ययनाद्यभावेन साक्षाद्वचनाभावेऽनधिकार इत्युक्तम्, तत्रेदं द्रष्टव्यम्—यदि वैदिकमन्त्रसाध्यतया स्त्रीणामनधिकारः तर्हि श्राद्ध-तुलादानादीनामपि वैदिकमन्त्रसाध्यतया तत्र कथमधिकारः स्त्रीणामृत्विग्द्वाराऽपि? यदि ऋत्विग्द्वाराऽनुष्ठाने दोषो नास्तीत्युच्यते, तर्हि अत्राप्यनुष्ठाने कुतो नाधिकारः? अतश्च स्त्रीणां वैदिकमन्त्रोच्चारणनिषेधात्तत्राधिकाराभावेऽपि ऋत्विग्द्वारा रुद्रयाग-विष्णुयागाद्यनुष्ठाने न दोष इति।

—:०:—

यज्ञादौ स्वाहाकारनिर्णयः

सर्वैरपि पद्धतिकारैः पुरुषसूक्तस्य समग्रस्य अन्ते नाममन्त्रेण संयुतस्यैकमन्त्रत्व-मुक्तम्। अतो मन्त्रादावेवोङ्कारः प्रयोक्तव्यः, एवं यत्र यत्र ऋचोऽन्ते नाम-मन्त्रस्यापि संयोजनं विहितं तत्र सर्वत्रापि नाममन्त्रसहितस्यैव ऋगादेः असति बाधके एकमन्त्रत्व-प्रतीत्या "मन्त्रान्तैः कर्मादिः सन्निपात्योऽभिधानात्" इति सूत्रकारवचनेन मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वमिति मीमांसान्यायेन च मन्त्रैकत्वावसानात्। मन्त्रभेदाङ्गीकारे विकल्पापत्त्या मन्त्रादावेवोङ्कारः पठनीयो न तु तन्मध्ये नाम-मन्त्रादौ। तथा च "ॐ सहस्रशीर्षा॰ साध्याः सन्ति देवाः नारायणाय स्वाहा" इत्युक्त्वा होमः कार्यः, न तु 'नारायणाय स्वाहा' इत्यस्य पूर्वम् ओङ्कारः पठनीयः। तथात्वे मन्त्रभेदापत्त्या पूर्वोक्तदोषापत्तेः। यत्र तु ऋगन्ते द्वादशाक्षरमन्त्रस्य संयोजनं विहितं तत्र ओङ्कारघटितस्यैव द्वादशाक्षरसम्पत्त्या ओङ्कारः पठनीय एव। यथा "ॐ सहस्रशीर्षा॰ सन्ति देवाः ॐ नमो भगवते वासुदेवाय स्वाहा" इति। एवं यत्र ऋगन्ते नाममन्त्रसंयोजनं विहितं तत्र ऋगन्ते चतुर्थ्यन्तनाम पठित्वा तदन्ते स्वाहाकारन्नियोज्य होमः कार्यः। यथा—"ॐ सहस्रशीर्षा॰ दशाङ्गुलम् विष्णवे स्वाहा"इति। एवं केवलनाममन्त्रेण यत्र हवनमुक्तं तत्रापि चतुर्थ्यन्तन्नाम पठित्वा तदुपरि स्वाहाकारं संयोज्य हवनं कर्तव्यम्। यथा "अग्नये स्वाहा" इत्यादि। एवमेव सर्वेषु सूत्रेषु विधिरस्ति। न तु नाममन्त्रान्ते 'नमः' शब्दं संयोज्य तदुपरि स्वाहाकारं संयोज्य "अग्नये नमः स्वाहा" इति होमः समुचितः। किन्तु "अग्नये स्वाहा"इत्येव। यत्र तु मन्त्रादौ नमोऽन्तस्यैव मन्त्रत्वमुक्तं तत्र परं "नमः" शब्दं पठित्वा तदुपरि स्वाहाकारो योजनीयः। यथा "अग्नये नमः स्वाहा" इति। नैतावता सर्वस्यापि नाम्नोऽन्ते "नमः" शब्दं पठित्वा स्वाहाकारो योजनीयः। यत्र स्वाहान्तस्यैव मन्त्रत्वं तत्र तावतैव होमो न तु तदुपरि अन्यः स्वाहाकारः, यथा "वेट् स्वाहा" इत्यादौ।

श्रुतिषु च 'वाजाय स्वाहा" इत्यादि स्पष्टलिखितत्वान्नास्ति सन्देहलेश इति। ये तु "नमः" शब्दोत्तरं "स्वाहा" शब्दं पठन्ति तत्र मूलमन्वेष्यम्। तस्मान्नमः-शब्दरहितेनैव नाममन्त्रेण होम इत्युद्योतरत्नादाविति प्रतिष्ठेन्दुः।

[1]स्पृश्यास्पृश्य-विवेकः

(अस्पृश्यस्पर्शने मूर्तिस्पर्शने च निर्णयः)

अस्पृश्या द्विविधाः--शुचयः अशुचयश्च। तत्र 'स्नात्वा शुचिः कर्माणि कुर्वीत' इति स्मृतिबलात् ये स्नानादिकमनुष्ठाय शुचयः सन्ध्यातर्पण-देवपूजादिकमनुतिष्ठन्ति ते परैरशुचिभिरस्पृश्याः। यदि मोहादन्येन वा कारणेन तेऽशुचयस्तान् स्पृशेयुस्तदा ते अशुचिसंस्पृष्टाः सन्तः स्वयमप्यशुचयो भवन्ति। अशुचिसम्बन्धेन शुचेरप्यशुचित्वस्मरणात्।

बौधायनधर्मसूत्रे (१।६।१३) लिखितमस्ति—

"शुचिमध्वरं देवा जुषन्ते। शुचिकामा हि देवाः शुचयश्च। तदेषाऽभिवदति—शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः। ऋतेन सत्यमृतसाप आयंच्छुचिजन्मानः शुचयः पावकाः।" इति।

एवञ्च देवपूजादिकं कुर्वन्तो न कैरप्यस्पृश्यैरशुचिभिर्वा पुरुषैरशुचिभिर्वा वस्तुभिः स्पर्शमर्हन्ति।

अशुचयोऽस्पृश्या अपि द्विविधाः। केचिद् ब्रह्महत्यादिनिषिद्धपापकर्तारः स्वकर्मभिरस्पृश्याः, अन्ये च प्रतिलोमजाश्चाण्डालादयो जन्मना ह्यस्पृश्याः।

तत्र प्रथमे तावत् यावत्प्रायश्चित्तानुष्ठानं न शुद्ध्यन्ति तावत्पर्यन्तमस्पृश्या एव। कृतप्रायश्चित्तानामपि येषां व्यवहार्यता स्मृतिपूक्ता तैः स्पर्शनादिसंव्यवहारो भवितुमर्हति।

येषां कृतप्रायश्चित्तानामपि संव्यवहारो निषिद्धस्तैरपि सह संस्पर्शादिव्यवहारो न कर्तुं शक्यते। ते च यथा—

"अथ भ्रूणहा श्वाजिनं खराजिनं वा बहिर्लोम परिधाय पुरुषशिरः प्रतीपानार्थमादाय (प्रतीपानर्थानादाय)। खट्वाङ्गं दण्डार्थे कर्मनामधेय' प्रब्रुवाणश्चङ्क्रम्येत को भ्रूणघ्ने भिक्षामिति। ग्रामे प्राणवृत्तिं प्रतिलभ्य शून्यागारं वृक्षमूलं वाऽभ्युपाश्रयेत् 'न हिम आर्यैः सह संप्रयोगो विद्यते।' एतेनैव विधिनोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत्। नाऽस्यास्मिंल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते। कल्मषं तु निर्हण्यते।" (आप० ध० सू० प्र० १, क० २८, २९)

---

१. स्पृश्यास्पृश्यविषयमधिकृत्य धर्मप्रवीरेण गोयनकाभिधेन स्व० श्रीगौरीशङ्करश्रेष्ठिना कतिषुचित् प्रश्नेषु पृष्टेषु महामहोपाध्यायपदवीभाजा स्व. पण्डितश्रीविद्याधरशर्मगौडमहोदयेन वैदुष्यपूर्णं यदुत्तरितं तदध्येतृलाभाय उपस्थाप्यते। —सम्पादकः।

इत्यादिना पापनिवृत्तिरेवोक्ता। तैरपि सह संस्पर्शादिव्यवहारो न कर्तुं शक्यते। परन्तु ते-"अथाऽभिशस्ताः समवसाय चरेयुर्धार्म्यमिति सांशित्येतरेतरयाजका इतरेतराध्यापका मिथो विवहमानाः।" (आप० ध० सू०, प्र० १, क० २६, सू० ८)।

इति शास्त्रात्परस्परं विवाहादिकं संव्यवहारं च कुर्युः। द्वितीये च ये प्रतिलोमजाश्चाण्डालदयस्ते चतुर्भिरपि वर्णैरस्पृश्या एव। तेषां स्पर्शने तु 'स्पृष्ट्वैवाशुचिर्भवति' इति स्पृष्ट्वा यावत्सचैलं न स्नाति तावदशुचिरेव। अतश्च एतेषां स्पर्शने स्प्रष्टुरेव कर्मानुष्ठानयोग्यताऽपैति। पूर्वापेक्षया इदमत्र वैलक्षण्यम्। पूर्वत्र स्पृश्योऽशुचिर्भवति, अत्र स्प्रष्टा अशुचिर्भवति। सत्यप्येषामस्पृश्यत्वे पूर्वत्रोत्तमत्वबुद्ध्या स्पर्शो निषिध्यते।

ते चास्पृश्याः मागध-क्षत्ता-चण्डाल-वैदेहक-सूत-अनुलोम-प्रतिलोम-श्वपाक-वैण-पुल्कसप्रभृतयो बौधायनेनोक्ताः—"शूद्राद्वैश्यायां मागधः, क्षत्रियायां क्षत्ता, ब्राह्मण्यां चण्डालः। वैश्यात्क्षत्रियायामायोगवो ब्राह्मण्यां वैदेहकः। क्षत्रियाद् ब्राह्मण्यां सूतः। तत्राम्बष्ठोग्रयोः संयोगे भवत्यनुलोमः। क्षत्तृवैदेहकयोः प्रतिलोमः। उग्राज्जातः क्षत्त्र्यां श्वपाकः। वैदेहकादम्बष्ठायां वैणः। निषादाच्छूद्रायां पुल्कसः। शूद्रान्निषाद्यां कुक्कुटः। वर्णसङ्करादुत्पन्नान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणः।" (बौ० ध० सू० १।६।१७)।

ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान्।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान्॥
यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते॥
प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्याबाह्यतरान् पुनः।
हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु॥

(मनु० १०।२६-३१)

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च।
वसेयुरेतेऽविज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः॥
चण्डालश्वपचानान्तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥
अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने ।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥
दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः ।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥
वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥

(मनु० १०।५०-५६)

इत्यादिवचनैस्तेषां सर्वबाह्यत्वमेवावगम्यते । एभिरेव वचनैस्तज्जातानां तत्पुत्रपौत्रप्रभृतीनां सर्वेषामपि तद्बाह्यत्वम्, क्वचित् ततोऽपि बाह्यतरत्वं हीनतरत्वं चावगम्यते । अत एव ये इदानीमस्माभिरुपलभ्यन्ते चाण्डालादयस्ते तत्सन्ततिजा एवेत्यस्माभिः परम्परयाऽवगम्यमानत्वादेतेषामपि बाह्यत्वमधमत्वं चेति सिद्ध्यति ।

एतेन ये कथयन्ति यदद्यत्वे परिदृश्यमाना न सदृशाश्चण्डाला इति न तेषां बाह्यत्वं सिध्यति–ते प्रत्युक्ताः । यद्येतेषां न चाण्डालादावन्तर्भावस्तर्हि कुत्रान्तर्भावः ? इमे तु न सच्छूद्रकोटौ परिगण्यन्ते, न तैः सह व्यवहारः क्रियते पारस्परिक इति तु विदितमेव । अतश्चैतेषां सच्छूद्रेऽनन्तर्भावः सिद्ध्यति । अतएव चैतेषां बहिर्भाव एव ततोऽवगन्तव्यः । तत्र च प्रमाणं व्यवहार एव । यद्येवं नाङ्गीक्रियते तर्हि भवदुक्तौ वा किं प्रमाणम् ? किं चास्माभिः पारस्परिकं शिष्टाचाररूपं व्यवहारं प्रमाणीकृत्य अद्यतनानां चण्डालानां चण्डालत्वमुच्यते । भवद्भिस्तु निर्मूलं यथेष्टं प्रमाणलेशं विनैव स्वबुद्ध्या किञ्चित्परिकल्प्यते ।

किञ्च स्मृतिकाराः आ च मनोः आच निबन्धकारेभ्यः सर्वेऽप्यद्य परिदृश्यमानां जातिमेव परम्परया कृतप्रत्यभिज्ञां चण्डालजातिं व्यवहरन्ति । अतो मूलभूतो यश्चण्डालजातेरुत्पन्नोऽयमपि सङ्करजातिश्चण्डालजातिरेवेत्यत्र नास्ति संशयः ।

एवं श्रुतिस्मृतिसिद्धचण्डालजातीयानां पुरुषाणां मन्वादिभिः सर्वत्र बाह्यत्वश्रवणात् वेदवैदिकविद्यासु चतुर्दशसंख्यास्वष्टादशसंख्यासु वा सर्वथा न तेषामधिकारः, अतस्ता विद्या न तेभ्यो देयाः । यदि मोहाल्लोभाद्वा कश्चिदध्यापयति तेनाध्यापयिताऽपि पतति ।

[1]संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥

(बौ० ध० सू० २।१।३५)

१. संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ (मनु० ११।१८०)

अत्र गोविन्दस्वामिव्याख्या—"यानासनाशनैः संवत्सरेण पतति, न तु याजनादिभिः संवत्सरेण, किन्तु संबन्धमात्रेण सद्य एव पततीत्यर्थः, अन्तरङ्गत्वाद्याजनादीनां, बहिरङ्गत्वाच्च यानादीनाम्" इति।

एवमध्येताऽपि चाण्डालादिः स्वानधिकृतविद्याध्ययनात् न केवलं तज्जन्यैहिकामुष्मिकफलं न प्राप्नोति, किन्तु महादोषभागपि भवति। अतो ये नाम कथयन्ति एतद्विद्याध्ययनेन तेषामुपकारो जायत इति न तद्युक्तियुक्तं शास्त्रीयं च। तेषां नरकपतनं विना कश्चन ऐहिकामुष्मिको वा उपकारो भवतीति न वयं विजानीमः। अतश्च येऽध्यापयितारस्तेषां न केवलमध्यापनजन्यं पातित्यम्, किन्तु चाण्डालादीनामनर्हकर्मप्रवर्तनरूपोऽपि दोष एतान् स्पृशतीति पापद्वयभागिनस्ते।

पूर्वोक्तवचनबलादेव चाण्डालादिभिः साकं ये नाम अस्मदीया बालका एकस्मिन् आसनादावुपविश्याध्ययनादिकं कुर्वन्ति पाठशालासु तेऽपि संवत्सरेण पतन्त्येव।

एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डपङ्क्त्यन्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापने योनिस्तथा च सह भोजनम्॥
नवधा सङ्करः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह।
संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात् ॥
याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणाम्।
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्॥

अतोऽस्मदीयबालकानां चण्डालबालकानां चात्यन्तहिंसाकरं कार्यमिदं कूटहिंसेत्यत्र कः सन्देहः?। अनेनैव न्यायेन एतेषां मन्दिरप्रवेशनमपि कूटहिंसैव। यतः प्राचीनमन्दिरेषु महर्षिभिः सिद्धकल्पैः प्रत्यक्षीकृतधर्मभिर्मन्त्रेण दैवीः कला आकृष्य मूर्तिषु प्रतिष्ठापिताः।

अधुनाऽपि वैदिकैर्वेदोक्तमार्गेण यथाविधि मन्त्रैरेव सर्वत्र देवता आकृष्य स्थाप्यन्ते। अतो मन्त्राकृष्टा देवताकलाः पतितादिचण्डालादिसम्बन्धेऽवश्यमपसरन्त्येवेति।

क्वचिन्मन्दिरे यदि चण्डालादिर्गच्छेत् तर्हि अवश्यं तदुचितं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यम्। स्पर्शने तु पुनः प्रतिष्ठैव समुचिता। अतो मन्दिरादौ चण्डालप्रवेशनादिकमिति यत्तत् तत्रत्यदेवतोपरोधकं पूजकानां पूजायामधिकृतानामशुचित्वापादनद्वाराऽनधिकारित्वापादकं चण्डालादीनामप्यनधिकारिणामकार्यकरणे प्रवर्तनमिति सर्वथा कूटहिंसारूपेयं चेष्टा।

१—अत्रायं निष्कर्ष उपलभ्यते यत्-अस्पृश्यानां वर्णाश्रमविहितकर्मसु अधिकारो नास्ति। एषां मन्दिरप्रवेशेन देवकला विनश्यति, मन्दिरञ्चापि भ्रष्टं भवति। अतस्ते देवतात्वनाशजन्यस्य मन्दिरभ्रष्टताजन्यस्य च पातकस्य भागिनो भवन्ति। पाठशालासु च एतेषां प्रवेशेन तथा एतैः सह व्यवहारेण महान् दोष उपजायते।

एवंविधैः पतितकर्मभिः पापवृद्ध्या न तेषां केवलं विशेषहानिः; अपितु-अभ्युदयोऽप्यवरुध्यते ।

२—श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रतिपादितास्पृश्यत्वनिवारणे या प्रवृत्तिस्तया अस्पृश्यता नापैति, अस्पृश्योद्धारश्चापि न जायते, प्रत्युत स्पृश्या अपि अस्पृश्यसम्बन्धादस्पृश्या भवन्ति, ताडिताश्च भवन्ति । एषा महती कूटहिंसाऽस्ति ।

३—यस्मिन् विद्यालये मन्दिरे वा अस्पृश्याः विधि-निषेधावुल्लंघ्य बलात्प्रविशन्ति, प्रवेश्यन्ते वा, तस्मिन् विद्यालये मन्दिरे वा स्पृश्यैः कथमपि न प्रवेष्टव्यमिति ।

---

[1]बदरिकाश्रम-गयाश्राद्धयोर्विचारः

शिरः कपालं यत्रैतत्पपात ब्रह्मणः पुरा ।
तत्रैव बदरीक्षेत्रे पिण्डं दातुं प्रभुः पुमान् ॥
मोहाद् गयायां दद्याद्यः स पितॄन् पातयेत् स्वकान् ।
लभते च ततः शापं नारदैतन्मयोदितम् ॥

इति सनत्कुमारसंहितावचनेन बदर्यां कृतश्राद्धस्य यद्यपि गयायां श्राद्धकरणं निषिद्धमिव आपाततः प्रतीयते, तथापि नेदं निषेधकं वचनम् ।

गयाभिगमनं कर्तुं यः शक्तो नाभिगच्छति ।
शोचन्ति पितरस्तेषां वृथा तस्य परिश्रमः ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ब्राह्मणस्तु विशेषतः ।
प्रदद्याद् विधिवत् पिण्डान् गयां गत्वा समाहितः ॥

इत्यादिवचनेन गयाश्राद्धस्य पितृऋणापाकरणरूपेण नित्यत्वश्रवणात् अकरणे प्रत्यवायश्रवणात् जीवता शक्तेन पुरुषेण गयाश्राद्धस्यावश्यकर्तव्यता प्रतीयते, कैरपि निबन्धकृद्भिर्बदरीश्राद्धानन्तरं गयाश्राद्धाकरणस्यालेखनाच्च । अतोऽत्र श्लोकद्वये **'मोहात्', 'शापम्'** इत्यादि शब्दद्वयं बदरीश्राद्धानन्तरं न गयाश्राद्धनिषेधप्रतिपादकम्,

---

१. महामनीषिणा त्याग-तपोमूर्तिना स्वर्गीयपण्डितश्रीमदनमोहनमालवीयमहोदयेन साग्रहं पृष्टे बदरिकाश्रम-गयाश्राद्धविषयकप्रश्ने काशीस्थहिन्दूविश्वविद्यालयीयधर्मविज्ञानविभागाध्यक्षेण दिवङ्गतेन महामहोपाध्यायेन पण्डितप्रवरेण श्रीविद्याधरगौडमहोदयेनाभिव्यक्ता शास्त्रानुगतविचारसरणिर्यथातथं प्रकाश्यते । - सम्पादकः ।

किन्तु बदरीश्राद्धप्रशंसाबोधकम् "न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते. किन्तु विधेयं स्तोतुम्" इति न्यायेन। यथा वा "अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः" इत्यनेन गवाश्वयोर्विधानार्थमितरेषां पशूनामपशुत्वं बोध्यते तद्वत्। तत्र हि पशुत्वं प्रत्यक्षमेव अजादिषु, तच्च नापह्नोतुं शक्यते। अतश्च गवाश्वौ स्तोतुमेव तदितरेषामजादीनां निन्दा। सा च गवाश्वस्तुतावेव पर्यवस्यति, तद्वत्प्रकृतेऽपि बदरीश्राद्धं स्तोतुमेव गयानिन्दा, न तु गयाश्राद्धनिवृत्तौ तात्पर्यम्। इयमेव व्यवस्था वार्षिकमहालयादिश्राद्धादावप्यवगन्तव्या।

"पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना।" (मनु० ३।२७९)

"मृताहं समतिक्रम्य चाण्डालः कोटिजन्मसु।"

इत्यादिवाक्यैः जीवता पुरुषेण यावज्जीवमवश्यकर्तव्यता बोधनादतिक्रमे प्रत्यवायश्रवणाच्च गयां गतेन कृतबदरीश्राद्धेनापि तत्र श्राद्धमनुष्ठेयमेव।

—:०:—

मन्त्र-ब्राह्मण-सूत्र-स्वरसञ्चारविचारः

यजुर्वेदमन्त्रेषु असंयुक्तस्य रेफहकाराभ्यामृकारेण पदादियकारस्य द्वित्वयकारस्य च सर्वत्र जकारोच्चारणं भवति। उपसर्गपरस्य यकारस्य तु न जकारोच्चारणम्। एवं "न यत्" (शु० य० २०।८१), "वि यत्" (शु० य० १२।३४), "स योजते" (शु० य० १४।३३) इत्यादौ तथा "यज्ञुषे, यजुषे" (शु० य० १।३०) इत्यादावपि न जकारोच्चारणम्, विशेषविधानात्। एवमाम्रेडितेऽपि न जकाराद्युच्चारणम्। "अनु योज" (शु० य० ३।५२), "अभि यज्ञम्" (शु० य० २६।२१) इत्यादौ तु उपसर्गपरस्यापि पदादियकारस्य जकारोच्चारणं भवति, विशेषविधानात्।

एवं पदादिवकारस्य सर्वत्र द्वित्वोच्चारणम्। "वा, वाम्, वः, वै" एषु न द्वित्ववकारोच्चारणं भवति। रेफस्य असंयुक्तान्यहला ऊष्मणा ऋकारेण च संयुक्तस्य सर्वत्र रेकारोच्चारणं भवति। ऋकारस्यापि सर्वत्र रेकारोच्चारणं भवति। एवं लृकारस्यापि ऊष्मणा संयुक्तस्य लेकारोच्चारणं कार्यम्। षकारस्य टवर्गं विना सर्वत्र खकारोच्चारणं कर्तव्यम्।

अनुस्वारस्य दीर्घात्परस्य ह्रस्वगुंकारोच्चारणम्। ह्रस्वात्परस्य तु दीर्घगूंकारोच्चारणम्। "देवानाᳶ हृदयेभ्यः" (शु० य० १६।४६) इत्यत्र दीर्घात्परस्यापि ह्रस्वोच्चारणं भवति। एवं संयोगे परेऽपि ह्रस्वात्परस्य अनुस्वारस्य न दीर्घगूंकारोच्चारणम्।

अत्र केचित् 'गुं गूं' इत्यनयोः स्थाने 'ग्वम्' इति पठन्ति, तन्न समीचीनम्; तथाऽविधानात्। प्रतिज्ञापरिशिष्टे—'गुम्' इत्याकारिकाया वर्णानुपूर्व्याः स्पष्टमुल्लेखाच्च। 'ग्वम्' इत्युच्चारणे ह्रस्व-दीर्घयोः स्पष्टतया भेदोऽपि न स्यात्।

एवं "गर्भधम्" (शु० य० २३।४६), "सहस्रपात्" (शु० य० ३१।१), "रश्मीन्" (शु० य० ३४।४६) इत्यादौ अर्धमात्रिक-मकाराद्युच्चारणानन्तरं द्वयोरोष्ठयोर्विश्लेषं कृत्वा तादृशस्यैव मकारादेरुच्चारणे ऋगन्तादिनियमेन मात्रात्रयादिविरामेऽर्द्धमात्रिको मकारादिः सस्वर इवोच्चारितः प्रतीयते, न तु वस्तुतस्तत्र समाचरो मकारादिर्ज्ञेयः। अवसानगतमकारादीनुच्चार्य तत ओष्ठविश्लेषः कर्तव्य इत्यत्र प्रमाणन्तु पाणिनीयशिक्षायाम्—

अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयात्॥

एवं निर्ऋतिरित्यत्र रेफ-ऋकारयोर्योगे स्वरभक्तिप्रयोगो भवति नवेति विचारे याज्ञवल्क्यशिक्षायाम्—

करेणु कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा।
तद्वत् हंसपदा नाम पञ्चैताः स्वरभक्तयः॥

इत्यादिना पञ्चानामेव स्वरभक्तीनां विधानात् तत्र चास्यानन्तर्भावात् दाक्षिणात्यसम्प्रदाये स्वरभक्तिपाठाभावाच्च तत्र स्वरभक्तिर्नास्तीति केचित्कथयन्ति। परन्तु वयं मन्यामहे तत्रापि स्वरभक्तिप्रयोगः शास्त्रीय एव। यद्यपि शिक्षायां नोक्तं तथापि "अथापरान्तस्य रेफोष्मऋकारैरेकारसहितोच्चारणम्" इति कात्यायनपरिशिष्टे प्रतिज्ञासूत्रे निर्ऋतिरित्यादावपि स्वरभक्तेर्विधानात्। न चैवं वाच्यम्, याज्ञवल्क्यशिक्षाया मन्त्रमात्रविषयकत्वेन तद्विषये तस्या एव प्राबल्यात्, प्रतिज्ञासूत्रं च ब्राह्मणविषयकमिति, तथा कथने प्रमाणाभावात्; प्रत्युत तत्रैव "माध्यन्दिनीयके मन्त्रे स्वरप्रक्रिया" इत्येवोपक्रमात् तस्य च ये मन्त्रा 'इषे त्वादि खं ब्रह्मान्तास्तेषु' इत्यनन्तरं व्याख्यानात् प्रतिज्ञासूत्रस्यापि मन्त्रविषयत्वस्य स्पष्टतोऽवगमात्। एवं "चानुक्तमविरोध्यन्यतो ग्राह्यम्" इति न्यायेन प्रतिज्ञासूत्रानुसारेण षष्ठ्यपि स्वरभक्तिरवश्यं स्वीकार्येति प्रतीयते। शिक्षास्थं पञ्चपदं तु उपलक्षणतया नेयम्। यथैव हि प्रातिशाख्येऽनुक्तानपि विषयानविरोधिनः शिक्षादितः स्वीकुर्मस्तथैव शिक्षानुक्तस्यापि परिशिष्टतः स्वीकरणे न कश्चिद्दोषः। अतएव विकल्पमन्तरा पञ्चानामिव षष्ठ्यपि स्वरभक्तिः प्रतिज्ञासूत्रबलान्नियमेन प्राप्नोति। न च सम्प्रदायविरोधः, गौडीयसम्प्रदायेऽत्रापि स्वरभक्तिप्रयोगस्य नियमेन दर्शनात्। अतो वेदे पाठभेदस्यानुचितत्वात्प्रमाणसिद्धोऽयं निर्ऋतिरित्यादौ स्वरभक्तिपाठ एकरूपेण सर्वैरेव कर्तव्य इति प्रतिभाति। एवं यज्ञ इत्यादावपि एकरूपपाठेनैव भाव्यमिति।

उदात्ते तर्जन्याः, अनुदात्ते कनिष्ठायाः प्रक्षेपः। स्वरिते ह्रस्वे दीर्घे वा वकारे संयुक्तेऽसंयुक्ते वा जात्ये वा सर्वत्र अङ्गुलिद्वयप्रक्षेपः। इतरत्र स्वरिते एकस्याः कनिष्ठायाः प्रक्षेपः। ह्रस्वे गूंकारेऽङ्गुष्ठाकुञ्चनम्, दीर्घे गूंकारे रङ्गे च तर्जन्याः प्रसारः।

वेदेषु तत्र तत्र "वितृण्णाम्, प्रतृण्णाम्, स्वयमातृण्णाम्, शतातृण्णाम्, असन्तृण्णाम्" इत्येवं पदानि श्रूयन्ते। इमानि सर्वाण्यपि पदानि हिंसानादरार्थकतृदिरधातोः निष्पन्नानि भवन्ति। तैत्तिरीयसंहितायां षष्ठद्वितीयैकादशेऽनुवाके वाक्यमिदमुपलभ्यते—"हनू वाऽ एते यस्य यदधिषवणे न सन्तृणत्ति असन्तृण्णे हि हनू" वाक्येनानेन स्पष्टमवगम्यत एव तृदिरधातोरेवायं शब्दो निष्पन्न इति। धातोरस्य हिंसानादरार्थकत्वेऽपि "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयत" इति-अभियुक्तोक्तेर्विभिन्नेष्वर्थेषु पदानीमानि प्रयुक्तानि वेदे। वेदेषु यत्र यत्रायं शब्दः प्रयुक्तस्तत्र तत्र णकारद्वित्वघटित एवोपलभ्यते। अत्र च प्रमाणम्—"ऋण्ण पण्ण ष्ण म्ण राण्ण च", "इति प्राकृताः" (१३।१३-१४) इति तैत्तिरीयप्रातिशाख्यगतं सूत्रद्वयमेव। यत्र 'ऋण्ण' शब्दस्योदाहरणत्वेन तदपि व्याख्यामिमान्येव पूर्वोक्तानि पदानि उल्लिखितानि। सति चैवं 'प्रतृण्ण' शब्दमशुद्धं मन्वानः कश्चन पण्डितम्मन्यः 'प्रतृणा' इति पाठेन भाव्यमित्युल्लिलेख। तन्न समीचीनम्।

'यन्मे छिद्रम्' (शु० य० ३६।२) इति मन्त्रे 'अतितृण्णम्' इति णकारद्वयपाठे अतिहिंसितार्थरूपार्थलाभो भवति। केवलमेकणकारघटितपाठे तु वास्तविकार्थो न सङ्गच्छते। अतः पूर्वोक्तेषु सर्वेष्वपि पदेषु णकारद्वयस्योच्चारणं सर्वथा सर्वसम्मतं प्रतिभाति। एवं वेदेषु प्रमादवशतो यत्र कुत्रापि 'वेष्योऽसि' (शु० य० १।३०), 'मनोऽसि' (शु० य० ४।१६), 'चप्यम्' (शु० य० १६।८८), 'भस्मसा' (शु० य० ११।८०) इत्यादीनि अशुद्धवाक्यान्युट्टङ्कितानि सन्ति। वस्तुतस्तत्र 'वेष्योऽसि', 'मनासि', 'चप्पम्', 'मस्मसा' एवंविधाः शुद्धाः पाठा विधेयाः।

ये परशाखीया मन्त्राः सूत्रकारेण संगृहीतास्तेऽपि जकार-द्वित्व-वकार-रेकार-षकार-गूंकाराद्युच्चारणरूपेण यजुर्वेदधर्मेणैव पठनीयाः, स्वशाखीये गृह्यसूत्रादौ तेषां पाठात्।

सूत्रकारेण परशाखीयमन्त्राणां स्वररहितानामेव पाठात् एकश्रुत्यैव ते पठनीयाः, न तु त्रैस्वर्यं तत्र। परन्तु तत्र यकारादिस्थाने जकाराद्युच्चारणं न कर्तव्यम्, स्वशाखायां कुत्राप्यपाठात्।

शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनशतपथब्राह्मणे उदात्तानुदात्तौ द्वावेव स्वरौ, न स्वरान्तरम्। यकारस्य जकारोच्चारणम्, षकारस्य खकारोच्चारणम्, अनुस्वारस्य ँकारोच्चारणम्, पदादिस्थवकारस्य द्वित्ववकारोच्चारणम्, रेफस्योष्म-ऋकारैः

संयुक्तस्य रेकारोच्चारणम्, लकारस्योष्मसंयुक्तस्य लेकारोच्चारणम्, माध्यन्दिन-संहितावदेव भवति। विसर्गेष्वङ्गुलिप्रक्षेपणं तु न क्रियते। यत्र द्वयोरक्षरयोस्त्रयाणां वाऽनुदात्तता तत्र सर्वाण्यक्षराणि हस्तेन कण्ठेन च अनुदात्तानि उच्चारणीयानि।

कृष्णयजुर्ब्राह्मणेऽपि त्रयः स्वराः सन्ति। ब्राह्मणान्तरेषु स्वराणामभाव एव।

सामवेदे गाने मध्यम-गान्धार-ऋषभ-षड्ज-धैवत-निषाद-पञ्चमेति क्रमेण सप्त स्वराः क्रियन्ते। तत्र मध्यमे हस्तो रिक्त एव स्थाप्यते। गान्धारे अङ्गुष्ठेन तर्जन्या मध्यं पर्व स्पृश्यते। ऋषभेऽङ्गुष्ठेन मध्यमाङ्गुलिमध्यपर्व, षड्जेऽनामिका-मध्यपर्व, धैवते कनिष्ठामध्यपर्व, निषादे कनिष्ठामूलम्, पञ्चमे तर्जन्यग्रं स्पृश्यते।

यस्य वर्णस्योपरि, एतच्चिह्नं तस्य दीर्घमुच्चारणं तर्जनीमध्यस्पर्शो हस्तस्य तिर्यक्करणं च भवति।

यत्र—एतद्दण्डसदृशं चिह्नं तत्र तर्जनीमारभ्य कनिष्ठिकापर्यन्तं स्पृशेत्।

यत्र उ२ एतच्चिह्नं भवेत् तत्र पूर्ववत् तर्जनीमारभ्य कनिष्ठान्तं कनिष्ठामारभ्य तर्जनीं यावत् स्पृष्ट्वा मध्यमामन्तः क्षिपेत् ब्राह्मतीर्थसंस्पृष्टां कुर्यादिति।

यत्र कु३ एतच्चिह्नं भवेत् तत्र मध्यमामग्रमारभ्य मूलं यावत् स्पृशेत्।

यत्र वर्णस्योपरि ९ लिखितं स्यात्तत्र तर्जनीमूलमारभ्य मूलं यावत् स्पृशेत्।

विरामे विसर्गं सानुनासिकमुच्चरेत्। अनुनासिकस्य चोच्चारणं ङकारतुल्यं भवति। दीर्घमृकारं रे इत्युच्चरेत्। ऋकारस्य च रे इत्युच्चारणं षकार-हकारयो-र्योगे विधेयम्। सामसंहितायां मध्यम-गान्धार-ऋषभास्त्रय एव स्वराः क्रमेण स्वरितो-दात्तानुदात्ता भवन्ति।

पारस्करादिगृह्यसूत्राणां तदीयमन्त्राणां चोच्चारणं तु "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" (प्रति० परि०) इति शास्त्रात् तत्तच्छाखानुसारेण कार्यमिति।

विवाह-विषये विशेषविचारः

१—विवाहे वरकन्ययोः ग्रन्थिबन्धनकालनिर्णयः

विवाहे पाणिग्रहणात्पूर्वं वर-कन्ययोर्वस्त्रयोर्ग्रन्थिबन्धनं यदाधुनिके पुस्तके क्वचिदुपलभ्यते तत्प्रमाणपदवीमारूढं नवेति विचारे पारस्करगृह्यसूत्रानुसार-पद्धत्यनुवादकेन केनचित्—

कन्यका सुदशे पार्श्वे द्रव्यपुष्पाक्षतादिकम् ।
निक्षिप्य तच्च सम्बध्य वरवस्त्रेण संयुजेत् ॥
वस्त्रैः संयोज्य तौ पूर्वं कन्यादानं समाचरेत् ।
दानेन युक्तयोः पश्चाद् विदध्यात् पाणिपीडनम् ॥

इति योगियाज्ञवल्कीयोद्धृते श्लोके यद्यपि पाणिग्रहणात्पूर्वमेव ग्रन्थिबन्धनस्य कर्तव्यत्वं प्रतीयते, तथापि तस्य श्लोकस्य योगियाज्ञवल्कीये कस्मिन्नपि ग्रन्थेऽनुपलम्भात् शिष्टाचारविरोधाच्च श्लोकोऽयं केवलं स्वकपोलकल्पितो न प्रमाणकोटिमारूढ इत्यवगम्यते ।

सूत्रकारान्तरैरापस्तम्ब-बौधायन-खादिर-जैमिनि-हिरण्यकेशिप्रभृतिभिः पाणिग्रहणं विधाय अनन्तरमेव "अन्वारब्धायामुत्तरा आहुतीर्जुहोति" (आप० गृ० सू० ४।११।५), "अग्निमुपसमाधाय दक्षिणतः पतिं भार्योपविशति, आचान्तः समन्वारब्धायां परिषिञ्चन्ति" (हिरण्यके० गृ० सू० ५।४।५), "पाणिग्राहस्य दक्षिणत उपवेशयेदन्वारब्धायां स्रुवेणोपघातं महाव्याहृतिभिराज्यं जुहुयात्" (खादिरगृ० सू० १।३।७।८), "दक्षिणत एरकायां भार्यामुपवेश्योत्तरतः पतिरुभावन्वारभेयातां स्वमुच्चैर्जुहुयाज्जायायामन्वारब्धायाम्" (जैमिनिगृ० सू० १।२०), "अलङ्कृत्य कन्यामुदकपूर्वां दद्यात्समन्वारब्धायां हुत्वा" (आश्व० गृ० सू० १।७।७), "अन्वारब्ध आघारावाज्यभागौ हुत्वा" (पार० गृ० सू० १।५।३)।

भट्टकुमारिलप्रणीतायामाश्वलायनगृह्यकारिकायाम्—

"वरेणैवं वृतां कन्यां तत्पिता प्रददाति ताम्" (१।१०।१७) इत्यादिना कन्यादानं विधाय—

बध्वा वस्त्रान्तमुभयोः प्राङ्मुखौ च ततः परम् ।
होमदेशे व्रजेतां तु परिगृह्य करौ मिथः ॥
वधूदक्षिणहस्तेन समन्वारब्ध एव सन् ।
कुर्यादाघारपर्यन्तं चौलोक्ताज्याहुतित्रयम् ॥ (१६।२०)

इत्यादिना च पाणिग्रहणानन्तरमेव वरवध्वोरन्वारम्भो विहितः । अतश्च सर्वैरेव सूत्रकारैः वर-वध्वोरन्वारम्भस्य पाणिग्रहणानन्तरमेव विधानात् यावत्पाणिग्रहणं न

सञ्जातम् ततः पूर्वं तयोः परस्परं सम्बन्धाभावात् असम्बद्धयोरन्वारम्भस्यानुचितत्वात् पाणिग्रहणानन्तरमेवान्वारम्भः कर्तव्य इति सर्वसूत्रकारानुमतम्। एतदन्वारम्भज्ञापकमेव ग्रन्थिबन्धनमपि लौकिकाचारागतमित्यनुमातुं शक्यते। अतएव पाणिग्रहणानन्तरमेव ग्रन्थिबन्धनं शास्त्रानुमतम्, न ततः पूर्वम्। एवं च पाणिग्रहणात्पूर्वं कन्याप्रदकर्तृकं ग्रन्थिबन्धनमिति यत् क्वचिदुपलभ्यते तन्निर्मूलकं वा कन्याप्रदयोर्मातापित्रोर्वेति निर्णयः।

२—विवाहे वधूवरयोरग्नेश्च मध्ये अन्तःपटविचारः

लाजहोमात्पूर्वं 'परं मृत्योऽ अनु०' (शु० य० ३५।७) इत्यनेन मन्त्रेण यो होमः क्रियते तस्य फलं मृत्युनिवारणम्।

रौद्र्यां पैत्र्यामथो याम्यां मातर्व्यामाहुतौ तथा।
दम्पत्योरल्पमायुः स्यादन्तर्धिरचना न चेत्॥

इति वचनात्। अत एव होमकाले होत्रा वरेण वध्वा च आहुतिर्न द्रष्टव्येति। वधूवरयोरग्नेश्च मध्ये पटेनान्तर्धानं क्रियते तदन्तःपटशब्देनोच्यते। अत्र केश्चित् केवलं वध्वा एव अक्ष्णोः पटेन पिधानं क्रियते तन्न समीचीनम्। होमेनानेन उभयनिष्ठदोषस्यैव निवारणात्। अतोऽत्र फलभाजोरुभयोरपि दर्शनं वारणीयमिति मत्वा दम्पत्योरग्नेश्च मध्येऽन्तर्धानं कर्तव्यम्, न त्वेकस्या वध्वाः। अतएव संस्कारभास्करे उपक्रमेऽस्योभयार्थत्वमेवोक्तकारिकानिर्देशपुरःसरमभिहितम्। अन्ते तु वध्वक्ष्णोर्वस्त्रपटं निक्षिप्येति यदुक्तं तदुभयोरुपलक्षणार्थमिति मन्तव्यम्।

ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्यहोमकाले पत्न्या अपि केवलं वस्त्रेणाच्छादनं भवति, वचनबलात्। अत्र तु न तथा, वचनमस्तीत्युभयोरन्तर्धानम्। दाक्षिणात्यानामुपनयने विवाहे च गायत्र्युपदेशात्पूर्वमाचार्यमाणवकयोः, कन्यादानात्पूर्वं वधू-वरयोरन्तःपटधारणं भवति। पठन्ति च—

वस्त्रान्तरं तयोः कृत्वा मध्ये तु वर-कन्ययोः।
परस्परं मुखं पश्येन्मुहूर्ते चाक्षतान् क्षिपेत्।
वध्वोरन्तः पटं वस्त्रं वराय विनिवेदयेत्॥ इति।

३—विवाहे वधूवरयोर्ब्रह्माग्न्योर्मध्येन निष्क्रमणविचारः

समाचारात् क्रियमाणे चतुर्थक्रमणे वधूवरौ ब्रह्माग्न्योर्मध्ये न गच्छेताम्। अग्नेरिव मण्डपस्थानां ब्रह्मादीनामपि पूज्यबुद्ध्या प्रदक्षिणीकरणस्य "मृदं गां दैवतं विप्रम्" (मनु० ४।३९) इति मनुवचनात् सिद्धत्वात्।

दक्षिणां दिशमाश्रित्य यमो मृत्युश्च तिष्ठतः।
तयोः संरक्षणार्थाय ब्रह्मा तिष्ठति वाह्यतः॥

इत्यादिवचनैः "अथ परिक्रामतः" (पा. गृ. सू० १।७) इति विधिबोधितेषु त्रिषु परिक्रमणेषु ब्रह्माग्न्योरन्तरा गमनेऽपि चतुर्थे नान्तरा गमनम्। इतरथा वृत्तावेव

पूर्वावृत्तिसाजात्यनियमसत्त्वात्। इतरथाऽऽवृत्तिस्तु नात्र, तत्कारणस्य बहिरङ्गव्यवधानस्याभावात्।

कात्यायनो हि "आवृत्तिसामन्तेषु प्रदक्षिणम्" (का० श्रौ० सू० १।७।२५) इति सूत्रानन्तरमनुल्लिख्य "गार्हपत्याहवनीयौ न व्यवेयात्" (का० श्रौ० सू० १।८।२३) इति गार्हपत्याहवनीययोर्व्यवधानं निषिध्य प्रदक्षिणीकरणादौ व्यवायावश्यंभावं मन्यमानो व्यवायकरणदोषपरिजिहीर्षया विवृत्येति इतरथाऽऽवृत्तिं विदधाति। ततश्च प्रकृते वधूवरयोः स्वामित्वेनान्तरङ्गत्वात्, ब्रह्मणश्च ऋत्विक्त्वेन बहिरङ्गत्वाद् वधूवरयोस्तदन्तरा गमने बहिरङ्गव्यवायाभावान्नेतरथावृत्तिः। अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभावश्च "हविष्पात्रस्वाम्यृत्विजां पूर्वं पूर्वमन्तरम्" (का० श्रौ० सू० १।८।३१) इति परिभाषायां कात्यायनेन प्रतिपादितः। एवं च चतुर्थपरिक्रमणं कुर्वन्तौ वधूवरौ ब्रह्माग्न्योर्मध्ये न गच्छेतामिति हरिहरोक्तिः साधीयस्येवेति नात्र तत्खण्डनेऽभिनिवेष्टव्यमिति। सूत्रव्याख्यायां ब्रह्माग्न्योर्मध्ये गच्छेतामित्येव युक्तम्, इत्युल्लेखस्तु परिक्रमणत्रयाऽभिप्रायक इति बोध्यमिति संस्कारदीपके।

४—विवाहे लाजाहुतिसंख्याविचारः

(क) विवाहे लाजानां दशाहुतयः सूत्रकारैरुक्ताः। आपस्तम्बादिभिस्तु आहुतित्रयमुक्तम्। एतासामाहुतीनां प्राधान्ये न कस्यापि विवादः। होमकर्तरि मन्त्रपाठे च विवादो दृश्यते। तत्र आपस्तम्बीयानां होमो वरकर्तृक एव। यद्यपि कन्याहस्तेनैव हूयते, तथापि कन्याहस्तस्तत्र जुहूस्थानीय एव। अतएव च केचन प्रतपनसंमार्गादीन् जुहूधर्मान् हस्ते विदधति। केचन नेच्छन्ति। कन्याहस्ते पञ्चावत्ततादिसम्पादनार्थमुपस्तरणाभिघारणे हविषो द्विरवदानं त्रिरवदानं वा कुर्वन्ति। मन्त्रपाठोऽपि वरकर्तृक एव 'तेषाम्। अतश्च वरः कन्याहस्तं स्वहस्ते जुहूवद् गृहीत्वा उपस्तरणादिकमनुष्ठाय ततो जुहोति, मन्त्रं च पठतीति सम्प्रदायः। आस्माकीनास्तु ग्रन्थकारा लाजाहुतीर्दशापि कन्याकर्तृका एवाभिप्रयन्ति, अतएव च मन्त्रपाठोऽपि तस्या एव। मन्त्रलिङ्गमपि एतदनुकूलमेवास्माकम्। वरस्यान्वारम्भः परं कैश्चित्पद्धतिकारादिभिरुक्तः। "लाजानावपति" इत्येतद्वचनाद् उपस्तरणाभिघारणादिरूपोऽवदानधर्मोऽपि नैवाभिप्रेतः सूत्रकारस्येति गम्यते। भाष्यकार-पद्धतिकारादिभिरपि नैवालिखितः।

(ख) दशमो लाजहोमः "चतुर्थं शूर्पकुष्ठया सर्वाँल्लाजानावपति भगाय स्वाहा" इति सूत्रस्य भाष्याद्यनवलोकनेन सूत्रमात्रपर्यालोचनायां यद्यपि वरकर्तृकोऽयं होमः शूर्पेण 'भगाय स्वाहा' इति मन्त्रेण कर्तव्य इति प्रतीयते "शूर्पेण शिष्टानग्नावोप्य" इति खादिरगृह्यसूत्रेण "लाजानावपन्तिका" इति पारस्करगृह्यमन्त्रलिङ्गाच्च "आवाप" शब्दोऽत्र होमविषय एव। अतः शूर्पेणैव वधूश्चतुर्थीमाहुतिं कुर्यात् इत्येवार्थवर्णनं समुचितमिति प्रतिभाति, तथापि अस्यार्थस्य भाष्यकारादिभिः कैरप्यनुक्तत्वात प्रत्युत शूर्पकोणेन वधूभ्राता वध्वञ्जलौ चतुर्थमावपेत्। सा "भगाय स्वाहा" इति

मन्त्रेण अञ्जलिना जुहुयादिति सुस्पष्टं लेखनात् भाष्यकाराद्यादृतोऽद्य यावच्छिष्टैराद्दतोऽयमेव पक्षः साधीयानिति ।

"शूर्पकोणेन शिष्टांस्तानभ्यात्मं जुहुयाद् वधूः ।"

शौनकः—हुतावशिष्टांल्लाजांस्तु वधूः स्वाभिमुखं ततः ।
शूर्पाग्रेणैव जुहुयात्तूष्णीं निरवशेषतः ॥

आश्वलायनस्मृतिः—अवशिष्टान् वरो लाजान् शूर्पकोणेन चैव हि ।
अभ्यात्मं जुहुयात्तूष्णीमिति यज्ञविदां मतम् ॥ इति ।

५ विवाहे लाजहोमेऽन्वारम्भविचारः

लाजहोमकाले अन्वारम्भमात्रस्य रेणुकारिकादावुक्तत्वाद् वरेण कन्यायाः स्पर्शमात्रं कार्यम् । स च स्पर्शः कन्याया अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य उदङ्मुखोऽवस्थाय वरेण कर्त्तव्यः, गोभिलगृह्यसूत्रादौ तथैव विधानात् । न तु कन्यायाः पृष्ठतो गत्वा ततः पुरतो हस्तौ प्रसार्य कन्याया हस्तयोर्ग्रहणम्, अशास्त्रीयत्वात् असभ्यताऽऽपादकत्वाच्च ।

यद्यपि कैश्चिदन्वारम्भणस्यास्मत्सूत्रकारानुक्तत्वात् शाखाऽन्तरीयान्वारम्भग्रहणे प्रमाणाभावाद् अन्वारम्भो नानुष्ठेयः । अतएव चातुर्मास्ययागे वरुणप्रघासकर्मणि "करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्द्धनि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौ प्रत्यङ्मुखी जायापती वा" (का० श्रौ० सू० ५।५।१०) इति सूत्रेण उभयकर्तृके करम्भपात्रहोमविधाने यजमानस्य पत्न्यन्वारम्भ उक्तः, न तु केवलपत्नीकर्तृके करम्भपात्रहोमे । एवं च पत्नीमात्रकर्तृके लाजहोमे नैवान्वारम्भः, केवलं पत्नी उत्थाय जुहुयात्, वरस्तु उपविशेदेवेत्याक्षिप्यते । तथापि—

तिष्ठन्ती तिष्ठता पत्न्या गृहीताञ्जलिनैव सा ।
अञ्जलिस्थान् त्रिधा कृत्वा प्राङ्मुखी प्रतिमन्त्रतः ॥

इति रेणुकारिकावचनमाश्रित्य शिष्टाचारप्राप्तोऽन्वारम्भो लाजहोमे वरेण कार्य इति वक्तुं शक्यते । तत्रापि वधूः प्राङ्मुखी जुहुयात् । वरश्च प्राङ्मुख एव भवेदित्याहुः । शाखान्तरे तु वरस्योदङ्मुखत्वं श्रूयते "अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते वध्वञ्जलिं गृहीत्वा" (गो० गृ० सू० ; ।

६—विवाहे लाजहोमे प्रदक्षिणाविचारः

विवाहे कुशकण्डिकाकरणात्पूर्वमेकम्, लाजहोमसमकाले त्रीणि, ततः समाचाराच्चतुर्थमिति पञ्चैव प्रदक्षिणानि, न तु सप्त । सप्तानां प्रदक्षिणानां केनापि प्रमाणेनाप्राप्तत्वात् । अतः पञ्चैव प्रदक्षिणा अनुष्ठेया इति ।

७—विवाहे तृणच्छेदनाभिप्रायः

विधाय वाऽपि गां कौशीं विधिं तत्र समाप्य च ।
गामुद्धृत्य च तां कौशीमीशान्यां तान् कुशान् क्षिपेत् ॥

अत्र बहुषु अर्वाचीनेषु पुस्तकेषु "तृणं छिन्द्यात्" इति पाठो दृश्यते। अत्र मूलं नोपलभ्यते, तदित्थमिह तर्कः। "पाप्मा हतः" इत्युच्यते, तत्र न तद्धननमनुभूतम्। तस्माद्यथा विष्टरे वैर्यध्यासं कृत्वा तदधः करणमेव वैर्यधिकरणं तथेहापि तृणे एव पापाध्यासं कृत्वा तच्छेदनमेव पापहननमिति प्रदर्शनाभिप्रायेण तथाऽऽचरणमिति।

८—विवाहे मण्डपवेद्यादौ हस्तनिर्णयः

"कन्याहस्तैः पञ्चभिः सप्तभिर्वा कार्या वेदिः कूर्मपृष्ठोन्नता सा" इति वचनात्। मण्डपस्तु षोडशहस्तादिः सद्मनो वामभागे द्वारसमीपे वा पित्रादेर्हस्तेनैव कार्यो न तु कन्यायाः। अन्यथा मण्डपस्याष्टादिहस्तत्वपत्तेऽतिलघुत्वापत्तेः।

आचार्यहस्तमानेन मण्डपे निर्मिते शुभे।
मध्ये वेदी प्रकर्तव्या चतुरस्रा समन्ततः॥

इति ज्योतिर्निबन्धवचनाच्च।

९—कन्यादानकाले हस्तधारणविचारः

कन्यादानकाले कैश्चित् सङ्कल्पात्पूर्वमेव वरहस्ते कन्याहस्तं निधाय ततः सङ्कल्पादिकं दानं वा क्रियते तदसाधु। तथा क्वचिदप्यविधानात्, दानात्पूर्वं वरेण अदत्तकन्याहस्तग्रहणे प्रमाणाभावात्। अतो दानानन्तरमेव अर्थात् "तुभ्यमहं सम्प्रददे" इति दानबोधकशब्दोच्चारणपूर्वकं कन्याहस्तं गृहीत्वा तत्पित्रा यदा दानं क्रियते तदनन्तरम् "हस्तं केशं तथा पुच्छम्" इति शास्त्रेण कन्याहस्तो वरेण ग्रहीतव्यो न ततः पूर्वम्। एवं च कैश्चिदाधुनिकैः पद्धतिकारैः "जामातृदक्षिणकरोपरि कन्यादक्षिणकरं निधाय" इत्यादि यल्लिखितं तदनाचारमूलकमेव।

१०—विवाहे प्रधानाहुतिविचारः

विवाहप्रकरणेऽस्माकं सूत्रकारेण "जयाभ्यातानांश्च जानन्, राष्ट्रभृत इच्छन्, अग्निरैतु प्रथमो देवतानाम्, कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजान्, चतुर्थं शूर्पकुष्ठया" इति चतुर्भिः सूत्रैरष्टपञ्चाशदाहुतयो विहिताः। तत्र जयाः, अभ्यातानाः, राष्ट्रभृतश्चेति त्रिचत्वारिंशदाहुतय अन्यैर्बौधायनापस्तम्बादिभिः सूत्रकारैः "अत्रैके जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति पुरस्तात्स्विष्टकृतः" इति उपहोमत्वेन (अङ्गत्वेन) विहिताः। न त्वेतेषां क्वचिदपि कर्मणि प्राधान्यमङ्गीकृतं तैः। अस्मत्सूत्रकारैस्तु 'जानन् इच्छन्' इति पदसमभिव्याहारात् होमान्तरैः साकमेतेषां त्रिचत्वारिंशद्धोमानां विकल्पः परमङ्गीकृतः। प्रधानत्वाप्रधानत्वविषये तु न किञ्चिदपि सूत्रितम्। व्याख्यातृभिः कैरपि एतद्विषये न किञ्चिदपि स्पष्टतयोक्तम्। नापि पद्धतिकारैर्विषयोऽयं स्पृष्टः। परन्तु अत्रत्यसूत्रसन्दर्भशैलीपर्यालोचनया व्याख्यातॄणां व्याख्यानपरिपाटीदर्शनेन च इदमवगम्यते-एतेषां विवाहे प्राधान्यमेवाभिप्रेतमस्मत्सूत्रकारादिभिः, न तु सूत्रकारान्तरवदङ्गत्वमभिप्रेतम्। यदि हि अङ्गत्वमेतेषामभिप्रेतमभविष्यत्, तर्हि आपस्तम्बादिवत् अत्राप्यवक्ष्यत्। तदभावात् पूर्वोत्तरतन्त्रमध्ये प्रधानस्थाने एतेषा-

मावापविधानात् अन्यत्र क्वचिदपि कर्मण्येतेषामविधानात् प्राधान्यमेवाभिप्रेतमित्यवगम्यते। एवमेव "येन कर्मणेर्त्सेत्" (तै० सं० ३।४।६) इत्यनेन अन्यत्रापि ऋद्धिमिच्छता जयहोमः कार्य इति ज्ञायते इति वदन् गदाधरदीक्षितः अन्यत्राप्येतेषामनुष्ठानमङ्गीकरोति, तथापि प्राधान्याप्राधान्यविषये न किञ्चिदुक्तवान्। एतन्मन्त्रव्याख्यानरीतिस्तु एतेषां प्राधान्यमेवागमयतीति।

११—विवाहे त्र्यायुषकरणादिविचारः

"पाकयज्ञेषु स्वयं होता भवति" (आश्व० गृ० सू०) इति वचनात् वासःपरिधानादि सकलं विवाहकर्म वरेणैव कर्तव्यमिति प्रतिपादितम्। एवं च त्र्यायुषकरणं स्वयमेव वरेण कर्तव्यम्। तत्र वरकर्तृके त्र्यायुषकरणे "तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम्" इत्यत्र अस्मच्छब्दस्य नोहः। वरप्रतिनिधिभूताऽऽचार्यकर्तृकत्र्यायुषकरणपक्षेऽपि ऊहो नास्ति, कर्मणः परार्थत्वात्। ऋत्विजां च कर्मकरणार्थं परिक्रीतत्वात्। लिङ्गाच्च—"यां वै काञ्च यज्ञऽ ऋत्विजऽ आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा" (शत० ब्रा० १।१।१६) इति। अतएव "वाजश्च मे प्रसवश्च मे" इत्यादौ ऋत्विक्कर्तृकपाठेऽपि नोहः। "शूलेन पाहि नो देवि" इत्यादौ दुर्गापाठेऽस्मच्छब्दस्य नोहः। स्पष्टञ्चेदम्—"ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु" इत्येतत्सूत्रे कर्कभाष्ये (का० श्रौ० सू० २।१।२)। तथाहि—'ममाग्ने' इत्यत्र अध्वर्युकर्तृकेऽपि अग्न्यन्वाधाने यजमानाभिधायिपदानाम् अन्यायनिगदत्वादनूह एव। न च वर्चोदिशां च अवनतिः अध्वर्युविषया, कर्मणः परार्थत्वात् इति। एवं च "तन्नोऽ अस्तु त्र्यायुषम्" इत्यत्र "तत्ते" इति विशेष इति क्वाचित्कलेखनं तु प्रामादिकमेव।

ब्रह्माण्डपुराणे—स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्यात् हुत्वा चैव तु भस्मना।
देवानभ्यर्च्य गन्धेन सर्वपापापनुत्तये॥

प्रयोगदीपिकायां वसिष्ठः—ऐशान्या आहरेद् भस्म स्रुचा वाऽथ स्रुवेण वा।
अङ्कनं कारयेत्तेन शिरः कण्ठांसहृत्सु च॥
कश्यपस्येति मन्त्रेण यथाऽनुक्रमयोगतः॥ इति।
ततोऽनामिकया कुर्याद् बिन्दुं सघृतभस्मना।
हृद्यंसयोर्ललाटे च त्र्यायुषेति पदैः क्रमात्॥ इति।

१२—विवाहे चतुर्थीकर्मकालनिर्णयः

विवाहाङ्गभूतस्य चतुर्थीकर्मणो विवाहाच्चतुर्थेऽह्नि अपररात्रे कर्तव्यत्वेन सत्यपि विधौ केनचिदापदादिना कारणेन तस्मिन् दिने कर्तुमशक्तौ विवाहदिन एव कर्तव्यं न वेति विचारे सर्वैरपि सूत्रकारैः पद्धतिकारैश्च चतुर्थदिन एव

तत्कर्तव्यताविधानात् कालान्तरस्याविधानाच्च विहितसमये कर्तव्यमिति यद्यपि प्रतीयते। युक्तं चैतत्, तथापि चतुर्थदिने बलवत्तरप्रतिबन्धेन कर्तुमशक्तौ कर्मलोप-सम्भावनायाम् "कर्मलोपो विगर्हितः" इति कर्मलोपस्य निषिद्धत्वात् "यदि त्वशक्तेः कुलाचाराद्वा तद्दिन एव चतुर्थीहोमः क्रियते तदा तत्समाप्तावेवोदीच्यं कर्म तन्त्रेण कर्तव्यम्" इति (संस्कारतत्त्वे पृ० ९०६) प्रामाणिकनिबन्धकारवचन-बलात् क्वचिद्देशे चतुर्थीकर्मणो विवाहादनन्तरकर्तव्यताया अपि प्रतीतेः "प्रात-र्होमं कृत्वा दिवा विवाहं सम्पाद्य सद्यश्चतुर्थीकर्म च कृत्वा तद्दिन एवावसथ्याधानम्" इत्याधानप्रकरणस्थहरिहरवाक्येनापि (पा० गृ० सू० हरि० कां० १) आपत्काले चतुर्थीकर्मणः सद्यः कर्तव्यताया अभ्यनुज्ञातत्वाच्च विवाहदिनेऽपि अनुष्ठानं परित्यागापेक्षया समुचितमिति।

१३—विवाहे वधूपठनीयमन्त्रविचारः

विवाहे दर्शादौ च ये मन्त्राः वध्वा पठनीयास्ते सर्वेऽपि पूर्वं तया गुरुमुखा-त्सस्वरमध्येतव्या एव। अधीतानामेव मन्त्राणां यागीयापूर्वजनकत्वस्य पूर्वतन्त्रे सिद्धान्तितत्वात्। अतश्च ये मन्त्राः स्त्रीमात्रपठनीयास्तेषां पूर्वमध्ययनमावश्यकम्। इदं च "तस्या यावदुक्तम्" (६।१।२४) इति पूर्वतन्त्रे षष्ठाध्याये व्यवस्थापितम्।

१४—दिवा विवाहविचारः

आपस्तम्बगृह्यसूत्रे चतुर्थखण्डे विवाहप्रकरणमुपक्रम्य पञ्चमखण्डे अश्मारोहण-सप्तपद्यादीनभिधाय लाजहोमान् जयादींश्च विधायानन्तरं वधूवरौ तेनैवाग्निना साकं तस्मिन्नेव अश्वाभ्यामनडुद्भ्यां वा युक्तं रथमारुह्य वरगृहं गच्छेतामित्यभिहितम्। अनन्तरं षष्ठखण्डे मध्येमार्गं नदीवाप्यादीनां प्राप्तौ तत्तरणे विशेषधर्मांश्चाभिधाय, वरः स्वगृहं प्राप्य "गृहानुचरया सङ्काशयति" इत्यनेन वध्वै (स्वभार्यायै) "सङ्का-शयामि" इत्यनया ऋचा स्वगृहं दर्शयेदिति विधायानन्तरं गृहं प्रविश्य तत्र लोहितं वास आस्तीर्य वधूं दक्षिणेन पदा गृहान् प्रपादयन् वध्वामन्वारब्धायां "आगन् गोष्ठम्" इत्यादित्रयोदशाहुतीर्हुत्वा पूर्वमास्तीर्णे वस्त्रे उपविशतो वरो वधूश्चेत्यभिधायानन्तर-मिदं सूत्रम् - "अथास्याः पुंसोर्जीवपुत्रायाः पुत्रमङ्क उत्तरत उपविश्य तस्मै फलान्युत्तरेण यजुषा प्रदायोत्तरे जपित्वा वाचं यच्छत आनक्षत्रेभ्यः" इति प्रवृत्तम्। अनन्तरम्— "उदितेषु नक्षत्रेषु प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्योत्तराभ्यां यथा लिङ्गध्रुव-मरुन्धतीञ्च दर्शयति" इति सूत्रम्।

अत्र प्रथमसूत्रे विवाहदिन एव "वाचं यच्छत आनक्षत्रेभ्यः" नक्षत्रोदयपर्यन्तं वधूवराभ्यां वाग्यमः कार्य इत्यभिहितत्वात्, द्वितीयसूत्रे "उदितेषु नक्षत्रेषु" इत्य-भिधानाच्च विवाहो दिवा कर्तव्य इति स्पष्टमवगम्यते।

एवं पारस्करगृह्यसूत्रेऽपि विवाहदिने वरो वधूं "तच्चक्षुः" इति मन्त्रेण सूर्यमुदी-क्षयेदिति विधिरस्ति--"अथैनां सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुः" इति। एवम्--"अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति" इत्यपि विधिर्वर्तते। अनयोस्सूत्रयोः दिवा विवाहपक्ष एव सङ्गतिः स्यात्।

विवाहदिने घटीस्थापनमेवं विहितं नारदेन—

ताम्रपात्रे जलैः पूर्णे मृत्पात्रे वाऽथ वा शुभे।
मण्डलार्धोदयं वीक्ष्य रवेस्तत्र विनिक्षिपेत्॥ इति।

अनेनापि प्रमाणेन दिवा विवाहः स्पष्ट एवेति।

१५—विवाहे मधुपर्कविचारः

विवाहे वरदात्रोरेकशाखत्वे मधुपर्कविषये न विवादः। भिन्नशाखत्वे तु यजमानशाखयैव मधुपर्कः कर्तव्य इति जयन्तप्रभृतयः। अस्यैव पक्षस्य सर्वदेशेषु भूयान् प्रचारः। युक्तं चैतत्। अत्र यजमानकर्तृकत्वात् कर्तृशाखयैव कर्मानुष्ठानस्योचितत्वात्।

यः स्वशाखां परित्यज्य परशाखां समाश्रयेत्।
अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति॥

इति परशाखया कर्मानुष्ठाने दोषश्रवणात्। शाखान्तरेणानुष्ठाने तच्छाखीयमन्त्राणां यजमानादिनाऽनध्येयत्वदशायामेतदर्थमध्ययनकल्पनागौरवापत्तेः। अत्र—

स्वशाखी चेद्वरो न स्यात्कस्मै देया सुकन्यका।
स्वगृह्योक्तविधानेन दद्यादपरशाखिने॥
पूजयेन्मधुपर्केण स्वशाखाविधिना वरम्।
आकन्यादानपर्यन्तं पिता कुर्यात्स्वशाखया॥

इति गदाधरमिश्रकृतटीकाधृतवचनान्यत्रानुकूलानि। परन्तु केचिद् ग्रन्थकाराः पक्षमिमं निषिध्य वरशाखयैव मधुपर्कं लिखन्ति, तत्र प्रमाणमपि ददति—

अर्च्यस्य या भवेच्छाखा तच्छाखागृह्यचोदितः।
मधुपर्कः प्रदातव्यो ह्यन्यशाखेऽपि दातरि॥

(आश्व० गृ० सू०)

केचित्तु वचनस्यास्य सोमयागपरत्वं मन्वानास्तत्रैवार्च्यशाखया मधुपर्कः। अन्यत्र तु यजमानशाखया, तुलादान-जलाशयोत्सर्गादौ तु विकल्प इति वदन्ति। यथोचितमत्र ग्राह्यमिति। अद्यत्वे तु अर्च्यस्य यच्छाखीयं कर्म तच्छाखया मधुपर्कं कुर्वन्ति यायजूकाः।

"तत्तद्गृह्योक्तविधिना विष्टराद्यर्हणं ततः।"

इति जगन्नाथकारिकावचनात्। तद्युक्तमयुक्तं वेति विचारणीयम्। नारायणभट्टादयस्तु "अयुक्तम्" इत्याहुः। यतः मधुपर्कार्हेषु स्नातकराजमातुलादिषु कर्माभावेन एतस्यासंभवात् क्वचिदधीयमानशाखायाः क्वचिच्च कर्मसवन्या ग्रहणे वैरूप्यापत्तेः। तेन सर्वत्रैकरूपेण अधीयमानशाखयैव मधुपर्कः, "ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमाहरेत्" इत्याश्वलायनसूत्रात्।

संपूज्य मधुपर्केण ऋत्विजः कर्म कारयेत्।
अपूज्य कारयन् कर्म किल्बिषेणैव युज्यते॥

इति विश्वप्रयोगचिन्तामणिधृतविश्वामित्रवचनाच्च । सोमयागातिरिक्त-स्थलेऽपि मधुपर्को वैकल्पिक इति ।

१६—विवाहे पठनीयमन्त्रेषु स्वरविचारः

विवाहे ये मन्त्राः स्वशाखीयास्ते सस्वरा एव पठनीयाः । ये मन्त्राः सौत्रास्तेषां मध्ये ये शाखान्तरादागतास्तेषां तत्तच्छाखातः स्वरान् ज्ञात्वा ते सस्वरा एव पठनीयाः । येषां तु सर्वथा मूलं नोपलभ्यते स्वराश्च नावगम्यन्ते तेषां परमैक-स्वर्येण पाठो, न तु सर्वेषाम् । एवं यज्ञेऽपि याज्याः पुरोऽनुवाक्याः प्रैषः निवित् सामिधेन्यः सूक्तवाकः इत्येवमादीन् वर्जयित्वा अन्ये करणमन्त्रा अपि "इषे त्वा" इत्यादयः सर्वेऽपि सस्वरं पठनीयाः । एवं यत्र जुहोतिचोदना तत्र सर्वत्रापि होमाङ्गभूतानां मन्त्राणां सस्वरमेव पाठः । एवं न्यास-पूजा-जपाभिषेकादावपि सस्वरमेव पाठः कर्तव्यः । न चात्र न्यासादौ हस्तस्य व्यापृतत्वात् कथं स्वरः पठितुं शक्यत इति केषाञ्चिद् भ्रमो युक्तः । स्वरो हि कण्ठेन प्रकाश्यः । कण्ठेनो-च्यमानस्य स्वरस्य हस्तः सूचकः परम्, न तु हस्तेनैव स्वरः पठ्यते । अतएव हस्तस्य कार्यान्तरव्यापृतत्वेऽपि मुखेन अक्षरैः साकं पूर्वोक्तेषु कर्मसु स्वराः पठनीया एव निषिद्धवर्जम् । "एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ यज्ञकर्मणि" इति तु प्रतिषेधो याज्याप्रैषादिपरक एव । अतएव "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" इत्यग्नि-होत्रहोमाङ्गभूतो मन्त्रः जातवेदस इति वपायागाङ्गभूतो मन्त्रश्च करणभूतोऽपि सस्वर एव पठ्यते ।

अतश्च ये नाम अन्धपरम्परामनुसरन्तो न्यासहोमादिषु व्यापृतेन हस्तेन स्वरस्य प्रदर्शयितुमशक्यत्वात् स्वरोच्चारणमपि परित्यक्तव्यं मन्यन्ते, अतएव च कारणात् स्वरं विना एतादृशानां कार्याणां प्रचलितत्वात् अनधीतवेदा अपि अपरिज्ञातस्वरा अपि पुस्तकं हस्तेनादाय केवलं पुस्तकवाचनमात्रेणैव कर्माण्यनुष्ठा-पयन्ति तादृशानां कर्मणां यथाविध्यनुष्ठानाभावात् न केवलमभिलषितफला-प्राप्तिः, किन्तु निन्दितकरणात् विपरीतफलप्राप्तिरपि यजमानाचार्ययोर्भवेत् । अतो ये नाम कर्मानुतिष्ठन्ति आचार्यीभूयानुष्ठापयन्ति वा तैः पूर्वं तत्तदुपयुक्तान् मन्त्रान् सस्वरं गुरुमुखादधीत्य, अनन्तरं कर्मानुष्ठाने आचार्यत्वेन प्रयतितव्यम् । मन्त्राश्च सस्वरं तेषु तेषु कर्मसु पठनीया इति ।

१७—विवाहे ऋषिच्छन्दोदेवताविनियोगादीनामुच्चारणविचारः

विवाहकाले ऋषिच्छन्दोदेवताविनियोगादीनां ज्ञानमेव आवश्यकम्, न प्रयोग-मध्ये उच्चारणम् । एवं सौत्रमन्त्राणां च ऋष्याद्यपेक्षा नास्तीति बहवः । होम-मन्त्राणामृष्यादिज्ञानमावश्यकमिति संस्कारदीपके ।

१८—विवाहे अभिषेकविचारः

विवाहमध्ये वरकर्तृकवधूमूर्धाभिषेकाङ्गकः "आपः शिवाः" इत्यादिको मन्त्रो वरेणैव

पठनीयः। यद्यपि विशेषेण सूत्रकारैरेवं न स्वकण्ठत उक्तं तथापि विवाह-प्रकरणपठितानां मन्त्राणां वधू-वरान्यतरपाठ्यत्वमेव सर्वसूत्रकारसम्मतम्। भाष्य-कारैरपि तथैव भाषितं पद्धतिकारैश्च तथैवोक्तम्। प्रकृतमन्त्रविषयेऽपि—"आपः शिवाः" इत्यादिमन्त्रेण वरो मूर्द्धन्यभिषिञ्चति इत्येव कर्कादिभिरुक्तम्।

लाजहोमे मन्त्रत्रयं सूर्यस्यावेक्षणे सकृत्।
भगाय चैकमंत्रश्च कन्या पठति पञ्चकम्॥
ध्रुवदर्शनकाले च षष्ठश्चैव उदाहृतः।
कन्यावस्त्रपरीधाने तथा चैवोत्तरीयके॥
तथा समीक्षाकालेऽपि चतुर्निष्क्रमणे गृहात्।
अश्मन्यारोहणे चैव हस्तग्राहे तथैव च॥
सप्तपद्यां तथा चैव वरमूर्द्ध्न्यभिषेचने।
हृदयालंभने चैव तथैव चाभिमंत्रणे॥
दृढपुरुषे क्रमेणैव एतान्मन्त्रान् वरः पठेत्॥

इति रेणुदीक्षितोऽपि। तथापि सर्वोऽयं विषयोऽधीतब्राह्मणविषयः नानधीतब्राह्मणस्य क्षत्रियवैश्ययोश्च विषयः, सामर्थ्यात्। अद्यत्वे प्रायः क्षत्रियादीनामध्ययनाभावात्। यदि दैवान्मानुषाद्वा प्रतिवलात् अनुपनीतयोः क्षत्रियवैश्ययोर्विवाहो भवेत्, तत्र विवाहे तु सुतरां मन्त्रपाठेऽनधिकारात् मन्त्राणामृत्विजामपि पाठो भवितुमर्हति। अतोऽनुपनीतत्वात् अनधीतत्वात् शिष्टसमाचाराच्च।

विवाहे यो विधिः प्रोक्तो मन्त्रा दाम्पत्यवाचकाः।
परन्तु तान् जपेत् सर्वान् ऋत्विग्राजन्यवैश्ययोः॥

इति गृह्यासङ्ग्रहवचनबलाच्च-वैवाहिकानां मन्त्राणामृत्विजाऽपि पाठकरण-प्रतीतेः प्रकृतस्याप्यभिषेकमन्त्रस्य वरातिरिक्तेन ऋत्विजादिनापि पाठे न कमपि दोषं पश्याम इति।

१६—विवाहानन्तरमेकवर्षपर्यन्तं त्याज्यविषयाणां विचारः

विवाहानन्तरमेकवर्षपर्यन्तं पिण्डदानं मृदा स्नानं तिलतर्पणं तीर्थयात्रां मुण्डनं प्रेतानुगमनं चेत्यादि न कार्यम्। कार्ष्णाजिनिः—

विवाहव्रतचूडासु वर्षमर्धं तदर्धकम्।
पिण्डदानं मृदा स्नानं न कुर्यात्तिलतर्पणम्॥ इति।

एवं निषेधे प्राप्ते क्वचित्तस्यापवादो हेमाद्रौ—

महालये गयाश्राद्धे मातापित्रोः क्षयेऽहनि ।
कृतोद्वाहोऽपि कुर्वीत पिण्डनिर्वपणं सदा ॥ इति ।

अत्र महालये पिण्डदानं श्रुतं तथापि विवाहाब्दे महालयं शिष्टा नानुतिष्ठन्ति, सर्वदेशेष्वयमेवाचारः । महालये क्षयाहेऽपि पिण्डदानं केचनानुतिष्ठन्ति, तत्राचार एव मूलम् । गयाश्राद्धे प्रतिप्रसवः प्रासङ्गिकगयायात्रापरः । तादर्थ्येन गमनस्य विवाहाब्दे निषेधात् ।

२०—सिंहस्थे गुरौ गुरु-शुक्रमौढ्यादौ च विवाहादिविचारः

यस्मिन् वर्षे गुरुः सिंहराशिगतो भवति तस्मिन् वर्षे विवाहादिशुभकर्माणि कर्तव्यानि नवेति जिज्ञासायां मत्स्यः—

सिंहस्थिते सुरगुरावधिमासके च
ज्येष्ठे तथाद्यतनयस्य तु शुक्रगुर्वोः ।
मौढ्ये तथा स्थविरबालकयोश्च कुर्या-
ज्जनस्थिते सुरगुरौ नहि मङ्गलानि ॥ इति ।

गर्गः—गुरौ सिंहस्थिते चैव सूर्ये च धनुषि स्थिते ।
विवाहमपि नेच्छन्ति मुनयः काश्यपादयः ॥ इति ।

नारदः—गुरौ तु सिंहराशिस्थे भागे भाग्यवती भवेत् ।
पैत्रे यमर्क्षे सा नारी विवाहे विधवा भवेत् ॥ इति ।

एतत्सर्वं नर्मदोत्तरविषयम् । तथाह व्यासः—

नर्मदोत्तरदेशे तु सिंहस्थे देवमन्त्रिणि ।
विवाहं नैव कुर्वीत निषेधो नास्ति दक्षिणे ॥ इति ।

श्रीधरीये—नर्मदोत्तरभागेषु सिंहस्थेऽमरपूजिते ।
विवाहादि न कुर्वीत नायं दोषोऽस्ति दक्षिणे ॥
सिंहराशौ सिंहराशौ यावत्तिष्ठति वाक्पतिः ।
नर्मदायाम्यकोणेषु न दोषो दक्षिणापथे ॥ इति ।

अर्णवे—अन्नप्राशं न वैवाहं पुंसो जन्मर्क्ष एव च ।
जन्ममासे च वर्ज्यं स्यान्नर्मदातीर उत्तरे ॥
नर्मदादक्षिणे भागे विवाहादिषु मङ्गलम् ।
जन्ममासे शुभं प्रोक्तं बहूनां सम्मतन्त्विदम् ॥ इति ।

व्यासः—अन्नप्राशनमातिथ्यं विवाहं वास्तुकर्म च ।
रात्रावहनि वा कुर्याच्छेषाप्यहनि कारयेत् ॥
आषाढः प्रोष्ठपन्माघौ मार्गशीर्षस्तथैव च ।
चत्वारो दूषिता मासा वर्णसंस्कारकर्मणि ॥

विवाहं मौञ्जीबन्धनम् ।

माघफाल्गुनवैशाखज्येष्ठमासाश्शुभावहाः ।
मध्यमः कार्तिको मार्गशीर्षको निन्दिताः परे ॥
न कदाचिद् ऋषर्क्षेषु भानोरार्द्राप्रवेशनात् ।
पौषचैत्रौ शुभौ गार्ग्यो नेति प्राह बृहस्पतिः ॥
श्रावणं केचिदिच्छन्ति नेच्छन्त्यन्ये महर्षयः ।
कन्याकुम्भकुलीरस्थे रवौ दौरं विवर्जयेत् ॥
आषाढादिचतुर्मासान् चान्द्रान् पौषञ्च वर्जयेत् ।
सार्वकालिकमिच्छन्ति विवाहं गौतमादयः ॥ इति ।

आपस्तम्बः—

सर्वर्तवो विवाहस्य शैशिरौ मासौ परिहाप्योत्तमञ्च नैदाघमिति ।

शैशिरौ—माघफाल्गुनौ । निदाघस्य ग्रीष्मस्य । यश्चोत्तमः अन्त्यः आषाढः तानेतान् त्रीन्मासान् परिहाप्य वर्जयित्वा सर्वर्तवो विवाहस्य काल इत्यर्थः ।

बालभूषायाम्— निन्द्यो मघास्थः सर्वत्र विशेषाद् गौडगुर्जरे ।
कलिङ्गवङ्गमगधे सिंहे सिंहांशगो गुरुः ॥ इति ।

मुहूर्त्तचिन्तामणिकारः—

मघादिपञ्चपादेषु गुरुः सर्वत्र निन्दितः ।
गङ्गागोदान्तरं हित्वा शेषांघ्रिषु न दोषकृत् ॥
मेषेऽर्के शुभ उद्वाहो वङ्गे गोदान्तरेऽपि च ।
सर्वसिंहगुरुर्वर्ज्यः कलिङ्गे गौडगुर्जरे ॥ इति ।

एभिः प्रमाणैरिदं सिद्धम्—सिंहस्थे गुरौ नर्मदातो दक्षिणवासिभिः विवाहादिकं कर्तुं शक्यते, उत्तरवासिभिश्च सर्वैरेव न कर्तुं शक्यते, आपस्तम्बगौतमादिभिस्तथा विधानात् । अतश्च तत्तद्देशाचारभेदेन स्मृतीनामपि कल्पसूत्राधिकरणे पूर्वपक्षानुसारेण व्यवस्थितप्रामाण्यमङ्गीकृत्य विवाहादिशुभकर्माण्यनुष्ठेयानीति सिद्धम् । यद्यपि कल्पसूत्राधिकरणे ईदृशं प्रामाण्यं स्मृतीनामाचाराणाञ्च न

सिद्धान्तितम्, तथापि मीमांसकसरणितो याज्ञिकानां वैदिकानाञ्च सरणिस्तत्र तत्र किञ्चिन्नैवोपलभ्यत इति देशभेदेन स्मृतीनामाचाराणाञ्च प्रामाण्यव्यवस्था स्वीकार्या इति ।

२१—चतुर्थीकर्मणि कुशकण्डिकाविचारः

विवाहे कुशकण्डिकाकरणपूर्वकमग्निस्थापनं कृत्वा विवाहहोमोऽनुष्ठीयते, पुनः कुशकण्डिकानुष्ठान विना चतुर्थीकर्महोमो न कर्तुं शक्यते। कुशकण्डिका-करणस्य अग्निसंस्काररूपत्वेन यत्कर्मोद्देशेन ये संस्कारास्तस्मिन्नग्नावनुष्ठितास्तत्कर्म-समाप्त्यनन्तरमेव तेषामपि संस्काराणां नाशात् पुनः कर्मान्तरानुष्ठानार्थं कुश-कण्डिकान्तरमवश्यानुष्ठेयमेव। "अपवृत्तकर्मा लौकिकोऽर्थसंयोगात्" (का. श्रौ. सू. १. ३. २८) इति शास्त्रेण विवाहे जाते तस्याग्नेर्लौकिकत्वेन वैवाहिकेऽग्नौ चतुर्थीकर्मणो विहितत्वेऽपि सद्यश्चतुर्थीकर्मानुष्ठानपक्षे चतुर्थीकर्मार्थं पुनस्तत्र कुशकण्डिकाकरणमित्येव पक्षो मुख्यः। अथवा—"पशुः समानतन्त्रः स्यादिति बौधायनोऽब्रवीत्" इति बौधायनेन प्रायश्चित्तपशोरग्नीषोमीयपशुसमानतन्त्रता-बोधनात् माध्यन्दिनादिभिः सर्वैरपि तत्पक्षस्य स्वीकारात् अत्रापि कुशकाण्डिकां विनैव विवाहहोमेन समानतन्त्रतास्वीकारात् चतुर्थीकर्महोमानुष्ठानम्। विवाहाग्नौ चतुर्थी-कर्मानुष्ठानं तु सूत्रान्तरात्, "तमेवाग्निमुपसमाधाय" (पा० गृ. सू० १।१०) इति कुशकण्डिकां विनापि स्वसूत्राच्च प्राप्नोत्येवेति।

२२—विवाहे कुशकण्डिकाविचारः

विवाहादिषु कर्मसु कुशकण्डिकाकरणपूर्वकम् अग्निस्थापनं कृत्वा विवाहादि-होमेऽनुष्ठिते सति पुनः कुशकण्डिकानुष्ठानं विना होमादि कर्तुं न शक्यते। कुशकण्डिकाकरणस्याग्निसंस्काररूपत्वेन यत्कर्मोद्देशेन ये संस्कारास्तस्मिन्नग्नावनु-ष्ठितास्तादृशकर्मसमाप्त्यनन्तरमेव तेषामपि संस्काराणां नाशात्पुनः कर्मान्तरानुष्ठा-नार्थं कुशकण्डिकान्तरमवश्यमनुष्ठेयमेवेति।

२३—विवाहकाले वरवध्वोरुभयोर्ललाटे पट्टिका (सेवरा) काचन निबद्धव्या, इयमपि रीतिः स्पष्टतोऽस्मत्सूत्रकारेणानुक्ताऽपि आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे पट्टिकाबन्धन-स्योक्तत्वात् 'अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्' इति न्यायेनास्माभिरपि तदेव पट्टिकाबन्धनं पुष्पेण वस्त्रेण पत्रादिना वा कार्यत इति।

२४—वैवाहिकवेद्याश्चतुर्षु कोणेषु चतुरः कुम्भान् निक्षिप्य तत्सविधे चतुरः शङ्कून् निखाय शङ्कून् कलशांश्च सूत्रेणावेष्ट्य कुम्भमध्ये शरेषीकाश्चतस्रः स्थाप-यित्वा इषीकाणां चत्वार्यग्राणि एकीकृत्य यथा च बन्धनमग्नेरुपर्यागच्छेत्तथा रक्त-सूत्रेणाऽऽबध्य लाजहोमः कर्तव्यः। विधिरयं सूत्रकारैरनुक्तोऽपि मरुदेशीयाचारप्राप्तः प्राचीनपरम्पराऽऽदृतश्च। विवाहे मण्डपस्य विहितत्वात् मुख्यस्य तस्य सम्पादनासम्भवे गौणमिदं मण्डपकरणमिति प्रतीयते। अतो मण्डपकरणस्थानीयमिदं कर्म। एतस्यैव

कुम्भचतुष्टय-कोणचतुष्टयादि-सम्बन्धनात् चतुरिका चौरी)- करणमित्यपि कथयन्ति मरुदेशीयाः ।

२५—लाजहोमे कन्यायाः कर्तृत्वम्, 'आयुष्मानस्तु मे पतिः' (पा० गृ० सू० १।६) इति मन्त्रलिङ्गात् । 'ताञ्जुहोति सठं० हतेन तिष्ठती' (पा० गृ० सू० १।६) इति सूत्राच्च ।

२६—सप्तपदीप्रक्रमणे सप्ताक्षतपुञ्जान् विनिक्षिप्य तदुपरि त्वया पदं निक्षेप्तव्यमिति यदुपदेशमात्रेणोच्यते कन्यां प्रति तदसाधु । अत्र वरः कन्याया दक्षिणं पादं गृहीत्वा सप्तसु स्थानेषु निक्षिपेत् इत्येव सूत्रकाराशयः प्रतीयते । एवमेवाश्मारोहणेऽपि । न चैवं शङ्कनीयं पादस्पर्शेऽपि दोष इति, शास्त्रविहिते कर्मणि दोषलेशस्य सम्भावयितुमशक्यत्वात् । एवमेव दाक्षिणात्यानामाचारोऽपि ।

२७—वर-कन्ययोरुभयोर्मातामहगोत्रस्यैक्येऽपि परस्परं सपिण्डताऽभावे विवाहो भवितुमर्हति । सपिण्डतायां सत्यां यदि वरमातामहात्पञ्चमान्तर्वर्तिनी कन्या स्यात्तर्हि सा विवाह्या न भवतीति ।

२८—विवाहमध्ये नान्दीश्राद्धानन्तरमाशौचप्राप्तौ वधूवरयोः तन्मातापित्रोश्च विवाहसमाप्तिं यावत् दानप्रतिग्रहकालपर्यन्तमाशौचं नास्ति इतरेषां तु भवत्येव ।

२९—नान्दीश्राद्धात्पूर्वमपि विवाहार्थं सम्भारेषु सम्भृतेषु आशौचागमने प्रायश्चित्तं कृत्वा साङ्गं विवाहकर्म अनुष्ठेयम् । प्रायश्चित्तं तु—

अनारब्धविशुद्ध्यर्थं कूष्माण्डैर्जुहुयाद् घृतम् ।
गां दद्यात्पञ्चगव्याशी ततः शुद्ध्यति सूतकी ॥

इति विष्णूक्तं बोध्यम् ।

३०—विवाहे आशौचेऽपि स्वस्तिवाचनादि ग्रहयज्ञादिकं च सर्वं भवति ।

३१—विवाहे आशौचादिसम्भावनायां पूर्वसङ्कल्पितान्नस्य उभयपक्षीयैरन्यैरपि भोजने न दोषः । परं परिवेषणमसगोत्रैः कर्तव्यम् ।

३२—आशौचादिसम्भावनायां विवाहे नान्दीश्राद्धं दशभ्यो दिनेभ्यः पूर्वमनुष्ठातुं शक्यते, कृते नान्दीश्राद्धे आशौचं न भवति ।

३३—विवाहमध्ये विवाहाङ्गहोमादिकाले कन्याया रजोदर्शने तां कन्यां स्नापयित्वा 'युञ्जान' (शु. य. ११. १) इति मन्त्रेण होमं कृत्वाऽवशिष्टं कर्म कुर्यात् ।

यज्ञपार्श्वे—विवाहे वितते तन्त्रे होमकाल उपस्थिते ।
कन्यामृतुमतीं दृष्ट्वा कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ॥
स्नापयित्वा तु तां कन्यामर्चयित्वा यथाविधि ।
युञ्जानामाहुतिं हुत्वा ततस्तन्त्रं प्रवर्तयेत् ॥ इति ।

३४—एवं वधूवरयोर्मातुः रजोदर्शनादिसम्भावनायां नान्दीश्राद्धमपकृष्य

दशभ्योऽह्रोभ्यः पूर्वमनुष्ठेयम्। अकृते नान्दीश्राद्धे रजोदर्शने श्रीशान्तिं कृत्वा विवाहः। एवं वरवध्वोर्मातरि सूतिकायामपि श्रीशान्त्या शुद्धिः।

३५ एकस्मिन् वत्सरे विवाहानन्तरं षण्मासाभ्यन्तरे चौलोपनयने न कर्तव्ये, चौलोपनयनानन्तरं विवाहः कर्तुं शक्यते।

३६—एकस्मिन् वत्सरे सोदरयोर्विवाहादि न शोभनम्, सङ्कटे तु कर्तव्यम्। वर्षभेदे तु न दोषः।

३७—एवमेककाले द्विशोभनं नेष्टम्। तत्रापि पुत्रीविवाहात्परं पुत्रविवाहो भवति। पुत्रोद्वाहानन्तरं पुत्रीविवाहस्तु ऋतुत्रये न शोभनः।

३८—पुत्रीद्वयपरिणयस्तु एककालेऽपि शास्त्रानुमतः, परं न सह। किन्तु एकस्या वैवाहिकं कृत्यं समाप्य। अतो दिनचतुष्टयमध्ये न कुर्यात्, अनन्तरं कुर्यादिति।

३९- कन्यादाने पिता, पितामहः, भ्राता, मातामहः, मातुलः, सकुल्यः, जननी इति क्रमः। अत्र पूर्वपूर्वाभावे उत्तर उत्तरोऽधिकारीति।

४०—ज्येष्ठे भ्रातरि अकृतविवाहे कनिष्ठस्य न विवाहः, एवं कन्याया अपि। कृते तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ प्रायश्चित्तम्।

४१—वाग्दानानन्तरं कुलद्वयेऽपि कस्यचिद्विनाशे तेन वरेण साकं तस्या विवाहो न कर्तव्यः। सङ्कटे तु वरवध्वोर्मातृमरणे संवत्सरं यावदविवाहः। भ्रातृपुत्रमरणे सार्द्धमासम्, सपिण्डान्तरमृते मासम्, तदनन्तरं विनायकशान्तिं गोदानं च कृत्वा विवाहः।

४२– विवाहात्प्राक् कन्याया रजोदर्शने ऋतून् गणयित्वा तावतीर्गा दद्यात्। कस्यैचित्कुमार्यै सरत्नभूषणं च दद्यात्। कन्या च दिनत्रयमुपोषयेत्। उपवासप्रत्याम्नायं वा कारयेत्।

४३ – वरकन्ययोः चतुःपुरुषपर्यन्तं कस्यचिन्मृतौ न विवाहः। सङ्कटे तु अनुमासिकान्यपकृष्य वृद्धिश्राद्धानुष्ठानपूर्वकं विवाहः।

४४—अनाथकन्यादाने द्विगुणं फलं भवति। अनाथां कन्यां धर्मार्थं सदृशाय वरायात्मीयद्रव्यव्ययेन यो दद्यात्तस्यापि कन्यादानद्विगुणं फलं भवति।

अनाथां कन्यकां दृष्ट्वा यो दद्यात्सदृशे वरे।
द्विगुणं फलमाप्नोति कन्यादाने यदीरितम्॥

इति संस्काररत्नमालाधृतं वचनम्। एवमनाथपुरुषविवाहेऽपि फलमुक्तम्।

४५—परकीयां कन्यां तत्पित्रोः सुवर्णं दत्वाऽऽत्मीयां कृत्वा असगोत्रोऽपि धर्मार्थं दातुं प्रभवति।

४६– कन्याया वैधव्ययोगे कुम्भविवाहः सौवर्णविष्णुप्रतिमादानं वा विधिना कृत्वा विवाहः कार्यः।

४७– तृतीयभार्याविवाहः शास्त्रे निषिद्धः। अतोऽर्कविवाहं कृत्वा तृतीयभार्योद्वाहः कर्तव्यः।

४८—पुत्रस्य प्रथमविवाहे नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यात् । द्वितीयादिविवाहे तु वर एव स्वयं कुर्यात् ।

४९—नान्दीश्राद्धे पित्रादिजीवने मात्रादिजीवने मातामहादिजीवने वा पितरं पितामहं वा परित्यज्य ततः परेभ्यः पितामहादिभ्यः प्रपितामहादिभ्यो दद्यात् । एवं पितामहीप्रमातामहादिजीवनेऽपि "येभ्य एव पिता दद्यात्" इति न्यायात् । "जीवेत्तु यदि वर्गाद्यः" इति वचनं तु तीर्थ-गया-महालयादिपरं न नान्दीश्राद्धविषयम् । एवं शान्तिक-पौष्टिकादिकर्मस्वपि येभ्य एवेति न्यायस्यैवानुसरणं नान्दीश्राद्धे ।

५०—विधवाकर्तृकनान्दीश्राद्धे श्वश्रूप्रभृति तिस्रः स्वभर्तृप्रभृति त्रयः स्वपितृप्रभृति त्रय इति नव देवताः ।

"अपुत्रा पुत्रवत्पत्नी पितृकर्म समाचरेत् ।"

इति वचनात् ।"स्वभर्तृप्रभृति त्रिभ्यः" इति वचनं षड्दैवतदर्शादिश्राद्धपरम् । "चत्वारः पार्वणाः" इति तु महालयपार्वणपरम् । श्राद्धमयूखे विस्तरेणैतदुक्तं ततोऽवगन्तव्यम् ।

५१—पितुरभावे नान्दीश्राद्धकर्त्ता वरवध्वोरेव पित्रादीनां श्राद्धं कुर्यान्न स्वपित्रादीनाम् ।

५२—विवाहे मधुपर्को यजमानशाखयेति बहवः ।

५३—विवाहे अग्निस्थापनकुशकण्डिकादिविधिर्वरशाखया भवति ।

५४—विवाहे मण्डपनिर्माणं संस्कारकस्य पित्रादेर्हस्तेनैव न तु कन्याया हस्तेन ।

५५—विवाहे कौतुकागारम्—

"दक्षिणस्यां पराग्भागे कल्पयेन्मण्डपान्तिके ।
विवाहे कौतुकागारं पत्नीशालां तथाऽध्वरे ॥"
"यज्ञोत्सवविवाहादौ विधायादौ च मण्डपम् ।
धर्मदिक्पश्चिमे कुर्यात्कौतुकागारमण्डपम् ॥"

५६—विवाहे ग्रहयज्ञो मण्डपस्थापनदिनात्पूर्वं दशसु दिनेषु यस्मिन् कस्मिंश्चिद्दिने कर्तुं शक्यते ।

५७—विवाहे प्रधानद्वयं कन्यादानं पाणिग्रहणं च । आद्यं कन्यापितरं प्रति । द्वितीयं वरं प्रति ।

५८—विवाहात्पूर्वं ज्ञातिभोजनमुक्तं वैखानसगृह्ये (३।२)—

"कन्यां वरयित्वा पश्चादेषु कुलस्य परिशुद्ध्यै सपिण्डैः श्रोत्रियैः सह भुञ्जीत यस्मात्स पूतो भवतीति विज्ञायते ॥"

५९—विवाहे वृद्धपरम्परागता ग्रामधर्मा देशधर्माः कुलधर्माश्च कर्तव्याः—

"अथ खलूच्चावचा ग्रामधर्मा जनपदधर्माः कुलधर्माश्च तान्विवाहे प्रतीयात् ।"

(आश्व० गृ० सू०)

"आवृताश्चाऽऽस्त्रीभ्यः प्रतीयेरन्" (आप० गृ० सू०)
"देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः" (गौ० ध० सू०)
"आचारिकाणि कर्माणि कुर्यात्" (लौ० गृ० सू०)

६०—देशान्तरे विवाहे नान्दीश्राद्धं तत्रैव गत्वा कार्यं न गृहे। इदं च साङ्गविवाहस्य देशान्तरे करणपक्षे बोध्यम्।

६१—कन्यागृहे बान्धवैः सह गमनं वैखानसगृह्ये (३।२) उक्तम्—
"कन्यागृहं बान्धवैः सह गत्वा" इति।

६२—विवाहे वाद्यं वेदघोषं गीतकं च कुर्यात्। मात्स्ये—

मङ्गलानि च वाद्यानि ब्रह्मघोषं च गीतकम्।
ऋद्ध्यर्थं कारयेद्विद्वानमङ्गलविनाशनम्॥

६३ विवाहे नर्तनमपि अविधवाभिः स्त्रीभिर्मात्रादिभिः कार्यम्। अथवा सौशील्यादिगुणयुक्तः कश्चन पुरुषोऽपि नृत्यं कुर्यादित्युक्तं भारद्वाजगृह्ये (२२.१)।

६४—विवाहादौ कर्माङ्गत्वेन पाठ्यमानानां मन्त्राणां प्रतिपदादावनध्यायो नास्ति। अनध्यायविधेरध्ययनमात्रोद्देशेन प्रवृत्तत्वात्। तथा चापस्तम्बः (प. १ सू० ४०)—

"स्वाध्यायेऽनध्यायो मन्त्राणां न कर्मण्यर्थान्तरत्वात्"

६५—विवाहादौ दर्शपूर्णमासादिषु च सर्वत्र शुक्लयाजुषैः प्रतिमन्त्रमादावोङ्कारोच्चारणं क्रियते, अन्यशाखीयैस्तु न क्रियते। तत्र "नोङ्कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित्" इत्यादिना गोभिलवचनेन द्वितीयपक्ष एव शास्त्रानुमत इति प्रतीयते।

६६—वैवाहिकोऽग्निरेव स्मार्ताग्निरिति शाखान्तरीयाणामाश्वलायनादीनां पक्षः। अस्माकं माध्यन्दिनीयानां तु "आवसथ्याधानं दारकाले" (पा. गृ. सू० १. २) इत्यादिविधिना स्थापितोऽग्निर्गृह्याग्निः।

६७—गान्धर्वादिविवाहेषु अग्निसाक्षिकभार्यात्वाय होमादिः सप्तपद्यन्तो विधिः कार्यो न दानम्।

६८—विवाहे अष्टपञ्चाशदाहुतयः सूत्रकारेण विहितास्तासां सर्वासां प्राधान्यमेवेति भाष्यादिनाऽवगम्यते।

६९—द्वितीयविवाहे, सीमन्तादिसंस्कारेषु च सर्वत्र स्मार्ताग्नेरपि लौकिकाग्नावेव सर्वं कर्मानुष्ठेयं न तु स्मार्तेऽग्नौ।

७०—विवाहे कुशकण्डिकाकरणात्पूर्वमेकम्, लाजहोमसमकाले त्रीणि, ततः समाचाराच्चतुर्थमिति पञ्चैव प्रदक्षिणानि न तु सप्त। सप्तानां प्रदक्षिणानां केनापि प्रमाणेनाप्राप्तत्वात्।

७१—"यद्यग्निस्थापनानन्तरं कर्मकाले वृष्ट्यादिशङ्कया संस्कृतोऽग्निरन्यत्र नीयते तदा पुनर्भूसंस्कारः कर्तव्यः" (गो० गृ० भाष्ये १. १. १०)।

७२—विवाहे मण्डपः षोडशहस्तः। तत्र ग्रह--योगिनी--क्षेत्रपाल--वास्तु-वेद्यादिरचनमपि कर्तुं शक्यते। एवं नव-पञ्चैककुण्डीपक्षोऽपि यथायथं कर्तुं शक्यते। कुण्डेषु होमो ग्रहाणामेव। वैवाहिको होमस्तु मध्यवेद्यामेव। मध्यवेदिः श्रीधरी अपि भवति, तन्निर्माणप्रकारः अस्मदीयविवाहपद्धतौ टिप्पण्यामुक्तः।

७३—विवाहादिस्मार्तकर्मसु सर्वत्र होमस्यैवोपदेशात् प्रक्षेपान्त एव त्यागः समुचितः प्रक्षेपकाले वा। न तु त्यागोत्तरं प्रक्षेपः। अनेककर्तृकहोमे तु प्रत्याहुति त्यागस्याशक्यत्वाद्देवताभिध्यानकाले एव सकृत्तन्त्रेणैव त्यागः कार्यः। अत एव हरिहरादिपद्धतिषु सर्वत्र प्रक्षेपं निर्दिश्य त्यागोल्लेखो दृश्यते।

७४—विवाहाङ्गवरवृतौ, कन्यादाने, कन्यादानसाङ्गतायां च यथाशक्ति सुवर्णादिदानमावश्यकम्। कन्यादानानन्तरं सति विभवे अन्यदपि भूषणवस्त्रग्रामादिदानमैच्छिकम्। कन्यापाणिग्रहणनिमित्तं वरपित्रा यत् कन्यापितुः सकाशाद् बलाद् द्रव्यं गृह्यते तत्तु न शास्त्रसिद्धम्।

७५—"मण्डपाद् बहिरैशान्यां वेदिं चैवाग्निहेतवे।"

इति मण्डपाद् बहिर्वेदिकरणं नेदानीं प्रचलति।

"कलौ सङ्कोचतः कुर्याद् बहिर्वेदि न मण्डलात्।"

इति वचनात्। कलौ मण्डलाद् बहिः कुर्यान्न मण्डपादिति तदर्थः।

७६—कर्मकाले मूषक-पल्ली-सरट-वायस-सच्छूद्रादि-मार्जारपुच्छस्पर्शे स्नानम्, दर्शने त्वाचमनम्, मार्जारस्यान्याङ्गसंस्पर्शे आचमनम्, चाण्डाल-रजस्वला-शूद्रादिसम्भाषणेऽशुचिदर्शनेऽपि स्नानम्, तद्दर्शने त्रिराचमनम्, स्त्रीशूद्राणाममन्त्रकं प्राणायामः। तथा चोक्तम्—

स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च मक्षिका मशकादयः।
मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः॥

(७७) वरवृतौ कन्यादाने कन्यादानसाङ्गतायां च यथाशक्ति हिरण्यादि वराय देयम्। विवाहानन्तरमपि वरकन्याभ्यां वस्त्र-पात्र-भूषण-ग्रामादि यथेष्टं दातुं शक्यते। एतदतिरिक्तस्थले विवाहे दानस्यावश्यकता नास्ति।

आचारिकाणि द्रव्याणि वस्त्राण्याभरणानि च।
मणि-मुक्ता-प्रवालानि यथाशक्ति प्रदीयते॥
गो-भू-हिरण्यमश्वांश्च वस्त्राणि विविधानि च।
अन्यानि चैव दानानि यथाविभवमर्पयेत्॥

(७८) विवाहादौ नान्दीश्राद्धेऽनुष्ठिते तदीयमातृविसर्जनं (मण्डपोत्थानं) यावत् अन्यसंस्कारनिमित्तं नान्दीश्राद्धं न भवति। पुत्रजन्मादिनिमित्तं तु मण्डपोत्थापनात्पूर्वमपि भवत्येव। मातृविसर्जनानन्तरं तु भवत्येव।

एवं च एकस्मिन् आभ्युदयिके कृते षण्मासं यावत् अपरमाभ्युदयिकं नानुष्ठेय-मिति भ्रमो हेयः।

७९—एवमाभ्युदयिकानन्तरं मातृविसर्जनं यावत् बलिवैश्वदेवोऽपि पितृ-यज्ञवर्जितं कार्यः। अपसव्यं श्राद्धं नित्यश्राद्धं भस्मादिधारणं तिलतर्पणं च न कार्यम्। नित्यतर्पणं तु कार्यमेवेति। स्वाध्यायोऽपि सङ्क्षेपेण कार्यः ।

८०—विवाहे स्पर्शास्पर्शदोषो न भवति—

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति॥

८१—विवाहे भस्म गोपीचन्दनं वा न धार्यम्।

ज्योतिर्निबन्धे—अभ्यङ्गे सूतके चैव विवाहे पुत्रजन्मनि।
माङ्गल्येषु च सर्वेषु न धार्यं गोपिचन्दनम्॥

८२—विवाहे रजकधौतवस्त्रादिधारणं न निषिद्धम्।

८३—विवाहमध्ये उपोषणमुद्यापनादि च न कार्यम्। ज्योतिर्निबन्धे—

व्रतस्योद्यापनं नैव नैव कुर्यादुपोषणम्।
जीर्णभाण्डादि न त्याज्यं गृहसंमार्जनं तथा॥

८४—विवाहे छिक्कायां न दोषः—

आसने शयने दाने भोजने वस्त्रसंग्रहे।
विवादे च विवाहे च क्षुतं सप्तसु शोभनम्॥

८५—विवाहे पूर्णाहुतिर्न भवति—

विवाहे व्रतबन्धे च शालायां वास्तुकर्मणि।
गर्भाधानादिसंस्कारे पूर्णाहुतिं न कारयेत्॥

८६—विवाहफलं देवपितृऋणापाकरणम्।

८७—अन्तर्जातिविवाहो न शास्त्रीयसम्प्रदायसिद्धः।

८८—स्वशाखी चेद्वरो न स्यात् कस्मै देया तु कन्यका।
स्वगृह्योक्तविधानेन दद्यात्तां परशाखिने॥

इति वचनात् परशाखिनेऽपि कन्या दातुं शक्यते।

८९—विकलाङ्गानां षण्ढादीनां च विवाहः शास्त्रसम्मतः। तत्र—

"कन्यास्वीकरणादन्यत्सर्वं विप्रेण कारयेत्।" इति विधिः।

९०—अत्र वरस्यापठितत्वे वरस्य मन्त्रपाठानुवाचनमाचार्येण कार्यम्। अनु-वाचनस्य चादृष्टार्थत्वादवसानं विना यथा वाचनं स्यात्तथा कार्यम्। सर्वथैवमु-च्चारणाशक्तौ यथाशक्ति वाचयीत। "यथाशक्ति वाचयन् सन्धिकृतं वर्णविकारं नान्यथा कुर्यात्" इति स्मृतिकौस्तुभे।

६१—प्रवसितस्य द्वादशाब्दादूर्ध्वमनागतस्य कृतौर्ध्वदेहिकस्य जीवतः पुनर्गृहे समागतस्य गार्हस्थ्यं चिकीर्षतो जनस्य गर्भाधानादयो विवाहान्ताः संस्काराः पुनरनुष्ठेया इति विधिः। तत्र विवाहे "ममौर्ध्वदेहिकजनितानिष्टदोषनिर्वहणपूर्वकं पुनर्गृहस्थाश्रमसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं तामेव स्त्रियमुद्वहिष्ये" इति सङ्कल्पः।

नात्र पित्रादिकर्तृकं कन्यादानादि, किन्तु होममारभ्य चतुर्थीकर्मान्तं भवति। स्त्र्यन्तरपरिणये तु सर्वं प्रथमविवाहवदेव भवति।

६२—विवाहे केचन होमात्पूर्वं गर्भाधानादीन् पञ्चदश संस्कारानग्नेः कुर्वन्ति। तत्र पञ्चदशसंस्कारसिद्ध्यर्थं पञ्चदशकृत्वः प्रणवं पठेत् इत्येकः पक्षः।

अथवा "अग्नेर्गर्भाधानादिपञ्चदश संस्कारान् करिष्ये" इति सङ्कल्प्य आज्यस्थाल्यामाज्यं निरूप्य अधिश्रित्य स्रुक्स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्याभ्युदय पुनः प्रतप्य दक्षिणतो निदध्यात्। आज्यमुद्वास्य उत्पूय अवेद्य उपयमनकुशान् वामहस्ते कृत्वा स्रुवेण स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा दक्षिणं जान्वाच्य विवाहे वह्नेः गर्भाधानसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ १ ॥ इति हुत्वा एवं पुनः पुनः पूर्ववद् चतुर्दशवारमाज्यं गृहीत्वा चतुर्दश आहुतीर्जुहुयात्। तत्र मन्त्राः—विवाहवह्नेः पुंसवनसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ २ ॥ सीमन्तसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ३ ॥ जातकर्मसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ४ ॥ नामकरणसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ५ ॥ निष्क्रमणसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ६ ॥ अन्नप्राशनसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ७ ॥ चौलसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ८ ॥ उपनयनसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ९ ॥ वेदारम्भसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ १० ॥ वेदव्रतचतुष्टयसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ ११ ॥ केशान्तसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥१२॥ समावर्तनसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ १३ ॥ विवाहसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ १४ ॥ चतुर्थीकर्मसंस्कारं करोमि स्वाहा ॥ १५ ॥ इति। (संस्काराणां क्रम-संख्यादिविषये मतभेदा उपलभ्यन्ते। तत्र स्वपरम्परागता व्यवस्था ग्राह्या।)

६३—अरणिपक्षे विशेषः। आदौ पञ्चभूसंस्कारसंस्कृतायां वेद्यां हिरण्यं निधाय वेदिं वस्त्रेणाच्छाद्य पीठे अधरारणिम्, उत्तरारणिम्, मन्थम्, प्रमन्थम्, ओविलीं च निधाय. वरः—"··· गोत्रः शर्मा अस्मिन् विवाहकर्मणि विवाहसाधनभूतस्याग्नेर्योनि—रूपयोररण्योः पूजनं करिष्ये" इति सङ्कल्प्य "श्रीश्च ते" (शु० य० ३१।२२) इति "योनिरूपाभ्यां अरणिभ्यां नमः" इति षोडशभिरुपचारैः सम्पूज्य उत्तरारणित ईशानकोणस्थं शङ्कुं निष्कास्य प्रमन्थमूले दृढीकृत्य अग्न्यायतनस्य पश्चिमतः प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम कृष्णाजिनमास्तीर्य तस्योपरि प्रागग्रामधरारणिं सक्षेत्रां निधाय तदुत्तरत उत्तरारणिं च निधाय मन्थनदेशे मन्थमूलं धृत्वा ओविलीं रज्ज्वा त्रिर्वेष्टयित्वा प्रमन्थं प्राङ्मुखो यजमानो मन्थस्योपरि धारयेत्। ओविलीं च अन्यः कश्चन गृहीत्वा मन्थेत्। यावदग्नेरुत्पत्तिस्तावदग्निसूक्तानि पठेत्। कांस्यादिपात्रे शुष्कगोमयस्य चूर्णं नारिकेलजटां च निधाय उत्पन्नमरणिस्थाग्निं तन्मध्ये प्रक्षिप्य धमन्यादिना मुखेन प्रज्वालयेत्। ततः आचार्याय वरं दद्यात्। "जातस्याग्नेः समृद्ध्यर्थं वरमूल्यमाचार्याय तुभ्यमहं सम्प्रददे"। ततो वेद्या उपरि आच्छादितं वस्त्रमपसार्य "अग्निं दूतम्" (शु० य० २२।१७), इति स्थापयेत् तूष्णीं वा।

६४—कर्मापवर्गे ब्राह्मणभोजनमिति शाङ्खायनसूत्रम्।

"शुचीन्मन्त्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेत्' (आप० ध० २।१४।६) इति वचनात्। "ततो ब्राह्मणभोजनम्" (पा० गृ० सू०) इति सर्वकर्मान्ते ब्राह्मणभोजनविधायकपारस्करादिवचनात्। "ब्राह्मणं तर्पयितवै ब्रूयाद्यज्ञमेवैतत्तर्पयतीति श्रुतेः" (का० श्रौ० सू० ३।८।२७)। "गर्भाधानादिसंस्कारे ब्राह्मणान् भोजयेद्दश" इति विशेषवचनाच्च श्रौतेषु गृह्योक्तेषु स्मार्तेषु दैवेषु पित्र्येषु मानुषेषु च सर्वेषु कर्मसु ब्राह्मणभोजनस्य यथाशक्ति कर्तव्यत्वेन विधिप्रतीतेः तत्तत्कर्माङ्गमेव ब्राह्मणभोजनम्। अतश्च तदवश्यमनुष्ठेयमेव। तदभावे अङ्गवैगुण्यकृतदोषो भवत्येव। परन्तु इतराङ्गवत् अस्याप्यङ्गत्वमेव। अस्य च कालविशेषाभावात् प्रधानसन्निहितकाले करणं न्यायप्राप्तम्। केनचिन्निबन्धेन तदा करणाशक्तौ कालान्तरेऽपि कर्तुं शक्यते, परन्तु अवश्यमनुष्ठेयमिति।

यज्ञोपवीतविषये विशेषविचारः

१—उपनयने आशौचादिसम्भावनायां षड्भ्यो दिनेभ्यः पूर्वं नान्दीश्राद्धमनुष्ठातुं शक्यते, नान्दीश्राद्धानन्तरमाशौचं न भवति। उपनयनारम्भोत्तरमाशौचप्राप्तौ—

कूष्माण्डीभिर्घृतं हुत्वा गां च दद्यात्पयस्विनीम्।
चूडोपनयनोद्वाहप्रतिष्ठादिकमाचरेत्॥ इति भवत्येव।

२—आशौचेऽपि नान्दीश्राद्धानन्तरं स्वस्तिवाचनादि ग्रहयज्ञादिकं च सर्वं भवति।

३—नान्दीश्राद्धानन्तरमाशौचेऽपि पूर्वसङ्कल्पितान्नभोजने न दोषः। परं परिवेषणमसगोत्रैः कार्यम्।

४—नान्दीश्राद्धानन्तरमाशौचप्राप्तौ उपनयनकर्तुः सपत्नीकस्य उपनेयस्य चाशौचं न भवति उपनयनसमाप्ति यावत्। इतरेषां तु भवत्येव।

५—वरमातू रजोदर्शनादिसम्भावनायां नान्दीश्राद्धमपकृष्य षडहोभ्यः पूर्वं कुर्यात्, तत उपनयनादि कर्तुं शक्यते। अकृते नान्दीश्राद्धे रजोदर्शने श्रीशान्त्या उपनयनम्। एवमापत्तौ मुहूर्तान्तराद्यलाभे सूतिकादिप्राप्तावपि श्रीशान्त्योपयनम्।

६—एकस्मिन्काले सोदरयोरुपनयनं न शोभनम्। सङ्कटे तु कर्त्तव्यम्। वर्षभेदेऽपि न दोषः।

७—उपनयनात्परं षण्मासं यावत् पिण्डदानं मृदा स्नानं तिलतर्पणादि तीर्थयात्रा प्रेतानुगमनादि च न कार्यम्। महालये क्षयाहे च पिण्डदानं कर्तव्यमेव।

गयाश्राद्धे प्रतिप्रसवः प्रासङ्गिकगयायात्रापरः । महालय-क्षयाहयोरपि पिण्डदानं नानुतिष्ठन्ति केचन, तत्राचार एव मूलम् ।

८—उपनयने चतुष्पुरुषपर्यन्तंमृतौ नोपनयनम् । सङ्कटे तु अनुमासिकान्यपकृष्य वृद्धिश्राद्धानुष्ठानपूर्वकमुपनयनम् ।

९—अनाथब्राह्मणोपनयने महत्फलम् ।

१०—उपनयने नान्दीश्राद्धे पित्रादिजीवने मात्रादिजीवने मातामहादिजीवने वा पितरं पितामहं वा परित्यज्य ततः परेभ्यः पितामहादिभ्यः प्रपितामहादिभ्यः पिण्डं दद्यात् । एवं पितामही-प्रमातामहादिजीवनेऽपि, "येभ्य एव पिता दद्यात्" इति न्यायात् । "जीवेत्तु यदि वर्गाद्यः" इति वचनं तु तीर्थ-गयामहालयादिपरं न तु नान्दीश्राद्धविषयम् । एवं शान्तिक-पौष्टिककर्मस्वपि "येभ्य एव" इति न्यायस्यैवानुसरणं नान्दीश्राद्धे ।

११—पितुरभावे नान्दीश्राद्धकर्त्ता उपनेयस्य पित्रादिभ्य एव दद्यान्न स्वपितृभ्यः ।

१२—उपनयने मण्डपनिर्माणं संस्कारकस्य पित्रादेर्हस्तेनैव, न तु संस्कार्यस्य हस्तेन । अन्यथा मण्डपस्याष्टहस्तत्वेऽतिलघुत्वापत्तेः ।

आचार्यहस्तमानेन मण्डपे निर्मिते शुभे ।
मध्ये वेदी प्रकर्त्तव्या चतुरस्रा समन्ततः ॥

इति ज्योतिर्निबन्धवचनाच्च ।

१३—उपनयने मण्डपपक्षे षोडशहस्तादिर्मण्डपः । तत्र फलभूयस्त्वार्थिना वास्तु-योगिनी-क्षेत्रपालपीठादिः कार्यः । ग्रहहोमार्थं कुण्डं च कर्त्तुं शक्यते, कुण्डानि वा । मध्यभागे वेदिर्हस्तोच्चा । तत्रैवोपनयन-वेदारम्भ-समावर्त्तनहोमार्थं वेद्यो विधेयाः ।

१४—उपनयने ग्रहयज्ञो मण्डपस्थापनदिनात् पूर्वं दशसु दिनेषु यस्मिन् कस्मिन् दिने कर्तुं शक्यते ।

१५—उपनयने प्रधानं सावित्रीवाचनम् । अन्यत्सर्वमङ्गम् ।

१६—उपनयनादौ सर्वत्र शुक्लयाजुषैः प्रतिमन्त्रमादावोङ्कारोच्चारणं क्रियते । अन्यशाखीयैस्तु न क्रियते । तत्र—

"नोङ्कुर्याद्धोममन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् ।"

इत्यादिना गोभिलवचनेन द्वितीयपक्ष एव शास्त्रानुमत इति प्रतीयते ।

१७—छन्दोदेवतार्षेयविनियोगादीनां ज्ञानमेव कर्मकाले आवश्यकं न प्रयोगमध्ये उच्चारणम् । एवं सौत्रमन्त्राणां च ऋष्याद्यपेक्षा नास्तीति बहवः । प्रयोगमध्येऽप्युच्चारणमिति च मतम् ।

१८—उपनयनाग्नेस्त्रिरात्रपर्यन्तं संरक्षणं कार्यम् । ततः परं लौकिकेऽग्नौ ब्रह्मचारिणो होम इति सर्वसम्मतः पक्षः । उपनयनाग्निरौपासन इति बौधायनधर्मसूत्रोक्तेर्विवाहपर्यन्तमपि उपनयनाग्निर्धारयितुं शक्यते ।

१६--उपनयन-वेदारम्भ-समावर्तनेषु न पूर्णाहुतिः। समावर्तने भवतीत्यन्ये।

२०—अत्र कुमारस्य मन्त्रपाठानुवाचनमाचार्येण कार्यम्। अनुवाचनस्य चादृष्टार्थत्वादवसानं विना यथावाचनं स्यात्तथा कार्यम्।

सर्वथैवोच्चारणाशक्तौ यथाशक्ति वाचयीत। "यथाशक्ति वाचयन् सन्धिकृतं वर्णविकारं नान्यथा कुर्यात्" इति स्मृतिकौस्तुभादावुक्तम्।

२१--ब्रह्मचारिकर्तृकक्रियाकरणीभूतमन्त्राणां "शन्नो देवी:" (शु० य० ३६।१२) इत्येवमादीनामुपनयनात्प्रागेव शिक्षणं कर्तव्यम्, सूत्रवृत्तिकृदभ्यनुज्ञातत्वात्, पत्न्या यथाऽवेक्षणादिमन्त्राणामिति संस्काररत्नमालायाम्।

२२--ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानामष्टौ, एकादश, द्वादश वर्षाणि उपनयनस्य मुख्यः कालः। ततः षोडश, द्वाविंशतिः, चतुर्विंशतिर्वर्षाणि यावद् गौणः कालः। मुख्यकाले उपनयनाकरणे अनादिष्टं प्रायश्चित्तम्।

२३—पितामहः, भ्राता, पितृव्यः, ज्ञातयः इति वट्वपेक्षया वृद्धा उपनेतारः। विद्वत्पितुरभावेऽन्यो विद्वानुपनेता। "तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते" इति श्रुतिः। क्षत्रिय-वैश्ययोस्तु ब्राह्मण एवोपनेता न पित्रादयः।

२४--वटूपनेत्रोरधिकारसिद्ध्ये प्रायश्चित्तम्--

"कृच्छ्रत्रयं चोपनेता त्रीन् कृच्छ्रांश्च वटुश्चरेत्।" इति।

२५—आचार्यस्य गायत्र्युपदेशाधिकारार्थं गायत्रीजपो द्वादशसहस्रं द्वादशाधिकसहस्रं वा। माणवकस्य तु न गायत्रीजपः अविधानात् अनधिकाराच्च।

गुरुर्द्वादशसाहस्रं सावित्रीं प्रजपेत्ततः।
स्वाधिकारार्थमेवास्याः प्रदानार्थं हि तत्स्मृतम्॥

इति गुरोरेव विधेः।

२६—"उपनीत्या सहाथवा" इति वचनात् उपनयनदिन एव उपनयनात्प्राक् चौलकर्म विधातुं शक्यते।

२७—अनापदि ज्येष्ठेऽकृतसंस्कारे कनिष्ठो न संस्कार्यः।

२८—(क) विकलाङ्गानां मूकोन्मत्तजडान्धबधिरषण्ढादीनामुपनयनं द्विजत्वसम्पादनाय कार्यम्। तत्र—

संस्कारमन्त्रहोमादीन् करोत्याचार्य एव तु।
आनीयाग्निसमीपं वा सावित्रीं स्पृश्य वा जपेत्॥

इति विधिर्द्रष्टव्यः।

(ख) मूक-बधिरादौ "को नामाऽसि" इति नामप्रश्नोऽपि नास्ति अयोग्यत्वात्। "न नाम पृच्छति" इति बौधायनोक्तेश्च। अन्यदङ्गजातं यथासम्भवं भवति। वेदाध्ययनेऽधिकारस्तु नास्त्येव।

२९—पुनरुपनयने मेखलाऽजिनवस्त्रादानभिक्षा व्रतवत्।

३०—प्रथमं पुनरुपनयनं चाभक्ष्यभक्षणे समुद्रयात्रादौ प्रायश्चित्तं कृत्वा भवति प्रायश्चित्तार्थम्।

३१—द्वितीयं पुनरुपनयनस्य निमित्तमनध्यायादावुपनीतत्त्वम्।

३२—तृतीयं पुनरुपनयननिमित्तं "नान्यत्र संस्कृतो भृग्वङ्गिरसोऽधीयीत" इति अथर्ववेदार्थं वचनात्। अत्रोभयत्रापि क्वचिदपि ग्रन्थे विशेषानुक्तेरविकृतं पुनरुपनयनं कार्यम्।

३३—प्रायश्चित्तार्थं पुनरुपनयनं तु प्रायश्चित्तं कृत्वा मेखलाजिनवस्त्रभिक्षाव्रत-दण्डनिवृत्तिपूर्वकमनुष्ठेयम्।

३४—प्रायश्चित्तिना कालान्तरेऽपि पुनरुपनयनकरणे तावत्पर्यन्तं सन्ध्याऽनुष्ठेयैव। ब्रह्मयज्ञादिकं तु न भवत्यशुचित्वात्। महापातकिनोऽपि "सम्यक् सन्ध्यामुपासीत" इति स्मृत्या सन्ध्यावन्दनविधिः स्मर्यते।

३५—व्रतेऽह्नि पूर्वसन्ध्यायां वारिदो यदि गर्जति।
तद्दिने स्यादनध्यायो मौञ्जीबन्धं न कारयेत्॥
नान्दीश्राद्धे कृते चेत् स्यादनध्यायस्त्वकालिकः।
मौञ्जीबन्धं तदा कुर्याद्वेदारम्भं न कारयेत्॥

अत्र शान्तिरप्युक्ता नृसिंहप्रसादे—

ब्रह्मौदनविधेः पूर्वं प्रदोषे गर्जितं यदि।
तदा विघ्नकरं ज्ञेयं वटोरध्ययनस्य तत्॥
तस्य शान्तिप्रकारं तु वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः।
प्रधानं पायसं साज्यं द्रव्यं शान्तियजौ भवेत्॥
सूक्तं बृहस्पतेर्विद्वान् पठेत् प्रज्ञाविवृद्धये।
गायत्री चैव मन्त्रः स्यात्प्रायश्चित्तं तु सर्पिषा॥
धेनुं सवत्सकां दद्यादाचार्याय पयस्विनीम्।
ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चात्ततो ब्रह्मौदनं चरेत्॥

३६—चत्वारि वेदव्रतानि आह आश्वलायनः—

प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं स्यान्महाव्रतम्।
तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानाख्यं ततः परम्॥

गोदानस्यैव 'केशान्त' इति संज्ञा। ब्राह्मणस्य त्रयोदशवर्षादारभ्य व्रतानि। क्षत्रियस्योनविंशतिवर्षादारभ्य व्रतानि। वैश्यस्यैकविंशतिवर्षादारभ्य व्रतानि।

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ इति वचनात्।

तैत्तिरीयाणां त्वन्यानि व्रतानि –"प्राजापत्यं सौम्यमाग्नेयं वैश्वदेवम्" इति। कातीयानां परिशिष्टोक्तानि—"आग्नेयं शुक्रियं सावित्रं गोदानम्।" इति। गदाधरभाष्ये तु – षड् व्रतानि कात्यायनानामुक्तानि। एषां व्रतानामेकमेकं संवत्सरमनुष्ठानमुक्तम्। एषां व्रतानामकरणे प्रायश्चित्तमनुष्ठेयम्।

३७ "द्व्यामुष्यायणो गौतम-शाण्डिल्यगोत्रः गौतमाङ्गिरसौतथ्यशाण्डिल्यासितदेवलेति प्रवरस्त्वामभिवादये" इत्येवमभिवादयेत्। एवं विवाहादावपि गोत्रद्वयोच्चारणम्।

३८--उपनयने वपनं नाचरन्ति केचन, तदसाम्प्रतम्। तत्प्रतिनिधित्वेन तस्य प्रायश्चित्तादिकमपि नास्ति।

३९—विवाहानन्तरमुपनयने व्रात्यप्रायश्चित्तमनुष्ठेयम्।

४०—उपनयनाग्नौ वेदारम्भोऽपि तस्मिन्नेवाग्नौ पुनः कुशकण्डिकानुष्ठानं विना न कर्तुं शक्यते। कुशकण्डिकाकरणस्य अग्निसंस्काररूपत्वेन यत्कर्मोद्देशेन ये संस्कारास्तस्मिन्नग्नावनुष्ठितास्तत्कर्मसमाप्त्यनन्तरमेव तेषामपि संस्काराणां नाशात् पुनः कर्मानुष्ठानार्थं कुशकण्डिकान्तरमवश्यमनुष्ठेयमेव। "अपवृत्तकर्मा लौकिकोऽर्थसंयोगात्" (का० श्रौ० सू० १।३।२८) इति शास्त्रेण उपनयने जाते तस्याग्नेर्लौकिकत्वेन पुनस्तत्र कुशकण्डिकाकरणमित्येव पक्षो युक्तः।

अथवा--"पशुः समानतन्त्रः स्यादिति बौधायनोऽब्रवीत्" इति बौधायनेन प्रायश्चित्तपशोरग्नीषोमीयपशुसमानतन्त्रताबोधनात् माध्यन्दिनादिभिः सर्वैरपि तत्पक्षस्य स्वीकारात् अत्रापि कुशकण्डिकां विनैव वेदारम्भहोमः।

समावर्त्तनं तु उपनयनाग्नौ न सम्भवति। उपनयनाग्नेर्वेदग्रहणार्थत्वेन समावर्तनस्य च व्रतविसर्गरूपत्वेन भिन्नविषयत्वात्। कुशकण्डिकान्तरकरणे तु समावर्तनमपि उपनयनाग्नौ भवतीत्यन्ये।

४१—अत्र पि राचार्यत्वे पितुराचार्यस्य न वरणम्। कर्मोपदेशकस्याचार्यस्य उपदेशकाचार्यप्रतिनिधिभूतस्य तु वरणं भवति। अत्रोपनयन-वेदारम्भ समावर्तनकर्मसु आचार्य-ब्रह्मभेदात् षड् ऋत्विजः। आचार्यप्रतिनिधिपक्षे त्रय आचार्यप्रतिनिधय इति नव। एवमेकाचार्यपक्षे आचार्यस्यैकप्रतिनिधिपक्षेऽप्यूह्यम्।

४२--मेखलाबन्धनं माणवकस्य कटिप्रदेशे कर्तव्यम्—

"आचार्यो माणवकस्य कटिप्रदेशे बद्ध्वा" (शा० गृ० सू० २।२।२)
"मेखलामाबध्नन् वाचयेत्" (गो० गृ० सू० २।२०)
"तस्मादेषाऽन्तरा वाससो भवति" (श० प० ब्रा० ३।२।१।११)
"तच्चैतत्सन्नहनं नाभेरधः कटिप्रदेशे कर्त्तव्यम्" (देवया० का० श्रौ० सू० २)
"अस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदावाचीनं नाभेः" (श० प० ब्रा० १)
"स्वलङ्कृतं मेखलया नितम्बे" (भागवत ३।८।२८) इत्यादिवचनेन।

४३—उपनयन-वेदारम्भ-समावर्तनकर्मणां पृथक्करणपक्षे पृथगाभ्युदयिक-

श्राद्धं स्वस्तिवाचनादि च। सहानुष्ठाने तु "गणशः क्रियमाणानाम्" इति वचनात् सकृत्तन्त्रेणानुष्ठानम्।

४४—अकामतो गर्भाधानादिसंस्काराणामननुष्ठितौ एकैकस्य संस्कारस्य लोपे पादकृच्छ्रं चूडाया अर्धकृच्छ्रं प्रायश्चित्तम्। कामतोऽननुष्ठाने तु द्विगुणम्। पादकृच्छ्रप्रत्याम्नाय एका गौः तन्निष्क्रयो वेति। एतत्प्रायश्चित्तमनुष्ठायानादिष्ट-मप्यनुष्ठेयम्।

४५—उपनयनस्य ब्राह्मण क्षत्रिय-विशां क्रमेण अष्टौ, एकादश, द्वादश वर्षाणि मुख्यः कालः। ततः षोडश, द्वाविंशतिः, चतुर्विंशतिर्वर्षाणि गौणः कालः। तत्र मुख्य-कालातिक्रमे गौणकालेऽप्यनादिष्टप्रायश्चित्तं कृत्वोपनयनं भवति। गौणकालातिक्रमे तु व्रात्यस्तोमं कृत्वोपनयनम्। पतितसावित्रीका व्रात्या उच्यन्ते। व्रात्यकर्तृको यज्ञो व्रात्यस्तोमः।

तत्र व्रात्याश्चतुर्विधा भवन्ति। हीनाचाराः, पापाध्यारोपेण जातिबहिष्कृताः, युवावस्थायामेव ज्ञातिबहिष्कृताः, अपगतप्रजननेन्द्रियसामर्थ्या वृद्धव्रात्याः। एतैः शुद्ध्यर्थं क्रियमाणो यज्ञो व्रात्यस्तोमोऽपि चतुर्विधः। एषु द्वितीय उक्थ्यसंस्थः। इतरेऽ-ग्निष्टोमसंस्थाः।

अयं च गणयज्ञः। अतोऽयं नैकेन व्रात्येन कर्तुं शक्यते। व्रात्यस्तोमोऽयं लौकिकेऽग्नौ भवति (का० श्रौ० सू० १।१।१४)। व्रात्यस्तोमयज्ञविधिः कात्यायन-श्रौतसूत्रे (२२।४) द्रष्टव्यः।

अस्य यज्ञस्य पाशुकत्वाद् गणयज्ञत्वाच्च नास्मिन् युगेऽनुष्ठानम्। अतः स्मृत्युक्तेन प्रत्याम्नायेन शुद्धिः सम्पाद्या। प्रत्याम्नायोऽपि गोनिष्क्रयदानमेव प्रत्याम्नायान्तरा-पेक्षया सुकरः। तत्र ब्राह्मणस्य द्वादशाब्दम्, क्षत्रियस्य नवाब्दम्, वैश्यस्य षडब्दम्। एषु क्रमेण ३६०, २७०, १८० गावस्तन्निष्क्रया वा दातव्या भवन्ति।

४६—कलौ उपनयनयोग्यक्षत्रिय-वैश्ययोरभावान्न तयोरुपनयनमिति नागोजि-भट्टप्रभृतयो दाक्षिणात्याः। सर्वेषु देशेषु अयं ब्राह्मणः, अयं क्षत्रियः, अयं वैश्यः, इत्यविगीतव्यवहारस्य जातिनिर्णायकस्य विद्यमानत्वात् स्व-स्वजात्युचितधर्माचरण-रहितानामपि तत्तज्जात्युचितधर्माचरणशीलैः सह भोजनादिव्यवहारस्य दर्शनात् वणिज इत्याद्यनभिचरिताविगीतव्यवहाराच्च अगरवालाः सर्वेऽपि तृतीयवर्णाः प्रायेणोपनयनादिसंस्कारभाजः शिष्टैः परिगृहीता भवन्ति। अतः सर्वेऽपि प्रायश्चित्ते कृते उपनयनार्हा भवन्ति। तत्र त्रिपुरुषं पतितसावित्रीका एवोपनयनार्हा न तु दश-विंशतिपुरुषपर्यन्तमस्मर्यमाणोपनयना अपीति केचन दाक्षिणात्याः।

४७—बहुकालतोऽस्मर्यमाणोपनयनानामपि क्षत्रिय-वैश्यानामुपनयनार्हत्वं प्राय-श्चित्तेन निष्कण्टकमिति सर्वे।

४८—कासुचित् उपनयनपद्धतिषु "उपनयन-वेदारम्भ-समावर्तनकर्माणि एक-तन्त्रेण करिष्ये" इति सङ्कल्पो लिखितः, यच्च कैश्चित्तदनुसारेण त्रयाणां समान-तन्त्रेणैव सङ्कल्पः क्रियते, तन्न युक्तम्, त्रयाणां तेषामेकैकप्रयोगपरिसमाप्त्यनन्तरमेव अपरस्यानुष्ठेयत्वेन एकप्रयोगपरिगृहीतत्वाभावात्। एकप्रयोगपरिगृहीतानामेव च

कालकर्त्राद्यैक्ये तथाऽनुष्ठानस्य शास्त्रे सिद्धान्तितत्वात् । अतोऽत्र पृथक् पृथगेव सङ्कल्पः कार्यो न तु सर्वादौ पृथक् सकृत्, पृथक् पृथग्वा। स्वस्तिवाचनादिषु तु एकस्मिन् दिने कर्तव्येषु आवृत्त्यभावात् सर्वादौ सर्वोद्देशेन "करिष्यमाणसर्वकर्माङ्गत्वेन स्वस्तिपुण्याहवाचनादीनि करिष्ये" इत्येव युक्तम् । "तन्त्रं च अनेकेषां प्रधानानामेकदाऽनुष्ठाने प्राप्ते पूर्वाङ्गानामुत्तराङ्गानां च सर्वोद्देशेन सकृदनुष्ठानम्" ।

चूडाकरणविषये विशेषविचारः

१—चौलकर्मणि गणपतिपूजनं पुण्याहवाचनं मातृपूजनमाभ्युदयिकं सति सम्भवे ग्रहयज्ञश्च भवति । एतच्च पूर्वदिने चौलदिने एव वा भवति ।

२—आभ्युदयिकश्राद्धं चौलात्पूर्वं त्रिभ्योऽहोभ्यः पूर्वमनुष्ठातुं शक्यते ।

३—सोदराणां युगपच्चौलसंस्कारो न कार्यः ।

४—असोदराणां युगपच्चौलादिकरणे मातृपूजनं नान्दीश्राद्धादि च सकृदेव कार्यम् ।

५—चौलकर्म प्रथमे तृतीये पञ्चमे सप्तमे वाऽष्टमे वर्षे भवति। "सहोपनयनेन वा" इत्याश्वलायनवचनादुपनयनेन सहाप्यस्यानुष्ठानम् ।

६—चूडाकर्मानन्तरं मासत्रयपर्यन्तं पिण्डदानं तिलतर्पणादि च न कार्यम् ।

७—चूडाकर्म पित्रा कार्यम् , तदभावेऽन्येनापि ।

८—पितुरभावे कुमारपितरमारभ्य श्राद्धादि कार्यं न स्वपितरमारभ्य ।

९—पित्रादिजीवने पितामहादिमारभ्य श्राद्धं कार्यम् ।

"जीवेत्तु यदि वर्गाद्यस्तं वर्गं तु परित्यजेत् ।"

इति तु गयाश्राद्धे प्रवर्तते न नान्दीश्राद्धे इति रुद्रकल्पद्रुमादौ स्पष्टमस्मच्छाखिनं प्रति ।

१०—विधवाकर्तृके नान्दीश्राद्धे "अपुत्रा पुत्रवत्पत्नी भर्तुः श्राद्धं समाचरेत्" इति वचनात् पत्यादयः श्वश्र्वादयः पित्रादयश्च देवताः ।

११—चौलकर्मणि शिखाधारणं कार्यम् । अस्य कर्मणः शिखाधारणसंस्कारत्वात् । शिखाच्छेदनं तु न कुत्रापि विहितम् । "गर्भकेशा न धारणीयाः" इत्यपि जनप्रवादो निर्मूल एव ।

१२—कन्यायाश्चौलकर्मणि सर्वं तूष्णीं मन्त्रवर्जं भवति ।

"हुतकृत्यं तु पुंवत् स्यात्स्त्रीणां चूडाकृतावपि ।"

इति वचनात् होमः समन्त्रको भवति । केवलं प्रधानकृत्यममन्त्रकं भवति । अन्यत्सर्वमङ्गकृत्यं गणपतिपूजादि नान्दीश्राद्धान्तं समन्त्रकमेवेति ।

१३—स्त्रीणां शिखाधारणं न भवति—

शिखायज्ञोपवीतं च कुशा मौनं तथैव च।
वेदाध्ययनभैक्ष्ये च स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥

इति धर्मप्रवृत्तौ निषेधात्।

१४—"शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।"

इति वचनाच्छूद्रस्यापि चूडाकरणं भवति।

१५—कुमारस्य ज्वराद्युत्पत्तौ चूडाकरणादि निषिद्धम्।

१६—"गर्भाद्यसंस्कृतस्यापि कर्तव्यं चोपनायनम्।
प्रायश्चित्तं तु पूर्वेषां नौपनायनिकस्य च॥
श्रौतस्मार्ताधिकारी स्यान्नौपनायनिकं विना।"
"एतेष्वेकैकलोपे तु पादकृच्छ्रं समाचरेत्।"
"चूडाया अर्धकृच्छ्रं स्यादापदीत्येवमीरितम्।
अनापदि तु सर्वत्र द्विगुणं द्विगुणं चरेत्॥"

१७—सूनोर्मातरि गर्भिण्यां प्रथममासादूर्ध्वं चूडाकर्म न कार्यम्। उपनयनेन सह चूडाकरणे तु गर्भिण्यामपि चूडाकर्म कर्तुं शक्यते। कुमारस्य पञ्चमवर्षादूर्ध्वं तु गर्भिण्यामपि मातरि न चूडाकर्मनिषेधः।

१८—कुमारस्य मातरि रजस्वलायां न चौलं भवति। नान्दीश्राद्धानन्तरं रजस्वलायां तु श्रीशान्तिं गोदानं च कृत्वा कार्यम्। सङ्कटे तु नान्दीश्राद्धाकरणेऽपि शान्त्या कार्यम्।

१९—मातुलपितृव्यादौ कर्तरि तत्पत्न्यां रजस्वलायामपि मङ्गलं नेति सिन्धुः।

२०—चतुष्पुरुषमध्ये षण्मासमध्ये उपनयनविवाहोत्तरं चूडाकर्म न कार्यम्। अब्दभेदे तु कार्यम्।

२१—चूडाकर्मानन्तरमपि महालये गयायां वार्षिके च पिण्डदानादि कार्यम्। साम्प्रतं नानुतिष्ठन्ति प्रायस्तत्र मूलं मृग्यम्।

२२—चौले पूर्णाहुतिर्नास्ति। अग्निमुखं पितृशाखया भवति।

२३—साग्नेरप्येतत्कर्म लौकिकेऽग्नौ भवति न गृह्येऽग्नौ। बहिःशालाया विधानसामर्थ्यात्। विना वचनमग्निः स्वायतनाद् बहिर्न नेतुं शक्यते।

२४—मुहूर्तवशादनध्यायेऽपि क्रियमाणे चौलेऽनध्यायदोषो मन्त्रपाठे न भवति।

शिलान्यासविषये विशेषविचारः

१—नूतनगृहादिनिर्माणारम्भे सविधि प्राथमिकशिलानिवेशः शिलान्यासः।

२—जीर्णोद्धारे काष्ठतृणादिनिर्मिते चलमण्डपादौ च न शिलान्यासः। तत्र काष्ठमयस्तम्भनिवेश एव शिलानिवेशस्थानीयः। तथा च निर्णयसिन्धौ—

आयव्ययौ मासशुद्धिं तृणागारे न चिन्तयेत्।
शिलान्यासादि नो कुर्यात्तथाऽऽगारपुरातने॥ इति।

विष्णुधर्मोत्तरे (खं० ३, अ० ९४)—

"मृन्मये चेष्टकान्यासः कर्तव्यो न च दारवे।" इति।

३—कूपाद्यारम्भेऽपि भूमिपूजनमात्रम्, न शिलान्यासः। शिलान्यासस्य प्रासादगृहयोरेव विधानात्।

४—शिलामये प्रासादादौ शिलामय्य इष्टकाः, इष्टकामये मृन्मये च इष्टकामय्य एव शिलाः।

शिलान्यासः प्रकर्तव्यः प्रासादे तु शिलामये।
इष्टकानां तु विन्यासः प्रासादे चेष्टकामये॥

इति विश्वकर्मप्रकाशवचनात्।

"प्रासादे तु शिलाः शैले इष्टका इष्टकामये।" (अग्नि. अ. ९२)
"मृन्मये चेष्टकान्यासः" इति पूर्वोक्तवचनाच्च।

५—इष्टकालक्षणं च—

एकवर्णाः सुपक्काश्च बहुजीर्णास्तु वर्जिताः।
अप्यङ्गारान्विताः नेष्टाः कृष्णवर्णाः सशर्कराः॥
भग्नाश्च विभ्रमैर्हीना वर्जनीयाः प्रयत्नतः।
सुप्रमाणा रक्तवर्णाश्चतुरस्रा मनोरमाः॥

६—शिलाश्च ब्राह्मणस्य एकविंशत्यङ्गुलदीर्घास्तदर्धविस्तारा विस्तारार्धोच्छ्राया-श्चतुरस्राः, क्षत्रियस्य सप्तदशाङ्गुलदीर्घास्तदर्धविस्तारास्तदर्धोच्छ्रायाः, वैश्यस्य त्रयोदशाङ्गुलदीर्घास्तदर्धविस्तृता विस्तारार्धोच्छ्रिताः, शूद्रस्य नवाङ्गुलदीर्घास्तदर्धविस्तारा-स्तदर्धोच्छ्रायाश्चतुरस्राः कार्याः। तथा च विश्वकर्मप्रकाशे—

शिलाप्रमाणं क्रमशः प्रदिष्टं वर्णानुपूर्व्येण तथाऽङ्गुलानाम्।
अथैकविंशद् घन-विश्व-नन्दा विस्तारके व्यासमितं तदर्धम्॥
तदर्धमानं त्वथ पिण्डिका स्यात् ऊर्ध्वाधिका न्यूनतरा न कार्या॥

विश्वकर्मप्रकाशे—"प्रासादादौ विधानेन न्यस्तव्याः सुमनोहराः ।
चतुरस्राः समाः कृत्वा समन्ताद्धस्तसन्निभाः ॥
आग्नेये—"अष्टाङ्गुलोच्छ्रिताः शस्ताश्चतुरस्राः करायताः ।"
"पाषाणानां शिलाः कार्या इष्टकानां तदर्धतः ।"
तत्रैव—"करप्रमाणा श्रेष्ठा स्याच्छिलाऽप्यथ शिलामये ।"
मुहूर्तसिन्धौ—देवाम्बुगेहे परितो जिनाङ्गुष्ठाः षडुन्नताः ।
विस्तारेऽर्काङ्गुलाः केचिल्लिङ्गेऽम्बुनि विरिक्तकाः ॥

७—इष्टकाश्च नव पञ्च चतस्रो वा कार्याः ।

आग्नेये—नन्दा भद्रा जया पूर्णा अजिता चापराजिता ।
विजया मङ्गलाख्या च धरणी नवमी शिला ॥ इति ।
आग्नेये—शिलापञ्चकपक्षेऽपि मनागुद्दिश्यते यथा ।
नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णाख्या पञ्चमी मता ॥ इति ।
विश्वकर्मप्रकाशेऽपि—गृह्यकोणेषु सर्वेषु पूजां कृत्वा विधानतः ।
ईशानमादितः कृत्वा प्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ।
नन्दाभद्राजयारिक्तापूर्णानाम्नीर्यथाक्रमम् ॥
विष्णुधर्मोत्तरे—शिलान्यासं तु कुर्वीत तत्रैवाह्नि चतुर्दिशम् ।
नन्दा भद्रा जया पूर्णाश्चतस्रो हि शिलाः शुभाः ॥
विश्वकर्मप्रकाशे च—यो विधिर्गृहनिर्माणे शिलान्यासस्य कर्मणि ।
प्रासादादिषु स ज्ञेयश्चतस्रस्तु शिलास्तथा ।
नन्दाभद्राजयापूर्णा आग्नेयादिषु विन्यसेत् ॥

८—शिलान्यास आग्नेयादिषु कोणेषु प्रादक्षिण्येन कार्य इत्येकः पक्षः । तथाऽऽह ब्रह्मशम्भौ—

सूत्रभित्तिशिलान्यासं स्तम्भस्यारोपणं तथा ।
पूर्वदक्षिणयोर्मध्ये कुर्यादित्याह काश्यपः ॥
कुण्डग्रन्थेषु—स्तम्भोच्छ्राये शिलान्यासे सूत्रयोजनकीलके ।
खननावटसंस्कारे प्रारम्भो वह्निगोचरः ॥
वास्तुराजवल्लभे—"दक्षिणपूर्वविभागे पूजनपूर्वं शिलाः समाः स्थाप्याः ।"
समराङ्गणसूत्रधारे—"आग्नेय्यामादितो नन्दां स्थापयेत् क्रमशः शिलाम् ।"
विश्वकर्मप्रकाशे—"नन्दाभद्राजयापूर्णा आग्नेयादिषु विन्यसेत् ।"

गृह्यकारिकायाम्—"आग्नेयादिषु कोणेषु मन्त्रैरेतैः शिलां न्यसेत् ।"

वराहसंहितायाम्—"दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत् प्रथमाम्" ।

ब्रह्मशम्भौ—सूत्रं भित्तिं शिलान्यासं स्तम्भस्यारोपणं तथा ।
पूर्वदक्षिणयोर्मध्ये कुर्यादित्याह काश्यपः ॥

शार्ङ्गधरः—प्रासादेषु च हर्म्येषु गृहेष्वन्येषु सर्वदा ।
आग्नेय्यां प्रथमं स्तम्भं स्थापयेत्तद्विधानतः ॥

ईशानमादितः कृत्वा शिलान्यास इति द्वितीयः पक्षः । गर्गः—
"ऐशानमादितः कृत्वा प्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ।"

विश्वकर्मप्रकाशे—ईशानमादितः कृत्वा प्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ॥
नन्दाभद्राजयारिक्तापूर्णानाम्नीर्यथाक्रमम् ।
गृहकोणेषु सर्वेषु पूजां कृत्वा विधानतः ॥

शान्तिरत्ने—"तत ईशानदिग्भागे साक्षतं रत्नपञ्चकम् ।" इत्यादि ।

विष्णुधर्मोत्तरे—"मध्ये शैलमयं कुम्भं शङ्कुं च स्थापयेत्ततः ।
ऐशाने च ततः कोणे शिलां पूर्वं प्रतिष्ठयेत् ॥
(द्वि. वि. अ. २६)

तत्रैव (अ. ६४) प्रासादप्रकरणे—
ऐशाने च ततः कोणे शिलां पूर्वं प्रतिष्ठिताम् ।
प्रदक्षिणं ततो राजन् शिलान्यासो विधीयते ॥

हरिभक्तिविलासे—"निश्चित्य मध्यमैशान्यां गर्तं कृत्वाऽर्पयेच्छिलाम् ।"

वैखानसतन्त्रे—गृहवास्तोर्देववास्तोरीशाने विधिरिष्यते ।
ब्राह्मणे वैष्णवैश्चापि विशेषफलहेतवे ॥

वासुदेवसंहितायाम्—"अथेशदिशमारभ्य शिलान्यासं समाचरेत् ।"

पञ्चरात्रागमे—"प्रासादब्रह्मभूभागे न्यसेत्तत्र महाशिलाम् ।"
ब्रह्मभूभाग ऐशानकोणः ।

वीरमित्रोदये—"ऐशाने च तथा कोणे शिलां पूर्वं प्रतिष्ठयेत् ।"

अत्रोक्तवाक्यनिचयेन परस्परनिरपेक्षेण आग्नेयेशानान्यतरकोणोपक्रमः शिलान्यासः प्राप्नोति । सति चैवमेकार्थत्वाद् विकल्प इति बहवः ।
"ऐशानादग्निकोणाद्वा शिलाः स्थाप्याः प्रदक्षिणाः ।"

इति प्रासादमण्डनेऽपि विकल्प एवोक्तः । गृहे शिलान्यास ईशानोपक्रमः, प्रासादे तु आग्नेयोपक्रमः इति विश्वकर्मप्रकाशव्यवस्था । वचनानि प्रागुक्तानि ।

अथेशदिशमारभ्य शिलान्यासं समाचरेत् ।
सर्वेष्वपि हि वर्णेषु ब्राह्मणेषु विशेषतः ॥
ब्राह्मणैर्वैष्णवैश्चापि विशेषफलहेतवे ॥

इत्यादिवचनबलात् ब्राह्मणकर्तृके ईशानादिक्रमः । क्षत्रियादौ तु—

"वास्तु चैशानतो विप्रे क्षत्रादावग्नितो न्यसेत् ।"

इति वचनबलादाग्नेयादिक्रम इत्यपि केषाञ्चिद् व्यवस्था । गृहे प्रासादे वा सर्वत्राग्नेयादिक्रम एवेति प्रामाणिकसम्प्रदायः ।

९—सम्पूज्य कलशान् पञ्च क्रमेण निजनामभिः ।
निरुन्धीत विधानेन न्यासो मध्यशिलाक्रमात् ॥

पञ्चशिलापक्षे मध्योपक्रमपक्षे मध्ये प्रथमां शिलां न्यस्य तत आग्नेयादिक्रमेण शिलां न्यसेत् इत्युक्तं तत्रैव (अ० ६४) ।

शिलापञ्चकपक्षे तु मनागुद्दिश्यते यथा ।
मध्ये पूर्णशिलान्यासः सुभद्रकलशेऽर्द्धतः ॥
पश्चादिषु च नन्दाद्याः कोणेष्वग्न्यादिषु क्रमात् ।

अनेन पञ्चशिलापक्षे मध्योपक्रमे पूर्णादिक्रमेणैव शिलान्यास इत्यपि प्रतीयते । चतुःशिलापक्षे तु नन्दादिक्रमेणैव शिलास्थापनम् ।

उपशिलाश्च शिलासमसङ्ख्या एव कार्याः, न तु एकस्यामुपशिलायां महत्यां सर्वासां शिलानां स्थापनम् । उपशिलानां प्रासादपादस्थानीयत्वात् पादानां चैकत्र न्यासस्यासम्भवात् । तदुक्तमाग्नेये(६२ अ०) -

शिलाः प्रासादलिङ्गस्य पादा धर्मादिसंज्ञकाः ।
अष्टाङ्गुलोच्छ्रिताः शस्ताश्चतुरस्राः करायताः ॥

एतेनोपशिलाप्रमाणमपि सिद्ध्यति ।

नन्दादिशिलानां स्थापनार्थं किञ्चित्तदधिकप्रमाणाः शिलामया आधारविशेषा उपशिला इत्युच्यन्ते ।

१०—उपशिलासु मध्ये कुम्भनिधानार्थमेकैको गर्तोऽपि कारयितव्यः—

ध्रुवे शिलायास्तु ततः खनित्वा कुम्भं प्रतिष्ठाप्य शराङ्गुलीयम् ।
विप्रादिवर्णानुगतः प्रशस्तस्तदर्धमानं तु तदर्धमानम् ॥

इति विश्वकर्मप्रकाशे । एतेन विप्रादीनां क्रमेण पञ्चाङ्गुलाः सार्धद्व्यङ्गुलाः सपादाङ्गुलाः कलशाः कार्या इति कलशप्रमाणमपि सिद्ध्यति ।

११—कलशलक्षणं पञ्चरात्रे—

समानीय शिलोपेतान् कलशान् पूर्वसंभृतान् ।

उत्कृष्टधातुसम्भूतान् नव शैलमयांस्तु वा ॥
समान् सुपक्वान् सुघनान् मृन्मयांस्तदभावतः ।
द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णांस्तन्मानेन तु चोन्नतान् ॥
द्विगुणान् सति सामर्थ्ये नृपाणां हेमजान् हितान् ।

एवञ्च धातुमयाः पाषाणमया मृन्मया वा कलशाः कार्याः ।

१२—नवशिलापक्षे कलशानां नामानि—सुभद्रः १ विभद्रः २ सुनन्दः ३ पुष्प नन्दः ४ जयः ५ विजयः ६ कुम्भः ७ पूर्णः ८ उत्तर ९ इति ।

१३—पञ्चशिलापक्षे कुम्भनामानि—पद्मः १ महापद्मः २ शङ्खः ३ मकरः ४ सुभद्रः ५ इति ।

१४—चतुःशिलापक्षे—पद्मः १ महापद्मः २ शङ्खः ३ सुभद्रः ४ इति ।

१५—शिलान्यासे वास्तुपूजनमपि सति सम्भवे कार्यम् ।

वसिष्ठः—निर्माणे मन्दिराणां च प्रवेशे त्रिविधेऽपि च ।
वास्तुपूजा प्रकर्तव्या तस्मात्तां कथयाम्यदः ॥

मात्स्ये—प्रासादभवनोद्यानप्रारम्भे परिवर्तने ।
पुरवेश्मप्रवेशेषु सर्वदोपापनुत्तये ॥
"इति वास्तुविधानं तु कृत्वा तां स्नानमण्डपात् ।"

इति विश्वकर्मप्रकाशे विधेश्च ।

'साज्यं कुम्भं स्थिरं मुक्त्वा वास्तुपूजनपूर्वकम्' इति शान्तिरत्ने ।

१६—पञ्चशिलापक्षे शिलासु क्रमेण चन्दनादिना पद्मम्, सिंहासनम्, तोरणच्छत्रे, कूर्मम्, चतुर्भुजम् विष्णुं चोल्लिखेत् ।

१७—शिलाविन्यासकाले सम्भारा गर्गोक्ताः—

शिलाविन्यासकाले तु सम्भारांश्चोपकल्पयेत् ।
सुवर्णजातिरत्नानि सुवर्णं रजतं तथा ॥
सर्वबीजानि गन्धांश्च शरान् दर्भांस्तथैव च ।
शुक्लान् सुमनसः सर्पिः केतकीं मधु रोचनाम् ॥

१८—शिलान्यासे होमोऽपि गर्गेणोक्तः—

"हुत्वाग्निं विधिवत्सर्वं मुहूर्ते चोपपादिते ।"

१९—शिलान्यासः कुम्भोपरि कर्तव्य इत्युक्तं शान्तिरत्ने—

तत ईशानदिग्भागे साक्षतं रत्नपञ्चकम् ।
साज्यं कुम्भं स्थिरं मुक्त्वा वास्तुपूजनपूर्वकम् ॥
कुम्भोपरि शिलान्यासः कर्तव्यस्तदनन्तरम् ॥

२०—शिलान्यासे शङ्कुस्थापनमप्युक्तं विष्णुधर्मोत्तरे—

"मध्ये शैलमयं कुम्भं शङ्कुं वा स्थापयेद् बुधः ।"

२१—पूर्णाहुत्यनन्तरं भूतेभ्यो बलिदानमुपशिलास्थापनं घटस्थापनं घटान्तरालानां मृदादिभिः पूरणं चोक्तम् ।

तन्त्र ग्रन्थे—दत्वा पूर्णां स्वयं कृत्वा स्थलस्थस्यार्चनं ततः ।
बलिदानं च भूतानां समाचम्य ततो व्रजेत् ॥
ततः स्वशक्तिपाषाणैरेकैकं स्थापयेद् घटम् ।
पूरयेदस्त्रमन्त्रेण घटानामन्तरं ततः ॥
मृदुमृद्वालुकाभिस्तु सुधयाऽचलसिद्धये ॥

२२—नवशिलापक्षे शिलानां न्यासम् आग्नेयादिक्रमेण ईशानादिक्रमेण वा। तत्र आग्नेयादिक्रमेण न्यासे पूर्णादिक्रमेण शिलानां न्यासो न तु नन्दादिक्रमेण। ईशानादिक्रमेण न्यासे नन्दादिक्रमेण न्यासः, आग्नेये तथा विधानात् ।

२३—शिलापञ्चकपक्षे आग्नेयादिक्रम ईशानादिक्रमो वा। आग्नेये तु मध्यादिक्रमेणापि शिलान्यास उक्तः शिलापञ्चकपक्षे ।

२४—खननं च पुरुषपर्यन्तं चतुर्हस्तं द्विहस्तं वा कार्यम्,

"पुरुषाधः स्थितं शल्यं न गृहे दोषदं भवेत् ।" इति मात्स्यात् ।
"चतुर्हस्तं द्विहस्तं वा जलान्तं वाऽपि शोधयेत् ॥" इति लङ्गाच्च ।

जलान्तमिति प्रासादादिपरम्—

"प्रासादे दोषदं शल्यं भवेद्यावज्जलान्तिकम् ।" इति मात्स्यात् ।
पाषाणान्तं जलान्तं वा शर्करान्तमथापि वा ।
प्रासादपादभूमिष्ठं सशल्यं दोषदं यतः ॥
प्रासादादिभुवं तस्मात्तत्तन्मानेन शोधयेत् । इति त्रिविक्रमपद्धतौ ।

२५—"चतुःषष्टिपदे क्षेत्रे" इत्यादिना ईशानादीनां वास्तुदेवतानां बलिविधानमुक्त्वा—

रक्षोमातृगणेभ्यश्च पिशाचादिभ्य एव च ।
पितृभ्यः क्षेत्रपालेभ्यो बलीन् दद्यादकामतः ॥
अहुत्वैतानसन्तर्प्य प्रासादादीन् न कारयेत् ॥

इति राक्षसादीनां च बलिविधानमुक्तमग्निपुराणे ।

२६—पुत्र-कलत्र-धन-धान्य-धर्मार्थ-कामादि-सकलसौख्यसाधनं शीताम्बुवातघर्मापहं सकलजन्तुनिवासभूतं गृहम् ।

२७—अजितास्थापनमन्त्रः— अजिते सर्वदा त्वं मां कामानामजितं कुरु।
प्रासादे तिष्ठ संहृष्टा यावच्चन्द्रार्कतारकौ॥
२८—अपराजितास्थापनमन्त्रः—स्थिराऽपराजिते भूत्वा कुरु मामपराजितम्।
आयुर्दा धनदा चात्र पुत्रपौत्रप्रदा भव॥
२९—विजयास्थापनमन्त्रः— विजये विजयं देहि. स्थिरा भूत्वाऽत्र सर्वदा।
आयुः कामं श्रियं चात्र प्रासादे देहि मेऽनघे॥
३०—मङ्गलास्थापनमन्त्रः— प्रासादेऽत्र स्थिरा भूत्वा मङ्गले मङ्गलं कुरु।
धनधान्यसमृद्धिं च सर्वदा कुरु नन्दिनि॥
३१—धरणीस्थापनमन्त्रः—धरणी लोकधरणी त्वामत्र स्थापयाम्यहम्।
निर्विघ्नं धारय त्वं मां गृहेऽस्मिन् सर्वदा शुभे॥ इति।

गृहवास्तुविषये विशेषविचारः

१—एतद् वास्तूपशमनं कृत्वा कर्म समाचरेत्।
प्रासादभवनोद्यानप्रारम्भे परिवर्तने॥
पुरवेश्मप्रवेशे च सर्वदोपोपशान्तये।
वास्तूपशमनं कृत्वा ततः सूत्रेण वेष्टयेत्॥
रक्षोघ्नपावमानेन सूक्तेन भवनादिकम्।
नृत्यमङ्गलवाद्यैश्च कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम्॥
अनेन विधिना यस्तु प्रतिसंवत्सरं बुधः।
गृहे वाऽऽयतने कुर्यान्न स दुःखमवाप्नुयात्॥

इति हेमाद्रौ मत्स्यपुराणे गृहनिर्माण-गृहप्रवेशादौ वास्तुशान्तिः सर्वाशुभ-निवृत्त्यादिफलिका विहिता।

२—कार्यारम्भेषु सर्वेषु नववेश्मप्रवेशने।
ग्रहशान्तिं विधानेन कृत्वाऽभीष्टं समश्नुते॥

इति शौनकेन ग्रहयागस्यापि वास्तुशान्तौ विधानात् सति सम्भवे ग्रहयाग-सहिता वास्तुशान्तिः प्रकर्तव्या। ग्रहपूजनं च वास्तुदेवतापूजनापेक्षया पूर्वमेव कार्यम्। होमोऽपि ग्रहोद्देश्यको वास्तुदेवोद्देश्यकहोमापेक्षया पूर्वमेव कार्यः। ग्रहशान्तेः

सकलकर्मसाधारण्येन पुण्याहवाचनादीनामिव कर्मारम्भात्पूर्वमेव अनुष्ठातुमुचितत्वात्।

"ततो ग्रहार्चनं वास्तुपूजाविधिमतः परम्।"

इति विश्वकर्मप्रकाशे (८।२।२७) वचनात्।

"होमं कुर्याद् ग्रहाणां तु स्वशाखोक्तविधानतः।

वास्तुहोमं ततः कुर्यात् ·········॥" (११।४०)

इति तत्रैव होमेऽपि ग्रहहोमस्यैव पूर्वोक्तेः।

३—"नित्यं नैमित्तिकं हित्वा सर्वमन्यत्समण्डपम्।"

इति शारदातिलकात्। मत्स्यपुराणे गृहप्रवेशविधिमुक्त्वा "प्रासादवास्तुशमने च विधिर्य उक्तः" (२५७) इति प्रासादवास्तुशान्त्युक्तविधानस्य गृहवास्तुशान्तौ अतिदिष्टत्वाच्च मण्डपकरणं सति संभवे भवति। प्रासादवास्तुशान्तौ च मण्डपो मात्स्ये उक्तस्तदनुसृत्य मयूखादौ चोक्तः।

४—वास्तुशान्तौ वरदो नामाग्निः। वास्तुयागे "प्रजापतिः" इति वास्तुतत्त्वे वचनात् प्रजापतिर्वा।

५—"ईशान्यां चतुरस्रां चतुरङ्गुलमुच्छ्रितां वेदिं कृत्वा" (आश्व० गृ० प०) इति सूत्राद्वास्तुवेदिः चतुरस्रा चतुरङ्गुलोच्छ्रिता हस्तमाना कार्या। शान्तिसार-शान्तिकमलाकर-मयूखकारादिभिः सर्वैः परिशिष्टवचनमनुसृत्य ईशान्यामेव वास्तुवेदिकरणमुक्तम्।

गर्त्तस्योत्तरपूर्वेण स्थण्डिलं हस्तमात्रकम्।

द्विवप्रं चतुरस्रं च वितस्त्युच्छ्रायसम्मितम्॥

इति पूजार्थवेदिनिर्माणस्य ईशान्यामेव वास्तुवेदिकरणं युक्तम्। पूर्वतो वेदिकरणं तु निर्मूलमेव।

ग्रहवेदिश्च वास्तुवेदितो दक्षिणतः कार्या, वास्तुवेदिश्च तदुत्तरतः। ग्रहाणां पूर्वाङ्गत्वात् प्राक् पूजनीयत्वेन पश्चाद् रुद्रपूजाया उदक्संस्थत्वापेक्षणात्। अतएव—

अथ प्रधानादपि यत्र पूर्वं ग्रहादिवासश्च तदा प्रधानम्।

ईशानदेशे च ततस्त्ववाच्यां श्रीखेटवेदिः करविस्तृतोच्चा॥

इति कुण्डरत्नावल्यामुक्तम्। भट्टकृतमहारुद्रपद्धतौ च "महारुद्र-वास्तुशान्त्यादौ प्रधानमीशान्यां तद्दक्षिणे ग्रहाः" इत्युक्तम्।

"अवाङ्मुखो निपतित ईशान्यां दिशि संस्थितः।" (वि० क० प्र० ४।३)

इति विश्वकर्मप्रकाशवचनमप्यत्रानुकूलमिति।

६—वास्तुमण्डलकोणेषु ईशानादिक्रमेण च।

शङ्कूनां रोपणं शस्तं प्रादक्षिण्येन मार्गतः॥ (वि० क० प्र० ५।१३)

इति वचनात्।

कुर्याद् वेदिं हस्तमितां चतुरस्रामुदक्प्लवाम्।
तदीशानादिकोणेषु लोहकीलान् निवेशयेत्॥

इत्युक्तेश्च ईशानादितः शङ्कुरोपणम्।

स्तम्भोच्छ्राये शिलान्यासे सूत्रयोजनकीलके।
खननेऽवटसंस्कारे प्रारम्भो वह्निगोचरे॥

इति वचनादाग्नेयादित इति केचित्। शङ्कवश्च सारदारुमया इति श्लोकशुल्बे। "कुर्याद् वेदिम्" इत्युक्तवचनाल्लोहमया वा इत्यपि जीर्णसम्प्रदायः।

७—वास्तुदेवतास्थापने शिख्यादिक्रमः—

"शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।"

इत्यादिना मत्स्यपुराणे उक्तः। आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टेऽपि "ब्राह्मणमादितः कृत्वाऽदित्यन्तमेके" इति शिख्यादिक्रममुक्त्वा उक्तम्। अत एवात्र एकग्रहणात् ब्रह्मादिक्रमेऽनादरता प्रदर्शिता। मयूख-शान्तिसार-शान्तिकमलाकरादिभिरपि अयमेव क्रमोऽङ्गीकृतः। शारदातिलके परं "ब्रह्माणं पूजयेदादौ" इत्यादिना ब्रह्मादिक्रम उक्तः।

८—वास्तुपूजनं वेदमन्त्रैर्नाममन्त्रैः समुच्चितैः प्रणवव्याहृतियुतैः "ॐ भूर्भुवः स्वः शिखिने नमः" इत्याकारकैर्विधेयम्।

शिख्यादिपञ्चचत्वारिंशद्देवांस्तत्र प्रपूजयेत्।
वेदमन्त्रैर्नाममन्त्रैः प्रणवव्याहृतिस्तथा॥

इति विश्वकर्मप्रकाशे (५।१०) वचनात्।

९—ब्रह्मस्थाने ततो विद्वान् कुर्यादाधारमक्षतैः।
तस्मिन् संस्थापयेत् कुम्भं वर्द्धन्या सह पूरितम्॥

इति यागतत्त्वे वचनात्। विश्वकर्मप्रकाशे (५।१७०) तु—

"कलशे स्थापयेद्देवं वरुणं वारुणैस्ततः।"

इत्यादिना कलशस्थापनमुक्तम्, स्थानं नोक्तम्। तत्र सामान्यनियमात् ईशान्यां तत्स्थापनमिति पद्धतिकाराः।

१०—कलशे सर्वौषध्यादिप्रक्षेपणानन्तरं द्रव्यविशेषाः प्रक्षेप्या उक्ता वास्तुशान्तौ। ते यथा विश्वकर्मप्रकाशे (५।१०४-१०५)—

वटीर्वटोदुम्बरस्य वेतसस्य तथैव च।
अश्वत्थस्यैव मूलं च पञ्च कापायकाः स्मृताः॥
तुलसी सहदेवी च विष्णुक्रान्ता शतावरी।
मूलान्येतानि गृह्णीयाच्छतालाभे विशेषतः॥ इति।

११—वास्तुमूर्तिः सर्पाकारा कार्या—

इति प्रार्थ्य ततो भूमौ संलिखेद् वास्तुपूरुषम् ।
पिष्टातकैस्तण्डुलैर्वा नागरूपधरं विभुम् ॥ (वि० क० प्र० १।७)

इति वचनात् ।

गृहवास्तुं प्रवक्ष्यामि येन देवमयो भवेत् ।
ईशानादि निर्ऋत्यन्तं वास्तुः सर्पः प्रकीर्तितः ॥

इति प्रतिष्ठासरणौ सङ्गमशक्तितन्त्रधृतवचनाच्च ।

१२—अत्र वास्तुदेवतापूजन-बलिदान-होम-प्रतिमा-निखननान्तः परिशिष्टायुक्तो मुख्यः पक्षः । प्रतिमानिखननरहितो मात्स्योक्तो मध्यमः । पूजाबलिदानमात्रः शारदोक्तः कनिष्ठः । न च मतभेदात्सर्वेऽपि मुख्यकल्पा एवेति वाच्यम्; "एककर्मणि गुणविशेषे फलविशेषः" (का० श्रौ० सू० १ । १० । ११) इति न्यायेन समानफलानुत्पत्तेः ।

१३—"वास्तोष्पते" इति मन्त्रैश्चतुर्भिर्होमः शिख्यादिहोमात्पूर्वमेव कार्य इति युक्तं पश्यामः । अत्र वास्तुशान्तौ वास्तोष्पतिदेवस्य प्रधानत्वात् प्रधानहोमस्य च पूर्वमेव न्याय्यत्वात् । परिशिष्टे - "वास्तोष्पत इति चतसृभिश्चरुणा समित्तिलपायसाज्यैः केवलाज्येन वा हुत्वा होमशेषं समाप्य" (आश्व० परि०) इत्युक्तेश्च । पद्धतिकारैस्तु सर्वैः शिख्यादिहोम एव पूर्वमुक्तः । तैः शिख्यादयोऽपि प्रधानत्वेनैवाङ्गीकृताः । शिख्यादिहोमानन्तरं "वास्तोष्पते" इति चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रधानहोमः, ततो बिल्वहोम इति पद्धतिक्रमः । अस्माकं मते तु आदौ प्रधानहोमस्ततः शिख्यादिहोमः । ततो बिल्वहोमः । प्रधानहोमश्च प्रतिद्रव्यं प्रतिमन्त्रं वा अष्टादिसंख्यया, शिख्यादिहोमश्चाष्टसंख्यया, सामान्यनियमात् ।

होमो ग्रहादिपूजायां शतमष्टोत्तरं भवेत् ।
अष्टाविंशतिरष्टौ वा तत्संख्या परिकीर्तिता ॥
अष्टोत्तरसहस्रं वा तत्संख्या परिकीर्तिता ।

इति वचनात् । अथवा शिख्यादिभ्यो दश-दश-संख्यया होमः कार्यः ।

"इतरान् दशभिर्देवानाहुतिभिः प्रकल्पयेत् ।"

इति वास्तुयागतत्त्वे रघुनन्दनधृतवचनात् । अथवा "वास्तोष्पत इति चतसृभिः प्रत्यृचं हुत्वा" इति सूत्रविहितहोमे सकृत्संख्या यथा गृह्यते, तद्वदत्रापि सकृत्संख्यैव ग्राह्या, तेन शिख्यादिभ्यः एकैकाऽऽहुतिरित्यपि पक्षो बोध्यः ।

१४—शिख्यादिहोमः पूजान्ते कार्य इति विश्वकर्मप्रकाशे (५०।६६) । शिख्यादिपूजनमुक्त्वा ततः कलशस्थापनं च (वि० क० प्र० ५।१००—१०६) उक्त्वा अनन्तरं "होमश्चिमेखले कार्यः" (वि० क० प्र० ५ । ११० - ११२) इत्यादिना पूजनानन्तरमेव होमविधानात् ।

१५—वास्तुबलिर्होमान्ते कार्यः—

होमान्ते भक्ष्यभोज्यैस्तु वास्तुदेशे बलिं हरेत् ।
नमस्कारान्तयुक्तेन प्रणवाद्येन सर्वतः ॥ (वि० क० प्र० ५।११३)

इति वचनात्। स च बलिः "घृतान्नं शिखिने दद्यात्" (वि० क० प्र० ५।११६-१३२) इत्यादिना शिख्यादिदेवेभ्यः पृथक् पृथग्द्रव्यैर्विहितैभ्यस्तत्तद् द्रव्येण देयः ।

"अथवा पायसं दद्यात् सर्वेभ्यश्च सदीपकम् ।" (वि० क० प्र० ५।१३४)

इति वचनात् ।

पायसं वाऽपि दातव्यं स्वनाम्ना सर्वतः क्रमात् ।
नमस्कारान्तयुक्तेन प्रणवाद्येन सर्वतः ॥

इति मात्स्यात् । "पायसान्नैर्बलिं हरेत्" इति शारदातिलकाच्च सर्वेभ्यः पायसद्रव्येण वा बलिर्देयः । आग्नेये तु बलिविशेषमभिधाय—

"यजेत सकलं वास्तु दध्यक्षतकुशैर्जलैः ।"

इत्यग्निपुराणे उक्तम् । बलिश्च—

"कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु बलिरित्यभिधीयते ।"

इति स्मृत्यर्थसारोक्तः कार्यः । सति संभवे—

"सर्वेभ्योऽपि हिरण्यं च ब्रह्मणे गां पयस्विनीम् ।" (वि० क० प्र० ५।१३३)

इति वचनात् । शिख्यादिभ्यश्चतुश्चत्वारिंशद्भ्यः सुवर्णम् , ब्रह्मणे च गां तन्निष्क्रयं वा दद्यात् ।

१६—ततः सम्पूजयेत्तस्मिन् सर्वलोकवसुन्धराम् ।
सुरूपां प्रमदारूपां दिव्याभरणभूषिताम् ॥
ध्यात्वा तामर्चयेद्देवीं परितुष्टां स्मिताननाम् ।

इति वास्तुयागतत्त्वे रघुनन्दनोक्तेः ।

वास्तुमण्डलमध्ये तु ब्रह्मस्थाने प्रपूजयेत् ।
सुरूपां पृथिवीं दिव्यरूपाभरणसंयुताम् ॥ (वि० क० प्र० ५।३४)

इति वचनाच्च ब्रह्मस्थाने ब्रह्मपूजोत्तरं तस्मिन्नेव पदे तदुत्तरतो धरापूजनमाचरन्ति । केचित्तु अस्मिन्नेवावसर इति ।

१७—वास्तूपशमनं कृत्वा ततः सूत्रेण वेष्टयेत् ।
रक्षोघ्नपवमानेन सूक्तेन भवनादिकम् ॥ इति मात्स्यात् ।

"कृणुष्व पाजः" इति पञ्चर्चं रक्षोघ्नसूक्तम्। "पुनन्तु मा पितरः" इत्यादिकं नवर्चं पवमानसूक्तम्।

१८—"बलिं च सम्यग्विधिवत्प्रयुज्य क्षीरेण धारां परितस्तु दद्यात्।"

इति मात्स्यात्।

वाचयित्वा ततः स्वस्ति कर्करीं परिगृह्य च।
सूत्रमात्रेण तोयस्य धारां कुर्यात्प्रदक्षिणाम्॥
प्रक्षिपेत्तेन मार्गेण सर्वबीजानि चैव हि। (वि० क० प्र० ५।८७-८८)

इति विश्वकर्मप्रकाशोक्तेश्च जलदुग्धोभयधाराकरणमत्र कर्तव्यम्।

१९—"होमशेषं समाप्याथ यजमानो वास्तुमूर्तिं रौद्रकोणेऽधोमुखीं गर्ते प्रच्छादयेत्" इति आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे (४।२) पूजितवास्तुप्रतिमाया गर्ते प्रच्छादनमीशानकोणेऽभिहितम्।

मृत्पेटिकां स्वर्णरत्नधान्यशैवालसंयुताम्।
गृहमध्ये हस्तमात्रे गर्ते न्यासाय विन्यसेत्॥

इति नारदसंहितायां मृत्पेटिकायां गृहमध्ये गर्ते निधानमुक्तम्। शान्तिसारादिकारैस्तु उभयैकवाक्यतया वास्तुप्रतिमां मृत्पेटिकायां निधाय गर्ते तस्या निधानमुक्तम्। अथ च वास्तुभूमेरेकाशीतिपदानि कल्पयित्वा ईशानकोणादष्टमे आकाशपदे निधानमुक्तम्, तच्च परिशिष्टोक्तसंहितोभयविरुद्धमिति चेन्न। आकाशपदस्यैव रौद्रत्वस्वीकारात्, लिङ्गतोभद्रादिमण्डले इन्द्राग्न्योर्मध्यस्य रुद्रायतनत्वकथनात्।

२०—वास्तुयागान्ते दक्षिणोक्ता वास्तुयागतत्त्वे—

एवं निष्पाद्य विधिना वास्तुयागं सुरोत्तम।
सुवर्णं गां च वस्त्रं च आचार्याय निवेदयेत्॥ इति।

विश्वकर्मप्रकाशे (५।२५६-२६२) च—

ततस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा आचार्याय निवेदयेत्।
दक्षिणां ब्रह्मणे दद्याद्यथावित्तानुसारतः॥
उदङ्मुखाय च ततः क्षमस्वेति पुनः पुनः।
गां सवत्सां स्वर्णयुतां तथा वासोयुगान्विताम्॥
यज्ञान्ते आप्लुतान् वस्त्रानाचार्याय निवेदयेत्।
दैवज्ञं च ततस्तोष्य स्थपतीन् वैष्णवानपि॥
दक्षिणां च ततो दद्यात् घृते छायां विलोकयेत्।
रक्षाबन्धं मन्त्रपाठं त्र्यायुषं च समाचरेत्॥

ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दद्याच्छिष्टेभ्यश्च स्वशक्तितः।
दीनान्धकृपणेभ्यश्च दद्याद् वित्तानुसारतः॥
सम्प्राप्नोति नरो लक्ष्मीं पुत्र-पौत्रधनान्विताम्। इति।

२१—अकपाटमनाच्छन्नमदत्तबलिभोजनम्।
गृहं न प्रविशेद्धीमान् विपदामाकरं हि तत्॥

इति नारदसंहितावचनात् गृहे ब्राह्मणानां भोजनं कृत्वा गृहप्रवेशः कार्यः।
२२—गृहप्रवेशाङ्गत्वेन पताकादिरोपणप्रकारो विश्वकर्मप्रकाशे (१०।६८-१०१) विहितः।

वितानैस्तोरणैः पुष्पैः पताकाभिर्विशेषतः।
अलङ्कृत्य नवं गेहं देहलीं पूजयेत्ततः॥
दिक्पालांश्च तथा क्षेत्रपालं ग्रामाधिदैवतान्।
प्रणम्य विधिवत् पूज्य द्वारमार्गे विशेद् गृहम्॥
पूजयेद् गणनाथं च मातृकाश्च विशेषतः।
वसोर्धारां पातयित्वा ग्रहांश्चैव तु पूजयेत्॥
वास्तुनाथं च सम्पूज्य ब्राह्मणान् भोजयेत्ततः।
गोदानं भूमिदानं च कुर्याच्चैव यथाविधि॥ इति।

गृहेऽपि पताकाः कुण्डसिद्धयुक्तवर्णोचिता दश कार्या इत्युक्तं विश्वकर्मप्रकाशे (१३।१०१-१०५)।

यद् द्वारमार्गे पूर्वे तु ध्वजः षोडशहस्तकः।
स्तम्भोऽस्य विधिवत् स्थाप्यः सघण्टाकिङ्किणीयुतः॥ इति।

व्यवस्थासंग्रहः

१—श्रावणीनिर्णयः

वर्षेऽस्मिन् (संवत् १९८८) श्रावणी पूर्णिमा परेद्युः ३।५८ दण्डपरिमिता, पूर्वेद्युः ०।४७ एतत्पलेभ्योऽनन्तरं प्रवर्त्तते। कस्मिन्दिने उपाकर्मानुष्ठेयमिति संशये यजुर्वेदिनां प्रथमदिन एव कर्तव्यता प्रतीयते हेमाद्रि-निर्णयसिन्ध्वादिपर्यालोचनया। तथाहि—

उदये सङ्गवस्पर्शे श्रुतौ पर्वणि चार्कभे।
कुर्युर्नभस्युपाकर्म ऋग्यजुःसामगाः क्रमात्॥

इति वचनेन उदयसङ्गवोभयव्यापिपर्वादिके कर्मणो मुख्यः कालः उपाकर्मण इत्यवगम्यते। तदभावे उदयसम्बन्धाभावेऽपि यस्मिन्दिने पर्वणः सङ्गवकालसम्बन्धो वर्तते तस्मिन्नेव दिनेऽनुष्ठेयम्। तच्चास्मिन् वर्षे प्रथमदिन एव वर्तते न तु द्वितीय-दिवसे। यद्यपि प्रथमदिने चतुर्दशीसम्बन्धोऽस्ति पर्वणः स च—

सम्प्राप्तवान् श्रुतीर्ब्रह्मा पर्वण्यौदयिके पुनः।
अतो भूतदिने तस्मिन्नोपाकरणमिष्यते॥

इति निषिद्धः, तथापि न सम्बन्धमात्रं दोषावहम्, किन्तु तत्र तत्र तिथ्यन्तर-वेधस्यैव धर्मशास्त्रेषु दोषावहत्वं श्रूयते। वेधश्च "त्रिभिर्मुहूर्तैर्विध्यन्ति" इति वचनबलात् मुहूर्तत्रयरूपदण्डषट्कपरिमितकालसम्बन्धात्मक एवेत्यवगम्यते। प्रकृते तु न तथास्ति, अतो न चतुर्दशीवेधसम्बन्धनिमित्तो दोषः पूर्वदिने।

"पर्वण्यौदयिके कुर्युः श्रावणीं तैत्तिरीयकाः।"

इति मदनरत्नधृतबह्वृचपरिशिष्टबलादपि पूर्वदिन एव कर्तव्यता प्रतीयते, तत्र हि पर्वण औदयिकत्वं नाम न उदयकालमात्रसम्बन्धस्तस्य—

श्रावणी पौर्णमासी तु सङ्गवात्परतो यदि।
तदैवौदयिकी ग्राह्या नान्यदौदयिकी भवेत्॥
घटीपरिमितः कालः सङ्गवादूर्ध्वपर्वणि।
*औदयीकमिति प्राहुर्मुनयस्तिथिचिन्तकाः॥

इत्यादिवचनविशेषैः पर्वव्यवस्थापनात्। एवञ्च औदयिके पर्वणि यजुर्वेदिना-मुपाकर्मानुष्ठानं विदधतो मदनरत्नकारस्य मतेनापि द्वितीयस्मिन्दिवसे पर्वणः सङ्गवसम्बन्धाभावेन औदयिकत्वासिद्धेः पूर्वदिवस एवोपाकर्मानुष्ठानं सिद्ध्यति। अतश्च हेमाद्रि-मदनरत्नादिसर्वनिबन्धकृन्मतेनापि सर्वयजुर्वेदिनामुपाकर्म पूर्व-स्मिन् दिन एव कर्तव्यं शास्त्रसम्मतम्।

---

* औदयीकमिति दीर्घ आर्षः एवमेवोपर्युद्धृतेषु पद्येषु 'पूज्य' 'तोष्य' आदिप्रयोगा बोध्याः।

रक्षाबन्धनस्य तु पूर्वदिने भद्रायोगात् उपाकर्मरक्षाबन्धनयोरङ्गाङ्गिभावस्य गृह्यनिबन्धकाराद्यनभिमतत्वात् परेद्युरेवानुष्ठानमिति निर्णयः ।

२—संक्रान्तौ उपाकर्मनिर्णयः

कस्मिंश्चिद् वर्षे यदि पौर्णमासीसमाप्त्यनन्तरमर्द्धरात्रादधस्तात् संक्रान्तिर्भवति तदा तद्दिने प्रातरारभ्य विद्यमानायां संक्रान्त्यस्पृष्टायां पौर्णमास्यामुपाकर्म न करणीयमिति निर्णयसिन्धुकारमतम् । तथाहि तदीयग्रन्थे श्रवणयुतदिने संक्रान्त्यादौ तु—

उपाकर्म न कुर्वन्ति क्रमात्सामर्ग्यजुर्विदः ।
ग्रहसंक्रान्तियुक्तेषु हस्तश्रवणपर्वसु ॥

इति हेमाद्रौ निषेधात् । 'पञ्चम्यादयो ग्राह्याः' इत्युपक्रम्य एतेन ग्रहणसंक्रान्तिकाले श्रवणसत्त्वे एव निषेधः, नार्वागिति मूर्खशङ्का परास्ता, ग्रहणविशिष्टानां हस्तश्रवणपर्वणां प्रत्येकं निषेधे तद्युतोपाकर्मनिषेधे च विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदात् पञ्चम्यां संक्रान्तौ निषेधाभावापत्तेश्च । तेनार्धरात्रात्पूर्वं ग्रहसंक्रमसत्त्वे एवोपाकर्मनिषेधः, न तद्योगे एव इत्यन्तेन उपसंहृतम् । निर्णयसिन्धुमतानुसारेण धर्मसिन्धावपि ग्रहण-संक्रान्तियोगश्चोपाकर्मसन्धिन्यहोरात्रे भविष्यन्मध्यरात्रात्पूर्वमतीतमध्यरात्रादूर्ध्वं चेति यामाष्टके विद्यमानश्रवणनक्षत्रपूर्णिमादितिथिस्पृष्टोऽप्युपाकर्मदूषकः इत्युक्तम् । यद्यपि पञ्चम्यां संक्रान्तियोगे उपाकर्मनिषेधकवचनं नोपलभ्यते, तथापि निर्णयसिन्धुकारैर्वाक्यभेदभिया कल्पितेन सामान्यवाक्येन तत्र निषेधः स्वीक्रियते । ननु ग्रहणसंक्रान्तौ सामान्येन उपाकर्मनिषेधकवचनं वर्त्तते, तथाहि हेमाद्रिमदनपालधृता स्मृतिः—

संक्रान्तौ ग्रहणे चैव सूतके मृतके तथा ।
गणस्नानं न कुर्वीत नारदस्य वचो यथा ॥ इति ।

एवं च सामान्यवचनेन पञ्चम्यां संक्रान्तावुपाकर्मनिषेधः स्पष्ट एवेति चेत् न, हेमाद्रिणा अस्य विशेषवचनेनैकवाक्यतास्वीकारात् । अस्य वाक्यस्य सामान्यतः संक्रान्तिदिने उपाकर्मनिषेधकत्वस्वीकारे निर्णयसिन्धुकारमते—

संक्रान्तिर्ग्रहणं वापि यदि पर्वणि जायते ।
तन्मासे हस्तयुक्तायां पञ्चम्यां वा तदिष्यते ॥
संक्रान्तिर्ग्रहणं वापि पौर्णमासी यदा भवेत् ।
उपाकृतिस्तु पञ्चम्यां कार्या वाजसनेयिभिः ॥ इति विधानात् ।

३—होलिकादाहनिर्णयः

फाल्गुनीपूर्णिमा पूर्वदिने ३६।३६ अनन्तरं प्रवर्तते, परदिने ३१।२६ यावद् वर्तते । तत्र होलिकादाहः कदा कार्य इति संशये—परदिने पूर्णिमायाः सन्ध्याकालेऽल्पावशिष्टत्वात् ग्रस्तोदयचन्द्रग्रहणसत्त्वाच्च "सर्वेषामेव वर्णानां सूतकं राहुदर्शने"

इति वचनेन उपरागकाले क्रियान्तरस्याननुष्ठेयत्वदर्शनात् पूर्वस्मिन्नेव दिने धर्मशास्त्रोक्तं नाडीपञ्चकात्मकं भद्रामुखं वर्जयित्वा द्वाचत्वारिंशद्घटिकोत्तरं होलादाहः कार्यः, न तु परदिने प्रदोषकाले पूर्णिमासत्त्वेऽपि पूर्णिमाया तस्याः ग्रहणदूषितत्वात्। "अथ परेऽह्नि ग्रस्तोदयस्तदा पूर्वदिने भद्रावर्जं रात्रौ चतुर्थयामे विष्टिपुच्छे वा होलिका कार्या। ग्रहोत्तरं प्रतिपत्सत्त्वात्तत्पूर्वं च दिवा होलानिषेधात्" इति निर्णयसिन्धौ पूर्वदिनकर्तव्यत्वस्यैव प्रतिपादनात्। यत्तु तत्रैव "वस्तुतस्तु" इत्यादिना द्वितीयेऽह्नि कर्तव्यता, तत्र च हेतुतया—

सर्वेषामेव वर्णानां सूतकं राहुदर्शने।
स्नात्वा कर्माणि कुर्वीत............॥

इति वचनमुत्तरार्द्धशेषतया व्याख्यातम्, तन्न युक्तम्। परेऽह्नि उपरागसमये उपरागप्रयुक्तजप-दान-होमादिक्रियातिरिक्तस्य सर्वस्यापि कर्मणो धर्मशास्त्रेषु निषेधात् होलिकादाहस्य च तन्निषेधान्तःपातित्वेन तस्य ग्रहणकालेऽनुष्ठानाप्रवृत्तेः। अत एव निर्णयसिन्धुव्याख्यात्रा कृष्णंभट्टेनापि "पूर्वपक्षेऽस्वरसंसूचयन्नेवाह वस्तुतस्तु" इति व्याचक्षाणेन प्रथमदिनकर्तव्यतापक्ष एवाभ्युपगतः। अतश्च यद्यपि प्रथमदिने न प्रदोषरूपमुख्यकाललाभः, तथापि गौणकालस्य सत्त्वात् द्वितीयदिने च मुख्यकालस्य प्रदोषस्य ग्रहणदुष्टत्वेन च निषेधाक्रान्तत्वात् निषिद्धकालग्रहणापेक्षया गौणकालग्रहणस्यैव समुचितत्वेन पूर्वदिने चतुर्दश्यामेव द्विचत्वारिंशद् दण्डोत्तरं होलिकादाहः कार्य इति युक्तं प्रतीमः।

४—एकादश्युपवासनिर्णयः

यदा पूर्वदिने घटिकात्रयं यावद् दशमी, तत एकादशी, अनन्तरदिवसे च एकघटिकापर्यन्तमेकादशी तदुपरि द्वादशी, तृतीयदिवसे च ०।१४ पर्यन्तमेव द्वादशी अस्यां दशायामेकादश्युपवासः कदा कार्य इति संशये—

"द्वादशी तु त्रयोदश्यां कलामात्रापि दृश्यते।
द्वादशद्वादशीर्हन्ति पूर्वस्यां पारणं कृतम्॥"
"पारणाहे न लभ्येत द्वादशी कलयाऽपि चेत्।
तदानीं दशमीविद्धाप्युपोष्यैकादशी तिथिः॥"

इत्यादिनिर्णयसिन्धुवचननिचयेन यस्मिन् दिने सूर्योदयानन्तरं कलामात्रमपि द्वादशी तस्मिन्नेव दिने पारणा, तत्पूर्वस्मिन् दिने उपवास एकादशीप्रयुक्त इत्यवगमात्। शेषेतु एकादश्युपवासः कर्तव्य इति भाति।

५—नवरात्रपारणानिर्णयः

आश्विनशुक्लनवमी षष्टिदण्डा, द्वितीयदिने च वृद्धया २३ पर्यन्तं गता,

अनन्तरं दशमी, तदनन्तरदिनेऽपि ३४ यावद् दशमी, तत्र नवरात्रपारणा कदा कर्तव्येति सन्देहे सञ्जाते—पूर्वदिने शेषनवम्यनन्तरं दशमीलाभात् दशम्यामेव पारण-विधानात् 'यदा दिनद्वये नवमी तदा उपोष्य तिथ्यन्ते पारणा' इति निर्णयसिन्धु-वाक्यात् 'अथ नवमी षष्टिदण्डा द्वितीयदिने शेषयुक्ता दशमी, तत्रापि नवम्या युक्त-दशम्यामेव विसर्जनपारणे' इति धर्मसिन्धुवचनाच्च नवमीविद्धदशम्यामेव पारणम्, न तु शेषदशम्याम्। पूर्वदिने कर्मकालपर्याप्ततिथिलाभात् द्वितीयदिने तदभावान्नवमी-वेधस्य क्वचिदपि निषेधाश्रवणाच्चेति युक्तं पश्यामः।

६—ग्रहणविचारः

यस्मिन् देशे दिने सञ्जातं चन्द्रग्रहणं सूर्यास्तात् द्विपलाभ्यां पूर्वमेव समाप्तं भवति तत्र ग्रहणपुण्यकालस्तत्प्रयुक्तं स्नानादिकं कर्तव्यं न वेति विचारे निर्णय-सिन्धु-धर्मसिन्धुप्रभृतिषु निबन्धेषु पर्यालोच्यमानेष्वयमेव निर्णयः सञ्जायते यन्मे-घाच्छादने सति चन्द्रग्रहणस्य सूर्यग्रहणस्य वा यस्य दर्शनयोग्यता (किञ्चित्काला-वस्थायिता) तस्यैव पुण्यप्रयोजकता, तत्रैव च स्नान-दानाद्यनुष्ठानं नान्यत्र। एवञ्च सूर्यास्ताव्यवहितपूर्वक्षणस्यापि दिवात्वाविशेषात् सूर्यास्ततः अत्यल्पकालात् पूर्वमपि समाप्तस्य ग्रहणस्य दिवाग्रहणत्वस्याङ्गीकर्तव्यत्वात्।

सूर्यग्रहो यदा रात्रौ दिवा चन्द्रग्रहस्तथा।
तत्र स्नानं न कुर्वीत दद्याद्दानं न च क्वचित्॥

इति शास्त्रविषयत्वावगतेः सूर्यास्तपूर्वक्षणे समाप्तस्य ग्रहणस्य पुण्यजनकत्वं स्नानादिप्रयोजकत्वं वा नास्त्येवेति।

७—अन्नकूटोत्सवनिर्णयः

अन्नकूटोत्सव अमाविद्धायां प्रतिपदि (परेद्युः) कर्तव्य उत द्वितीयावि-द्धायां प्रतिपदि (परेद्युः) कर्तव्य इति संशये—स्मृतिपुराणादिधर्मग्रन्थेषु कार्तिक-शुक्लप्रतिपदि गोवर्धनगोपालपूजा विहिता, तत्र मुख्यगोवर्द्धनासम्भवे गोमयेनान्न-कूटेन वा गोवर्द्धनं सम्पाद्य तत्र तयोः पूजा कर्तव्या, इदमेव पूजनमन्नकूटोत्सव इत्यभिधीयते।

तथा च धर्मसिन्धौ—'मुख्यगोवर्द्धनासम्भवे तस्यैव पूजा; तदसान्निध्ये गोमयेनान्नकूटेन वा गोवर्द्धनं कृत्वा तत्सहितगोपालपूजा कार्या।' इति।

स्मृतिकौस्तुभेऽपि—'इदमेव गोवर्द्धनपूजात्मकं कर्म अन्नकूटोत्सवत्वेन पाद्मे उक्तम्' इति।

तत्र—"पूर्वविद्धा प्रकर्तव्या शिवरात्रिर्बलेर्दिनम्।"

इत्यादिवचनात्पूर्वविद्धप्रतिपद्येव कर्तव्यम्। एवं च सति यत्र गोवर्धनपूजा क्रियते काशीस्थ-गोपालमन्दिरादौ तत्रान्नकूटोऽपि पूर्वविद्धायामेव कर्तव्यः। यत्र त्वन्नकूटः कल्पितो न वा, किन्तु गोवर्धनगोपालपूजनादिकं क्रियते, तत्र केवलं

भक्तानां प्रसादप्रदानार्थं बहोः कालात्सम्प्रदायमवलम्ब्य क्रियते यथा काशीस्थ-विश्वनाथाऽन्नपूर्णामन्दिरादौ। तत्र पूर्वोक्तवचनस्याप्रवृत्तेः। तत्र च क्रियमाणस्यान्नकूटस्य दुर्गापूजादिरूपत्वेन तत्र पूर्वाह्णव्यापिन्या एव तिथेर्ग्राह्यत्वात्तथैवाचाराच्च द्वितीयदिने उदयव्यापिन्यां प्रतिपद्येवान्नकूटः। यदि च विश्वनाथमन्दिरादावपि गोपालपूजादिकं क्रियते, तर्हि तत्रापि पूर्वदिने तत्कर्तव्यता। तत्र त्वेवमाचाराभावात्केवलस्यान्नकूटस्यान्नपूर्णा-विश्वनाथपूजाङ्गत्वेनैव सम्पादनात्तस्य च गोवर्द्धनपूजात्वाभावाद् द्वितीयदिन एव तदनुष्ठानम्।

प्रतिपद्दर्शसंयोगे क्रीडनं तु गवां मतम्।
परविद्धेषु यः कुर्यात्पुत्रदारधनक्षयः॥

इत्यादिनिषेधस्तु गोवर्द्धनगोपालपूजात्मकान्नकूटविषयक एव, न त्वन्नकूटसामान्यविषयकः। अतश्च द्वितीयदिनकरणे विरोधाभावादाचाराच्च द्वितीयदिन एवान्नकूट इति शास्त्रनिर्णयः।

८ अग्निहोत्रविचारः

केनचित् धार्मिकधौरेयेण राज्यादिकार्यान्तरव्यापृतेन स्वयमग्निहोत्रं कर्तुमवकाशमलभमानेनान्यं कञ्चन श्रौत-स्मार्तनित्यकर्मानुष्ठाननिरतं विप्रवरं तत्र नियुज्य तेन कारितेऽग्निहोत्रादिकर्मणि काले च दैवादिष्टं गते तस्मिन् प्रयोजितरि, तत्पुत्रादेश्चानधिकारप्रयोजके वैधुर्यादौ सञ्जाते पूर्वनिर्दिष्टब्राह्मणकर्तृकाग्निहोत्रस्याधिकाराभावप्रयुक्तो लोपो भवेन्न वेति संशये-इदमुत्तरम्—

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" इत्यादावात्मनेपदश्रवणेनाग्निसिद्धिरूपफलस्याधानसामानाधिकरण्यावश्यकतया अनाधातुराहवनीयाद्यभावप्रतीतेः क्रयादिनाऽन्येन केनचित् प्रकारेणाहिताग्नित्वसम्पादनयाऽऽधानाधिकरणयोः निरस्तत्वात् यद्गतं यादृशं कर्तृविशेषणमधिकारिताप्रयोजकं तद्गततादृशाभावस्यैव तदभावप्रयोजकतावश्यंभावनैयत्येन प्रयोजकपुरुषगतवैधुर्यादेस्तत्त्वाभावेनाऽधिकारनाशकत्वासम्भवात्पूर्वनिर्दिष्टे विप्रवरेऽधिकारपौष्कल्यप्रतिभानात्तेन चाऽग्निहोत्रं यथावदेव रक्षणीयम्। 'वीरहा वा एष देवानां चाग्निमुद्वासयते' इति श्रुत्या अग्न्युत्स्रष्टुः वीरहत्यादोषप्रतिपादनात्तेन ब्राह्मणेनावश्यमेव वीरहत्यादोषाभावायाऽग्नयः संरक्षणीयाः। अग्निहोत्रं च करणीयम्। यैश्च नियतवृत्तिदानादिना प्रवर्त्तितोऽयं ब्राह्मणोऽस्मिन् धर्मकार्ये तैस्तत्सन्ततिजैश्च पुरुषैस्तादृशदोषप्रयोजकत्वादात्मानं रक्षितुकामैः यथावदेव नियतवृत्तिदानेन संरक्षणीया अग्नयोऽग्निहोत्रं चेति धार्मिकश्चायं पन्था इति।

९—देवमन्दिरजीर्णोद्धारविचारः

कस्मिंश्चिद्देवालये भूकम्पादिना निमित्तेनात्यन्तं विशीर्णतां प्राप्य पतनोन्मुखे सति तत्र स्थापिताया देव्या मूर्तेरवैकल्ये च सति तस्या मूर्तेस्तस्मात् स्थानादुत्थापनं विना तत्रैव देशे पुनर्मन्दिरनिर्माणस्याशक्यत्वे च सति तामविकलां मूर्त्तिं तस्मात्स्थाना-

दुत्थाप्य स्थानान्तरे क्वचित्तन्निकट एव संस्थाप्य तन्मूर्तिनिष्ठां शक्तिं सुवर्णादिपात्रस्थे जले आकृष्य तत्रैव तत्त्वन्यासादिकं कृत्वा यावत्पुनः स्थापनं मूर्तेस्तावत्तज्जलं रक्षेत्।

एवं प्रासादशक्तिमपि कस्मिंश्चिद् खड्गे आकृष्य तत्त्वन्यासादिकं कृत्वा मूर्तिसन्निधौ निधाय खड्गमेव यथाविधि देववत्पूजयेत्। ततो देवालयं नूतनं पूर्वदेशे निर्माय तत्र तामेव मूर्त्तिं पुनः स्थापयेद्यदि मूर्तिरखण्डिता भवेत्। संस्थाप्य च पुनस्तां तां शक्तिमाकर्षणादिना तत्र तत्रैव न्यस्य मूर्तिं प्रासादञ्च यथावत्पूजयेदिति शास्त्रीयो निर्णयः प्रतिष्ठात्रैविक्रम्यां विद्यत इति।

१०—श्रौताग्निहोत्रप्रयोजककर्तुर्देहदाहाय दत्तेऽप्यरण्युत्पादिताग्नौ नाग्निहोत्रनाशः

केनचित् धार्मिकाग्रेसरेण कश्चिच्छ्रौतस्मार्त्तकर्मनिष्ठो ब्राह्मणः नियतवृत्त्युपकल्पनपुरःसरं श्रौताग्निहोत्रफलकामनयाऽग्न्याधाने प्रवर्तिते यथाविधि श्रौताग्निहोत्रादि करोति। वृत्त्युपकल्पकस्य श्रौताग्निहोत्रप्रयोजककर्तुस्तस्य दैवाधीने शरीरत्यागे वृत्ते सति तदीयजनाऽभ्यर्थनयाऽग्निहोत्रिब्राह्मणेन लौकिकारण्युत्पादितो वह्निस्तच्छरीरसंस्कारार्थं प्रशस्त इति बुद्ध्या समर्पितः। सत्यामेवंविधायामवस्थायां पूर्वाग्निहोत्रनाशः सञ्जात इति केषाञ्चिद्विदुषां मतं समीचीनं नवेति प्रश्ने—न समीचीनमित्युत्तरम्। तथाहि आधानसिद्धानामेवाग्नीनामग्निहोत्रादिकर्मौपयिकता सर्वशास्त्रानुमता इत्यत्र नास्ति सन्देहः। आधानस्य च अग्निसिद्धिकामकर्तृकत्वेन काम्यतया 'काम्ये प्रतिनिधिर्नास्ति' इति शास्त्रानुसारेण प्रतिनिधिद्वाराऽनुष्ठापयितुमशक्यत्वात् यजमानकर्तृकत्वमेव। इत्थं च प्रयोजककर्तुर्धार्मिकाग्रेसरस्य प्रातिनिध्येन ब्राह्मणेन अग्न्याधानं कृतमिति न शक्यते संभावयितुमपि। अतः प्रयोजककर्तृत्वाधीनपुण्यप्राप्तिकामेन कारितस्याप्यग्निहोत्रस्य प्रयोजककर्तृनाशेन नाशशङ्का न शङ्कास्पदमपि। सत्येवं लौकिकारणिस्थवह्निकृतसंस्कारस्य सद्गतिप्राप्तिरूपफलविशेषप्रयोजकत्वेऽपि पूर्वाग्निहोत्रनाशकत्वं न सम्भवत्येवेति स्थिर एव पूर्वगृहीतः श्रौतोऽग्निरग्निहोत्रकर्तुर्ब्राह्मणस्येति, तेन यथापूर्वमग्निहोत्रादिकर्म सम्यगनुष्ठेयम्। प्रयोजककर्तृपुत्रादिभिरपि स्वपितृप्रवर्तितं कर्मवृत्त्युपकल्पनद्वारा यथापूर्वमेव सम्यग्रक्षणीयमित्येव धर्मतत्त्वविदां मतम्।

११—मन्दिरादिगृहनिर्माणे शिलास्थापनदिशो व्यवस्था

मन्दिरादिगृहनिर्माणार्थमादौ शिलान्यासकर्म कर्तव्यत्वेन विहितम्। शिलाश्च चतुर्षु कोणेषु मध्येषु स्थापनीयत्वेन विहिताः। तच्च स्थापनं कस्मात्कोणादारभ्य कर्तव्यमिति विषये—ज्यौतिषग्रन्थाः सर्वेऽपि अग्निकोणादारभ्यैव शिलास्थापनं कर्तव्यत्वेन विदधति। यद्यपि पारस्करगृह्ये वास्तुप्रकरणे शालाकर्मणि शालानिर्देशो न कृतः, तथाऽपि भाष्यकारेण अग्निकोणमारभ्यैव शिलास्थापनं लिखितम्। तदेव भाष्यकारवचनानुसारेण सर्वे पद्धतिकाराः आग्नेयकोणमारभ्यैव लिखन्ति। अयमेव चाचारः अस्मासु प्रायशः सर्वेषु देशेषु प्रचलति।

अतश्च यदिदम् आग्नेयकोणादारभ्य शिलास्थापनं तत्सर्वं ज्यौतिषग्रन्थविहित-भाष्यकारेणोल्लिखितं सर्वपद्धतिकारादृतं प्राचीनशिष्टाचारानुमोदितं चेति। अस्माभिरपि इदानीन्तनैरयमेव पन्था अनुसरणीयः। विश्वकर्मप्रकाशाख्ये वास्तुविद्याग्रन्थे संस्कारदीपके च ईशानकोणादारभ्य शिलान्यासो विहितः। वीरमित्रोदये राजनीतिप्रकाशेऽपि ईशानकोणादारभ्य शिलान्यास उक्तः। ग्रन्थ-द्वयमिदं वर्जयित्वाऽन्यत्र क्वचिदपि न ईशानकोण उक्तः। यदि तु क्वचित्कदा-चित्कैश्चित् ईशानकोणस्य ग्राह्यत्वमुक्तं स्यात्तत्तु सर्वानपि अग्निकोणविधायकान् ग्रन्थान् पृष्ठीकृत्य ग्रन्थद्वयमात्रमिदमवलम्ब्य उक्तं भवेत्। यदि च मयाऽपि क्वचित्कदाचिदयं पक्षः अनुमोदितो भवेत्तदनुमोदनं पूर्वोक्तग्रन्थद्वयमात्रप्रामाण्य-पक्षपातिमात्रग्राहिणं पुरुषं प्रति। तस्यापि ग्रन्थद्वयस्य प्रमाणकोटिनिविष्टत्वेन तदीयं प्रामाण्यमनपलपितुमेव कृतम्, परन्तु अग्निकोणपक्ष एव ज्योतिःशास्त्र-भाष्य-पद्धतिकारशिष्टाचारादिभिः सर्वैरप्यनुमोदितः श्रेष्ठतरः पक्ष इति।

१२—अवभृथस्नानविचारः

रुद्र-विष्णुयागादिषु कर्मसमापनान्तेऽवभृथस्नानं क्रियते, तद्युक्तं न वेति विचारे युक्तमित्येव प्रतिभाति। ज्योतिष्टोमादिसोमयागेषु कर्मसमाप्त्यनन्तरं नद्यां तडागे वा अवभृथेष्टिं कृत्वा तत्र सर्वैः स्नानं कर्तव्यमिति विधिरस्ति। अयं चावभृथो मुख्यः परिगण्यते। एवं दर्शपूर्णमासयोरप्यवभृथस्नानं विहितम्। "एष वै दर्शपूर्णमासयोरवभृथः यदपां व्युत्सेकः" इति। अत्र नदी-तडागादिष्व-वगाहनपूर्वकमुख्यावभृथस्नानाभावेऽपि अपां व्युत्सेकरूपगौणावभृथस्नानं तत्र कर्तव्यत्वेन विहितम्। तद्वत् प्रकृतेऽपि रुद्रादियागे कर्मणः साङ्गत्वसिद्ध्येऽन्ते गौणावगाहनस्नानं कृतमपि न दोषाय भवेत्। यद्यपि कुत्रापि विधिर्नावलोक्यते "अवभृथस्नानं कर्तव्यम्", तथापि यागसमाप्त्यनन्तरं पुण्येषु तीर्थेषु तदङ्गत्वेना-वभृथस्नाने कृते न कोऽपि दोषः। प्रत्युतावभृथस्नानकरणेनैव कर्मणः साद्गुण्यं भवेदिति शिष्टाचारस्य वर्त्तमानत्वादवश्यमाचरणीयमवभृथस्नानम्। शिष्टाचारस्यापि प्रामाण्यस्य व्यवस्थापनात् मीमांसाशास्त्रे। अतस्तदनुरोधेनावश्यमेवावभृथस्नान-माचरणीयमिति।

१३—*दत्तकविषये व्यवस्था

अपुत्रस्य सन्तत्यविच्छेदार्थं स्वस्य पैतृकानृण्यसिध्यर्थञ्च सत्यां दत्तकविधानेन पुत्रजिघृक्षायां कीदृशो दत्तको ग्रहीतव्य इति विषये विचारपथं गते सति एतद्विषयक-

---

* स्व० श्रीमन्महाराजाधिराजकाशिराजश्रीमदादित्यनारायणसिंहमहोदयैः वर्त्तमान महाराजाधिराजकाशिराजश्रीविभूतिनारायणसिंह एम० ए० महोदयो यो दत्तकरूपेण गृहीत-स्तस्मिन्नवसरे म० म० पण्डितश्रीविद्याधरगौडमहोदयैः प्रदत्तेयं व्यवस्था वर्त्तते।

सर्वधर्मशास्त्रग्रन्थालोडनेन समासादितोऽयं निर्णयः—

"माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः॥"
"दद्यान्माता पिता यं वा स पुत्रो दत्तको भवेत्।"
"ब्राह्मणानां सपिण्डेषु कर्तव्यः पुत्रसंग्रहः।
तदभावेऽसपिण्डो वाऽन्यत्र तु न कारयेत्॥"
"अदूरबान्धवं बन्धुसन्निकृष्टमेव प्रतिगृह्णीयात्।"

इत्यादिमनु-याज्ञवल्क्य-शौनक-वसिष्ठादिवचनात् सति सम्भवे बन्धुसन्निकृष्टस्य जातिकुलगुणादिभिः सदृशस्य मातापितृभ्यां प्रीतिपूर्वकं दत्तस्य दत्तकहोमाद्यनुष्ठानपूर्वकं गृहीतस्य स्वसपिण्डसगोत्रस्य जातकर्मादिभिः संस्कृतस्य च पुत्रत्वं सिध्यतीत्यवगम्यते। तस्यैव च मुख्यं दत्तकत्वम्। अन्येषान्तु गौणत्वमिति गम्यते। सगोत्रसपिण्डाभावे तु असगोत्रसपिण्डस्य दत्तकरूपेण ग्राह्यत्वम्, "ब्राह्मणानां सपिण्डेषु" इति शौनकवचने समानासमानगोत्रजसपिण्डमात्रवाचिपदप्रयोगात्। तच्च सापिण्ड्यं द्विविधम्—एकपिण्डान्वयित्वेन एकशरीरान्वयित्वेन च। "अवश्यञ्चैकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यं वर्णनीयम्" इत्यादिना मिताक्षरादौ एकशरीरान्वयित्वरूपसापिण्ड्यस्याऽपि अवश्याभ्युपगमात्। एवञ्चैकपिण्डान्वयिपुरुषालाभे एकशरीरान्वयिरूपसपिण्डस्यैव ग्रहणं कर्तव्यम्। न चैवं शङ्कनीयम्—एकशरीरान्वयिरूपसापिण्ड्यस्य विवाहमात्रविषयकत्वान्न दत्तकविषये प्रवृत्तिरिति।

दत्तक्रीतादिपुत्राणां बीजवप्तुः सपिण्डता।
पञ्चमी सप्तमी तद्वद् गोत्रं तत्पालकस्य च॥

इति बृहन्मनुवचनेन तस्य दत्तकविषयेऽप्यतिदेशदर्शनात्। अत एव च प्रतिग्राह्यपुत्रक्रमनिरूपणावसरे 'तत्राऽयं सपिण्डसगोत्रो मुख्यः, उभयथाऽपि प्रत्यासत्तेः। तदभावेऽसगोत्रः सपिण्डः, सापिण्ड्यप्रत्यासत्तेः' इति समानगोत्रः सपिण्डो मुख्यः, तदभावेऽसमानगोत्रः सपिण्डः। यद्यप्यसमानगोत्रः सपिण्डः समानगोत्रोऽसपिण्डश्चेत्युभावपि तुल्यकक्ष्यौ, एकैकविशेषणराहित्यादुभयोः, तथाऽपि गोत्रप्रवर्तकपुरुषात् सापिण्ड्यप्रवर्तकपुरुषस्य सन्निहितत्वेनाऽभ्यर्हितत्वम्। तेन च 'असमानगोत्रोऽपि सपिण्ड एव ग्राह्यो मातामहकुलीनः' इति च वीरमित्रोदय-दत्तकमीमांसाकारौ कण्ठरवेणोचतुः। एवञ्च सगोत्रसपिण्डाभावे तदनन्तरमसगोत्रसपिण्डस्य स्वमातामहकुलीनस्यैव दत्तकविधया ग्राह्यत्वं शास्त्रतः सिद्ध्यति।

एवं "ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः" इति मनुवचनानुमितं "न ज्येष्ठं पुत्रं दद्यात्" इति मिताक्षरीयं वचनम्, तद्दातारमेव स्पृशति न तु प्रतिग्रहीतारम्। अतश्च ज्येष्ठपुत्रदाननिषेधोल्लङ्घनेन तद्दाने दातुरेव दोषः, न प्रति-

ग्रहीतुः, न वा दत्तकत्वस्याऽसिद्धिः—इति दत्तकमीमांसा-मयूखकारादीनां मिताक्षराशयं वर्णयतामयमेव सिद्धान्तः।

एवं "नैकपुत्रेण कर्तव्यं पुत्रदानं कदाचन" इत्येकपुत्रदाननिषेधपरे "बहुपुत्रेण कर्तव्यं पुत्रदानं विशेषतः" इति शौनकीये वाक्ये बहुपुत्रपदश्रवणमेकत्वसङ्ख्याधिकसङ्ख्याक-पुत्रवत्परं सदनुवादः। अन्यथा पूर्वोत्तरार्धयोः पृथक्पृथग्विधिनिषेधाङ्गीकारे वाक्यभेदप्रसङ्गात् ग्रन्थान्तरविरोधाच्च। अत एव बालम्भट्ट्यां मतान्तरनिरासपूर्वकमयमेव पक्षः सिद्धान्तितः। तस्माद् द्विपुत्रेणाऽपि पुत्रदानकरणे न दोषः।

एवञ्च सति श्रीकाशीमहाराजैः श्रीमदादित्यनारायणसिंहमहोदयैः पूज्यतमायाः स्वमातुराज्ञया यः स्वमातामहवृद्धप्रपौत्रः तन्मातापितृभ्यां प्रीतिपूर्वकं दत्तः दत्तकहोमाद्यनुष्ठानपूर्वकं ज्येष्ठपुत्रोऽसगोत्रसपिण्डो गृहीतः श्रीविभूतिनारायणसिंहमहोदयः, स शास्त्रीयया दृष्ट्या सर्वप्रकारेण दत्तकतामर्हत्येवेति।

१४—सपिण्डीकरणश्राद्धे ज्ञातिभोजनविषये विचारः

सपिण्डीकरणश्राद्धानन्तरं ब्राह्मणान् भोजयित्वा ततो ज्ञाति-भोजनमिति कृत्वा क्वचित् सजातीयाः स्वशक्तिमतिक्रम्यापि भोज्यन्ते, तत् सजातीयभोजनं शास्त्रारूढं न वेति विचारे इत्थम् शास्त्रपर्यालोचननिर्गलितो निर्णयः—ज्ञातिशब्देन सर्वत्र स्मृतिकारैः सपिण्डाः समानोदका एव च गृह्यन्ते, न सजातयः। यथा—

"सर्वे ज्ञातयोऽपोऽभ्यवयन्त्यासप्तमात्पुरुषाद्दशमाद्वा" (पा० गृ० सू० ३।१०।१६)

"ज्ञातयः सपिण्डाः समानोदकाश्च" इति कर्क—हरिहर—गदाधरभाष्ये च।

"तां ज्ञातयोऽन्वारभन्ते" (आप० पितृमेध सू० ४।५)

"ज्ञातयः सकुलाः" इति गोपालस्तद्व्याख्याता।

"सप्तमाद्दशमाद्वापि ज्ञातयोऽभ्युपयन्त्यपः" (याज्ञ० प्राय० ३)

"निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः॥" (मनु० ५।७७)

"ज्ञातयः समानगोत्राः सपिण्डाः समानोदकाश्च" (मिताक्षरा)

"निर्दशाहसपिण्डमरणं श्रुत्वा" इति तद्व्याख्या कुल्लूकभट्टकृता।

"सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः।" (अमरकोश २।६।३४)

"सगोत्रः, बान्धवः, ज्ञातिः, बन्धुः, स्वः, स्वजनः" इति षट् सगोत्रस्य इति तट्टीका।

प्रमाणैरेतैर्ज्ञातिशब्देन सपिण्डानां समानोदकानामेव ग्रहणात् तेषामेव तत्र तत्र श्राद्धशिष्टान्नभोजने विधिदर्शनात् तदितरेषां श्राद्धशिष्टान्नभोजने—

"पित्रादीनामथान्येषां[1] श्राद्धशेषान्नभोजनम्।
व्रतिनां विधवानां च यतीनां च विगर्हितम्॥"
"श्राद्धावशिष्टभोक्तारस्ते वै निरयगामिनः।
सगोत्राणां सकुलानां ज्ञातीनां च न दोषकृत्।
विप्रस्त्वन्यगृहे श्राद्धशिष्टान्नं भोजनं चरेत्।
प्राजापत्याद्विशुद्धः स्यात् ज्ञातिभोजे न दोषकृत्॥"

इति निर्णयसिन्धुहेमाद्र्यादिवचनेन निषेधदर्शनात् ज्ञातिभ्य इतरेषां भोजनस्य धर्मशास्त्रे विध्यभावाच्च, यदिदं सजातीयभोजनं तदशास्त्रीयमेव। नैवमाशङ्कनीयं यदिमानि शास्त्राणि श्राद्धशिष्टान्नभोजनस्यैव निषेधपराणि, नतु दिनान्तरे पृथक् पक्वान्ननिषेधपराणि।

"प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्।
ज्ञातिभ्यः सत्कृते दत्त्वा ब्राह्मणानपि भोजयेत्॥"
"निवृत्ते पितृमेधे तु दीपं प्रच्छाद्य पाणिना।
प्रक्षाल्य पाणी आचम्य ज्ञातीन् शेषेण भोजयेत्॥"

इति मनु-देवल-विहित-ज्ञातिभोजनाच्च अतिरिक्तस्य स्वसजातीयभोजनस्य कुत्रापि विधेरदर्शनात्। अतः सपिण्डनानन्तरं स्वसजातीयभोजनं न शास्त्रविहितमिति तत्करणे अविहितानुष्ठानरूपदोषप्राप्तिमन्तरा न कञ्चन फलविशेषं पश्यामः।

१५—पञ्चायतनदेवतास्थापनविचारः

पञ्चायतनदेवतास्थापने प्रसिद्धा प्राची ग्राह्या, मन्त्रशास्त्रोक्ता देवाभिमुखत्वादिरूपा कल्पिता प्राची वा इति शङ्कायामिदमुत्तरम्—मन्त्रशास्त्रोक्ता कल्पिता प्राच्येव पञ्चायतन-देवता-स्थापनादौ ग्राह्या।

"देवस्य मुखमारभ्य दिशं प्राचीं प्रकल्पयेत्।" इति।
"शम्भौ मध्यगते" इति श्लोकव्याख्याने निर्णयसिन्धूक्तेः।
"पूज्यपूजकयोर्मध्ये प्राची प्रोक्ता विचक्षणैः" इति तच्छ्लोकव्याख्याने

---

१. अन्ये—भिन्नगोत्राः।

पूजाप्रकाशे मित्रमिश्रोक्तेश्च । तस्मान्मन्त्रशास्त्रोक्तकल्पितप्राच्यनुसारेण पञ्चायतन-देवता-स्थापनं युक्ततरम् । केचित्तु केवलवैदिकपूजने मन्त्रशास्त्रोक्तकल्पितप्राचीम-नादृत्य प्रसिद्धप्राच्यनुसारेण पञ्चायतनदेवतास्थापनं वदन्ति । कैश्चित् साम्प्रदायि-कैस्तथैवाचरणात् । देवमन्दिरेषु स्थापनं चोभयथा दृश्यते । मन्त्रशास्त्रोक्तप्राची-ग्रहणपक्षश्च आसेतुहिमाचलं समादृतनिर्णयसिन्ध्वादिमहानिबन्धसम्मतः शिष्टाचार-सम्मतश्च । प्रसिद्धप्राचीग्रहणपक्षश्च टीकोद्धृतानां केषाञ्चित्सम्मतः शिष्ट-सम्प्रदायसिद्धश्च । तस्मात् कल्पितप्राच्यनुसारि स्थापनं शुभावहतरम् । प्रसिद्ध-प्राच्यनुसारि स्थापनमपि न दोषावहम्, किन्तु शुभावहमेव सम्प्रदायसिद्धत्वात् । अत्रानुष्ठाने रुचिरेव नियामिका, न कोऽपि कस्यचिद् गर्ह्य इत्यलं पल्लवितेन ।

१६— मातृपितृमरणे संवत्सरपर्यन्तं शुभकर्मनिषेधः

प्रमीतौ पितरौ यस्य देहस्तस्याशुचिर्भवेत् ।
न दैवं नापि पित्र्यं वा यावत्पूर्णो न वत्सरः ॥

इति निषेधात् पुत्रेण वर्षपर्यन्तं किमप्यनापत्तौ नानुष्ठेयम् । अन्यमरणेऽपि —

प्रेतकर्माण्यनिर्वर्त्य चरेन्नाभ्युदयक्रियाम् ।
आचतुर्थं ततः पुंसि पञ्चमे शुभदं भवेत् ॥

इति निर्णयसिन्धुधृतमेधातिथिवचनात् चतुःपुरुषपर्यन्तं वर्षं यावत्काम्य-कर्मणोऽननुष्ठानमिति ।

१७—मातापित्रोर्मृते संवत्सरपर्यन्तमार्त्विज्यनिषेधः

मातापित्रोर्मृते संवत्सरं यावदनापदि विष्णुयागादौ आर्त्विज्यं न कार्यम् । "आरम्भो वरणं यज्ञे" इति वचनात् ऋत्विजामपि मधुपर्कानन्तरं यद्यप्याशौचा-भावो निर्णयसिन्ध्वादावुक्तः, तथापि नायं पक्षः सुसमीचीनः ।

१८— गायत्र्या जप-होम-स्वाध्यायादौ प्रणवयोजनविचारः

गायत्र्या जप-होम-स्वाध्यायादौ प्रणवसाहित्यमुक्तं ग्रन्थेषु, तत्र कुत्र कैः कियन्तः प्रणवाः संयोजनीया इति संशये निम्नलिखितः तत्तदाश्रमपुरस्कारेण प्रकारो धर्मशास्त्रेषु निर्णीतः । गृहस्थब्रह्मचारिभिः जपे प्रथमं प्रणवमुच्चार्य ततो व्याहृती-श्चोच्चार्य ततो गायत्री जप्तव्या । होमे तु तथैव प्रयुज्य अन्ते स्वाहाकारोऽपि योजनीयः । सम्पुटगायत्री तु संन्यासिनामेव, एवं षडक्षरापि ।

प्रणवः पूर्वमुच्चार्यो भूर्भुवः स्वस्ततः परम् ।
गायत्री प्रणवश्चान्ते जपो ह्येवमुदाहृतः ॥
एषा सम्पुटगायत्री सर्वपापप्रणाशिनी ॥ इति ।

"उभयतःप्रणवां सव्याहृतिकां जपेत्" इति बौधायनः ।

षडोङ्कारां जपेद्विप्रो गायत्रीं मनसा शुचिः ।
तिस्रो व्याहृतयः पूर्वं पृथगोङ्कारसंयुताः ॥
पुनः संहृत्य चोङ्कारं मन्त्रस्याद्यन्तयोस्तथा ।

इदं द्वयमपि संन्यासिविषयम् ।

स्मृतिरत्नावल्याम्—

सम्पुटैकषडोङ्कारा गायत्री त्रिविधा मता ।
तत्रैकप्रणवा ग्राह्या गृहस्थैर्जपकर्मणि ॥
गृहस्थवत्तु जप्तव्या सदैव ब्रह्मचारिभिः ।
सम्पुटा च षडोङ्कारा भवेतामूर्ध्वरेतसाम् ॥

ऊर्ध्वरेतसो नैष्ठिकब्रह्मचारिवानप्रस्थप्रभृतयः ।

यो न वाञ्छति सन्तानं मोक्षमिच्छति केवलम् ।
अन्त्योङ्कारमसौ कुर्वन्नक्षरं पदमाप्नुयात् ॥ इति ।

स्मृतिसारसमुच्चये—

गृहस्थो ब्रह्मचारी च प्रणवाद्यामिमां जपेत् ।
अन्ते यः प्रणवं कुर्यान्नासौ वृद्धिमवाप्नुयात् ॥ इति ।

संवर्तः—"प्रणवाद्यां तु सन्ध्यायां जपेद् व्याहृतिभिः सह ।" इति ।

मनुः—एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ इति ।
"प्रणवव्याहृतीः सार्द्धं स्वाहान्ता होमकर्मणि ।" इति ।

नित्यस्वाध्याये तु दशप्रणवा गायत्री अध्येतव्यत्वेनोक्ता । तस्याः स्वरूपं तु स्मार्तोल्लासे स्पष्टम् ।

प्राणायामेऽपि दशप्रणवा गायत्री स्मर्यते सर्वत्र । वस्तुतस्तु योगियाज्ञवल्क्य-सिद्धान्तानुसारेण आदावन्ते च जपे प्रणवसंयोजनं सर्वैः कर्तव्यम् । यत्तु 'गृहस्थो ब्रह्मचारी च प्रणवाद्यामिमां जपेत्' इति मतेन आदावेव प्रणवसंयोजनं हरिहरादिभाष्यविरोधादुपेक्ष्यम् । अतएव वीरमित्रोदयेनापि निजाह्निकप्रकाशे आद्यन्तप्रणवसंयोजनमेव स्पष्टतः समर्थितम् । किन्तु जपादन्यत्र गृहस्थो ब्रह्मचारी च आदिप्रणवां गायत्रीं प्रयुञ्जीत ।

१६—गायत्रीजपे आनुपूर्वीविचारः

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति (यो०सू० १।२८) योगसूत्ररीत्या अर्थानुसन्धानपूर्वकं

जपः कर्तव्य इति सम्प्रदायः। तत्र 'णियम्' इत्यस्योच्चारणे अर्थावबोधो न संम्पद्यते। एवञ्च जपे 'वरेण्यम्' एव प्रयोज्यम्। इदमेव मतं गायत्रीपुरश्चरणपद्धत्या विश्वामित्र-कल्पेन च समर्थ्यते। 'इयादि पूरणः' (पिङ्गल० सू० ३।२) इति पिङ्गल-छन्दस्सूत्रानुसारेण 'णियम्' इति प्रयोगस्तु केवलं पादपूर्त्तये। तथा च चतुर्विंश-त्यक्षरत्वं गायत्र्याः सुयोज्यते।

२०—गयाश्राद्धभेदादिविचारः

गयाश्राद्धे चिकीर्षिते घृतश्राद्धं पार्वणविधिना कृत्वा गयां प्राप्य तत्र तीर्थ-प्राप्तिनिमित्तकं फल्गुतीर्थे श्राद्धं तीर्थविधिना अर्घावाहनादिवर्जं कुर्यात्। ततः प्रेतपर्वतश्राद्धमारभ्य सर्वाणि श्राद्धानि पार्वणविधिना कार्याणि, नतु तीर्थश्राद्ध-विधिना। तथाहि गयाश्राद्धपद्धतौ 'इदं प्राप्तिनिमित्तकमेव कार्यम्' नतु तदन्तर्गत-प्रेतशिलादितीर्थान्तरेषु दिनान्तरेषु वा कर्तव्यम्, व्यवहाराभावात् तन्त्रादिन्यायात् प्रधानन्यायाच्च। एवमेव सकलशिष्टाचारोऽपि। तथैव प्रामाणिकग्रन्थसिद्धव्यव-हारोऽपि। एवं च प्रेतशिलादौ पार्वणविधिनैव अविकृतेनैव पार्वणं वक्ष्यमाणरीत्या षोडशदैवं करणीयम्।

तीर्थचिन्तामणौ—'गयाप्राप्त्यनन्तरमेवार्घावाहनादिरहितपार्वणेतिकर्तव्यताकं श्राद्धं कुर्यात्' प्रेतशिलादौ तु पार्वणेतिकर्तव्यताकमेव, नत्वर्घावाहनादिसहितम्। गयाश्राद्धस्य प्रकृतिश्राद्धं प्रेतशिलाश्राद्धं तत्र सर्वाङ्गोपदेशात्। एवमेव ढोण्ढुमिश्र-मैथिल-जीवानन्द-रघुनन्दन-अनन्तदेव-वाचस्पति-नारायणभट्टकृतपद्धतौ च।

लघुत्रिस्थलीसेतौ—तच्च श्राद्धं प्राप्तिदिने 'फल्गु'नद्यामप्यावाहनवर्जं तीर्थ-श्राद्धवत्कार्यमित्यविवादम्। प्रेतपर्वत-पदवटादावपि तथैव। तेषां च स्थलतीर्थत्वादिति केचित्। वयं तु—तेषां स्वतन्त्रतीर्थत्वं गयाकृत्यान्तर्गतत्वं वेत्यन्यदेतत्, वस्तुतस्तु सप्तपञ्चादिदिनसाध्यं गयाकृत्यमेकं कर्म। तथाऽथशब्दादिभिः क्रमोक्तेः। अथ जिह्वाया अथ वक्षस इतिवत्। न विभिन्नप्रयोगविधिग्रहे क्रमोऽङ्गं भवतीत्येकं कर्म। तत्र च तीर्थप्राप्तेः सकृन्निमित्तत्वादादावेव तीर्थम्। अन्यानि तु भिन्नानीत्यावाहनादि तत्र कार्यमेवेत्ययं पन्थाः—इति युक्तमुत्पश्यामः।

गयामाहात्म्ये—प्रेतशिलायामावाहनादिसहितसकलं पार्वणमुक्त्वा "सर्व-स्थानेषु चैवं स्यात्पिण्डदानं तु नारद" इति प्रेतपर्वतश्राद्धस्य तदग्रिमश्राद्धेष्वतिदेशः। एवं च गयाश्राद्धं सर्वपार्वणविधिनैव, नतु तीर्थविधिनेति निरवद्यमिति।

२१—दत्तकस्य गयाश्राद्धादिविचारः

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्त्रिमः सुतः।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥ (मनु० ९।१४२)

इति वचनेन जनयितृपिण्डदानस्य दत्तकपुत्रेण अकर्तव्यतया ग्रहीतुरेव पितुः सांवत्सरिकगयाश्राद्धादीनां कर्तव्यताविधानात् "एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्" इत्यादि-अत्रिसंहितावचनेन गयाश्राद्धस्यावश्यकत्वात् "पिण्डोदक-

क्रियाहेतोर्नाम संकीर्तनाय च" इति वचनेन पिण्डदानार्थमेव दत्तकस्य ग्रहणाच्च जनयितृपितृसत्त्वेऽपि मृतग्रहीतृस्वपितृकस्य दत्तकस्य गयाश्राद्धादावधिकारः। शास्त्र-दृष्ट्या जनयितुः पितुः पितृत्वमेव नास्ति, किन्तु लोकव्यवहारेण तत्र गौणमेव पितृत्वम्।

२२—प्रेतोद्देश्यकश्राद्धे दत्तानि सर्वाण्यपि वस्तूनि महापात्रस्यैव

प्रेतोद्देश्यकश्राद्धे यानि वस्तूनि दीयन्ते, तानि सर्वाणि महापात्रस्यैव भवन्ति। पुरोहितेन प्रेतोद्देश्यकं द्रव्यं यदि गृह्येत तर्हि तेन प्रायश्चित्तं करणीयम्। अत्र प्रमाणानि प्रायश्चित्तविवेके अभक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे सन्ति, तानि तत्रैव द्रष्टव्यानि।

२३—विप्रहस्ते दर्भासनदानस्य नैष्फल्यम्

ब्राह्मणहस्ते देव-पितृ-मनुष्य-प्राजापत्याग्नि-तीर्थानां सद्भावात् हस्तविन्यस्तेषु दर्भेषु ममेदमिति देवादीनां कलहः स्यात्। अतएव नागरखण्डे हस्ते दर्भासन-दानस्य वैफल्यमुक्तम्—

हस्ते तोयं परिक्षेप्यं नो दर्भास्तु कथञ्चन।
यो हस्ते चासनं दद्यात्तं दर्भं बुद्धिवर्जितः॥
पितरो नाशये तत्र प्रकुर्वन्ति निवेशनम्।

यत्तु प्रचेतसोक्तं 'गृह्णीयुस्ते तु तान् कुशान्' इति तदपि मनसा स्वीकुर्युरिति व्याख्येयम्, नतु हस्ते गृह्णीयुरित्यतो न विरोधः। देवस्वामी तु मन्यते—यः पाणौ दर्भदानप्रतिषेधः स आसनास्तरणार्थदर्भविषयः। यस्तु ग्रहणविधिः स याज्ञवल्क्य-वचनात्तस्य पर्यालोचनया पाणावेव विष्टरार्थं कुशविषय इति—तदयुक्तम्। आसनास्तरणार्थानां दर्भाणां विप्रहस्ते प्रदानाप्रसक्तेः प्रतिषेधानवकाशादिति हेमाद्रौ।

२४—त्यक्तशिखासूत्रस्य पुनर्गार्हस्थ्यप्रवेशे प्रायश्चित्तम्

प्रमादवशात् परित्यक्तशिखासूत्रः कृतोद्वाहः सपितृमातृको कश्चन ब्राह्मण-कुमारः पुनर्गृहस्थाश्रमं चिकीर्षुः पुनरुपनयनादिसंस्कारेण शुद्धो भवितुमर्हति नवेति प्रश्ने—धर्मशास्त्रोक्तविधिना प्रकृतत्र्यब्दप्रायश्चित्तः पुनरुपनयनादिसंस्कार-संस्कृतः 'सर्वेषामेव पापानां जपः प्रायश्चित्तमीरितम्' इत्याद्युक्त्या द्वादशसहस्र-गायत्रीजपेन शुद्धो भवितुमर्हति। प्रमाणं च प्रायश्चित्तविवेके संस्कार-भास्करे च वर्तते।

२५—असच्छिष्यस्य न गुरुधनभागिता

कश्चिद् ब्राह्मणः कस्यचिद्यतेर्धनग्रहणार्थं तच्छिष्यतया साधुरूपेण वर्तमानः पश्चादसच्छिष्योऽयमिति गुरुणा परित्यक्तस्तदीयधनभागी भवितुमर्हति नवेति प्रश्ने नार्हतीति विदुषां परामर्शः। तथा च याज्ञवल्क्यः (व्यवहार० १३७)—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः।
क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः॥

क्रमेण प्रतिलोमक्रमेणेत्यर्थः।

२६—सच्छिष्यस्यैव यतिधनभागिता

कस्यचिद्यतेः पार्श्वे लुब्धो ब्राह्मणसुतः छद्मना मठे गतः। यत्र तत्र गत्वा स्वीयैर्ब्राह्मण इति व्यपदिश्यमानो यतेः सर्वस्वं परिगृह्य यतेर्व्यामोहं कृतवान्। स च तादृशः कदाचित् यतिना लक्षितः। ततोऽन्यः कश्चन विरक्तः शिष्यः कृतः। याते च काले कदाचित् यतिः मृतः। पश्चान् स कपटवेषपटुरसच्छिष्यः तां गुरुसम्पत्तिं कस्यचिदन्यस्य यतेः पार्श्वे विक्रीय द्रव्यं गृहीत्वा स्वपत्न्या सह स्वग्रामे तिष्ठति। किं स एव तद्धनमर्हति विरक्तो वा तच्छिष्य इति संशये एष निर्णयः—

तस्य यतेर्यः सच्छिष्योऽन्यतः परावर्त्य तदर्पणमर्हतीति। यथोक्तं याज्ञवल्क्येन—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः।
क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः॥

क्रमश्च विपरीतक्रमो बोध्यः। तथा चायमर्थः—'ब्रह्मचारिणो नैष्ठिकस्य धनमाचार्यो गृह्णाति। उपकुर्वाणस्य तु ब्रह्मचारिणः भ्रात्रादयो गृह्णन्ति। यतेस्तु धनं सच्छिष्य एव गृह्णाति। दुर्वृत्तस्याचार्यादेरपि भागानर्हत्वे किमु वक्तव्यं तादृशस्य शिष्यस्येति। वानप्रस्थस्य धनं एकाश्रमिणा धर्मभ्रात्रा लभ्यत इति। तथा च प्रकृतकपटवेषपटोर्गुरुप्रतारकत्वेनासच्छिष्यत्वात् तद्धनलाभानर्हता। अन्य एव सच्छिष्यस्तद्धनं लब्धुं योग्य इति।

२७—कर्मकालेऽशुचिस्पर्शादौ शुद्धिविचारः

यज्ञादिकर्मकाले मूषक-पल्ली-सरट-गोधा-वायस-सच्छूद्रादिस्पर्शे स्नानम्, दर्शने त्वाचमनम्। मार्जारस्यान्याङ्गसंस्पर्शे आचमनम्, चाण्डाल-रजस्वला-शूद्रादिसंभाषणेऽशुचिदर्शनेऽपि स्नानम्, तद्दर्शने त्रिराचमनम्, स्त्रीशूद्राणाममन्त्रकं प्राणायामाः।

मनुः—आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान्मन्त्रान् यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः॥ इति।

बृहस्पतिः—स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च मक्षिका मशकादयः।
मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः॥ इति।

२८—रोगार्तनित्यकृत्यलोपे विचारः

(क) रोगार्तस्य गृहस्थस्य स्नान-सन्ध्या-देवर्षिपितृतर्पण-वैश्वदेव-देवार्चालोपे "वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे" (मनु० ११।२०३) इत्यादिवचनेन अनातुरस्य एकस्य परित्यागे एकस्योपवासस्य विधानेऽपि आतुरस्य—

राष्ट्रक्षोभे नृपक्षोभे रोगार्तौ क्षयसूतके।
सन्ध्यावन्दनविच्छित्तिर्न दोषाय कदाचन॥

इति गौतमवचनेन दोषाभावस्मरणेऽपि "अत्रापि यथासंभवमाचरणीयम्, लोपे तु किञ्चित् प्रायश्चित्तम्" इति प्रायश्चित्तमञ्जरीकारवचनात् तत्रैव पूर्वमापदि दिनत्रयातिक्रमे उपवास इत्युक्तत्वाच्च स्नानादेर्नित्यकर्मण एकैकस्य दिनत्रयातिक्रमे एक उपवासः, अनेकेषामतिक्रमे 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिका वृत्तिः' इति न्यायेन उपवासा वृत्तिः प्राप्नोति । एवं च यावत्सु दिनत्रयेषु सन्ध्यादीनां लोपः सञ्जातस्तावन्त उपवासा निमित्तभेदेन कर्तव्यतां प्राप्नुवन्ति । तदशक्तौ उपवासषट्कप्रतिनिधित्वेन एकं प्राजापत्यं परिकल्प्य यावन्त्युपवासषट्कानि तावन्ति प्रत्याम्नायकृच्छ्राणि कार्याणि । तत्राप्यशक्तौ तावत्संख्याका गावो देयाः ।

(ख) ज्वरार्तस्य द्विजस्य स्नान-सन्ध्या-देवर्षि-पितृ-तर्पण-वैश्वदेव-देवार्चालोपेन यो दोषः समजनि तद्दोषपरिहाराय आपदि नित्यकर्मणां दिनत्रयावधिकलोपे एकोपवासस्य धर्मशास्त्रेषु विधानात् एकैकस्य लोपे एकैक उपवास इति पञ्चानां स्नानादीनां दिनत्रयावधिकलोपे पञ्चोपवासा इति आहत्य परिगणनया सार्द्धमासद्वये सन्ध्यादिलोपे पञ्चविंशत्यधिकशतोपवासानां प्राप्तत्वात् तावतामुपवासानां स्वरूपतः कर्तुमशक्यत्वेन तत्प्रतिनिधित्वेन उपवासषट्कस्य एकप्राजापत्यपरिकल्पनया एकविंशतिप्राजापत्यं कृच्छ्राणां प्रतिनिधित्वेन एकविंशतिगोमूल्यं वेति ।

२६—पूर्वसङ्कल्पितस्यानुष्ठानविचारः

(क) यदि कश्चिदार्तः पूर्वं मनसा सङ्कल्पितं बहुदिनसाध्यं गायत्रीपुरश्चरणादिकं कर्म चिकीर्षन् शुक्रास्तादिदोषरहितकालागमनपर्यन्तं जीविते संशयमापन्नस्तादृशदोषदूषित एव काले स्वसङ्कल्पं पूरयितुमभिलषति तदनुष्ठानं शास्त्रीयमस्ति न वेति विचारे इदमुत्तरम्—

स्वसङ्कल्पितस्य स्वेनैव समापनीयस्य षाष्ठन्यायसिद्धत्वात् दोषापगमं यावज्जीवनस्यानिश्चितत्वेन सङ्कल्पितकर्मणोऽनन्यगतिकत्वात् अनुष्ठातव्यत्वमेव ।

"कालेऽनन्यगतिं नित्यां कुर्यान्नैमित्तिकीं क्रियाम् ।"

तथा—"नैमित्तिकं तु कुर्वीत सावकाशं न यद् भवेत् ।"

इत्यादिवचनबलादुत्तरत्र—अतएव "सावकाशं च सम्भवति, निरवकाशस्य कर्मणो दोषयुक्तेऽपि कालेऽनुष्ठानं न दोषायेति गम्यते" इति निरवकाशस्यानन्यगतिकस्य प्रतिप्रसवोऽर्थात् सिद्धः ।

कर्म कुर्यात्फलावाप्त्यै चन्द्रादिशोभने बुधः ।
स्वस्थकाले त्विदं सर्वं नार्तकालमपेक्षते ॥
स्वस्थकाले त्विदं सर्वं सूतकं परिकीर्तितम् ।
आपद्गतस्य सर्वस्य सूतकेऽपि न सूतकम् ॥

व्यतीपातोऽथ संक्रान्तिस्तथैव ग्रहणं रवेः ।
पुण्यकालास्तदा सर्वे यदा मृत्युरुपस्थितः ॥

एवञ्च पूर्वोक्तेन पुरुषेण शुक्रास्तादिदोषयुतेऽपि स्वसङ्कल्पितस्यानुष्ठानं यदि क्रियते कार्येत वा तच्छास्त्रीयमेवेति ।

(ख) केनचिन्मानसिकः सङ्कल्पः कृतो गायत्रीपुरश्चरणस्य पूर्वम् । स च मरणावस्थां प्राप्तः, अतस्तेन किं कर्तव्यमिति संशये उत्तरमिदम्—

स्वपुत्रादौ विश्वासयोग्ये प्रतिनिधौ च सति तद्द्वारा कारणीयं शुक्रास्तादिदूषितसमयानन्तरम् । तादृशपुत्राद्यलाभे तु वैद्यादिद्वारा स्वात्मज्ञानद्वारा च मरणनिश्चये सति स्वयमपि कालाशुद्धावपि अनुष्ठानं कर्तव्यम्, मानसिकसङ्कल्पस्याप्यारम्भरूपत्वात् आरब्धकर्मणो नित्यत्वात् नित्यानां शुक्रास्तादिदोषाभावादिति ।

३०—श्रावणमासादौ गवाश्वादिप्रसूतिविचारः

कश्चिन् श्रावणमासादौ गवाश्वादिप्रसूतिसंभवे किं कर्तव्यमिति विचारे—

माघे बुधे च महिषी श्रावणे वडवा दिवा ।
सिंहे गावः प्रसूयन्ते स्वामिनो मृत्युदायकाः ॥

इति गार्ग्यपरिशिष्टवचनेन माघे बुधे चेति समुच्चयार्थकचकारश्रवणात् माघबुधयोः समुच्चितयोरेव निमित्तत्वं न तु पृथग्भूतयोः । यथा गौश्च अश्वश्चेत्यत्र चकारश्रवणाद् विशिष्टानामेव विधानं तद्वत् ।

एवं "श्रावणे वडवा दिवा" इत्यत्रापि चकारानुकर्षणात् समुच्चितयोरेव श्रावणदिनयोर्निमित्तत्वं न तु पृथग्भूतयोः ।

एवं च माघमासावच्छिन्नबुधवारे महिषीप्रसवे, श्रावणमासावच्छिन्नदिने वडवाप्रसवे च दोषः । गोप्रसूतौ तु सिंहस्यैव केवलस्य निमित्तत्वम् । एवं च सति शान्तिरत्ने कोष्ठान्तर्गतभागे "माघे बुधे च" इत्यत्र चकारोपादानान्माघबुधयोः समुच्चयः दिवेत्यस्यानन्तरमपि चकारोऽनुषञ्जनीयः । उद्द्योते विशेषः— "अत्र माघबुधयोः श्रावणदिनयोश्च विशिष्टयोर्निमित्तता, न च विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदात्प्रत्येकं निमित्ततेति वाच्यम्, महिषीप्रसवस्योद्देश्यत्वेनान्यतरविवक्षायामपि वाक्यभेदात् । अतः पौरुषेयत्वाद्वाक्यभेदो नेति समाधेयम्" इति प्रथमत उक्त्वा अन्ते "श्रावणान्तर्गते दिवसे वडवाप्रसवश्चेद्विशेषतो दुष्टः, माघे महिषीप्रसवोऽपि बुधे चेत्तथा, बुधरहिते माघे महिष्याः, श्रावणे रात्रौ तदितरमासे दिवा च वडवायाः प्रसवश्चाल्पदोषदः" इति । "श्रावणे च विशेषतः" इति विशेषपदस्वारस्यात् यत्केवलस्यैव दिनस्य बुधस्य वा निमित्तत्वमुक्तं तत्परस्परविरुद्धत्वेन प्रक्षिप्तत्वावगमादुपेक्षणीयम् । एवं च सति श्रावणमासि दिने यदि वडवा प्रसूयेत, माघमासान्तर्गतबुधे च महिषी प्रसूयेत, तदानीमेव तद्दोषपरिहारार्थं शान्त्यादिकमनुष्ठेयमिति ।

माघश्रावणौ तु न सङ्क्रान्त्या ग्राह्यौ, किन्तु पूर्णिमान्तमासेन। सिंहेति सिंहस्यैव सङ्क्रान्त्योपादानात्, एवं च श्रावणस्याधिमासत्वे उभावपि श्रावणौ दुष्टाविति।

"त्यागो विवासो दानं वा कृत्वाऽप्याशु शुभं लभेत्।"

इति वचनात्सति संभवे गवादेर्दानादिकमेव विधेयम्। निष्क्रयदानप्रमाणं तु न काप्युपलभामहे।

३१—मृतवृषभस्य संस्कारविचारः

कश्चिदुत्सृष्टवृषः स्वायुषः क्षयेण कालकवलितोऽभूत्। तच्छवस्य प्रतिपत्तिकरणे ग्रामव्यवहारानुसारिणि कलिकालप्रभावान्वितचर्मकारैरस्वीकृते तथैव शवस्थितौ दुर्गन्धादिदोषभयेन तद्ग्रामनिवासिभिः कतिपयैर्वैश्यजातीयैः संहत्य तच्छवप्रतिपत्तिकरणं निश्चित्य स्वयमेव ग्रामाद् बहिर्नीत्वा देशप्रथानुसारेण निखननादिकमनुष्ठितम्। ततोऽन्ये कतिपयजनास्तान् निन्दितकर्मकारितयाऽधिक्षिपन्ति। एवं स्थिते शास्त्रतस्ते निन्दितकर्मानुष्ठातारो नवेति प्रश्ने 'इदमुत्तरम्—धर्मार्थं परोपकारबुद्ध्या तैः शवनिर्हरणस्य तत्संस्कारस्य च विधानात् ते न दुष्यन्ति। तथाहि—

"वोढा चैवाग्निदाता च सद्यः स्नात्वा विशुद्ध्यति।"

इति निर्णयसिन्धौ धर्मार्थं शवनिर्हारप्रसङ्गेनापरार्कधृतवृद्धपराशरोक्तेः, अत्र वचने ब्राह्मणपदमुपलक्षणमिति तट्टीकायां रत्नमालायाम्। एवमग्निदातेत्युपलक्षणम्, संस्कारकर्तुः पूर्वार्द्धे संस्कारपदोपादानात्। एवञ्च धर्मार्थं वृषभशववोढारस्तत्खननादिकर्तारश्च न दोषभाज इति।

३२—छायादानविचारः

दीयतां राजशार्दूल छायादानं विशेषतः।
दद्यात्ते प्रीतये राजन् कृष्णां धेनुं पयस्विनीम्॥

इति शनिग्रहशान्तिकर्मणि विहितं छायादानं यद्यङ्गत्वेन विहितं यद्वा कर्मसमृद्ध्यर्थम्, उभयथापि तदाज्येनैव कर्तव्यं छायादानमिति।

कांस्यपात्रे स्थिताज्यं च आत्मरूपं निरीक्ष्य तु।
ससुवर्णं तु यो दद्यात्सर्वविघ्नोपशान्तये॥

इत्यादिवचनात्कांस्यपात्रं सुवर्णमाज्यम्, तत्र च स्व-स्वरूपनिरीक्षणमित्यङ्गचतुष्टयमाज्यस्थाने, तैलग्रहणे आज्यरूपाङ्गाभावादङ्गहीनं छायादानं भवेत्। यथा सोमयागाद्यङ्गभूतदीक्षणीयेष्टेः स्वाङ्गसहिताया एवानुष्ठानम्, तत्र केनाप्यङ्गेन न्यूनायां दीक्षणीयेष्टौ ज्योतिष्टोमाद्यङ्गत्वं न सेत्स्यतीति यथा सिद्धं तद्वदेवात्रापि स्वाङ्गसहितस्यैव छायादानस्य प्रधानोपकारकत्वं भवति। अतः शनिप्रीत्यर्थं तैलस्यावश्यकत्वेऽपि पृथगेव तस्य दानं कर्तव्यम्, नतु छायादाने तदन्तर्भाव्यम्। अतएव शनिग्रहदान-

विधौ छायादानात्पृथगेव तैलदानं शनिमूर्तिसहितं पृथक्त्वेन च विहितम्। अतश्च शनिग्रहशान्तावाज्येन यच्छायादानं परम्परागतमनुष्ठीयते तदेव साधु, नान्यदिति निर्णयामः।

३३—कूपादिजलेषु स्नानविचारः

यत्र नदा नद्यस्तडागा वा न सन्ति तत्राल्पजलोदके कूपे यन्त्रादिविनिःसृतोदके वा स्नानफलप्राप्तिर्भवति न वेति विचारे—

नद्यां तु विद्यमानायां न स्नायादुष्णवारिणा।
न स्नायादल्पतोये तु विद्यमाने बहूदके॥ इति।

यत्र नद्यः सन्ति तत्र ताः परित्यज्य अन्यत्र न स्नातव्यम्। विशेषतश्च—

नद्या यच्च परिभ्रष्टं नद्या यच्च विनिस्सृतम्।
गतप्रत्यागतं यच्च तत्तोयं परिवर्जयेत्॥

इति व्यासवचनेन यन्त्रद्वारा विनिस्सृते जले स्नाननिषेधाच्च। तडागाम्भस्येव स्नानं शास्त्रसम्मतं स्नानफलदम्, न तु यन्त्रोद्धृतनालीद्वाराऽऽगतजलेन स्नाने तादृशं फलम्। तेन दृष्टफलं शरीरमलोद्वासनं कदाचित् भवितुमर्हति, न त्वदृष्टरूपं स्नानजं फलम्। अतस्तडागादिसत्त्वे तत्रैव स्नानादिकं कर्तव्यमिति।

३४—ऊनमासिकादिश्राद्धविचारः

शास्त्रेषु षोडशमासिकेषु ऊनमासिक-ऊनषाण्मासिक-ऊनाब्दिकश्राद्धविषये मतभेदो दृश्यते। तत्र "मृतेऽहनि तु कर्तव्यम्" इति वचनानुसारेण मासिकं द्व्याहे भवति। तच्चाशौचान्ते एकादशाहे अनुष्ठीयते। एवं "मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम्" इत्युक्त्या आब्दिकस्यापि द्व्याह एव कालः, तस्याप्यशौचान्ते एकादशाहे आद्यश्राद्धेन सह तन्त्रेणानुष्ठानम्। एतत्पक्षे मासिकस्य प्रथमाब्दिकस्य चैकादशाहे एवानुष्ठानात् 'एक-द्वि-त्रिदिनैरूने' इति वचनानुसारेण ऊनमासिकस्य माससमाप्तेः पूर्वमेकादिन्यूने दिवसे अनुष्ठानमिति। आब्दिकस्याप्यब्दपूर्तेः एकादिन्यूने दिवसे अनुष्ठानम्। एवं षाण्मासिकस्यापि षष्ठमासारम्भदिने अनुष्ठानात् ऊनषाण्मासिकस्य च मासोनदिने अनुष्ठानम्। मासिकम्, ऊनमासिकम्, षाण्मासिकम्, ऊनषाण्मासिकम्, द्वादशमासिकम्, ऊनाब्दिकं चेति क्रमः पर्यवस्यतीति प्रथमप्रकारः।

"आद्यश्राद्धं क्षयेऽहनि", "मासादौ मासिकं कार्यमाब्दिकं वत्सरे गते" इति लौगाक्षिवचनानुसारेण द्वितीयमासारम्भदिने प्रथममासिकस्य द्वितीयवर्षारम्भदिने प्रथमवार्षिकस्य चानुष्ठानं प्राप्नोति। तन्मते षाण्मासिकमपि सप्तममासारम्भदिने अनुष्ठेयत्वेन प्राप्नोतीति ततः पूर्वतनेषु दिवसेषु ऊनमासिक-ऊनषाण्मा-

सिक-ऊनाब्दिकानां क्रमेणानुष्ठानमिति । एतत्पक्षे ऊनमासिक-ऊनषाण्मासिक-मासिक-ऊनाब्दिक-आब्दिक-शब्दानां तत्तच्छ्राद्धे ऊहः कार्य इति ।

३५—पतिमृतौ पत्या साकं चितारोहणमीहमानाया रजस्वलायाः शुद्धिविषये विचारः

अन्त्येष्टिपद्धतौ शुद्धिमयूखे च—

यदा स्त्रियामुदक्यायां पतिः प्राणान् परित्यजेत् ।
द्रोणमेकं तण्डुलानामवहन्याद्विशुद्धये ॥
मुसलाघातैस्तदा साऽसृक् स्रवते योनिमण्डलात् ।
विरजस्कां मन्यमाना स्वे चित्ते तदसृक्क्षयम् ॥
दृष्ट्वा शौचं प्रकुर्वीत पञ्चमृत्तिकया पृथक् ।
त्रिंशद्विंशति दश च गवां दद्यादहःक्रमात् ॥
विप्राणां वचनाल्लब्ध्वा समारोहेद् हुताशनम् ।
नारीणां सरजस्कानामियं शुद्धिरुदाहृता ॥ इति ।

तन्मूलं मृग्यं गारुडे ।

३६—ज्वराभिभूताया रजस्वलायाः शुद्धिविषये विचारः

ज्वरावस्थायां रजस्वलायाः शुद्धिविषये तूशनाः—

ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता ।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा ॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्यां तु तां स्त्रियम् ।
सा सचैलावगाह्यापः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत् ॥
दश-द्वादशकृत्वो वा आचामेच्च पुनः पुनः ।
अन्ते च वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेत्तु सा ॥ इति ।

आतुरे स्नान उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः ।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुध्येत्स आतुरः ॥ (पाराशरस्मृ० ७।२१)

दद्याच्छक्त्या ततो दानं पुण्याहेन विशुद्ध्यति ।
न सूतकादिदोषोऽस्ति ग्रहे होमजपादिषु ॥
ग्रस्ते स्नायादुदक्यापि तीर्थादुदृधृत्य वारिणा ॥ इति ।

रजस्वलायाः स्नानविधिं चाह—

स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला।
पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत्॥
सिक्तगात्रा भवेदद्भिः साङ्गोपाङ्गा कथञ्चन।
न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद्वासश्च धारयेत्॥ इति।

त्रिरात्रमेकरात्रं वा समुपोष्य ग्रहणे स्नानदानाद्यनुष्ठाने महाफलमिति।

३७—सन्निहितातिकाले मौञ्जीबन्धे मीनगेऽर्के गुर्वादिदोषाभावः

गुरौ द्वादशके व्रतप्रकरणविहितवर्षसमाप्तौ उपनयनं कार्यं नवेति प्रश्ने कार्यमेवेत्युत्तरं निर्णयसिन्धौ--

"शुद्धिर्नैव गुरोर्यस्य वर्षे प्राप्तेऽष्टमे यदि।
चैत्रे मीनगते भानौ तस्योपनयनं शुभम्॥
जन्मभादष्टमे सिंहे नीचे वा शत्रुभे गुरौ।
मौञ्जीबन्धः शुभः प्रोक्तश्चैत्रे मीनगते रवौ॥" इति।
"व्रते जन्मत्रिखारिस्थो जीवोऽपीष्टोऽर्चनात्सकृत्।
शुभोऽतिकाले तुर्याष्टव्ययस्थो द्विगुणार्चनात्॥" इति।

३८—क्लीबान्धादिविवाहविषये विचारः

षण्ढान्धबधिरस्तब्धजडगद्गदपङ्गुषु।
ध्वस्तपुंस्त्वेषु चैतेषु संस्काराः स्युर्यथोचितम्॥

इति स्मृतिरत्नधृतवचनेन षण्ढादीनामुपनयन-विवाहादिसंस्कारविधिश्रवणात्।
"कर्मस्वनधिकारेऽपि संस्कारार्हाः" इति श्रुतिः।

मूकान्धादिषु चोद्वाहे कन्यास्वीकरणं विना।
पाणिग्रहं विना सप्तपदानां क्रमणं विना॥
विप्रेण कारयेत्सर्वं पङ्गोः सप्तपदान्यपि॥

इत्यादिस्मृतिमुक्ताफलधृतवचनात्। "यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्" (मनु० ९।२०३) इति मनूक्तेश्च। तस्य च क्लीबस्य स्मार्त्तेष्वधिकारात्तदर्थो विवाहोऽसत्यामप्यर्थितायां युक्त एवेति मेधातिथिव्याख्यानात्। मेधातिथि-व्याख्याने उपक्रमोपसंहारयोर्विवाहस्य विहितत्वात्। अस्ति तु क्लीबादीनां दारपरिग्रहः इति जीमूतवाहन-लेखनात्। 'केचित् स्तब्धमूकत्वादिदोषदुष्टानां विवाहसंस्कारो नेति वदन्ति, तदपास्तम्' इति सरस्वती-विलासवचनात्।

धृतराष्ट्रादीनामन्धानामपि विवाहरूपाचारदर्शनाच्च क्लीबादीनामपि दारसंग्रहोऽस्त्येवेति सिद्ध्यति। यद्यपि "अनंशौ क्लीबपतितौ" (मनु० ६।२०१) इति मनुवचनेन क्लीबादीनां भागहरत्वं नास्ति, तथापि स्नेहेन कारुण्यादिना वा कारणेन भ्रात्रादिभिः क्लीबादिभ्यो दत्ते भागे तैश्च बहुकालं तद्धने निर्विवादं भुङ्क्ते पुनः कालात्ययदोषदुष्टस्य तस्य न पुनर्दायादिभिः प्रत्याहरणं कर्तुं शक्यते। क्लीबस्य अनंशित्वेऽपि प्रतिग्रहे व्यवसायादौ चाधिकारात्। क्लीबादीनां विवाहानर्हताविषये यज्जैमिनीयन्यायमालायाः प्रमाणत्वेन कथनं तत्सर्वथाऽज्ञानविजृम्भितम्। तत्र हि यज्ञेऽधिकारानधिकारविचारः कृतः। अन्धपङ्ग्वादीनामचिकित्स्यरोगिणां यज्ञेऽनधिकारनिरूपणस्यैव तद्विषयत्वात्। नहि विवाहो यज्ञरूपः, किन्तु दारपरिग्रहरूपः। तस्य यज्ञत्वं कुत्रापि स्मृतिषु शास्त्रान्तरेषु वा नोक्तम्। किञ्च 'यजतिचोदनाचोदितत्वमेव यागत्वम्'। नहि कुत्रापि विवाहो यजति चोदनाचोदितः। अतः सर्वथा न तद्विषये जैमिनीयन्यायमालावचनं प्रामाण्यमर्हतीति।

३९—सापिण्ड्याद्यभावे दूरसम्बन्धिनोर्मिथो विवाहविषये विचारः

कस्यचिद् ब्राह्मणस्य मातुलकन्या केनचिद् ब्राह्मणेन ऊढा, साच मृता, अनन्तरं स वोढा ब्राह्मणः कामप्यन्यामुवाह। तस्यां पुत्रः समजनि। स इदानीं परिणयनकालमवाप्तः। तेन सह स ब्राह्मणः स्वां दुहितरं विवाहयितुमिच्छति। अतोऽयं विवाहः धर्मविरुद्धो न वेति जिज्ञासायाम्—धर्म्य एवेति प्रतिवचनम्। अनयोर्वधूवरयोः सापिण्ड्याभावात् सगोत्रत्वाभावाच्च याश्च काश्चित्सपिण्डसगोत्रत्वरहिता अपि विवाहसम्बन्धे विरुद्धाः, यथा भार्यास्वसुर्दुहिता पितृव्यपत्नीस्वसा च तथा। बौधायनोऽपि—

"मातुः सपत्न्या भगिनीं तत्सुतां च विवर्जयेत्।" इति।

"मातृष्वसुः सापत्नपुत्रकन्याप्यविवाह्या" इत्याद्या निर्णयसिन्धौ तृतीय—परिच्छेदे उक्ताः। तास्वप्यस्या अभावात्। तथा—

वाक्सम्बन्धकृतानां तु स्नेहसम्बन्धभागिनाम्।
विवाहोऽत्र न कर्तव्यो लोकगर्हा प्रसज्ज्यते॥

इत्यादिवचनानां तु मूलाभावाच्चिन्त्यतैवोक्ता निर्णयसिन्धुकृता। अतोऽस्य सम्बन्धस्य विवाहप्रतिबन्धकशास्त्रीयदोषाभावात् संमतत्वमेवेति व्यवस्था।

४०—स्वपुत्रस्य स्वपितृष्वसुः पौत्र्या साकं विवाहो न शास्त्रसम्मतः

रमाबाई मीराबाईदेव्याः पितुःष्वसा भवति। अतः मीराबाईदेव्याः पुत्रस्य रमेशचन्द्रस्य विवाहः रमाबाईदेव्याः पौत्र्या साकं भवितुमर्हति न वेति जिज्ञासायामिदमुत्तरम्—

शास्त्रदृष्ट्या पितुःस्वसा मातृसदृशी स्मृता। अतः वरवधूत्वेनोपस्थिताविमौ भ्रातृभगिनीसमानौ। अनयोर्विवाहः कथमपि नैव भवितुमर्हति। वस्तुतः विवाहस्य प्रयोजनं सापिण्ड्यनिवृत्तिः। सापिड्यं च एकशरीरावयवान्वयः। एकस्य पितुर्मातुर्वा

शरीरावयवः येषु पुत्र-पौत्रादिषु साक्षात्परम्परया वा शुक्रशोणितरूपेणानुस्यूतस्तत्रैव सापिण्ड्यव्यवहारः। वध्वा वरस्य सापिण्ड्यं स्वतो न भवति, किन्तु कूटस्थपुरुष-[1]द्वारैव। तथाहि—

"पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा।"

इति याज्ञवल्क्यस्मृत्यनुसारं प्रकृते वरस्य माता मूलपुरुषेण (नृसिंहरामेण) पञ्चमी भवति। रमाबाईदेव्याः पौत्र्याः सूरजबाईदेव्याः पिता (किशनलालः) मूलपुरुषेण पञ्चमः सम्पद्यते। तस्मात्सापिण्ड्यस्य निवृत्तेरसम्भवादनयोर्विवाहः न शास्त्रसम्मतः।

४१—निवृत्तसापिण्ड्ययोरेव विवाहः शास्त्रसम्मतः

मातामही भ्रातृपुत्रो मातुर्मातुलभ्राता समानबन्धुस्तदपेक्षया ऊर्ध्वतना अधस्तनाश्च ये पञ्चपुरुषास्तेभ्यः प्रत्येकं पञ्चमी कन्या न विवाह्या। एवं पितामह्या भ्रातुष्पुत्रः पितुर्मातुलभ्राता सपितृबन्धुस्तदपेक्षया ऊर्ध्वतना अधस्तनाश्च ये सप्तपुरुषास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तमी कन्या न विवाह्या।

४२—सापिण्ड्यनिवृत्तौ वरकन्ययोर्विवाहविचारः

वरकन्ययोरुभयोर्मातामहगोत्रस्यैक्येऽपि परस्परं सपिण्डताऽभावे विवाहो भवितुमर्हति। सपिण्डतायां सत्यां यदि वरस्य मातामहात् पञ्चमान्तर्वर्त्तिनी कन्या स्यात्तर्हि सा विवाह्या न भवतीति।

४३—विवाहाङ्गचतुर्थीकर्मणि पत्युर्दक्षिणत एव भार्याया उपवेशनम्

प्रयोगपारिजाते—संस्कार्यपुरुषो वाऽपि स्त्री वा दक्षिणतः शुभा।
संस्कारकर्त्ता सर्वत्र तिष्ठेदुत्तरतः सदा॥ इति।

धर्मप्रवृत्तौ— जातके नामके चैव ह्यन्नप्राशनकर्म्मणि।
तथा निष्क्रमणे चैव पत्नी पुत्रश्च दक्षिणे॥
गर्भाधाने पुंसवने सीमन्तोन्नयने तथा।
वधूप्रवेशने चैव पुनः संधान एव च॥
प्रदाने मधुपर्कस्य कन्यादाने तथैव च।
कर्मस्वेतेषु भार्या वै दक्षिणे तूपवेशयेत्॥ इति।

स्मृतिसंग्रहे— व्रतबन्धे विवाहे च चतुर्थ्यां सह भोजने।
व्रते दाने मखे श्राद्धे पत्नी तिष्ठति दक्षिणे॥ इति।

---

१. कूटस्थो मूलपुरुषः।

धर्मप्रवृत्तौ— आशीर्वादेऽभिषेके च पादप्रक्षालने तथा।
शयने भोजने चैव पत्नी तूत्तरतो भवेत्॥ इति।

मूलशान्तौ — 'पत्नी वामाङ्गतः प्रोक्ता मूलाऽश्लेषाविधानयोः।' इति।

संस्कारसंग्रहे— 'सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः शुभा।' इति।

इत्यादिवचनेभ्यः सर्वेषु धर्मकार्येषु वधूप्रवेशे च दक्षिणत एव पत्न्या उपवेशनविधानाद्वधूप्रवेशे दक्षिणत एव भार्याया उपवेशनम्। एवमेव सर्वे संस्कारभास्करादयो निबन्धा आमनन्ति।

वामे सिन्दूरदाने च वामे चैव द्विरागमे।
वामेऽशनैकशय्यायां भवेज्जाया प्रियार्थिनी॥

इति संस्कारभास्करादुद्धृतं वचनं द्विरागमनपरम्। द्विरागमनञ्च तृतीयादिविषमवर्षे यो वधूप्रवेशः स उच्यते।

विवाहानन्तरं क्रियमाणं फलकभ्रमणाख्यं कर्म न द्विरागमनस्थानापन्नम्। अत्र द्विरागमनसंबन्धिनः पदार्थस्य कस्यचिदभावात्, तत्स्थानापन्नत्वेन क्वचिदपि प्रमाणग्रन्थेष्वनुपलम्भात्। अतो द्विरागमनधर्मः पत्न्या वामत उपवेशनादि नात्र प्राप्नोति। न वा वामभागोपवेशनार्हेषु कर्मसु क्वचिदिदमन्तर्भवति। अतः "सर्वेषु धर्मकार्येषु" इत्यादिवचनैः प्राप्तं दक्षिणत उपवेशनमेवात्रापि कर्तव्यम्, सामान्यत प्राप्तस्य निषेधे सङ्कोचे वा प्रमाणानुपलम्भादिति।

४४—अग्निहोत्रिणामशने ग्राह्याग्राह्यविचारः

(क) उपवसथदिनेऽग्निहोत्रिणा हविष्यान्नमशितव्यम्। हविष्यान्नं च—

हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनु व्रीहयः स्मृताः।
माषकोद्रवगौरादि सर्वालाभेऽपि वर्जयेत्॥ (कात्या० स्मृ० ६।१०)

गौराः—गौरसर्षपाः। आदिपदेन चणक-मसूर-कुलित्थादि ग्राह्यम्।

(ख) अग्निहोत्रिणा उपवसथदिने किं नाशितव्यमित्यत्र कात्यायनः—

शाकं मांसं मसूरं च चणकं कोरदूषकान्।
माषान्मधु परान्नं च वर्जयेदौपवस्तके॥ इति।
तिलमुद्गादृते शैम्ब्यं सस्यगोधूमकोद्रवौ।
चणकं देवधान्यं च सर्वशाकं तथैक्षवम्॥
सज्जीक्षारं यवक्षारं टङ्कणं क्षारमेव च।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं सामुद्रलवणं तथा॥ इति परिशिष्टे।

(ग) अग्निहोत्रिणा गुड-गोरसमन्तरा किमपि पराग्निपक्वं न भक्षणीयम्।

(घ) अग्निहोत्रिणा अन्याग्निहोत्रिगृहेऽपि भोजनं न कर्तव्यम्। यदि स स्वेन सह स्वाग्निं निनयेत् तदा तत्र स्वाग्निपक्वं भोक्तुमर्हति।

४५—अग्निहोत्रिणा प्रवासे पृष्ठोदिविविधानं विधायैव भोक्तव्यम्

अग्निहोत्रिणा प्रवासे कात्यायनपरिशिष्टसूत्रानुसारं पृष्ठोदिविविधानं विधायैव भोजनं कर्तव्यम्। पृष्ठोदिविविधानं कात्यायनप्रणीतपरिशिष्टविहितमस्ति उतान्येन केनचिद्विदुषा प्रणीतं वेत्यत्र विद्वांसो विप्रतिपद्यन्ते।

४६—अग्निहोत्रिणः परदेशगमने पुत्रादीनां कर्तव्यनिर्णयः

अग्निहोत्री यदा परदेशं स्वाग्निं विहाय गच्छेत्तदा तत्पुत्रादयः पञ्चमहायज्ञमनुतिष्ठेयुः। ते "पितृभ्यः स्वधा नमः" इति बलिं दद्युः। पितुः प्रतिनिधित्वेन तदाज्ञया एतादृशमनुष्ठानं शास्त्रसम्मतम्। जीवत्पितृकः पुत्रः पितुः पार्थक्येन यदि निवसति तदा सः पञ्चमहायज्ञादिकं पृथक् कुर्यात्। पञ्चमहायज्ञे जीवत्पितृकः मृतपितृकश्चेत्युभावप्यधिक्रियेते। पञ्चमहायज्ञानुष्ठानात्पूर्वं समागतान् परिव्राजकब्रह्मचारिप्रभृतीन् श्रोत्रियादीनतिथींश्च भिक्षा-भोजनादिदानेन सन्तोषयेयुः।

अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षां दत्त्वा विसर्जयेत्॥
निर्वृत्ते वैश्वदेवे तु यदन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्॥ इति स्मरणात्।

गृहे बालवृद्धा अपि पञ्चमहायज्ञानन्तरमेव भोजनं कुर्युः, "बालज्येष्ठा गृह्या यथार्हमश्नीयुः" (पा० गृ० सू० २।९।१५) इति पारस्करवचनात्।

४७—नान्दीश्राद्धं स्वस्तिवाचनात्प्राक् पश्चाद्वेति विचारः

ये नान्दीश्राद्धं कर्मान्तःपातित्वेनान्तरङ्गं मन्यन्ते ते पूर्वं स्वस्तिवाचनं विधाय पश्चात् नान्दीश्राद्धमनुतिष्ठेयुः। ये तु कर्मबहिर्भूतत्वं मत्वा बहिरङ्गं मन्यन्ते ते प्रथमं नान्दीश्राद्धं विधाय परस्तात् स्वस्तिवाचनं कुर्युः। उभयमपि शिष्टाचारसम्मतम्।

४८—चान्द्रायणव्रतविषये विचारः

शुक्लपक्षस्य प्रतिपदमारभ्य पौर्णमासीपर्यन्तं तिथिसमुदायं गणयित्वा यदा सौरेषु पञ्चदशसु दिनेषु परिसमाप्तिर्भविष्यति, एवं कृष्णप्रतिपदमारभ्य अमावास्यापर्यन्तं तिथिसमूहं गणयित्वा सौरेषु पञ्चदशसु दिनेषु तत्समाप्तिर्भविष्यति तदैव यवमध्यं चान्द्रायणं कर्तव्यम्। सौरदिने तिथिसम्बन्धस्तु यस्मिन् कस्मिन् समयेऽपि भवति चेत्क्रमानुसारेण तत्सौरदिनस्य तत्तिथित्वेन ग्रहणं कर्तव्यम्।

यथा—अमावास्यायां द्वित्रदण्डानन्तरं प्रतिपत्प्रवृत्तिः परेद्युश्च पञ्चदशदण्ड-पर्यन्तं प्रतिपत् तदा पूर्वेद्युर्व्रतारम्भः—एकग्रासमात्रभोजनम् । परेद्युश्च सत्यामपि प्रतिपदि क्रमानुरोधात् ग्रासद्वयभोजनं द्वितीयातिथ्यनुसारेण कर्तव्यम् ।

४६—स्वयं पाठं वाचयित्वा पाठश्रवणे फलविचारः

एकस्मादपि पाठात् स्वनाम्ना सङ्कल्प्य श्रवणे फलं न भवतीति न वक्तुं शक्यते, किन्तु फलस्य न्यूनता भवत्येव । अतः समर्थो यः सः स्वयमेव पाठसङ्कल्पं विधाय तदर्थं कमपि विद्वांसं नियोज्य यदि शृणोति तदा समग्रफलभाग्भवतीति मन्यते । सुतरामयमेव पक्षः श्रेयानिति ।

५० - सन्दिग्धासपष्टानुपदिष्टधर्मनिर्णये विचारः

अनाम्नातेषु अभ्याख्यातेषु वा धर्मेषु सञ्जाते धर्मसंशये के निर्णेतारो भवितुमर्हन्तीति प्रश्ने तत्र भगवती श्रुतिराह—

"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः ।"

(तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।३-४)

अत्र कर्म श्रौतं स्मार्तं च, वृत्तमाचारः । अभ्याख्यातेष्विति सन्दिह्यमानेन दोषेण संयोजितेषु–इति शङ्कराचार्याः । मनुरप्याह (१२।१०८) –

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥

अनाम्नातेषु सामान्यविधिप्राप्तेषु विशेषेणानुपदिष्टेष्विति कुल्लूकभट्टः । के शिष्टा इति प्रश्ने मनुः (१२।१०९-११३)—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा ॥
ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥
एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ इति ।

यमश्च— एको द्वौ वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्धर्मपाठकाः ।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥ इति ।

पराशरश्च— "चत्वारो वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः ।
सधर्म इति विज्ञेयो नेतरैस्तु सहस्रशः ॥" इति ।

"चत्वारो वा त्रयो वापि वेदवन्तोऽग्निहोत्रिणः ।
ब्राह्मणानां समर्था ये परिषत् साऽभिधीयते ॥
अनाहिताग्नयो येऽन्ये वेदवेदाङ्गपारगाः ।
पञ्च त्रयो वा धर्मज्ञाः परिषत्सा प्रकीर्तिता ॥" इति ।

वृहस्पतिश्च— वेदवेदाङ्गधर्मज्ञाः पञ्च सप्त त्रयोऽपि वा ।
यथोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥ इति ।

शिष्टलक्षणं महाभाष्येऽप्युक्तम् (६।३।१०६)—"कः पुनरार्यावर्तः ? प्रागादर्शात् प्रत्यक् कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् । एतस्मिन्नार्यावर्ते आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारङ्गतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः ।" इति ।

कलियुगे पूर्वोक्तलक्षणा ब्राह्मणाः सुदुर्लभाः, अतः परिषदः सङ्घटनं न सम्भवतीति शङ्का पराशरभाष्ये माधवाचार्येण निवर्तिता । तथा चेयं माधवाचार्याणामुक्तिः—"नहि पापप्रवृत्तानां परिषत्त्वं युक्तम् ।" "स्वधर्मरतविप्राणाम्" (पाराशरस्मृ० ८।२) इति तल्लक्षणात् । न चाभक्ष्य-भक्षणादिभ्यः पापेभ्यो निवृत्तानां शिष्टानां परिषत्त्वं स्यादिति शङ्कनीयम् ; तादृशस्य कस्याप्यदृष्टचरत्वात् । अतः कलियुगे सर्वेषां निन्द्यत्वादेतदेव युगमुद्दिश्य प्रवृत्तस्य पराशरधर्मशास्त्रस्य निर्विषयत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—

युगे युगे तु ये धर्मास्तेषु तेषु च ये द्विजाः ।
तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः ॥ (परा०स्मृ० ११।५२)

अयमाशयः—द्विविधा ह्यधर्मप्रवृत्तिः, युगप्रयुक्ता प्रमादालस्यादिप्रयुक्ता च । तत्र युगप्रयुक्तायाः प्रवृत्तेरपरिहार्यत्वान्न तन्निवृत्तये पराशरस्योद्यमः । या तु प्रमादालस्यादिप्रयुक्ता तत्र सावकाशं धर्मशास्त्रम् । स्वरूपलोपाद्वरं यथासम्भवानुष्ठानमित्यभिप्रेत्य युगप्रवृत्तां सर्वैरप्यवर्जनीयामधर्मप्रवृत्तिमदोषत्वेनाभ्युपगम्य तेषां निन्दा न कर्तव्या इत्युक्तमिति ।

५१—वैश्यपत्न्याः प्रेतबाधाविमुक्तये कर्तव्यम्

अकृतसपिण्डनायाः वैश्यपत्न्याः प्रेतबाधाविमुक्तये प्रेतशिलायां पिशाचमोचने च पिण्डदानं कर्तव्यम् । सप्ताहविधिना श्रीमद्भागवतश्रवणं च कर्तव्यमिति । अथवा 'दुर्गा'-नामजपः लक्षमेकम्, 'मधुसूदन'-नामजपः लक्षमेकम्, चण्डीपाठः

शतावृत्तिः, पार्थिवपूजनमष्टोत्तरशतम्, तुलसीपत्रदानञ्चाष्टोत्तरशतम्। एतत्पञ्चकानुष्ठानेन प्रेतबाधाया विमुक्तिर्भवतीति।

५२—पतितोत्पन्नत्वरूपपापक्षयार्थं प्रायश्चित्तम्

सजातीयेन पुंसा वैश्यायां विधवायामुत्पन्नया कन्यकया पतितोत्पन्नत्वरूपसंसर्गजन्यपापक्षयकामनया द्वादशवार्षिकमहाव्रतस्य यस्तृतीयांशस्तत्तृतीयभागरूपं चतुर्मासाधिकवार्षिकव्रतं कर्तव्यम्। तत्राशक्तौ चत्वारिंशद्धेनवो देयास्तन्मूल्यं वा। तस्याः परिणेतुरपि प्रायश्चित्तमेतदेव। संसर्गिषु परिणयरूपयौनसंसर्गस्य गुरुतमत्वाभिधानात्। गुरुतमसंसर्गे च सकृत्कृते तत्तुल्यत्वाभिधानात्। एवं कृतप्रायश्चित्तायास्तस्यास्तत्पतेरपि कृतप्रायश्चित्तस्य व्यवहारो भवितुमर्हति। अत्र प्रमाणं प्रायश्चित्तविवेके—'पतितोत्पन्नत्वमपि संसर्गविशेषः।' तत्र प्रायश्चित्तमाह बौधायनः—"अशुचिशुक्रोत्पन्नानां तेषां शुद्धिमिच्छतां प्रायश्चित्तं पतनीयानां तृतीयोंऽशः स्त्रीणामंशात्तृतीयः"इति। विवेककृता व्याख्यातं च "पतितोत्पन्ना स्त्री पतितप्रायश्चित्तस्य तृतीयभागस्य तृतीयभागं कुर्यात्" इति। अतः प्रायश्चित्तविवेकधृतबौधायनवचनमेवात्र प्रमाणम्। कृतप्रायश्चित्तायास्तस्या विवाहे तु न वरस्य दोषः। तथा च तत्रैव हारीतः—"पतितस्य कुमारीं विवस्त्रामाप्लाव्यामहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेन वाससाऽऽच्छाद्य 'नाहमेतेषां न ममैवैते' इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थेषु गृहेषु वा उद्वहेरन्" इति। "कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिञ्चनाम्।" इति याज्ञवल्क्यः। एषां पतितानामित्यर्थः।

५३—आशौचे देवार्चाविषये विचारः

आशौचे संप्राप्ते देवार्चा कार्या न वेति प्रश्ने ब्राह्मणद्वारा कार्या इत्युक्तम्—

"ब्राह्मणोऽपि स्वयं पाकं निर्माय विनिवेदयेत्।" इति।

निम्नलिखितवचनानुसारेण अन्नादिषु नाशौचसम्भवः। वचनानि च यथा—

लवणे मधुमांसे च पुष्पमूलफलेषु च।
शाककाष्ठतृणेष्वप्सु दधिसर्पिःपयःसु च॥
तिलौषधाजिने चैव पक्वापक्वे स्वयं ग्रहः।
पण्येषु चैव सर्वेषु नाशौचं मृतसूतके॥ इति।

स्वयमेव स्वाम्यनुज्ञया ग्राह्यं न तद्धस्तादित्यर्थः। क्रये तु तद्धस्तादपि न दोषः। पक्वं लड्डुकादि। अपक्वं तण्डुलादि।

"पूर्वसङ्कल्पितान्नेषु न दोषः परिकीर्तितः।" इति।

५४—वैश्यस्य आशौचनिर्णयः

कश्चित् वैश्यजातीयः शास्त्रानुसारेण स्वकीयपूर्वपुरुषपरम्परया च सपिण्ड-जनन-मरणयोः पञ्चदशाहाऽऽशौचमाचरन्नवर्त्तत। अधुना केचन तदीयसपिण्डाः पूर्वपुरुषपरम्पराचारं परित्यज्य लोके केषाञ्चिद् ब्राह्मणजात्यतिरिक्तानामपि दशाहाऽऽशौचाचरणमनुलक्ष्य तद्रीतिमनुसरन्तो दशाहाशौचमाचरन्ति। एतस्यामवस्थायामत्र कलियुगे पूर्वोक्तस्य पञ्चदशाहाऽऽशौचमाचरतो वैश्यस्य स्वीयपूर्वपुरुषपरम्परा-परित्यागेन दशाहाऽऽशौचाचरणं युक्तम्, अथवा तेन पञ्चदशाहाऽऽशौचमा-चरणीयमिति प्रश्नस्योत्तरम्—

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति॥ (मनु० ५।८३)

इति मनुनोक्तम्। धर्मशास्त्रप्रणेतृषु मनोः प्राधान्यान्मिताक्षरा-निर्णयसिन्धु-शुद्धितत्त्व-शुद्धिविवेकादि-प्रामाणिकस्मृतिनिबन्धेष्विदमेव जात्याशौचं मुख्य-कल्पत्वेन व्यवस्थाप्य—

सर्वेषामेव वर्णानां सूतके मृतके तथा।
दशाहाच्छुद्धिरेतेषामिति शातातपोऽब्रवीत्॥

इत्यादयो न्यूनाऽऽशौचपक्षा मनुस्मृतिविरोधपरिहाराय आपदनापद्गुणव-न्निर्गुणदेशभेदादिकमाश्रित्य यथाकथञ्चिद् व्यवस्थापिताः। एवं च यत्र कुले पूर्वपुरुषपरम्परया मनूक्तो मुख्याऽऽशौचपक्षोऽनुष्ठीयते, तत्र मनुस्मृतिसम्मतं पूर्व-पुरुषपरम्पराचरितं तादृशं मुख्यपक्षं विहाय मनुस्मृतिविरुद्धं कल्पान्तरं कथमपि नाऽनुष्ठेयम्। स्मृतिप्रणेतृषु मनोः प्राधान्यञ्च।

"वेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते॥" इति बृहस्पतिना।
"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गवेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥" इति महाभारते

भगवता व्यासेन चोक्तमिति।

५५—दत्तकप्रतिग्रहीतृजनकयोः कुले मिथो जननाद्यशौचाभावः

दत्तकप्रतिग्रहीतृजनकयोः कुले परस्परं जनन-मरणनिमित्तमाशौचं घटते नवेति सन्देहे—

"बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुध्यादघं त्र्यहम्।"

इति वचनात् घटत इति पूर्वपक्षः, नैवेति सिद्धान्तः। तथाहि—

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्रिमः सुतः।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा॥

इति मनुवचनात् गोत्ररिक्थापगमेन पिण्डापगमो बोध्यते। अत्र स्वधापिण्ड-शब्दौ आशौचादिसकलपितृकर्मोपलक्षणम्, पिण्डदानादिनिमित्तभूतयोर्गोत्र-रिक्थयोर्निमित्तश्रवणात्। प्रेतपिण्डदानादिश्चापूर्वाशौचपूर्वकत्वनियमेन नियन्त्रितः। ततश्च पिण्डनिवृत्त्या चाशौचनिवृत्तिरर्थसिद्धैव।

असगोत्रः सगोत्रो वा यदि स्त्री यदि वा पुमान्।
प्रथमेऽहनि यो दद्यात् स दशाहं समापयेत्॥

यावदाशौचमुदकं पिण्डमेकं च दद्युरित्यादिवाक्यपर्यालोचनया पिण्डाशौचयोः समव्याप्तिसिद्धिः। यत्तु "बैजिकादभिसम्बन्धात्" इति वचनं त्र्यहाशौचपरं तदपि "व्यपैति ददतः स्वधा" इत्यनेन व्यपोदितम्। वचनन्तु दत्तकातिरिक्तक्षेत्रजा-दिस्थले सावकाशम्, आशौचोदकदानादौ गोत्रसापिण्ड्ययोर्मिलितयोर्निमित्तत्वा-वगमेनान्यतरापाये तन्निमित्तं नाशौचादि। एष च सिद्धान्तः शंख-लिखिताभ्या-मप्यनुमतः।

सपिण्डता तु विज्ञेया गोत्रतः साप्तपौरुषे।
पिण्डश्चोदकदानं च शौचाशौचं तदानुगम्॥

इति प्रतिग्रहीतृपित्रादीनान्तु दत्तकादिमरणे त्रिरात्रमाशौचम्। तदाह बृहस्पतिः—

अन्याश्रितेषु दारेषु परपत्नीसुतेषु च।
एतेष्वाप्लुत्य शुद्ध्यन्ति त्रिरात्रेण द्विजोत्तमाः॥ इति।

इदं च त्रिरात्राशौचविधानं यन्निरूपितं भार्यात्वं पुत्रत्वञ्च तस्यैव त्रिपुरुषा-न्तर्वर्तिनां प्रतिग्रहीतृसपिण्डानां पृथगाह मरीचिः—

सूतके मृतके चैव त्रिरात्रं परपूर्वयोः।
एकतस्तु सपिण्डानां त्रिरात्रं यत्र वै पितुः॥ इति।

पितुः प्रतिग्रहीतुरित्यर्थः। सपिण्डानां प्रदेयपिण्डसामान्यवताम्। यद्यपि दत्तकस्योत्पन्नस्यैव स्वीकारात्प्रतिग्रहीतुस्तदुत्पत्त्याशौचं तु न घटत्येवेत्थं प्रतिग्रहीतृ-जनककुले दत्तकाशौचनिर्णयः। तयोः कुले बहुपुरुषभेदे तु आशौचाशङ्कालेशोऽपि न विद्यत एव।

५६—दशवारं कारागृहनिवासिवेश्यागाम्यन्नभोजिनः मृतावाशौचविचारः

दशवारं कारागृहे अनुरूपापराधेन निवसतो वाराङ्गनागामिनस्तदन्नं तद्धस्ताद् भुञ्जानस्य मृतस्याशौचादिकं तत्सपिण्डैर्न करणीयम्, न वा दाहः कर्तव्यः, न वा श्राद्धं च कर्तव्यम्, पतितत्वात्। यदि ते सपिण्डा दयया श्राद्धं कर्तु-मिच्छन्ति तदा पतितप्रायश्चित्तं द्वादशवार्षिकव्रतं तदनुकल्पमशीत्युत्तरशतधेनुदान-रूपं प्रायश्चित्तमनुष्ठाय श्राद्धादिकं सर्वं कर्तुमर्हन्ति नान्यथेति।

५७—दाल्भ्यगोत्रेतराणां दाल्भ्यगोत्रिणां च कायस्थानां वर्णव्यवस्थाविचारः

दाल्भ्यगोत्रेतरे कायस्थसंज्ञका माहिष्यवनिताजाता वैदेहसूनवः उपनयन-संस्कारहीना पुंसवननामकरणान्नप्राशनचौलविवाहेतिपञ्चसंस्कारमात्राधिकारिणो देवतास्पर्शनानधिकारिणो ब्राह्मणादिसेवालिपिलेखनशिल्पकर्माणः शूद्रधर्माणो भवन्ति । दाल्भ्यगोत्रिणस्तु जन्मतः क्षत्रिया एव । क्षात्रधर्मबहिष्कृताः क्रियालोपाच्छूद्रत्वं गता इति । अत्र प्रमाणं स्कान्दे—

[1]माहिष्यवनिता सूनुं [2]वैदेहाद्यं प्रसूयते ।
स कायस्थ इति प्रोक्तस्तस्य कर्म विधीयते ॥
लिपीनां देशजातानां,लेखनं स समाचरेत् ।
गणकत्वं विचित्रं च बीजपाटिप्रभेदतः ॥
अधमः शूद्रजातिभ्यः पञ्चसंस्कारवानसौ ।
चातुर्वर्ण्यस्य सेवा हि लिपिलेखनसाधनम् ॥
व्यवसायः शिल्पकर्म तज्जीवनमुदाहृतम् ।
शिखां यज्ञोपवीतं च वस्त्रमारक्तमम्भसा ॥
स्पर्शनं देवतानां च कायस्थाद्यो विवर्जयेत् ॥ इति ।

दाल्भ्यगोत्रिणां विशेष उक्तः स्कान्दे—

रामाज्ञया स दाल्भ्येन क्षात्रधर्माद्बहिष्कृतः ।
दत्तः कायस्थधर्मोऽस्मै चित्रगुप्तस्य यः स्मृतः ॥
तद्गोत्रजाश्च कायस्था दाल्भ्यगोत्रास्ततोऽभवन् ।
दाल्भ्योपदेशतस्ते वै धर्मिष्ठाः सत्यवादिनः ॥
सदाचाररता नित्यं रता हरिहरार्चने ।
देवविप्रपितॄणां च अतिथीनां च पूजकाः ॥ इति ।

क्रियालोपात् शूद्रत्वमाह मनुः (१०।४३)—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ इति ।

५८—यज्ञे आचार्यकुण्डस्थानविचारः

मात्स्ये आग्नेये च प्रतिष्ठाविधिमुपक्रम्य "वेदीपादान्तरं त्यक्त्वा कुण्डानि नव पञ्च वा" इत्युक्तेः प्रतिष्ठाविधावेव पञ्चकुण्डीकरणं युक्तम् ।

---

१. क्षत्रियाद्वैश्यायामुत्पन्नो माहिष्यः । २. विप्रायां वैश्यजो वैदेहः ।

महारुद्र-विष्णुयागादौ तु—"एकं कुण्डं शुभदं मध्ये शान्तौ जपाङ्गहवनेषु। आरभ्यैकादशिनीं लघुमहदतिरुद्रहवनविधौ" इत्याद्यभियुक्तोक्तेरेकस्यैव कुण्डस्य विधानादेकमेव कुण्डं कार्यमित्यायाति, तथापि पूर्वोक्तवचनात् पञ्चकुण्ड्यादिपक्षोऽपि साम्प्रतं प्रचलति। पञ्चकुण्ड्यादिपक्षेऽपि आचार्यकुण्डं मध्ये कार्यम्, न प्रतिष्ठादिवत् पूर्वेशानयोर्मध्ये। अत्र होमस्य प्रधानत्वात्।

दानोत्सर्गप्रतिष्ठासु वेदी मध्ये प्रकीर्तिता।
प्राच्यामुदीच्यां वा शान्तौ मुकुरोदरसन्निभा॥

इत्यादिना दानादिष्वेव मध्ये वेदिविधानम्। नारायणभट्टैरपि—

कुण्डं तन्मध्यभागे तु कारयेच्चतुरस्रकम्।
मध्ये तु मण्डपस्यापि कुण्डं कुर्याद्विचक्षणः॥

इत्यादिना मध्ये एव कुण्डं साधितम्। रुद्रकल्पद्रुमेऽपि ग्रहयज्ञाधिकारे मण्डपमध्यभागे कुण्डविधानात् रुद्रादियज्ञस्य ग्रहयज्ञविकृतित्वान्मध्ये एव कुण्डम्। पूर्वेशानदिशि कुण्डकरणं तु यत्र मण्डपमध्यभागे कुण्डविधिः श्रुतो नास्ति तद्विषयकम्।

प्रागुत्तरं समासाद्य प्रदेशे मण्डपस्य तु।
शोभनं कारयेत् कुण्डम्..................॥

इत्यादिवचनस्य त्वयमर्थः—"प्राक् पूर्वं मण्डपस्योत्तमं मध्यमं प्रदेशं प्राप्य कुण्डं कुर्यादिति। तेन लक्षहोमवन्मध्ये कुण्डम्" इत्युक्तम्। स्थलसङ्कोचे तु मध्ये कुण्डमन्यथेशान्यामिति केचिदित्यपि तत्रैव। तेन हवनप्रधाने यज्ञे मध्ये एव कुण्डम्, नान्यत्रेति।

"आचार्यकुण्डं मध्ये स्यात् गौरीपतिमहेन्द्रयोः।"

इत्यादि वचनं प्रतिष्ठापरकमेव, न यज्ञादिपरम्। अतः सर्वत्र हवनप्रधानयज्ञे मध्ये एव आचार्यकुण्डं भवतीति निर्विवादम्।

५६—यज्ञयजमानत्वे त्रैवर्णिकानामेवाधिकारः

रुद्र-विष्णुयागादौ यज्ञयजमानत्वे त्रैवर्णिकानामेवाधिकारो न शूद्रस्य। न ह्यविद्वान् विहितोऽस्तीति न्यायेन विदुष एव कर्मण्यधिकाराच्छूद्रस्य च ज्ञानासम्भवात्।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ (मनु० २।१६)

इति शूद्रस्य श्रुति-स्मृत्यध्ययनश्रवणादिनिषेधात् स्मृतितः पुराणतो वापि न ज्ञानसम्भवः।

"नाध्येतव्यमिदं शास्त्रं वृषलस्य तु सन्निधौ" इति कूर्मपुराणवचनेन शूद्रस्य पुराणपाठश्रवणनिषेधात्। यद्यपि शूद्रस्य साक्षाच्छ्रवणनिषेधेऽपि "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" इति व्यासवचनात् परम्पराश्रवणेन

ब्राह्मणस्याध्यापनादि युक्तम्, 'स च वृत्तिं दर्शयतीतरेषाम्' इति गौतमवचनाद्, ब्राह्मणोपदेशेन वा ज्ञानसम्भवः, तथापि—

"वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत् ।" इति ।

"वेदाक्षरविचारेण शूद्रस्य नरको ध्रुवम् ।" इति ।

इत्यादिपराशरवचनात् ग्रहयज्ञादेश्च वैदिकमन्त्रयुक्तत्वादेतद्ज्ञानमनुपपन्नमेव । सिद्धं चैतत् शूद्राधिकरणे । अतएव ग्रहयज्ञप्रकरणे विज्ञानेश्वर आह—

"द्विजानधिकृत्य शान्तिक-पौष्टिकादीन्यनुक्रान्तानि" इति ।

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां धर्ममनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥

इति मेधातिथिरपि शूद्रधर्मेषु मनुवाक्यमित्थं व्याचख्यौ । मन्त्ररहितो ब्राह्मणादीनां धर्म उक्तः उपवासादिः, तमनुतिष्ठन्तः शूद्राः न दुष्यन्ति, न पुनः समन्त्रकाण्यपि मन्त्रवर्जमनुतिष्ठन्तोऽपि न दुष्यन्तीति । समन्त्रककर्मविधीनां मन्त्रवर्जनपूर्वकं विधानायोगादिति । तस्मात् समन्त्रके कर्मणि शूद्रस्यानधिकारः ।

यत्र तुलापुरुषादौ समन्त्रकेऽपि विशेषवचनं "चतुर्णामपि वर्णानाम्" इति, तडागोत्सर्गादौ च "शूद्रस्यापि प्रकर्तव्यम्" इति, तत्र समन्त्रकेऽपि मन्त्ररहिते एव शूद्रस्याधिकारः । "मन्त्रवर्जं हि शूद्रस्य" इति सुमन्तुवचनात्, "मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीं क्रियाम्" इति मोक्षधर्मेषु व्यासवचनाच्च । तत्रापि नमोऽन्तं तन्नाममन्त्रैर्होमपूजादि कार्यम्, "नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्" इति याज्ञवल्क्यवचनात् । न चैवं वचनं पञ्चमहायज्ञमात्रविषयमिति वाच्यम्; शूद्रधर्मपदेन शूद्राधिकारिककर्ममात्रम्, यज्ञशब्देनोद्दिश्य नाममन्त्रविधानात् पञ्चत्वरूपोद्देश्यविशेषणविवक्षायां ग्रहैकत्वविवक्षावद् वाक्यभेदापातात्, "नाममन्त्रेण शूद्रस्य कुर्याद्धोमादिकं बुधः" इति संग्रहवचनाच्छिष्टसमाचाराच्च । मनुवाक्यमप्येतादृशविषयमेवान्यैर्व्याख्यातम् । यत्तु माधवेन "दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद्धविः" अर्थात् शान्ति-पुष्ट्यादिसिद्ध्यर्थं वैदिकैर्मन्त्रैर्जुहोति तस्य ब्राह्मणस्यैव दोषः, शूद्रस्तु होमफलं लभेतैवेति तदनन्यसाध्यराष्ट्रबाधोत्पातादिशान्त्यर्थं होमे तद्रक्षाधिकरणे द्रष्टव्यम् । तस्य नित्यत्वेनावश्यकत्वात्, अत्र बहुवक्तव्यमपि विस्तरभयान्नोच्यते ।

नन्वेवं सति "सर्वैरेव प्रकर्तव्यम्" इति यस्मिन् कस्मिन् कर्मणि श्रुतं तत्र म्लेच्छादीनामप्यधिकारः प्राप्नोति । अत्र ब्रूमः—श्रवणविधौ "चतुरो वर्णान्" इति श्रवणेन

पुराणश्रवणे म्लेच्छादीनामनधिकारात् पाठस्य च दूरापास्तत्वात्। "चाण्डालाः सर्वधर्मबहिष्कृताः" इति स्मृतिषु साक्षादनधिकारश्रवणाच्च। "मन्त्रवर्जं हि शूद्रस्य" इति शूद्रश्रवणे म्लेच्छस्यामन्त्रककर्मप्रापकाभावाच्च न म्लेच्छादीनामधिकारः। तस्मात् सर्वैरिति शूद्रं विषयीकरोति, न म्लेच्छादीन्। यत्तु वस्त्रदानादौ सर्वैरिति श्रवणेन म्लेच्छादीनामधिकारः, तत्तु साधारणधर्मत्वात् वैधज्ञानापेक्षा यथाकथञ्चित् सम्भवति इत्यलं प्रसङ्गागतक्षोदेन। तत्सिद्धये तदयुतहोमादौ शूद्रस्य नाधिकार इति। एतेन अनुपनीतानामप्यनधिकारः सिद्धः; "स्त्रीशूद्राश्च सधर्माणः" इत्यादिवचनैः शूद्र-समानधर्मत्वावगतेः। यत्तु लक्षहोमे "कुमारी च शुभं पतिम्" इति कुमार्याः फलश्रवणं तत्पित्रादिभिरनुष्ठितादेवेति वेदितव्यम्। तत्र तस्याः साक्षादेतदनुष्ठानेऽनधिकारः। यथा जातस्य पितृकृतं पुत्रे पूतत्वादि, यथा वा पित्रादिकृतेन कृच्छ्रादिना अनुपनीतस्य पातकक्षयः, तथैव तस्याः फलमात्रम्। अतएव बालकव्याधिनिरासार्थं घृततुलाकर्मविपाकादौ पित्रादिभिरेव सर्वं कर्तव्यमिति साम्प्रदायिकाः। बालककर्तव्ये सर्वत्र पित्रादेरेवाधिकारदर्शनात्। तत्रापि यत् सर्वौषधिस्नान-शरीरमार्जन-जल-स्नानादि तत्फलसंस्कारकत्वाद् बालकादीनामेव भवति। यद्वाऽस्तु कुमार्या एवाधिकारो वचनबलाद् रथकारस्येवाधाने। तस्मादपि शूद्रस्येव तुलादावत्र अमन्त्रकत्वेन शूद्र-सहधर्मत्वादिति।

६०—देवपूजने मन्त्रविनियोगविचारः

'गणानां त्वा' (शु० य० २३।१९) इति प्रकरणानुरोधान्महीधरादि-भिरश्वपरतया व्याख्यातोऽप्ययं मन्त्रः स्मृत्या गणपतिपूजने विनियुक्तो गणपति-परतया व्याख्यायते। एवं 'शन्नो देवीः' (शु० य० ३६।१२), 'त्वां गन्धर्वाः' (शु० य० १२।९८), 'अक्षन्नमीमदन्त' (शु० य० ३।५१) इत्यादीनामपि शनिपूजाद्युप-योगित्वम्। अन्यार्थानामपि मन्त्राणां वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यादिति न्यायेन विनियोग इति संस्कारचिन्तामणौ।

आग्नेये—मन्त्रैर्वैष्णवरौद्रैस्तु सावित्रैः शान्तिकैस्तथा।
विष्णुं प्रजापतिं वापि शिवं वा भास्करं तथा॥
तल्लिङ्गैरर्चयेन्मन्त्रैः सर्वदेवान् समाहितः॥

कौर्मे— ब्रह्माणं शङ्करं सूर्यं तथैव मधुसूदनम्।
अन्यांश्चाभिमतान् देवान् तल्लिङ्गैरर्चयेन्नरः॥

"ब्राह्मवैष्णव-रौद्र-सावित्र-मैत्र-वारुणैस्तत्तल्लिङ्गैरर्चयेत्" इति कात्यायनोऽपि स्नानसूत्रे।

अत्र ब्राह्मेत्यादिना देवतातद्धितेन तल्लिङ्गत्वे प्राप्ते पुनस्तल्लिङ्गैरिति ग्रहणं श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्याभिर्मन्त्राद्यङ्गविनियोगो भवति सर्वत्र, अत्र तु

लिङ्गमेव विनियोजकं येषां ते ग्राह्या इत्यर्थकम्, तेन तत्तल्लिङ्गमन्त्रपदेन यथाकथञ्चिदपि तत्तद्देवताद्रव्याद्यनुस्मारकपदघटितमन्त्रपरिग्रहः कार्य इति सिद्ध्यति।

६१—सङ्कल्पस्यावश्यकत्वविचारः

श्रद्धापूते मनसि कर्त्तव्यत्वेन निश्चितस्य कर्मणो ब्रह्मसभायामुच्चैर्वाचा यः संवादः स सङ्कल्पः। अथवा क्रियमाणकर्मादौ निमित्तोल्लेखपूर्वकः 'करिष्ये', 'होष्ये' इत्यादिपदोच्चारणसमकालीनदक्षिणहस्तकरणकपात्राधिकरणजलादिप्रक्षेपसहित-कर्मानुष्ठानप्रतिज्ञा मानसं कर्म सङ्कल्प इत्युच्यते। "सङ्कल्पः कर्म मानसम्" इति।

भविष्यपुराणे— सङ्कल्पेन विना विप्र यत्किञ्चित् कुरुते नरः।
फलं चास्याल्पकं तस्य धर्मस्यार्धक्षयो भवेत्॥ इति।

मार्कण्डेयपुराणे— सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
व्रतं नियमधर्मौ च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः॥ इति।

बृहद्यमस्मृतौ — सङ्कल्पश्च नरः कुर्यात् स्नान-दान-व्रतादिके।
अन्यथा पुण्यकर्माणि निष्फलानि भवन्ति वै॥ इति।

६२—सङ्कल्पे तिथ्यादीनामुच्चारणविचारः

ग्रहणादिनिमित्तस्य मास-पक्ष-तिथीनाञ्च प्रयागादेश्च देशविशेषमात्रस्योल्लेखः कार्यः, न तु व्यापकानामुत्तरायणादीनां श्रीमद्भगवत इत्यादीनां चेति केचित्। तन्न, "प्रयागादिषु तीर्थेषु पुण्येष्वायतनेषु च" इति मात्स्यवाक्यात्प्रयागादितीर्थविशेषस्य यथाऽङ्गत्वम्, एवम्—

"आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोः" इत्यादिवाक्येनार्यावर्तादिसामान्यस्याऽप्यङ्गत्वावगमात्।

मासपक्षतिथीनां च निमित्तानां च सर्वशः।
उल्लेखनमकुर्वाणो न तस्य फलभाग्भवेत्॥ (देवलः)

इत्यत्र 'सर्वशः' इति पदस्वारस्याच्च सर्वनिमित्तानामुल्लेखः। न चानेनैव सिद्धेर्मासपक्षतिथीनामित्यनर्थकमिति वाच्यम्; विधिस्पृष्टानां कार्तिक-माघादीनामुल्लेखसिद्धावपि तदस्पृष्टसाधारणमासाद्युल्लेखप्राप्त्यर्थत्वात्। अन्यथा अविहितमासादिके आधानादौ ज्योतिष्टोमे एकादशीव्रतादौ च मास-पक्ष-तिथीनामुल्लेखाभावप्रसङ्गः स्यात्। एतेन तेन रूपेण प्रयोगाङ्गतया विहितानामेव मासादीनामुल्लेख इत्यपि परास्तम्।

६३—अनेकदिनसाध्ये कर्मणि तिथ्यादीनां प्रतिदिनमुच्चारणमावश्यकम्

अनेकदिनसाध्ये कर्मणि प्रयोगाधिकरणभूताः सर्वा मासपक्षतिथय

उल्लेख्याः, न प्रारम्भदिनमात्रस्य । यत्तु आद्यदिने सङ्कल्पकालीनां तिथिमधिकरणत्वेनोल्लिख्य "ज्योतिष्टोमेनाहं यक्ष्ये", "महारुद्रहोमं करिष्ये" इत्यादि सङ्कल्पवाक्यं प्रयुञ्जते यायजूकाः, तत्तु पदानामन्वयायोगादनादर्त्तव्यमिति दिनकरः । साम्प्रदायिकास्तु नैतत्स्वीकुर्वते । तदुक्तं संस्काररत्नमालायाम्—

यावन्ति कर्मसम्बन्धान्यृक्षाणिस्युस्तु तावताम् ।
वारादीनामपि तथा युक्तं सर्वत्र कीर्तनम् ॥
केनचित्तु नवीनेन प्रोक्तमेतत्तु युक्तितः ।
प्रायोगिकास्त्वेकभादेरेव कुर्वन्ति कीर्तनम् ॥ इति ।

६४—मन्त्रादौ ओङ्कारोच्चारणविचारः

मन्त्रादौ सर्वत्र प्रणवः प्रयोक्तव्यः—"मन्त्रारम्भे विरामे च यागहोमार्चनादिषु ।" इति । "यज्ञ-दान-तपः-स्वाध्याय-जप-ध्यान-सन्ध्योपासन-प्राणायाम-होम-दैव-पित्र्यमन्त्रोच्चारण-ब्रह्मारम्भादीनि प्रणवमुच्चार्य प्रवर्तयेत्" इति शाट्यायनः । अतश्च मन्त्रमात्रोच्चारणे आदावोङ्कारः कार्य इति सर्वानुक्रमभाष्ये । केचित्तु 'प्रवर्त्तयेत्' इति वचनात् प्रारम्भे एव ओङ्कारोच्चारणं युक्तं न सर्वत्र । तथा च छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः—

नोङ्कुर्याद्धोमन्त्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् ।
अन्येषां च विकृष्टानां कालेनाचमनादिना ॥ इति ।

अस्यार्थः—"गोभिलगृह्यप्रसिद्धषडाहुतिविंशत्याहुतिमन्त्रेषु प्रतिमन्त्रम् आदौ न ओङ्कारप्रयोगं कचिदपि कुर्यात्, किन्तु प्रथममेव । अन्येषां जपाद्यर्थानां रुद्राध्यायादीनां मध्ये अप्रायत्ये सति आचमनादिना कालेन ओङ्कारेण सह व्यवधाने जाते न आचमनानन्तरं पठ्यमानस्य मन्त्रस्य आदावोङ्कारप्रयोगः कर्तव्यः । होममन्त्रेष्वेवं व्यवधाने ओङ्कारः कर्तव्य एव" इति नारायणवृत्तिकृता प्रतिपादितः । अत एव शाखान्तरीया न कुर्वन्तीत्याहुः ।

पारस्करगृह्यभाष्ये हरिहरस्तु—अन्येषां चाविकृष्टानामिति पाठं धृत्वा अविकृष्टानामनन्तरितानां कालेनाचमनादिना चेति व्याख्यातवान् । स च त्रिमात्रः प्रयोक्तव्यः—"त्रिमात्रस्तु प्रयोक्तव्यः कर्मारम्भेषु सर्वशः" इति मदनरत्ने व्यासोक्तेः ।

दाल्भ्यपरिशिष्टे च—ब्रह्मयज्ञो जपो होमो देवर्षिपितृकर्म च ।
अनोङ्कृत्य कृतं सर्वं न भवेत्सिद्धिकारकम् ॥

तेन प्रतिमन्त्रं प्रणवोच्चारणं कर्त्तव्यम् । अत्र तु एकविनियोगे युक्तत्वान्मन्त्रा-

णामादावेव प्रणवोच्चारणं कर्त्तव्यं न मध्येऽपि। अस्य पृथग्विधित्वान्मन्त्रेण सह न सन्धिः। पृथग्विधानेन सह सन्धिर्न भवतीत्युपपादितं "त्विषिमान्" (का० श्रौ० सू० ३।३।५) इति कातीयसूत्रे कर्कोपाध्यायैः। एवमध्याहारस्यापि लौकिकत्वान्मन्त्रेण सह सन्ध्यभाव इत्यपि प्रतिपादितं "पशुं पूर्वं समनक्ति" इत्यधिकृत्य "सन्त इति प्रतिमन्त्रम्" (का० श्रौ० सू० ६।४।२) इति सूत्रे तैरेव।

६५—कर्मविशेषे पत्युः समीपे भार्यायाः उपवेशननिर्णयः

धर्मप्रवृत्तौ— आशीर्वादेऽभिषेके च पादप्रक्षालने तथा।
शयने भोजने चैव पत्नी तूत्तरतो भवेत्॥ इति।

संस्कारगणपतौ—वामे सिन्दूरदाने च वामे चैव द्विरागमे।
वामेऽशनैकशय्यायां भवेज्जाया प्रियार्थिनी॥ इति।
"सुमङ्गलीरियं वधूः" इति पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्याने।
सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः शुभा।
अभिषेके विप्रपादक्षालने चैव वामतः॥

विप्रपादक्षालनं च पित्र्ये कर्मणीति बोध्यम्।

वामे पत्नी त्रिषु स्थाने पितॄणां पादशौचने।
रथारोहणकाले च ऋतुकाले सदा भवेत्॥ इति च तत्रैवोक्तेः।

व्याघ्रपादस्मृतौ—कन्यादाने विवाहे च प्रतिष्ठायज्ञकर्मणि।
सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः स्मृता॥
दक्षिणे वसति पत्नी हवने देवतार्चने।
शुश्रूषा—रतिकाले च वामभागे प्रशस्यते॥
जातकर्मादिकार्याणां कर्मकर्तुश्च दक्षिणे।
तिष्ठेद् वरस्य वामे च विप्राशीर्वचनं यथा॥
त्रिषु स्थानेषु सा पत्नी वामभागे प्रशस्यते।
पादशौचे पितॄणां च रथारोहे ऋतौ तथा॥
श्राद्धे पत्नी च वामाङ्गे पादप्रक्षालने तथा।
नान्दीश्राद्धे च सोमे च मधुपर्के च दक्षिणे॥ इति।

स्मृतिसंग्रहे— व्रतबन्धे विवाहे च चतुर्थीसहभोजने।
व्रते दाने मखे श्राद्धे पत्नी तिष्ठति दक्षिणे॥

सर्वेषु धर्मकार्येषु पत्नी दक्षिणतः शुभा ।
अभिषेके विप्रपादक्षालने चैव वामतः ॥ इति ।

धर्मप्रवृत्तौ— जातके नामके चैव ह्यन्नप्राशनकर्मणि ।
तथा निष्क्रमणे चैव पत्नी पुत्रश्च दक्षिणे ॥
गर्भाधाने पुंसवने सीमन्तोन्नयने तथा ।
वधूप्रवेशने चैव पुनःसन्धान एव च ॥
प्रदाने मधुपर्कस्य कन्यादाने तथैव च ।
कर्मस्वेतेषु भार्यां वै दक्षिणे तूपवेशयेत् ॥ इति ।

कात्यायनः—"पश्चादग्नेरुपविशतो दक्षिणतः पत्नी" (४।७।१६) इति ।

यत्तु— शान्तिकेषु च सर्वेषु प्रतिष्ठोद्यापनादिषु ।
वामे ह्युपविशेत् पत्नी व्याघ्रस्य वचनं यथा ॥ इति ।

यच्च—"पत्नी वामे सदा प्रोक्ता मूलाश्लेषाविधानयोः" इति तन्निर्मूलम् ।

६६—प्रश्नत्रयविचारः

(क) कस्याश्चिदुपरतपितृकायाः कन्यायास्तदीयसापत्नमातरं परित्यज्य निकटतमे सम्बन्ध्यन्तरेऽविद्यमाने तस्याः कन्यायाः संरक्षकत्वं तदीयसापत्नमातरि समापतति न वा ?

(ख) यदि सापत्नमाताऽन्धतादोषदूषिता भवेत्तर्हि तस्याः संरक्षकत्वाधिकारो राज्ञोऽपैति न वा ?

(ग) व्यावहारिकेषु धार्मिकेषु च कार्येषु राज्ञां हस्तक्षेपो धर्मशास्त्रसम्मतो न वा ?

इदानीमुपरिनिर्दिष्टप्रश्नत्रयविचारः प्रस्तूयते । तत्र प्रथममिदं विचारणीयम्, यद्धर्मशास्त्रानुरोधेन अनाथसंरक्षकत्वाधिकारः केषामिति । अत्र मनुः—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ (८ । २७)

एतेन अनाथानां तद्धनानां च संरक्षकत्वं राज्ञ एवापतति, परन्तु प्रकृते न तथा, कन्यायाः सापत्नमातुर्वर्तमानत्वात् । सा च भर्तुर्मरणानन्तरं तदीयसमस्तसम्पत्तेरधिकारिणी । परिशेषात् स्व-सापत्नकन्यायाः संरक्षिकापि भवति ।

तथा च बृहस्पतिः— कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु ।
असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ॥ इति ।

याज्ञवल्क्योऽपि—पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुता गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः ॥
एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ इति ।

विष्णुरपि—"अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि ।" इत्यादि ।

भर्तृसम्पत्त्यधिकारिणीनामपि स्त्रीणां संरक्षणन्तु राजायत्तमेव । तथा च "बालदायादिकं रिक्थम्" इत्युपक्रम्य मनुना उक्तम्—

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ (मनु० ८।२८)

'एवं रक्षणं स्यात्' इत्यस्य 'राजा तु पालयेत्' इति पूर्वेण सम्बन्धः । तथा च अनाथानां सम्पत्तिमतीनामपि पालनं राज्ञैव यावज्जीवं कर्तव्यमिति पर्यवसितम् ।

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
तान् शिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ (मनु० ८।२९)

इति वचनेन च सर्वथा राजाधीनमेव तासां रक्षणमिति फलति । यच्च—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ (मनु० ९।२०१)

इति वचनेन कन्यकायाः सापत्नमातुरन्धतादोषदूषितत्वात् अनंशमापतितमपि तत्र जात्यन्धशब्दनिवेशात्तस्या जन्मान्धत्वसद्भावेऽनंशत्वं वर्तत एव अजन्मान्धाया अंशग्राहित्वं दुर्निवारम् । परन्त्वत्रेदमवधयेम्—उपरतपितृकाया अनाथायाः कन्यकाया विधवाया अन्धायाः सम्पत्तिमत्याः तत्सापत्नमातुरपि संरक्षणं पूर्वोपदर्शितमन्वादिवचनानुरोधेन राज्ञैव कार्यमिति स एव राजा उभयोरपि संरक्षको भवति चेत्तर्हि सर्वमवदातम् । किञ्च—

"व्यवहारान्नृपः पश्येद् विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥" (याज्ञ०स्मृ०व्यव १)

"निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥" (या० स्मृ व्यव० १८६)

"अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि यः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात् ॥" (या० स्मृ०आ०३५८)

इत्यादिधर्मशास्त्रानुसारेण व्यवहारेषु धर्मकार्येषु वा यत्र कुत्रापि चाव्यवस्था राज्ञैव परिहरणीयेति ।

६७—गोमांसभक्षकहस्ते गोविक्रये प्रायश्चित्तम्

कश्चिद् ब्राह्मणोऽसकृद् गोमांसखादके गवां विक्रयं कृतवान् सः केन प्रायश्चित्तेन शुद्धो भवितुमर्हतीति प्रश्ने इदमुत्तरम्—यदि तां गां गोमांसखादको हतवान् तदा सकृद्विक्रेता एकपञ्चाशत्कार्षापणलभ्यहिरण्यदानेन पञ्चदशकार्षापणलभ्यहिरण्यदानेन च शुद्ध्यति । अत्यन्ताभ्यासेन एवं विक्रयं कुर्वतो द्वादशवार्षिकं व्रतम्, तदशक्तावशीत्युत्तरशतधेनुदानेन, तदशक्तौ चत्वारिंशदधिकपञ्चशतकार्षापणलभ्यहिरण्यदानेन पूर्वोक्तदक्षिणादानसहितेन शुद्धिः ।

विक्रयैर्गोविनिमयैर्दत्त्वा गोमांसखादके ।
चान्द्रायणव्रतं कुर्याद्वधे साक्षाद्वधी भवेत् ॥ इति गौतमवचनात् ।

विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं भवेत् ।
तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तम्.................. ॥ इति देवलीयात् ।

"चतुर्थे सर्वम्" इत्यापस्तम्बवचनात्सर्वमित्यस्य द्वादशवार्षिकमिति शूलपाणिव्याख्यातत्वाच्चेति ।

६८—भृत्यावरुद्धगोमृतौ भृत्यप्रायश्चित्तम्

यत्र भृत्यापराधात् कस्यचिद् गृहे गौर्मृता तदा रोधननिमित्तम् गोवधप्रायश्चित्तं भृत्येन कर्तव्यम् । भृत्यस्य द्रव्याभावे गृहस्वामिना द्रव्यं दत्वा कारयितव्यम् । यदि भृत्यो न स्वीकुर्यात्, म्लेच्छो वा भृत्यो भवेत् तदा स्वामिनैव रोधननिमित्तकवधप्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । प्रमाणं चात्र मनुः—

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ (८।२९३)

इति वचनेन अयोग्यसारथिनियोगे हिंसायां स्वामिनो दण्डविधानात् "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो बाधकं विना सर्वत्र प्रत्यायको भवति" इति न्यायात् गोवधप्रायश्चित्तेऽपि अयोग्यपालकादौ नियुक्ते स्वामिनो दोषस्तस्यैव प्रायश्चित्तम् । यदि पालकः प्रायश्चित्तं चिकीर्षेत्तदा तेनैव कर्तव्यम् । एतच्च गोवधप्रायश्चित्तप्रकरणे रघुनन्दनभट्टाचार्यैः प्रायश्चित्तमुक्तम् । अज्ञातस्वामिकाया गोर्वधे ब्राह्मणस्वामिकगोवधप्रायश्चित्तमेवानुष्ठेयम् ।

६९—वैश्येन दण्डनिपातनेन कृतायां स्वगोहत्यायां प्रायश्चित्तम्

केनचित् वैश्येन स्वस्याः गोर्वधे दण्डनिपातनेन किं प्रायश्चित्तमिति प्रश्ने प्रायश्चित्तविवेके वैश्यसम्बन्धिन्या वधे तु याज्ञवल्क्यः—

पञ्चगव्यं पिबेद् गोघ्नो मासमासीत संयतः ।
गोष्ठेशयो गोऽनुगामी गोप्रदानेन शुद्ध्यति ॥
पञ्चगव्येन गोघाती मासैकेन विशुद्ध्यति ।
गोमतीञ्च जपेद्विद्यां गवां गोष्ठे च संवसेत् ॥

मासैकपञ्चगव्यपाने धेनुचतुष्टयं दक्षिणा गोदानेन पञ्चधेनवः । एतद-बुद्धिकृते । बुद्धिकृते त्वेतदेव द्विगुणम् । ज्ञानतो वैश्यस्वामिकायाः दण्डेन गोर्वधे गोमतीविद्याजपसहितमासैकपञ्चगव्यपानरूपं व्रतं करणीयम् । तदशक्तौ दश धेनवो देयाः । दोग्ध्रीवधे तु प्रायश्चित्तद्वैगुण्यम्, तेन विंशतिधेनव एका गौर्दक्षिणा । प्रायश्चित्तद्वैगुण्ये दक्षिणायाः द्वैगुण्यम् । अत्र वपनं सशिखं सलोमकम् । प्रायश्चित्तमिदं कर्तव्यमित्यनुष्ठेयम् । पूर्वदिने तु उपवासः, घृतप्राशनं च, परस्य गवे ग्रासा देयाः । दश ब्राह्मणाश्च भोजयितव्याः ।

७०—गोवधे प्रायश्चित्तम्

बुद्धिपूर्वं कतमोऽपि वर्णः ब्राह्मणस्य गां शस्त्र-यष्टि-लौह-मुष्टि-विषादिना यदि हन्यात् तदर्थं त्रैमासिकव्रतं प्रायश्चित्तं स्मृतम् । अशक्तौ सप्तदश प्रत्यक्षगोदानानि, अथवाऽसामर्थ्ये तावतीनां गवां मूल्यं ददीत । प्रायश्चित्तविवेककारस्य मते एकस्या गोर्मूल्यं द्वादशाणकाः वर्तते । अपरे त्वाचार्याः "द्वात्रिंशत्पणिका गावः" इत्यभिप्रयन्ति ।

त्रैमासिकव्रतार्थं प्रथमदिने वपनोपवासौ तथा घृतप्राशनं विदधीत । तस्मिन्नेव दिने सायंकाले प्रायश्चित्तानुष्ठानार्थं संकल्पं कुर्यात् । द्वितीये दिने त्रैमासिकव्रतप्रत्याम्नायरूपेण गोमूल्यं प्रदद्यात् ।

अज्ञानात् ब्राह्मणगोवधे सार्धमासिकव्रतं प्रायश्चित्तं स्मृतम् । तदशक्तौ नव-प्रत्यक्षधेनवो देयाः, तत्रासामर्थ्ये तासां मूल्यं देयम् । धेनूनां मूल्यं सार्द्धपञ्चविंशति-कार्षापणाः विहितम् । दक्षिणारूपेण एका गौर्देया । पूर्वपरयोर्दिनयोः कार्यं यथापूर्वं कुर्वीत ।

ज्ञानपूर्वं क्षत्रियगोवधे षाण्मासिकव्रतं प्रायश्चितं समाम्नातम् । अशक्तौ द्वादश धेनवो यथाशक्तिदक्षिणापुरस्कृता देयाः । पूर्वापरदिनकृत्यं पूर्ववदनुतिष्ठेत् । अज्ञानाद् गोवधे तदर्द्धं प्रायश्चित्तं विहितम् ।

ज्ञानात् वैश्यगोवधे गोमतीविद्यां जपन् एकमासपर्यन्तं पञ्चगव्यपानरूपं व्रतमनुतिष्ठेत् । तदशक्तौ दश गावो देयाः, दक्षिणारूपेण चैकां गां ददीत । पूर्वापरदिनकृत्यं पूर्ववद् विदधीत । अज्ञानात् गोवधे तदर्द्धं प्रायश्चित्तं स्मृतम् ।

ज्ञानात् शूद्रगोवधे प्राजापत्यचतुष्टयं विदधीत, अथवा गोचतुष्टयं दद्यात् । अज्ञानाद् गोवधे तदर्द्धं प्रायश्चित्तं विहितम्, अन्यत् सर्वं यथापूर्वमनुतिष्ठेत् ।

७१—ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तम्

अज्ञानाद् ब्राह्मणवधे द्वादशवार्षिकव्रतं प्रायश्चित्तम् । ज्ञानतो ब्राह्मणवधे

चतुर्विंशतिवार्षिकव्रतं प्रायश्चित्तम्। अज्ञानात् यागस्थानीयब्राह्मणस्य वधे चतुर्विंशतिवार्षिकव्रतम्, तथा ज्ञानतः यागस्थलीयब्राह्मणस्य वधे अष्टचत्वारिंशद्वार्षिकव्रतं प्रायश्चित्तं स्मृतम्। एवमेव बाल-वृद्ध-गुरु-माता-पितृ-सोदरभ्रातृणां श्रोत्रियब्राह्मणस्य तथाऽग्निहोत्रिब्राह्मणस्य ज्ञाताज्ञातवधे यथापूर्वं व्रतं प्रायश्चित्तं विहितम्।

अज्ञानतः प्रेतश्राद्धान्नभोजिनो ब्राह्मणस्य वधे वार्षिकव्रतं प्रायश्चित्तम्। तथा ज्ञानतो वधे द्विवार्षिकं प्रायश्चित्तं स्मृतम्। ज्ञानतोऽज्ञानतो वा ब्राह्मणस्य वधप्रायश्चित्तस्य प्रथमदिने उपोषणम्, सशिखवपनम्, घृतप्राशनम्, दशब्राह्मणभोजनम्, गोग्रासदानम्, दक्षिणारूपेण शतं गावो वा देयाः। एतदशक्तौ तन्निष्क्रयदानम्।

बहूनां ब्राह्मणानां एकपुरुषकर्तृकवधे तादृशमहापातकानुष्ठातुः पातकिनः कारीषाग्नौ प्रविश्य मरणमेव प्रायश्चित्तम्। अज्ञानत एतादृशपातकाचरणे तस्य आजीवनं द्वादशाब्दव्रतं प्रायश्चित्तं विधीयते।

क्षत्रियो यदि ज्ञानतो ब्राह्मणं हन्यात् तदा स ब्राह्मणस्य तादृशपातककर्तृविहितप्रायश्चित्तस्य द्विगुणं प्रायश्चित्तं विदधीत, अज्ञानतो यदि ब्राह्मणं हन्यात् तदाऽज्ञानतो ब्रह्मवधकर्तुर्ब्राह्मणस्य विहितं यत्प्रायश्चित्तं तद्द्विगुणं प्रायश्चित्तं विदध्यात्।

एवमेव वैश्यकर्तृकब्रह्मवधे त्रिगुणं प्रायश्चित्तं विहितम्। शूद्रकर्तृकब्रह्मवधे चतुर्गुणितं प्रायश्चित्तं स्मृतम्।

७२—गजाश्वादिवधे प्रायश्चित्तम्

राजसम्बन्धिश्रेष्ठगजवधे पञ्चनीलवृषदानम्। सामान्यगजवधे अहोरात्रमुपवासो घृतप्राशनञ्च। ज्ञानत उत्तमगजवधे चान्द्रायणव्रतम्, अज्ञानतस्तदर्धम्। ज्ञानतः अश्ववधे चान्द्रायणव्रतम्, अज्ञानतस्तदर्धम्। अज-मेष-खरवधे एकहायनवृषदानम्। अज्ञानतो मृग-महिष-तरक्षु-(व्याघ्रविशेषः) ऋक्ष-वानर-सिंह-व्याघ्र-पृषत-चमरी-रुरूणां वधे अहोरात्रमुपवासः, द्वितीयदिने घृतप्राशनञ्च। ज्ञानतो मृगादीनां वधे सप्तरात्रमुपवासः, उपवासाशक्तौ एकस्मिन्नुपवासे अष्टौ ताम्रपणाः प्रदेयाः। अज्ञानतः ग्राम्यपशुवधे प्राजापत्यं हिरण्यं च दक्षिणा। ज्ञानतः ग्राम्यपशुवधे द्विगुणं प्रायश्चित्तम्। मृगवधे तिलद्रोणमेकं सुवर्णदक्षिणा च। अज्ञानतो मार्जार-गोधा-नकुल-मण्डूक-श्व-वधे पक्षिवधे च दुग्धपानमात्रं कृत्वा त्रिरात्रमुपवासः। ज्ञानतस्तु मार्जारादिवधे द्विगुणं प्रायश्चित्तम्। मूषिक-सर्प-डुण्डुभ-अजगरवधे उपवासः लोहदण्डमेकं च दक्षिणा। अज्ञानतः सामान्यपक्षिवधे नक्तव्रतम्। ज्ञानतः द्विगुणितं व्रतम्। कुक्कुटवधे अहोरात्रमुपवासः। अज्ञानतः मत्स्यादिजलचराणां सकृद् वधे सप्तरात्रमभोजनम्, ज्ञानतो मत्स्यादीनां वधे द्विगुणं प्रायश्चित्तम्। अभ्यासे प्रायश्चित्तावृत्तिः।

अस्थिरहितानामस्थिसहितानां च जन्तूनां वधे शूद्रहत्याव्रतम्। एवं सहस्रजन्तोर्वधेऽपि च शूद्रहत्याव्रतम्। अस्थिसहितजन्तोर्वधे ब्राह्मणेभ्यः किञ्चिद्देयम्।

अस्थिरहितजन्तुवधे प्राणायामो विधेयः। अन्नेन रसेन फलेन पुष्पेण चोत्पन्नानां जन्तूनां वधे घृतप्राशनम्। ज्ञानतः सामान्यतो वृथा पशुमात्रवधे प्राजापत्यम्, अज्ञानतो वधे तदर्धम्।

७३—बालादिहनने प्रायश्चित्तम्

ज्ञानतो विषं प्रदाय वैश्यबालकं हतवत्या वैश्यस्त्रिया तत्पापक्षयार्थं द्वादशवार्षिकमहाव्रतस्यार्द्धं षड्वार्षिकं व्रतं कर्तव्यम्। तत्प्रयोजिकया स्त्रिया तदेव व्रतं पादन्यूनं सार्द्धचतुर्वार्षिकं कर्तव्यम्। अत्र मनुः (११।१२६)—

"तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः॥" इति।
"बालं वृद्धं गुरुं चैव स्त्रियं वीरां रजस्वलाम्।
ब्राह्मणं यजमानं च हत्वा निष्कृतिमाचरेत्॥
चरित्वा द्वादशाब्दानि वीरब्रह्महणं व्रतम्।
गोसहस्रं ततो दद्याद् ब्राह्मणेभ्यः शताधिकम्॥
द्रव्यहीनो यदा हन्ताबालादीनां सुराधिप।
चरित्वा द्वादशाब्दानि सेतुबन्धं स पश्यति॥" (भविष्यपुराणे)

एतेषां ब्रह्मवधप्रकरणोक्तत्वेऽपि "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो बाधकं विनाऽन्यत्रापि कल्पते" इति न्यायात् क्षत्रियादिवधेऽपि एतानि प्रवर्तन्ते। अज्ञानतो वैश्यवधे सार्द्धवार्षिकम्, ज्ञानतस्तु त्रैवार्षिकम्। अत्र तु बालहनने द्वैगुण्यस्याभिहितत्वात् ज्ञानकृतत्वाच्च षड्वार्षिकं व्रतं सम्पद्यत इति। षड्वार्षिकव्रतकरणाशक्तौ नवतिर्धेनवो देयाः, तत्राप्यशक्तौ तन्मूल्यं देयम्। ते च सप्तत्यधिकद्विशतकार्षापणा भवन्ति।

७४—यानगामिनः प्राणिनो मरणे सारथेर्नियोक्तुर्वा प्रायश्चित्तम्

यदि कस्यचित् यानगामिनो यानवैगुण्यात् प्राणिवधो जायते तदा तद्वधप्रायश्चित्तं यानप्रेरकेण सारथिना कर्तव्यम्। यदि सारथेर्द्रव्याभावस्तदा स्वामिना द्रव्यं दत्त्वा कारयितव्यम्। म्लेच्छः सारथिश्चेत् स्वामिनैव प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्।

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात् प्राजकस्य तु।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम्॥ (मनु० ८।२९३)

इति वचने यत्र सारथेरकौशलात् यानमन्यथा गच्छति तत्र हिंसायामशिक्षितसारथिनियोगात् स्वामी द्विशतं दण्डं दाप्यः स्यादिति कुल्लूकभट्टव्याख्यादर्शनात् अयोग्यपालकसमर्पणे स्वामिनो दोषात् तस्यैव प्रायश्चित्तम्।

यावत्सस्यं विनश्येत्तु तावत्स्यात् क्षेत्रिणः फलम्।

गोपस्ताड्यश्च गोमी च पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥
(या० स्मृ० व्य० १६१)

इति गवादिदोषेण पालकस्ताड्य इति दर्शनाच्च ।

७५—स्वाम्यादेशात् प्रवृत्तस्य भृत्यस्य मरणे स्वामिनः प्रायश्चित्तम्

स्वामिना आदिष्टः कश्चित् शूद्रः कूपादौ म्रियते तन्मरणे तस्य प्रयोजकत्वात्तेन शूद्रवधोक्तं नवमासिकव्रतं पादन्यूनं कार्यम् , द्वाविंशतिदिनाधिकषाण्मासिकव्रतं कार्यम् , द्वादश धेनवो देयाः। स्वामिन आदेशाभावे तस्य प्रायश्चित्तमेव नास्ति, प्रयोजकत्वाभावात्। "त्वमेव कुरु" एवमादेशे प्रयोजकत्वं प्रोत्साहनेऽपि। तयोरन्यतरस्याभावात् आदेशाभावे प्रयोजकत्वं नास्तीति।

७६—आत्मघातिनो वैश्यस्य प्रायश्चित्तम्

शस्त्रादिना आत्मघातिनो मृतस्य वैश्यस्य पुत्रादिना तत्पापक्षयार्थिना यथोक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा नारायणबलिं च कृत्वा सर्वमौर्ध्वदेहिकं कर्तव्यम् , एवं महिषीदानमपि कर्तव्यम्। प्रायश्चित्तं तु वैश्यप्रायश्चित्तं ब्राह्मणवधप्रायश्चित्तस्याष्टमोंऽशः। तस्य पञ्चचत्वारिंशद् धेनुदानात्मकमात्मघातप्रायश्चित्तं च। चान्द्रायणद्वयात्मकं मिलित्वा षष्टिधेनुदानात्मकं भवति। धर्मसिन्धुकृन्मते अशक्तस्य प्रायश्चित्तमकृत्वापि केवलनारायणबल्यनुष्ठानेन श्राद्धादिकं महिषीदानमन्तरापि।

७७—पण्डितमदनमोहनमालवीयप्रदत्तदीक्षाविचारः

[1]कतिपयैर्वर्षैः काशीस्थदशाश्वमेधघट्टे समुद्दिश्य शिवरात्रिपर्व अन्त्यजेभ्यः महामनःपण्डितमदनमोहनमालवीयमहोदयप्रदीयमानः सप्रणवो मन्त्रोपदेशः किं तेषां स्पृश्यतासम्पादकः सम्भवति न वा? किं वा दीक्षयाऽनया तेषां पारमार्थिकं कल्याणं भवितुमर्हति? इति प्रश्नद्वयस्य समुत्तरमिदम्—

द्विधा हि दीक्षा भवति—वैदिकी तान्त्रिकी च । वैदिकी हि दीक्षा सोमयागादिष्वेव भवितुमर्हति, नान्यत्र। तान्त्रिकी दीक्षा तु तैस्तैस्तान्त्रिकैः स्व-स्वसम्प्रदायानुसारेण स्व-स्वशिष्येभ्यो दीयते, तया च गृहीतया शिष्यजनः आत्मानं संस्कृतं मन्यते। सा दीक्षा उभयथापि नात्र संवृत्ता। अतो दीक्षाशब्दवाच्यता नास्य कर्मणः। अतोऽनया अशास्त्रीयया कृत्रिमया स्वार्थसाधनमात्रमूलया न तेषु स्पृश्यतासम्पादनं पारमार्थिककल्याणसम्भावना वा। "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः" इति न्यायानुरोधादिति।

---

१. धार्मिकहृदयवैश्यकुलालङ्कार-विद्याविद्वदुपासकस्वर्गीयश्रेष्ठिश्रीगौरीशङ्करगोयनकामहोदयस्य जिज्ञासिताविमौ प्रश्नौ। —सम्पादकः।

[1]अभिभाषणम्

श्रीमन्तो माननीयाः, काशीपण्डितमण्डलमूर्धन्याः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा मनीषिणो महोदाराः सभ्याः! विद्यालयाध्यक्षमहोदयाः सौहार्दभाजोऽध्यापकाः समुपस्थितनागरिकाः प्रियतमाश्छात्राश्च !

ईदृशे साभापत्यपदे वैदिकमनर्हं मां प्रतिष्ठाप्य, भवन्तो वार्षिकोत्सवकार्यं प्रारभन्त निरवाहयँश्च समुचितरूपेणेति नात्र मनागपि मम महत्त्वम्, अपितु भवतामेव। भवद्भिरेवात्र पदे प्रतिष्ठापितो भवतामेवानुकम्पया साहाय्येन च निर्व्यूढेऽत्र कृत्ये हार्दिकं हर्षलेशं प्रकटयामि। कार्यसम्पादनातिरिक्तं सभापतेरिदमपि कार्यं भवति यदन्ते स्वकीयभावाविष्काराय केषाञ्चन शब्दानां प्रयोगकरणम्। तदिह कर्मणि प्रवृत्त उपस्थितेषु महोदयेषु छात्रानेवोपदेशग्रहणार्हान् निरीक्ष्य तानेव लक्ष्यीकृत्य किमपि ब्रवीमि।

पुराऽद्यत्व इव महानगरेष्वीदृशा महाविद्यालया विद्यालया वा नासन्। अपि तु विपिनबहुलेषु ग्रामेषु निवसन्तो निर्धना अपि सर्वेषां धनिनां मुकुटमणयो भिक्षावृत्त्या जीविकां चालयन्तश्छात्रानपि तस्यामेव योजयन्तः सर्वेषां माननीया ब्राह्मणाः शिक्षका आसन्। तेषामारण्यकत्वं न खेदायाजायत अपि तु मोदायैव। यदा तेषां छात्राः शिक्षां समाप्य समावर्त्तनाय प्रवृत्ता अभूवन्, तदा तैः का शिक्षा प्रदत्तेत्युपनिषत्सु श्रूयते। तत्रत्याः कियन्तः शब्दा इमे सन्ति—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयाऽऽसने न प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।" इति।

---

१. सन् १६४० ईस्वीये काशीस्थगोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयस्य वार्षिकाधिवेशने सभापतिपदमलङ्कृतवतां महामहोपाध्यायमहाभागानामभिभाषणम्।

सोऽयमुपदेशस्तदानीन्तनेभ्य आरण्यकेभ्यश्छात्रेभ्य आरण्यकैर्गुरुभिरदीयत, स साम्प्रतिकेभ्यो नागरिकेभ्योऽपि नितान्तमुपकारकारीति न विस्मर्त्तव्यम्। बहव आधुनिका नवशिक्षिताः प्राचीनानामृषीणां वचसां तत्त्वमनवधार्यैव दोष-दृष्टयः कथयन्ति यदृषिभिर्यदकथ्यत तत्तदानीमुपयोगि आसीत्, किन्तु सम्प्रति न तस्य पूर्ण उपयोगः। तैरयमुपदेशः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च यद् व्यतीतेषु वर्षाणां सहस्रेषु नवीनतामेव यातेषु मानवेषु शब्दा इमे तादृशा एवोपकारकाः सन्ति न वा। अहमभिलषामि यद् भवद्भिश्छात्रैः सर्वदाऽयमुपदेशो मनसा चिन्तनीयः पालनीयश्च यत्नतः। पालितेऽस्मिन्नुपदेशरत्ने सर्वविधं कल्याणं भवतां सम्भाव्यते।

अध्ययने संल्लग्नानाम्, अध्ययनं समाप्य गृहं गच्छताम्, अध्यापनकार्ये प्रवृत्तानाम्, अन्येष्वप्युपदेशदान-कथावाचन-कर्मकाण्डप्रवर्त्तनादिषु प्रवृत्तानां भवतां पुरः सामयिकोऽयमपि समुपस्थित एवास्ति प्रश्नो यत्कीदृशी शिक्षापद्धतिरपेक्षिताऽस्माकम्। प्रश्नोऽयं स्वीयां सर्वविधां जटिलतां क्रोडीकृत्य प्रचरति पुरः संस्कृतज्ञानामिति विषयेऽस्मिन् किमपि नाभिधाय न मौनिना स्थातुं शक्यते। यद्यपि वाञ्छा नास्ति वक्तुम्, तथापि—"अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः" इति गीतोक्तन्यायेन किमपि कथयामि।

समये समयेऽस्माकं शिक्षाक्रमः परिवर्त्तितोऽभूत्, भविष्यति चेत्यत्र न कस्यापि विमतिः। भगवान् महाभाष्यकारः पतञ्जलिः कथयति—

"पुरा ह्येतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणमधीयते स्म। तेभ्यस्तत्तत्स्थानानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते स्म। तदद्यत्वे न तथा, वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति, वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः, लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणमिति, तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्यः सुहृद् भूत्वा आचार्य उपदिशति, इमानि प्रयोजनानि अध्येयं व्याकरणम्" इति।

पश्यन्तु नाम, तदानीं महाभाष्यकारः खेदं करोति यत् केचिद् व्याकरणं न पठन्ति, कतमा युक्तिर्भवेद् यदेषां पिपठिषूणां व्याकरणे मनो लगेत्, कियतैव कालेन च तादृशी प्रवृत्तिरजायत यद् वेदा दूरे जाताः, केवलस्य व्याकरणस्यैव कियतो दर्शनादेश्चाध्ययनमवशिष्टम्। एवं समये समये भवति शिक्षाक्रमे परिवर्त्तनम्, किन्तु के परिवर्त्तनं कुर्वन्तु कथं च कुर्वन्त्वित्यत्रैव विमतिः।

उपरि यस्या उपनिषदः शब्दाः श्राविताास्तस्या एव तैत्तिरीयोपनिषदः शब्दान् पुनरपि कांश्चिद् भवतः श्रावयामि। दृढं श्रोतव्यं यत् छात्रेभ्यः क उपदेश आचार्याणाम्, किञ्च कर्त्तव्यं छात्रमात्राणा। शब्दा इमे सन्ति—

"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः" इति।

अयमुपदेशो भवद्भ्यः—अनाम्नातेषु धर्मेषु कर्त्तव्येषु वा। अत्र "युक्ता" इति पदं वर्त्तते, अर्थात् ये तत्र कर्मणि युक्ताः भवेयुः तेषामेव व्यवहारेण शब्देन वा निर्णयः। अधुना किं भवति—केचिदीदृशाः सन्ति यैर्न कदाचिदध्ययनं कृतं न वाऽध्यापनम्। संस्कृतभाषाया येषु विद्यालयेषु पाठनं भवति तेषां मुखान्यपि तैर्न दृष्टानि, एवम्भूताः केचन सज्जनाः—"ये न विवाहिताः, न वा वारयात्रिके गताः" कथयन्ति यत् शिक्षापद्धतिः परिवर्त्तनीया, न केवलं कथयित्वैव ते तिष्ठन्ति, अपि तु परिवर्त्तनमपि कुर्वन्ति, कथयन्ति च यदिदमवश्यमङ्गीकरणीयम्। अङ्गीकृत्य पश्यन्तु यदि परिवर्तितपद्धत्या कल्याणं न भविष्यति तर्हि पुनरपि परिवर्त्तनं भविष्यति।

ईदृशा जनाः सज्जनाः सन्ति, विद्वांसः सन्ति, माननीयाः सन्ति, ये संस्कृतभाषाया वेदस्य च प्रचारं कामयन्ते, ते यत्किमपि कथयन्ति सद्भावेनैव कथयन्ति, किन्तु दशा तेषां सैव, या कस्यचिदायुर्वेदमधीत्य तिष्ठतो रोगिषु चाकृताभ्यासस्य दत्वा नवीना औषधीः परीक्षयितुर्भवेत्। असौ रोगिणः पथ्यं वाञ्छति, कल्याणमाशंसति, मङ्गलानि कामयते, किन्तु वराकः प्रथममेवात्र कृत्ये संलग्नः "शतमारी भवेद् वैद्यः" इति वचनस्य चरितार्थीकरणायान्ते चिन्तयिष्यति—

"नाहं गतो न मे भ्राता कस्येदं हस्तलाघवम्।"

संस्कृतभाषाया अध्ययनमेव जीर्णं शीर्णम्, जीविकाया उपायस्य नैयून्यात् केऽपि धनिनः स्वबालान्नाध्यापयन्ति संस्कृतभाषाम्। अन्येषान्तु का कथा, संस्कृतज्ञाः पण्डिता एव स्वतनयान् भाषान्तरे संलगयन्ति, ईदृशेऽस्मिन् दुर्विषहे विषमे काले कथञ्चन श्वासान् गृह्णन्तीं संस्कृतभाषां तथा चिकित्सितुं प्रवृत्ताः केचन सुधियः, यथा सा स्वयं प्राणान् विनाशयेत्। अधीत्यास्माकं बालाः किं विधास्यन्ति, तेषां कृते किमपि नवीनं कार्यमस्ति न वा, ते कथं जीवनं चालयिष्यन्ति, कं लाभमनुसृत्यात्र जनानां प्रवृत्तिर्जायेतेत्यत्र तु कोऽपि ध्यानमेव न ददाति, केवलं पाठ्यक्रमपरिवर्त्तनेनैव कृतकृत्यताऽनुभूयते।

शिक्षापद्धतौ सुधाराय यतमानैर्हिन्दी-भूगोलेतिहास-गणितानां तत्र विन्यासः क्रियते। हिन्दीभाषा देशभाषा पठनीया विज्ञेया, सर्वथा तस्याः परिवर्धने रक्षणे च यत्न आस्थेयः, किन्तु तस्याः संस्कृतभाषापरीक्षापाठ्यग्रन्थेषु संस्थापनं किमर्थम्? संस्कृतज्ञानां हिन्दीज्ञानायेति चेत्पृच्छामि किं कस्यचन एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा हिन्दीग्रन्थानां पाठनेन संस्कृतज्ञाः पूर्णतया हिन्दीवेदिनो भवेयुः? अहन्तु स्वीकरोमि यद् हिन्दीज्ञानाय कियतां ग्रन्थानां परीक्षासु निवेशेऽपि हिन्दीसाहित्य-सम्मेलनादिपरीक्षादानादिद्वारा छात्रैर्यतनीयमेव भविष्यति। कुर्वन्ति चापि

साम्प्रतिकच्छात्रा यत्नम्। कश्चित् 'एडवान्स'—परीक्षां ददाति, कश्चिद् 'विशारदम्', कश्चित् 'रत्नम्'—इति दृश्यत एव। एवं स्थिते हिन्दीग्रन्थानां विन्यासः केवलं संस्कृतभाषातो ध्यानस्य दूरीकरणायैवावशिष्यते। संस्कृतभाषायां प्रौढं पाण्डित्यमनासाद्यापि कथञ्चन परीक्षोत्तीर्णतायामुपयोगिनी जायते हिन्दीति न तिरोहितम्।

भूगोलादीनामप्यध्ययनं हिन्द्यामेव प्रचाल्यते, तानि यदिमान्येव हिन्द्यां सन्ति विदेशीयजनलिखितानि विदेशीयभाषानूदितानि च तर्हि किमिति न हिन्द्यामेव पठेयुः, घोषयेयुश्च—"अस्माकं पूर्वजा असभ्या आरण्यका आसन्, वर्करपालनं गोचारणञ्च तेषां कृत्यमासीत्, ते मध्यैशियातः पर्यटन्तः पञ्चनददेशमासाद्य गीतमगायन्त, यदधुना वेदात्मना कथ्यते।" यदि सेयमेवेतिहासशिक्षा, तर्हि दूरत एव शत-शतप्रणामाः संस्कृतज्ञानाम्। वयं तु स्वदेशीयान् स्वपूर्वजान् महतो जानीमः, तथैव स्मरामश्च। अहो! अन्धपरम्परैषा, इतिहास-भूगोलादिशब्दमादाय कोलाहलं कुर्वन्ति, नावधारयन्ति च यदितिहासे किमस्ति, भूगोले च किमस्ति। अध्ययनमेषामावश्यकमिति जानामि, किन्तु स्वतन्त्रैर्लिखितानां स्वदेशगुणगानतत्पराणामेवेति कथमपि विस्मर्तुं न पारयामि। अद्य शार्मण्यादयो देशान्तरीयाः स्व-स्वगौरवगानाय नवीनमितिहासं रचयन्ति। भारते च यत्र सत्यं भारतीयं यशो लिखितं तत्र विश्वासो यथा न भारतीयानां भवेत्तथाध्यापनं भवति। अन्ये स्वधर्ममूलग्रन्थाक्षररक्षायै प्राणान् त्यजन्ति, अस्मद्देशे च पाठ्यते यद् वेदा अर्वाचीनाः।

संस्कृते इतिहासोऽस्ति, गणितमस्ति, भूगोलमस्ति, तत्र का न्यूनता, का विशेषता, कथं तेषां पाठनं भविष्यतीत्यनवधार्य सुन्दरैरितिहासादिशब्दैर्वञ्चिता यदि भवन्त एषां पठने निरताः स्युरवश्यं भारतीयं गौरवं विनाशयेयुः। संस्कृतपरीक्षायान्तु सर्वाणि पुस्तकानि संस्कृतभाषायुतान्येवापेक्षितानि। बिहारे भवतीतिहासस्य पाठनं भूगोलस्य पाठनञ्च, किन्तु संस्कृतभाषायां लिखितस्यैवेति न तु दृश्यत एव।

कथयन्ति यद् भारतीयेतिहासे समयगणना न लिखितेति न तस्येतिहासता। पृच्छामि यत्समयेऽसौ नरेशोऽजायत इति ज्ञानमावश्यकम्, तस्य नरेशस्य कार्यं कथमासीत्, तस्य चरित्रेण का शिक्षा प्राप्तुं शक्येति ज्ञानं वा? आद्यस्य ज्ञानेन किंफलमिति नावधारयामि। हरिश्चन्द्रः कदाचिदपि जातः, किन्तु सत्यपालकस्तथाऽऽसीद् यथा तस्य यशो गायामि। येन फलं भवति तथा वर्णनं व्यासादिभिः कृतमेव। अथ नवीनरीत्या विचारा आवश्यकाः तर्हि ते संस्कृतभाषायां लेखयितुं शक्याः।

तदत्र प्रसङ्गागते सामयिकेऽप्यसामयिके विशेषतोऽनभिधाय युक्तानामेवात्राधिकार इति भूयो निवेद्य विरम्यते।

अत्रैवोपनिषदि भवतां कर्त्तव्यं सर्वं निर्धारितम्—सत्यं वद, धर्मं चरेत्यादि। "धर्मं चर" इत्यनेन सन्ध्यावन्दनादिलक्षणकः कार्यकलापो नित्यो नैमित्तिकः काम्यश्च सर्व एव गृह्यते। सन्ध्यावन्दनादेरवश्यकर्तव्यता—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता ।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चैव जायते ॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥

इत्यादिवचनसहस्रेण बोधितैव । अत्र स्वगुरूणामाचारानपि भवन्तो द्रष्टुं शक्नुवन्ति, यत्ते विद्यालयागमनतः पूर्वं गङ्गायास्तटे काष्ठफलकेषु स्थित्वा भूति-भरितललाटाः समर्च्यैव सन्ध्यां समायान्ति विद्यालये । किमिदमपि वक्तव्यं भविष्यति यद् भवद्भिरपि प्रत्यहं सन्ध्यावन्दनकाले देवर्षिपितृतर्पणादिकमपि कर्त्तव्यम् । तदेतदपि तत्रैवोपनिषदि "देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्" इति शब्देन बोधितम् । एतैरेवानुष्ठितैर्देवर्षिपितृऋणैर्मनुष्योऽनृणो भवितुं शक्नोति । जायमान एव हि मानवस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् भवति—देवऋणेन, पितृ-ऋणेन, ऋषिऋणेन च । तत्र स्वाध्यायाध्ययने ऋषिऋणं दवयितव्यम् । अध्ययनस्य कियती आवश्यकता, इति एतावतैव वक्तुं शक्यते—यद् ऋणदूरीकरणायाध्ययनम् । एकोऽपि पणो यदि कस्यचन ऋणं गृह्येत न च दीयेत समये, कियती त्रपा तस्य भवति, एवमृषिऋणस्य महतो दूरीकरणायाध्ययनमावश्ययकम् । किन्तु ऋणापा-करणं न केवलमङ्गानामेवाध्ययनेन जायते, अपितु साङ्गस्य वेदस्याध्ययनेन, इत्यङ्गिनो वेदस्याप्यध्ययनमावश्यकमेव । मन्वादिमहर्षिभिः—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

इत्यादिना वेदाध्ययनस्य सर्वथाऽऽवश्यकत्वं बोधितम् । तत्र यदि केवलमङ्गा-नामेवाध्ययने प्रवृत्ता यूयम् , नाङ्गिनो वेदस्य । समस्तस्याध्ययनाय समयं न प्राप्नुवन्ति चेत् कियानंशोऽवश्यमध्येतव्य एव । अतएव भवतां विद्यालये नियमोऽयं वर्त्तते यदन्ततः पुरुषसूक्तमात्रं सर्वैश्छात्रैरध्येतव्यमेव । सखेदमिदमपि निवेद्यत एव यदत्रापि कर्मणि न बहवश्छात्राः प्रसन्नतया प्रवृत्ता भवन्ति । हंहो ! येषामध्ययनेन विना ब्राह्मण्यमेव संशयापन्नं तेषामपि विषये विचिकित्सा । अहो ! बाला यूयमिति वारं वारं निवेद्यते कियतोंऽशस्यावश्यमध्ययनाय । वेदसंरक्षणार्थमेवास्मिन् विद्यालये सर्वेषां वेदानामध्यापका नियोजिताः, येन स्व-स्वशाखाध्ययनं छात्राणां भवेत् ।

अस्मिन् महाविद्यालये सर्वेषां वेदानामध्यापकरक्षणं निखिलवेदाध्यापन-प्रणालीप्रचालनञ्च वर्त्तते । इयं विशेषता न कुत्राप्यन्यत्र महाविद्यालये वाराणस्या-मिति विशेषतायामस्यां सगर्वं नामास्य महाविद्यालयस्य ग्रहीतुं शक्यम् । राजकी-योऽपि महाविद्यालयोऽस्मिन्नंशे नास्य समतां करोतीति न चाटुकारवचनम् ।

द्वितीया विशेषता—धर्मशास्त्राध्ययनस्यावश्यकत्वकरणं तदर्थं वृत्तिस्थापनं परीक्षाचालनञ्च । इदमपि नान्यत्रेति दृष्टिपथगमेव । कियन्तो विद्यालया एतदीय-मेव चरितं दृष्ट्वा स्वेष्वपि प्रचालितवन्तो धर्मशास्त्रादिपरीक्षामिति हर्षस्थानम् ।

तृतीया विशेषता—महाविद्यालयसम्बन्धिनो महतो विश्वनाथपुस्तकालयस्य स्थापनम्। राजकीयपुस्तकालयः सरस्वतीभवनं चित्रकूटसन्निधौ, हिन्दुविश्वविद्यालयीयश्च लङ्कायामिति सुदूरं स्थानम्, किन्तु गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयीय-'विश्वनाथ-पुस्तकालयः' विश्वनाथमन्दिरसमीप एव, येन विश्वनाथसमीपवासिनां विदुषां छात्राणाञ्च भृशमुपकारी पुस्तकालयोऽयमिति ननु समक्षमेव। पुस्तकालयत एवाच्युतग्रन्थमालायां महतां ग्रन्थानां विशिष्टस्य 'अच्युत'नामधेयस्य मासिकपत्रस्य प्रकाशनमपि स्वर्णे सुगन्धयोग एव।

चतुर्थी विशेषता—विद्यालयाध्यक्षस्य स्थापनरूपा। इदं महत्त्वमेतेनैव विद्यालयेनाधिगतं यद् योग्यतमाः संस्कृतभाषाया महान्तो विद्वांसः सनातनधर्मे दृढां श्रद्धां धारयन्तो निर्विचिकित्सा अध्यक्षा भवेयुरिति। अत्र सुगृहीतनामधेयस्य भगवति विश्वनाथे विलीनस्यापि यशसा वाराणस्यां भारते च सर्वत्रैव व्याप्तस्य श्रीचण्डीप्रसादशुक्लस्य स्मरणमावश्यकम्। कीदृशी तेषां दृढा निष्ठा सनातनधर्मे, कीदृशं प्रौढं पाण्डित्यम्, कीदृशः सरलः स्वभावः, इति प्रायो न भवतां तिरोहितं भवेत्। साम्प्रतं येऽस्मिन् सुयोग्ये पदे तिष्ठन्ति तेषां श्रीमतां महामहोपाध्यायानां श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिमहोदयानां विषये तु वक्तव्यमेव किमु। स्वीयेनाखण्डेन पाण्डित्येन, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रया धिषणया, महत्या भाषणशैल्या, विपक्षविधूननपरिनिष्ठितया वादसरण्या च सर्वेषां मनसा वचसा कर्मणा च माननीया एवेति किमपरं ब्रवीमि।

पञ्चमी विशेषता-सुयोग्याध्यापकसमवेततारूपा। अत्र न प्रत्येकं परिगणय्य नामग्राहं स्मारयामि विदुषः, किन्तु सर्वदा वाराणस्यामेव तिष्ठत्सु भवत्सु तिरोहितमपि नास्ति तेषां नामादि। यत्र महामहोपाध्यायाः धर्मप्राणाः श्रीलक्ष्मणशास्त्रिणो द्राविडाः, महामहोपाध्यायाः श्रीवामाचरणभट्टाचार्यमहोदयाः, महामहोपाध्यायाः श्रीपञ्चाननतर्करत्नमहोदयाः, महामहोपाध्यायाः श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिण इत्येवमादयोऽध्यापनकार्ये निमग्ना आसन्, अत एवास्य महाविद्यालयस्य विषयेऽस्मिन् किमिति कथयामि।

पवित्रतम आर्यावर्त्तोऽयं देशो यत्र भवतां जनुरभूत्, तत्रापि भारतं वर्षं यस्मिन् जन्मग्रहणाय देवा अपि वाञ्छन्ति, तत्रापि वाराणसीयं सर्वश्रेष्ठा धर्मकेन्द्रभूता कलियुगेऽपि सत्ययुगं विस्तारयन्ती नगरी, तत्रापि जाह्नव्याः स्ववारिभिरघं क्षालयन्त्यास्तटम्, एवम्भूते पवित्रे स्थाने महाविद्यालयोऽयं राजते यत्र भवतामध्ययनं प्रचलति, द्विजचरणानुरक्ताः श्रीगौरीशङ्करगोयनकाश्रेष्ठिसदृशाः सनातनधर्मे दृढामास्थां धारयन्तोऽस्य विद्यालयस्य सञ्चालका जन्मदातारश्च सन्ति। नाहं श्रेष्ठिमहोदयानां यशोगाने निरतः, अपितु एते स्वकर्त्तव्ये सर्वथा सर्वदा व्यापृताः सन्तीत्येतावन्मात्रं बोधयामि। अथ यत्र वैश्याः स्वीये कर्त्तव्ये सर्वदा निरताः सन्ति, तत्र भवतामपि पुरोजन्मनां स्वकर्त्तव्यपालनं कर्त्तव्यमिति किमु वक्तव्यम्।

यस्मिन् सनातनधर्मे दीक्षितेनेयं संस्था चाल्यते तादृशस्य धर्मस्य रक्षायै सर्वथा भवद्भिर्यतनीयम्। क्षमापरैः सत्यपरायणैर्दयानिरतैर्दानमनस्कैः शौचावलम्बि-

भिर्जितेन्द्रियैर्देवार्चने कृतनिश्चयैः सन्तुष्टैरनलसैः पारस्परिकसौमनस्यसौहार्दभरितै-रनिन्दितचरितैरहिंसकैरसूयाविरहितैर्मादकद्रव्यसेवनविरतैर्व्यायामपरायणैः पञ्चमहा-यज्ञानुष्ठानकृद्भिः ग्रन्थाभ्यासकुशलैर्गुरुसेवापरायणैश्च आन्दोलनविमुखैः शान्ति-प्रियैर्भवद्भिर्भवितव्यम्, येन यत्रैव भवन्तो गच्छेयुर्विज्ञातं भवेद् यदिमे काशीस्थ-गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयस्य छात्राः सन्ति। यस्याः संस्कृतभाषाया रक्षणाय प्रच-लति विद्यालयोऽयं तस्याः प्रचाराय सर्वथा भवद्भिः श्रम आस्थेयः। श्रीहर्षो यस्याः सार्वदेशिकत्वं स्वीकरोति कथयति च—

'अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु।'

तस्या अधुना का दशेति भवन्तोऽवलोकयन्त्येव। पठन्ति सुरगवीं भवन्त इति तस्या रक्षणाय सुमहान् यत्न आस्थेयः। अङ्गन्त्वभिलषामि भवन्तः स्वव्यवहारे सर्वथा संस्कृतभाषामेव व्यवहरन्तु, येन भवतां भाषायामस्यां पाटवं भाषायाश्च प्रचाराधिक्यं सममेव सम्पद्येत।

यद्येवं नियमपालनपुरस्सरमध्ययने भवन्तो बद्धपरिकरा भवेयुः तदा अस्मिन् महाविद्यालये या 'वाचस्पतिपरीक्षा' पूर्वं प्रवृत्ताऽऽसीत्, तस्याः पुनः प्रचाराय पाठशालासंस्थापकमहोदयः प्रार्थ्येत। पूर्वं वाचस्पति-परीक्षाप्रचालनावसरे या विचारधारा कार्यं कुर्वाणाऽऽसीत्, सा नितान्तमुपयोगिन्यासीदिति कथनं तु पिष्ट-पेषणमात्रम्। यास्तदानीं तत्परीक्षाछात्रेभ्यो दीयमानत्वेन सङ्कल्पिता आसन् वृत्तयः तासां विनियोग इतरकार्येषु सम्प्रति वर्त्तते, ता अल्पा आसन्निति तु सर्वैरेवाङ्गीकर्तुं शक्यते। ये कुत्रचन विद्यालये पञ्च वर्षाणि यावत् ग्रन्थान् पाठयित्वा ख्यातिं जग्मुरध्यापकत्वेन, तादृशेषु योग्यतमः प्रथमतो विंशतिमुद्रामितं मासिकं गृहीत्वाऽ-ध्ययनाय प्रवृत्तो भवेत्, तत्रापि तादृशमध्ययनं चालयेद्, यस्य ग्रन्था वर्षप्राप्यवृत्त्यापि न क्रेतुं शक्यन्ते—कथं सम्भाव्यम्। इदमेव प्रबलं कारणमासीद् यत् तस्यै परीक्षायै समुपयुक्ताः परीक्ष्या न मिलिताः। एवं स्थिते परीक्ष्याणामेवाभावमाकलय्य वाचस्प-तिपरीक्षातिरोधानं न रोचते मह्यम्। अहन्त्वभिजानामि यत्तदर्थं राजकीयमहा-विद्यालयमप्राथ्य महाविद्यालयोऽयं स्वयं कार्यं चालयितुं शक्नोति। अत्रत्या अध्यक्षमहोदयास्तादृशं योग्यं परीक्ष्यमन्विष्य न्यूनान्न्यूनं पञ्चाशन्मुद्रामितं मासिकं निश्शुल्कग्रन्थसाहाय्यञ्च दत्त्वा कमप्येकं परीक्षारूपेण पाठयितुं शक्नुवन्ति। यादृशं सौकर्यं छात्राय अत्र मिलेत्, न तादृशं राजकीयमहाविद्यालयीयवर्त्तमानपरि-स्थितौ कथञ्चन प्राप्तुं शक्यते, न वा पूर्वमेव कदाचित्केनापि प्राप्तम्। न राजकीयमहाविद्यालयीयदोषोद्घाटनायेदं कथयामि, किन्तु वास्तवं परिदर्शयामि। अतोऽध्यक्षमहोदयाः प्रार्थ्यन्ते यत् पुनरपि वाचस्पति-परीक्षाया आविर्भावः कारयितव्यः।

अथ एतैरेव शब्दैः स्वभाषणं समापयन् भवतां छात्रजीवने ब्रह्मचर्यपालनं सनातनधर्मनिष्ठां ग्रन्थाभ्यासकौशलं परीक्षोत्तीर्णतां योग्यताप्राप्तिं गुरुसेवां गुरुकृपां दीर्घायुष्यञ्च समभिलषामि, तदर्थं प्रार्थयामि च भगवन्तं भूतभावनं विश्वनाथम्।

अन्ते च गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षवर्यान् महामहोपाध्यायपण्डित-श्रीहरिहरकृपालुद्विवेदिमहोदयान् प्रति किमपि विवक्षुरपि कैः शब्दैः किं कथयामीत्य-नवधारयन्नेव तिष्ठामि। यदिह मामकमागमनं भवत्पुरतः कथनोपकथनञ्च तत्सर्वं तदाग्रहस्य तदनुग्रहस्यैव च फलमिति प्रबोधयन् न तेषां गुणान् गायामि।

अध्यापकाः! भवताम्, अन्ये च समुपस्थिता अमुष्मिन् महोत्सवे विद्वांसो नागरिकाश्च न तेषामुपकृतयो विस्मर्तुं शक्यन्ते, यैः स्थिरीभूय संगत्य च कार्यचालने साहाय्यमाचरितम्!

सर्वान्ते च सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्य कारणीभूतं भगवन्तं श्रीगौरीशङ्करमभि-वन्दामि चिरायुषं श्रेष्ठिनं श्रीमन्तं गौरीशङ्करगोयनकामहोदयं भूयोभूय आशीर्भिर-भिनन्दयामि च यस्य लम्बायमानेन जीवनेन बहूनां ब्राह्मणानां तैरेव साकं संस्कृत-भाषायाश्च विपुलं कल्याणं सम्भाव्यत इति शम्।

वेदका अध्ययन

संसार में सभी जीव यह अभिलाषा करते हैं कि मुझे सुख सदा प्राप्त हो और दुःख कभी प्राप्त न हो। सुख और दुःख दोनों ही जन्य हैं। अखण्ड ब्रह्मानन्दरूप नित्य सुख के अतिरिक्त वृत्तिरूप सुख-दुःख सभी जन्य हैं, यह वेदान्ती भी स्वींकार करते हैं। वृत्तिरूप सुख जब जन्य है तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य मानना होगा। क्योंकि संसार में जितने जन्य पदार्थ हैं वे किसी न किसी कारण की नियमेन अपेक्षा रखते हैं। इसलिए प्रस्तुत सुख और दुःख निवृत्तिरूप कार्यों का भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। ऐसी स्थिति में वह कारण कौन है, यों उसके अन्वेषण में बुद्धि प्रवृत्त होती है। कारण गवेषणा में प्रवृत्त पुरुष को विविध विचित्रताओं से युक्त केवल इस चराचर जगत् का ही नहीं, अपि तु तद्गत वैचित्र्य का भी कोई न कोई कारण होना चाहिये यह निश्चय होता है।

पहले वह लौकिक प्रमाणों द्वारा उक्त कारण को परखना चाहता है। किन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान आदि लौकिक प्रमाणों में उसे बहुधा व्यभिचार देख पड़ता है और उनकी ओर प्रवृत्ति में विफलता ही उसके हाथ लगती है। इस प्रकार लौकिक प्रमाणों में विफल यत्न होकर वह पुरुष बुद्धि के अगोचर किसी अलौकिक प्रमाण के अन्वेषण में प्रवृत्त होता है। अन्वेषण करते करते उसे अलौकिक अर्थ की प्रत्यायक कोई शब्दराशि, जो पुरुषबुद्धि से अछूती और सकल पुरुषार्थों की अवभासक है, प्राप्त होती है। उसे पाकर उसके मन को शान्ति मिलती है एवं आशान्वित और शान्तचित्त हो उसके द्वारा उपदिष्ट मार्ग से वह विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है। उसके अनुष्ठान से उसे अभीष्ट फलप्राप्ति होती है एवं फलप्राप्ति से पूर्ण सन्तोष होता है।

अलौकिक अर्थ का प्रत्यायक जो शब्दराशिरूप प्रमाण उसे प्राप्त हुआ वही 'वेद' कहा जाता है। उससे प्रतिपाद्य जो अर्थ है वही धर्म कहलाता है। वह सब पुरुषार्थों का मूलभूत प्रथम पुरुषार्थ है। धर्म से ही अन्य तीन पुरुषार्थ (अर्थ, काम और मोक्ष) प्राप्त होते हैं। वही सारी कल्याणपरम्परा का सम्पादक तथा दुःख का निवर्तक है। उसी में सब लोक प्रतिष्ठित है अर्थात् सब लोकों का वही आधार है।

कहा भी है—"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, धर्मेण पापमपनुदति" उसी विविध प्रकार के धर्म—जो वेदातिरिक्त प्रमाणों से अधिगम्य नहीं है—का प्राणियों

के अनुग्रहार्थ अवबोधन करने के लिए वेद प्रवृत्त हैं। इसीलिए वे वेद कहलाते हैं। आर्यों ने वेदलक्षण का यों उपदेश दिया है·

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥"

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जिस सुख तथा दुःख—निवृत्ति के उपाय का परिज्ञान नहीं हो सकता उसे लोग वेद से जानते हैं, इसीलिए वेद 'वेद' कहलाते हैं।

हमारे प्राचीनतम महर्षियों तथा मनु आदि स्मृतिकारों ने, जो सर्वज्ञकल्प थे, पूर्वोक्त अलौकिक श्रेय के साधन धर्म को अन्य प्रमाणों से जानने की इच्छा की। उसके लिए उन्होंने बहुत क्लेश सहे। किन्तु उसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्त में उन्होंने धर्म के विषय में भगवान् वेद की ही शरण ली। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"वेदो धर्ममूलम्" (गौ० ध० सू०), "उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्" (बौ० ध० सू०), "श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः" (वा० ध०), "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु०) और एक स्वर से सभी ने वेद को प्रथम धर्ममूल बतलाया तदुपरान्त वेद का अनुगमन करनेवाली स्मृतियों को भी वेदानुसरण से ही धर्म में प्रमाण बतलाया एवं श्रुति और स्मृति के अनुसारी शिष्टाचार को भी उन्होंने धर्म में प्रमाण कहा।

इस प्रकार स्मृति और शिष्टाचार का धर्म के विषय में जो प्रामाण्य कहा गया है वह वेद के अविरोध से ही है। यदि किसी अंश में भी उनका वेद से विरोध प्रतीत हो तो उनमें ग्राह्यता नहीं ही रहती।

इसी अभिप्राय से महर्षियों ने "धर्मज्ञसमयः प्रमाणं तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्" (वा० ध०) अर्थात् धर्मवेत्ता का आचार प्रमाण है, उसके प्राप्त न होने पर शिष्टाचार प्रमाण है इत्यादि कहा। धर्म का स्वरूप न तो प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों द्वारा ग्राह्य है और न वह कोई मूर्ति ही रखता है। इसीलिए मीमांसकों ने भी "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै० सू०), "श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते" इत्यादि घोषणा की है। यद्यपि याग, दान, होम आदि कर्मों को ही धर्म बतला रहे और कर्म को प्रत्यक्ष का विषय मान रहे भाट्टों के मत में धर्म में भी प्रत्यक्ष विषयता प्राप्त होती है तथापि वे धर्म को कर्मरूप नहीं कहते, बल्कि अलौकिक श्रेय का साधन कहते हैं। धर्म का वह स्वरूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा वेद्य नहीं है, किन्तु एकमात्र वेद से ज्ञेय है। तदनुसारिणी स्मृतियों से भी वह ज्ञातव्य है एवं श्रुति और स्मृतियों के अनुशीलनरूप एक संस्कार से परिपक्व शिष्टबुद्धि से भी अभिगम्य है। इनके अतिरिक्त धर्मस्वरूप का परिचायक और कुछ नहीं है।

इसी अभिप्राय का अनुसरण कर रहे भगवान् महर्षि आपस्तम्ब ने भी कहा है—"नहि धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति—न देवगन्धर्वाः, न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति, यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते

सोऽधर्मः ॥" (आपस्तम्ब ७।६-७) अर्थात् धर्म और अधर्म हम हैं हमारा आचरण करो ऐसा नहीं कहते। न देवता गन्धर्व ही कहते हैं और न पितर ही कहते हैं कि यह धर्म है और यह अधर्म है। जिसके आचरण से आर्य जन (श्रेष्ठ पुरुष) श्लाघा करते हैं वह धर्म है और जिसकी गर्हा करते हैं वह अधर्म है।

प्रामाणिक और परीक्षक इस प्रकार अरण्यसिंह न्याय से प्रमाणान्तर से अवेद्य धर्म के स्वरूप का परिचायक होने से ही वेद के प्रामाण्य और गौरव का बखान करते हैं। पुरुषबुद्धि के दोषलेश से असंस्पृष्ट सर्वज्ञकल्प वेदों द्वारा अभिगम्य होने के कारण ही धर्म में लोग अटूट और अटल गौरव रखते हैं। इस प्रकार के अतिगंभीर वेदों से वेद्य धर्मस्वरूप को ठीक-ठीक जानने के लिए असमर्थ मन्दबुद्धियों पर वे भी धर्मस्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर उसका आचरण कर विशिष्ट सुख और दुःखनिवृत्ति प्राप्तकर परमानन्दभागी हों, यों अनुग्रह करने के लिए लोक में वेद प्रवृत्त हैं। वेद ही क्यों, वेदानुगृहीत सब वेदाङ्ग—शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द-, पुराण, न्याय और मीमांसारूप सब उपाङ्ग, बहुत क्या कहें सारा का सारा संस्कृत वाङ्मय भगवान् वेदपुरुष का ज्ञान कराकर वेदार्थ को विशद करने के लिए वेदप्रतिपाद्य धर्मस्वरूप को सरल रीति से व्याख्या करने के लिए आख्यान, उपाख्यान आदि कहते हुए तत् तत् धर्मों में उन-उन अधिकारी पुरुषों को प्रवृत्त कराने के लिए ही लोक में प्रवृत्त हैं।

केवल संस्कृतवाङ्मय के ही नहीं, भारत देश के सब भाषामय ग्रन्थ भी विविध प्रकारों से उसी (पूर्वोक्त) अर्थ का ही विवरण करते हैं।

इसलिए हमारा सारा का सारा शब्द-सन्दर्भ साक्षात् या परम्परा से भगवान् वेदपुरुष का अवयव ही है, ऐसा वस्तुतः विचार करने पर सर्वव्यापी सर्वशक्तिशाली वेदपुरुष में अन्यून (समान) बुद्धि और अन्यून गौरव रखने वाले हम लोग हमारी यह मति अनुचितकारिणी नहीं है, यह हृदय से स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार धर्म ही सब प्राणियों को साक्षात् अथवा परम्परा से सम्पूर्ण पुरुषार्थ अधिकारानुसार प्रदान करता है। उक्त धर्म का वेद से ही ठीक ठीक परिज्ञान किया जा सकता है। वेद और वेद का अनुसरण करनेवाले स्मृति आदि प्रमाणों से ज्ञात नियमतः तथा विधिविधान से अनुष्ठित धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थों के प्रदानपूर्वक मोक्षरूप निःश्रेयस् तक प्रदान करता है।

वेद यदि विधिपूर्वक गुरुमुख से पढ़ा जाय तभी वह अपने अर्थ को अवबोधित करता हुआ अभिलषित फल प्रदान करता है। जो नियमों का पालन नहीं करता उसके द्वारा सविधि न पढ़ा गया वेद नियमपूर्वक अध्ययन के विना (यहां अध्ययन गुरुमुख से उच्चारण के अनन्तर उच्चारण अभिप्रेत है।) पुस्तक देखकर कण्ठस्थ किया गया, खूब अभ्यस्त भी, कर्म में विधिपूर्वक प्रयुक्त भी कुछ

फल पैदा नहीं करता। इसलिए जो लोग वेदाध्ययन के अङ्गभूत, स्मृति आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित नियमों की कोई परवाह न कर मनमाने ढंग से रघुवंशादि काव्यों के तुल्य वेद को कण्ठस्थ कर उसी शब्दराशि को कर्मों में प्रयुक्त करते हैं, कर्म में प्रयुक्त उस निस्सार शब्दराशि से अथवा उसके अनुसार किये गये कर्म का कोई फल न देख वे वैदिक कर्मों की निष्फलता और वैदिक मन्त्रों की निस्सारता का ढिंढौरा पीटते फिरते हैं एवं श्रद्धालु जनों को मोह में डालते हैं। "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति" इस न्याय के अनुसार यह सब उनका स्वकृत दोष का अज्ञान ही है।

वैदिक मार्ग की यह दुर्दशा इधर प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रही है। वेद-मार्गनिरत श्रद्धालु धार्मिक जनों को इसे रोकना चाहिये।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि नियमानुसार अधीत वेद से ही अर्थज्ञान कर कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। नियमपूर्वक गुरुमुख से अधीत सारगर्भित मन्त्रों का ही कर्मों में प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार किये गये ही कर्म अपना-अपना फल देने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं।

जैसे अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ सारी शक्ति अपने में रखते हुए भी धान, गेहूँ, जौ आदि के बीज उचित देश, काल और संस्कार के अभाव में अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर सकते, वैसे ही यज्ञ आदि कर्म भी सम्पूर्ण फल जननशक्ति से सम्पन्न होने पर भी यदि ठीक ठीक अनुष्ठित न किया जाय तो कदापि फलोत्पादक नहीं होता। इसलिए धर्मानुष्ठान से फल चाहनेवाले पुरुषों को पहले कर्मवैगुण्य से बचने की चेष्टा करनी चाहिये। इसलिए शबरस्वामी ने कहा है—"स यथावदनुष्ठितः पुरुषं निःश्रेयसेन संयु .क्ति" अर्थात् धर्म यदि यथाविधि अनुष्ठित हो, तो वह अनुष्ठाता पुरुष के लिए कल्याणप्रद होता है। अतः धर्म पुरुष के अभिलषित सर्वविध कल्याणों का प्रापक है और वह एकमात्र वेद से ज्ञेय है। वेद भी विधि, अर्थवाद, मन्त्र, निषेध और अभिधेय रूप से विविध प्रकार का है। अपने सभी विध्यादि प्रकारों (भागों) से वह धर्म का ही प्रतिपादन करता है।

विधि—धर्मस्वरूप, धर्म के अङ्ग, द्रव्य, देवता अथवा अन्य का विधान करती है। अर्थवाद—पुरुषों की रुचि उत्पादन द्वारा धर्म में उन्हें प्रवृत्त करने के लिए धर्म की स्तुति करता है। मन्त्र—अनुष्ठान के समय उच्चरित होकर उसी का (धर्म का ही) स्मरण कराता है। निषेध—अधर्म के स्वरूप का ज्ञान कराता हुआ अधर्म से भिन्न धर्म है, यह प्रतिपादन करता है। नामधेय—कर्म की संज्ञा है। वह अधर्म से धर्म को पृथक् करता हुआ संकल्प, व्यवहार आदि में सहायता पहुँचाता है।

इसीलिए सूत्रकार भगवान् जैमिनि ने विविध स्थलों में—"तद्भूतार्थानां क्रियार्थेन समाम्नायः", "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्", "उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्" इत्यादि कहा है।

इस प्रकार वेद का कोई एक अंश भी ऐसा नहीं है जो धर्म का प्रतिपादन न

करता हो। उसके द्वारा पुरुष को श्रेयःप्राप्ति होती है, अतः उसका कहीं पर त्याग नहीं किया गया है। उसी से मनुष्य अपने को कृतार्थ मानता है। अत एव भगवान् मनु ने यह स्पष्ट रूप से कहा है—'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' (अर्थात् वेद ही द्विजातियों के लिए परम निःश्रेयस्कर है।)

इसलिए सब प्रकार से पुरुषों के कल्याणकारी वेद का विधिपूर्वक अध्ययन कर और नियमानुसार उसका अर्थ जानकर विधि-विधान के साथ अपने अधिकारानुरूप तत् तत् विविध कर्मों का अनुष्ठान कर लोग अपनी अभिलषित सुख-प्राप्ति और दुःखनिवृत्ति का सम्पादन करेंगे, ऐसी आशा है। यह सब शुभाशंसाएँ अपने मनमें रखकर ही हमारे प्राचीन आचार्य कहते हैं—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।"

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः

उपनीत बालक के लिए "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिये) यों अध्ययन का विधान किया गया है। यहाँ अध्याय पद शाखा का प्रतिपादक है। अध्याय में स्वत्व और एकत्व विवक्षित हैं अतएव एक ही शाखा, जो एक वेद से सम्बद्ध तथा अपने कुल में परम्परागत हो, अध्ययन योग्य है। "अनया त्रय्या विद्यया लोकं जयति" (इस त्रयी विद्या [वेद विद्या] से मनुष्य लोक पर विजय प्राप्त करता है)। "वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।" (क्रम के अनुसार तीनों वेदों का या दो वेदों का अथवा एक ही वेद का अध्ययन करे।) इत्यादि शास्त्रों के पर्यालोचन से अन्य वेदों का अध्ययन भी कर्तव्यत्वेन प्रतीत होता है। अतः ऋग्वेद आदि वेदों में से एक-एक वेद की एक शाखा का अध्ययन करना चाहिये, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। उसमें भी पहले अपनी शाखा का अध्ययन कर अन्यान्य वेदों की अन्यान्य शाखाओं का अध्ययन करना चाहिये। यह सब पूर्वमीमांसा के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में शाखान्तराधिकरण से सम्बद्ध वार्तिक आदि में स्पष्टरूप से प्रतिपादित हैं।

श्रौत कर्म, स्मार्त, शान्तिक तथा पौष्टिक कर्म अपनी शाखा द्वारा ही करणीय है। अपनी शाखा के उपलब्ध रहते अन्य शाखा का ग्रहण करने में शास्त्रों में पाप सुना जाता है। यदि अपनी शाखा उपलब्ध न हो तो अपनी शाखा से अविरुद्ध अन्य शाखोक्त भी कर्मकाण्ड विधि उपादेय है। इसके सम्बन्ध में प्रमाणवाक्य वीरमित्रोदय, रुद्रकल्पद्रुम आदि में वर्णित हैं—

पारम्पर्यगतां मुक्त्वा स्वां समाख्यानिबन्धिनीम्।
शाखां शाखान्तरं युक्तं नाध्येतुं सदृशे श्रमे॥

'यदि दोनों के अध्ययन में एक सा परिश्रम हो तो अपने वंश में परम्परा से चली आ रही अपनी शाखा का त्याग कर दूसरी शाखा का अध्ययन उचित नहीं है।'

पारम्पर्यगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः।
तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा॥

'जिनका कुल क्रमागत साङ्गोपाङ्ग वेद हो उनको उसी शाखा में कर्मकाण्ड करना चाहिये और उसी शाखा का अध्ययन करना चाहिये।'

यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
अधीत्य शाखामात्मीयां परशाखां ततः पठेत्॥

'जिस शाखा में प्रतिपादित संस्कारों से संस्कृत (संस्कारसम्पन्न) होकर ब्राह्मण हो उसी अपनी शाखा का अध्ययन कर तदुपरान्त स्ववेदातिरिक्त वेदों की शाखा का अध्ययन करे।'

स्वेन पित्रादिभिर्वापि यः कल्पादिः पुराऽऽहृतः।
स तु नैव परित्याज्य इति वेदानुशासनम्॥

'स्वयं अपने द्वारा अथवा अपने पिता आदि पूर्वजों द्वारा जो कल्प (विधि) पहले आदृत हो उसका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। यह वेद का आदेश है।'

एकवेदेऽपि शाखानां मध्ये योऽन्यतमां श्रयेत्।
स्वशाखां तु परित्यज्य शाखारण्डः स उच्यते॥

'जो अपनी शाखा का त्याग कर अपने ही वेद की विविध शाखाओं में अन्यतम शाखा का आश्रयण करता है वह शाखारण्ड कहलाता है।'

यः स्वशाखां परित्यज्य पारक्यामधिगच्छति।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वकर्मसु साधुभिः॥

'जो अपनी शाखा का परित्याग कर परकीय शाखा का अवलम्बन करता है सज्जनों! उसका सर्व कर्मों में शूद्रवत् बहिष्कार करना चाहिये।'

आत्मशाखां परित्यज्य परशाखासु वर्तते।
उच्छेत्ता तस्य वंशस्य रौरवं नरकं व्रजेत्॥

'जो अपनी शाखा का परित्याग कर परकीय शाखाओं में प्रवृत्त होता है वह उस (अपने) वंश का विनाशक होता है और रौरव नरक में पड़ता है।'

स्वीया शाखोज्झिता येन ब्रह्मतेजोऽर्थिना स्वयम्।
ब्रह्महैव परिज्ञेयः सर्वकर्मसु गर्हितः॥

'ब्राह्म—तेज की आकाङ्क्षा रखनेवाले जिस पुरुष ने स्वयं अपनी शाखा का परित्याग किया उसे सब कर्मों में गर्हित ब्राह्मणघाती समझना चाहिये।'

न जातु परशाखोक्तं बुधः कर्म समाचरेत्।
आचरन् परशाखोक्तं शाखारण्डः प्रकीर्तितः॥

'विचारशील पुरुष को परशाखीय कर्म कदापि नहीं करना चाहिये। परकीय शाखा में उक्त कर्मों का आचरण करता हुआ पुरुष शाखारण्ड कहलाता है।'

यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत्।
अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति॥

'जो पुरुष ऋषि को प्रमाण न मानकर अपनी शाखा में उक्त कर्मकलाप का त्याग कर परकीय शाखा में उक्त (कर्म-कलाप) का आचरण करता है वह अन्धतामिस्र नरक में पड़ता है।'

स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयं तु यः।
कर्तुमिच्छति दुर्मेधा मोघं तत्तस्य चेष्टितम्॥

'जो अपनी शाखा के आश्रित कर्मकलाप का त्याग कर दूसरे की शाखा में उक्त कर्म करना चाहता है, वह दुर्मति है और उसका वह कर्म निष्फल जाता है।'

अक्रिया त्रिविधा प्रोक्ता विद्वद्भिः कर्मकारिणाम्।
अक्रिया च परोक्ता च तृतीया चायथाक्रिया॥

'विद्वानों ने कर्म करनेवालों की अक्रिया तीन प्रकार की कही है—कर्माभाव, परकीय शाखा में उक्त कर्म और तीसरा अयथाकर्म अर्थात् यथाविधि न किया गया कर्म।'

ऊनो वाप्यतिरिक्तो वा यः स्वशाखोदितो विधिः।
तेनैव तनुयाद् यज्ञं न कुर्यात् पारशाखिकम्॥

'जो अपनी शाखा में उक्त विधि है वह न्यून हो चाहे अधिक हो, उसी से यज्ञ करना चाहिये। परकीय शाखोक्त कर्म नहीं करना चाहिये।'

बहुलं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रकीर्तितम्।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वः कृतो भवेत्॥

'जिसका स्वगृह्यसूत्रों द्वारा कर्मकलाप वह चाहे अधिक अथवा न्यून जितना कहा गया है उतना ही शास्त्रोक्त कर्म करने पर उसका सब कृत हो जाता है।'

यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत्।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत्॥

'जो कर्म अपनी शाखा में न कहा गया हो और जो अपनी शाखा से अविरुद्ध हो ऐसा परशाखोक्त कर्म भी अग्निहोत्रकर्मवत् विद्वानों द्वारा अनुष्ठेय है।'

परशाखोऽपि कर्तव्यः स्वशाखायां न नोदितः।
सर्वशाखासु यत्कर्म एकं प्रत्यवशिष्यते॥

'जो विधि अपनी शाखा में प्रतिपादित न हो वह परशाखोक्त विधि भी कर्तव्य है। विशेष कर वह विधि जो सब शाखाओं में एक ही हो।'

इसी प्रकार कर्म करानेवाला आचार्य भी यदि स्वशाखीय प्राप्त हो तो शान्ति आदि कर्मों में पहले उसी का वरण करना चाहिये। उस आचार्य को भी

ऐसा होना चाहिये कि उसने गुरुमुख से विधिपूर्वक वेदाध्ययन किया हो तथा कर्मकाण्ड की प्रक्रिया उसे भलीभाँति ज्ञात हो। अन्यथा यदि आचार्य का वेदाध्ययन आदि न हुआ हो तो अनधीत (अपठित) मन्त्र फल उत्पन्न नहीं कर सकते, यह जगह-जगह पर शास्त्रकारों ने उद्घोषित कर रखा है। अनधीत मन्त्रों द्वारा किया गया कर्म केवल निष्फल ही नहीं होता, अपि तु "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा" इस न्याय से कर्म करने वाले यजमान का अनिष्ट भी करता है। इसलिए यदि वेदाध्ययनसम्पन्न स्वशाखीय आचार्य मिले तो वही ग्राह्य है। यदि वैसा न मिलता हो तो अन्य शाखावाला भी यदि यजमान—शाखा का अध्ययन कर उस शाखा के सब पदार्थों को भलीभाँति जानता हो तो उसी का विनियोग करना चाहिये। किन्तु स्वशाखीयीं होने मात्र से वेदाध्ययनविहीन कर्मकाण्डानभिज्ञ को कदापि आचार्य नहीं बनाना चाहिये। इस अभिप्राय से ही सब आचार्य यजमानशाखीय ही हैं। नहीं तो यानी आचार्य द्वारा यजमान शाखा का अध्ययन न होने पर यजमान की शाखा के पदार्थों का निर्वाह ही न हो सकेगा। आचार्य यदि अपनी शाखा से कर्मानुष्ठान करेगा तो वैगुण्य होगा, यह प्रतिष्ठेन्दु, शान्तिकमलाकर आदि में प्रतिपादित हैं। इसीप्रकार रुद्रकल्पद्रुम में—रुद्राध्याय यजुर्वेद शाखाओं में ही उक्त है, यजुर्वेदातिरिक्त वेदों की शाखाओं में रुद्राध्याय वर्णित नहीं है। इसलिए यजुर्वेद से इतर वेदों की शाखावालों का रुद्राध्ययन न होने के कारण वे रुद्रजप आदि मे अनर्ह हैं। इसीलिए बह्वृच (ऋग्वेदी), छन्दोग (सामवेदी) और आथर्वण (अथर्ववेदी) ब्राह्मण रुद्रजप आदि ऋत्विक् कर्म में त्याज्य हैं। जैसे शाङ्खायन ने कहा है—

बह्वृचाः सामगाश्चैव तथा चाथर्वणा द्विजाः।
महारुद्रजपे नैव शस्तास्ते श्रुतिधर्मतः॥

यह जो वचन ऊपर कहा गया है इसे जिसने रुद्राध्याय का अध्ययन नहीं किया उसके ऋत्विक्कर्मकारित्व का निषेधक समझना चाहिये, किन्तु जिसने रुद्राध्याय का अध्ययन किया हो ऐसे अन्य शाखीय के ऋत्विक्त्व का वह निषेधक नहीं है। इसीलिए—"बह्वृचाद्या अपि याजुषरुद्राध्ययनवन्तो रुद्रजपसमर्थास्तु वरीतव्याः" अर्थात् ऋग्वेदी आदि भी, जिन्होंने रुद्राध्याय का अध्ययन किया हो और रुद्रजप करने में समर्थ हों तो उनका वरण करना ही चाहिये, ऐसा शाङ्खायन ने ही आगे लिखा है। इसी प्रकार सर्वत्र "यजमानसमशाखीया ऋत्विजः" (यजमान के समान शाखीय ऋत्विक् होने चाहिये) यह पद्धतिकारों का अभिप्राय जानना चाहिये। यद्यपि—

वेदैकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्वशाखाढ्यमनालस्यं विप्रं कर्तारमीप्सितम्॥

आचार्य के स्वरूप का निरूपण करनेवाले श्लोक में 'स्वशाखाढ्यम्' पद आया है, इससे स्वशाखीय ही आचार्य होना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है, तथापि

यह वाक्य उपनयन प्रकरण का है, इसलिए यह केवल उपनयन कराने वाले आचार्य के स्वरूप का निरूपक है, शान्तिक, पौष्टिक आदि सब कर्मों में इस वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि अन्य प्रकरण में स्थित वचन की अन्यत्र गमन में सामर्थ्य नहीं होती। इसीलिए सभी निबन्धकारों ने इस वचन का उपनयन कराने वाले आचार्य के स्वरूपनिरूपक के रूप से व्याख्यान किया है। जैसे कि स्मृति-मुक्ताफल में कहा है—

"उपनयनकर्तारमाह व्यासः" अर्थात् व्यास ने उपनयनकर्ता आचार्य का निरूपण किया है—"वेदैकनिष्ठम्" इति। वीरमित्रोदय, संस्काररत्नमाला आदि में भी इस वचन को उपनयन करने वाले आचार्य का स्वरूपनिरूपणपरक माना है। यह सब कर्म कराने वाले आचार्य के स्वरूप का प्रतिपादक है, ऐसा कहीं नहीं कहा गया। लोक में भी इस समय यजुर्वेद आदि की एक शाखा वाला पुरुष अपनी शाखा का पहले अध्ययन कर तदनन्तर अन्य वेदों की अन्य शाखाओं का भी यदि अध्ययन करता है, तो उन वेदों का होता और उद्गाता श्रौत कर्मों में होता ही है। शिष्ट लोग भी उसके कर्म का सदाचाररूप से अङ्गीकार करते ही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पहले स्वशाखा का अध्ययन जिसने किया है ऐसे स्वशाखीय पुरुष को कर्मों में आचार्य बनाना चाहिये। यदि वैसा न मिले तो अन्य शाखीय भी, यदि उसने यजमान की शाखा का अध्ययन किया हो, आचार्य बनाया जा सकता है। क्योंकि पहले स्वशाखीय की ही प्रतीति होती है तथा अन्यशाखीय की विलम्ब से प्रतीति होती है एवं प्रथम उपस्थित के परित्याग में कारण भी नहीं है।

वेद अपौरुषेय हैं

इस निबन्ध में हमें यह विचार करना है कि मन्त्र और ब्राह्मणरूप शब्दराशि जो 'वेद' पद से अभिहित होती है, हमारे ऐसे पुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से अवगत पदार्थों को दूसरों को समझाने के लिए प्रत्यक्ष आदि से अवगत अर्थों के प्रतिपादक शब्दों की रचना कर वेदरूप से निर्मित है अथवा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने उसकी रचना कर उसका लोक में प्रचार किया या काल और आकाश की भाँति वह नित्य ही है उसका किसी ने भी निर्माण नहीं किया।

इस विषय पर आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् ऐसा अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण रूप से दो विभागों में विभक्त जो यह वेदराशि है, जिसे आर्यों के धार्मिक ग्रन्थों में अत्युच्च स्थान प्राप्त है, वह आर्यावर्तनिवासी बहुत विषयों के वेत्ता पुरातन महर्षियों द्वारा तात्कालिक परिस्थिति को देख कर उसी को लिपिबद्ध करने के लिए रचा गया ग्रन्थराशि ही है। इसीलिए जहाँ उनका निवास था वहीं की नदियों और पर्वतों के नामों का उन्होंने उल्लेख किया है। उस समय जो-जो देवता उनके स्मृति-पटल पर आरूढ़ हुए उन-उनकी उन्होंने मन्त्रों में स्तुतियाँ

कीं। एकत्र किये गये वे ही मन्त्र ऋग्वेद कहलाते हैं। यही ऋक्संहिता के नाम से अभिहित है। यह ग्रन्थ सब ग्रन्थों से पुरातन है। संसार के वाङ्मय में सर्वप्रथम इसी की रचना हुई थी। कुछ समय व्यतीत होने पर उन्हीं के वंशज किन्हीं महर्षियों ने उनसे यजुर्वेद की रचना की, उक्त ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी पहले मन्त्रभाग की रचना हुई, तदुपरान्त ब्राह्मणभाग की। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण—दोनों महर्षियों द्वारा विरचित हैं, यह सिद्ध होने पर वह काल कौन हो सकता है जिसमें वेदों का प्रणयन हुआ, ऐसी जिज्ञासा उदित होने पर यही कहा जा सकता है कि ४००० वर्ष पूर्व वेदों का अस्तित्व नहीं था, इसमें सन्देह नहीं। उसके बाद ही सब वैदिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। फलतः ख्रीष्टाब्द (ईसवी सन्) से ४००० वर्ष पूर्व के बाद ही वेदराशि की रचना का आरंभ हुआ। क्रमशः विभिन्न महर्षियों द्वारा रचित वेदराशि बृहत् आकार में परिणत हुई। इस वेद रचना का क्रम ईसवी सन् के आरंभ काल तक चलता रहा। यह न भूलना चाहिये कि इस रचना में पहले मन्त्रों की और बाद मे ब्राह्मणों की रचना हुई।

यहाँ (पाश्चात्य मनीषियों के इस भ्रमपूर्ण तथा कपोलकल्पित मत) पर आर्यावर्तवासियों को सूक्ष्मदृष्टि से यह विचार करना चाहिये कि आज से २००० वर्ष पूर्व भगवान् पतञ्जलि प्रादुर्भूत हुए, यह निर्णय उन्हीं बहुत से पाश्चात्य मनीषियों ने विभिन्न स्थलों पर किया है। भगवान् पतञ्जलि से भी बहुत प्राचीन काल को महर्षि जैमिनि ने अलङ्कृत किया था। उन से भी अति पुरातन एक काशकृत्स्नि नाम के मीमांसाचार्य थे, यह महाभाष्य के पर्यालोचन से अवगत होता है। महाभाष्य में कहा गया है—"काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी।" (पा० ४।१।१)। भगवान् पाणिनि के समकालिक महर्षि कात्यायन ने भी अपने ग्रन्थ में इस काशकृत्स्नि आचार्य का उल्लेख किया है "सद्यस्त्वं काशकृत्स्निः।" (पा० ४।३।१७)। पाणिनि का काल ईसवी सन् से ७०० वर्ष पूर्व था, यह पाश्चात्य मनीषियों ने ही अङ्गीकार किया है। यद्यपि इस से हम लोगों के मन को परितोष नहीं होता, क्योंकि सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन में बहुत से प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि कल्यब्द की आठवीं शताब्दी में यानी ईसवी सन् से २४०० वर्ष पूर्व पाणिनि ने आर्यावर्त को विभूषित किया था तथापि पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् काशकृत्स्नि आचार्य ने आज से ३००० वर्ष पूर्व इस भूमि को अलङ्कृत किया था। इससे यह भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मीमांसक होने के नाते उन्होंने वेद की अपौरुषेयता अवश्य सिद्ध की होगी।

यदि यह अनुमान व्यभिचरित न हो तो आचार्य काशकृत्स्नि ने भी किसी वेदकर्ता का नाम न सुना हो, केवल यही नहीं अपितु उस समय वेद की अपौरुषेयता ही प्रसिद्ध थी, यह अवश्य मानना होगा। यदि उस काल से १००० वर्ष पूर्व वेदों की रचना हुई होती तो उस समय के पुरुषों को वेदकर्ता के नाम का स्मरण क्यों न होता। यदि हम अल्पमति मानव भी आज से तीन या चार हजार वर्ष पूर्व के इति—

ह्रास का अनुमान लगा सकते हैं, तो उनके स्वपूर्वकालिक इतिहास को न जानने में कौन ऐसा महान् प्रतिबन्ध रहा जिसे वे उसे सर्वथा न जानकर वेद की अपौरुषेयता ही साधते रहे ? बाद में भी तत् तत् शास्त्रों के प्रवर्तक प्राचीन काल के किन्हीं महर्षियों को वेदकर्ता का परिज्ञान नहीं हुआ यह पूर्वोक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है। इसलिए इस विषय में कृतभूरिश्रम मीमांसकों सूत्रकारों और उनके कुछ भाष्यकार आदि ने यह जानकर कि वेद को अपौरुषेय मानने के सिवा दूसरी गति नहीं, उनकी अपौरुषेयता स्वीकार की।

भगवान् जैमिनि ने वेद की पौरुषेयता के खण्डन के अवसर पर सूत्र रचा—"उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्"। इसका अभिप्राय यह है हम देखते हैं कि जो आधुनिक वेदपाठी वेदाध्ययन करते हैं वे सब के सब नियमतः गुरुमुख से ही वेदाध्ययन करते हैं और जो उनके अध्यापक-गुरु हैं वे भी अपने गुरु से वेदाध्ययन कर के ही वेदाध्ययन करते हैं, न कि पुस्तक आदि का स्वयं अवलोकन कर। सदा सर्वदा इसीप्रकार अध्ययनपरम्परा अनादि काल से चलती आ रही है, यही अनुमान किया जा सकता है। इस सूत्र के सारभूत इस अनुमान को वार्तिककारने निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥ (श्लो० वा० वाक्याधि० ३६६)

अर्थात् सम्पूर्ण वेदाध्ययन गुरुकृत अध्ययनपूर्वक है, वेदाध्ययन होने से, जैसा कि आजकल का वेदाध्ययन।

इससे सिद्ध हुआ कि कभी ऐसा काल न था जिसमें वेदाध्ययन न होता हो, किन्तु यह व्यवहार सर्वदा चलता रहा।

हम लोग इस वेदरूप ग्रन्थराशि का अध्ययन और अध्यापन द्वारा एक मात्रा का भी त्याग किये विना रक्षण करते हैं। सब लोग जिस ग्रन्थ की ईश्वर के तुल्य पूजा करते आरहे हैं और जतन से निरन्तर रक्षा करते आ रहे हैं उसका यदि कोई कर्त्ता होता तो उसका हमें स्मरण करना उचित था या विस्मरण करना ?

कुछ लोग ऐसा अभिप्राय प्रकट करते हैं कि यदि वेद को पुरुषनिर्मित मानें तो उसमें दुर्बलता आजायगी, ऐसा मानते हुए आप लोगोंने उसमें दृढता सम्पादन के लिए ही उसे पौरुषेय (पुरुषकृत) जानते हुए भी उसका कर्ता छिपा दिया है।

यह कथन भी विचारशीलों की बुद्धि को प्रभावित नहीं कर सकता। क्योंकि हम धर्मप्राण भारतीय आज भी महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों को 'ये निस्सन्देह पुरुषकृत हैं ऐसा जानते हुए उनमें अत्यन्त आदर प्रकट करते हैं। यदि हम वेद को पुरुषकृत मानें तो भी व्यास, वाल्मीकि आदि के तुल्य महिमावाले महर्षियों द्वारा ही वेदराशि रची गई है यह मानना होता। ऐसी परिस्थिति में ऐसे महर्षियों तथा उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों के विषय में कौन धार्मिक पुरुष अनादर प्रकट कर सकता है एवं सर्वथा उनका विस्मरण कर सकता है। इसलिए अवश्य

स्मरणीय पुरुषश्रेष्ठ वेदकर्ता का जब कदापि आज या प्राचीन काल में किसी को भी स्मरण नहीं था तब इस वेदराशि का कर्ता कोई नहीं ही था, यह निश्चय ही श्रेयस्कर है। कहीं पर कर्ता का उच्छेद देश के उच्छेद से या अध्ययन करनेवालों के सर्वनाश से हो सकता है। यहाँ उन दोनों का संभव नहीं है, क्योंकि हमलोग उसी आनुपूर्वी और वैसी ही अक्षरराशि का इस समय भी अध्ययन करते हैं। लेकिन उसका केवल कर्ता विस्मृत हो गया, यह कहना साहसमात्र है। इसलिए दृश्य के अदर्शन से वेद का कर्ता होना बाधित है।

आप लोगों के कुछ आचार्य 'वेद ईश्वरकृत है' यों उद्घोष कर वेद की पौरुषेयता स्पष्टरूप से सिद्ध करते हैं, फिर इस विषय में आप अन्य देशवासियों की इस तरह खिल्लियाँ क्यों उड़ाते हैं? जो यों हमारा उपहास करते हैं उनके प्रति हमारा यही कथन पर्याप्त होगा कि उन आचार्यों के साथ हमारा विरोध नहीं है। वे वेद को हमारे ऐसे पुरुष द्वारा रचित या अर्वाचीन काल का नहीं मानते। किन्तु वे वेदों को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की ही कृति मानते हैं। इससे यह अवगत नहीं होता है कि पाँच हजार वर्ष पहले वेद नहीं थे और उससे पूर्व पाश्चात्य मनीषियों की तरह जगत् का अभाव ही मानते हैं। हमारे तो बहुत कल्प हैं। उनके पूर्व भी बहुत कल्प थे। अतएव इस कल्प में इस वेदराशि का किसने निर्माण किया, यह कोई सूक्ष्ममति भी नहीं बतला सकता।

"प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" अर्थात् प्रत्येक मन्वन्तर में श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, यह वचन भी पूर्व-पूर्व कल्पों में श्रुति का अस्तित्व बोधित करता है। इस मन्वन्तर की श्रुति का भी पूर्व मन्वन्तर में स्थित श्रुति की आनुपूर्वी के सदृश आनुपूर्वी वाली होना तो अत्यन्त युक्तियुक्त है। इसलिए 'वेदराशि ईश्वर रचित है' यह मत रखनेवाले आचार्यों का 'वेदराशि अपौरुषेय है' यह मत रखनेवाले मीमांसकों से कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु 'वेदराशि ईश्वररचित है' इस सिद्धान्त को वे प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु वे लोक में शब्दोच्चारण को पुरुषकृत देखते हैं, एतावता वैदिक शब्दराशि अथवा वैदिक आनुपूर्वी पुरुषकृत ही है, ऐसा साधारणतः अनुमान करते हैं। किन्तु वेदराशि के सम्बन्ध में हमारे ऐसे लोगों का कर्तृत्व कथमपि संभव नहीं, अतएव वे ईश्वर को ही वेदराशि का रचयिता मानते हैं।

मीमांसक लोग कहते हैं—"सर्वोऽप्युत्सर्गः सापवादः" अर्थात् सभी सामान्य शास्त्र सापवाद (अपवादयुक्त) होता है। यदि लौकिक शब्दराशि पुरुषकृत हो तो वैदिक शब्दराशि को भी पुरुषकृत ही होना चाहिये, ऐसा क्या कोई नियम है? सभी बातें प्रमाण से ज्ञेय होती हैं। यदि हमें प्रमाण द्वारा यह ज्ञात हो तो वह वैसा है (वैदिक शब्दराशि भी लौकिक शब्दराशि की भाँति पुरुषकृत है) यह निश्चय कर सकते हैं। किन्तु लौकिक शब्दराशि के विषय में सुदृढ प्रमाण द्वारा कर्त्ता को हम पाते हैं, इसलिए उन में सकर्तृत्व का अङ्गीकार करते हैं। किन्तु वैदिक शब्दराशि के सम्बन्ध में जतन से खोज करने पर भी कर्ता को हम अपनी बुद्धि का गोचर

करने में समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए उसके विषय में अपौरुषेयता ही हम स्वीकार करते हैं। प्रमाण से अविदित अर्थ की अपनी बुद्धि से कदापि कल्पना नहीं की जा सकती, अतः यद्यपि शब्द सकर्तृक है, यह सामान्य शास्त्र से सिद्ध है; तथापि वैदिक शब्द के विषय में सकर्तृकत्व का निराकरण किया जाता है, इसलिए वे (मीमांसक) वेद के कर्ता का निषेध करते हैं। यही आशय शाबरभाष्य, शास्त्रदीपिका आदि ग्रन्थों में भलीभाँति उपपादित और समर्थित है—

"एतस्मात्कारणादवगच्छामो न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता इति, यद्यपि च विस्मरणमुपपद्येत तथापि न प्रमाणमन्तरेण सम्बद्धारं प्रतिपद्येमहि। यथा विद्यमानस्याप्यनुपलम्भनं भवतीति नैतावता विना प्रमाणेन शशविषाणं प्रतिपद्यामहे।" (शा० भा० १।१।५)

इसलिए हमें ज्ञात होता है कि सम्बन्ध कर व्यवहार के लिए किसी ने वेदों का प्रणयन नहीं किया। यद्यपि कर्ता का विस्मरण हो सकता है तथापि प्रमाण के विना निबद्धा (कर्ता) को हम मान नहीं सकते। जैसे विद्यमान की भी अनुपलब्धि होती है एतावता प्रमाण के विना शशशृङ्ग का हम अङ्गीकार नहीं कर सकते।

"येऽपि पौरुषेयतां मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वदितुम्। सामान्यतो दृष्टेन कर्तारमनुमाय स्वाभिमतं कर्तारं तत्र निक्षिपन्ति; केचिदीश्वरम्, अन्ये हिरण्यगर्भम्, अपरे प्रजापतिम्। न चायं नानाविधो विवादः परम्परया कर्तरि मन्वादिवत् स्मर्यमाणे कथञ्चिदवकल्पते। नहि मानवे, भारते, शाक्यग्रन्थे वा कर्तृविशेषं प्रति कश्चिद् विवदते। तस्मात् स्मर्तव्यत्वे सति अस्मरणाद् दृश्यादर्शनबाधितं सामान्यतो दृष्टं न शक्नोति कर्तारमवसाययितुम्।'

(शास्त्रदी० १।१।८)

अर्थात्—जो लोग वेदों को पौरुषेय मानते हैं, वे भी परम्परा द्वारा वेद में अमुक कर्ता का हमें स्मरण होता है, ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु सामान्यतः दर्शन से कर्ता का अनुमान कर मनमाना कर्ता को वेद पर लादते हैं। कोई ईश्वर को, कोई हिरण्यगर्भ को और कोई प्रजापति को वेदकर्ता मानते हैं। यह विविध प्रकार का विवाद परम्परा द्वारा मनु आदि की तरह स्मर्यमाण किसी कर्ता के सम्बन्ध को किसी प्रकार भी ठहरा नहीं सकता। मनुस्मृति, महाभारत अथवा किसी बौद्ध-ग्रन्थ के कर्ता के विषय में कोई विवाद नहीं करता। इसलिए स्मरणीय होने पर स्मरण न होने के कारण दृश्य के अदर्शन से बाधित सामान्यतः दृष्ट कर्ता से अवगत कराने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए हमारे प्राचीन आचार्यों का तथा हमारा अद्यावधि यही निश्चय है कि वेदराशि किसी की बनाई नहीं है, अकृत्रिम है।

ऐसी परिस्थिति में यदि कोई कहे कि वेदों में (मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग में) जो अर्वाचीन किन्हीं राजाओं, अन्यान्य पुरुषों, विविध देशों तथा नदियों के नाम सुने जाते हैं, उनकी उपपत्ति कैसे ? ठीक है, अवश्य यह ज्ञातव्य विषय शेष रह गया है। इस विषय में हमारे पूर्वाचार्यों का यह अभिप्राय है कि वेदों में

जो नाम सुने जाते हैं और जो आख्यान पाये जाते हैं वे विशेष किन्हीं राजाओं या पुरुषों के नाम नहीं हैं और न उनके चरित-विशेष ही हैं। किन्तु नित्य श्रुति ने संव्यवहार अथवा लोगों की प्ररोचना के लिए नामों या आख्यानों की कल्पना कर व्यवहार किया है। उन्हें वेदवर्णित होने से पवित्रतम समझ कर विभिन्न काल तथा देशों में उत्पन्न हुए पुरुषश्रेष्ठों के नाम और चरितरूप से तत् तत् लोगों द्वारा उन की कल्पना की गई है। उनमें पहले कल्पना करने वाले साक्षात् प्रजापति ही हैं। तदुपरान्त इस शैली का अन्य बहुतों ने अनुसरण किया। इसलिए वेद में स्थित नामों की ही उन लोगों ने अपने नाम के रूप से कल्पना की, न कि उनके आचरण देखकर तदनन्तर वेदों की रचना की गई। इस विषय में—

"वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सतासती प्रजापतिः।"

अर्थात्—प्रजापति ने वेद से सत् और असत् नाम और रूप का निर्माण किया।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः॥ (विष्णु पु० ५।६२)

अर्थात्—प्रजापति ने पहले-पहल वेदशब्दों से ही देवता आदि सब के पृथक् पृथक् नाम और कर्मों को रचा।

इत्यादि बहुत सी श्रुतियाँ और स्मृतियाँ प्रमाण हैं।

यद्यपि यह पाश्चात्यशिक्षादीक्षित और उन के संसर्गवश एक प्रकार के विशेष संस्कार से सम्पन्न आधुनिकों तथा किन्हीं मनीषियों के मन में तनिक भी स्थान न पा सकेगा, तथापि इस विषय में परिश्रम कर मैंने पूर्वाचार्यों का जो सुदृढ़ निश्चय था और हम लोगों का भी पूर्वाचार्यों पर श्रद्धा न रखने वाले आधुनिकों के उक्त्याभासों से अविचलनीय जो अटल निश्चय आज तक है उसे सप्रमाण उद्धृत कर विद्वानों के सम्मुख उपस्थित किया है।

—०—

वेदोंका शाखा-भेद

वैदिक वाङ्मय जितना ही गम्भीर और गहन है उतना ही विपुल और विस्तृत भी। मनुष्य के एक जीवन में तो सम्भवतः समूचे वैदिक वाङ्मय का अवलोकन करना भी कठिन है, मनन तो दूर रहा। चार वेद, चार उपवेद, वेदों की विभिन्न सहस्रों शाखाएँ, ब्राह्मणभाग, सूत्रग्रन्थ, अङ्ग और उपाङ्ग इत्यादि मिलाकर वैदिक वाङ्मय इतना विशाल बन जाता है कि एक मानव-जीवन उसके लिये कुछ भी नहीं है। दुर्दैव-योग से बुद्धि के क्रमिक ह्रास के कारण एवं अनेक आधुनिक कारणों से वैदिक वाङ्मय के अधिक अंश विनष्ट हो गये हैं। शेष भाग भी शनैः-शनैः विस्मृति की घोर निशा में विलुप्त होते जा रहे हैं।

वेदों के शाखा-साहित्य को ही लीजिये, यह इतना विस्तृत और विपुल था कि यदि यह पूर्णरूप से उपलब्ध होता, तो आज इसके लिये एक विस्तृत स्थान की आवश्यकता होती।

वेदों की शाखा के सम्बन्ध में व्याकरण-महाभाष्य के प्रणेता महर्षि पतञ्जलिने लिखा है—

एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः,
एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः। (पस्पशाह्निक)

अर्थात्—यजुर्वेद की एक सौ शाखाएँ, सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की इक्कीस और अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं।

किसी-किसी आचार्य के मत से अथर्ववेद की पन्द्रह शाखाएँ हैं। इस प्रकार सहस्र से ऊपर वेद की शाखाएं मालूम होती हैं।

वेद के अनेक भाग होते हुए भी मुख्यतः दो भेद हैं। एक का नाम मन्त्र-भाग या संहिता-भाग है और दूसरे का नाम ब्राह्मण-भाग है। वेद के लक्षण में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही का समावेश किया गया है। दोनों ही अनादि और अपौरुषेय हैं।

मीमांसकों के मतसे मन्त्र उसे कहते हैं, जिसमें यज्ञ के द्रव्य, देवता और क्रिया-कलाप आदि का वर्णन हो और ब्राह्मण उसे कहते हैं जो उन मन्त्रों का यथोचित विनियोग और प्रयोग बतलाते हुए स्वरूप का परिचय करावे। इसलिये प्रत्येक मन्त्रभाग के साथ ब्राह्मणभाग भी अनिवार्य-रूपेण रहता है। भिन्न वेदों की जितनी शाखाएँ हैं, उनमें, प्रत्येक में, पद्यात्मक संहिता-भाग और गद्यात्मक ब्राह्मण-भाग भी अवश्य रहता है। इस प्रकार गद्य-पद्य-रूप वेद की विभिन्न शाखाओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना ही इन कतिपय पङ्क्तियों का उद्देश्य है।

वेदों की अधिकांश शाखाएँ तो अब विलुप्त-प्राय हैं। कुछ इनी-गिनी शाखाएँ जो उपलब्ध होती हैं, उन्हींका विशेष परिचय आवश्यक है। बिनष्ट शाखाओं का परिचय देने में लेख-वृद्धि का भय है। इसलिये उसे छोड़ दिया जाता है।

शाखा-शब्द का अर्थ

शाखा शब्द का अर्थ अवयव या हिस्सा नहीं है, जैसे—रामायण के छ काण्ड हैं या महाभारत के अठारह पर्व। ये काण्ड और पर्व उनके अवयव हैं। एक-एक काण्ड या एक-एक पर्व एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह एक-से-एक सापेक्ष और अनुबद्ध है। परन्तु वेदों की शाखाएँ परस्पर सापेक्ष और अनुबद्ध नहीं हैं। अठारह पर्वों के या सात काण्डों के समुदाय का नाम महाभारत और रामायण है, परन्तु इक्कीस शाखाओं के समुदाय का नाम ऋग्वेद नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक शाखा स्वतन्त्र रूप से ऋग्वेद है, क्योंकि एक शाखा दूसरी शाखा की

अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिए किसी भी वेद की एक शाखा का अध्ययन करने से ही समग्र वेदका अध्ययन माना गया है।

मीमांसा-शास्त्र के प्रणेता महर्षि जैमिनिने "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वैदिक आज्ञा का अर्थ करते हुए लिखा है कि अपनी परम्परागत एक किसी भी शाखा का अध्ययन करना चाहिये। यदि इक्कीस शाखाओं को मिलाकर एक ऋग्वेद माना जाय और एक हजार शाखाओं के समुदाय को सामवेद माना जाय, तो एक मनुष्य अपने एक जीवन में एक वेद का भी सम्पूर्ण अध्ययन न कर पावेगा, इस प्रकार तो मनु भगवान् की यह आज्ञा भी असङ्गत हो जाती है—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

अर्थात्—द्विजातिमात्र ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तीनों वेदों, दो वेदों या एक ही वेद को पढ़ कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।

ब्रह्मचर्य का काल आठ, बारह, चौबीस या अड़तालीस वर्ष बतलाया गया है। इतने ही क्या, सौ वर्ष में भी समस्त शाखाओं के सहित वेदों का अध्ययन कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव भी है। अतः एक ही शाखा का अर्थ एक वेद है। जिसकी जो शाखा हो, वही उसका वेद है। यही वास्तविक शास्त्रीय सिद्धान्त है।

यह शाखा-भेद कर्ता के भेद से नहीं माना जा सकता। जैसे—एक ही राम-कथा वाल्मीकीय, आनन्द, अद्भुत और अध्यात्म आदि अनेक रामायणों में भिन्न-भिन्न कर्ताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित किये जाने पर भिन्न है, उसी प्रकार वेद की भी भिन्न-भिन्न शाखाएँ, भिन्न-भिन्न महर्षि द्वारा सङ्कलित किये जाने के कारण पृथक् हैं, ऐसा भी कुछ नवीन लोगों का सिद्धान्त है। परन्तु यह भी भ्रममात्र है। ऋषियों की शक्ति मन्त्रों को आगे-पीछे रखने में भले ही हो, लेकिन पदों या वाक्यों को इधर-उधर करने की शक्ति कदापि नहीं है, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। उनमें पुरुष-कर्तृत्व की शङ्का स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। इसलिये वेदों के समान उनकी शाखाओं का भेद भी अनादि-सिद्ध ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

ऋग्वेद की शाखाएँ

ऋग्वेद की कुल २१ शाखाएँ हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन इक्कीस शाखाओं में इस समय दो ही शाखाएँ मिलती हैं—एक बाष्कला और दूसरी शाकला। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य उन्नीस शाखाएँ इस समय काल-क्रमसे लुप्त हो गयी हैं। उक्त दोनों शाखाओं में विशेष अन्तर नहीं है। शाकल-संहितामें ऋचाओं का विभाग मण्डल और सूक्त नामों से किया गया है और बाष्कल-संहिता में यही विभाग अध्याय एवं वर्ग आदि नामों से किया गया है।

परन्तु आजकल इन दोनों सूक्ष्मतर भेदों को न मानकर अध्याय और मण्डल आदि की संख्या सम्मिलित कर दी गयी है।

ऋग्वेद में कुल चौसठ अध्याय, आठ अष्टक, दस मण्डल, दो हजार छ वर्ग, एक हजार सूक्त, पचासी अनुवाक और दस हजार चार सौ चार मन्त्र हैं।

यजुर्वेद की शाखाएँ

यजुर्वेद के दो विभाग हैं—शुक्ल और कृष्ण। दोनों ही प्रकार के यजुर्वेदों की कुल मिलाकर एक सौ एक शाखाएँ हैं, परन्तु वे सब लुप्त हैं, इस समय केवल ५—६ शाखाएँ मिलती हैं। शुक्ल की काण्व और माध्यन्दिनी–ये दो शाखाएँ और कृष्ण की तैत्तिरीया, कठी और मैत्रायणी—ये तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की जो तीन शाखाएँ इस समय उपलब्ध हैं, उनमें मन्त्र और ब्राह्मण-भागों को अलग-अलग नहीं किया गया है। संहिता में ही पहले कुछ मन्त्र लिखकर उसी प्रपाठक में ब्राह्मण भी कहा गया है। किसी-किसी प्रपाठक में या काण्ड में दोनों भाग एक साथ ही वर्णित हैं और कहीं-कहीं भिन्न रूप से। यद्यपि कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में मन्त्र और ब्राह्मण-भाग दोनों पृथक्-पृथक् कहे गये हैं, तथापि अनेक मन्त्र ब्राह्मण-भाग में और अनेक ब्राह्मण मन्त्र-भाग में पाये जाते हैं। मैत्रायणी-संहिता और कठ-संहिता में केवल मन्त्र-भाग मिलता है, ब्राह्मण-भाग नहीं। किन्तु इन दोनों संहिताओं में भी मन्त्र और ब्राह्मण-भाग सम्मिलित ही मालूम पड़ता है। इन दोनों संहिताओं में प्रायः परस्पर समानता ही है। इनके विषय भी प्रायः समान ही हैं। हाँ, तैत्तिरीय–संहिता इन दोनों से भिन्न है।

तैत्तिरीय–संहिता में काण्ड, प्रपाठक और अनुवाक इन नामों से विभाग किया गया है। इसकी संहिता में सात काण्ड और ब्राह्मण में तीन काण्ड हैं। ब्राह्मण–भाग के काण्डों का दूसरा नाम अष्टक भी है। संहिता में चौआलीस प्रपाठक और छ सौ इक्यावन अनुवाक हैं। ब्राह्मण में पचीस प्रपाठक और तीन सौ आठ अनुवाक हैं।

कठ–संहिता में भिन्न-भिन्न याज्ञिक विषयों के अनुसार अठारह विभाग हैं। इस संहिता में इन भागों का नाम 'स्थानक' कहा गया है।

मैत्रायणीसंहिता में चार काण्ड हैं और चौअन प्रपाठक। इसके अतिरिक्त आरण्यक-भाग भी है, जिसमें बारह प्रपाठक हैं। यह तैत्तिरीय-संहिता में है।

शुक्ल यजुर्वेद की दो ही शाखाएँ हैं मिलती हैं—एक माध्यन्दिनी और दूसरी काण्व। इन दोनों के ब्राह्मण भी पृथक् हैं, जिनका नाम 'शतपथ' है। माध्यन्दिनी शाखा के शतपथ में नौ काण्डों तक संहिता के अनुसार ही ब्राह्मण का भी क्रम है, केवल पितृपिण्ड-यज्ञ को छोड़ कर, क्योंकि संहिता में इस याग के मन्त्र दर्श–पौर्णमास के अनन्तर कहे गये हैं और ब्राह्मण में आधान के

अनन्तर। बस, इतना ही भेद है। काण्व-संहिता में पहले दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी मन्त्र पढ़े गये हैं और ब्राह्मण का प्रारम्भ आधान से होता है।

शुक्ल यजुर्वेद (माध्यन्दिनीय संहिता) में ४० अध्याय और १९७५ मन्त्र हैं।

सामवेद की शाखाएँ

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ बतलायी हैं, परन्तु इस समय इसकी तीन शाखाएँ ही मिलती हैं—कौथुमी, जैमिनीया और राणायनीया। इनमें भी सबसे अधिक कौथुमी, उससे कम राणायनीया और जैमिनीया शाखा तो बहुत ही कम पायी जाती है। गुर्जर देश में कौथुमी और महाराष्ट्र में राणायनीया ही अधिकता से प्रचलित है। चरणव्यूह नामक ग्रन्थ के प्रणेता महीदास ने सामवेद की सोलह शाखाएँ मानी हैं और उनमें उन्हीं तीन शाखाओं का अस्तित्व माना है, क्योंकि इस समय ये ही तीन शाखाएँ प्रचलित हैं और ये तीनों शाखाएँ मुद्रित भी हैं। द्रविड़ देश में इन तीनों शाखाओं के पढ़ने वाले अब भी मिलते हैं।

वेदसर्वस्वकारने जो यह लिखा है कि--"इस समय सामवेद की तीनों शाखाएँ नहीं मिलतीं" वह परिचय के अभाव से लिखा है। वस्तुतः सामवेद की तीनों शाखाएँ अभी तक जीवित हैं।

यज्ञ में या ईश्वरोपासना में तल्लीन भक्त जिन मन्त्रों को ऋचाओं में गाते हैं, वे 'साम' कहे जाते हैं। गान-संहिता के चार भाग हैं—गेय, ऊह, ऊह्य और आरण्यक।

सामवेद के आठ ब्राह्मण हैं--ताण्ड्य, षड्विंश, मन्त्र, दैवत, आर्षेय, सामविधान, संहितोपनिषद् और वंश। इन सब ब्राह्मणों में ताण्ड्यब्राह्मण ही सर्वप्रधान है। इसलिये उसका नाम 'महाब्राह्मण' भी है। 'प्रौढब्राह्मण' और 'पञ्चविंश-ब्राह्मण' भी इसी के नाम हैं।

सामवेद में १८२४ मन्त्र हैं उनमें दो भाग हैं- छन्दःसंहिता और उत्तर-संहिता। इन दोनों का नाम पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक भी है। पूर्वार्चिक में छ और उत्तरार्चिक में तीन प्रपाठक हैं।

अथर्ववेद की शाखाएँ

अथर्ववेद की नव या पन्द्रह शाखाएँ कही गयी हैं। किन्तु वर्तमान समय में दो ही शाखाएँ प्राप्त हैं—पिप्पलाद और शौनक। इन्हीं दोनों शाखाओं की दो संहिताएँ भी हैं—पिप्पलाद-संहिता और शौनक-संहिता। शौनक-संहिता ही प्रधानरूपेण प्रचलित और मुद्रित भी है। इसमें २० काण्ड, ७५९ सूक्त और ५९७७ मन्त्र हैं। इस वेद का एक मात्र गोपथब्राह्मण ही उपलब्ध है।

इनके अतिरिक्त वेदकी अनेकानेक शाखाएँ और अनेक ब्राह्मण समय के हेर-फेर से विलुप्त हो गये हैं।

—:०:—

विवाह-संस्कार अनादि कालसे प्रचलित है

'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय करने से विवाह शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'विवाह' का अर्थ है विशिष्ट वहन। अन्य की कन्या को आत्मीय बनाते हुए उसमें संस्कार का आधान है विशिष्ट वहन। अन्य की वस्तु को आत्मीय बनाना प्रतिग्रह के बिना संभव नहीं और प्रतिग्रह दान के बिना नहीं बन सकता। अतः सिद्ध हुआ कि कन्या के पिता द्वारा दान करने पर उसको प्रतिग्रह पूर्वक आत्मीय बनाकर पाणिग्रहण, होम आदि संस्कारों से संस्कृत (संस्कार सम्पन्न) करना ही विवाह है। इस प्रकार विवाह में दान, प्रतिग्रह (दान-स्वीकार), पाणिग्रहण तथा होम—ये चार कर्म प्रधान हैं, शेष सब वर के कृत्य हैं।

विवाह जैसे स्त्री में भार्यात्व का सम्पादन करता है वैसे ही पुरुष में पतित्व का भी वह सम्पादक है। अतः यह स्त्री और पुरुष दोनों का संस्कार है, केवल स्त्री का ही या केवल पुरुष का ही संस्कार नहीं है। जैसे उपनयन बालक में अध्ययन-योग्यतारूप संस्कार का सम्पादक है, वैसे ही विवाह स्त्री-पुरुष दोनों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, पाकयज्ञ आदि श्रौत और स्मार्त कर्मानुष्ठानयोग्यता का सम्पादक है। अविवाहित स्त्री अथवा अविवाहित पुरुष का किसी भी श्रौत या स्मार्त कर्म के अनुष्ठान में अधिकार नहीं है। इसलिए विवाह स्त्री के लिए ही नित्य संस्कार है, किन्तु पुरुष का वह काम्य यानी ऐच्छिक है ऐसा मन्तव्य निर्मूल है। क्योंकि विवाह के स्त्री-संस्कार होने में जो युक्तियाँ हैं वे पुरुष-संस्कार होने में भी समान हैं। अतएव गौतम आदि ने "अष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः" (४८ संस्कारों से संस्कृत) यों आरंभ कर उनमें (संस्कारों में) विवाह की भी "सहधर्मचारिणी-संयोगः" (धर्मपत्नी का संयोग) यों पुरुष-संस्कारों में गणना की है। इसलिए जैसे अग्न्याधान, अग्निहोत्र आदि नित्य (अवश्य अनुष्ठेय) है तथा स्त्री और पुरुष दोनों के संस्कार हैं वैसे ही विवाह भी नित्य और स्त्री-पुरुष दोनों का संस्कार है। किन्तु द्वितीय आदि विवाह पुरुष का ऐच्छिक है, स्त्री का तो वह होता ही नहीं।

यद्यपि "रतिपुत्रफला दारा" इत्यादि वचनों के अनुसार विवाह रतिसुख तथा पुत्रोत्पत्ति का साधन है तथापि अन्यान्य देशों की भाँति हम भारतीयों को उसके केवल वे ही प्रयोजन अभीष्ट नहीं हैं, किन्तु हमारे मत में उसका मुख्य प्रयोजन धर्म ही है। हमारे मत में पुत्रोत्पत्ति भी नित्य ही है। जैसे जिस व्यक्ति ने यज्ञों द्वारा भगवान् का अर्चन-पूजन नहीं किया और वह यदि मोक्ष की कामना करे तो श्रुतियों में उसके लिए दोष कहा गया है, वैसे ही जिसने पुत्र उत्पन्न नहीं किया वह यदि मोक्षेच्छा करे तो श्रुति और स्मृति दोनोंने इसे दोष बतलाया है। इसीलिए निम्ननिर्दिष्ट श्रुति अध्ययन, यज्ञ और पुत्रोत्पादन नित्य हैं यह बोधन करती है—

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।"
(तै० सं० ६।१।११)

अर्थात् उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणवान् होता है, वह ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषि-ऋण से, यज्ञों द्वारा देव-ऋण से और पुत्रोत्पादन द्वारा पितृ-ऋण से उऋण होता है जो कि पुत्रवान् हो यज्ञ कर चुका हो तथा ब्रह्मचर्य-पूर्वक गुरुकुल में वेदाध्ययन कर चुका हो। यहाँ पर पूर्वोक्त श्रुति ही अध्ययन, यज्ञ और पुत्रोत्पादन की ऋणरूपता अवश्य तथा अपाकरणीयता का अवबोधन करती है।

"अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयानाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥"
(अथर्व० ६।११८।३)

अर्थात्--हे अग्निदेव, आप के अनुग्रह से हम इस लोक में लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के ऋणों से उऋण हों, देह छूटने पर स्वर्ग आदि परलोक में भी हम उऋण हों तथा स्वर्ग से भी उत्कृष्ट तृतीय लोक में हम उऋण हों। इनसे अतिरिक्त जो देवलोक (जिनमें देवता ही जाते हैं) और पितृलोक (पितरों की असाधारण भोग-भूमियाँ) हैं उन लोकों को और उनकी प्राप्ति के उपायभूत पथों और भोगों को हम उऋण होकर प्राप्त हों। ऋण न चुकाने के कारण उन लोकों के उत्तम भोगों को भोगने में हमारे सामने विघ्न-बाधा उपस्थित न हो।

यह अथर्ववेद की श्रुति भी पूर्वोक्त अर्थ का प्रतिपादन (समर्थन) करती है।

इन श्रुतियों के सहारे ही महर्षि जैमिनिने भी अध्ययन आदि की नित्यता अपने सूत्र में दिखलाई है—

'ब्राह्मणस्य सोमविद्याप्रजमृणवाक्यसंयोगात्' (जै० सू० ६।२।३१)

यज्ञ, अध्ययन और पुत्रोत्पादन ये नित्य हैं या अनित्य, यों संशय कर ऋण वाक्य से संयोग होने से ये नित्य हैं यह निश्चय किया है। अवश्य कर्तव्य ही ऋण कहे जाते हैं। इसलिये देवऋण और पितृऋण से यदि उऋण होना हो तो विवाह अवश्य करना चाहिये। विवाह करने पर आनुषङ्गिकरूप से रतिसुख लाभ होता है, इसलिये हमारे आचार्यों ने उसे मुख्य फल नहीं माना है।

विवाह की प्रथा कब से हमारे देश में प्रचलित हुई? किन्हीं विचारशीलों के इस प्रश्न का 'यह (विवाह) नित्य ही है' यही उत्तर समुचित है। मीमांसकों की तरह हम वैदिकों के मत में—

"वाचा विरूपनित्यया" (तै० सं० १०)
"अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्" (तै० आ० २।६।१)
"अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा" (म० भा० शान्ति प० २३२।२४)

इत्यादि श्रुति, स्मृति और पुराण आदि से वेद की अनादिता ही सिद्ध है पुरुषकृतत्वरूप पौरुषेयत्व का उसमें गन्ध भी नहीं है। अतएव ऋग्वेद आदि सब वेद विना किसी क्रम के सनातन ही हैं यह सिद्ध होता है।

ऋग्वेद के अष्टम अष्टक के दशम मण्डल में—

"गृभ्णामि ते सौभगात्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽऽसः" (ऋ० १०।८५।३६)

अर्थात्—हे वधू, मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ। तुम मुझ पति के साथ पूर्ण वार्धक्य को प्राप्त होओ।

"तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥" (ऋ०१०।८५।३८)

अर्थात्—हे अग्निदेव, पहले गन्धर्वों ने सूर्या (सूर्यसुता) दहेज के साथ तुम्हें दी और तुमने उसे दहेज के साथ सोम को दिया। उसी प्रकार इस समय भी हे अग्निदेव फिर हमारे (पतियों के) लिये पत्नी को सन्तति के साथ दो।

"पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥" (ऋ०१०।८५।३९)

अर्थात्—फिर स्वगृहीत पत्नी को अग्नि ने आयु और तेज के साथ दिया। इस अग्नि द्वारा दी गई स्त्री का जो पति (पुरुष) है वह दीर्घायु होकर सौ वर्ष तक जीवे।

"समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।" (ऋ० १०।८५।४७)

अर्थात्—सब देवता हम दोनों के हृदयों (मनों) को दुःख आदि क्लेश से विहीन कर लौकिक और वैदिक व्यवहारों में प्रकाशमान करें, जल भी हम दोनों के हृदयों को क्लेश—विरहित कर प्रकाशयुक्त करें, वायु हमारी बुद्धि को परस्पर अनुकूल करें, प्रजापति भी हमारी बुद्धि को परस्पर अनुकूल करें तथा फल देनेवाली सरस्वती देवी भी हमारे मन और बुद्धि का परस्पर मेल करें।

इत्यादि बहुत से मन्त्र पाणिग्रहणरूप विवाह के लिए प्रवृत्त हुए हैं और उसीका प्रतिपादन करते हैं।

"इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥" (ऋ०१०।८५।४२)

अर्थात्—इस लोक में तुम दोनों कभी वियुक्त न होओ, पूर्ण आयु पाओ एवं पुत्र, नाती और पोतों के साथ अपने घर में खूब आनन्द लूटो।

"आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥" (ऋ० १०।८५।४३)

अर्थात्—प्रजापति देव हमारी सन्तति उत्पन्न करें, सूर्य वृद्धावस्थापर्यन्त हमें जीवनयुक्त करें (जीवित रखें), तुम दुर्मङ्गलरहित यानी सुमङ्गली होकर पति के निकट आओ तथा हमारे घर के सब मनुष्यों के लिए मङ्गलप्रद होओ एवं हमारे चौपायों के लिए मङ्गलप्रद होओ।

इत्यादि मन्त्र वधू और वर दोनों के लिये आशीर्वादरूप फल का प्रतिपादन करते हैं।

"सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥" (ऋ० १०।८५।४६)

अर्थात्–हे वधू, तुम ऐसी धीर गंभीर मञ्जुभाषिणी सर्वहितैषिणी बनो कि श्वशुर तुम्हारी सलाह माने, सास तुम्हारा वचन न टाले, ननदें तुम्हारा गौरव करें और देवरों पर तुम्हारा स्निग्ध रोब रहे।

इत्यादि मन्त्र केवल वधू के लिये आशीर्वादरूप फल का प्रतिपादन करते हैं।

इसी तरह सब वेदों में विवाह-मन्त्र प्रसिद्ध हैं। ये मन्त्र कहीं यज्ञ आदि में यज्ञ-क्रियाओं के अङ्गरूप से प्रवृत्त (विनियुक्त) होंगे, सूत्रकार ने मङ्गल आदि के मन्त्रों की तरह इनका विवाह में भी विनियोग कर दिया होगा। इसलिए ये केवल विवाह के लिए ही प्रवृत्त हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, ऐसी शङ्का करना उचित नहीं, क्योंकि इनका विवाह के अतिरिक्त अन्यत्र यज्ञ-यागादि में कहीं विनियोग दिखाई नहीं देता। माधवाचार्य ने समस्त वैदिक मन्त्रों में से उन-उन विविध मन्त्रों का उन-उन यज्ञ या अन्य कर्मों के अङ्गरूप से अथवा उन-उन यज्ञों के अङ्गभूत शस्त्र आदि के अङ्गरूप से विनियोग करते हुए इन मन्त्रों का केवल विवाह में ही विनियोग किया है।

उन्होंने भाष्य में लिखा है—"विवाहे कन्याहस्तग्रहणे गृभ्णामीत्येषा।" अर्थात् विवाह में कन्या के हस्तग्रहण में "गृभ्णामि" (ऋ० १०।८५।३६) यह ऋचा विनियुक्त है। सूत्रकार ने इसी के अनुसार सूत्र रचा है–"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तमित्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयात्।" (आ० गृ० सू० १।७।३)।

"उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीडे" इस मन्त्र का विवाह के स्तावकरूप से माधवाचार्य ने व्याख्यान किया है। इस पर यह भाष्य है—"आभिर्नृणां विवाहः स्तूयते" इत्यादि।

इस प्रकार यह प्रकरण साक्षात् अथवा परम्परा से विवाह की अङ्गभूत मन्त्रराशि से संगठित है। इन सब मन्त्रों का विवाह में ही विनियोग है, अन्यत्र कहीं पर भी नहीं।

इसी तरह वेदों में हजारों बार पति-पत्नी-सम्बन्ध प्रतिपादित है। वह सारा का सारा विवाह-मूलक ही सिद्ध होता है, यह भलीभाँति सर्वविदित ही है। चारों वेदों में उपासना और ज्ञानकाण्ड को छोड़ कर अन्य समग्र भाग यज्ञ के लिए ही प्रवृत्त हैं, यह तो निश्चित ही है। यज्ञानुष्ठान प्रायः पति-पत्नी (दम्पती) द्वारा ही अनुष्ठित होता है और दाम्पत्य एकमात्र विवाह से ही सिद्ध होता है। इसलिए यज्ञ-यागों का विधान कर रहे वेदभागों द्वारा अपनी सार्थकता के लिए विवाह का भी आक्षेप किया जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध

हुआ कि वैदिकी प्रथा (विवाह) अनादि-काल से हमारे देश में चली आ रही है।

जो लोग वेदों को पौरुषेय (पुरुष-कृत) या अर्वाचीन मानते हैं एवं एक-मात्र यज्ञ में ही उनका उपयोग नहीं मानते, उनके मत में जो कुछ भी सिद्ध हो, परन्तु इस पक्ष का भी हमने कात्यायनश्रौतसूत्र की भूमिका में भलीभाँति उपपादनपूर्वक खण्डन कर दिया है।

इसप्रकार विवाह की अनादिता, धर्ममूलता तथा नित्यता (अवश्यकर्तव्यता) वेद से ही सिद्ध होने पर जो कोई सज्जन महाभारत के श्वेतकेतु के उपाख्यान आदि से विवाह की सादिता, स्त्रियों की स्वेच्छाचारिता तथा सर्वोपभोग्यता सिद्ध करना चाहते हैं, वे भ्रान्त हैं। उनसे पूछना चाहिये कि महाभारत आदि की प्रमाणता वेद-सापेक्ष हैं या स्वतन्त्ररूप से ? यदि वे कहें कि महाभारत आदि की प्रमाणता स्वतन्त्ररूप से है, तब तो वे नमस्करणीय हैं, उनसे कुछ कहना निरर्थक है। क्योंकि हमलोग सब स्मृति, पुराण इतिहास आदि की वेदमूलक ही प्रमाणता मानते हैं इससे बहिर्भूत उनसे हमारा कोई व्यवहार उचित नहीं। यदि वे कहें कि महाभारत की वेदमूलक ही प्रमाणता है, तो वेद से ही सिद्ध हो रही विवाह की अनादिता को वेदसापेक्ष महाभारत कैसे निषिद्ध करेगा ? यदि वह प्रतिषेध करें भी तो प्रमाण कैसे हो सकता है ? इसलिए यह मानना होगा कि यह उपाख्यान विवाह की सादिता आदि का प्रतिपादक नहीं है, किन्तु यह अन्यपरक ही है। यही उचित भी है। वहाँ लिखा है कि महर्षि के शाप से पाण्डु का स्त्री-संभोग निवृत्त हो गया था। पाण्डुने पुत्रोत्पत्ति की अभिलाषा से कुन्ती का पुत्रोत्पत्ति के लिए अन्यत्र नियोजन किया था। वह राजी नहीं हुई। वहाँ का प्रसङ्ग यों है—

एवमुक्त्वा महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥
न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथञ्चन।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २ ॥
त्वमेव च महाबाहो मय्यपत्यानि भारत।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥
स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥
न ह्यहं मनसाऽप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ॥ ५ ॥
(महाभा० आदि प०, अ० १२१, श्लो० १-५)

अर्थात्—हे महाराज, तब कुरुश्रेष्ठ, वीर अपने पति राजा पाण्डु से कुन्ती ने कहा—हे धर्मज्ञ, मैं आपकी धर्मपत्नी तथा कमललोचन आप में अनुरक्त हूँ, इसलिए आपको मुझसे ऐसा कथमपि नहीं कहना चाहिये। हे वीर, आप

ही मुझ में वीर्यवान् पुत्रों को धर्मतः उत्पन्न करेंगे। हे मनुष्यश्रेष्ठ, इस तरह मैं आप के साथ स्वर्ग मे जाऊँगी, इसलिए हे कुरुनन्दन ! सन्तानार्थ आप ही मेरे प्रति गमन करें। मैं आप के सिवा किसी मानव के प्रति गमन की बात सोच भी नहीं सकती। आप से अधिक श्रेष्ठ भूलोक में कौन मनुष्य है ?

इस प्रकार व्यभिचार-दोष से अत्यन्त भयभीत हो रही कुन्ती से पुत्राभिलाषी पाण्डु ने उसके भय को दूर करने तथा नियोग में प्रवृत्तिसिद्धि के लिए श्वेतकेतु का उपाख्यानादि कुछ कहा। इसलिए पाण्डुवचन का उपाख्यान में तात्पर्य नहीं है, किन्तु उसको नियोग में प्रवृत्त करने में तात्पर्य है।

कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक में कहा है—

"एवं भारतादिवाक्यानि व्याख्येयानि।" तेषामपि हि "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।" इत्यादि। अर्थात् इस प्रकार भारतादि वाक्यों की व्याख्या करनी चाहिये। उनका भी "श्रावयेत्" ब्राह्मण को आगे कर चारों वर्णों को इसे सुनाना चाहिये, इत्यादि विधि के अनुसार पुरुषार्थत्व अन्वेषण होने के कारण अक्षर आदि के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फल हैं। उनमें भी दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म आदि में कोई [1]परकृति और कोई [2]पुराकल्प रूप से अर्थवाद है। सब उपाख्यानों में तात्पर्य होने पर "श्रावयेत्" इस विधि के निरर्थक होने के कारण कथञ्चित् प्रतीत हो रही निन्दा या स्तुति में उनका तात्पर्य स्वीकार करना पड़ेगा। स्तुति और निन्दा में तात्पर्य होने से उपाख्यानों में अत्यन्त प्रामाण्याभिनिवेश (प्रमाणका आग्रह) नहीं करना चाहिये, इत्यादि।

इससे और भी जो लोग अन्य अर्थ की स्तुति के लिए प्रवृत्त उपाख्यानरूप अर्थवादों के सहारे अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं उनका भी खण्डन हुआ। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि महाभारत आदि के सब उपाख्यानों को हम असत्य ही मानते हैं। यदि प्रबल प्रमाण का विरोध न आवे तो हम उन्हें भी प्रमाण मानते ही हैं। किन्तु अनन्यपरक अत्यन्त बलवान् वेद-भाग से सिद्ध हो रहे अर्थ को वेद की अपेक्षा दुर्बल इस तरह के उपाख्यान कथमपि डिगा नहीं सकते। इस से यह सिद्ध हुआ कि हम भारतवासियों की यह वैवाहिक प्रथा अनादि-काल से सिद्ध है।

१—प्रशंसा या निन्दारूप अर्थवाद का जहाँ परकृतरूप से वर्णन होता है वह अर्थवाद 'परकृति' कहलाता है।

२—जहाँ इतिहास के रूप में स्तुति अथवा निन्दारूप अर्थवाद का वर्णन किया जाता है वह अर्थवाद 'पुराकल्प' कहलाता है।

क्या गीता विश्वधर्मका धर्मग्रन्थ हो सकती है ?

सर्वव्यापक सर्वजीवहितकारी श्रीभगवान् के सदृश 'धर्म' भी सर्वव्यापक तथा सर्वजीवहितकारी है। वैदिकधर्म, हिन्दूधर्म, आर्यधर्म, सनातनधर्म आदि जो इसके नाम आजकल लिये जाते हैं, वे अस्वाभाविक हैं। केवल अन्य उपधर्मों से इसकी विशेषता दिखाने के लिए थोड़े दिनों से इन नामों की कल्पना की गई है। यही कारण है कि शास्त्रों में केवल 'धर्म' शब्द का ही व्यवहार आया है।

धर्म दो प्रकार का है—सामान्यधर्म और विशेषधर्म। विशेषधर्म भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों के लिये भिन्न-भिन्न हैं। जैसे स्त्रीधर्म से पुरुषधर्म में भेद है, संन्यासी तथा गृहस्थ के धर्म में भेद है। परन्तु सामान्य धर्म इस प्रकार का नहीं है, वह सब प्राणियोंके लिये समानरूप से हितकारी है।

धर्म के प्रधान तीन अङ्ग हैं-यज्ञ, दान और तप। गीता में भगवान् ने कहा है—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' सत्त्व, रज और तम के भेद से इन तीनों अङ्गों के तीन भेद हैं। उनमें भी प्रत्येक के देश, काल और अवस्था के भेद से अनेक भेद हैं, जिनका यहाँ वर्णन अनावश्यक है।

धर्म के इन अङ्गों में से किसी भी अङ्ग अथवा उपाङ्ग का पूर्ण रीति से साधन किया जाय, तो परम कल्याण हो सकता है।

सनातनधर्म के सर्वजीवहितकारी होने के कारण इसके ही अङ्ग या उपाङ्ग का अवलम्बन कर अगणित सम्प्रदाय, मत और पन्थ निकले हैं और पृथ्वी पर जितने अनार्य धर्म हैं वे भी सनातनधर्म की छाया से ही बने हुए हैं। अग्नि का एक स्फुलिङ्ग भी दाह करने में भलीभाँति समर्थ हो सकता है। इसी कारण अहिंसा और ज्ञानयोग आदि के अवलम्ब से बौद्धधर्म जगत् में मान्य हो गया। वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका आदि देश सत्यप्रियता, गुणपूजा, नियमपालन आदि थोड़ी ही धर्मवृत्तियों के साधन से संसार में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। जापान में इन सब गुणों के अतिरिक्त पितृपूजा, राजभक्ति, धैर्य तथा क्षात्रधर्म आदि कतिपय धर्मवृत्तियों की अधिक उन्नति हो जाने से वह देश छोटा होने पर भी अन्यान्य महाद्वीपों द्वारा सम्मानित हो रहा है।

सनातनधर्म के अङ्गों तथा उपाङ्गों के विस्तार पर जब विचारशील पुरुष ध्यान देते हैं, तो उनको प्रमाणित होता है कि हमारे धर्म के किसी न किसी अङ्ग या उपाङ्ग की सहायता से ही समस्त संसार के धर्मों की नींव दी गई है। धृति, क्षमा, दान, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि धर्मप्रवृत्तियाँ सब जाति, सब धर्म और सब समाज के मनुष्यों को समानरूप से धर्माधिकार प्रदान करती है। विशेषतः सनातनधर्म के पितृभाव पर तो किसी मननशील व्यक्ति को कुछ सन्देह ही नहीं हो सकता।

आज दिन सारे विश्व पर बौद्धधर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म, मुसलमानधर्म, यहूदीधर्म, पारसीधर्म आदि नाना धर्मों के प्रचार के साथ अन्त में 'धर्म' शब्द लगा

ही मुझ में वीर्यवान् पुत्रों को धर्मतः उत्पन्न करेंगे। हे मनुष्यश्रेष्ठ, इस तरह मैं आप के साथ स्वर्ग मे जाऊँगी, इसलिए हे कुरुनन्दन ! सन्तानार्थ आप ही मेरे प्रति गमन करें। मैं आप के सिवा किसी मानव के प्रति गमन की बात सोच भी नहीं सकती। आप से अधिक श्रेष्ठ भूलोक में कौन मनुष्य है ?

इस प्रकार व्यभिचार-दोष से अत्यन्त भयभीत हो रही कुन्ती से पुत्राभिलाषी पाण्डु ने उसके भय को दूर करने तथा नियोग में प्रवृत्तिसिद्धि के लिए श्वेत-केतु का उपाख्यानादि कुछ कहा। इसलिए पाण्डुवचन का उपाख्यान में तात्पर्य नहीं है, किन्तु उसको नियोग में प्रवृत्त करने में तात्पर्य है।

कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक में कहा है—

"एवं भारतादिवाक्यानि व्याख्येयानि।" तेषामपि हि "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।" इत्यादि। अर्थात् इस प्रकार भारतादि वाक्यों की व्याख्या करनी चाहिये। उनका भी "श्रावयेत्" ब्राह्मण को आगे कर चारों वर्णों को इसे सुनाना चाहिये, इत्यादि विधि के अनुसार पुरुषार्थत्व अन्वेषण होने के कारण अक्षर आदि के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फल हैं। उनमें भी दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म आदि में कोई [1]परकृति और कोई [2]पुराकल्प रूप से अर्थवाद है। सब उपाख्यानों में तात्पर्य होने पर "श्रावयेत्" इस विधि के निरर्थक होने के कारण कथञ्चित् प्रतीत हो रही निन्दा या स्तुति में उनका तात्पर्य स्वीकार करना पड़ेगा। स्तुति और निन्दा में तात्पर्य होने से उपाख्यानों में अत्यन्त प्रामाण्याभिनिवेश (प्रमाणका आग्रह) नहीं करना चाहिये, इत्यादि।

इससे और भी जो लोग अन्य अर्थ की स्तुति के लिए प्रवृत्त उपाख्यानरूप अर्थवादों के सहारे अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं उनका भी खण्डन हुआ। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि महाभारत आदि के सब उपाख्यानों को हम असत्य ही मानते हैं। यदि प्रबल प्रमाण का विरोध न आवे तो हम उन्हें भी प्रमाण मानते ही हैं। किन्तु अनन्यपरक अत्यन्त बलवान् वेद-भाग से सिद्ध हो रहे अर्थ को वेद की अपेक्षा दुर्बल इस तरह के उपाख्यान कथमपि डिगा नहीं सकते। इस से यह सिद्ध हुआ कि हम भारतवासियों की यह वैवाहिक प्रथा अनादि-काल से सिद्ध है।

१—प्रशंसा या निन्दारूप अर्थवाद का जहाँ परकृतरूप से वर्णन होता है वह अर्थवाद 'परकृति' कहलाता है।

२—जहाँ इतिहास के रूप में स्तुति अथवा निन्दारूप अर्थवाद का वर्णन किया जाता है वह अर्थवाद 'पुराकल्प' कहलाता है।

क्या गीता विश्वधर्मका धर्मग्रन्थ हो सकती है ?

सर्वव्यापक सर्वजीवहितकारी श्रीभगवान् के सदृश 'धर्म' भी सर्वव्यापक तथा सर्वजीवहितकारी है। वैदिकधर्म, हिन्दूधर्म, आर्यधर्म, सनातनधर्म आदि जो इसके नाम आजकल लिये जाते हैं, वे अस्वाभाविक हैं। केवल अन्य उपधर्मों से इसकी विशेषता दिखाने के लिए थोड़े दिनों से इन नामों की कल्पना की गई है। यही कारण है कि शास्त्रों में केवल 'धर्म' शब्द का ही व्यवहार आया है।

धर्म दो प्रकार का है—सामान्यधर्म और विशेषधर्म। विशेषधर्म भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों के लिये भिन्न-भिन्न हैं। जैसे स्त्रीधर्म से पुरुषधर्म में भेद है, संन्यासी तथा गृहस्थ के धर्म में भेद है। परन्तु सामान्य धर्म इस प्रकार का नहीं है, वह सब प्राणियोंके लिये समानरूप से हितकारी है।

धर्म के प्रधान तीन अङ्ग हैं-यज्ञ, दान और तप। गीता में भगवान् ने कहा है—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' सत्त्व, रज और तम के भेद से इन तीनों अङ्गों के तीन भेद हैं। उनमें भी प्रत्येक के देश, काल और अवस्था के भेद से अनेक भेद हैं, जिन ा यहाँ वर्णन अनावश्यक है।

धर्म के इन अङ्गों में से किसी भी अङ्ग अथवा उपाङ्ग का पूर्ण रीति से साधन किया जाय, तो परम कल्याण हो सकता है।

सनातनधर्म के सर्वजीवहितकारी होने के कारण इसके ही अङ्ग या उपाङ्ग का अवलम्बन कर अगणित सम्प्रदाय, मत और पन्थ निकले हैं और पृथ्वी पर जितने अनार्य धर्म हैं वे भी सनातनधर्म को छाया से ही बने हुए हैं। अग्नि का एक स्फुलिङ्ग भी दाह करने में भलीभाँति समर्थ हो सकता है। इसी कारण अहिंसा और ज्ञानयोग आदि के अवलम्ब से बौद्धधर्म जगत् में मान्य हो गया। वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका आदि देश सत्यप्रियता, गुणपूजा, नियमपालन आदि थोड़ी ही धर्मवृत्तियों के साधन से संसार में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। जापान में इन सब गुणों के अतिरिक्त पितृपूजा, राजभक्ति, धैर्य तथा क्षात्रधर्म आदि कतिपय धर्मवृत्तियों की अधिक उन्नति हो जाने से वह देश छोटा होने पर भी अन्यान्य महाद्वीपों द्वारा सम्मानित हो रहा है।

सनातनधर्म के अङ्गों तथा उपाङ्गों के विस्तार पर जब विचारशील पुरुष ध्यान देते हैं, तो उनको प्रमाणित होता है कि हमारे धर्म के किसी न किसी अङ्ग या उपाङ्ग की सहायता से ही समस्त संसार के धर्मों की नींव दी गई है। धृति, क्षमा, दान, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि धर्मप्रवृत्तियाँ सब जाति, सब धर्म और सब समाज के मनुष्यों को समानरूप से धर्माधिकार प्रदान करती है। विशेषतः सनातनधर्म के पितृभाव पर तो किसी मननशील व्यक्ति को कुछ सन्देह ही नहीं हो सकता।

आज दिन सारे विश्व पर बौद्धधर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म, मुसलमानधर्म, यहूदीधर्म, पारसीधर्म आदि नाना धर्मों के प्रचार के साथ अन्त में 'धर्म' शब्द लगा

हुआ सुनाई देता है। परन्तु अपने वैदिक-धर्म का 'धर्म' नाम से अधिक कोई नाम नहीं है। यद्यपि वर्तमान काल के प्रभाव से हिन्दूधर्म, आर्यधर्म, सनातनधर्म और वैदिकधर्म आदि नाना नूतन कल्पित नाम सुनाई देते हैं, तो भी अपने धर्म के प्रधान आश्रय वेद, दर्शन, स्मृति पुराण, इतिहास आदि किसी में कहीं भी केवल धर्म के अतिरिक्त और कोई भी स्वतन्त्र नाम नहीं दिखाई देता है। सर्व-व्यापक ईश्वर की नाईं सार्वभौम दृष्टि, उदारता तथा शान्ति आदि गुणों से युक्त इस धर्म के लिये केवल 'धर्म' शब्द ही उपयोगी है।

विश्व के अन्यान्य धर्मप्रवर्तक महोदयों ने अपने-अपने धर्ममार्ग को थोड़े से नियमों के अधीन कर दिया है और साथ ही यह भी कह दिया है कि इस मार्ग के अतिरिक्त जीव के उद्धारार्थ कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। ऐसी दशा में जब कि किसी विशेष नियम के आधीन उनका धर्म है, तो उसका विशिष्ट नाम-करण भी होना उचित ही है। किन्तु गीता-प्रतिपाद्य धर्म का रूप इस भाँति सङ्कुचित नहीं है और न तो उसकी दृष्टि ही इस प्रकार एकदेशदर्शिनी है।

प्रकृत में यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो यज्ञ के सामूहिक अर्थ के भीतर दान और तप भी आ जाते हैं।

'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।' (गीता ४।२८)

भगवान् की इस युक्ति से भी यह बात पुष्ट होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त सभी धर्मों की जितनी भी सामान्य धर्मभावनाएँ हैं वे साक्षात् अथवा परम्परया यज्ञ के व्यापक अर्थ के भीतर अन्तर्भूत हो जाती हैं। साथ ही गीता के चरितनायक भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमुख से कहा है—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ (गीता ६।२४)

अर्थात्—मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता तथा स्वामी हूँ, तथापि उन यज्ञों के करने वाले मुझे पहचानते नहीं, इसी कारण तत्त्व से च्युत हो जाते हैं।

सामान्य धर्मवृत्तियाँ हमारे गीतोक्त धर्म से सम्बन्ध रखती हैं। राग के वशीभूत हो भले ही कोई गीता को अपना 'धर्मग्रन्थ' न माने, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर यही सिद्ध होगा कि 'गीता' विश्वधर्म का धर्मग्रन्थ ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण धर्मग्रन्थों की जननी भी है।

बदरिकाश्रम-श्राद्ध और गया-श्राद्धपर शास्त्रीय विचार

शिरःकपालं यत्रैतत्पपात ब्रह्मणः पुरा।
तत्रैव बदरीक्षेत्रे पिण्डं दातुं प्रभुः पुमान् ॥
मोहाद् गयायां दद्याद् यः स पितॄन् पातयेत् स्वकान्।
लभते च ततः शापं नारदैतन्मयोदितम् ॥

(सनत्कुमारसंहिता)

'प्राचीन काल में जहाँ यह ब्रह्माजी के सिर की खोपड़ी गिरी थी, वहीं बदरीक्षेत्र में मनुष्य को पिण्डदान करना चाहिये। जो पुरुष बदरीक्षेत्र में पिण्डदान कर अज्ञानवश गया में पिण्डदान करता है वह अपने पितरों की अधोगति कराता है और उसे पितरों से शाप प्राप्त होता है। हे नारद! यह मैंने तुमसे कहा।'

यद्यपि 'सनत्कुमार-संहिता' के इस वचन से जो बदरिकाश्रम में श्राद्ध कर चुका, उसका गया में श्राद्ध करना निषिद्ध-सा प्रतीत होता है तथापि यह वचन निषेधक नहीं है, क्योंकि—

गयाभिगमनं कर्तुं यः शक्तो नाभिगच्छति।
शोचन्ति पितरस्तस्य वृथा तस्य परिश्रमः॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ब्राह्मणस्तु विशेषतः।
प्रदद्याद् विधिवत्पिण्डान् गयां गत्वा समाहितः॥

(कूर्मपुराण, उत्तरार्ध, ३५।१०, १४)

'जो पुरुष गया जाने की शक्ति रहते पितरों के श्राद्ध के लिए गयाक्षेत्र की यात्रा नहीं करता, उसके पितर शोक व्यक्त करते हैं और उस पुरुष का जीवन-पर्यन्त का धर्मार्थ सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। इसलिये द्विजातिमात्र को प्रयत्न-पूर्वक गया-क्षेत्र में जाकर एकाग्र मनसे विधिवत् पिण्ड-प्रदान करना चाहिये। ब्राह्मण का तो विशेष रूप से यह कर्तव्य है।'

उपर्युक्त वचनों से गयाश्राद्ध पितरों के ऋण से मुक्ति प्रदान करने के कारण 'नित्य' कहा गया है तथा उसके अकरणमें 'प्रत्यवाय' (पाप) सुना जाता है। इसलिये जीवन और सामर्थ्य रहते हुए गयाश्राद्ध मानव का अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य प्रतीत होता है एवं निबन्धकारों में भी किसी ने बदरिकाश्रम में श्राद्ध करनेके अनन्तर गया में श्राद्ध न करने का उल्लेख नहीं किया है। इसलिये उक्त दोनों श्लोकों में 'मोहात्' (मोहवश) और 'शापम्' (पितरों से शाप प्राप्त होता है) इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य बदरिकाश्रम में श्राद्ध करने के अनन्तर गयाश्राद्ध के निषेधमें नहीं है, अपितु—

'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' (निन्दा का निन्दनीयकी निन्दामें तात्पर्य नहीं है, किन्तु विधेय (प्रस्तुत) की प्रशंसा में तात्पर्य है) इस न्याय से वे बदरिकाश्रम-श्राद्ध की प्रशंसा के बोधक हैं। अथवा जैसे—

"अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गोऽश्वाः।"

इससे गौ और अश्व के विधान के लिये अन्य पशुओं में अपशुत्व का बोधन किया जाता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। 'बकरी' आदि में पशुत्व प्रत्यक्षसिद्ध है, उसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। अतएव गौ और अश्व की प्रशंसा के लिये ही उनसे अतिरिक्त बकरी आदि की

निन्दा है। उस निन्दा का जैसे गौ और अश्व की स्तुति में ही पर्यवसान है, वैसे ही प्रकृत में भी बदरिकाश्रम-श्राद्ध की स्तुति के लिये गयाश्राद्ध की निन्दा की गई है, गयाश्राद्ध की निवृत्ति में उक्त वाक्यों का तात्पर्य नहीं है। यही व्यवस्था वार्षिक महालयादि श्राद्ध आदि के विषय में भी समझनी चाहिये। क्योंकि—

'पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना।' (मनु० ३।२७९)

'मनुष्य को पितृकर्म जीवनपर्यन्त कुश हाथ में लेकर विधिवत् करना चाहिये।'

'मृताहं समतिक्रम्य चण्डालः कोटिजन्मसु।'

'यदि कोई पिता-माता की मरणतिथि में श्राद्ध न करे तो वह करोड़ों जन्मों तक चाण्डाल होता है।'

उपर्युक्त वचनों के अनुसार जीवित पुरुष को जीवन-पर्यन्त अवश्य श्राद्ध करना चाहिये, ऐसा बोधित होता है और श्राद्ध न करने पर प्रत्यवाय (पाप) सुना जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि बदरिकाश्रम में श्राद्ध करने पर भी गया-श्राद्ध और वार्षिक महालयादि श्राद्ध अवश्य करने चाहिये।

स्पृश्यास्पृश्य-विवेक

[धर्मवीर सेठ गौरीशङ्करजी गोयनका ने माननीय महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी गौड से स्पृश्यास्पृश्य-सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे थे। गौडजी ने उनका जो विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया था सामयिक होने के कारण उसे हम 'सन्मार्ग' में प्रकाशित कर रहे हैं। सम्पादक—'सन्मार्ग' साप्ताहिक, काशी।]

श्रीमान् सेठ गौरीशङ्कर गोयनका महोदय के प्रश्न ये हैं—

१—अस्पृश्यों का मन्दिरों और कालेजों में प्रवेश कराने, स्पृश्यों के साथ समान व्यवहार करने-कराने से क्या उनकी उन्नति होगी?

२—नानाविध उपायों से अस्पृश्यता मिटा देना अहिंसा है या क्रूर हिंसा?

३—जिन कालेजों और मन्दिरों में अस्पृश्य जाते हैं, वहाँ स्पृश्यों को जाना चाहिए या नहीं?

श्रीगोयनकाजी के किये गये सामयिक प्रश्नों पर कुछ विचार उपस्थित किया जाता है जिससे प्रश्नों का उत्तर हो जाय और पदार्थ भी स्पष्ट हो जाय।

१—अस्पृश्य दो प्रकार के होते हैं—एक पवित्र और दूसरे अपवित्र। 'स्नात्वा शुचिः कर्माणि कुर्वीत' इसके अनुसार जब अस्पृश्य स्नानादि से शुद्ध होकर यथाधिकार सन्ध्या, तर्पण, देवपूजा आदि करते हैं, उस अवस्था में कोई उपस्थित पुरुष उनका स्पर्श नहीं कर सकता। इसलिए वे उस समय 'पवित्र अस्पृश्य' कहे जाते हैं। अपवित्र पुरुष के सम्बन्ध से पवित्र पुरुष भी अपवित्र हो

जाता है। अतः सन्ध्या, तर्पण, देवपूजन के समय मनुष्य को उचित है कि वह किसी का स्पर्श न करे।

बौधायन धर्मसूत्र (१।६।१३) में लिखा है कि—

"शुचिमध्वरं देवा जुषन्ते। शुचिकामा हि देवाः शुचयश्च। तदेषाऽभिवदति—शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः। ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानः शुचयः पावका इति।"

अर्थात्—पवित्र यज्ञ (देवपूजा) को देवता चाहते हैं। देवता पवित्र कामना वाले होते हैं। वे स्वयं भी परम पवित्र होते हैं। ऋग्वेद में भी कहा है कि—हे पवित्र देवताओ! आप लोगों की हवि पवित्र हो और पवित्र आप लोगों के लिये मैं (यजमान) पवित्र यज्ञ करता हूँ। आप लोग पवित्र जल के स्पर्श से पवित्रता को प्राप्त हैं, पवित्रजन्मा हैं स्वयं पवित्र हैं और दूसरों को पवित्र करनेवाले हैं। अतः देवपूजन के समय अपवित्र पुरुष या अपवित्र वस्तु से पूजक का स्पर्श नहीं होना चाहिये। पूजन के समय उत्तमता के कारण ये अस्पृश्य 'पवित्र अस्पृश्य' कहे जाते हैं।

दूसरे अपवित्र अस्पृश्य हैं। वे भी दो प्रकार के हैं - एक वे, जिन्होंने ब्रह्महत्यादि कोई महापाप किया हो और दूसरे चाण्डालादि। पापी पुरुष जबतक प्रायश्चित्त द्वारा अपनी शुद्धि न कर ले, तबतक वह अस्पृश्य है, स्पर्श के योग्य नहीं है। अतः महापापी 'अपवित्र अस्पृश्य' कहा जाता है। चाण्डालादि तो जन्म से ही अस्पृश्य होते हैं, उनके स्पर्शमात्र से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब अपवित्र हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में जबतक वे सचैल स्नान न करें, तबतक सन्ध्या, तर्पण और देवपूजनादिका उनको अधिकार नहीं होता।

पुजारी आदि का स्पर्श उत्तम दृष्टि से निषिद्ध है और चाण्डालादि हीन जाति का स्पर्श हीनता के कारण निषिद्ध है।

भगवान् मनु ने कहा है—

ते चापि बाह्यान् सुबहूँस्ततोऽप्यधिकदूषितान्।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान्॥ (१०।२६)

अर्थात्—वे सब बहुत अधिक दूषित निन्दित, सत्कर्म से बहिर्भूत पुत्रों को उत्पन्न करते हैं।

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते॥ (१०।३०)

अर्थात्—जिस प्रकार शूद्र ब्राह्मणी में वर्ण आश्रम से बहिर्भूत पुत्र को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार बाह्यपुत्र चाण्डाल आदि और भी हीन, नीच सन्तान उत्पन्न करता है।

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च।
वसेयुरेतेऽविज्ञाता वर्जयन्तः स्वकर्मभिः॥ (१०।५०)

अर्थात्—वृक्ष, श्मशान, पर्वत और उपवन में चाण्डालादि अपने कर्म से जीविका करते हुए वास करें, ग्राम में नहीं।

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्॥ (१०।५१)

अर्थात्—चाण्डालादि का निवास ग्राम से बाहर हो। उनके पात्र सर्वथा अग्राह्य हैं, कुत्ते और गर्दभ उनके धन हैं, बैल आदि नहीं।

वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः॥ (१०।५२)

अर्थात्—मृतक (शव) के उतरे हुए वस्त्र इनके वस्त्र हैं, टूटे-फूटे पात्र में इनको भोजन करना चाहिये, लोहे के भूषण हों और सदा उन्हें भ्रमण करते रहना चाहिये।

न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥ (१०।५३)

अर्थात्—धर्मानुष्ठान के समय चाण्डालों का दर्शनादि व्यवहार नहीं करना चाहिये। इनका सब व्यवहार परस्पर (आपस में) होता है।

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद् भिन्नभाजने।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च॥ (१०।५४)

अर्थात्—इनको साक्षात् अन्न न देना चाहिये, टूटे पात्र में भृत्य के द्वारा देना चाहिये। रात्रि को वे ग्राम में और शहर में न घूमें।

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः॥ (१०।५५)

अर्थात्—दिन के कार्य के निमित्त राजचिह्न से अङ्कित होकर वे भ्रमण करें और जिसका कोई स्वामी नहीं, ऐसे अनाथ शव को ग्राम से बाहर ले जायँ।

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च॥ (१०।५६)

अर्थात्—राजाज्ञा से वे सूली-फाँसी देने का कार्य करें। मृतक के वस्त्र, खटिया, भूषणादि राजाज्ञा से ग्रहण करें।

इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि चाण्डालादि सम्पूर्ण वर्णाश्रम-धर्म से बाहर हैं और उनके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि सब लोग बाहर हैं। प्रत्युत इनकी सन्तान और भी अधम-हीन हैं। अतएव इस समय जो चाण्डालादि जाति वर्तमान हैं, यह वंशपरम्परा उन्हीं चाण्डालों के समान हैं। अतः ये सर्वथा बाह्य और अधम हैं, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसी अवस्था में—'आजकल जो चाण्डाल जाति है यह वह चाण्डाल जाति नहीं है, यह बाह्य नहीं है' इत्यादि कहना साहसमात्र है। वंशपरम्परा से जिस प्रकार ब्राह्मणादि जाति है उसी प्रकार चाण्डालादि जाति भी है। यदि इनको चाण्डाल न मानें तो उन्हें किस जाति के अन्तर्गत माना जाय?

सच्छूद्र में तो इनकी गणना है नहीं और न सच्छूद्रों के साथ इनका कोई व्यवहार है, इसलिये वे सच्छूद्र से पृथक् हैं, यह बात तो व्यवहार से सिद्ध ही है। हम-लोग शिष्टाचार व्यवहार प्रमाण से आजकल के चाण्डालों को चाण्डाल मानते हैं। आधुनिक सुधारक लोग विना प्रमाण के निर्मूल चाण्डाल जाति को न मानकर सच्छूद्र में उनका अन्तर्भाव मानते हैं और वहाँ तक भी सन्तोष न कर उनके साथ भोजनादि व्यवहार करते हैं। इससे मालूम होता है कि प्रत्येक जाति में उनका अन्तर्भाव उन्हें अभीष्ट है, परन्तु मनु से लेकर समस्त स्मृतिकार और निबन्धकार आजकल वर्तमान चाण्डाल जाति को परम्परागत चाण्डाल जाति ही मानते हैं। इसलिये मूलभूत चाण्डाल जाति से उत्पन्न यह जाति चाण्डाल जाति ही है, जात्यन्तर नहीं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

इस प्रकार श्रुति-स्मृतिसिद्ध चाण्डाल जाति सर्वथा बाह्य है, यह मन्वादि महर्षियों से भी सिद्ध है। अतः इनको अष्टादश विद्या के अध्ययन में कदापि अधिकार नहीं है, इसलिये इनको ये विद्याएँ नहीं देनी चाहिये। यदि कोई उन्हें लोभ या मोह से पढ़ाता है, तो वह भी 'पतित' हो जाता है—

संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनात् न तु यानासनाशनात्॥
(बौधायन धर्म० २।१।३५)

अर्थात्—पतित के साथ याजन, अध्यापन और विवाहादि सम्बन्ध से सद्यः पतित होता है तथा यान, आसन, भोजन से एक वर्ष में पतित होता है।

इसी प्रकार पढ़ने वाला चाण्डालादि भी विना अधिकार अध्ययन करने से महादोषी होता है और उसको ऐहिक और आमुष्मिक फल की प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव इस विद्या के अध्ययन से उनका कोई उपकार नहीं होता, किन्तु वे नरकगामी ही होते हैं। चाण्डालों को पढ़ाने वालों को अध्यापन-प्रयुक्त दोष है और उन्हें अयोग्य कर्म में प्रवृत्त कराने से भी एक दोष होता है। इस प्रकार वे दो पाप के भागी होते हैं। जो बालक चाण्डालादि के साथ एक आसन पर बैठ कर पाठशालाओं में पढ़ते हैं, वे भी एक ही वर्ष में पतित हो जाते हैं—

एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापने योनिस्तथा च सह भोजनम्॥

नवधा सङ्करः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह।
संलापस्पर्शनिश्वास-सहयानासनाशनात्॥

याजनाध्यापनाद्यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्।
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्॥

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि एक ही पाठशाला में हमारे और चाण्डालों के बालकों का पठन-पाठन अत्यन्त धर्म-हिंसा कार्य है।

इसी प्रकार चाण्डालों का मन्दिर-प्रवेश भी 'क्रूर-हिंसा' है। इनके मन्दिर-प्रवेश से 'देवकला' नष्ट हो जाती है। यदि किसी मन्दिर में चाण्डालादि चला जाय, तो इसका उचित प्रायश्चित्त करना चाहिये। यदि वह (चाण्डाल) मूर्ति का स्पर्श कर दे, तो उसकी पुनः प्रतिष्ठा होनी चाहिये। मन्दिर में चाण्डालों के प्रवेश से 'देवतात्व' नष्ट हो जाता है, पूजक पूजा के अधिकारी नहीं रहते और चाण्डालादि भी हीन कार्य में प्रवृत्त किये जाते हैं। यह सब व्यापार 'क्रूर हिंसा' है।

१—निष्कर्ष यह है कि—अस्पृश्यों का वर्णाश्रम-विहित कर्म में अधिकार नहीं है। इनके मन्दिर-प्रवेश से देवकला का नाश हो जाता है और मन्दिर भी भ्रष्ट हो जाता है। अतः इनको देवतात्वनाश और मन्दिरभ्रंशजनित पातक होता है। पाठशाला में इनके प्रवेश से और इनके साथ व्यवहार करने से अत्यन्त दोष लगता है। ऐसे पतित कर्म करने से चाण्डालों का पाप बढ़ कर उनकी विशेष हानि ही होती है, किन्तु उनकी कोई उन्नति नहीं होती।

२—श्रुति-स्मृति-पुराणादिसिद्ध अस्पृश्यता के निवारण में जो प्रवृत्ति है, उससे अस्पृश्यता नहीं जाती, अछूतोद्धार नहीं होता, प्रत्युत स्पृश्य लोग भी अस्पृश्यों के साथ सम्बन्ध करने से अस्पृश्य हो जाते हैं, धर्म से मारे जाते हैं, यह बड़ी 'क्रूर हिंसा' है।

३—जिस विद्यालय और मन्दिर में अस्पृश्यगण विधि-निषेध को न मान कर बल-पूर्वक प्रवेश करते हैं अथवा प्रविष्ट कराये जाते हैं, उन विद्यालयों और मन्दिरों में स्पृश्यों को कथमपि नहीं जाना चाहिये ❈।

महामहोपाध्याय-स्मारकग्रन्थस्य द्वितीयखण्डः समाप्तः।

❈ इति ❈

❈ ९ नवम्बर सन् १९४७ के 'सन्मार्ग' (साप्ताहिक) वाराणसी से उद्धृत।

महामहोपाध्याय-स्मारक-ग्रन्थ

तृतीयखण्ड

भारतप्रसिद्ध सम्मान्य विद्वानोंके लेख

इसी प्रकार चाण्डालों का मन्दिर-प्रवेश भी 'क्रूर-हिंसा' है। इनके मन्दिर-प्रवेश से 'देवकला' नष्ट हो जाती है। यदि किसी मन्दिर में चाण्डालादि चला जाय, तो इसका उचित प्रायश्चित्त करना चाहिये। यदि वह (चाण्डाल) मूर्ति का स्पर्श कर दे, तो उसकी पुनः प्रतिष्ठा होनी चाहिये। मन्दिर में चाण्डालों के प्रवेश से 'देवतात्व' नष्ट हो जाता है, पूजक पूजा के अधिकारी नहीं रहते और चाण्डालादि भी हीन कार्य में प्रवृत्त किये जाते हैं। यह सब व्यापार 'क्रूर हिंसा' है।

१—निष्कर्ष यह है कि—अस्पृश्यों का वर्णाश्रम-विहित कर्म में अधिकार नहीं है। इनके मन्दिर-प्रवेश से देवकला का नाश हो जाता है और मन्दिर भी भ्रष्ट हो जाता है। अतः इनको देवतात्वनाश और मन्दिरभ्रंशजनित पातक होता है। पाठशाला में इनके प्रवेश से और इनके साथ व्यवहार करने से अत्यन्त दोष लगता है। ऐसे पतित कर्म करने से चाण्डालों का पाप बढ़ कर उनकी विशेष हानि ही होती है, किन्तु उनकी कोई उन्नति नहीं होती।

२—श्रुति-स्मृति-पुराणादिसिद्ध अस्पृश्यता के निवारण में जो प्रवृत्ति है, उससे अस्पृश्यता नहीं जाती, अछूतोद्धार नहीं होता, प्रत्युत स्पृश्य लोग भी अस्पृश्यों के साथ सम्बन्ध करने से अस्पृश्य हो जाते हैं, धर्म से मारे जाते हैं, यह बड़ी 'क्रूर हिंसा' है।

३—जिस विद्यालय और मन्दिर में अस्पृश्यगण विधि-निषेध को न मान कर बल-पूर्वक प्रवेश करते हैं अथवा प्रविष्ट कराये जाते हैं, उन विद्यालयों और मन्दिरों में स्पृश्यों को कथमपि नहीं जाना चाहिये ❀।

महामहोपाध्याय-स्मारकग्रन्थस्य द्वितीयखण्डः समाप्तः।

❀ इति ❀

❀ ९ नवम्बर सन् १९४७ के 'सन्मार्ग' (साप्ताहिक) वाराणसी से उद्धृत।

महामहोपाध्याय-स्मारक-ग्रन्थ

तृतीयखण्ड

भारतप्रसिद्ध सम्मान्य विद्वानोंके लेख

॥ श्रीः ॥

वेदकी उपादेयता

[ज्योतिष्पीठाधीश्वर शङ्कराचार्य श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज]

'यस्य निश्वसितं वेदाः' उस परब्रह्म परमात्मा के श्वासभूत वेदों का प्रादुर्भाव प्रगल्भ तप और प्रखर प्रतिभापूर्ण महर्षियों के अविच्छिन्न ज्ञान द्वारा स्वतः प्रस्फुटित शब्दराशि द्वारा हुआ। मानव उसी ज्ञान से धर्माधर्म, आवास-निवास, आचार-विचार, सभ्यता-संस्कृति का निर्णय करता हुआ अध्यात्म-गूढ तत्त्वों का विवेचन कर ऐहिक और आमुष्मिक अभ्युदय का भागी बना और बन सकता है। जिस प्रकार शब्दादि ज्ञान के लिये चक्षु आदि इन्द्रिय-वर्ग अपेक्षित होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा अगम्य एवं अज्ञात तत्त्वों के ज्ञापनार्थ वेद की आवश्यकता है। इसीलिये—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

बड़े से बड़ा तार्किक अपनी प्रबल शक्ति द्वारा पदार्थ की स्थिति का प्रयत्न करता हुआ अन्य प्रबल तार्किक की प्रतिभापूर्ण बुद्धि के द्वारा उपस्थापित तर्क से स्वतर्क को निस्तत्व मान कर अपने प्रामाण्यार्थ वेद की शाखा में जाते देखा है। इसीलिये **'स्वर्गकामो यजेत', 'कलञ्जं न भक्षयेत्'** इत्यादि वेद-वाक्यों द्वारा प्रतिपादित विहित प्रवर्तन, निषिद्ध निवर्तन में कोई भी तर्क अग्रसर नहीं किया जा सकता। सन्ध्योपासन धर्मजनक है, सुरापान अधर्मोत्पादक है, इस की सिद्धि वेदवाक्यातिरिक्त अन्य किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से गम्य नहीं, इसलिये वेद की आवश्यकता है। वेद की प्रामाणिकता पर विश्वास करने वाला आस्तिक और वेदविरुद्ध प्रामाणिकता पर विश्वास करने वाला नास्तिक कहलाता है। इसीलिये कोषकार अमरसिंह जैन ने भी **"नास्तिको वेदनिन्दकः"** लिखा है। आस्तिक सम्प्रदायवाले वेदनिन्दक ईश्वरावतार पर भी विश्वास नहीं करते और न वे उनको मान्यता ही देते हैं।

वेदका स्वाध्याय

इसीलिये आस्तिक-वर्ग ने वेद के स्वाध्याय को अपनाया। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

"यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसञ्च अक्षय्यञ्च य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ।"

जो व्यक्ति रत्नों से परिपूर्ण समस्त पृथिवी को दान कर देता है, उस दान से उत्पन्न पुण्य की अपेक्षा वेद के स्वाध्याय करने से उत्पन्न हुआ पुण्य कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इतना ही नहीं, मनु महाराज ने तो यहाँ तक कहा है कि—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

वेदादि शास्त्रों के अर्थ-तत्त्व को जानने वाला ब्राह्मण जिस किसी भी स्थान और आश्रम में निवास करे उसे ब्रह्मतुल्य समझना चाहिये। महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।; मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ।"

ब्राह्मण को विना किसी प्रयोजन के छः अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार अध्ययन कर शब्दप्रयोग करने वाले के माता-पिता इसलोक और परलोक में महत्ता प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो ब्राह्मण वेदाध्ययन में प्रवृत्त न होकर इधर उधर परिश्रमण करता है उसकी निन्दा स्वयं मनु महाराज करते हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

इस वाक्य के अनुसार जो द्विज वेदातिरिक्त अन्य पठन-पाठन (शिल्प-कला आदि) में परिश्रम करता है, वह जीवित सवंश शूद्रता को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में द्विजाति-मात्र को स्वधर्म समझ कर अमायया से वेदाध्ययन में प्रवृत्त होना चाहिये।

अधिकार

सभी धार्मिक ग्रन्थों में द्विज को ही वेदाध्ययन का अधिकार दिया गया है, द्विजेतर को नहीं। इसका मुख्य कारण वेदशास्त्र की आज्ञा ही है। "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि" अर्थात् विद्या ब्राह्मण के समीप जाकर बोली—"मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूँ" वह अन्य के पास नहीं गयी। ब्राह्मण ही विद्या के रक्षक हैं। वेदरूपी कोष का कोषाध्यक्ष ब्राह्मण ही है। दूसरी बात यह है कि "उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेत् विधिम्" गुरु शिष्य का उपनयन-संस्कार कर विधिपूर्वक शौचाचार-शिक्षण द्वारा

वेदाध्ययन कराये। "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत्, एकादशवर्षं राजन्यं द्वादशवर्षं वैश्यम्" इन वाक्यों द्वारा त्रिवर्ण का ही उपनयन-संस्कार वेदादि सच्छास्त्रों द्वारा हो सकता है। जब द्विजेतरों का उपनयन-संस्कार ही नहीं, तब उनके लिये उपनयनमूलक वेदाध्ययन की चर्चा बहुत दूर रह जाती है। चतुर्थ वर्ण के व्यक्तियों को कला, कौशल, दस्तकारी आदि की शिक्षा का विधान किया गया है। शास्त्र पर विश्वास न करने वालों के विषय में क्या कहें, वे तो ईश्वर के दया-पात्र ही हैं।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥

जिस वर्ग, समाज और व्यक्ति की रक्षा भगवान् को इष्ट होती है, उसकी बुद्धि वे शुद्ध कर देते हैं। वह बुद्धि से पदार्थ का निर्णय कर प्रवृत्ति-निवृत्ति का निश्चय करने के योग्य व्यक्ति बन जाता है।

वैदिक-धर्म और संस्कृति

वैदिक काल में अधिकांश में स्वाध्याय और अध्ययन में ही समय व्यतीत होता था। समय का दुरुपयोग करने वाले साधन, चल-चित्रादि उस समय नहीं थे। कुछ लोग गृहस्थ-जीवन बना कर इन्द्रादि देवों की ऋक् सूक्तों द्वारा उपासना, वैदिक कर्मकाण्ड करते और स्वयं उत्पन्न नीवारादि से जीवन निर्वाह करते थे। इनके छोटे-छोटे बालकों को राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों की प्रक्रिया कण्ठस्थ होती थी और इनका विचार-प्रधान जीवन था। आडम्बर का गन्ध भी नहीं था। नदियों और उपवनों के स्वच्छ तटों पर रह कर स्वाध्याय करते हुए आत्मचिन्तन करना ही इन का परम लक्ष्य था। आने वाली विपत्तियों का प्रतिकार वे दैवी-उपायों से करते थे। वे अपने प्रतिद्वन्द्वी दस्युओं को विजय करने के लिये इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति द्वारा अपनी रक्षा करने में सफल होते थे। उस समय सतोगुण प्रधान प्रजा थी।

वर्तमान

आज हमारा ब्राह्मण-समाज वैदिका-परम्परा को अनुपादेय समझ परित्याग करता चला जा रहा है। वैदिक केवल मन्त्रोच्चारण मात्र से ही कृत-कृत्य हो जाते हैं। अङ्गों के अध्ययन की ओर उनकी रुचि ही नहीं है। वैयाकरण, और साहित्यज्ञों का थोड़े से सूत्रों तथा कुछ मनोरञ्जक पद्यों पर ही पाण्डित्य समाप्त हो जाता है। पहले विद्वानों की प्रतिभा और परिश्रम सर्वतोमुखी होता था। ब्राह्मण का सर्वप्रथम षडङ्ग वेदाध्ययन ही प्रथम कर्तव्य है। इस कोटि में हम स्व० महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड के सम्बन्ध में अपने विचार रखते हैं।

महामहोपाध्याय पं० विद्याधरजी गौड अपनी शेमुषी द्वारा वैदिकपरम्परा के गण्यमान्य विद्वान् होते हुए षडङ्ग अध्ययन-अध्यापन में भी किसी से पीछे

नहीं रहे। अतएव उन्हें वैदिक दुर्लभ 'महामहोपाध्याय' पदवी से अलङ्कृत किया गया था। वे जितना अपना गम्भीर पाण्डित्य रखते थे उतना ही गहरा वात्सल्य छात्रों के प्रति भी रखते थे। कात्यायनश्रौतसूत्र की पाण्डित्यपूर्ण टीका एवं विवाह-पद्धति, उपनयन-पद्धति आदि अनेक पद्धतियों को रच कर वैदिक-कर्मकाण्ड की जटिल गुत्थियों को उन्होंने सुलझाया। जन-साधारण की उपास्य सन्ध्योपासनविधि में मन्त्र, देवता और छन्दों का परिष्कार कर शास्त्रसम्मत निर्णय किया, जिससे आस्तिक जनता का बड़ा उपकार हुआ। अन्य भी जन-जागृति के कार्य आपने किये। भारतवर्ष में ऐसे विद्वानों की समय-समय पर आवश्यकता रही और रहेगी। आपने भारत के चारों कोनों में श्रौत-स्मार्त यज्ञों का आचार्यत्व कर वैदिक-परम्परा को जीवित रक्खा। सनातनधर्म ही नहीं, वैदिक-जगत् आप का उत्कण्ठा-पूर्वक सदा स्मरण करता रहेगा।

सर्वकल्याणकारी वेद

[अनन्तश्रीविभूषित श्री १००८ स्वामी करपात्रीजी महाराज]

वेदाध्ययन आचार्यपूर्वक ही है। जैसे गुरुओंने अध्ययन किया है, वैसे ही अध्येता अध्ययन करना चाहते हैं। स्वतन्त्र पहला कोई भी वेदों का अध्येता नहीं है। कोई भी वेदों का कर्त्ता निश्चित नहीं है, प्रत्युत वेदों की नित्यता सिद्ध होती है। इस तरह वेदों की ही शास्त्रता एवं मान्यता सिद्ध है।

वेद ही सार्वदेशिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे किसी देश-विशेष की भाषा में नहीं हैं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण है, वैसे ही उसका वेद भी सर्व-साधारण की भाषा में ही है। अन्यान्य धर्म-ग्रन्थ भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में है। कहा जा सकता है कि वेद भी तो आर्यों की संस्कृत-भाषा में ही है, फिर वे ही कैसे सार्वदेशिक हो सकते हैं? परन्तु यह कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि संस्कृत-भाषा देव-भाषा है, मानुषी भाषा नहीं। इसलिये बाल्मीकीय रामायण में सुन्दरकाण्ड में संस्कृता वाक् का मानुषी वाक् से पृथक् उल्लेख है। श्रीहनुमानजी सोचते हैं कि मुझे अवश्य ही मानुषी वाक् बोलनी चाहिये, दूसरी तरह से महाभागा श्रीजानकी को समझाया नहीं जा सकता—

अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥

यदि मैं ब्राह्मण की तरह संस्कृता वाक् बोलूँगा, तब तो मुझे रावण समझ कर श्रीसीता माता भयभीत होंगी—

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥

द्विजातियों की भी संस्कृत निजी भाषा नहीं, किन्तु देवभाषा ही है। ब्राह्मण शब्द-शास्त्राभ्यासी होने के कारण ही संस्कृता वाक् बोलते थे। इसीलिये 'नैषध' में लिखा है कि भिन्नदेशीय राजाओं के संस्कृत-भाषा बोलने के कारण देवताओं की पहचान नहीं हुई—"सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि।"

इसके अतिरिक्त वेद देवभाषा संस्कृता वाक् में भी नहीं हैं, इसीलिये शब्दों के लौकिक तथा वैदिक दो प्रकार के संस्कार होते हैं। लौकिक संस्कार लोक तथा वेद दोनों में ही बराबर हैं। ये व्याकरणादि सूत्रों के ही अनुसार होते हैं। इसीलिये शाब्दिकों का कहना है—"छन्दसि दृष्टानुविधिः।"

छन्द में दृष्ट लक्ष्य के अनुसार ही संस्कार मान्य हैं। व्याकरण में वैदिकी प्रक्रिया पृथक् है, अतः वहाँ लक्ष्य का ही प्राधान्य है, संस्कार का नहीं। वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दों से नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्यों का स्वरूप और अर्थ निरुक्त एवं प्रातिशाख्य से ही नियमित है, संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेदभाषा संस्कृतभाषा से भी विलक्षण है। यह दूसरी बात है कि उसके साथ कुछ तुल्यता अधिक मिल जाय। इसीलिये वेद किसी के पक्षपाती नहीं हैं।

जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं, वैसे ही उनका वैदिकधर्म भी साक्षात् या परम्परया प्राणिमात्र का परम उपकारी है। परन्तु पूर्वकथनानुसार अधिकारविशेष-निर्णय इनका असाधारण गुण है। जैसे कोई औषधि किन्हीं के लिये हितकर और किन्हीं के लिये अहितकर होती है, किन्हीं औषधों का किन्हीं यन्त्रों तथा पात्रों में सुपरिणाम और उन्हीं का दूसरे यन्त्रों तथा पात्रों में दुष्परिणाम होता है, वैसे ही उन विचित्र शक्तिसम्पन्न वैदिक शब्दों तथा कुछ कर्मों का कहीं सुपरिणाम और कहीं दुष्परिणाम भी हो जाता है। उसी स्थिति के आधार पर ही वेदों के उच्चारण, श्रवण और अग्निहोत्रादि कर्मों में शुद्ध द्विजाति पुरुषों को ही अधिकार है। आशौचग्रस्त तथा पतित त्रैवर्णिकों या व्रात्यों का उक्त कार्यों में अधिकार नहीं है। अधिकार-विवेचन में पक्षपातशून्य केवल हितकामना से ही नियम हैं। राजसूय यज्ञ में केवल क्षत्रिय का अधिकार है, ब्राह्मण और वैश्य का नहीं। वैसे ही वैश्यस्तोम में केवल वैश्य का ही अधिकार है। इसी तरह किसी में रथकार का ही और किसी में स्थपति का ही अधिकार है। ब्राह्मण को मद्य-बिन्दुपान में ही मरणान्त प्रायश्चित्त है, औरों को वैसा नहीं। ब्राह्मण को सर्वत्याग, क्षत्रिय को साम्राज्य, गृहस्थ को द्रव्यदान में पुण्य, सर्वमान्य संन्यासी को द्रव्यदान में पाप, स्वधर्मबहिर्मुख ब्राह्मण को भी नरक, स्वधर्मनिष्ठ अन्त्यज को भी दिव्यलोक-प्राप्ति, यह सब केवल वस्तुस्थिति का अनुसरण है। माता शिशु के हाथ से ईख छीन लेती है, परन्तु मिसरी दे देती है। क्या यहाँ द्वेष है ?

कहा जा सकता है कि श्रवणादि के अनधिकारियों को श्रवणादि द्वारा वेद अनुपकारक होने से वेदों में विषमता आ जायगी, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि धनुष आदि के धारण करने में असमर्थों के लिये धनुष-धारण का निषेध और कटु औषधों से भीरू लोगों के लिये उन औषधों का निषेध जैसे विषमता का मूल नहीं होता, वैसे ही अनधिकारियों के लिये वेद तथा तदुक्त कर्मों का निषेध अनुचित नहीं है। कहा जा सकता है कि जैसे योग्यता-सम्पादन के अनन्तर बालकों का भी अधिकार है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान द्वारा जन्मान्तर में द्विजत्व-सम्पादन से यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। परन्तु जैसे जड़ अन्ध, षण्ढ, वधिर, उन्मत्त, मूक आदिकों में श्रवणादि का लौकिक सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही कुछ असामर्थ्य शास्त्र से ही गम्य है। जैसे लौकिक सामर्थ्य सब को नहीं है, वैसे ही अलौकिक सामर्थ्य भी सब को नहीं है। पुराणों द्वारा वेदार्थ-ज्ञान, शम-दमादि मानव-सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल भगवद्भक्ति और ज्ञान में मनुष्यमात्र का अधिकार है और उसीके द्वारा सब का परम कल्याण भी होता है। भगवन्नाम आदि वैदिकधर्म से मनुष्य की तो कौन चलाये, गृध्र, बन्दर, भल्लूक तक की परम सद्गति हुई और होती है --

"पाइ न केहि गति पतित-पावन राम भज सुनु शठ मना।"

अतः स्पष्ट है कि देश-जाति पक्षपात के बिना यथाधिकार वेद सर्वकल्याणकारी है[1]।

—: ० :—

अनन्त वेद

[महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी]

वेदों का स्वरूप क्या है, इस विषय में "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्ब श्रौ० सू० २४।१।३१) अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण 'वेद' कहे जाते हैं।

"अपौरुषेयं वाक्यं वेदः" (अपौरुषेय वाक्य को 'वेद' कहा जाता है) इत्यादि पूर्वाचार्यों के निर्वचन हैं। परन्तु वेदों के सावधान पर्यालोचन से यह पता चलता है कि वेदों का स्वरूप अत्यन्त गहन है। उपर्युक्त वाक्यों में उपयोग और आवश्यकता के अनुसार वेद के एक-एक अंश की व्याख्या है। वेदों के पूर्ण स्वरूप का विचार वहाँ प्राप्त नहीं होता। मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद के

१. सिद्धान्त (साप्ताहिक) वर्ष ७, अङ्क २४ से उद्धृत।

ही आधार पर वेद के मुख्य स्वरूप की एक झलक दिखाने का प्रयत्न यहाँ किया जायगा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक आख्यायिका आती है—भरद्वाजने तीन आयु पर्यन्त अर्थात् बाल्य, यौवन और वार्धक्य में ब्रह्मचर्य का ही अनुष्ठान किया। जब वह जीर्ण हो गए तो इन्द्र ने उनके पास आकर कहा कि—'भरद्वाज ! यदि मैं तुम्हें चौथी आयु और दूँ तो उसका क्या उपयोग करोगे।' उत्तर दिया कि 'मैं वेदों का अन्त देख लेना चाहता हूँ, अतः जितना भी जीवन मुझे दिया जायगा, मैं उससे ब्रह्मचर्य का ही अनुष्ठान करता रहूँगा।' इन्द्र ने उन्हें तीन महापर्वत दिखलाए जिनका कहीं ओर-छोर नहीं था। इन्द्र ने कहा 'ये ही तीन वेद हैं, इनका अन्त तुम कैसे प्राप्त कर सकते हो।' आगे इन्द्र ने तीनों में से एक-एक मुट्ठी भरद्वाज को देकर कहा—मानव-समाज के लिए इतना ही पर्याप्त है, वेद तो अनन्त हैं—"अनन्ता वै वेदाः।"

अन्यत्र कहा गया है—"वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।"

'सूर्य तीनों वेदों से ओत-प्रोत होकर भ्रमण करता है।' शतपथ श्रुति में कहा गया है कि वेदों से ही ब्रह्मा सृष्टि-रचना करते हैं। उपलभ्यमान मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद न तो अनन्त हैं, न वे सूर्य में ही ओत-प्रोत हैं और न उनसे सृष्टि ही की जा सकती है। तब वे कौन से वेद हैं, इस विषय का ही यहाँ कुछ विचार करना है।

वेद-शब्द की व्युत्पत्ति

वेद शब्द 'विद्' धातु से घञ् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। इस विद्, धातु के भगवान् पाणिनि ने अनेक अर्थ किए हैं। विद् ज्ञाने, २ विद् विचारणे ३ विद्लृ लाभे, ४ विद् सत्तायाम्। ज्ञान, विचारण, सत्ता और लाभ। इनमें ज्ञान, और विचारण को यदि एक ही समझा जाय तो भी ज्ञान, सत्ता और लाभ। ये तीन अर्थ तो विद् धातु के स्पष्ट ही हैं। 'घञ्' प्रत्यय के अर्थ को धातु के अर्थ में मिला देने से ज्ञान, ज्ञान का साधन, ज्ञान का कर्म और ज्ञान का अधिकरण सत्ता, सत्ता का साधन, सत्ता का कर्म और सत्ता का अधिकरण, स्थिति, स्थिति का साधन, स्थिति का कर्म और स्थिति का अधिकरण ये सब वेद के अर्थ में अन्तर्निविष्ट हो जाते हैं। अन्वेषण की प्रक्रिया से वेद के उपर्युक्त सभी तात्त्विक अर्थों का समन्वय कठिन नहीं। उपलब्ध वेदों में शाब्दज्ञान साधनत्व तो सभी मानते हैं, परन्तु वेद प्रत्यक्ष ज्ञान के भी साधन हैं। क्योंकि ज्ञान के सभी साधन वेद के अन्तर्गत हैं। आइये, वेदों के इसी सर्वविध ज्ञान-साधनत्व का परीक्षण किया जाय।

ज्ञान के भेदों में प्रत्यक्ष ज्ञान ही सब से मूर्धन्य कहलाता है, क्योंकि किसी विषय का प्रत्यक्ष होने के बाद उस विषय में सब प्रकार के सन्देहों का निराकरण हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में भी नेत्रों के माध्यम से प्राप्त होने वाला ज्ञान सर्वाधिक महत्त्वशाली है। भगवती श्रुति ने भी कहा है—

"एतद्ध मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः"

मनुष्य में यही सत्य रक्खा गया है जिसे कि 'चक्षु' कहते हैं। चक्षु से होने वाले प्रत्यक्ष में एक और विशेषता है कि अन्य इन्द्रियाँ तो अपने पास आए हुए विषय का ही ग्रहण करती हैं, किन्तु आँखें और कान दूरस्थित विषय का भी ग्रहण करते हैं। दूरस्थित रूपों का ग्रहण आँख से कैसे होता है, इस विषय में न्यायदर्शन का मत है कि आँखें वस्तु के पास जाकर उसके रूप का ग्रहण करती हैं। आँख तैजस इन्द्रिय है, अतः उसमें दूर जाने की शक्ति विद्यमान है। परन्तु विचार करने पर न्यायदर्शन की यह बात समझ में नहीं आती। तैजस होने के कारण चक्षु का बाहर जाना मान भी लिया जाय, तो भी शरीर से बाहर ज्ञान होना तो नहीं माना जा सकता। न्यायदर्शन भी शरीर को भोगायतन मानता है। ज्ञान भी एक प्रकार का भोग है, फिर वह शरीर के बाहर कैसे हो सकता है? बिना मन की सहायता के इन्द्रियों से विषय ग्रहण नहीं होता, यह न्यायदर्शन भी मानता है। तब चक्षु के साथ मन का भी बाहर जाना मानना पड़ेगा। तब उससे शरीर धारण कैसे रहेगा। शीघ्र गतिके कारण वह शरीर धारण भी करता रहता है और चक्षु का साहाय्य भी करता रहता है। यदि ऐसा कहा जाय, तो इधर-उधर भटकते उससे दोनों ही काम न बन सकेंगे। इसके अतिरिक्त दूर के पर्वत को तो हम देखते हैं, परन्तु उस पर्वत के वृक्ष, घास आदि को हम क्यों नहीं देख पाते? यदि चक्षु ही वहाँ पहुँच जाती है तो फिर वह वहाँ के घास आदि छोटे पदार्थों को भी क्यों नहीं देखती। यदि कहा जाय कि चक्षु की रश्मिमात्र जाती है, वह छोटे पदार्थ के ग्रहण की शक्ति नहीं रखती, तो प्रश्न होगा कि समीपस्थित घास आदि पर भी तो रश्मि ही जाती है, वहाँ वह उन्हें क्यों देख लेती है? दूरस्थ पर्वत पर के जो घास आदि उत्कट-रूप के होते हैं, वे दूर से भी दीख जाते हैं, यह क्यों? एक और बात है। चक्षु को हम अंगुलि से दबा दें, तो जो पदार्थ जहाँ है उससे कुछ हट कर दीखने लगता है। जहाँ पदार्थ है ही नहीं, वहाँ कैसे दीख गया, इसकी कोई युक्ति चक्षु के गमन मानने पर हो ही नहीं सकती। दूरस्थ पर्वत आदि हमें छोटे क्यों दिखाई देते हैं? इसकी भी कोई उपपत्ति इस प्रक्रिया में नहीं हो सकती।

आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि सूर्य की वा दीपादि के प्रकाश की किरणें सब पदार्थों पर पड़ कर उन पदार्थों से प्रत्याहत होकर उसी सन्निवेश से हमारी आँख पर आकर पड़ती हैं। इसी कारण हम जैसे सन्निवेश का पदार्थ देख लिया करते हैं। प्रकाश की रश्मियों में तो सातों रूप हैं, फिर हमें किसी पदार्थ में श्वेत रूप और किसी में पीत आदि रूप क्यों प्रतीत होते हैं, इसका उत्तर वे देते हैं कि प्रत्येक पदार्थ प्रकाश के अन्य रूपों को खा जाता है। एक रूप ही वह उगलता है। जो उगलता है, वही हमें दिखाई देता है। यह उनका कथन भी युक्तियुक्त नहीं जँचता। सूर्य आदि के प्रकाश की किरणें पदार्थों का स्पर्श अवश्य करती हैं, किन्तु उनके सन्निवेश को वे अपने आप ले लेती हैं या उन किरणों में भी वैसा

सन्निवेश बन जाता है, यह समझ में नहीं आता। यदि प्रकाश की किरणों में वैसा सन्निवेश बन जायगा, तो फिर उसे हटाने वाला कौन होगा? वह तो चिर-स्थायी हो जायगा। फिर जहाँ-जहाँ वे किरणें जायँगी उन सब को ही सब पदार्थ दिखाई देने चाहिए। कुछ दूर तक उनमें वैसा सन्निवेश रहे और आगे न रहे इसका कोई कारण दिखाई नहीं देता। इसके अतिरिक्त पर्वत के घास आदि का दिखाई न देना, आँख को उंगली से दबाने पर वस्तु का टेढ़ा दिखाई देना आदि पहले के दोष यहाँ भी अपरिहार्य हैं। दूर से वस्तु छोटी दिखाई देने का तो कोई युक्तियुक्त समाधान यहाँ दिखाई देता ही नहीं। कोई पदार्थ श्वेत रूप ही क्यों उगलता है, दूसरा पीला ही क्यों उगलता है, इसके समाधान के लिए भी पदार्थ में कोई विशेषता माननी ही पड़ेगी।

अब जरा इस विषय में वैदिक सिद्धान्त पर भी ध्यान दीजिए। वैदिक-विज्ञान का मूल तत्त्व 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। प्राण से ही सब पदार्थ बनते हैं और वह प्राण-तत्त्व बाह्य समस्त पदार्थों को बनाकर "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (उसे उत्पन्न कर वह उसमें प्रवेश कर जाता है) इस न्याय से सब पदार्थों में व्याप्त रहता है। केवल व्याप्त ही नहीं रहता, उनमें से निकल कर चारों ओर फैलता भी रहता है। रूप स्पर्शादिसे वर्जित होने के कारण वह दिखाई नहीं देता। सूर्य आदि प्रकाशक प्राणों के साथ वह जहाँ तक फैलता है वहीं तक का पदार्थ हमें दिखाई देता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्निहित प्राण की पदार्थ के अनुसार ही व्याप्ति होती है, जैसे छोटे पदार्थ की अल्प प्रदेश में और बड़े पदार्थ की दूर तक के प्रदेश में। जिस पदार्थ की प्राण व्याप्ति जहाँ तक होगी वहाँ तक वह पदार्थ दिखाई देगा। पदार्थ चार प्रकार के होते हैं—स्वज्योति, परज्योति, रूपज्योति और अज्योति। अपने आप प्रकाश फैलाने वाले सूर्य आदि स्वज्योति हैं। दूसरे से प्रकाश लेकर प्रकाश फैलाने वाले चन्द्रमा आदि परज्योति हैं। जो चमकते नहीं, किन्तु अपना रूप फैलाते हैं वे रूपज्योति कहलाते हैं। और जिनमें रूप भी नहीं होता वे वायु आदि अज्योति हैं। सूर्य आदि का प्रकाश जहाँ तक फैले वहाँ तक उनकी व्याप्ति मानी जायगी। पदार्थ का आकार उसका 'ऋक्' मण्डल कहलाता है। जहाँ तक उसकी प्राणव्याप्ति हो वह अन्तिम मण्डल 'साम' मण्डल नाम से विख्यात है। मध्य में जो चारों ओर मण्डल बनते हैं वे 'यजुः' मण्डल हैं। ऋक् और साम मर्यादाबन्ध मात्र हैं। किन्तु यजुः में पदार्थ के गुण धर्मों का प्रभाव रहता है। जैसा कि आयुर्वेद के ज्ञाता बतलाते हैं कि इमली के वृक्ष के पास सोने वाले को गठिया आदि वात रोग हो जाते हैं तथा नीम के वृक्ष के पास सोने से वैसे रोग दूर हो जाते हैं। यह सब यजुः मण्डल का प्रभाव है। सूर्य के सम्बन्ध में इन तीनों मण्डलों का पूरा विवरण शतपथ-ब्राह्मण में दिया गया है—

"यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम्, ता ऋचः स ऋचां लोकः।
अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः।

अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निस्तानि यजूंषि, स य जुषां लोकः सैषा त्रय्येव विद्या तपति।" (शतपथ ब्रा० १०, ५, २, १. २)

इसका अर्थ यह है कि जो यह सूर्यमण्डल तप रहा है यह महान् उक्थ है। यह ऋक् है, इसे ऋचाओं का लोक कहा जाता है। जो यह सूर्य की प्रभा प्रदीप्त हो रही है, यह महाव्रत है, यह साम है, यह 'सामलोक' कहा जाता है। इस मण्डल में जो पुरुष तत्त्व है, वह अग्नि है, वही यजु है, इसे यजु का लोक कहते हैं। इस प्रकार यह सूर्यमण्डल—रूप से त्रयी विद्या (तीनों वेद) प्रतप्त हो रहे हैं। जहाँ से प्रकाश उठता है वह 'उत्थ' है। 'उत्थ' को ही परोक्षरूप से 'उक्थ' कहा जाता है। जहाँ उसकी समाप्ति होती है उसे 'महाव्रत' कहा जाता है। इस अग्नीषोमात्मक जगत् में अग्नि 'प्राण' ही पुरुष कहा जाता है। इस श्रुति में अग्नि को ही 'यजु' कहा गया है। सूर्यमण्डल हमारी त्रिलोकी में प्रधान है। इसलिए सूर्यमण्डल के सम्बन्ध में ही तीनों वेदों का विवरण श्रुति में किया गया है। इसे उपलक्षण समझना चाहिए। इसी प्रकार सब पदार्थों के मण्डल बनते हैं। अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही था कि इस प्रकार की प्रत्येक वस्तु की साममण्डल की व्याप्ति में जिस पुरुष के नेत्र अन्तर्गत हो गए, वही उस पदार्थ को देख सकता है। न नेत्र बाहर जाते हैं और न वह पदार्थ हमारे पास आता है। प्राणशक्ति जो चारों ओर फैली हुई है वही हमें दूरस्थित पदार्थों को भी दिखा देती है। ये ही वेद-श्रुति ने बताये हैं। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन भी वेद ही हुए। दूर बैठे हुए ही हमें पदार्थों की उपलब्धि इनके द्वारा हो जाती है, अतः 'विद्' धातु का लाभ—रूप अर्थ भी इसमें घट गया। अब सब पदार्थों की सत्ता या उत्पत्ति के कारण वेद किस प्रकार हैं, यह भी पढ़िये।

मूलभूत रसवेद

श्रुतियों में तीन प्रकार के वेदों का वर्णन मिलता है—रसवेद, वितानवेद और छन्दोवेद। अभी हमने जिन वेदों का वर्णन किया, वे वितानवेद हैं। इनसे पदार्थों का वितनन अर्थात् विस्तार होता है। रसवेद वे हैं जो सब के उत्पादक हैं। वैदिक—विज्ञान में मन, प्राण और वाक् ये तीन तत्त्व मुख्य माने जाते हैं। इनसे ही सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति होती है। ये तीनों एक आत्मा के भिन्न-भिन्न विवर्त हैं। दूसरे शब्दों में ये तीनों मिल कर सब पदार्थों में आत्मारूप से स्थित हैं। इसीलिए शतपथ—ब्राह्मण में आत्मा के प्रसङ्ग में बार-बार यह लिखा मिलता है कि 'स वा एष आत्मा मनोमयः प्राणमयो वाङ्मयः" अर्थात् यह आत्मा मनोमय, प्राणमय और वाङ्मय है। इनमें मन विज्ञान का, प्राण क्रिया का और वाक् भूतों का उत्पादक तत्त्व है। इनमें वाक् ऋक्, प्राण यजुः और मन साम नाम से श्रुति में कहा गया है।

"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" (तैत्ति० ब्रा० ३।१२।६।१) इस तैत्तिरीय श्रुति में इन ही रसवेदों का वर्णन है, जो कि सब के उत्पादक हैं। इनका विशेष विस्तार यहाँ नहीं करेंगे।

छन्दोवेद

'छन्द' मर्यादा की वैदिक संज्ञा है। जैसा कि—"माच्छन्दः, प्रमाच्छन्दः, प्रतिमाच्छन्दः" इत्यादि मन्त्र में कहा गया है। 'छन्दस्' शब्द की व्युत्पत्ति 'छद' धातु से होती है। जो छादन करे वही 'छन्द' कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी सीमा से आच्छादित रहता है। सीमा से बाहर न जाना जगत् के पदार्थों का धर्म है। इसी को आगमशास्त्र में नियति कहा जाता है। ये छादन-रूप वेद भी समस्त पदार्थों में व्याप्त हैं। वितान वेद के प्रकरण में कहा जा चुका है कि ऋक् से साम पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ के प्राण का वितनन होता है। वह वितनन वास्तव में जितनी दूर से हम पदार्थ को देखते हैं वहाँ तक 'ऋक्' मण्डल ही व्याप्त रहता है। जितनी दूर के साम में ऋक् का वितनन होगा उतनी ही वह ऋक् छोटी होती जायगी। यही कारण है कि हम दूर के पर्वतादि पदार्थों को छोटा देखते हैं। छोटे होने का कारण यह है कि ऋक् का केन्द्र-विन्दु कहीं नहीं सरकता। यदि केन्द्र-विन्दु सरक जाय तो वह पदार्थ ही स्थानान्तरित हो जायगा।

अब विचारने की बात है कि केन्द्र-विन्दु जब नहीं सरकता तो केन्द्र-विन्दु के आसपास के दो विन्दु सूचीमुख-रूप से आगे चलेंगे और सूचीमुख होने के कारण वे दोनों ही परस्पर मिल जायँगे, तब एक विन्दु तो चला नहीं और आसपास के दो विन्दु जो चले वे दोनों मिल कर एक हो गए, इसलिए तीसरे विन्दु पर प्रत्येक पदार्थ दो अंश छोटा होता जायगा। अब तीसरे विन्दु पर जो ऋक्-मण्डल बना उसका केन्द्र वे मिले हुए दो विन्दु ही हुए। उनमें भी यही व्यवस्था कि जो केन्द्र-विन्दु बन गया है वह आगे नहीं चलेगा और आस-पास के दो विन्दु सूचीमुख चल कर फिर आगे एक हो जायँगे। इस प्रकार प्रति तीसरे विन्दु पर दो-दो अंश 'ऋक्' के कम होते जायँगे। अन्तिम मण्डल पर जाते-जाते वह पदार्थ बहुत ही छोटा हो जायगा अर्थात् जो एक विशाल पर्वतादि अपने महद्रूप में खड़ा था, वह साम के अन्तिम मण्डल पर जाकर बहुत छोटे रूप में बन जायगा और उन छोटे-छोटे रूपों से संपूर्ण साम-मण्डल में व्याप्त रहेगा। अब इसका छन्द अर्थात् मर्यादा बहुत छोटी हो गई। बस, इसी का नाम 'छन्दोवेद' है। इसी छन्दोवेद के कारण दूर का पदार्थ छोटा दिखाई दिया करता है। बहुत दूर के साम-मण्डल पर बैठी हुई प्रत्येक ऋचाओं को हम देखते हैं। क्योंकि पदार्थ का वितनन सब तरफ ही होता

है, एकतोगामी नहीं। जितनी दूर से पूर्व दिशा से एक पर्वत दिखाई देगा, उतनी ही दूर से पश्चिम या दक्षिण से भी दिखाई देगा। इसी कारण संपूर्ण साम-मण्डल पर ऋचाओं की अवस्थिति मानी गई है। यदि ऋचाएँ वहाँ उपस्थित न हों, तो दिखाई ही क्या देगा। इस प्रकार तीन प्रकार के वेदों का संक्षिप्त निरूपण हो चुका। इन्हीं वेदों की सब पदार्थों में व्याप्ति होने के कारण वेद अनन्त हैं। इसीलिए वेद का स्पष्ट उद्‌घोष है कि "अनन्ता वै वेदाः।"

भारतवर्षकी अक्षय्य संपत्ति— वेद

[आचार्य श्रीनरदेवशास्त्री वेदतीर्थ, ज्वालापुर— हरिद्वार]

मैं लिख रहा हूँ "भारतवर्ष की अक्षय्य संपत्ति वेदों" के विषय में। वस्तुत वेद संसार की अक्षय्य संपत्ति है। क्योंकि वेद कल्प-कल्पान्तरों से चले आये हैं और आगे के कल्पों में भी इसी रूप में चलेंगे ऐसा हमारा दृढ विश्वास है। हमारे प्राचीनतम पूर्वजों के पूर्वजों का यही विश्वास रहा है। हमारे स्मृतिकार भी यही कह गये हैं।

कोई मुझ से पूछे कि ऋषि-मुनियों ने वेदों को इतना महत्त्व क्यों दिया है? तो मैं यही उत्तर दूँगा कि तुम में इतनी विद्या-बुद्धि हो तो स्वयं वेदों को देखो तो विदित होगा कि वेदों को क्यों इतना महत्त्व दिया गया है।

कोई मुझ से पूछे कि वेदों में क्या है, तो मेरा यही उलटा प्रश्न है कि तुम ही बतलाओ कि वेदों में क्या नहीं है? वेदों में सब कुछ है और 'सब कुछ" से भी बहुत कुछ अधिक है। और सब से महत्त्व-युक्त यह बात है कि वह—

"पश्य देवस्य काव्यं
न ममार न जीर्यति"

संसार के अन्य काव्य लुप्त-विलुप्त हो गये, पर संसार को यथार्थ धर्मतत्त्व का निदर्शन करने वाला उस देव परमात्मा का काव्य (वेद) न तो कालकवलित हुआ है, न जीर्ण-शीर्ण हुआ है और अविकलरूप में जैसा तैसा चला आ रहा है।

वेद

सृष्टि की आदि में ऋषियों के हृदय में प्रकट हुए—ऋषियों ने बनाये नहीं, ऋषियों ने देखे अवश्य।

"तद्यत्तपस्यमानान् ऋषीन् ब्रह्म स्वयमभ्यानर्षत्तदेतदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते" (निरुक्त)

ऋषि 'कर्त्ता' नहीं थे, 'द्रष्टा' थे—वेद परम्परया आजतक स्थित रहे।

वेदोंको ही क्यों मानें ?

इसलिए कि—

"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (वैशेषिक)

उस ईश्वर के वचन होने से वेदों का प्रामाण्य है ही।

अथवा

तत् अर्थात् धर्मतत्त्व के प्रतिपादन के कारण वेदों का प्रामाण्य है।

धर्म क्या है ?

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिक)

जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह है धर्म।

वेदोंमें

तीन प्रकार की ऋचाएँ हैं—

(१) आधिभौतिक
(२) आधिदैविक
(३) आध्यात्मिक

निरुक्तकार कहते हैं कि "अल्पशः आध्यात्मिक्यः।" आध्यात्मिक ऋचाएँ थोड़ी हैं।

वेद-ज्ञान अनन्त है

ऐसा मानने वाले भी ऋषि हैं, क्योंकि "ब्रह्म" का अन्त भी आजतक किसीने नहीं पाया और उस ब्रह्म का ज्ञान = वेद भी अनन्त है "अनन्ता वै वेदाः" वेद अनन्त हैं। वेद शब्द यहाँ ज्ञान का वाचक है।

वेदोंकी विशिष्टता

तब विशेष-रूप से ज्ञात होता है जब वेदज्ञ किसी विशिष्ट ऐसे भावयुक्त मन्त्रों को देखता है और उनके निगूढ अर्थों को जानने के लिए उनमें प्रविष्ट होता है।

निरुक्तने

स्वयं कहा है दैवतकाण्ड में—"अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा।"

जैसे

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि"

सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व क्या था ?

न मृत्यु थी न अमृत।

मृत्यु होती ही कैसे जब मरने वाला अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ था। अमृत तब होता जब पहले कोई मृत होता।

जैसे

"तमऽ आसीत्तमसा गूढमग्रे"

सृष्टि की उत्पत्ति से पहले क्या था ? होता क्या ? कुछ भी नहीं था, अन्धकार ही अन्धकार था, कुछ भी जाना नहीं जा सकता कि क्या है—

ऐसे प्रश्न भी जैसे —

"न विजानामि, यदि वेदमस्मि
निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि"

सृष्टि की आदि में ऋषि यही सोचता रह गया और निश्चय न कर सका कि "मैं क्या हूँ", "क्यों आया हूँ" और "मुझे करना क्या है ?

मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ—मैं केवल यह स्थूल—शरीरमात्र हूँ कि भीतर इस शरीर का क्षेत्रज्ञ भी कोई और है। अथवा केवल मैं इस "मन" के पीछे लगा हुआ कोई प्राणी हूँ, जिससे उसके पीछे पड़ा हुआ कर्म-बन्धन में फँसा हूँ और विवश बह रहा हूँ।

इसी प्रकार

विचित्र भावों के द्योतक मन्त्र वेदों में यत्र-तत्र मिलते हैं।

ऋग्वेदमें

"ज्ञान-सूक्त" भी विचित्र भावों को प्रकट करता है।

"अधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्"

यह सृष्टि जो रची, जिस किसीने रची, किस आधार पर रची, तब ऊपर क्या था, नीचे क्या था, साधन क्या थे ?

"सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद"

सो उत्तर दिया है अन्त में, वही परमेश्वर जानता होगा कि उसने कैसे बनाई यह सृष्टि। यदि वह नहीं जानता होगा तो फिर कोई भी नहीं जानता होगा कि यह सृष्टि कैसे बनी, क्यों बनी इत्यादि।

साधारण विद्वान् तो इन निगूढ भावों को क्या समझता होगा। उत्तर देना तो दूर रहा।

वेदोंके तत्त्वको

जानने के लिए साधारण लौकिक विद्वान् असमर्थ रहता है। निरुक्तकार ने स्वयं कहा है—

"भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति"

बहुत अधिक विद्वान् ही प्रशस्य प्रशंसनीय माना जाता है—वही वेदों को जान सकता है।

जैसे कोई

तीर्थों में या नदियों में जाता है तो वहाँ क्या देखता है ?

कोई किनारे पर बैठे ही स्नान कर रहा है, कोई घुटनेत क के जल में प्रविष्ट होकर स्नान कर रहा है। कोई कमर तक जल में घुसा हुआ है, कोई छाती तक जल में प्रविष्ट है, कोई गले तक जल में है और कोई खूब डुबकी लगाये हुए है, ऐसे ही वेदज्ञों की वेदरूपी महासमुद्र में स्नान करने वालों की गति रहती है—(कई ऋग्वेद के मन्त्रों का भाव)

वेद अपने सत्य-स्वरूपको

उसी को प्रकट करते हैं जो शुद्ध भावयुक्त होकर, तपःपूत होकर ध्यान करते हैं। अनृषि, अतपस्वी को अपना यथार्थ रूप प्रकट नहीं करते।

वेदोंके विषयमें

भारत तथा पाश्चात्य देशों के विद्वानों में जो इतना वैमत्य है वह इसी कारण से है कि वे ऊपर-ऊपर दृष्टि रखते हैं। डुबकी लगा कर आनन्द नहीं लेते हैं।

इसीलिए

अक्षय्य संपत्ति (वेद) का लाभ नहीं उठा रहे हैं।

आप कुछ न देखें

तो चारों वेदों में उपवर्णित पुरुषसूक्त को ही पढ डालिए। किसी विद्वान् से समझिए, आपको अपूर्व आनन्द आयगा। आप उस विराट् पुरुष की महिमा को जान सकेंगे।

इसीलिए

कहा गया है कि—

"न तस्य प्रतिमाऽस्ति
यस्य नाम महद्यशः।"

जिसके तुल्य कोई नहीं है और जिसकी बड़ी भारी महिमा है उसी ने तो यह जगत् रचा।

कितना बड़ा है वह ?

सहस्रशीर्षा॰ (शु॰ य॰ ३१।१)

अलङ्काररूपमें कहना हो तो उसके सहस्रों शिर हैं, सहस्रों आँखें हैं, सहस्रों हाथ-पैर हैं, जो इस महती पृथिवी में तो व्यापक है ही, पर उससे और दस अंगुल अधिक है अर्थात् यह पृथिवी तो उसके एक कोने में है—

पुरुषऽ एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (शु॰ य॰ ३१।२)

वही विराट् पुरुष भूत, वर्तमान, भविष्य में रहा है, रहता है, रहेगा और वही अमृतत्त्व का स्वामी है। उसीको जानकर

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।" (उपनिषद्)

अमर होने का एक उपाय वही है।

एतावानस्य महिमा
अतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (शु० य० ३१।३)
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः
पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विश्वं व्यक्रामत्
साशनानशने अभि ॥ (शु० य० ३१।४)
ततो विराडजायत
विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत
पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ (शु० य० ३१।५)
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः० (शु० य० ३१।६)
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः० (शु० य० ३१।७)
तस्मादश्वा० (शु० य० ३१।८)
तं यज्ञं बर्हिषि० (शु० य० ३१।९)
यत्पुरुषं व्यदधुः० (शु० य० ३१।१०)

इस प्रकार क्रमसे पढ़ते जाइये, मनन करते जाइये, आपको विराट् जगत्, विराट् पुरुष और पुरुष की बनाई हुई सृष्टि का ज्ञान होता जायगा।

संसारके

विद्वानों के सम्मुख यही एक प्रश्न विकट-रूप में उपस्थित रहा है, जिसका उत्तर वेद के पुरुषसूक्त के अतिरिक्त कोई नहीं दे सका है।

सारांश

वेदों में सब निगूढ तत्त्वों का निरूपण है।

यदि कोई न देख सके

तो किसका अपराध ? अज्ञानी प्राणी मनुष्य-जन्म प्राप्त कर यदि

यह न जाने

कि यह शरीर क्या है, क्यों है, कैसे बना, इन्द्रियाँ किसके अधीन हैं। मन की क्या गति है, वह इतना द्रुतशील क्यों, तो उसने क्या जाना,

"तस्मिन्नृचा किं करिष्यति ?" (ऋग्वेद)

इस शरीर में आकर यदि आत्मतत्त्व को नहीं समझा, तो फिर क्या समझा ?

"तस्मिन्नृचा किं करिष्यति" (ऋग्वेद)

इस विराट् जगत् के तत्त्व को न समझा, तो उस पुरुष का वेदज्ञान व्यर्थ है—

"तस्मिन्नृचा किं करिष्यति" (ऋग्वेद)

जिसने वेदों का परिशीलन कर उस अक्षर=अनश्वर=ब्रह्मतत्त्व को नहीं जाना, तो फिर उसने क्या किया संसार में आकर ?

"तस्मिन्नृचा किं करिष्यति" (ऋग्वेद)

तो केवल वेद का ऊपरी ज्ञान उसका व्यर्थ है।

इसीलिए

जो केवल वेदमन्त्र के अक्षर पढ़ता है और अर्थ नहीं जानता है वह वेदोपवर्णित तत्त्व नहीं समझता है, उसका जीवन उस वृक्ष की तरह है जो पुष्प-फल धारण करता है, इतना बोझ ढोता है, पर कुछ भी अपना हित नहीं साध सकता। इसलिए वेदार्थ-तत्त्वज्ञ ही वेदाध्ययन द्वारा—

"सकलमिद् भद्रमश्नुते" (निरुक्त)

समस्त कल्याण को प्राप्त करता है।

यही नहीं

"नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा" (निरुक्त)

वेद-तत्त्वार्थज्ञान द्वारा पुरुष निष्पाप हो कर स्वर्ग-प्राप्ति कर लेता है—यह है वेदों की महिमा।

वेदोंमें केवल

आध्यात्मिक भाव ही भरे हुए हैं, यह बात नहीं। अपितु लौकिक परिपूर्ण विज्ञान का भी समावेश है। अभ्युदय की विधि भी साङ्गोपाङ्ग बतलाई गई है—शुक्ल यजुः १८ अध्याय (चमकाध्याय) देखिए। इस अध्याय को चमकाध्याय इसलिए कहते हैं कि इसमें प्रत्येक मन्त्र में "च मे", "च मे"

आता है। प्रथम २६ मन्त्रों को देख जाइये। कितना विज्ञान भरा हुआ है। क्या इसमें कोई लौकिक पदार्थ बच गया है। ये सब लौकिक पदार्थ, मनुष्य के उपभोग के साधन यज्ञ द्वारा बतलाये हैं जिनका कि आधुनिक युग में लोप-सा हो रहा है—सर्वथा लोप तो नहीं, हाँ अब भी बीज अवशिष्ट हैं।

इस अठारहवें अध्याय में मनुष्य की विविध अभिकांक्षाएँ और उनकी प्राप्ति के उपाय यज्ञ बतलाये हैं—सब प्रकार की शक्ति प्राप्त करने का उपाय 'यज्ञ' बतलाया है—सब मन्त्रों को यहाँ लिखा जाय और उनकी यथार्थ विवेचना की जाय, तो लेख का कलेवर ही बदलना पड़ेगा। सामान्य लेख को पुस्तकाकार बनाना पड़ेगा—अभी तो वेदों के वाकोवाक्‌रूप—प्रश्नोत्तररूप प्रकरण के विषयमें मैं कुछ नहीं लिख सकता हूँ विस्तार-भयसे।

वेदों में अभिरुचि रखने वाले चारों वेदों में प्रश्नोत्तररूप में उपवर्णित मन्त्रों को पढ़ें—उन्हें बड़ा आनन्द आयगा।

क्या तुम अपनी
इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाना चाहते हो ?
क्या तुम
अपने दश प्राण और मन की शक्ति को बढाना चाहते हो,
ओज तेज बल
बढाना चाहते हो,
इन्द्रिय-दमन की विधि
जानना चाहते हो,
प्राणविद्या चाहते हो
आत्मविद्या चाहते हो

संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करना चाहते हो। संसार भर का ऐश्वर्य चाहते हो। राज्य, अधिराज्य, महाराज्य चाहते हो-स्वाराज्य (मोक्ष) चाहते हो, तो—

यह सब कुछ
यज्ञ से ही प्राप्त होगा।

पहले देव
"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥" (शु० य० ३१।१६)

हमारे पूर्वज साध्य—देव जिन यज्ञों द्वारा नाक अर्थात् स्वर्गलोक को गये उसी विधि से अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्ति के लिए हमको यज्ञ करना चाहिए।

यज्ञ भी सैकडों प्रकार का है जिससे अभ्युदय मिलता है। और उच्च प्रकार की यज्ञविधि दूसरे प्रकार की है जिससे निःश्रेयस (मोक्ष) मिलेगा, मिल सकता है।

ज्ञान-विज्ञान परिपूर्ण वेदों की महिमा कौन वर्णन करे ? इसीलिए तो सब स्मृतिकार, धर्मशास्त्री, दर्शनकार वेदों के सम्मुख समानरूपसे सिर झुकाते हैं और कहते हैं, कहते चले आये हैं कि—

"यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्" (महाभाष्य)

वेद का एक-एक शब्द हमारे लिए प्रमाण है।

वेद इतना परिपूर्ण है

कि उसमें हम एक भी अधिक मात्रा या शब्द मिला नहीं सकते और नहीं एक शब्द या मात्रा कम कर सकते हैं। उसके क्रम को भी हम उलट-पुलट नहीं कर सकते, उसका क्रम भी बदल नहीं सकते-उनके शब्द, अर्थ-शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य हैं—

"नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे" (महाभाष्य)

उनकी आनुपूर्वी भी नित्य है (शङ्कराचार्य)

वेद

"अनधिगतार्थगन्तृ हैं" (सायण)

वेद ऐसे अर्थों को प्रकट करते हैं जिनको संसार नहीं जानता।

उन वेदोंकी महिमाको

हम अकिञ्चन व्यक्ति कैसे वर्णन कर सकते हैं, जिनके विषयमें "मनु" जैसे स्मृतिकार कह गये हैं कि—

"वेदश्चक्षुः सनातनम्"

वेद सनातन चक्षु हैं।

जिनके विषयमें कहा गया है कि—

"वेद एव परो धर्मः"

वेद में ही उत्कृष्ट धर्म कहा गया है।

"वेदेष्वेव"

वेदों में ही सब कुछ है।

"सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति"

सब कुछ वेदों से ही मिलेगा।

क्या ?

"भूतं भव्यं भविष्यञ्च"

भूत, वर्त्तमान, भविष्य का ज्ञान

"चातुर्वर्ण्यम्'

चारों वर्णों के कर्तव्यों का ज्ञान

"त्रयो लोकाः"

तीनों लोकों का ज्ञान

"चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्"

चारों आश्रमों के कर्तव्य का ज्ञान

"वेदादेव प्रसूयन्ते
प्रसूतिर्गुणकर्मतः।"

तीन गुणों का—सत्त्व, रज, तम का ज्ञान, मूल प्रकृति का ज्ञान, आठ प्रकार की विकृति का ज्ञान, षोडश विकारों का ज्ञान, विराट् जगत् का ज्ञान, आत्मा का ज्ञान, परमात्मा का ज्ञान, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का ज्ञान, सब कुछ-सब कुछ वेदों में भरा पड़ा है।

"नमो वेदेभ्यः, नमो वेदेभ्यः
नम ऋषिभ्यः, नम ऋषिभ्यः॥"

वेदका स्वाध्याय

[याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामशर्मा गौड, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ]

संसार में प्रत्येक द्विज वेदाभ्यास द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थों की सिद्धि सरलता से प्राप्त कर सकता है, यह वैदिक सिद्धान्त है। वह वेदाभ्यास, अध्ययन, विचार, अभ्यास, जप और अध्यापन—इस तरह पाँच प्रकार का है, जैसा कि 'दक्षस्मृति' (२।२७) में कहा है—

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥

'सर्वप्रथम गुरु से वेद का ग्रहण, अनन्तर उसका विचार, फिर विचारित का अभ्यास, तदनन्तर अभ्यस्त का जप, पश्चात् शिष्यों के लिये उसे प्रदान करना—इस प्रकार वेदाभ्यास पाँच प्रकार का है।'

अतएव याज्ञवल्क्य-शिक्षा में भी कहा है—'प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत'

इससे अध्ययन करना, 'अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिम्' तथा 'ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य' इत्यादि से अभ्यास करना, 'प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्' इससे जपयज्ञ करना, 'गुरोरनुमतिं कुर्यात्' और 'गुरुशुश्रूषया विद्या' इत्यादि से स्वयं अध्यापन करना। अतः जिसने सम्पूर्ण फलेच्छा से शक्ति रहते हुए अधीत वेदों का अध्ययन कर लिया, उसे विचार का अवसर प्राप्त हो जाता है।

वह विचार भी दो प्रकार का होता है—अर्थ से और लक्षण से। इसी बात को निरुक्त के प्रथमाध्याय में स्पष्ट कहा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

अर्थात् 'जो लोग वेद पढ़ कर उसके अर्थ से अपरिचित रहते हैं, वे पृथ्वी के लिये भारस्वरूप ही हैं। जो अर्थ से परिचित हैं, वे समस्त कल्याण के भाजन होते हैं और विशिष्ट ज्ञान द्वारा अपनी पापराशि को नष्ट कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं।'

'जिस पढ़े हुए शब्द को बिना समझे-बूझे ही कण्ठस्थ किया जाता है, वह उस शुष्क काष्ठ के सदृश है, जो अग्नि से रहित स्थान-विशेष में होने के कारण जल नहीं सकता।'

वेद हिन्दू-जाति की, विशेषतः ब्राह्मण-जाति की अपूर्व निधि है। वैदिक-धर्म और वैदिक-सभ्यता की एकमात्र उत्तरदायी ब्राह्मण-जाति के तो वेद निधान ही कहे जाते हैं। अतः वेदों की रक्षा का उत्तरदायित्व एकमात्र ब्राह्मणों पर ही निर्भर है। इसी दृष्टि से किसी ब्राह्मण से भगवती विद्या ने कहा है—

'विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्।' (मनुस्मृति २।११४)

'विद्या ने ब्राह्मण के सम्मुख आकर कहा कि मैं तेरा खजाना हूँ, तूँ मेरी रक्षा कर।'

भगवती विद्या के आज्ञानुसार ब्राह्मणों ने अनादिकाल से ही वेदरूपी निधि की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रखा है। यही कारण है कि सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में ही अत्रि, भृगु, कुत्स, वशिष्ठ, गौतम और आङ्गिरस आदि महामहिमशाली महर्षियों ने वेदों की सर्वात्मना रक्षा के लिए ही शरीर धारण किया था। यही बात मानव-धर्मशास्त्र भी कहते हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वं मनसा क्षीणकल्मषाः॥

'युगों के अन्त में इतिहाससहित छिपे वेदों को मन से ही क्षीणपाप महर्षियों ने तप कर सर्वप्रथम प्राप्त किया।'

वस्तुतः इन महर्षियोंके घोर तप भी वेदों के लिये ही सम्पन्न हुए। मोक्षपद की इच्छा न रखते हुए भी भयङ्कर विजन काननों में चिरनिवास कर उन्होंने वेदों का ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार सदैव से ऋषि-महर्षिकल्प ब्राह्मण-समाज द्वारा वेदका स्वाध्याय, वेदका संरक्षण और वेदका प्रचार होता रहा है।

ब्राह्मणों के लिए वेद का स्वाध्याय ही निष्कारण परम धर्म बताया गया है, किन्तु खेद की बात है कि आज के युग में—

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' (महाभाष्य)

'विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यम् .... ॥' (मनु० १।१०३)

'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।' (मनु० २।१ ५)

'वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ (मनु० २।१६६

'वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥' (मनु० ४।१४७)

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥' (मनु० २।६८)

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥' (भागवत ११।१७।४२)

—इत्यादि महत्त्वपूर्ण आवश्यक अनुशासनों का ब्राह्मणों की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं रह गया है। आज का ब्राह्मण-समाज 'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्र कामाय नेष्यते' के गम्भीर तत्त्व से अपरिचित होकर आध्यात्मिक ज्ञान को देने वाली वेदविद्या त्याग कर इंग्लिश आदि अर्थकरी विद्याओं को विशेष रूप से अपना रहा है। वह मोक्षप्रद वेद का 'विद्वान्' बन कर 'ऋषि', 'महर्षि' बनना पसन्द नहीं करता, किन्तु अर्थप्रद इंग्लिश का विद्वान् बनकर डाक्टर, वकील, बैरिस्टर, थानेदार, तहसीलदार, कोतवाल, कलक्टर आदि ही बनना चाहता है।

एक समय था, जब कि समस्त ब्राह्मण वेदों के प्रति विशेष श्रद्धा रखते थे। वे वेद के स्वाध्याय को अपना परम धर्म समझते थे। भूखे-प्यासे और अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करके भी वेदस्वाध्याय करते थे। वेद के स्वाध्याय द्वारा अपना बाह्य और आभ्यन्तर सर्वदा पवित्र रखते हुए अपना पावन-जीवन सुख-

शान्तिपूर्ण व्यतीत करते थे। वे नित्य-निरन्तर वेदोक्त कर्म में तल्लीन रहते थे। वेद को साक्षात् भगवान् मान कर उनकी नित्य पूजा और स्तुति किया करते थे। वे वेदमन्त्रों पर पूरा भरोसा और विश्वास रखते थे, जिससे उनके असाध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाते थे। यदि हम भी वेद-भगवान् पर पूर्ण भरोसा कर अपना वेदमय-जीवन बना लें, तो निश्चय ही हमारा जीवन ज्ञानमय, शान्तिमय, आनन्दमय और तेजोमय बन सकता है जिससे हमारे सभी मार्ग प्रशस्त और निष्कण्टक बन सकते हैं।

जिस समय ब्राह्मण-वर्ग वेदों का स्वाध्याय किया करता था, उस समय वेदों की समस्त शाखाएँ उपलब्ध थीं। किन्तु जब से ब्राह्मणों ने वेदाध्ययन को त्याग कर ज्यौतिष, आयुर्वेद और इंग्लिश आदि अर्थकरी विद्याओंको अपनाना प्रारंभ कर दिया, तभी से वेदों की बहुत-सी बहुमूल्य शाखाएँ लुप्त हो गयीं और जो शेष हैं, वे भी लुप्त हो रही हैं। आश्चर्य तो यह है कि वेदों की जो शाखाएँ यत्र-तत्र उपलब्ध भी हैं, आज उनका भी यथार्थ ज्ञान इने-गिने विद्वानों को ही है।

वेद के स्वाध्याय के लिए स्वयं वेद बहुत ही महत्त्व देता है—

"यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददँल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसञ्च अक्षय्यं य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।" (शतपथब्राह्मण ११।५।६।३)

अर्थात्—मनुष्य को हीरा, मोती, सुवर्ण आदि रत्नों से परिपूर्ण समस्त पृथ्वी को दान करने से जो पुण्य प्राप्त होता है वह पुण्य वेद का स्वाध्याय करने से प्राप्त होता है।

भगवान् मनु भी कहते हैं—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ (मनुस्मृति २।१०७)

'जो द्विज पवित्र होकर एक वर्ष तक निरन्तर वेद का विधिपूर्वक स्वाध्याय करता है, उसको यह (वेद का स्वाध्याय) प्रतिदिन दुग्ध, दधि, घृत और मधु प्रदान करता है।'

'ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते।' (मनु० ४।१४९)

'वेद के निरन्तर अभ्यास से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।'

'अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति।' (मनुस्मृति ११।४६)

'अज्ञान से किया हुआ पाप भी वेद के अभ्यास से नष्ट हो जाता है।'

वेद के अभ्यास को सुदृढ़ और सुरक्षित रखने के लिये भगवान् मनु (३।७) ने यहाँ तक कहा है कि 'जिस कुल में वेद का अध्ययनाध्यापन न हो, उस कुल की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए।'

एक जमाना था, जब कि पूर्वकाल के वेदाभिमानी द्विज भगवान् मनु के इस आज्ञानुसार वेदशून्य परिवार को निकृष्ट समझ कर उनकी कन्या से अपने पुत्र का विवाह नहीं करते थे। किन्तु आज इसके सर्वथा विपरीत हो रहा है।

आज की स्थिति तो यह है कि आज का नवशिक्षित-समाज वेद के अध्ययनाध्यापन करने वाले परिवार को अशिक्षित, असभ्य और निकृष्ट समझ कर उस परिवार के पुत्र के साथ अपनी कन्या का विवाह नहीं करता। फलस्वरूप आज अनेक प्रतिष्ठित वैदिक विद्वानों के वेदज्ञ पुत्रों के विवाह होने बन्द हो गये हैं। मैं काशी के कुछ पञ्चद्राविड़ और पञ्चगौड़ वैदिक विद्वानों के सुयोग्य वैदिक पुत्रों को जानता हूँ, जिनका विवाह इसलिए नहीं हो रहा है कि वे वेद के विद्वान् हैं। यदि वे वेद न पढ़ कर कम से कम इंग्लिश में 'मैट्रिक' परीक्षा भी पास होते, तो उनका विवाह निर्विरोध हो जाता। किन्तु एक दिन वह भी था, जब कि काशी, नागपुर, पूना, नासिक, बंबई, देहली, कानपुर और कलकत्ता आदि के दशविध ब्राह्मण भारतवर्ष के वैदिकों के कुल में उत्पन्न वेदज्ञ विद्वानों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर उनके साथ अपनी-अपनी कन्याओं का विवाह कर अपने को भाग्यशाली समझते थे। वेदों और वेदज्ञों के प्रति संसार की विचित्र भावनाओं को देख कर समझ में नहीं आता, अब वेदों की और वेदज्ञ विद्वानों की प्रतिष्ठा का संरक्षण कैसे होगा?

प्राचीन समय में ब्राह्मण—जाति ने अनेकानेक कष्टों का सामना करके भी वेदों का संरक्षण किया। यवन-काल में ब्राह्मण-जाति पर अनेकानेक घोर संकट उपस्थित हुए, किन्तु ब्राह्मणों ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर वेदों की रक्षा की। आज समय के कुप्रभाव से हम उन्हीं पूर्वज ब्राह्मणों की सन्तान होकर भी वेदों की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ पाये जाते हैं, यह कितनी लज्जा और दुःख की बात है।

वेदों के बिना ब्राह्मणों का जीवन ही 'मृतक' के सदृश त्याज्य और घृणित कहा गया है। अतः ब्राह्मण-जाति के लिए वेदों का स्वाध्याय परमावश्यक है। वेदों के स्वाध्याय के बिना वेदों का संरक्षण नहीं हो सकता। वेदों के संरक्षण बिना हिन्दूधर्म की रक्षा नहीं हो सकती। हिन्दूधर्म की रक्षा न होने से वेदों के प्रधान अङ्ग यज्ञ-यागादि वैदिक कर्म लुप्त हो जायँगे। वैदिक कर्मों के लुप्त होने से देवी-देवताओं के यजन-याजन, पूजा-पाठ आदि सभी धार्मिक कृत्य बन्द हो जायँगे, जिससे हिन्दू-जाति और हिन्दूधर्म अधःपतन के घोर दुरूह गर्त में पतित होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा, जैसा कि वायुपुराण (६०।६) में लिखा है—

वेदे नाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति।
यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति॥

अतः सर्वतोभावेन वेद का संरक्षण परमावश्यक है। वेद के संरक्षण से ही हिन्दूधर्म का रक्षण और जगत् का कल्याण हो सकता है। वेद के संरक्षण

से ही वेद के अङ्गभूत व्याकरणादि समस्त शास्त्रों का रक्षण और महत्त्व सुरक्षित रह सकता है। वेद के संरक्षण से ही धर्मरक्षा, शास्त्ररक्षा, सदाचाररक्षा और मानवता की रक्षा हो सकती है, अन्यथा अशक्य है। भगवान् मनु (२।९७) ने तो स्पष्ट ही कहा है—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

आज वेदों की रक्षा न होने के कारण ही हमारे देश में अनेक प्रकार के दुःखों की बाढ़-सी आरही है, जिससे सभी मनुष्य नाना प्रकार से पीड़ित और त्रस्त हैं। यदि अभी भी ब्राह्मण-जाति वेद के रक्षार्थ प्रयत्नशील हो जाय, तो पुनः वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा और वेदों की मर्यादा अक्षुण्ण बनी रह सकती है। अतः समस्त ब्राह्मण-समाज को वेद के रक्षार्थ और प्रतिष्ठार्थ प्रयत्नशील होना चाहिए, जिससे इस पवित्र भारतवर्ष में पुनः वैदिकधर्म की स्थापना हो।

—:०:—

वैदिक कर्मकाण्डका वैज्ञानिक आधार

[आचार्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी, एम्. ए., एल्. एल्. बी., बी. टी., साहित्याचार्य]

सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड किसी न किसी प्रकार के संस्कार अथवा दुरितक्षय के लिये ही किया जाता है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के मानव-जन्म संवर्धन और अवसान की समस्त प्रक्रियाएँ जब-तक संस्कार के द्वारा शुद्ध और परिष्कृत नहीं हो जातीं, तब तक जीवात्मा का न तो उचित परिष्कार होता है न उसे उस प्रकार का सुख प्राप्त होता, जैसा वास्तव में उसे होना चाहिए। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, समावर्तन आदि जितने भी संस्कार हैं उन सबका आधार मनुष्य के जीवात्मा का परिष्कार ही है और यह परिष्कार तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि इसके कोई वैज्ञानिक आधार न हों। वैज्ञानिक आधार के लिये तीन वस्तुएँ अपेक्षित होती हैं—परिस्थिति या लक्षण (डेटा), परीक्षण या प्रयोग (एक्सपेरिमेंट) और परिणाम। यदि किसी एक-सी परिस्थिति में एक-से विशेष लक्षणों वाले स्थल में किसी विशेष प्रकार की रीति से परीक्षण या प्रयोग किया जाय तो उसका परिणाम निश्चित रूप से एक ही होगा। हमारे यहाँ पुराणों में गर्भाधान-संस्कार के सम्बन्ध में ही अनेक ऐसी कथाएँ हैं जिनसे स्पष्ट है कि यदि किसी अमंगल मुहूर्त में किसी ऋतुस्नात स्त्री के मन में पुरुष-समागम की इच्छा हुई तो उसका परिणाम यही

हुआ कि विश्रवा जैसे प्रसिद्ध ऋषि के घर में ही रावण जैसा भयंकर पुत्र उत्पन्न हुआ।

यदि वैदिक कर्मकाण्ड के समस्त कृत्यों का विश्लेषण किया जाय तो यह सिद्ध होगा कि संपूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड में दो वैज्ञानिक तत्त्व अवश्य निहित होते थे—एक तो वाग्विज्ञान और दूसरे कालविज्ञान। जितना कुछ वैदिक कृत्य या संस्कार अथवा यज्ञ होता या कराया जाता है उसमें इस बात पर विचार किया जाता है कि यह विधान किस मुहूर्त में अर्थात् किस दिन, किस नक्षत्र में और किस समय आरम्भ किया जाय। यदि उसमें तनिक भी हेर-फेर होता था तो वह कार्य या संस्कार स्थगित कर दिया जाता था। यह समय का सम्पूर्ण विज्ञान गणित की गणना पर अवलंबित था इसी गणित के आधार पर ज्यौतिष-शास्त्र में ग्रहों और नक्षत्रों की गति का पूर्ण विवरण संग्रह किया गया और अपने सूक्ष्म अनुभव से यह भी निश्चय किया कि किस अवस्था में, किस मुहूर्त पर, किस प्रकार का कार्य करने से क्या फल होता है, किस मुहूर्त में जन्म लेने वाले बालक का क्या भविष्य होता है। हमारा सम्पूर्ण दैनिक जीवन इसी काल-विज्ञान के आधार पर ही निर्धारित कर दिया गया था, यहाँ तक कि किस मुहूर्त में खेत बोना चाहिए, अन्न काटना चाहिए, औषधियाँ ग्रहण करनी चाहिए, यान घर लाना चाहिए, यात्रा या युद्ध के लिये प्रस्थान करना चाहिए तथा पशुओं का क्रय करके अपने घर में प्रवेश करना चाहिए, यह सब भी ज्यौतिष-शास्त्र में निश्चित कर दिया गया था। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड का आधार यह काल-विज्ञान आज तक भी विचारशील पुरुषों के लिये मान्य सिद्धान्त है।

इसी काल-विज्ञान के साथ विज्ञान की दूसरी शाखा वाग्विज्ञान है, जिसके सम्बन्ध में अभी योरोप में या विदेशी वैज्ञानिक क्षेत्रों में कोई अन्वेषण-कार्य नहीं हुआ। वाणी का प्रत्यक्ष फल हम नित्य प्रति अपने सामाजिक व्यवहार में देखते हैं जहाँ मधुरता के साथ कोमल और प्रिय शब्दों में कही हुई बात से सुनने वाले को प्रसन्नता होती है, उस पर इष्ट प्रभाव पड़ता है और उससे इच्छित कार्य की पूर्ति होती है। दूसरी ओर किसी को यदि कठोर मुद्रा धारण करके कटु और अप्रिय शब्दों में तर्जन किया जाय तो उसे लाभ के बदले हानि ही होती है और वह व्यक्ति यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही विरोधी हो जाता है। इस प्रत्यक्ष और स्पष्ट वाणी के प्रभाव के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष प्रभाव भी होता है जिसे साधारण रूप से समझा नहीं जा सकता।

भौतिक विज्ञान में ध्वनि और ध्वनि की लहरों के द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रभाव का अन्वेषण करके यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि ध्वनि का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं, वरन् अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियों पर भी पड़ता है। सर जगदीश चन्द्र वसु ने अपनी कलकत्ते की प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष रूप से यह प्रयोग करके दिखला दिया है कि संगीत तथा मेघगर्जन आदि ध्वनियों

का वनस्पतियों पर ऐसा अनुकूल प्रभाव पड़ता है कि वे प्रसन्न और प्रफुल्ल हो जाते हैं और कठोर वाणी या चिल्लाहट का उनके ऊपर ऐसा बुरा प्रभाव पड़ता है कि वे क्षुब्ध, त्रस्त और व्याकुल हो जाते हैं। वैदिक वाग्विज्ञान ने इससे कहीं आगे वाणी के अत्यन्त सूक्ष्म क्षेत्र का अध्ययन और मनन करके विस्तृत परीक्षणों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि यदि कुछ विशेष अक्षरों से युक्त उचित स्थान, प्रयत्न और स्वर के साथ ध्वनि उच्चरित की जाय तो उसका केवल मनुष्य पर ही नहीं, सम्पूर्ण प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है। हमारे मुँह से जो भी ध्वनि निकलती है, अथवा बाहर बिजली की कड़क, समुद्र का गर्जन, घण्टानाद, कोलाहल अथवा अन्य किसी प्रकार की भी निरुक्ता या अनिरुक्ता वाणी मुँह से निकलती है तो उसका एक विशेष कम्पन अनेक प्रकार की लहरियाँ बनाता हुआ वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है और उस वायुमण्डल में व्याप्त स्वरलहरी के प्रभाव से समस्त वातावरण में विक्षोभ होने लगता है। इस स्वरलहरी के तीव्र-भावित क्षेत्र में जो विक्षोभ उत्पन्न होता है उसका कभी मंगल और कभी अमंगल परिणाम होता है। हमारा सम्पूर्ण मन्त्र-शास्त्र इसी भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। मन्त्र-विद्या के सम्बन्ध में गुरु के लिये यह स्पष्ट निर्देश है कि जो सुपात्र हो उसी को विद्या देनी चाहिए, कुपात्र को नहीं और इसीलिये शस्त्र चलाते समय, शाप देते समय, वरदान देते समय अथवा किसी प्रकार की कामना से मन्त्र जपते समय इस प्रकार का वातावरण उपस्थित हो जाता है कि उस मन्त्र-जप से इष्टफल की प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

वेद के अङ्गों में जहाँ ज्यौतिष और कल्प का महत्त्व था वहाँ शिक्षा का सबसे अधिक महत्त्व था। हमारे यहाँ के प्राचीन गुरुजन इस बात के लिये बड़े सावधान रहते थे कि कोई भी शिष्य किसी प्रकार से अशुद्ध उच्चारण न करे, यहाँतक कि उसे स्वरके प्रयोग में भी बड़ा सावधान रहना पड़ता था। महाभाष्यकार ने इसी का सङ्केत देते हुए कहा है—

'उदात्ते कृते योऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।'

[यदि कोई शिष्य उदात्त के बदले अनुदात्त उच्चारण करने लगता है तो पाधा जी तत्काल उसे एक चपेटा लगा देते हैं।]

वाग्विज्ञान के सम्बन्ध में इतनी सटीकता संसार के किसी देश की भाषा में नहीं देखी जाती।

हमारे यहाँ शब्द के उच्चारण की प्रक्रिया केवल भौतिक ही नहीं थी, वह शुद्ध आध्यात्मिक थी और इसीलिये केवल कण्ठ के कुछ अङ्गों के संचालनमात्र से उत्पन्न ध्वनियों का वे कोई महत्त्व नहीं मानते थे। वे तो शब्द की उच्चारण की समस्त प्रक्रिया को परम वैज्ञानिक रीति से आध्यात्मिक मानते थे।

शब्दोच्चारण की प्रक्रिया

कोई कार्य करने से पूर्व हमें उस कार्य का ज्ञान होता है, तदनन्तर इच्छा

होती है और तब मनुष्य उसके लिये यत्न करता है। इसी प्रकार शब्दोच्चारण में भी अनेक प्रक्रियाएँ पहले हो चुकती हैं, तब मनुष्य शब्दोच्चारण करता है। पाणिनि-मुनि ने इस विषय में कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥
(पाणिनीय-शिक्षा

शब्दोच्चारण के पूर्व बुद्धि के साथ मिलकर आत्मा पहले अर्थज्ञान करता है। तदनन्तर वह मनको बोलने की इच्छा से प्रेरित करता है। शरीर की अग्नि पर मन आघात करता है, जिसके कारण वायु को अग्नि प्रेरित करती है। वह वायु हृदय-स्थान में पहुँचने पर गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करता है। वहाँ से चलकर फिर वह ऊपर जाकर मूर्धा से टक्कर खाकर लौटता है और मुख-मार्ग से बाहर निकलते हुए विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। कारण के अनुसार इन वर्णों के पाँच भेद माने जाते हैं—१. स्वरकृत भेद अर्थात् उदात्त (ऊँचे स्वर से), अनुदात्त (नीचे या मन्द स्वर से) और स्वरित (समाहार अर्थात् न बहुत ऊँचे स्वर से न बहुत नीचे स्वरसे बोलने) के अनुसार भेद। २. कालकृत भेद अर्थात् एक स्वर के उच्चारण में लगने वाले समय के अनुसार भेद, जैसे इ, ई, ई ३। ३. स्थानकृत भेद अर्थात् मुख के भीतर जिन स्थानों से ध्वनि का उच्चारण हुआ है उनके अनुसार भेद। ४. आभ्यन्तर प्रयत्नकृत भेद अर्थात् ध्वनि उच्चरित करने में मुख के भीतर जीभ के संयोग से जितना प्रयत्न करना पड़े उसके अनुसार भेद। ५. बाह्य प्रयत्नकृत भेद अर्थात् वर्ण की जितनी साँस के साथ ध्वनित करके मुखसे बाहर व्यक्त करना पड़े उसके अनुसार भेद।

उच्चारण-रीति

पाणिनीय-शिक्षा और याज्ञवल्क्य-शिक्षा में शब्दोच्चारण करने का अत्यन्त सुन्दर ढंग बतलाया गया है—

यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभिर्न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥
मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम्।
सनाथस्येव देशस्य न वर्णाः सङ्करङ्गताः॥

यथा सुमत्त-नागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत् ।
एवं पदं पदाद्यन्तं दर्शनीयं पृथक् पृथक् ॥
(याज्ञवल्क्य-शिक्षा)

[जिस प्रकार बाघिन अपने बघौटों (बच्चों) को मुँह में लेकर चलती है उस समय न तो बच्चों को दाँत ही चुभते हैं और न वे मुँह से ही गिर पाते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्दोच्चारण भी करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि न तो अक्षर ऐसे चवा-चवा कर बोला जाय कि मुँह में ही रह जायँ और न ऐसा हो कि वे मुँहसे गिर-गिर पड़े और स्पष्ट एक दूसरे से अलग टूटे हुए सुनाई दें ।

वर्ण मधुर हो, स्पष्ट हो, दूसरे वर्णों से दवा हुआ न हो । सब वर्ण पूरे उच्चरित किए जायँ, एक दूसरे में मिल न जायँ । जैसे मतवाला हाथी एक पैर के पश्चात् दूसरा पैर रखता हुआ चलता है, उसी प्रकार एक-एक पद और पदान्त को अलग-अलग स्पष्ट करके बोलना चाहिए ।]

शङ्कितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिजं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
उपांशु दष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥
(पाणिनीय-शिक्षा)

[शङ्कित होकर, डरकर, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्टता के साथ नकिया कर, कौवेके स्वरमें, मूर्धास्थान से उच्चारण करके, उचित स्थानों से उच्चारण न करके, मुँह में ही वर्णों को काट कर, फेंकते हुए से, रुक-रुककर, गद्गद स्वर में, गा-गाकर, वर्णों को चवा-चवाकर, पदों और अक्षरों का पूर्ण रूपसे उच्चारण न कर, अपूर्ण उच्चारण करके, दीनतायुक्त स्वरमें और सभी को अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है ।]

याज्ञवल्क्य-शिक्षा में भी ये ही बातें दुहराई गयी हैं—

गद्गदो बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ।
प्रकृतिर्यस्य कल्याणी दन्तोष्ठौ यस्य शोभनौ ॥
प्रगल्भश्च विनीतश्च स वर्णान् वक्तुमर्हति ।
शङ्कितं भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं मूर्ध्निगतं तथा स्थानविवर्जितम् ॥
विस्वरं विरसं चैव विश्लिष्टं विषमाहतम् ।
व्याकुलं तालहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ॥ (याज्ञवल्क्य-शिक्षा)

[बोलने में कण्ठ का गद्गद् होना और जीभ का बँध जाना उचित नहीं है ।

इस प्रकार बोला नहीं जा सकता। जिसका रूप सुन्दर है, जिसके दाँत और ओठ अच्छे हैं, जो उच्चारण में प्रगल्भ एवं विनीत है, वही वर्णों का उचित उच्चारण कर सकता है। शङ्कित, भयभीत, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकिया-नकिया कर, कौवे के स्वरमें, मूर्धासे ही सभी का उच्चारण करके, उचित स्थान से उच्चारण न करके, सुस्वररहित, नीरस ध्वनि में, अलग-अलग बेढंगे रूपसे, बलाघात करके, व्याकुलतापूर्वक एवं ताल-हीन पढ़ना---ये पढ़नेवाले के चौदह दोष हैं।]

पाठकके गुण-दोष

उसी याज्ञवल्क्य-शिक्षा में यथेच्छ (भले-बुरे) ढंग से पढ़ने वालों के गुण-दोष भी बतलाए गये हैं—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी यथालिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

[मिठास, अक्षरोंकी स्पष्टता, पदों का पृथक्-पृथक् उच्चारण, स्वरों का उचित उतार-चढ़ाव, धीरता और लय के अनुसार पढ़ना ये पाठकर्ता के छह गुण हैं। इसके विपरीत गाकर, हड़बड़ी करके, सिर हिलाते हुए, चुपचाप जैसा लिखा है वैसा पढ़ते हुए, अर्थ समझे बिना या दबे स्वरसे पढ़नेवाला अधम पाठक होता है।]

अशुद्ध स्वर और वर्ण

शब्दोच्चारण की सम्यक् शिक्षा देने के समय प्राचीन भारतीय आचार्यगण स्वर और वर्ण पर बहुत बल देते थे, क्योंकि यदि स्वर और वर्ण ठीक न हों तो शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण हो ही नहीं सकता। एक छोटा सा वाक्य—'मैंने मारा है' लेकर देखिए कि शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने पर भी स्वर और वर्ण का मिथ्या प्रयोग कितना उलट-फेर कर देता है। इसे कहते समय यदि 'मैंने' पर बल दिया जाय तो ऐसा जान पड़ेगा मानों प्रश्न किया जा रहा है कि क्या मैंने मारा है? 'मारा' के साथ 'है' पर बल देने से यही वाक्य यह अर्थ देने लगेगा कि 'मैंने ही मारा है' और इसके लिये मैं किसी से डरता नहीं हूँ। इस सम्बन्ध में एक वैदिक कथा उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्र के वध की कामना से उसके शत्रु वृत्रासुर ने मन्त्र जपवाना प्रारम्भ किया, परन्तु स्वर के मिथ्या-प्रयोग के कारण वह स्वयं मारा गया—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पा० शि०)

[यदि स्वर या वर्ण बिगाड़ कर कोई मन्त्र अशुद्ध बोला जाय तो वह वाणी-

रूपी वज्र ही यजमान को उसी प्रकार मार डालता है जैसे स्वर बिगाड़ कर बोलने मात्र से इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर मारा गया।]

अतः शिक्षकों को शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देनेके साथ-साथ शुद्ध स्वर और वर्ण पर भी ध्यान देना चाहिए। महाभाष्य में वर्णन आया है—

'उदात्ते कर्तव्ये योऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।'

[उदात्त स्वर के स्थान पर यदि शिष्य अनुदात्त कर देता है तो खड़िया के सहारे पढ़ाने वाला अध्यापक उसे चट एक झापड़ जमा देता है।]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उच्चारण-शुद्धता पर या केवल ध्वनियों की शुद्धता पर ही नहीं, वरन् स्वरों की शुद्धता पर भी प्राचीन काल से ही बड़ा बल दिया जाता था।

याज्ञवल्क्य-शिक्षा और पाणिनीय-शिक्षा में पाठ-दोष और पाठ-गुण एवं स्वरकी शुद्धता पर जो विचार किए गए हैं वे इस बात के सूचक हैं कि भारतीय प्राचीन शुद्ध उच्चारण की परम्परा में भी स्वरों का यथार्थ प्रयोग बड़े महत्त्व का विषय था। खण्डिकोपाध्याय भी वर्ण की अशुद्धि का बहुत ध्यान रखता था।

इतना ही नहीं, हमारे यहाँ के ऋषियों ने और भी अधिक सूक्ष्मता के साथ इस ध्वनि-विज्ञान का अन्वेषण किया है जिसकी कल्पना भी अभी तक योरप वाले नहीं कर सकते। हमारे यहाँ वर्ण दो प्रकार के माने गये हैं—ध्वन्यात्मक तथा अक्षरात्मक। शारदातिलक नामक तन्त्र-ग्रन्थ में बताया गया है कि प्राणियों के मूलाधार में (गुदा और लिङ्ग के बीच दो अंगुल का वह स्थान जिसे त्रिकोण कहते हैं, जो इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक होती है और जहाँ करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाश से युक्त स्वयम्भू लिङ्ग विराजमान है) साँप के समान कुण्डली मारे हुए एक सूक्ष्म शक्ति है, जो सब वर्णों में मिल कर मन्त्रमय जगत् को प्रकाशित करती है, जो शब्द और अर्थ में परिवर्तन लाती है और जो उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर-समाहार को व्यक्त करती है। यह कुण्डली इस क्रम से वर्णमाला उत्पन्न करती है कि कुण्डली से शक्ति, शक्ति से ध्वनि, ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका, निरोधिका से अर्धेन्दु, अर्धेन्दु से विन्दु, विन्दु से अन्य बयालीस वर्णों की वर्ण-माला उत्पन्न होती है। चित्शक्ति जब सत्त्व से संयुक्त होती है तब वह शब्द, पद और वाक्ययुत हो जाती है। वह चित्शक्ति जब सत्त्व से युक्त अवस्था में आकाश में पहुँच कर रजोगुण से मिलती है उस समय उत्पन्न होने वाली ध्वनि ही शब्द कहलाती है। जब ध्वनि अक्षर अवस्था में तमोगुण से मिलती है तब वह पद और वाक्य का रूप धारण करती है।

योगशास्त्र के अलङ्कारकौस्तुभ और पदार्थादर्श आदि ग्रन्थों में वर्ण के चार भेद बताए गए हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। जब मूलाधार से पहले-पहल नाद-रूप में वर्ण की उत्पत्ति होती है उसे 'परा' कहते हैं। जब वर्ण

नाद-रूप में मूलाधार से उठकर धीरे-धीरे हृदय में पहुँचता है तब वह 'पश्यन्ती' कहलाता है और इसके पश्चात् जब हृदय से उठकर वह क्रम से बुद्धि और सङ्कल्प के साथ मिलता है तब उसे 'मध्यमा' कहते हैं। इसके पश्चात् जब वह बुद्धि से उठकर कण्ठ में पहुँच कर मुख से प्रकट होता है तब वह 'वैखरी' कहलाता है।

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में 'पश्यन्त्या मध्यमायाश्च' कारिका की भाव-प्रदीप टीका में पण्डित श्रीसूर्यनारायण शुक्लजीने लिखा है कि पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीन ही प्रकार की वाणी होती है और ये तीनों स्थूला, सूक्ष्मा और परा भेद से तीन-तीन प्रकार की है। इस प्रकार वाणी के नौ भेद हैं। वर्णों के विभागों से रहित केवल स्वरयुक्त संगीतरूपी वाणी ही 'स्थूला पश्यन्ती' कहलाती है। वही जिज्ञासा से हीन संविद् अर्थात् बुद्धिरूपा या चिद्रूपा 'परा पश्यन्ती' कहलाती है। चमड़े से मढ़े हुए मृदंग आदि में हाथ की चोट से उत्पन्न हुई ध्वनि 'स्थूला मध्यमा' कहलाती है। ध्वनिरूपी वाणी ही 'स्थूला मध्यमा' कहलाती है, वही विवादयिषा अर्थात् विचार की इच्छा को प्रेरित करने वाली 'सूक्ष्मा मध्यमा' है और वही जब उस प्रकार इच्छा से रहित निरुपाधिका हो जाती है, तब 'परा मध्यमा' कहलाती है। इसी प्रकार परस्पर विलक्षणता से अलग-अलग वर्ण के रूप में प्रकट होने वाली वाणी 'स्थूला वैखरी' कहलाती है। बोलने की इच्छा का रूप धारण करने वाली 'सूक्ष्मा वैखरी' कहलाती है और बोलने की इच्छा से रहित केवल ज्ञानरूपा या बुद्धिरूपा 'परा वैखरी' कहलाती है। पश्यन्ती ही सूक्ष्म होकर 'परा' कहलाती है।

वैदिक कर्मकाण्ड के इस वाग्विज्ञान के अतिरिक्त उसका प्रत्यक्ष लोक-कल्याणकारी पक्ष भी है। वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मण्डप, कुण्ड और वेदी की सजावट, अनेक प्रकार के रंगों से और अनेक ज्यामितीय आकारों में उनकी बनावट, अनेक प्रकार की कलात्मक रीतियों से तोरण-द्वार और बन्दनवार की रूपसज्जा, कलश का बहुविध सौन्दर्य और उसके साथ पंचपल्लव, नारिकेल तथा दीप आदि से उसका अलङ्करण स्वयं नेत्र और हृदय के लिये आह्लादजनक है। किन्तु इसके अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्ड की हवन-क्रिया मानवमात्र के लिये कल्याणकारी है। आज हम जिस विज्ञान की चर्चा करते हैं उसके कोयले का धुवाँ खड़-खड़ और गड़-गड़ अनेक प्रकार के विनाश-कारी साधन चारों ओर व्याप्त हैं। यह बात सभी वैज्ञानिक जानते हैं कि कोयला जलाने से जो दूषित गैस 'कार्बनडाइ-आक्साइड' निकलती है वह मनुष्य के लिये प्राणघातक है। प्रतिवर्ष जाड़े के दिनों में जो लोग अंगीठी में कोयला सुलगाकर रात को बन्द करके सो जाते हैं वे प्रातःकाल निष्प्राण हो जाते हैं। प्रतिवर्ष इस प्रकार की घटनाएँ सुनाई ही पड़ती रहती हैं। इसीलिये हमारे यहाँ आरने या कण्डे (कण्डिका) अर्थात् जंगल में स्वाभाविक रूप से गौ के सूखे हुए

कण्डे ही हवन के लिये काम आते थे, क्योंकि उसके धुएँ से किसी प्रकार की हानि नहीं होती, वरन् उसकी राख कृमिनाशक होती है और उसका धुआँ भी स्वास्थ्य के लिये लाभकारी होता है। इसके अतिरिक्त हवन-क्रिया में घी, सुगन्धित द्रव्य और साकल्य आदि के हविष्य से जो यज्ञ-धूम निकलता है वह सम्पूर्ण वातावरण के दोषों को दूर करके वायु को शुद्ध करता है और मनुष्य को किसी प्रकार के रोग आदि से आक्रान्त नहीं होने देता। इस प्रकार की अग्नि का सेवन करने से तेज भी बढ़ता है। हमारे यहाँ कहा गया है—

"आरोग्यं भास्करादिच्छेद्धनमिच्छेद् हुताशनात्।"

[सूर्य की सेवा और आराधना करने से आरोग्य प्राप्त होता है और अग्नि की उपासना करने से लक्ष्मी और तेज प्राप्त होता है।]

इस प्रकार यज्ञ-धूम से सब प्रकार मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये विधान किया गया था और यह नियम बनाया गया था कि ब्रह्मचारी नियमपूर्वक अग्नि का पूजन करें और उनसे प्रार्थना करें—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि,
ओजोऽसि ओजो मयि धेहि ॥ (शु० यजुर्वेद १६।६)

[आप तेज हैं आप मुझमें तेज स्थापित कीजिये, आप बल हैं आप मुझमें बल स्थापित कीजिये। आप कान्तिस्वरूप हैं आप मुझमें कान्ति स्थापित कीजिये।]

इस प्रकार अग्नि-सेवन की तपस्या से ब्रह्मचारियों में ब्रह्मचर्य का वर्चस्व, विद्या, बल, तेज और स्फूर्ति का विकास होता था। अतः व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य के लिये वैदिक कर्मकाण्ड आवश्यक ही नहीं, अनिवार्यतः वैज्ञानिक-रूप से प्रयोजनीय माना जाता है।

वेद के अन्य वेदाङ्गों में ज्यौतिष का विवरण ऊपर दिया चुका है कि किस प्रकार हमारे यहाँ ऋषियों, मुनियों और आचार्यों ने समस्त विश्व के नक्षत्रों और ग्रहों को, उनके गतियों को, उनके स्वरूप को, उनकी उत्पत्ति और प्रकृति को भली-भाँति जान लिया था और उनकी गणना इतनी प्रौढ़ तथा सटीक होती थी कि कहीं एक पल का भी अन्तर नहीं होता था। इस ज्यौतिष-विद्या ने इतनी अधिक उन्नति कर ली थी कि इसके आधार पर जो फल विचार कर कहा जाता था वह अक्षरशः शुद्ध और निश्चय होता था। आजकल ज्योतिर्विद्या के सम्बन्ध में जो अनास्था उत्पन्न हो गयी है उसका कारण यही है कि जिस सूक्ष्मता और वैज्ञानिक सटीकता के साथ प्राचीन आचार्यों ने इस विद्या के सम्बन्ध में विचार किया था उतना न तो आजकल अध्ययन ही होता है और न परिश्रम ही।

ज्यौतिष-शास्त्र के अतिरिक्त आयुर्वेद शास्त्र भी वैदिक विज्ञान का बड़ा भारी चमत्कार है जो वेद का उपवेद माना जाता है। इस विज्ञान ने

मनुष्य शरीर और उसमें होने वाली बाधाओं से मनुष्य की रक्षा करने के लिये पूरा विधान बना दिया था जिससे मनुष्य केवल शतायु ही नहीं, वरन् वह इच्छा-मृत्यु हो सकता था, कायाकल्प के द्वारा अपना जीवन बढ़ा सकता था और अनेक प्रकार के दिव्य प्रयोग के द्वारा आकाशचारी भी हो सकता था। वेद के दूसरे-दूसरे उपवेद धनुर्वेद का चमत्कार तो महाभारत और रामायण में स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है कि किस प्रकार बाण को अभिमन्त्रित करके छोड़ने से सम्पूर्ण शत्रुसेना मूर्च्छित हो जाती थी, बाणों के पिंजर में आबद्ध हो जाती थी, जलने लगती थी। गान्धर्व-वेद का चमत्कार तो आज भी प्रत्यक्ष है। 'सङ्गीतं कं न मोहयेत्' (संगीत किसको मोहित नहीं करता ?) सामवेद तो स्वयं इस गान्धर्व-वेद का आधार है। इस गान्धर्व वेद में स्वरों और श्रुतियों के प्रयोग से अनेक राग-रागिनियों की परिकल्पना करके उन्हें ऐसा सिद्ध कर दिया था कि केवल राग के द्वारा ही लौकिक इष्ट की भी सिद्धि हो सकती थी और पारलौकिक की भी।

इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड आदि से अन्त तक ऐसे लोक-कल्याणकारी विज्ञान से ओत-प्रोत है जिसमें सभी सभ्य, शिष्ट, लोकमङ्गलकारी सृष्टि के कल्याण की भावना ही आदि से अन्त तक निहित है। यदि विस्तार से वैदिक कर्मकाण्ड के वैज्ञानिक आधार का अनुसन्धान किया जाय तो निश्चय ही ऐसे अद्भुत संजीवन तत्त्व प्राप्त होंगे जिनके सम्मुख वर्त्तमान तथाकथित ज्ञान-विज्ञान के समस्त उपादान और अनुसन्धान व्यर्थ सिद्ध होंगे। इस प्रसङ्ग में वैदिक कर्मकाण्ड के वैज्ञानिक आधार का अत्यन्त अल्प विचार किया गया है। यदि विस्तार से इसका सूक्ष्म विवेचन किया जाय तो सभी को मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक कर्मकाण्ड पूर्णतः वैज्ञानिक-पद्धति है, जिसके लोप होने से ही हमारे देश में आयुक्षय, मनक्षय और बलक्षय हो रहा है, धनधान्य में भी समृद्धि घट रही है, किन्तु यदि वैदिक नियम के अनुसार अग्नि का सेवन किया जाय और वैदिक कर्मकाण्ड को यथाविधि पुनः जीवित किया जाय तो भारतवर्ष पुनः संसार का विद्यावैभव गुरु हो सकता है, किन्तु उसके लिये आवश्यक है कि होता, यजमान, सामग्री और विधान सब शुद्ध और सात्त्विक हो। खेद की बात यही है कि न होताओं में ही सात्त्विकता और शुद्धता रह गयी है, न यजमानों में ही सात्त्विक श्रद्धा है, न सामग्री ही शुद्ध मिल पाती है और न विधान ही कोई शुद्ध जानता है। आवश्यकता इस बात की है कि **स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रभुदत्तशास्त्री गौड तथा स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरशास्त्री गौड** द्वारा स्वीकृत पथ पर चलने के लिये कुछ विद्वान् उत्साहित हों और वैदिक कर्मकाण्ड का उचित अध्ययन करके उसका पुनरुद्धार करें।

पुरोहित और यजमान

[माननीय बाबू श्रीप्रकाशजी राज्यपाल, महाराष्ट्रप्रदेश]

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विविध विषयों पर हम सब जो अपना मत निश्चित करते हैं उसका आधार व्यक्तिगत अनुभव ही प्राय: होता है। सामुदायिक और कौटुम्बिक परम्पराओं के कारण हम सभी निर्धारित रूप से जीवन यापन करते हैं और धार्मिक संस्कारों से प्रेरित होकर बहुत से आचार-व्यवहार विशेष प्रकार से बाल्यावस्था से ही करने लगते हैं। उन्हीं के अनुकूल अपने विचार भी हो जाते हैं। जो कुछ हम करते हैं वह हमें नैसर्गिक-सा प्रतीत होने लगता है। हमें धारणा ही नहीं होती कि इनसे पृथक् भी कोई बात हो सकती है या होनी चाहिए।

संसार का जो रूप है उसमें हम सबको ही अनिवार्य रूप से नाना प्रकार की स्थितियों का सामना करना पड़ता है। दिन प्रतिदिन के कार्यों को सम्पन्न करते हुए हमारा भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के नर—नारियों से सम्पर्क होता ही रहता है। यह अनिवार्य है। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। वह "सामाजिक जन्तु" है। उसे दूसरे का साथ खोजना ही पड़ता है। ऐसी दशा में यह भी अनिवार्य है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और भिन्न-भिन्न स्थितियों में हमको विशेष-विशेष प्रकार के अनुभव हों जिनका प्रभाव हमारे विचारों पर पड़े और पीछे यदि विचार परिवर्तन हो जाय तो उसके कारण हम अपना आचरण भी बदल दें।

सभी के ऊपर सुख-दु:ख पड़ता ही रहता है। इनसे कौन संसार का जीव बच सकता है। सबसे बड़ा दु:ख तो वियोग का ही होता है। मित्रों और संबन्धियों से अस्थायी वियोग भी हो तो दु:ख होता ही है। मृत्यु के कारण जो चिरवियोग हो जाता है उसके दु:ख का क्या कहना। पर यह दु:ख सबको ही पड़ता रहता है। दार्शनिकों ने सदा से जन्म और मृत्यु के रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न किया। दु:ख से सभी बचना चाहते हैं, सुख की सबको ही खोज है। प्रियजनों की मृत्यु से बढ़कर अधिक दुखदायी घटना क्या हो सकती है। ऐसी अवस्था में विचारवान इस खोजमें हैं कि हमें मृत्यु की ही गूढ़ समस्या का पता लग जाय जिससे कि हमें दु:ख ही न हो। गीता के सुन्दर और उपयुक्त वचन की उद्धरिणी तो हम करते हैं, पर वास्तव में उससे सन्तोष नहीं होता—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

चाहे जीवन-मरण-सम्बन्धी दार्शनिक समस्या का समाधान हो या न हो, मृत्यु का सामना तो सबको ही करना पड़ता है। अपने भावी मृत्यु की पीड़ाओं का

विचार कर हम सभी त्रस्त होते रहते हैं। प्रियजनों की मृत्यु को अपने सामने देखकर दुखी होते हैं, पर संसार की कुछ ऐसी लीला है कि श्मशान वैराग्य बहुत देर तक नहीं रहता। संसार के कार्यों में सबको तत्काल लिप्त हो जाना पड़ता है। जब साधारण क्रम में तीन-तीन चार-चार वर्षों का अन्तर देकर मित्रों, सहयोगियों, कुटुम्बी-जनों की मृत्यु को देखना पड़ता है, तो किसी न किसी प्रकार से मनुष्य अपने को संभाल ही लेता है। उसके मन में जो शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं वे दिन प्रतिदिन की कार्य-व्यस्तता में स्वतः लुप्त हो जाती हैं। साधारण गृहस्थ ऐसे विषयों पर बहुत दिनों तक विचार कर ही नहीं सकता।

भर्तृहरि ने ठीक कहा है—

'व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।'

तथापि जब मृत्यु का सामना किसी को दुर्भाग्यवश थोड़े-थोड़े दिनों के ही बाद लगातार करना पड़ता है और जब एक मृत्यु की स्थितियों की स्मृति को भुलाये जाने के पहले ही प्रियजनों में दूसरी मृत्यु हो जाती है, तो तत्सम्बन्धी बहुत से आचार-विचार जिनका पालन परम्परानुसार गृहस्थ करता है, मन में बैठ जाते हैं और व्यक्ति-विशेष सोचने लगता है कि क्या यह सब जो समाज के आदेशों का हमें पालन करना पड़ता है, वह ठीक है? क्या जिन लोंगों से ऐसे दुःख के समय सामाजिक बन्धनों के कारण हमें सम्पर्क अपरिहार्य रूप से स्थापित करना पड़ता है, उनका व्यवहार उचित है?

साधारण तौर से मैं अपने को भाग्यशाली ही समझ सकता हूँ। मेरी ६८ वर्ष की अवस्था तक मेरे पिता-माता जीवित रहे। ईश्वर की कृपा से और बहुत-सी सांसारिक सामग्रियाँ भी मेरे पास रही हैं, जिनके सम्बन्ध में साधारणतः लोगों का यही विचार हो सकता है कि ये सुखी हैं। विगत चार वर्षों में मेरा यह भी दुर्भाग्य रहा कि मेरे प्रियजनों में एक के बाद एक मृत्यु पर मृत्यु होती रही। गुरुजन, मित्र और नवयुवकों की भी मृत्यु मुझे देखनी पड़ी। अपने ७० वर्ष के जीवन के ६६ वर्षों तक अपने कुटुम्ब में जितनी मृत्युओं का सामना मुझे नहीं करना पड़ा, उतनी इन चार वर्षों में करना पड़ा। अवश्य ही इनका प्रभाव मेरे हृदय और मस्तिष्क पर बहुत पड़ा। आज मैं सङ्कोच के साथ, परन्तु स्पष्ट रूप से इस विषय पर सर्वसाधारण का और विशेषकर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहता हूँ। मैंने उचित समझा कि जब **महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीविद्याधर गौड** के स्मारकग्रन्थ में कुछ लिखने के लिए मुझे निमन्त्रित किया गया है तो मैं इसी विषय पर लिखूँ। मुझे दुःख होगा यदि मेरे ऐसा करने से किन्हीं गुरुजन अथवा मित्रवर को कष्ट पहुँचे।

संसार में जब मृत्यु अनिवार्य है तो मनुष्य के सभी समाजों ने कुछ नियम निर्धारित कर दिये हैं जिनके अनुसार मृत के शरीर का संस्कार किया जाय और

मृत की आत्मा की शान्ति और सद्गति के लिये आराधना और उपासना की जाय। जन्म और मृत्यु की समस्याओं की खोज में मनुष्य ने बड़े-बड़े सम्प्रदायों की भी सृष्टि की है और प्रत्येक सम्प्रदाय का अपने-अपने संस्कारों पर बड़ा आग्रह भी रहता है। सनातनधर्म के अनुयायी धार्मिक संस्कारों पर विशेष-रूप से ध्यान देना उचित समझते हैं और इसके कर्मकाण्ड का पालन विशेष तत्परता से करने का प्रयत्न करते हैं। साधारण गृहस्थों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे अपने दिन प्रतिदिन के कौटुम्बिक और औद्योगिक कार्यों के साथ-साथ कर्मकाण्ड का भी विस्तृत ज्ञान रक्खें, इसी कारण उन्हें पुरोहितों पर आश्रित होना पड़ता है। वे जैसा बतलाते हैं वैसा ही गृहस्थ करता है। पुरोहित और यजमान का सम्बन्ध इस कारण बहुत निकट का होता है और अवश्य ही यह सम्बन्ध परस्पर स्नेह, विश्वास और सहानुभूति का होना चाहिए, यदि हम अपने धर्म और अपनी परम्परा की रक्षा करना चाहते हैं और अपने समाज को समुचित रीति से चलाना चाहते हैं।

मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसे सौहार्द का मैंने नितान्त रूप से अभाव अपने इधर के अनुभव में पाया। इनसे मुझे बहुत ही कष्ट और सन्ताप हुआ। क्योंकि मेरा यह निश्चित मत है कि सनातनधर्म ने मनुष्य–समाज की सुव्यवस्था के लिए जो आदेश–उपदेश दिये हैं और व्यक्तिगत जीवन को समुचित रूप से व्यतीत करने के लिए जो क्रम निर्धारित किये हैं, उनसे बढ़कर कोई सामाजिक संघटन का प्रकार नहीं हो सकता। और जब इसकी मैं दुर्दशा देखता हूँ तो अवश्य ही हृदय को क्लेश होता है। १०-१०, १२-१२ वर्ष पर यदि मृत्यु-सम्बन्धी संस्कारों को मुझे देखने का मौका पड़ता था, तो जो कुछ होता था उसके करने के बाद उस तरफ से ध्यान हट जाता था। अपने दुःख का शमन करने का प्रयत्न करता था और संसार के कार्य में लगा रहता था। पर जब उन्हीं बातों को जल्दी-जल्दी और बार-बार देखा तो अवश्य उन पर स्थिर रूप से कुछ विचार करने भी बैठा और बहुत-सी बातें मुझे अनुचित प्रतीत हुईं जिनका निरूपण मैं यहाँ पर करना चाहता हूँ।

अपने समाज में पुरोहित और यजमान का काफी सम्पर्क रहता है, परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि पुरोहित का जो स्नेह और सहानुभूति का भाव यजमान के प्रति होना चाहिए, वह नहीं है। पुरोहित ही किसी धर्म और सम्प्रदाय के संरक्षक और पोषक समझे जा सकते हैं। वे ही उसकी मान मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं। वे ही अपने आचरण से दूसरों के लिए अच्छा उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं। इनके अभाव से मुझे भय होता है कि कहीं हमारा धर्म संसार से लुप्त न हो जाय। उसके ऊपर चारों तरफ से आघात तो हो ही रहे हैं, यदि भीतर से भी ऐसा हुआ तो उसकी रक्षा कौन करेगा?

नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

सनातनधर्म में धर्म पर बहुत जोर दिया गया है। "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः"—ऐसा गीता का उपदेश और आदेश है। सब से यह कहा गया है कि अपने-अपने धर्म अर्थात् अपने-अपने कर्तव्य पर तत्परता से खड़े रहना चाहिए—दूसरों का धर्म अर्थात् कर्तव्य को करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। हमारे यहाँ इस प्रकार से 'कर्तव्य' का ही निर्देश है। 'अधिकार' का कहीं नाम नहीं लिया जाता। इसीसे यह नहीं कहा जाता है कि अपने अधिकारों की माँग पर लगे रहो। आजकाल के आर्थिक और सामाजिक प्रवन्ध में अधिकार की ही चर्चा होती है। अब हम को यह देखना है कि पुरोहित और यजमान के परस्पर के क्या कर्तव्य हैं। मानवीय सम्बन्ध में एकाङ्गी बात नहीं हो सकती। दोनों अङ्गों का सहयोग आवश्यक है, पर आज की जो हमारी व्यवस्था है अथवा जो लोकाचार है, उसमें हम देखते हैं कि पुरोहित के लिए कोई धर्म या कर्तव्य निर्धारित नहीं है। यजमानों का ही कर्तव्य (धर्म) माना गया है और उसी पर जोर भी दिया जाता है।

अन्य सम्प्रदायों के भी पुरोहित और पादरी होते हैं। इनके कर्तव्यों का बड़े विस्तार से निरूपण है जिनका पालन भी वे बड़ी तत्परता से करते हैं। यदि कोई बीमार पड़ता है तो उसे वे देखने जाते हैं। उनके घरवालों से सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। हर प्रकार की सहायता देने को उद्यत रहते हैं। यदि कोई मर जाता है तो वे सान्त्वना देने जाते हैं। समवेदना प्रकट करते हैं। शव के सम्वन्ध में जो कुछ उनका कटु कर्तव्य होता है उसे बड़ी नम्रता, शान्ति और शोभा के साथ सम्पादित करते हैं। मुझे दुःख है कि मैंने ऐसा अपने यहाँ नहीं पाया। यदि बीमारी के समय कोई पाठ बैठाया जाय तो पहले तय होता है कि कितना रुपया पुरोहित को मिलेगा। मरते हुए रोगी से ही अधिक से अधिक दान के रूप में धन प्राप्त करने की अभिलाषा रक्खी जाती है। उसके कष्ट में सहानुभूति का तो एक शव्द भी मुँह से नहीं निकलता। मृत्यु के बाद भी ऐसी छीछालेदर होती है कि लज्जा आती है। घाट के दृश्य का वर्णन न करना ही उचित है। सब को ही उसका दुःखद अनुभव है। नाना प्रकार के पण्डे, पुरोहित, महापात्र आदि बड़ी क्रूरता से कुछ लेने के लिए ही दौड़ते हैं। किसी की आँख में न एक बूँद आँसू होता है, चाहे कोई नवयुवक ही क्यों न चला गया हो, न किसी के मुख से एक स्नेह का शब्द ही निकलता है। मालूम नहीं हम किधर जा रहे हैं जब हमारे कुलपुरोहितों की यह दशा है।

गरुड़पुराण की कथा सुनने की भी प्रथा है। उसमें भी कथावाचक यही सुनाते हैं कि मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है, विशेष कर क्या दुर्दशा होती है और आदेश दिया जाता है कि कैसे-कैसे मुलायम वस्त्र और कैसी-कैसी सुन्दर वस्तु आदि पुरोहित को देनी चाहिए। मैंने तो विगत चार वर्षों के

दुःखद प्रकरणों में यह कहीं नहीं पाया कि पुरोहित का भी गृहस्थ के प्रति कोई धर्म, कोई कर्तव्य है। तीर्थस्थानों में भी यही हालत है। पण्डे अपना धर्म भूल गये। किसी यात्री के आराम आदि का उन्हें कुछ ध्यान नहीं है। उससे कुछ पाने की ही फिकर है। उनको कुछ मिलना तो चाहिए ही, क्योंकि यही उनकी जीविका है, पर उन्हें अपरिचित स्थानों में यात्रियों की सेवा भी तो कुछ करनी चाहिए। यदि आज हम इस तरफ ध्यान नहीं देते तो एक तो नये गृहस्थ यों ही अपने धर्म की तरफ से विमुख हो रहे हैं और यदि ऐसी ही अवस्था बनी रही, तो वे और भी विरोधी होते जायँगे और हमारा धर्म ही लुप्त हो जायगा। दम्भ और आत्मप्रशंसा से कोई अपना सम्मान नहीं करा सकता। सदाचरण से ही ऐसा हो सकता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि अन्य जितने धर्म और सम्प्रदाय हैं वे अन्य देशों में भी हैं। हमारा आर्य-वैदिक-मानव-सनातन-वर्णाश्रम धर्म तो जिसे किसी ऐतिहासिक गलतियों के कारण "हिन्दु" धर्म कहा जाने लगा है, केवल हमारे भारत में ही है। इस समय युवकों और युवतियों के हृदयों और मस्तिष्कों में विभिन्न विचार-शैलियों का संघर्ष मचा हुआ है। अगर हम इस समय नहीं चेतते तो हम सर्वनाश की तरफ प्रवृत्त होते जायँगे। विचार से आचार कहीं अधिक बलवान् होता है:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

जैसा बड़े लोग करेंगे वैसा सर्वसाधारण करेगा। मैं इस समय अपने देश के सब धर्माधिकारियों, विद्वानों और पण्डितों से साग्रह निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारे सामने बड़ा भय उपस्थित हो गया है और इसको दूर करना आपके ही हाथ में है। साधारण गृहस्थ तो अपना कर्तव्य करता है, पर आपको भी अपना कर्तव्य करना होगा। यदि आप उसे करना भूल जायँगे, यदि आप अपने हृदय से स्नेह और सहानुभूति का भाव हटा देंगे और केवल अपने ही लौकिक हित के अर्थ दूसरों पर क्रूरता से आदेश देते रहेंगे, तो बहुत दिन तक यह प्रकार नहीं ही चल सकेगा। ईश्वर हम सबको सद्बुद्धि दे और हम सब अपना-अपना कर्तव्य अर्थात् धर्म का पालन करते हुए अपने सनातनधर्म को बचाये रहें, अपने पूर्वजों की कीर्ति को बनाये रहें और अपने देश के वास्तविक आदर्शों को अपने आचरण से सिद्ध करके संसार की उन्नति और उत्कर्ष में अपना समुचित अनुदान अर्पण करें।

वैदिक उदात्त भावनाएँ

[विद्यामार्तण्ड डा० मङ्गलदेव शास्त्री, पूर्व-उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय]

जिन महापुरुषों और विद्वानों ने वेदों का अध्ययन किया है वे भलीभाँति जानते हैं कि वैदिक सूक्तों में ऐसी उदात्त भावनाओं और आदर्शों का उत्कृष्ट वर्णन है कि उनके अनुसार चलने पर आजकी त्रस्त और संशयाकुल मानवता निश्चय ही त्राण पाकर शान्त और पवित्र भावनामय नवीन विश्व का निर्माण कर सकती है।

हम यहाँ वेदमन्त्रों के ही शब्दों में उन उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शों का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जिनसे वेदों के मन्त्र ओत-प्रोत हैं। हमारे मत में इसी रूप में वेद भारतीय संस्कृति की शाश्वत निधि हैं और मानवजाति के के लिए सार्वभौम तथा सार्वकालिक सन्देश के वाहक हैं।

नीचे हम क्रमशः इन्हीं उदात्त भावनाओं और महान् आदर्शों को वेद-मन्त्रों के आधार पर संक्षेप में दिखाते हैं—

ऋत और सत्य की भावना: वैदिक उदात्त भावनाओं का मौलिक आधार ऋत और सत्य का व्यापक सिद्धान्त है। जिस प्रकार वैदिक देवतावाद का लक्ष्य एकसूत्रीय परमात्म- (या अध्यात्म-) तत्त्व की अनुभूति है, इसी प्रकार ऋत और सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व-प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो सिरे या रूप हैं। बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के अधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर-विरोध न हो कर एक-रूपता या ऐक्य विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन के प्रेरक जो भी नैतिक आदर्श हैं, उन सब का आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है[1]। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़ कर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है।

यही ऋत और सत्य की भावना है। पुष्प में सुगन्ध के समान, अथवा दुग्ध में मक्खन के समान, वेद में सर्वत्र यह भावना व्याप्त है[2]। स्पष्ट

---

१. देखिए—"वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा। पदार्थानां, तयोर्मध्ये प्रायेण महदन्तरम्॥ आपाततस्तु यद्रूपं पदार्थस्पर्शि नैव तत्। वस्तुतो वर्तमानं तत्पदार्थानां स्वभावजम्॥ (लेखक की नवीन पुस्तक 'रश्मिमाला' ५।२४।१-२)। २. देखिए—"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।" (ऋ० १०।१९०।१)। "ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृत-

शब्दों में भी ऋत और सत्य की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन वेदों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ,

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥
(ऋग्वेद ४।२३।८-९)

अर्थात्,

ऋत[3] अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है,
ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है।
मनुष्य को उद्बोधन और प्रकाश देने वाली
ऋत की कीर्त्ति बहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है।
ऋत की जड़ें सुदृढ हैं;
विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत
मूर्त्तिमान् हो रहा है।
ऋत के आधार पर ही अन्नादि खाद्य पदार्थों
की कामना की जाती है;
ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जल
में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं॥

इसी प्रकार सत्य के विषय में भी गहरी और तीव्र आस्था वैदिक साहित्य में सर्वत्र पायी जाती है। जैसे,

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ (यजुर्वेद १९।७७)

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देख कर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है, और अश्रद्धा की अनृत या असत्य में।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ (यजुर्वेद १९।३०)

स्पृशा।" (ऋ० १।२।८)। "ऋतेन ऋतं नियतमीडे" (ऋ० ४।३।९)। "ऋतस्य तन्तुर्विततः (ऋ० ९।७३।९)। "ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति" (ऋ० १०।८५।१)। "सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः" (ऋ० १०।३७।२)। "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (यजुर्वेद १।५)। "सत्यं वदन् सत्यकर्मन्" (ऋ० ९।११३।४)। "सत्यमुग्रस्य बृहतः" (ऋ० ९।११३।५)। ३. ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम अथवा उनकी समष्टि।

अर्थात्, व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन क योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३६।४)

अर्थात्, मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूँ।

देवा देवैरवन्तु मा।...सत्येन सत्यम्......(यजु० २०।११-१२)

अर्थात्, समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।५)

अर्थात्, यज्ञ द्वारा मैं सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूँ।

ऋत और सत्य की उपर्युक्त भावना ही वास्तव में अन्य वैदिक उदात्त भावनाओं की जननी है। इस सारे विश्व प्रपञ्च का सञ्चालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना और आत्म-विश्वास को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

आशावाद की भावना : भारतीय विचार-धारा में चिरकाल से 'संसार असार है', 'जीवन क्षण-भङ्गुर और मिथ्या है' इस प्रकार की निराशावादी भावनाओं का साम्राज्य रहा है। हमारी जाति के जीवन को शक्ति-हीन, उत्साह-हीन और आदर्श-हीन बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता?

मनुष्य के जीवन को सब से अधिक नीचे गिराने वाली भावना निराशावाद की भावना है। निराशावाद से अभिभूत मनुष्य जीवन की किसी समस्या को सुलझाने में असमर्थ होता है। इसीलिए इसका बड़ा भारी महत्त्व है कि वैदिक धर्माचरण का सम्पूर्ण आधार ही आशावाद पर है। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य को अपने जीवन में पूर्ण आस्था रखते हुए उत्तरोत्तर उन्नति का ही लक्ष्य रखना चाहिए और उत्साहपूर्वक समस्त विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

वैदिक साहित्य आशावाद की ओजपूर्ण, उत्साहमय तथा उल्लासमय भावना से ओत-प्रोत है। जैसे,

कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय जीवसे (ऋ० १।३६।१४)

अर्थात्, भगवन्! जीवन यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। (ऋ० ६।५२।५)

अर्थात्, हम सदा प्रसन्न-चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक काल तक दैन्य-भाव से अपने को दूर रखें।

सदेम शतहिमाः सुवीराः (अथर्व० २०।६३।३)

अर्थात्, हमारी सन्तानें वीर हों और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नता-पूर्वक ही व्यतीत करें।

निम्नलिखित मन्त्र में एक उत्साहमय ओजपूर्ण जीवन का सुन्दर चित्र दिया गया है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु० १६।६)

अर्थात्,
मेरे आदर्श देव !
आप तेज-स्वरूप हैं, मुझ में तेज को धारण कीजिए।
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिए।
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए।
आप ओजः-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए।
आप मन्यु[1]-रूप हैं, मुझ में मन्यु को धारण कीजिए।
आप सहस्[2]-स्वरूप हैं, मुझे सहस्वान् कीजिए।

जीवन के विषय में जैसी उत्कृष्ट आस्था वेद-मन्त्रों में पायी जाती है, वैसी संसार के किसी भी अन्य साहित्य में नहीं मिलेगी। उदाहरणार्थ नीचे के जीवन-संगीतक को ही देखिए—

जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्। भूषेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात् ॥ (अथर्व० १६।६७।२-८)

अर्थात्, हम सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन-यात्रा करें, अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें, पुष्टि और दृढता को प्राप्त करते रहें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा गुणों से अपने को भूषित करते रहें।

---

१. मन्यु = अनौचित्य को देख कर होने वाला क्रोध। २. सहस्=विरोधी पर विजय पाने में समर्थ शक्ति और बल।

मनुष्य-जीवन में एक नवीन स्फूर्ति, नवीन विद्युत् का संचार करने वाले ऐसे ही अमृतमय प्राण-संजीवन वचनों से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है।

वैदिक साहित्य की उपर्युक्त आशावाद की भावना का वर्णन हम अपने शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं—

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिः।

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते।
समुत्सार्य समूलं तामाशावादपरो भव ॥ १ ॥
मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः।
तस्माद् गमय तज्जोतिस्तमसो मामिति श्रुतिः ॥ ३ ॥
आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥ ४ ॥
निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥ ५ ॥ (रश्मिमाला १।१)

अर्थात् मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पाप-रूपिणी निराशा को समूल हटा कर आशावादी बने ॥ १ ॥ मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित हैं ॥ २ ॥ आशा सबसे उत्कृष्ट प्रकाश है। निराशा घोर अन्धकार है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है—"तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)। अर्थात् भगवन्! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए ॥ ३ । जीवन में आदर्श-भावना, आत्म-विश्वास, कारुण्य, सत्य-परायणता और उत्तरोत्तर समुन्नति, ये बातें आशावादियों में ही पायी जाती हैं ॥ ४ ॥

परन्तु निराशावादी लोग स्वभाव से ही उदात्त भावनाओं से विहीन, निष्ठुर (=असंवेदन-शील) और संशयालु होते हैं। वेद में ऐसे ही लोगों को प्रेरणा-विहीन अज्ञानान्धकार में निमग्न, तथा आत्म-विस्मृति-रूप आत्म-हत्या करने वाला कहा गया है[1]।

---

१. देखिए —"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।" (यजु० ४०।३)। अर्थात्, आत्मत्व या आत्मचेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (=जीवन में आदर्श-भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिरा कर सर्वनाश का हेतु होती है।

पवित्रता की भावना : सामान्य रूप से मनुष्यों की प्रवृत्ति बहिर्मुख हुआ करती है। सामान्य मनुष्य बाह्य लौकिक पदार्थों की प्राप्ति में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है। व्यावहारिक जीवन को छोड़ कर यज्ञ, दान, जप आदि के धर्माचरण में भी उसका लक्ष्य प्रायः लोक या परलोक में सुख के उपभोग की सामग्री की प्राप्ति ही हुआ करता है।

ऐसा होने पर भी, मानव के विकास में एक स्थिति ऐसी आती है जब कि वह अपने जीवन की सफलता का मूल्याङ्कन लौकिक पदार्थों या ऐश्वर्य की प्राप्ति में उतना नहीं करता, जितना कि अपने भावों की पवित्रता और चरित्र की दृढता में करता है। इसके लिए अन्तःसमीक्षण या आत्म-परीक्षण की आवश्यकता होती है। इसकी योग्यता विरले लोगों में ही होती है[1]। पर यह मानी हुई बात है कि "आत्म-परीक्षणं हि नाम मनुष्यस्य प्रथमं समुन्नतेर्मूलम्" (प्रबन्ध-प्रकाश, भाग २, पृ० ६६), अर्थात्, आत्म-परीक्षण ही मनुष्य की वास्तविक उन्नति का मूल है।

भगवद्गीता का बड़ा भारी महत्त्व इसी बात में है कि वह मनुष्य के प्रत्येक कर्तव्य-कर्म का परीक्षण भावात्मक भित्ति के आधार पर ही करती है। उसके अनुसार हमारे प्रत्येक धार्मिक या नैतिक कर्म का महत्त्व हमारे भावों की पवित्रता पर ही निर्भर है। गीता के अनुसार मनुष्य के लिए भाव-संशुद्धि का अद्वितीय मौलिक महत्त्व है[2]।

उपर्युक्त दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि वैदिक मन्त्रों की एक प्रधान विशेषता पवित्रता की तीव्र भावना है। पाप (या पाप्मन्) का नाशन, दुरित का क्षय, सच्चरित्रता की प्राप्ति, अथवा पवित्र संकल्पों आदि की प्रार्थना के रूप में पवित्रता की तीव्र भावना शतशः वैदिक मन्त्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ (यजु० १६।३६)

अर्थात्, हे सर्वव्यापक देव! आप मुझको पवित्र कीजिए और ऐसा अनुग्रह कीजिए जिससे समस्त देव-जन, मेरे विचार और कर्म तथा सब प्राणी भी मेरी पवित्रता की भावना में मेरे सहायक हो सकें।

...देव सवितः...मां पुनीहि विश्वतः। (यजु० १६।४३)

अर्थात्, हे सवितृ-देव! मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिए।

---

१. देखिए—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥" (कठ उपनिषद् २।१।१)

२. देखिए—"भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते" (गीता १७।१६)

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे । अथो अरिष्टतातये ॥
(अथर्व० ६।१६।२)

अर्थात्, हे पवित्रता-संपादक देव ! मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और निरापद आत्म-रक्षा के लिए पवित्र कीजिए।

इसी प्रकार चरित्र की शुद्धता की भावना अनेकत्र वेदमन्त्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज। (यजु० ४।२८)

अर्थात्, हे प्रकाश-स्वरूप देव ! मुझे दुश्चरित से बचा कर सुचरित में स्थापित कीजिए।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ (यजु० ३०।३)

अर्थात्, हे देव सवितः ! आप हमारे पापाचरण को हम से दूर कीजिए और जो कल्याण हो उसे हमें प्राप्त कराइए।

इसी प्रकार भाव-संशुद्धि या सङ्कल्पों की पवित्रता की प्रार्थना भी अनेकानेक मन्त्रों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ,

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु० ३४।६)

अर्थात्, निपुण सारथि जैसे रास द्वारा घोड़ों को चलने के लिए बराबर प्रेरित करता है और नियन्त्रित भी करता है, वैसे ही मनुष्यों को कार्यों में प्रवृत्त करने वाला और नियन्त्रण में रखने वाला, हृदय में विशेष रूप से प्रतिष्ठित, जरा से रहित और अत्यन्त गति-शील जो मेरा मन है वह शुभ और शान्त संकल्प वाला हो।

इसी प्रकार पाप-मोचन, पाप-नाशन अथवा निष्पाप-भावना की गम्भीर ध्वनि शतशः वैदिक मन्त्रों में प्रतिध्वनित हो रही है। भिन्न-भिन्न देवता या देवताओं को संबोधित करके "स नो मुञ्चत्वंहसः", "तौ नो मुञ्चतमंहसः", "ते नो मुञ्चन्त्वंहसः", (अर्थात्, वह, वे दोनों, अथवा वे हमको पाप से मुक्त करें), इस प्रकार की विनम्र प्रार्थना अथर्ववेद (४।२३-२६) के सूक्तों में तथा अन्य वैदिक मन्त्रों में बराबर पायी जाती है। नीचे हम इसी विषय की एक सुन्दर वैदिक गीतिका को दे कर इस विषय को समाप्त करते हैं।

अप नः शोशुचदघम् ।

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥
सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे । अप नः शोशुचदघम् ॥ २ ॥

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः । अप नः शोशुचदघम् ॥ ३ ॥
प्र यत्ते अग्ने ! सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् । अप नःशोशुचदघम् ॥ ४ ॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः । अप नः शोशुचदघम् ॥ ५ ॥
त्वं हि विश्वतोमुख ! विश्वतः परिभूरसि । अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय । अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये । अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥
(ऋ० १।६७।१-८)

अर्थात्, भगवन् ! हमारे पाप को भस्म कर दीजिए !

१. प्रकाशस्वरूप देव ! हमारे पाप को भस्म कर हमारी सद्गुण-सम्पत्ति को प्रकाशित कीजिए । हम बार-बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप को भस्म कर दीजिए ।

२. उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्रा के लिए सन्मार्ग और विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति की कामना से हम आपकी उपासना करते हैं । आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए ।

३. भगवन् ! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि मैं और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेषतः सुख और कल्याण के भाजन बन सकें ।

४. प्रकाश-स्वरूप देव ! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम आपके गुणों का गान करते हुए जीवन में उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त कर सकें ।

५. भगवन् ! आप विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाले हैं । आपके प्रकाश की किरणें सर्वत्र फैल रही हैं । आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए ।

६. हे समस्त विश्व के द्रष्टः ! आप ही सब ओर से हमारे रक्षक हैं । हमारे पाप को भस्म कर दीजिए ।

७. हे विश्वसाक्षिन् ! जैसे नाव से नदी को पार करते हैं, इसी प्रकार आप हमें विघ्न-बाधाओं और विरोधियों से पार कर विजय प्रदान कीजिए । आप हमारे पाप भस्म कर दीजिए ।

८. उपर्युक्त महिमाशाली भगवन् ! नाव से जैसे नदी को पार किया जाता है इसी प्रकार आप हमें कल्याण-प्राप्ति के लिए वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्रदान कीजिए । हमारे पाप को भस्म कर दीजिए ।

पवित्रता या पाप-विनाशन की भावना का वह प्रवाह वास्तव में वैदिक धारा की एक अद्वितीय विशेषता है ।

पवित्रता की भावना तथा अपने को निष्पाप करने की उत्कट कामना से परिप्लुत ऐसे ही सैकड़ों वेद-मन्त्र वास्तव में वैदिक धारा की शाश्वत निधि हैं । नैतिक

दुर्बलताओं से अभिभूत, मोह-ग्रस्त मनुष्य के लिये वे मार्ग-प्रदर्शक तथा प्राणप्रद सूर्य-प्रकाश के समान हैं।

भद्र-भावनाः वैदिक मन्त्रों की एक दूसरी अनोखी विशेषता उनकी भद्र-भावना है।

मनुष्य स्वभाव से सुख के लोभ और दुःख के भय से किसी काम में प्रवृत्त या उससे निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक कर्तव्य या धर्म की भावना में सुख-दुःख की भावना का कोई स्थान नहीं होता। उसमें तो सुख और दुःख के ध्यान को बिलकुल छोड़ कर (सुख-दुःखे समे कृत्वा) विशुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से ही काम करना होता है। वास्तविक भद्र-भावना या कल्याण-भावना यही है।

यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप, या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन, आपत्तियों के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुँह न मोड़ना, उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अन्तस्तम स्वरूप की आवश्यकता है। जैसे एक पुष्प का सौन्दर्य और सुगन्ध, किसी वहिरंग कारण से न हो कर, उसके स्वरूप का अंग है; ऐसे ही एक कल्याण-मार्ग के पथिक का निरपेक्ष या अनासक्त हो कर कर्तव्य-पालन करना उसके स्वरूप का अंग है; उसके जीवन का सार्थक्य, जीवन की पूर्णाङ्गता इसी में है। गीता की सात्विक भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है।

आशावाद-मूलक गीता की कल्याण-भावना और वैदिक भद्र-भावना, हमारे मत में, दोनों एक ही पदार्थ हैं। दोनों के मूल में आशावाद है और दोनों का लक्ष्य मनुष्य को सतत कर्तव्यशील बनाना है।

मानव को परमोच्च देव-पद पर बिठाने वाली यह भद्र-भावना वैदिक प्रार्थनाओं में प्रायः देखने में आती है। जैसे—

यद् भद्रं तन्नऽ आ सुव (यजु० ३०।३)

अर्थात्, भगवन्! जो भद्र या कल्याण है, उसे हमें प्राप्त कराइए।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि (ऋ० १०।३७।६)

अर्थात्, भद्र या कल्याण-मार्ग पर चलते हुए हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करें।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः (यजु० २५।२१)

अर्थात्, हे यजनीय देवगण हम कानों से भद्र को ही सुनें और आँखों से भद्र को देखें।

भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋ० १०।२०।१)

अर्थात्, भगवन्! प्रेरणा कीजिए कि हमारा मन भद्र-मार्ग का ही अनुसरण करे।

भद्रं-भद्रं न आ भर (ऋ० ८।९३।२८)

अर्थात्, भगवन्! हमें बराबर भद्र की प्राप्ति कराइए।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽ अपरीतासऽ उद्भिदः।
(यजु० २५।१४)

अर्थात्, हमको ऐसे भद्र अथवा कल्याणकारी संकल्प सब प्रकार से प्राप्त हों जो अविचल हों, जिनको साधारण मनुष्य नहीं समझते और जो हमें उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ले जाने वाले हों।

इत्यादि वैदिक प्रार्थनाएँ भद्र-भावना की ही उदाहरण हैं।

आत्म विश्वास की भावना: वैदिक स्तोता के स्वरूप को दिखाते हुए हमने अन्यत्र कहा है, "वह जीवन की वास्तविक परिस्थिति को खूब समझता है; पर उससे घबड़ाता नहीं है। उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वह उसका वीरता-पूर्वक सामना करे। वह संसार में परिस्थितियों का स्वामी, न कि दास, हो कर जीवन व्यतीत करना चाहता है।"

ऋत और सत्य की भावना और आशावाद की भावना का स्वाभाविक परिणाम आत्म-सम्मान या आत्म-विश्वास की भावना के रूप में होता है। इस सारे विश्व-प्रपञ्च का सञ्चालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, और साथ ही मनुष्य के सामने उसकी अनन्त उन्नति का मार्ग निर्बाध खुला हुआ है, ऐसी धारणा मनुष्य में स्वभावतः आत्म-विश्वास की भावना को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती।

यह आत्म-विश्वास की भावना स्पष्टतः अनेकानेक वैदिक मन्त्रों में ही नहीं, सूक्तों में भी पायी जाती है। जैसे—

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥ (अथर्व० १२।१।५४)

अर्थात्, मैं[1] स्वभावतः विजय-शील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओं को दबा कर प्रत्येक दिशा में सफलता को पाने वाला हूँ।

अहमस्मि सपत्नहा इन्द्र इवारिष्टो अक्षतः।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥ (ऋ० १०।१६६।२)

अर्थात्, मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ। इन्द्र के समान मुझे कोई न तो मार सकता है, न पीडित कर सकता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मेरे समस्त शत्रु यहाँ मेरे पैरों-तले पड़े हुए हैं[2]!

---

१. ऐसे सब मन्त्रों में "मैं" से अभिप्राय मानवमात्र का है।

२. तु० "इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहम् अरातीनां वधोऽस्म्यहम्। तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि दधाम्यहम्॥" (रश्मिमाला १।६।१)

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः (ऋ० १०।१२८।१)

अर्थात्, मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जाएँ। अर्थात्, प्रत्येक दिशा में मुझे सफलता प्राप्त हो।

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये (ऋ० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः (अथर्व० ६।५८।३)

अर्थात्, जगत् के समस्त पदार्थों में मैं सबसे अधिक यश वाला हूँ। अर्थात् मनुष्य का स्थान जगत् के समस्त पदार्थों से ऊँचा है[1]।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्। (यजु० ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक काल तक दैन्य से दूर रहें[2]।

मा भेः, मा संविक्थाः (यजु० १।२३)

अर्थात्, तू न तो भीरु बन, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

"यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥"
"यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥"
(अथर्व० २।१५।१,३)

अर्थात्, जैसे द्युलोक और पृथिवी अपने-अपने कर्त्तव्य के पालन में न तो डरते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा न तो भय को प्राप्त होते हैं, न कोई उनको हानि पहुँचा सकता है, इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी भय को न प्राप्त हो।

इसी प्रकार आत्म-विश्वास अथवा आत्म-सम्मान की भावना के परिचायक और परिपोषक शतशः मन्त्र और सूक्त वैदिक संहिताओं में पाये जाते हैं। निःसन्देह वे सब वैदिक धारा की एक महान् विशेषता हैं।

—:o:—

---

१. इसलाम की परम्परा में मनुष्य को 'अशरफ़-उल-मखलूक़ात्' (=सब प्राणियों में श्रेष्ठ) कहा गया है। वही बात इस मन्त्र में कही गयी है।

२. तु० दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवो गतिमात्मनः। आश्चर्यं मूढतादोषाद् दीनं हीनं च मन्यते॥ (रश्मिमाला १६।१)

इरावती

[श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, अध्यापक–काशी हिन्दूविश्वविद्यालय]

इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या ।
व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥

(ऋग्वेद ७।९९।३)

मन्त्र के पूर्वभाग में द्यावापृथिवी का वर्णन है। उसमें चार विशेषण हैं। 'हे द्यावापृथिवी, तुम इरावती हो। तुम धेनुमती या गोमती हो। तुम सुयवसिनी (सुन्दर यवस, या चारण स्थानों से युक्त) हो। तुम मनुष्य के लिये दात्री या आराधयित्री हो।'

मन्त्र का उत्तरार्ध–'हे विष्णु, तुमने इस रोदसी (द्यावापृथिवी) का अलग-अलग स्तम्भन किया है। तुमने पृथिवी को चारों ओर मयूखों से ठहराया है।'

इस मन्त्र का एक स्थूल अर्थ है—पृथिवी और द्युलोक के बीच में सुन्दर चरने के मैदान चारे से भरे हुए हैं। यवस् का अर्थ चारा है। वह जिसमें हो वह सुयवसिन्। उसी का नपुंसक लिङ्ग के द्विवचनमें सुयवसिनी-सूयवसिनी रूप है। वह रोदसी का विशेषण है। उनके बीच में सब प्रकार के अन्न, और जल हैं। इरा का अर्थ अन्न और जल है। और द्यावापृथिवी के अन्तराल में असंख्य गौएँ हैं (धेनुमती)। द्युलोक और पृथिवी के बीच में अगणित स्थूल गौ पशु हैं। उनके लिये अन्न, जल और घास के मैदान चाहिएँ। वह सब कुछ है।

किन्तु इसका सङ्केत किधर है? मन्त्रकृत् ऋषि का लक्ष्य अन्ततोगत्वा किस ओर है? स्थूल प्रतीकों के पट से उसने किन अर्थों का आवरण किया है? गौ किसका प्रतीक है? गौ का अन्न और गोचारण का क्या कोई गुह्य संकेत है? इस जिज्ञासा के लिये सृष्टि-विज्ञान की शरण में जाना आवश्यक है। वेद की भाषा कई धरातलों पर बहुमुखी अर्थ-गति लेकर फैलती है। अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव-जगत् उसका लक्ष्य है। इन में जो घनिष्ट साम्य और सम्बन्ध है, उसकी व्याख्या समान प्रतीकों से सम्भव बन सके, यह वेद की भाषा की विशेषता थी। कहा जा सकता है कि जान-बूझकर इस प्रकार की सक्षम शैली या अर्थवती शब्दावली का विकास किया गया।

मन्त्र का दूसरा चरण अधिक स्पष्ट है। वह अभीष्ट अर्थ को प्रतीक या व्यञ्जना से नहीं, अभिधा से ही व्यक्त करने का उपक्रम है। 'हे विष्णु, तुमने पृथिवी के चारों ओर खूँटियाँ गाड़कर उसे धारण किया है।' ये मयूख या

खूँटियाँ क्या हैं? सूर्यरश्मियाँ ही मयूख हैं। पृथिवी और द्युलोक के मध्य में एक विधृति स्तम्भ है जिसने इस सौरमण्डल या ब्रह्माण्ड को टिका रक्खा है। उसे बाण कहते हैं। यहाँ दो बाण हैं। एक प्रत्यक्ष दृश्य विश्व में है जो पृथिवी से सूर्य तक है। इसे यज्ञोपश अर्थात् यज्ञरूपी ओपश (=शृंग) कहा जाता है। द्यावा-पृथिवी यज्ञ का लोक है। यहीं व्यक्त सृष्टि है। अग्नि में सोमकी आहुति द्वारा यज्ञ का वितान इसी द्यावापृथिवी में सम्भव है। यज्ञ स्वयं ही वह शृंग या बाण है जिससे सौर-जगत् का विधारण किया जाता है। सौर-जगत् में जो शक्ति का अनन्त दुर्धर्ष प्रवाह निरन्तर चला आ रहा है, उसका अक्षय्य भण्डार या स्रोत शक्ति का वह महासमुद्र है जो सौर-मण्डल से बाहर है। सौर-जगत् उसके गर्भ में है। उसे वैदिक सृष्टि विज्ञान की भाषा में परमेष्ठी जगत् या पारमेष्ठ्य शक्ति समुद्र कहते हैं। शक्ति समुद्र आधुनिक विज्ञान की भाषा है। प्राचीन शब्द आपोमय समुद्र है। पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र उस शक्ति का स्रोत है जो अभी व्यक्त सीमा में नहीं आया है। व्यक्त-रूप ही यज्ञ की सीमा है। वह परमेष्ठी लोक सब यज्ञों की जन्मभूमि है। यज्ञ क्या है? द्विविध शक्ति के सम्मिलन से एक अपूर्व पदार्थ का जन्म लेना यज्ञ है। स्थूल द्यावापृथिवी को सूक्ष्म परमेष्ठी से मिलाने वाला जो विधृति स्तम्भ है—और वह नितान्त आवश्यक है—वही दूसरा बाण है। उसे प्राचीन वैदिक भाषा में 'उदुम्बर' कहते थे। जो अम् अर्थात् ऊर्ध्व पारमेष्ठ्य अप्-तत्त्वका संवरण करने वाला है, जिसे वैदिक भाषा में 'अम्भृण' भी कहते थे, वही उदुम्बर हुआ। विष्णु की किरणों को विष्णु से मिलाने वाला यही साधन है। यह कौन सा विष्णु है, जिसकी मयूखों से पृथिवी टिकी है? इसका स्पष्ट उत्तर सूर्य है। सूर्य ही विष्णु है। अव्यक्त परमेष्ठी का या महतो महीयान् शक्ति समुद्रका व्यक्त रूप सूर्य है। सूर्य ने अपनी केन्द्र-शक्ति से पृथिवी आदि उन लोकों का निर्माण किया है जो उसके गर्भ या मण्डल में हैं। वही उन्हें अपने रश्मि-बल से रोके हुए है।

सूर्य क्या है? प्रत्यक्ष सूर्य की संज्ञा तो सूर्य है ही, किन्तु यह दृश्य सूर्य केवल एक प्रतीक है। सूर्य स्वयं शक्ति का तपता हुआ स्फुट केन्द्र है। इसके केन्द्र की धुरी उस दूसरे सूर्य से मिली है जो इससे भी बड़ा है। यों सूर्य के उस पार और इस पार जितने बड़े-छोटे शक्ति-पुञ्ज हैं सब के अक्ष एक ही ऋजु-रेखा से मिले हुए हैं। यह केन्द्रपरम्परा ही सृष्टि की अभिव्यक्ति है। सूर्य का बल जहाँ है वहीं सत्य है। सूर्य सत्यनारायण है। सूर्य के केन्द्र का दृश्य-रूप उसका सत्य है। जितनी सत्ता है सूर्य के केन्द्रबल की कृपा पर निर्भर है। सूर्य स्वस्तिक के साथ मानवी स्वस्तिक की समन्वय ही जीवन है।

सूर्य को द्युलोक भी कहा जाता है। सूर्य द्यौः और पृथिवी पृथिवी है। ये ही शक्ति के दो छोर द्यावापृथिवी हैं। स्थूल नेत्रों को सूर्य ऊपर और पृथिवी नीचे जान पड़ती है। यह ऊपर-नीचे का भाव दिग्देशकृत् नहीं है। केन्द्र की

संज्ञा ऊर्ध्व या ऊपर है। परिधि की संज्ञा अधः या नीचे है। जितना विकास जन्म या निर्माण है वह केन्द्रबल से आरम्भ होता है और बाहर की ओर फैलता है। यही ऊर्ध्व-अधः भाव है। विश्वरूपी अव्यय अश्वत्थ वृक्ष में सर्वत्र यही ऊर्ध्व-अधः स्थिति है। मूल का उद्गम ऊर्ध्व से है और शाखाओं का प्रसार बाहर परिधि की ओर है।

द्यावापृथिवी मिल कर एक इकाई है। द्युलोक पितृतत्त्व और पृथिवी मातृतत्त्व है। जिस बीज को स्थूल या मूर्तरूप में जन्म पाना है उसे मातृकुक्षि या पृथिवी के गर्भ में सड़-गलकर वहाँ से शक्ति प्राप्त करनी ही पड़ेगी। सम्मिलित द्यावापृथिवी की संज्ञा ही रोदसी है। इन्हें रोदसी क्यों कहा गया ? इसका साङ्केतिक उत्तर इस प्रकार है—

'यदरोदीत् (प्रजापतिः) तदनयोः (द्यावापृथिव्योः) रोदस्त्वम् ।'

(तै० ब्रा० २।२।६।४)

अर्थात् प्रजापति ने रुदन किया, यही द्यावापृथिवी का रोदसीपना है। यह क्या बात हुई ? इस सङ्केत से ऋषि क्या बताना चाहते हैं ? इसका अभिप्राय यह है कि द्यावा-पृथिवी के गर्भ में रुद्र-प्राण क्रियाशील हो गया है। रुद्र शब्द की व्याख्या भी यही है—

"यद् अरोदीत् तस्माद् रुद्रः ।" (शतपथ ब्रा० ६।१।३।१०)

एक मुख्य या मध्यप्राण था, जिसने इस शरीर में प्रवेश किया और वह यहाँ धक्-धक् करने लगा। दहकने के कारण वह इन्ध कहलाया। 'इन्ध' ही सङ्केत या परोक्ष भाषा में इन्द्र है। मुख्य प्राण या मध्यप्राण को वैदिक भाषा में नभ्य आत्मा या इन्द्र कहते हैं। इस प्राण का धर्म है 'अशनाया' या बुभुक्षा, अर्थात् बाहर से अन्न लेकर उसे पचाना और अपने स्वरूप में परिवर्तित कर लेना। यह प्रकिया जिस केन्द्र में आरम्भ हो जाती है उस प्राण को रुद्र कहते हैं। भूख ही साङ्केतिक भाषा में रुदन है। बच्चा जब भूखा होता है, तब रुदन करता है। रुदन या भूख का तात्पर्य यह है कि बाहर से अन्न लाकर केन्द्र को दिया जाय। अन्न मिलते ही रुद्र-प्राण शान्त या शिव बन जाता है। यही प्रक्रिया यज्ञ है। अन्न सोम का रूप है। बुभुक्षित रुद्र अग्नि का रूप है—

"यो वै रुद्रः सोऽग्निः ।" (शतपथ ब्रा० ५।२।४।१३)

अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है। रोदसी ब्रह्माण्ड में अग्नि और सोम का पारस्परिक मिलन आवश्यक है। जहाँ जब अग्नि का जागरण होता है अर्थात् सोया हुआ अग्नि जागकर सोम से मिलने के लिये व्याकुल हो उठता है, वहीं रोदसी या द्यावापृथिवी का निर्माण हो जाता है। एक ओर अग्नि रोदसी या द्यावा-पृथिवी का 'द्विजन्मा पुत्र' है, दूसरी ओर वह अपने माता-पिता का उत्पादक भी है। ऐसा मन्त्रों में आया है—

"यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः ।"

(ऋग्वेद १०।५४।३)

अर्थात् अग्नि ने अपने ही शरीर से एक साथ माता और पिता को जन्म दिया। 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' के अनुसार परमाणु से महत् तक सब सृष्ट पदार्थों के माता-पिता द्यावापृथिवी हैं। हर एक केन्द्र को अपने लिये द्यावा-पृथिवी चाहिए। तभी केन्द्र का दिग्देश में विकास होता है।

इस मन्त्र में कहा है–व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णो, अर्थात् विष्णु ने रोदसी को एक दूसरे से पृथक् भाव में विष्टम्भित कर रक्खा है। सौर-जगत् की महती रोदसी का विष्णु सूर्य है। किन्तु प्रत्येक केन्द्र में जो व्यापक प्राणतत्त्व है वही विष्णु है। प्रत्येक विष्णु के दो रूप होते हैं—एक अणु, दूसरा महान्; एक केन्द्र, दूसरी परिधि। केन्द्र को वामन और परिधि को विष्णु कहते हैं। विष्णु को ऋग्वेद में बृहच्छरीर कहा गया है। जो वामन है वही त्रेधा विचक्रमण से विराट्-रूपधारी विष्णु बनता है—'वामनो ह विष्णुरास' (श० ब्रा० १।२।५।५)। त्रेधा विक्रमण विष्णु का महान् पराक्रम है। किन्तु यह विज्ञान की भाषा है जो पहले निष्कल, संख्यातीत स्थिति में 'एकमेवाद्वितीयम्' वाला 'एक' था, वह विराट्-भाव में आने के लिये १०-१००-१००० बन गया। ये ही संख्यात्मक विष्णु के तीन पैर हैं। एक का दस होना विराट्-भाव है। दस अक्षरों का विराट् छन्द होता है—'दशाक्षरा वै विराट्' (शतपथ ब्रा० १।१।१।२२)। एक अविभक्त मध्य-प्राण जबतक अकेला है वह अभिव्यक्त नहीं होता। वह मध्यप्राण या इन्द्र प्राण जब दस इन्द्रियों के रूप में अपनी शक्ति प्रकट कर देता है तब वह दृश्य विराट्-भाव में आ जाता है। इन्द्र अधिपति और उसके इन्द्रिय-रूप प्राण सामन्त कहलाते हैं। इन्द्र से दृष्ट, सृष्ट, जुष्ट होने के कारण ही इन्द्रियों को यह संज्ञा मिली है। इन्द्रियों का विकास ससंज्ञ सृष्टि अर्थात् कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्य सृष्टि की पहचान है। एक निष्कल विष्णु दशात्मा बन कर ही विराट् बनता है। विराट्-भाव ही केन्द्रस्थ विष्णु प्राण का दशात्मक अवतार है। वैदिक सृष्टि विज्ञान के अनुसार प्राण, देव, ऋषि, ग्रह, स्तोम, पृष्ठ, ऋतु, दिशा, स्तोम, साम ये दस भाव हैं जिनके द्वारा कोई भी केन्द्र विराट्-रूप में आता है।

प्रत्येक इन्द्र प्राण या नभ्य आत्मा मनु कहलाता है। प्रत्येक रोदसी और द्यावापृथिवी के केन्द्र में मनुतत्त्व का निवास है। ऊपर जिन सूर्यों की केन्द्र-परम्परा का उल्लेख किया गया है, उनमें से प्रत्येक प्रजापति मनु है। हमारे सूर्य का केन्द्र उसका मनु है। मनु के बिना कोई संस्थान क्रियाशील नहीं होता। मनु-तत्त्व की उद्बुद्ध मात्रा के कारण ही मानव मनुष्य कहलाता है। मन्त्र में रोदसी को 'मनुषे दशस्या' अर्थात् मनुतत्त्व के लिये कल्याणकारी कहा गया है।

मनुतत्त्व के संवर्धन के लिये द्यावापृथिवी का पात्र या आवपन या छन्द अत्यन्त आवश्यक है। मनु भी प्राण या अग्नि या इन्द्र है। जो नभ्य या केन्द्रस्थ अनिरुक्त प्रजापति है वही विराट्-रूप में मनु है।

मन्त्र में द्यावापृथिवी को इरावती, धेनुमती और सूयवसिनी—ये तीन विशेषण और दिये गये गए हैं। इनके स्थूल अर्थ तो स्पष्ट ही हैं। किन्तु उतने से मन्त्र के शेष अर्थों के साथ संगति नहीं बैठती। अतएव रोदसी ब्रह्माण्ड की क्रियाशील शक्ति का विचार आवश्यक है। द्यावापृथिवी के अन्तराल में शक्ति का जो रूप आता है उसे गौ-तत्त्व कहते हैं। गतितत्त्व ही गौ है। स्पन्दन, जागरण, समञ्चन—प्रसारण-रूप प्राणन क्रिया की अनन्त व्यञ्जना गौ के रूपक द्वारा प्रकट की जाती है। केन्द्र की अभिव्यक्ति विराट् गौ की सत्ता है। जहाँ तक जिस द्यावापृथिवी का विस्तार है वहीं तक उसमें विराज् गौ या धेनु की सत्ता है। सूर्य को केन्द्रस्थ प्रजापति कहा जाय तो उसकी रश्मियाँ अर्क हैं। उक्थ या प्रतिष्ठा विन्दु से शक्ति की जो तरंगें उठती हैं उन्हें अर्क या रश्मियाँ कहते हैं। ये ही रश्मियाँ गौएँ हैं, गतितत्त्व के स्फुट-रूप हैं, जिन्हें 'भूरिशृङ्गा अयासः गावः' कहा जाता है। गौओं के विना कोई भी द्यावापृथिवी सक्रिय नहीं बनती। गौ-तत्त्व या गति का जन्म परमेष्ठी में अर्थात् सौर-जगत् से ऊपर ही हो जाता है।

परमेष्ठीलोक ही समस्त गतितत्त्व का व्रज या गोष्ठ है। वही विष्णु का गो-सव लोक है। वहाँ से गौएँ सौर-जगत् में स्फुट तरंगायित रश्मियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं। जो सौर-जगत् का यज्ञरूपी शृङ्ग है वही गौओं के अनेक सींग हैं। प्राणशक्ति का जो भाग अपने ही केन्द्र या नभ्य आत्मा को पुष्ट करता है उसे ब्रह्मौदन कहते हैं। उस ओदन का भक्षण ब्रह्म के ही लिये सुरक्षित है। किन्तु उसका जो भाग केन्द्र के बाहर फैल जाता है वह प्रवर्ग्य कहलाता है। जो भाग केन्द्र से अलग हो जाता है या प्रवृक्त हो जाता है, वही प्रवर्ग्य कहलाता है। प्रवर्ग्य से ही सृष्टि होती है। ब्रह्मौदन से कोई रचना नहीं होती। हाँ, ब्रह्मौदन के धरातल पर उसी की शक्ति प्रवर्ग्यांश में अवतीर्ण होती है। प्रत्येक प्रवर्ग्य अपने आगे की सृष्टि के लिये ब्रह्मौदन बन जाता है। परमेष्ठी का प्रवर्ग्य सूर्य पृथिवी के लिये ब्रह्मौदन है। सूर्य की जो रश्मियाँ ब्रह्माण्ड में फैल जाती हैं वे उसका प्रवर्ग्य भाग हैं। उन प्रवृक्त रश्मियों से ही सौर-जगत् की रचना होती है।

सौर-जगत् की रचना के लिये धेनुतत्त्व या गौतत्त्व की अनिवार्य आवश्यकता है। गौ की संज्ञा विराज् है। इस विराज् धेनु के पीने के लिये पानी और खाने के लिये चारा चाहिए। ये लौकिक कल्पनाएँ हैं। इनसे साङ्गरूपक चित्र बनता है। पर वास्तविक बात क्या कही गई है?

रोदसी ब्रह्माण्ड में स्थूल भौतिक सृष्टि का क्रम चल रहा है। यहाँ सर्वत्र त्रिकमयी रचना है। अव्यय पुरुष—अक्षर पुरुष—क्षर पुरुष, इन तीनों की समष्टि रोदसी है। इन्हें ही सरल शब्दों में मन-प्राण-वाक् कहते हैं। अव्यय का रूप मन

है, अक्षर का प्राण है, क्षर का वाक् है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच भूतों का सम्मिलित नाम वाक् है। इसका कारण यह है कि जब सूक्ष्म-शक्ति स्थूलभूत भूरूप में परिणमित होने लगती है तब सबसे पहला भूत आकाश अस्तित्व में आता है। आकाश का गुण शब्द है। अतएव शब्द या वाक् को पञ्चभूतों का प्रतीक मान लिया गया है।

इस द्यावापृथिवी के गर्भ में जितने पदार्थ हैं सब मन—प्राण—वाक् की समष्टि हैं। विना इन तीनों के कोई पदार्थ अमूर्त-भाव से मूर्तरूप में आ ही नहीं सकता। इन तीनों को ही शिव की आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ कहा जाता है। पहली मूर्ति मन है। दूसरी मूर्ति प्राण और अपान है। तीसरी मूर्ति पञ्चभूत है। ये ही शिव के आठ रूप या शरीर अणु से ब्रह्माण्ड-पर्यन्त दृष्टिगोचर हो रहे हैं। पुराणों में जो अष्टमूर्ति शिव का वर्णन आता है वह यही तत्त्व है। इन्हीं आठ मूर्तियों का उल्लेख कालिदास ने शाकुन्तल के पहले श्लोक में किया है। वहाँ चन्द्र-सूर्य शीत-उष्ण या प्राणापान के प्रतीक हैं। होत्री या यजमान की संज्ञा मन है। मन ही वह प्रथम केन्द्र है जिसकी सत्ता से वस्तु का विकास सम्भव बनता है। जिस केन्द्र में मन नहीं, वहाँ विराट्-रूप यज्ञ का आरम्भ नहीं होता।

जिसे गौतत्त्व या धेनु कहा है वह प्राण का रूप है। सुयवस या चार क्षर-पुरुष या पञ्चभूतों का प्रतीक है। प्राणरूप धेनु के लिये क्षरात्म पञ्चभूतों की सत्ता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" यह परिभाषा सुविदित है। क्षर या भूत को खाकर ही गोतत्त्व का संवर्धन होता है। वृक्ष वनस्पति के केन्द्र में जो स्पन्दनात्मक प्राण धक्-धक् जल रहा है वह निरन्तर स्थूल भूतों की आहुति चाहता है। भूतभाग उस केन्द्र में पड़ कर उसी के रूप का बन जाता है। शक्ति जिस भूत को अपने गर्भ में ले लेती है फिर उसे अपने रूप में परिवर्तित कर लेती है। यह विलक्षण नियम ही यज्ञ है। अग्नि में भूत का विपरिणाम यज्ञ है। यज्ञ ही विराज् का स्वरूप है।

प्राण और भूत या अक्षर और क्षर के अतिरिक्त तीसरी वस्तु अव्यय या मनस्तत्त्व है। गोतत्त्व के लिये वह भी आवश्यक है। मन और प्राण अमृत है और क्षर या वाक्-भाग मर्त्य कहलाता है। अमृत और मर्त्य, शक्ति और भूत इन्हीं का पारस्परिक सम्मिलन और तारतम्य प्रत्येक केन्द्र में दृष्टिगोचर हो रहा है। यहाँ मनस्तत्त्व का प्रतीक क्या है? 'इरावती' विशेषण साभिप्राय है। द्यावा-पृथिवी इरावती कैसे हैं? उनके जीवन के लिये इरातत्त्व कैसे आवश्यक है? द्यावापृथिवी 'अग्नि' के माता-पिता हैं अथवा जाग्रत् अग्नि या प्राण अपने विकास के लिये रोदसी का निर्माण करता है। अग्नि कभी अकेला नहीं रहता। उसे सदा सोम चाहिए। रोदसी ब्रह्माण्ड में जो रुद्रतत्त्व या अशनाया धर्म है, उसकी तृप्ति सोम से ही होती है। रुद्र अग्नि है। सोम ही अग्नि का सतत सखा है। वैदिक शब्दों की अर्थगति दूरवर्तिनी होती है। पुरुष-स्त्री में भी यह अग्नि-सोम का

भाव है। पुरुष अग्नि, स्त्री सोम का रूप है। सारा जगत् ही अग्निषोमात्मक है। प्रत्येक पशु या स्थूलभूत प्राण अग्निषोमीय कहा जाता है। सोम जलीय तत्त्व है। कहा है कि जो शुष्क है वह आग्नेय है, जो आर्द्र है वह सौम्य है। वैसे तो जिसे सुयवस कहा है वह अन्न या स्थूल भक्ष्य भी सोम का रूप है। किन्तु सोम से यहाँ उस सूक्ष्म जलीय तत्त्व से तात्पर्य है जिसके अंश से सृष्टि में मनस्तत्त्व एवं चन्द्रमा का जन्म होता है। चन्द्रमा और मन ये दो अभिन्न हैं। सृष्टि-यज्ञ में सोम दो प्रकार का है, एक अति स्वच्छ भास्वर-सोम और दूसरा भूतमिश्रित दिक्सोम। भास्वर-सोम से मन बनता है और दिक्सोम से श्रोत्रेन्द्रिय या आकाश बनता है जो पंचभूतों में प्रथम है। इरा-तत्त्व जल-तत्त्व है।

रोदसी ब्रह्माण्ड में इरातत्त्व या सोम की निरन्तर आहुति न पड़ती रहे तो वह अग्नि के ज्वलन से भस्म हो जाय। अग्नि जब अकेला रहता है उसका स्वरूप कृष्ण है। वही सोम से मिलकर भास्वर होता है। अग्नि के लिये काष्ठ या समिधा सोम है। सोम का भक्षण अग्नि का सनातन स्वभाव है। अग्नि अन्नाद है। सोम अन्न है। अग्नि और सोम का द्वन्द्व सर्वत्र है। प्रत्येक शक्ति का धनभाग अग्नि और ऋणभाग सोम है।

रोदसी-जगत् या द्यावापृथिवी में इरा या सोम की निरन्तर आहुति उसके जीवन की सब से बड़ी विशेषता है। प्रश्न यह है कि सोम की धारा उसे कहाँ से प्राप्त होती है? सौर-जगत् अपने लिये दुर्धर्ष-शक्ति अपने बाहर से प्राप्त करता है। शक्ति की क्षति पूर्ति का यही नियम सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। सूर्य-रूपी प्रजापति अपनी रश्मियों का विकिरण करके रिरिचान या रिक्त बन जाता है। वह अपने लिये पुनः शक्ति उस परमेष्ठी-मण्डल से प्राप्त करता है जिस शक्तिमय महासमुद्र के गर्भ में वह अवस्थित है। यदि सूर्य को नारायण कहा जाय, तो वह परमेष्ठी अनन्त शेष है, जिसकी अनन्तता व्यक्त करने के लिये उसे 'सहस्रशीर्षा' कहा जाता है। परमेष्ठी आपोमय है। वह सोम का ही लोक है। वहीं से इरा या सोम की धारा सौर-मण्डल को मिल रही है। यही यज्ञ सूर्यनारायण का मूर्तरूप है। सौर-शक्ति से जगत् की रचना ही वह महान् वैष्णव-यज्ञ है जो द्यावापृथिवीरूप वेदी पर निरन्तर हो रहा है। यहाँ तृणस्तम्ब से ब्रह्मपर्यन्त ऐसा कुछ नहीं है जो इस यज्ञ से बहिर्भूत हो। द्यावापृथिवी ही लोक हैं। द्यावा-पृथिवी के अन्तराल में सन्धान करने वाला अन्तरिक्ष है। इन तीनों लोकों की समष्टि ही वह उखा है जिसमें सौरजगत् की अग्नि का चयन हो रहा है, अथवा यही वह घट है जिसमें सोम का सञ्चय हो रहा है।

—:o:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्

(वर्णव्यवस्था-विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन-पक्षका तारतम्य)

[पण्डित श्रीदीनानाथशास्त्री सारस्वत, प्रिंसिपल-संस्कृत महाविद्यालय, देहली]

म० म० पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड पूर्ण सनातनधर्मी थे। हम चाहते हैं कि उनके स्मारक-ग्रन्थ में वैदिक-विषय पर शास्त्रीय चर्चा रहे, जिससे परलोकगत पण्डितजी की आत्मा तृप्त हो। तदनुसार हम 'वर्णव्यवस्था' विषय पर शास्त्रीय विचार उपस्थित करते हैं।

(१)

आज-कल यह प्रश्न बहुत चालू है कि ब्राह्मणादि वर्ण गुण-कर्म से हैं, वा जन्म से ? इसका उत्तर अर्वाचीन-पक्ष यह देता है कि ब्राह्मणादि वर्ण गुणकर्म से हैं। प्राचीन पक्ष यह कहता है कि ब्राह्मणादि वर्ण जन्म से हैं और उनका सम्मान अपने-अपने गुणकर्म से होता है। यह दोनों ही पक्ष इस विषय में यह मन्त्र देते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽ अजायत ॥
(शु० यजु० ३१।११, ऋ० सं० १०।९०।१२, अथर्व० १९।६।४)

(१) आज का पक्ष इस मन्त्र का यह अर्थ करता है कि ब्राह्मण उस पुरुष-समाज का मुख के समान था और क्षत्रिय बाहू के समान था। वैश्य उसका ऊरुस्थानीय था और शूद्र उसका पाँव था। इससे वर्णव्यवस्था गुणकर्मकृत है कि मुखवाले गुणकर्म जिसमें हों, वह ब्राह्मण है। जिसमें बाहू, ऊरु और पाँव वाले बल, घूमना, मूर्खता आदि गुणकर्म हों, वे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं।

(ख) प्राचीन पक्ष उक्त मन्त्र का यह अर्थ करता है कि ब्राह्मण उस पुरुष (परमात्मा) के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय उसके बाहु से उत्पन्न हुआ, वैश्य उसके ऊरु से पैदा हुआ और शूद्र उसके पाँव से पैदा हुआ। यहाँ ब्राह्मणादि वर्ण उन-उन अङ्गों से उत्पन्न हुए माने गये हैं, अतः वर्णव्यवस्था भी उत्पत्ति से—जन्म से हुआ करती है।

(२) इस पर अर्वाचीन मत कहता है कि इस मन्त्र से पूर्व मन्त्र यह है—

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादाऽ उच्येते ॥ (शु०यजु० ३१।१०)

इस मन्त्र में प्रश्न है कि उस पुरुष अर्थात् समाज का मुख क्या था ? बाहु क्या थे ? ऊरु—पाँव क्या थे ? इसमें यह नहीं पूछा गया कि परमात्मा के मुख से क्या उत्पन्न हुआ ? परमात्मा के पाँव से क्या पैदा हुआ ? जब पैदा होने की

बात नहीं, तब वर्णव्यवस्था उत्पत्ति (जन्म) से कैसे हो सकती है ? तब 'मुख क्या था ?' का उत्तर हुआ कि ब्राह्मण मुख था, अर्थात् मुख के समान अच्छे गुणकर्मों वाला था। "कौ पादौ उच्येते" पाँव क्या था—का उत्तर हुआ कि शूद्र पाँव था, पाँव के गुणकर्मों वाला था। यहाँ पञ्चमी विभक्ति के अर्थ की कोई गुंजायश नहीं। तब वर्णव्यवस्था भी गुण-कर्म से हुई।

(ख) इस पर प्राचीन पक्ष कहता है कि यदि 'मुखं किम् अस्य आसीत्' तथा 'पादौ कौ' का यही अर्थ है कि मुख क्या था और पाँव कौन ? तब 'पादौ कौ' का 'पद्भ्यां शूद्रोऽ अजायत' यह पञ्चमी विभक्ति से उत्तर कैसे दिया गया ? अन्तिम पाद में पञ्चमी-विभक्ति देने से सिद्ध हुआ कि सब स्थानों में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ करना चाहिये। जब ऐसा है, तो वर्णव्यवस्था भी जन्मना हुई।

(३) इस पर अर्वाचीन-पक्ष कहता है कि एक पाद भला इस मन्त्र के तीन पादों को तथा प्रश्नमन्त्र के दो पादों को कैसे खींच लेगा ? बल्कि वह स्वयं ही तीन उत्तर पादों और दो प्रश्नमन्त्रों के पादों से खिंचता हुआ चला आवेगा। अतः यहाँ प्रथमा का अर्थ ही रहेगा, पञ्चमी का नहीं।

(ख) प्राचीन पक्ष प्रत्युत्तर देता है कि चतुर्थ पाद मन्त्र का अन्तिम चरण है। तब भला उसे पञ्चमी का स्वप्न कैसे आ सकता था ? अन्तिम वक्तव्य वा उपसंहार ही निर्णायक हुआ करता है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि यहाँ सर्वत्र पञ्चमी का अर्थ होगा। पञ्चमी अर्थ सिद्ध हुआ तो वर्णव्यवस्था भी जन्मसे ही सिद्ध हुई।

न केवल यही अन्तिम पाद ही पञ्चमी-अर्थ का साक्षी है, बल्कि इससे अग्रिम सम्पूर्ण दो मन्त्रों की साक्षी भी देखिये—

चन्द्रमा मनसो जातः, चक्षोः सूर्योऽ अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखाद् अग्निरजायत॥
नाभ्याऽ आसीद् अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान् अकल्पयन्॥ (यजु०३१।१२-१३)

पूर्व पक्ष के साधक तो पाँच पाद थे, पर उत्तर पक्ष के साधक नौ पाद हैं। तब नौ पादों से पाँच पाद स्वयं खिंच आवेंगे। सबसे बड़ी बात यह है कि यह सूक्त सृष्टिसूक्त है। सृष्टि-सूक्त में सृष्टि के मन्त्र में पञ्चमी विभक्ति का होना स्वाभाविक है।

(ग) ऋग्वेद सबसे पहला वेद माना जाता है। इसमें पुरुषसूक्त के जो मन्त्र हैं और जो क्रम हैं, पहले उसकी साक्षी देखनी होगी। 'ऋग्वेदसंहिता' में सप्तम मन्त्र है—'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।' (१०।९०।७) यहाँ पुरुष को यज्ञ बताया गया है, तो यज्ञपुरुष, यजनीय-पुरुष 'यज्ञो वै विष्णुः' विष्णु-

भगवान् ही है; अतः यहाँ पुरुषसमाज अर्थ नहीं हो सकता। फिर अष्टम मन्त्र है—'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः' इसमें सबसे आहूयमान यज्ञ-पुरुष वही विष्णु भगवान् इष्ट है, फिर नवम मन्त्र यह है—

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।' (ऋ० १०।९०।९)

यहाँ भी उसी यज्ञपुरुष विष्णु से वेदों की उत्पत्ति बताई गई है, और पञ्चमी विभक्ति दी गई है। यदि पुरुषसमाज अर्थ किया जावेगा, तो वेद भी पुरुषकर्तृक पौरुषेय हो जायँगे; परन्तु आदि में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० १० ९०।१) कहा गया है, सो ऐसा पुरुष परमात्मा ही है। आगे दशम मन्त्र यह है—

तस्माद् अश्वाऽ अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाताऽ अजावयः॥

इसमें उसी यज्ञपुरुष से अश्व आदि पशुओं की उत्पत्ति बताई गई है, और इसमें भी पञ्चमी-विभक्ति ही दी गई है।

इसके बाद ग्यारहवाँ मन्त्र यह है, जो कि प्रकृत है—'यत्पुरुषं व्यदधुः...... मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरू, पादाऽ उच्येते' यहाँ उसी यज्ञपुरुष विष्णु भगवान् के मुख आदि का कार्य पूछा गया है; अतः यहाँ प्रथमा दीख रही है। भाव इसका भी पञ्चमी-विभक्ति का ही निकलता है—'मुखात् किमस्य उत्पादनम् आसीत्, किं बाहुभ्याम्, ऊरुपादाभ्यां किमुत्पन्नमुच्यते'।

फिर बारहवां मन्त्र इसका उत्तर है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' अब अर्थ यह हुआ कि 'ब्राह्मणः अस्य मुखाद् आसीत्। बाहुभ्यां राजन्यः कृतः। ऊरुभ्यां यद् अस्य, तद् वैश्यः। पद्भ्यां शूद्रः अजायत'। अब यहाँ पञ्चमी का ही अर्थ वेद को इष्ट हुआ, क्योंकि इन ११-१२ मन्त्रों में ऋ० सं० के पञ्चमी वाले 'तस्माद् यज्ञात्......जज्ञिरे, तस्माद् अश्वाऽ अजायन्त' इन पूर्व के दो ९-१० वेदोत्पत्ति तथा पशूत्पत्ति प्रतिपादक मन्त्रों का दबाव पड़ रहा है; उधर से 'चन्द्रमा मनसो जातः, नाभ्याऽ आसीत्' यह १३-१४ देवोत्पत्ति-प्रतिपादक अगले दो मन्त्र पञ्चमी अर्थ का दबाव डाल रहे हैं। इधर अपने १२ वें मन्त्र के उपसंहारभाग 'पद्भ्यां शूद्रोऽ अजायत' की पञ्चमी भी दबाव डाल रही है, तब बीच के सभी मन्त्र (११ वें के अन्तिम दो पाद 'मुखं किमस्यासीत्' तथा १२ वें के तीन पाद 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' आदि) की प्रथमा भी दब कर पञ्चम्यर्थक ही हो जाएगी।

(४) इस पर अर्वाचीन-पक्ष का आक्षेप होता है कि 'मुखं किमस्य' का 'मुखात् किमस्य', 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' का 'ब्राह्मणोऽस्य मुखाद् आसीत्' इस अर्थ करने में प्रमाण क्या है ? और पञ्चमी ही अर्थ यदि वेद को इष्ट था, तो 'मुखं किम्, ब्राह्मणो मुखमासीत्' यह यहाँ प्रथमा-विभक्ति वेद ने कैसे दी ? और फिर परमात्मा 'अकाय' होता है, उसके अङ्ग जब मुख आदि होते नहीं, तब ब्राह्मणादि की मुखादि से उत्पत्ति कैसे ? अतः यहाँ पुरुषसमाज के मुख आदि के गुणों की ब्राह्मणादि से तुलना है।

(ख) इस पर प्राचीन-पक्ष कहता है कि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि यहाँ यज्ञ (विष्णु) का वर्णन है। विष्णु यजनीय होने से यज्ञ है। उस यज्ञ का पुरुष बताया गया है (ऋ० १०।९०।७)। उस पुरुष को ऋग्वेद में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्रपात्' (१०।९०।१) और अथर्ववेद में 'सहस्रबाहुः पुरुषः' (१९।६।१) कहा है, अतः यहाँ यजनीय परमात्मा तथा उसके दिव्य अङ्गों का ही अर्थ है, पुरुष-समाज का नहीं। पुरुषसमाज यजनीय नहीं कहा जाता। नहीं तो उस पुरुष से नवम मन्त्र में कही हुई वेदोत्पत्ति तथा दशम मन्त्र में कही हुई पशुओं की उत्पत्ति पुरुषसमाज से माननी पड़ेगी; पर यह अनिष्ट है, और अथर्ववेद में भी 'पुरुषऽ एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (१९।६।४)।

यहाँ भी पुरुष से वही परमात्मा विवक्षित है; उसी पुरुष के फिर इसी मन्त्र के आगे के 'यत्पुरुषं व्यदधुः, मुखं किमस्य, किं बाहू' (अ० १९।६।५) यह उत्पादक अङ्ग तथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्' (अ० १९।६।६) उन अङ्गों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति बताई गई है। इस प्रकार आदिम तथा अन्तिम वेद के मन्त्रों से भी हमारे ही पक्ष की सिद्धि हुई।

(ग) इसके अतिरिक्त वेद के अर्थ करने में वेद के छः अङ्ग सहायक हुआ करते हैं, उनमें भी वेद का मुखस्थानीय प्रधान-अङ्ग व्याकरण विशेष सहायक होता है। अब वेदाङ्ग व्याकरण की साक्षी भी देखिये—'सुपां च सुपो भवन्ति' (७।१।१।३९) इस महाभाष्यस्थित वार्तिक से 'मुखम्' में 'मुखात्' यह पञ्चमी के स्थान प्रथमा है। तब अर्थ पञ्चमी का ही फलित हुआ, इस प्रकार प्रश्नमन्त्रमें भी 'मुखं किमस्यासीत्' यहाँ भी यही अर्थ है—'अस्य परमात्मनो मुखं-मुखात् किमासीत्-किमुत्पन्नम् ?'। 'आसीत्' का 'उत्पन्नम्' अर्थ करने में साक्षी 'नाभ्याऽ आसीदन्तरिक्षम्' (यजु० ३१।१३) इस मन्त्र की है।

हाँ, यदि वेद स्वयं 'पद्भ्यां शूद्रोऽ अजायत' में तथा 'चन्द्रमा मनसो जातः' आदि में पञ्चमी न लगाता, तो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' का पञ्चमी अर्थ किसी को प्रतिभात भी न होता, पर अब तो उस अन्तिम पाद ने चुगली करके तथा इस के आगे के पञ्चम्यन्त मन्त्रों ने सिद्ध कर दिया कि यहाँ सर्वत्र उत्पत्ति अर्थ तथा पञ्चमी अर्थ है।

(घ) जब ऋग्वेद में पहले वेदों की उत्पत्ति बताई गई (ऋ० १०।६०।६), फिर पशुओं की उत्पत्ति बताई गई (ऋ० १०।६०।१०), फिर देवताओं की उत्पत्ति बताई गई (ऋ०१०।६०।१३-१४) तथा शेष मनुष्य-सृष्टि में प्रसिद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों की उत्पत्ति क्यों न बताई जाती ? वह बताई गई है मध्य के मन्त्र ऋ.१०।६०।१२ में। अन्यत्र वेद, पशु तथा देवताओं की सृष्टि उत्पत्ति में जब कि पञ्चमी विभक्ति बरती गई है; तब उनके साथवाले वर्णव्यवस्थापक मन्त्र में भी वर्णों की उत्पत्ति में पञ्चमी ही प्रयुक्त हो, यह वेद की शैली के अनुरूप है, स्वाभाविक है तथा प्राकरणिक है; जिसकी साक्षी 'पद्भ्यां शूद्रोऽ अजायत' इस चतुर्थ पाद ने दे दी है।

(ङ) शेष प्रश्न है कि इन प्रश्नोत्तर-मन्त्रों में मुखम् , बाहू, ऊरू में पञ्चमी क्यों नहीं आई, प्रथमा क्यों आई है ? इस पर उत्तर यह है कि पञ्चम्यर्थक उत्पत्ति को प्रथमा-विभक्ति से कहे जाने का प्रकार भी होता है। इसमें एक प्रसिद्ध उदाहरण भी प्रतिपक्षी देख ले—'आयुर्घृताद् जायते।' यह पञ्चमी में कहना हो कि घीसे आयु पैदा हुआ करती है; तो 'आयुर्घृतम्' यह प्रथमा से भी कहा जाता है कि घी आयु है। इसका कारण यह है कि कार्य-कारण का अभेद भी माना जाता है। घृत कारण है, आयु कार्य है; तथापि यहाँ प्रथमा भी पञ्चमी के ही अर्थ को बतलाने वाली हो जाती है।

इसी प्रकार 'ब्राह्मणोऽस्य मुखाद् आसीत्' के स्थानमें कार्य-कारण के अभेदवश 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' भी कहा जाता है। अर्थ वही पञ्चमी का निकलता है। इसमें अन्य भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस पञ्चमी अर्थ में 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत...ब्राह्मणो मनुष्याणाम्' (७।१।१।४) इस कृष्णयजुर्वेद (तै० सं०) की एवं 'ब्राह्मणो मनुष्याणाम् मुखतो हि सृष्टः' (६।१६) इस ताण्ड्यमहाब्राह्मण की भी साक्षी है। इसलिए चतुर्वेदभाष्यकार श्रीसायणाचार्यने अपने ऋग्वेदसंहिता तथा तैत्तिरीयारण्यक के भाष्यमें स्वयं 'मुखं किमस्यासीत् , ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस प्रश्नोत्तर-मन्त्र के लिए लिखा है—'इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत् [पञ्चमी] परत्वेनैव योजनीये, अब इसमें 'ननु-नच, किन्तु-परन्तु' की बात नहीं रही।

(५) इस पर फिर प्रतिपक्ष-अर्वाचीनपक्ष कहता है कि वेदने 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' और 'पद्भ्यां शूद्रोऽ अजायत' इनमें भिन्न-भिन्न विभक्ति रख कर झगड़ा डाल दिया या डलवा दिया। सो यदि आप पञ्चमी अर्थ करके उत्पत्ति अर्थ करते हैं; और इससे वर्णव्यवस्था जन्म से सिद्ध करते हैं, तब व्यत्यय से पञ्चमी को प्रथमा करके गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था ही हम सिद्धान्तित करेंगे।

(ख) इस पर प्राचीनपक्ष कहता है कि वेदने एक ही मन्त्र में प्रथमा तथा पञ्चमी भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ रखकर सिद्ध कर दिया कि पहले अन्तिम पाद के अनुरोध से सर्वत्र पञ्चमी-विभक्ति का अर्थ कर दीजिये। फिर पहले पादों की प्रथमाके अनुरोध से सर्वत्र प्रथमा-विभक्ति का भी अर्थ कर दीजिये। अब झगड़ा मिट गया; पर प्रथमा-विभक्ति अर्थ करने पर भी 'आयुर्घृतम्' की भाँति पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में ही पर्यवसान हो जाता है। अथवा हम वादियों के अनुसार ही शुद्ध प्रथमा-विभक्ति का भी अर्थ मान लें कि इस मन्त्रमें एक व्यक्ति के शरीर के अङ्गों के साथ ब्राह्मणादि—वर्णों की तुलना है; तब भी इससे वर्ण-व्यवस्था जन्म से ही सिद्ध होती है, गुणकर्म से नहीं; क्योंकि उस जात-ब्राह्मण को स्वनियत कर्मों का निषेध तो है नहीं; पहले वह भी मुखकी भाँति उत्पन्न होगा, फिर अपने नियत कर्मों को करेगा। इससे जन्मना वर्णव्यवस्था में कोई क्षति नहीं पड़ती। उत्पत्ति तो उसका स्वरूप वा लक्षण होगा; और गुण-कर्म उसके उत्कर्षाधायक होंगे। फिर यदि जातिपक्षी 'ब्राह्मणोऽस्य' के यथाश्रुत प्रथमा के अर्थ से जन्मना वर्णव्यवस्थाकी सिद्धि में सन्देह करें कि यह कैसे; तब वे निम्न पंक्तियाँ पढ़ने का कष्ट करें—

(ग) मान भी लिया जाय कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्र में प्रथमा विभक्ति का अर्थ है, और एक व्यक्ति के शरीर के अङ्गों के साथ ब्राह्मणादि वर्णों की तुलना है, इसपर यह जानना चाहिये कि मुख, बाहु, ऊरु, पाद अङ्ग जन्म से ही उत्पन्न होते हैं, गुण-कर्म से नहीं। यह धीरे-धीरे पुष्ट होते हैं; तभी इनमें वे गुण अभिव्यक्त होते हैं, और अपने कर्म उनसे किये जाते हैं, और जन्ममूलक ही उन अङ्गों का वह नाम हुआ करता है, गुण-कर्म से यह नाम-करण नहीं। जन्म से शुरू करके भस्म होने तक उनका यही नाम हुआ करता है, चाहे मुख, मुखवाला कर्म करे वा न करे।

जैसे मुख बाल्यावस्था में जन्म के समय निरक्षर शब्द करता है, फिर भी उसे मुख ही कहा जाता है। तब मुखस्थित आँखों में अक्षर आदि पहचानने की शक्ति नहीं होती, जो उसका कर्म है। फिर भी उसका नाम 'चक्षुः' हुआ करता है। इस प्रकार वृद्धावस्था में और युवावस्था में भी रोगविशेष होने पर मुखादि अङ्ग मुखादि वाला कर्म न करते हुए भी मुखादि ही कहे जाते हैं, पादादि नहीं। मुख में वा उसके मस्तिष्क-भाग में मूर्खता होने पर भी उसे 'पाद' नहीं कहा जाता वा मुख को वहाँ से काट कर पाद की जगह और पाद को वहाँ से काट कर मुख के स्थान में नहीं रखा जाता। वैसा करने पर पुरुष की मृत्यु हो जायगी।

बाल्यावस्था में बाहु में रक्षण की शक्ति नहीं होती, वार्धक्य में भी। यौवन में भी बाहु में दुर्बलतावश रक्षणशक्ति न होने पर भी उसका नाम 'बाहु' ही होता है। इसी प्रकार ऊरु, कमर तथा पाँव भी बाल्य तथा वार्धक्य में अपनी शक्ति को धारण नहीं करते, दुर्बलतावश यौवन में भी।

फिर भी इन्हें यथापूर्व ऊरु और पाद ही कहा जाता है। इस प्रकार निरक्षर भी ब्राह्मण बालक और वृद्ध के अथवा दुर्बलशक्ति वाले युवा के मुख की तरह ब्राह्मण ही रहता है। जैसे नेत्र आदि से युक्त मुख के शिथिल होने पर भी उसके स्थान में सबल भी बाहु, ऊरु या पाद को नहीं रखा जाता; वैसे ही ब्राह्मण निरक्षरता में भी ब्राह्मण ही रहता है। उसके स्थान को साक्षर भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं ले सकते। उस ब्राह्मण का पुत्र वा बन्धु ही वहाँ रखा जा सकता है। इसी तरह क्षत्रिय निर्बल होने पर भी क्षत्रिय ही माना जाता है। इस प्रकार ऊरु वा पाँव की निर्बलता में जान लेना चाहिये।

(६) इस पर अर्वाचीन-पक्ष कहता है कि उक्त मन्त्र में पञ्चमी-विभक्ति मान भी ली जाय कि परमात्मा के मुख से जो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुआ है, वही ब्राह्मण-जाति है; पर उस ब्राह्मण के लड़के तो मुखोत्पन्न होते नहीं। तब वे ब्राह्मण-जाति कैसे माने जा सकते हैं ? ।

(ख) इस पर प्राचीन-पक्ष का उत्तर यह है कि वेदाङ्ग व्याकरण में लिखा है—'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' (महा० ४।१।६३) एक बार कहने से कि यह मुखोत्पत्ति से ब्राह्मण है, उसके अपत्य सहोदरादि में भी वही ग्राह्य हो; वह भी जाति होती है। तब उसके मुखसे उत्पन्न होने से वेदानुसार ब्राह्मण कहे जाते थे, उसके आगे की पीढियों में होनेवाले पुत्र-पौत्र आदि सभी ब्राह्मण-जाति माने जाते हैं। अतः वर्ण-व्यवस्था वा जाति-व्यवस्था जन्ममूलक ही है।

(७) इनमें अर्वाचीन-पक्षका यह आक्षेप होता है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से मान भी ली जाय, पर गुण-कर्महीन ब्राह्मणका सम्मान हमारी समझमें नहीं आता कि गुण-कर्मसहित भी क्षत्रियादि से उसे उच्च क्यों माना जाय? इस प्रकार तो समाजमें बड़ी हानि पड़ेगी।

(ख) इस पर प्राचीन पक्षका यह कहना है कि सभी शास्त्र वर्णव्यवस्था को तो जन्मना मानते हैं, पर यह नहीं कहते कि ब्राह्मणादिको स्वनियत-गुणकर्म आश्रित नहीं करने चाहिये। वे तो ब्राह्मणादि को अपने गुणकर्मों के अवलम्बन करने पर बल देते हैं और उनका अवलम्बन न करने वाले ब्राह्मणादि की परलोक में दुर्दशा दिखलाते हैं। देखिये इस पर मनुस्मृति (१२।७०-७१-७२), अतः सब वर्णों के स्वनियत-गुणकर्म में अवस्थित होने पर समाज बिल्कुल ठीक रहेगा। पर फिर भी जो गुण-कर्महीन ब्राह्मण की हमारे सनातन—हिन्दुधर्म में प्रशंसा वा अन्य वर्णों से उच्चता बताई जाती है, उसका कारण यह है कि वर्ण-व्यवस्था तो जन्म से है; पर उस जन्म में कारण पूर्वजन्म के उत्तम गुणकर्म हुआ करते हैं।

सनातन-हिन्दुधर्म आस्तिक-धर्म है, नास्तिक नहीं। नास्तिक लोग परलोक, पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म नहीं मानते। कई नये हिन्दुसम्प्रदाय अपने-आपको आस्तिक कहते हुए भी पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म को केवल आडम्बरमात्र में, कथ-

नमात्रमें मानते हैं; यथार्थरूपसे नहीं; पर सनातन—हिन्दुधर्म इसकी सत्ता मानता है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (योगदर्शन, साधन १३)। 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गीता १३।२१)। उस (सनातन हिन्दुधर्म) का यह मत है कि जिस कुमारने ब्राह्मण—कुल में जन्म लिया है, वह पूर्वजन्म के उत्तम गुणकर्मों के कारण। अब हम जो उसका सम्मान करते हैं, वह हम उस व्यक्ति का सम्मान नहीं कर रहे हैं, किन्तु उसके पूर्वजन्म के उत्तम गुणकर्मों का सम्मान कर रहे हैं। इससे फिर उसका अपने उत्तम गुणकर्मों के आश्रयण में प्रोत्साहन होगा। यदि वह उत्तम गुणकर्मों को आश्रित नहीं करेगा, तो यह उसी व्यक्ति का अपना अनिष्ट होगा और अग्रिम जन्म में असद्-जाति में जन्म लेगा, दुःख उठायेगा। पर हमारा तो कर्तव्य हो जाता है कि हम उस ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न का सम्मान करें। इससे जहाँ हमारी पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म पर आस्था बढ़ी, वहाँ शुभ गुण-कर्मों के आश्रयण का प्रोत्साहन भी प्राप्त होगा।

(ग) जैसे कोई 'शास्त्री' बनता है, उसमें प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी तथा तृतीय श्रेणी होती है, वहाँ उच्च-अध्यापकता में प्रथम-द्वितीय श्रेणी का ही रखा जाता है, तृतीय श्रेणी का नहीं। तृतीय श्रेणी वाले को भी अच्छी योग्यता सञ्चित कर लेने पर वह भी उच्च-अध्यापकता आदि में निर्वाचित कर लिया जाता है, वैसे ही जन्मजात ब्राह्मण भी तीन श्रेणियों का होता है-उत्तम, मध्यम, अधम। अतः जहाँ कर्मकाण्डादि में वा अन्य सम्मानित उच्च कर्म में ब्राह्मण की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ उत्तम या मध्यम ब्राह्मण को लिया जाता है, तृतीय श्रेणी वाले ब्राह्मण को नहीं। जब वह तृतीय श्रेणीय भी प्रथम-द्वितीय श्रेणी वाले का सम्मान देखकर स्वयं भी प्रथम-द्वितीय श्रेणी-जैसी योग्यता सञ्चित कर ले, तब उसका भी वही सम्मान होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जहाँ शास्त्रों में ब्राह्मण का वर्णन आता है, वहाँ जाति-जात तथा फिर उत्तमगुणकर्मवान् ब्राह्मण इष्ट होता है। अन्य जाति-जात एवं उत्तमगुणकर्मवाले भी ब्राह्मणेतर वर्ण की ब्राह्मणता वहाँ इष्ट नहीं होती और उसका ब्राह्मण-जैसा सम्मान भी इष्ट नहीं होता।

इस वेदानुगृहीत निबन्ध से सम्यक् सिद्ध हो गया कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से ही हुआ करती है। वही 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्र में इष्ट है। चाहे यहाँ पञ्चमी-विभक्ति का अर्थ हो, चाहे प्रथमा का। यदि उस जन्मवाले ब्राह्मणादि में स्वनियतगुण-कर्म होंगे, तो 'सोना और सुगन्ध' होगा। अन्य वर्णजात को अन्य वर्ण के गुण-कर्म ग्रहण करके कभी अव्यवस्था उत्पन्न नहीं करनी चाहिये। जन्म-ब्राह्मण को भी उचित है कि वह अपने गुण-कर्म में खरा उतरे। तब किसी भी अब्राह्मण अथवा गुणकर्मवादी की शक्ति नहीं कि उसपर आक्रमण कर सके। इस विषय में जो अधिक देखना चाहें, वे हमारी 'श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला' का चतुर्थ तथा षष्ठ पुष्प हमसे मँगा कर पढ़ें।

—:०:—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्

[पण्डितश्रीकमलाकान्तमिश्रः प्रधानाचार्यः—गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालयः, काशी]

इदं भारतवर्षं नाम धर्मप्राणोऽतीव पावनो देशः, यत्राभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थ-साधनं धर्ममुपार्जयितुं देवा अपि मानुषं जन्म वाञ्छन्ति। भारतभूतलमेव प्रधान-धर्मस्य क्षेत्रमिति व्यपदिश्यते नान्यत्। यस्य धर्मप्राणस्य परिरक्षणाय अनेके महानुभावा राजर्षयो ब्रह्मर्षयो वीराश्च सदेहान् प्राणान् तृणतुल्यान् अजीगणन्। याग-दान-तपांसि धर्मान् समाचरितुं भारतमेव क्षेत्रं सर्वेऽलंचक्रुः। किम्बहुना धर्म्यं युद्धमपि विधातुं भारतमेव रणक्षेत्रं सम्मेनिरे। देवान् पितॄनुद्दिश्य कर्म सम्पादयितुम-द्यापि इहैव भारते सर्वविधं श्रमं धनव्ययादिकं च कृत्वा सुदूरादपि देशात् शास्त्र-निर्धारिते तत्तत्तीर्थविशेषे समागच्छन्ति जनाः। अनेके वैदेशिका अपि तान्येव धर्म-क्षेत्राणि द्रष्टुमायान्ति तच्चित्रं च संगृह्य आत्मानं पुनन्ति। बहवो धार्मिकाः पुरुषा आजीवनं तत्तत्क्षेत्रं न परित्यजन्ति, किन्तु तत्रैवान्तकाले ज्ञानमवाप्य शिव-प्रसादान्मुक्तिभाजो भवन्ति यथा काश्यादौ। अपरे श्रुतिबद्धादराः तीर्थविशेषे स्वतनु-मपि बुद्धिपूर्वकं परित्यज्य प्रयागादौ अमृता भवन्ति। तदेतस्य सर्वस्यापि पारलौकिक-फलस्य ज्ञापकं न प्रत्यक्षप्रमाणम्, सम्बद्धवर्तमानमात्रग्राहिणः प्रत्यक्षस्य अदृष्टेऽनागते च सामर्थ्याभावात्। नाप्यनुमानं पारलौकिकफले धर्मे प्रामाण्यं समश्नुते, प्रत्यक्षपूर्व-कत्वात् तत्प्रवृत्तेः, तत्र गत्यभावात्। तस्माद् वेद एव सर्वत्र धर्मे मूलं प्रमाणम्, नान्यत्। प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणस्य द्विविधस्यापि धर्मस्य मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद एव गमक इति ज्ञापयितुं "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इति स्मृतौ वेद इत्युक्त्वा पुनरखिल-पदमुपात्तम्। तेन सर्वस्य सोपनिषदो मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य धर्मे प्रामाण्यम् प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो यागादिर्निवृत्तिलक्षणश्च अद्वैतात्मज्ञानं तदेव परमो धर्मः कथ्यते। तदुक्तम्—"अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।"

अस्यैव परब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य परमधर्मत्वं तदन्ये सर्वे धर्माः तस्यैव शेषभूताः। तदुक्तं भगवता कृष्णेन—

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" इति।

तच्चात्मज्ञानं श्रौतमेव श्रेयस्करं 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति श्रुति-स्मृतेश्च नतु केवलेन शास्त्रविसंवादिविचारेण तर्केण च। तदुक्तं भगवता मनुना—

"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥"

न केवलं श्रौते धर्मे ज्ञानमात्रे च प्रमाणं वेदः, किन्तु विश्वं सिसृक्षो-र्विधेः विश्वनिर्मितावपि प्रदीपवत् परमालम्बनं वेद एव।

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।" (मनु० १।२१)

"अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥" इति स्मृतेः ।

भारतीया नीतिरपि वेदमूलैवापेक्षिता नतु तद्विपरीता ।

"सैनापत्यं च राष्ट्रं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥" इति स्मृतेः ।

एतादृशस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदराशेः प्रमाणान्तरानधिगतार्थगन्तुर्नित्यस्यापौरुषेयस्य व्याकरणादिभिः षडङ्गैः सर्वथः रक्षणीयस्य परिरक्षणं सर्वेषां मानवानां कर्तव्यम् , विशेषेण तु द्विजातीनाम्। अत्र च आचाण्डालं सर्वस्यापि धर्मः प्रतिपादितः, तेन सर्वार्थविद्योतने रविरिव सर्वान् प्रति सम एव, न विषमः । मातापितृसहस्रेभ्योऽपि समधिको हितोपदेष्टा यतो वेद एव, अतस्तत्प्रामाण्यमद्यापि सर्वैरभ्युपेयते । न लेशतोऽपि वैषम्यकारणं वेदराशौ प्रतीयते। यतो न कयापि प्रान्तीयभाषया संदृब्धोऽयं वेदो येन तत्प्रान्तीयानां पक्षपाती भवेत् यथा बौद्धजैनागमाः पक्षपातिनः । नापि संस्कृतया गीर्वाणभाषया सङ्कलितो येन तत्पक्षपातित्वाशङ्का स्यात् , वैदिकभाषा न देवानां संस्कृतभाषा, किन्तु विलक्षणैव लोकोत्तरवैदिकभाषा, यत्र वेदे संस्कृतभाषाव्याकरणं न स्वशासनं कर्तुं क्षमते । किन्तु "छन्दसि दृष्टानुविधिः" इति वचनमनुसृत्य यथा वेदे दृष्टं पदं तदनुरूपमेव स्वशासनं परिवर्तयति । किञ्च संस्कृतभाषापि न द्विजातीयानां मातृभाषा येन द्विजादीनां पक्षपाती भवेत्। श्रेयस्कामैर्द्विजातिभिरस्या विशेषेणाभ्यसनाद् द्विजातिभाषात्वेन कैश्चिदुच्यते । सीतां प्रति हनुमता उक्तम्—

"यदि वाचं प्रवक्ष्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥"

तदुत्तरत्र— "अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत् ।
मया सान्त्वयितुं शक्या राजपुत्री ह्यनिन्दिता ॥"

अत्र च मनुष्यवाक्यस्यावश्यवक्तव्यत्वात् संस्कृतभाषायां पूर्वं निषिद्धत्वात् न संस्कृतभाषा द्विजादीनां मातृभाषा आसीदिति गम्यते, अतो न वेदः कस्यापि पक्षपाती भवितुमर्हति । अत एवास्य वेदस्य सर्वान् प्रति समान एवादरः। वैदेशिका अपि वेदे दृढां श्रद्धां विधाय वेदार्थमनुसन्दधते । वेदनिर्मितौ न कस्यापि पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं येन तत्पक्षपाती स्यात् । तदुक्तम्—

"यत्नतः प्रतिषेध्या हि पुरुषाणां स्वतन्त्रता ।"

यदपि निःश्वसितमेतद् ऋगादि महाभूतस्य भगवतः तदपि पूर्वकल्पानुपूर्वीकस्य

वेदस्याविष्कारे एव तात्पर्यं न तु स्वातन्त्र्यम्। "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति वेदोक्तेः।

वेदस्येश्वराद् जन्मश्रुतिः तस्याः तदाविष्कृतावेव तात्पर्यं न तु प्रमाणान्तरेणार्थ-मुपलभ्य विरचितत्वम्। तदुक्तम्—

"श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम्।
मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना तु न मीयते॥"

अस्मदादीनां वाक्यं प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितम्, वेदवाक्यं तु न तथेति तदपौरुषेयम्। यद्यपि मानवमात्रस्य हितसाधनत्वेन वेदो भगवान् सर्वैर्मानवैः परिरक्षणीयः समादरणीयश्च। तथापि—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति वचनबलात् तदध्ययनाध्यापने प्रचारे चाग्रेसराणां ब्राह्मणानामेव शिरसि महान् भारः समापद्यते। अतो वेदव्रतिनां तेषां ब्राह्मणानां परिरक्षणं समेषां कर्तव्यम्। तद्यथा गीताभाष्ये शाङ्करे—

"आदिकर्ता सभगवान् नारायणो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल सम्बभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्।"तत्रैव "ब्राह्मणं हि पुरोधाय क्षत्रियादिः प्रतिष्ठां लभते याजनाध्यापनयोस्तद्धर्मत्वात् तद्द्वारा च वर्णाश्रमभेदव्यवस्थापनात्, अतो ब्राह्मणत्वे रक्षिते सर्वमपि सुरक्षितं भवति" इत्यानन्दगिरिः। भगवतो वेदमूर्तेः सन्धारणायां ब्राह्मणैस्तुल्यं नान्यत् किञ्चिद् भूतं पूज्यमास्त इति ऋषभदेवेन भगवता प्रतिपादितम्। तत्र हि "आत्मानं द्विजदेवदेवम्" इत्याह, द्विजा देवा यस्य भगवत इति तदर्थः।

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत् पश्यामि विप्राः किमतः परन्तु।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाहमश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे॥
धृता तनूरुशती मे पुराणी येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र॥

(भागवत ५।५।२३-२४)

एतादृशो ब्राह्मणो वेदव्रती वेदमूर्तिः सर्वस्य मानवसमाजस्य गुरुरिति गीयते।

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

त एव ब्राह्मणाः सनातना महीदेवा इति कथ्यन्ते नान्ये ब्राह्मणब्रुवा जाति-मात्रब्राह्मणाः। एवंगुणगणसम्पन्नं ब्राह्मणकुलं स्वाध्ययनकाले मया काश्यां विलोकितम्—यत्र वैदिकप्रवरा महामहोपाध्यायपदभाजः श्रीप्रभुदत्तशास्त्रि-गौडपादाः तथा तद्द्वितीयविग्रहास्तदात्मजा वैदिकशिरोमणयो महामहोपा-

ध्यायपदविभूषिताः श्रीविद्याधरशास्त्रिगौडचरणाः साक्षाद् भगवद्वेदमूर्तय आसन्, येषां दर्शनमात्रेणैवाघौघः वेपमानः सुदूरमुत्सार्यते, किम्पुनर्वेद-नादश्रवणेनेति। यान् दृष्ट्वा मदीया महती वेदे श्रद्धा समुदियाय। अद्यापि तत्कुलं पुत्र-पौत्रादिजनिपरम्परया शिष्यप्रशिष्यादिविद्यापरम्परया च प्रवर्धमानं पम्फुल्यमानं देवकल्पं प्रसिद्धवैदिककुलं विराजतेतराम्।

तदेवं वेदसंरक्षणैकतपः प्रभावाद् विद्याविभवविनयादिसम्पन्नं स्वाध्ययनवि-धिना समधिगतसाङ्गवेदमनपेक्षं विश्वविश्रुतश्रौत-स्मार्तयज्ञाचार्यवैदिककुलं समधिगम्य श्रेयस्कामाः सनातनवैदिकधर्मबद्धादराः स्वमनीषितं कर्तव्यं संपाद्य विशुद्धस्वान्ता अमन्दमानन्दमनुभवन्ति। एवंप्रभावो हि वेदो यदनिच्छन्तमपि वैदिकं सर्वसंपदः सेवितुं पादयोः परिलुठन्ति। तदित्थंगुणगणभूषिते वैदिकविप्रकुले समेधमाने एव विश्वस्य शान्तिर्नान्यथा।

"प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्त्वर्थो नैव गम्यते।
तमेनं बोधयेद्यस्तु तस्माद् वेदस्य वेदता॥"

इति पुनर्वेदस्वरूपं "वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः" इति धर्म-स्वरूपं चाभिधाय "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इति समुपक्रान्तमुपसंह्रियते। उपाह्नि-यते च समभिनन्दनीयाचार्यचरणयोर्विशिष्टश्रद्धाविष्टेन मनसेति शम्।

उपकल्पविधिरहस्यम्

[शास्त्रार्थमहारथः पण्डितश्रीमाधवाचार्य्यशास्त्री, देहली]

कालवशाद् वेदप्रचार एव विरलताङ्गतः। सौभाग्यात्केचन घनान्तपाठमात्र-परायणास्तु लभ्यन्ते, परन्तु तेषु पुनरर्थविदस्तु दुर्लभा एव, परं येषां स्मरणेऽयं ग्रन्थः प्रकाश्यते ते स्वर्गीया महामहोपाध्यायाः श्रीविद्याधरशास्त्रिणस्तु वेदार्थज्ञेष्वपि शिरोमणिभूताः कर्म्मकाण्डोन्नायका विद्वन्नायका आसन्। अतस्तत्स्मारकग्रन्थे कश्चिद् वैदिकमेव विषयमवलम्ब्य प्रबन्धः प्रस्तोतव्य इति कृत्वा तथा प्रयत्यते।

'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति वैदिकानां सर्वतन्त्रो राद्धान्तः। तत्र विधि-विधायको ब्राह्मणभागो विधिनिर्वाहकश्च मन्त्रभागः। विहितस्य कर्मणः सम्पादन एव मन्त्राणामुपयोगः। यदि विधिर्न भवेत्तदा मन्त्राणामानर्थक्यप्रसङ्ग एवो-पस्थितः स्यात्। अतो याज्ञिकैर्ब्राह्मणभागस्यैव मुख्यता स्मर्य्यते। साम्प्रतिकाः केचन

आर्य्यब्रुवा ब्राह्मणभागस्य व्याख्यानमात्रतामापातततो वेदातिरिक्ततां वदन्ति ते प्रष्टव्याः भोः ! यदि कस्यचिदपि वस्तुनो भागद्वयं सम्पद्येत तयोः किं कस्यचिदपि भागस्य तत्त्वं विहन्येत ? किमाम्रफलस्य कृत्तो विभागोऽनाम्रतां भजते ?

ननु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादिप्रमाणेषु मन्त्रशब्दस्यैव पूर्वं निपातोऽवलोक्यते, अतोऽभ्यर्हितम्पूर्वमिति नियमान्मन्त्रभागस्य मुख्यता सिद्ध्यति। मैवं वाच्यम् , नात्र अभ्यर्हितत्वान्मन्त्रशब्दस्य पूर्वनिपातः अपितु अल्पान्तरत्वादेव । उभयोरपि भागयोस्तुल्याभ्यर्हितत्वात् , शिव-केशवावित्यादिप्रयोगवत् ।

ब्राह्मणो द्विविधः—विधिरर्थवादश्च । विधिविशेषस्यैव पूरकोऽङ्ग उपकल्पः। आम्नातद्रव्यालाभे विधिनिर्वाहकृते तत्प्रातिनिध्यधर्मावच्छेदकद्रव्योपयोगबोधको विधिशेष उपकल्पः । सोऽपि द्विविधः—अभावहैतुको रुचिहैतुकश्च । तत्राऽभावहैतुको देश-काल-राज्यनियन्त्रण-क्रयशक्त्यभावमूलकः । रुचिहैतुकश्च लोकविद्विष्टद्रव्याऽप्रयोगमूलकः ।

इत्थमत्राऽनुसन्धेयम् । यथाऽऽयुर्वेदे निर्दिष्टौषध्यलाभे तद्योगपूर्त्यै तत्समानगुणवद्द्रव्यान्तरोपयोगः क्रियते, एवमेव यज्ञेऽपि । तद्व्यवस्थापको विधिशेष एवोपकल्पः ।

यथा मानवशरीरे ध्रुवाणि अध्रुवाणि च उभयविधान्यङ्गानि वर्तन्ते। येषामपाये सत्तैव विलुप्येत तानि ध्रुवाणि कथ्यन्ते यथा हृदय-मस्तकादीनि, येषामपाये न सत्ताहानिः तान्यध्रुवाणि यथा हस्तपादादीनि । एवमेव यज्ञस्यापि ध्रुवाण्यध्रवाणि चाङ्गानि सन्ति। तत्र यजमानो मन्त्रा ऋत्विगादयश्च ध्रुवाङ्गभूताः। साक्षात्पशुः, सामिषः पुरोडाशः, सुवर्णमयी चयनेष्टिकाप्रभृतयश्च अध्रुवाङ्गभूताः पदार्था विज्ञेयाः। ध्रुवाङ्गाणामभावे यज्ञसत्तैव विपद्येत, अतो न तत्रोपकल्पकल्पनावकाशः, परन्तु अध्रुवाणां यज्ञाङ्गानामभावहैतुकेऽलाभे रुचिहैतुके वाऽलाभे सुतरामुपकल्पकल्पनया यज्ञसमृद्धिः ।

सोऽयं रुचिहैतुक उपकल्पो विशिष्येह समाम्नायते । 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्ममप्याचरेन्नतु' इति मन्वादिनिर्दिष्टश्चिरन्तनोऽयं सिद्धान्तः सति श्रुतिविहितोपकल्पावसरे यजमानेन यथेष्टं व्यवहर्तव्यः। साक्षात्पशुविकल्पे तत्प्रतिनिधिभूतः पिष्टपशुः श्लाघ्यः । सामिषपुरोडाशविकल्पे च विरूढयवसारमिश्रितं व्रीहिपिण्याकं प्रशस्तम् । एवमेव सुवर्णेष्टिकाविकल्पे राजतेष्टिका ग्राह्याः। अश्वदक्षिणाविकल्पे तन्मूल्यद्रव्यदक्षिणापि देया।

यथाविध्युपकल्पाचरणे न कश्चित्प्रत्यवायो नवा प्रायश्चित्तावकाशो नापि फलन्यूनताऽवसरः। स एष मीमांसितोऽर्थो वेदशब्दैरपि प्रमाणकोटिमध्यारोप्यते । यथा—

(१) 'अबध्नन्पुरुषं पशुम्' (शुक्लयजुर्वेदे, ३१।१५)

(२) 'पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे'

(३) 'पशुर्ह वा एष आलभ्यते यत् पुरोडाशः' (शतपथब्रा० १।२।२)

(४) 'एवं संस्कृतं पुरोडाशं पशुत्वेन संस्तौति । पशुरूपतामुपपादयितुमितिहासमुदाहरति । यज्ञीयः सारांशो 'मेधः'······एवं पुरुषाऽश्वादिपशुषु आलब्धेषु ततस्ततो निष्क्रान्तः स मेधोऽन्तत इमां पृथिवीं प्रविष्टवान् ।···स एव मेधो व्रीहियवरूपेण परिणतः, एवं सर्वपशुसारत्वात् पुरोडाशः पशुरूप एव संस्क्रियते । देवैरालब्धानामपक्रान्तमेधानां पुरुषादिपशूनां परिणामविशेषं दर्शयन् तस्य प्रसङ्गादभक्ष्यतामाह, किम्पुरुषादिपशूनां मांसं नाशितव्यम् न भक्षितव्यम् । तत्र हेतुमाह 'अपक्रान्तेति' अपक्रान्तमेधत्वेनाऽयज्ञियत्वात्' । (तत्रस्थं शतपथीयं सायणभाष्यम्)

उपरितनेन प्रमाणोद्धरणेनोपकल्पस्य रूपरेखा विदिताप्राया स्यात् ।

'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' इत्यस्योत्तरमीमांसीयव्याससूत्रस्य व्याख्यानावसरे सर्वैरपि प्रस्थानत्रयीभाष्यकारैराचार्यपादैः सम्भूय वेदबोधितायाः यागीयहिंसाया अहिंसात्वमङ्गीकृतम् । परन्तु श्रीसम्प्रदायप्रभृतिवैष्णवसम्प्रदायेषु तत्तत्सम्प्रदायाचार्य्यैरेष सिद्धान्त उपकल्पत्वधर्मावच्छेदकावच्छिन्न एवोररीकृतः इति तदभिमतप्रबन्धस्वारस्यपर्य्यालोचनयाऽभिगम्यते । परम्परागवसदाचारप्रचारसञ्चारेणापि च सम्यगवबुध्यते ।

अत्र उपकल्पकल्पनाविषये केचित् परप्रत्ययनेयबुद्धयः अन्धपरम्पराप्राप्तस्वात्मावगाहिपल्लवग्राहिपाण्डित्यसमुद्भूताखर्वगर्वोद्रेककषायितमस्तकाः नव्या वैदिकब्रुवा महाशया विप्रतिपद्यन्ते । यद्धि वेदे प्रत्यक्षपशुयागस्यैवाऽविद्यमानत्वात् 'सति कुड्ये चित्राणि भवन्ति' इति न्यायेन पशुपर्य्यायभूतस्य पिष्टपश्वादिरूपस्य उपकल्पस्य कल्पना तु खपुष्पायिता एवं स्यादिति । अत्रोच्यते 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादिविधिबोधकवचनैः पशुयागो विहितः, सच देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मको यागो भवति । सच त्यागः क्वचिद् होमपूर्वकः क्वचिच्च उत्सर्जनपूर्वकः । यत्र होमपूर्वकस्तत्र पशुरूपद्रव्यमन्तरेण विशसनं न घटते । एवञ्च यागीयपशुविशसनं वैदिकम्, यागाङ्गतया क्रियमाणत्वात्, सोमाभिषववत् । यो यदङ्गत्वेन क्रियते स तद्बोधकवेदबोध्य इति व्याप्तेर्वेदबोध्यत्वसिद्धिः । नह्यत्र पशोरेव होमः, वपाहोमश्रवणानुपपत्तेः । यथा—

जातवेदो वपया गच्छ देवान् त्वं हि होता प्रथमो बभूथ ।
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व स्वाहा कृतं हविरदन्तु देवाः ॥
(कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसंहिता)

इत्यादिभिर्वपाहोममाचष्टे । अस्य वेदविधेर्निर्वाहो विशसनमन्तरा कथमपि न सम्भाव्यते ।

ननु मूलश्रुतौ पशुपदं नास्ति इति मैवं वाच्यम्। 'वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते' इत्यादिषु यजुःसंहितान्तर्गतश्रुतिषु कपिञ्जलाख्यस्य प्राणिविशेषस्य आलम्भनक्रियादर्शनात्।

अयमेवार्थः श्रीजैमिनिना मीमांसादर्शने एकादशाध्याये द्वादशाध्याये च बहुभिः सूत्रैः समर्थितः। यथा—

(१) 'शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात्'
(मी० द० १२।१।१३)

(२) 'मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत्' (मी० द० १२।२।२)

(३) 'मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्यादाहुतिसंयोगात्' (मी०द०१२।२।६)

(४) 'पशौ तु संस्कृते विधानात्' (मी० द० १२।२।१२)

(५) 'पशौ च पुरोडाशे च समानतन्त्रं भवेत्' (मी० द० ११।३।१७)

ननु आङ्पूर्वस्य लभेः विशसनार्थे किं बीजमिति शङ्कायामुच्यते। तेषु तेषु शास्त्रेषु केचन पारिभाषिकाः शब्दा भवन्ति, तेषामर्थसीमा स्वयं ग्रन्थकर्त्रैव निर्धारिता भवति, यथा—उपनयनशब्दस्य सत्यपि नैकट्यप्रापणे साधारणेऽर्थे वेदाध्ययनाय गुरोः समीपे एव आनयनात्मकस्य संस्कारविशेषस्य पारिभाषिकार्थवत्त्वात्। एवमेव विवाहादयः शब्दा अपि तथाभूता एव। एवं हि आलम्भशब्दोऽपि यज्ञाङ्गभूतानां तेषां तेषां विधीनां प्रत्याहारत्वेन समष्टिसंग्राहकः पारिभाषिकः शब्दः। यस्मिन् कर्मणि केषाञ्चिद् वस्तूनाम् 'आदानम्', केषाञ्चिद् वस्तूनाम् 'लम्बनम्', केषाञ्चिच्च 'भरणम्' भवेत् तत्कर्म आलम्भपदवाच्यम्। यथाहि—

'कूटादिप्रायश्चित्तपूर्वकोपाकरण-रशनापरिव्ययण-यूपनियोजन-प्रोक्षण-सूच्याघारानन्तरकालिकसमञ्जन - पर्य्यग्नीकरण - वपाश्रपणान्वारम्भणाधिगुप्रैषसमकाल-शामित्रानुनयाऽधस्ताद्द् बर्हिरपासन-प्रत्यङ्मुखावस्थापन-पाशादिप्रायश्चित्तसंज्ञप्तहोम-रशनाविमोकाङ्गाप्यायन- वपोत्कृन्तन-तत्प्रतितपन-होम-तदुद्धारणाभिधारणैकादशावदानोद्धरणशृतप्रश्न-प्रतिवचन-हविर्गुदकाण्ड-जाघनीहोमादिक्रियाकलापभूताः सर्वेऽपि विधय आलम्भशब्दवाच्याः।'

अत्र यस्य कस्यचिल्लोपेऽपि प्रायश्चित्तविधानात्। यज्ञाङ्गभूतं सर्वमपि इदं कर्मजातम् आलम्भनपदवाच्यमेव।

ननु एतत्सर्वं संहिताभागस्य व्याख्यानभूतैरापाततः अस्मन्मते अवेदत्वेन स्वीकृतैः ब्राह्मणवचनैरेव साधितम्। मन्त्रभागे तु तथाभूतप्रकरणस्य गन्धोऽपि आघ्रातुं न शक्यते। मैवं वाच्यम्, मन्त्रभागेऽपि तद्दर्शनात्। यथा—

(१) अजञ्च पचत। (अथर्ववेद ९।५।३७)

(२) ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते।
(ऋग्वेद १।१६२।१२)

(३) यं ते मन्थं यमोदनं यन्मासं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ (अथर्व० १८।४।४२)

इत्थं हि मन्त्र-ब्राह्मणात्मके वेदे प्रत्यक्ष-पशुयागस्य विद्यमानत्वात् शब्दप्रमाण-श्रद्धानैः सर्वैरपि पूर्वाचार्य्यैरेकस्वरेण स व्याख्यातः। तस्य एव उपकल्पविधिरपि वेदेष्वेव आम्नातः। यथा शतपथब्राह्मणे व्रीहियवादीनामेव तत्तद्रूपतां प्राप्तानां लोमत्वङ्मांसादिकाः संज्ञाः विधीयन्ते। यथा—

"यदा पिष्टानि स्युस्तदा लोमानि भवन्ति। यदाऽद्भिः संयौति सम्मिश्रितानि करोति तदा त्वग् भवति। यदा शृतानि भवन्ति तदा मांसतां गच्छन्ति।"

अत्र मूलश्रुतिशब्दास्तु तत्रैव द्रष्टव्याः, तात्पर्य्यमात्रमिह संक्षिप्य प्रदर्शितम्।

ननु 'मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि' इति हिंसानिषेधके प्रत्यक्षश्रुतिवचने सत्यपि कथन्नाम 'अध्वर' पर्य्यायभूतेषु यज्ञेषु विशसनादिकाः क्रियाः क्रियन्ते?

शृणु, 'मा हिंस्यात्' इत्यादि सामान्यवचनम्। 'कपिञ्जलानालभेत' इत्यादीनि विशेषवचनानि। एवञ्च विरोधपरिहाराय उत्सर्गापवादन्याय एव आश्रयणीयः। एवं हि "ओषधे! त्रायस्वेति स्वधिते मैनँ हिंसीः" इति वचनं विशसनकर्म्मणि प्रयुज्यते। तत्राऽयमाशयः—हे ओषधे! उपाकरणाद्वितीयबर्हे! एनं पशुं त्रायस्व छेदनार्थं रक्षस्व इत्यर्थः। प्रकरणाद् बर्हिषमन्तर्धाय छेदनं हि रक्षणम्। अनन्तर्धाय छेदने हि पशुर्न रक्षितः स्यात्। विधिविपर्य्ययेण देवानहृत्वापत्तेः। हे स्वधिते! एनं पशुं मनुष्यवन्मा हिंसीरित्यर्थः। तथा च ब्राह्मण तैत्तिरीय-संहितायाम् (षष्ठकाण्डे तृतीयप्रपाठके नवमानुवाके)—"ओषधे! त्रायस्वैनं स्वधिते मैनँ हिँ सीरित्याह। वज्रो वै स्वधितिः पार्श्वत आच्छ्यति मध्यतो हि मनुष्या आच्छ्यन्ति। तिरश्चीनमाच्छ्यति अनुचीनं हि मनुष्या आच्छ्यन्ति।" नायं विधिर्बन्धनमात्रपरः स्पर्शमात्रपरो वा कल्पनीयः, आपस्तम्ब-सूत्रेऽस्य विशसने विनियोदगदर्शनात्। यथा—"ओषधे! त्रायस्वैनमिति ऊर्ध्वाग्र-दर्भमन्तर्धाय स्वधिते मैनं हिंसीरिति स्वधितिना प्रहरति" इति। तेन दर्भद्वय-मनन्तर्धाय मा छिन्द्यात्, किन्तु अन्तर्धाय छिन्द्यात्। अन्यथा आव्रश्चनहोमविधानं न कुर्य्यात्। प्रकरणपाठश्च व्यर्थः स्यात्। फलवदर्थज्ञानोद्देशेन अध्ययनं विहितम्। फलत्वञ्च अर्थज्ञानस्य क्रतुद्वारकम्। 'विद्वान् यजेत' इत्यादिना अर्थज्ञानस्य यागाङ्गत्वावगमात्।

यो हि यागीयहिंसां वधीं न मनुते स प्रष्टव्यः किमधर्मः इति? यागीयहिंसा विधिबोध्या उत निषिद्धा? तत्र नाद्या, यागीयहिंसाया अधर्मत्वे मानाभावात्। अध-

र्मत्वन्नाम धर्मविरुद्धत्वम् , तच्च वेदविहितभिन्नत्वम् , वेदविहितत्वञ्च लिङादिपदबोध्यनियोगविषयत्वम्। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति आलम्भननियोगस्य विषयत्वात् धर्म एव।

एवं हि गुरुमुखादनधीतवेदानामनाघ्रातमीमांसाशास्त्राणां कलिदूतभूत-मस्करिशिष्याणां मर्कट-चापल्यविजृम्भिताः सम्भाव्याः कतिचित् प्रश्नाः संक्षेपेण समाहिताः। नात्र विशयलेशोऽपि यद्धि ये नव्याः वैदिकब्रुवाः सन्ति, ते शब्दप्रामाणिका अपि भवितुमिच्छन्ति पशुयागमपि निन्दन्ति, नूनं ते युगपदेव द्वयोर्नौकयोरेकमेकं स्वपादं निधाय तरीतुं कामयन्ते। वैदिकवाङ्मये पटे तन्तवो यथा तथाऽयं विषय ओतः प्रोतश्च। वर्षशतैरपि अस्य निरासः केनापि कर्तुं न शक्यते। अत एतदेव युज्यते तैः सर्वज्ञस्य परमात्मनः निश्वासभूतेषु वेदेषु आक्षिप्तं निजाल्पमतिप्रकल्पितं ननु-नच-किन्तु-परन्तु-प्रभृतिकम् शङ्काशल्यमुद्धृत्य विशुद्धैर्वैदिकैर्भवितव्यम् , नो चेत् बौद्धैः जिनानुयायिभिरिव वेदप्रामाण्यं सर्वथा अपहाय स्वातन्त्र्येण विहर्तव्यम्।

यद्यपि बालिशजनानां धर्मप्रवृत्तिहेतवे तस्य तस्य धार्मिकक्रियाकलापस्य विद्वद्भिः प्रत्यक्षफलकल्पनाऽपि क्रियते, परन्तु वस्तुतस्तु अदृष्टफलाधायकस्य धर्मस्य तादृग्दृष्टफलकल्पना अपराध एव। नहि पापं पुण्यं वा चक्षुषा द्रष्टुं शक्यते, ते हि केवलमन्ततो गत्वा शब्दप्रमाणसिद्धा एव। स्वपादाङ्गुष्ठेनापि पश्वादिचर्म्म अस्पृशन्तः सन्तः कृष्णाजिनेषु व्याघ्रादिहिंस्रजन्तुचर्मस्वपि स्थित्वा आत्मचिन्तनपरायणा भवन्ति। देवसदनभूतस्य अश्वत्थवृक्षस्य पवित्रता शास्त्रसिद्धा विज्ञानसिद्धा च, परन्तु तत्पत्ररचितपत्रावल्यां भोजनकरणात् चान्द्रायणव्रतापत्तिः। मलभक्षणे महान् प्रत्यवायः, परन्तु पञ्चगव्यपानं बिना न यागार्हता। यदापि मृतस्य अस्थिस्पर्शने सचैलं स्नानमावश्यकम्, परन्तु समुद्रीयकीटविशेषस्य शङ्खनामकमस्थि भगवत्पूजायां यत्नेन स्वमुखेन विज्ञा धमन्ति।

इत्यादिषु सर्वेष्वपि विषयेषु 'कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः' (यजु०), 'वटार्काश्वत्थपत्रेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्' (शिष्टस्मृति), 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' (भगवद्गीता) इत्यादीनि श्रुति-स्मृति-पुराणप्रोक्तानि वचनान्येव प्रमाणभूतानि।

साक्षात्पशुस्थाने कथं पिष्टपशोरुपकल्पः? व्रीहयो यवाश्च कथं मांसादिपर्य्यायभूताः? शब्दप्रामाणिकानां हृदि तु एवंविधानां प्रश्नानामुत्पत्तिरेव कथमपि न सम्भाव्यते। शब्देतरप्रमाणग्रहग्रहिलास्तु पुनः स्वजनकमपि साधयितुमसमर्था एव। स्वगर्भाधानकाले स्वयं द्रष्टुमक्षमत्वात्। अतो यदि स्वजनन्याः कथनेन—यस्याश्च कथने लोकलज्जादिकारणवशात् मिथ्याभाषणत्वमपि दुर्निवार्य्यमेव—लौकिको जनकः स्वीक्रियते तदा त्रिकालाबाधितसत्यप्रकटननिष्ठायाः

श्रुतिमातुर्वचनैः परमपिता परमात्मा कथं न स्वीक्रियेत। तत्तोषकारणभूता यागादयश्च कथं न श्रद्धेयाः स्युः।

साम्प्रतिके काले प्रथमन्तु विरलप्रचारत्वेन वैदिका विषया एव रूक्षा गूढाभिप्रायाश्च अनुभूयन्ते, तत्रापि यदि स्वपाण्डित्यप्रदर्शनार्थं क्लिष्टतमैः समस्तैरपि बहुधा व्यस्तैः शब्दैः तुन्दिलत्वं क्रियेत तदा तु 'मघवा मूलं विडौजा टीका' इत्याभाणकमेव चारितार्थ्यं लभेत। अतो मया भवति—पचतीत्यादिना एव स्वकीयोऽभिप्रायो निरूपितः। यद्यपि वैदिकानां विषयाणां मीमांसने कर्मठा वेदज्ञा एव साधिकाराः, तथापि यथाधीतं यथाश्रुतं दिङ्मात्रं किमपि वैदिकं रहस्यं विविच्य विरम्यते प्रार्थ्यते च —

प्रभुदत्तवरैरिद्धः श्रीविद्याधरवैदिकः।
योऽवतीर्णस्त्रयीं त्रातुं स मे लेखेन तुष्यतु॥

योग और परकाय-प्रवेश

[महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०]

योगशास्त्र की आलोचना करने पर यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि योगी के आत्मविकाशके लिये परकाय-प्रवेश का एक विशेष स्थान है; परन्तु यह भी अवश्य ही सत्य है कि स्वयं योगमार्ग में प्रविष्ट न हो कर केवल शास्त्र की आलोचना के द्वारा इस रहस्य को समझना सम्भव नहीं। भगवान् शङ्कराचार्यने किसी विशिष्ट प्रयोजन को साधनेके लिये परकाय-प्रवेश किया था, यह उनके जीवनचरित के पढ़ने से जाना जाता है। बहुत से लोगों की यह धारणा है कि परकाय-प्रवेश एक साधारण विभूतिमात्र है तथा अन्यान्य विभूतियों के समान अध्यात्ममार्ग में अग्रसर होनेवाले योगीके लिये वह उपेक्षणीय है। यह धारणा निराधार है, यह बात परकाय-प्रवेश के तत्त्वकी आलोचना करने पर शीघ्र ही समझ में आ जायगी।

प्रचलित योगमार्ग के जो आठ अङ्ग हैं, उनमें पाँच बहिरङ्ग तथा तीन अन्तरङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्तरङ्ग योग के प्रारम्भ में ही धारणाका स्थान निर्दिष्ट है। चित्त को देह के किसी अंश में बद्ध कर रखने का अभ्यास धारणा की सिद्धि के लिये एकान्त आवश्यक है। चित्त स्वभावतः ही चञ्चल है, यह कहीं आबद्ध होकर रहना नहीं चाहता; परन्तु अभ्यास के द्वारा दीर्घकाल के पश्चात् इसे इस प्रकार आबद्ध करना सम्भव हो जाता है। चित्त को आबद्ध न कर

सकने पर ध्यान और समाधि की आशा दुराशामात्र है। यह जो धारणा की बात कही गयी है, वह अपने देह को आश्रय बनाकर ही की जाती है; किन्तु योगी के लिये विदेह धारणा की भी आवश्यकता है। विदेह धारणा का तात्पर्य है कि चित्तको देह में प्रतिष्ठित रखते हुए भी उसकी वृत्ति को देह के बाहर किसी अभीष्ट स्थान में भेजा जा सके। चित्त के स्वरूप तथा उसकी वृत्ति में जो भेद है, उसे इस प्रसंग में स्मरण रखना उचित है। चक्षु से जिस प्रकार समस्त चाक्षुष रश्मियाँ निकलती हैं तथा वे बाह्य दृश्य पदार्थ के साथ युक्त होकर उसके आकार में परिणत हो जाती हैं, उसी प्रकार चित्तसे भी रश्मियाँ निकलकर बाह्य पदार्थों में कार्य करती हैं। इस प्रकार दूरवर्ती वस्तु में धारणा का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर उस पदार्थ का ध्यान, उसमें चित्तकी समाधि और उसके फलस्वरूप उस पदार्थ का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। विदेह धारणा के बिना बाह्य पदार्थ का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्र में अनेकों स्थानों में 'योगज प्रत्यक्ष' नाम से जिस अलौकिक प्रत्यक्ष का उल्लेख पाया जाता है, उपर्युक्त साक्षात्कार उसीका एक प्रकारभेदमात्र है।

चित्त की अनन्त रश्मियाँ हैं; परन्तु किसी एक विशिष्ट पदार्थ का साक्षात्कार करने के लिये उसमें केवल एक रश्मिका सञ्चार आवश्यक होता है, अनेक रश्मियों का नहीं। किन्तु योग-शक्ति के क्रमिक विकाश के फलस्वरूप जब एक रश्मि के समान अन्यान्य समस्त रश्मियों का सञ्चार हो जाता है, तब बाह्य जगत् के समस्त पदार्थों के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सत्य है कि पदार्थ अनन्त हैं और चित्त की रश्मियाँ भी अनन्त हैं; परन्तु किसी विशिष्ट पदार्थ का स्मरण करके उसमें रश्मिप्रयोग करने से कभी अनन्त पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण खण्ड-खण्डरूप से होनेवाले पृथक् पदार्थके ज्ञान से जगत् के समस्त पदार्थों का तथा वर्तमान के समान ही अतीत और अनागत समस्त विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं होता। सामान्य और विशेष भाव में परस्पर सम्बन्ध है। अतएव विशेष पदार्थ में संयम करके जिस प्रकार उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विशेषों के व्यापक महासामान्य का अवलम्बन करके उसके संयम के द्वारा सर्वज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है।

विदेह धारणा का अभ्यास कर के खण्डरूप से अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होने पर भी इस ज्ञान में ज्ञेय विषय का ज्ञेयरूप में ही प्रतिभास होता है, ज्ञातारूप में नहीं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इस ज्ञान का विषय नहीं बनता; क्योंकि एक अखण्ड चैतन्य के साथ व्यक्तित्व-नियामक अवच्छेदकस्वरूप मन का सम्बन्ध रहने के कारण उपर्युक्त व्यक्ति का वैशिष्ट्य निरूपित होता है। खण्डरूप में आत्मा अनन्त हैं तथा मन भी अनन्त हैं। केवल यही बात नहीं, प्रत्येक आत्मा के साथ उसके स्वकीय मन का सम्बन्ध भी पहले से ही निर्दिष्ट रहता है। आत्मा शुद्ध चिन्मात्र तथा सर्वत्र

समभावापन्न होने पर भी जैसे आत्मा-आत्मा में भेद होता है; ठीक वैसे ही मन का स्वरूप और प्रकृति भी सामान्यतः एक प्रकार की होने पर भी विभिन्न मनों में पारस्परिक भेद सृष्टिकाल से ही चला आता है। केवल इतना ही नहीं; आत्मा के साथ मन का विशिष्ट सम्बन्ध भी पहले से ही निश्चित रहता है। इन समस्त कारणों से व्यक्तित्व स्वीकार किये बिना काम चल नहीं सकता। इसी कारण विदेह धारणा से जो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे व्यक्तित्वमूलक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव व्यक्तित्वसम्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यही है कि उसका एक अपना मन है। जबतक उस मन के साथ योगी योगबल के द्वारा अपने मन का तादात्म्य सम्पादन नहीं कर लेता, तबतक उस व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख और विशेष अनुभूतियों को वह ठीक उस रूप में ग्रहण नहीं कर सकता, जिस रूप में ग्रहण करने पर वे उस व्यक्ति के ही जीवन की अनुभूति के अंशरूप में अङ्गीकृत किये जा सकें। किसी व्यक्ति के साथ सब प्रकार से अभिन्न होने पर जबतक अभेद बना है, तबतक उसकी सुख-दुःखादि समस्त अनुभूतियाँ और संस्कार योगी के अपने हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं।

विदेह धारणा से इस प्रकार अभेद भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इस धारणा के लिये योगी को अपने मन के द्वारा प्रत्यक्षतः कोई कार्य करना नहीं पड़ता। मन की रश्मि के द्वारा ही अभीष्ट कार्य सम्पादित हो जाता है। अर्थात् योगी का मन जिस प्रकार पहले देहावच्छिन्न था, वैसा ही रहता है; परन्तु दूरवर्ती वस्तु का आश्रय लेकर केवल उसके वृत्तिरूप में परिणत होता है। साधारण निकटवर्ती वस्तु के प्रत्यक्ष के समय जिस प्रकार अन्तःकरण का परिणाम होता है, यह भी ठीक वैसे ही होता है। केवल एक अंश में पृथक्ता होती है। लौकिक प्रत्यक्ष के समय तो इन्द्रियों के साथ विषय का लौकिक सन्निकर्ष रहता है; किन्तु यहाँ विषय दूरवर्ती होता है और लौकिक इन्द्रियों के लिये गोचर नहीं होता, अतएव इन्द्रियों के साथ विषय का सन्निकर्ष लौकिक न होकर अलौकिक हो जाता है। इसका भी एक कारण है—लौकिक ज्ञान की अवस्था में चित्त विक्षिप्त रहता है, परन्तु अलौकिक सन्निकर्ष की अवस्था में वह अपेक्षाकृत एकाग्र हो जाता है। अर्थात् चित्त में एकाग्रता के उदय के साथ-साथ एक विश्वरूपी आलोक के आविर्भाव की अनुभूति होती है। यह बाहर का आलोक नहीं होता, बल्कि चित्त का स्वभावगत अन्तर्हित आलोक प्रज्ञालोक होता है। विक्षिप्त अवस्था में चित्त बहिर्मुख रहता है, अतएव इस आलोक का पता उसे नहीं लगता; परन्तु आंशिक-रूप में अन्तर्मुखी भाव का उदय होने पर यह आलोक स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। वस्तुतः इस आलोक के ऊपर समस्त तथाकथित बाह्य जगत् प्रतिष्ठित है। इस आलोक का उदय हो जाने पर इच्छा होते ही पूर्व निर्दिष्ट वस्तु इस आलोक में प्रकाशित हो उठती है। तब पूर्वोक्त प्रणाली से चित्त के रश्मिविशेष को अवधानरूप में उस वस्तु के साथ योजित करना पड़ता है। वस्तुतः साधारणतया यह करना नहीं

पड़ता, अपने आप ही हो जाता है; क्योंकि इच्छा पहले से ही रहती है, अतएव आलोक के आविर्भाव के साथ-साथ आलोक में प्रतिभासित वस्तु भी प्रकाशित हो उठती है। इस प्रकार विश्व की किसी भी वस्तु का योगज सन्निकर्ष के द्वारा साक्षात्कार करना सम्भव हो जाता है। यहाँ दृश्य वस्तु के चेतनत्व या अचेतनत्व की कोई बात नहीं रहती; क्योंकि वास्तव में तो द्रष्टा की दृष्टि के सामने भासमान होने के कारण विश्व की समस्त वस्तुएँ ही अचेतन हैं।

इस विवरण से यह समझ में आ सकता है कि किसी मनुष्य का कोई दूरवर्ती योगी यदि विदेह धारणा के द्वारा साक्षात्कार करता है तो यह समझ लेना चाहिये वह साक्षात्कार अन्यान्य अचेतन पदार्थों के साक्षात्कार के अनुरूप ही होगा। यही क्यों, उस मनुष्य के सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर भावसमूह भी परम्परागतरूप में उस योगी के साक्षात्कार में आ सकते हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी वह मनुष्य विशेष स्वतन्त्र व्यक्तिरूप में अर्थात् स्वयं भोक्ता बनकर भोग्यस्वरूप इन समस्त आभ्यन्तर भावों को जिस प्रकार प्राप्त होता है, द्रष्टा योगी के लिये वह सम्भव नहीं होता। योगी तो इन समस्त सुख-दुःख आदि भावों को ठीक उसी प्रकार अनुभवमात्र करेगा, जिस प्रकार द्रष्टा दृश्य का अनुभव करता है। भोक्ता जिस प्रकार भोग्यरूप में उन्हें ग्रहण करता है, उस प्रकार योगी नहीं कर सकेगा; क्योंकि वह द्रष्टा होने के कारण निर्लिप्त, उदासीन तथा स्वच्छ होता है। दर्पण जिस प्रकार स्वच्छ होने पर भी अपने समीपवर्ती नाना प्रकार के वर्णों को ग्रहण करता है, योगी भी बहुत कुछ वैसे ही करता है, उससे अधिक नहीं।

यह एक ओर तो योगी की निर्विकारता का परिचायक है, परन्तु दूसरी ओर यह उसकी शक्ति की न्यूनता का निदर्शन है। यदि योगी इस प्रकार उदासीन न रहकर भोक्ता के साथ सचमुच ही भोक्ता बन सकता अर्थात् पापी के साथ पापी, पुण्यात्मा के साथ पुण्यात्मा, सुखी के साथ सुखी एवं दुःखी के साथ दुःखी बन सकता तथा ऐसा होते हुए भी वह सर्वातीत रह सकता तो उसका महत्त्व अधिक होता। इसको सम्भव बनाने के लिये योगी को अपने मन का विश्लेषण करने की सामर्थ्य प्राप्त करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मन को शरीर से बाहर किये बिना केवल देह में स्थित मन की वृत्ति के द्वारा यह विशाल कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मन देह त्याग कर कभी बाहर नहीं जा सकता। अवश्य ही यह साधारण मनुष्य की बात है। साधारण मनुष्य केवल मृत्यु के समय ही देह से बाहर निकल सकता है, अर्थात् मृत्युकाल में ही उसके मन का बाहर निकलना सम्भव है; परन्तु विशेष योगाभ्यास के फल से जीवित काल में ही ऐसा नहीं हो सकता, सो बात नहीं है। इसे सिद्ध करने के लिये मन और देह के पारस्परिक सम्बन्ध को शिथिल करना होगा। मन कर्म के प्रभाव से अहङ्कार के अधीन होकर देह में आबद्ध हो रहा है। अभिनव कर्म के द्वारा तथा गुरुदत्त कौशल के प्रभाव से जब यह बन्धन क्रमशः शिथिल हो जाता है, तब जिसे ग्रन्थिमोचन कहते हैं वही योगक्रिया

निष्पन्न होती है। यद्यपि उस समय भी मन देह को आश्रय करके ही रहता है, तथापि वह इच्छा करने पर देह को त्याग भी सकता है। इसके बाद एक विषय में और भी योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। मन जिस समय देह में सञ्चरण करता है, उस समय जिन मार्गों का अवलम्बन करके उसे चलना पड़ता है, उनका नाम है 'मनोवहा नाडी'। देहके भीतर असंख्य मनोवहा नाड़ियाँ इधर-उधर प्रवाहित हो रही हैं; परन्तु ये बहुधा नाना प्रकार के क्लेद और मल के द्वारा आबद्ध रहती हैं। जब क्रिया के प्रभाव से ये नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब मन के लिये सञ्चरण करना सहजसाध्य हो जाता है। देह के भीतर जो नाड़ियाँ हैं, वे केवल देह में ही हैं—ऐसी बात नहीं है। वे तो शरीर के बाहर विराट् विश्व में भी फैली हुई हैं। इस नाड़ीजाल के द्वारा प्रत्येक मनुष्य के साथ प्रत्येक मनुष्य यही क्यों, प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु संश्लिष्ट है। इन सब का ज्ञान न होने के कारण मनके लिये इच्छानुसार सञ्चरण करना सम्भव नहीं होता। इसके सिवा एक वस्तु और आवश्यक है। जिस देह में प्रविष्ट होकर भोक्तारूप में उसके सुख-दुःख तथा अन्यान्य भावों का अनुभव करना है, उसके साथ योगी के शरीर का योग जिस नाड़ी के द्वारा प्रतिष्ठित है उसे पृथक्रूप से दृष्टि के सामने रखना आवश्यक है। क्योंकि इस मार्ग का अवलम्बन करके ही उसे देह से निकलना होगा। यह जानना बहुत कठिन नहीं है; क्योंकि विदेह धारणा का अभ्यास होने पर इष्ट व्यक्ति को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। उस समय उसके साथ जिस सूत्र का योग होता है, उसे पकड़ लेना कठिन नहीं होता।

इस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लेने पर योगी महाविदेहा नाम की धारणा के अभ्यास का अधिकारी होता है। इस महाविदेहा धारणा के द्वारा ही परकाय-प्रवेश सम्भव होता है। विदेह धारणा और महाविदेहा धारणा मूलतः अभिन्न हैं, तथापि पहली कृत्रिम है और दूसरी अकृत्रिम—यही पार्थक्य है। विदेह धारणा के अभ्यास से ही क्रमशः महाविदेहा धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाती है। जब तक मन और देह का सम्बन्ध शिथिल नहीं होता, तब तक देह से मन को बाहर निकालना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः जीवित अवस्था में मन को पूर्णतया बहिर्गत होना कभी सम्भव नहीं होता। मन कुछ अंश में देह को अवलम्बन करके स्थित रहता है तथा आंशिकरूप में एक, दो अथवा अनेक होकर वह बहिर्गत होता है। एक को अनेक भागों में विभक्त किये बिना महाविदेहा धारणा का सूत्रपात होना कठिन है। मन अर्थात् मूल मन योगी की इच्छा के अनुसार देह में रहता है तथा विभक्त किया हुआ मन उससे निकल कर जिस काया में प्रविष्ट होना होता है, उसके साथ युक्त हो जाता है। दोनों के साथ अर्थात् देहस्थ मूल मन के साथ पृथक् किये गये अंशरूप मन का एक सम्बन्ध रहता है। अर्थात् दोनों एक सूत्राकार तेजोमय पदार्थ के द्वारा जुड़े रहते हैं। यह सूत्र संकोच-विकासशील होता है, विकास के समय प्रयोजन होने पर इसे इच्छानुसार दूर सञ्चालन किया जा सकता है और संकोच के समय यह मूल मन में आकर लीन हो जाता है। अभीष्ट काया में मन

को प्रवेश कराने के लिये किसी एक प्रवेशद्वार का अवलम्बन करके ही काम बनाना पड़ता है। जिस काया में मन को प्रवेश कराना है, उससे सम्बन्धित मनको उद्भूत नहीं किया जायगा, अथवा अपने साथ युक्त नहीं किया जायगा तो प्रवेश करने वाला मन प्रयोजन के अनुरूप कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। प्रबल इच्छा शक्तिसम्पन्न मन को अभिभूत करनेके लिये उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल शक्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अत्यन्त प्रबल शक्ति यदि स्वायत्त न हुई तो सब प्रकार की कायाओं में प्रवेश होना सम्भव नहीं होगा। दुर्बल मन सबल मन में युक्त होने जायगा तो स्वयं ही उसमें लीन हो जाने की आशङ्का रहेगी। अतएव कायान्तर-प्रवेश के पूर्व अपनी सामर्थ्य और योजनाशक्ति किस परिणाम में विकास को प्राप्त हुई है, इस पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि यह समझ में आ जाय कि निर्दिष्ट काया से सम्बद्ध मन अभिभूत होने योग्य नहीं है तो ऐसी स्थिति में योगी के लिये इस प्रकार की काया में प्रवेश करने की चेष्टा करना उचित नहीं है। /

अबतक जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझ में आ सकता है कि केवल मन को पृथक् कर लेने से तथा देह से बाहर निकाल लेने से ही अन्य शरीर में प्रविष्ट होने का कार्य नहीं किया जा सकता; इसके लिये मन का बलशाली होना आवश्यक है। मन किसी काया में आविष्ट होता है तो उसके साथ उसकी इन्द्रियाँ भी आविष्ट हो जाती हैं। मन के बाहर निकलने पर इन्द्रियों को पृथक् रूप से बाहर निकालने में कोई कष्ट नहीं होता। योगियों का कहना है कि जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ अपने नायक अथवा नायिका बिना कोई विचार किये, अनुसरण करती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मन का अनुसरण करती हैं। वस्तुतः सारी इन्द्रियाँ एक प्रकार से मन का ही बहिर्मुख धारावाहिक आभासमात्र हैं। जिस काया में मन आविष्ट होता है, उस काया का मन अभिभूत होने के साथ-साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी उसी तरह अभिभूत हो जाती हैं। योगी के मन और इन्द्रियाँ उस काया में प्रविष्ट होकर यथास्थान सन्निविष्ट हो जाते हैं तथा चारों ओर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

इस आवेश की स्थिति में अभिभूत मन तथा अभिभावक मन की अवस्था में एक नियत सम्बन्ध विद्यमान रहता है। मन जिस परिमाण में अभिभूत होता है, उसी परिमाण में अभिभावक मन चैतन्यरूप से कार्य करने में समर्थ होता है। यदि मन पूर्णतः अभिभूत हो जाय, तो आवेश-त्याग के पश्चात् उसमें लौकिकरूप से किसी प्रकार की स्मृति नहीं होती। परन्तु संस्कारों का सञ्चय तथा अलौकिक स्मृति अभिभव के उपरान्त भी रह सकती है। दूसरी ओर, अभिभावक मन आविष्ट देह के पूर्व संस्कारों से उत्पन्न भोगों को तथा भाव आदि को ठीक अपने ही समान अर्थात् अभिन्नभाव से प्राप्त करता है। आवेश के बाद अभिभावक मन लौट जाने के समय आंशिक रूप से इन सारे भोग और भावों की स्मृति को

साथ ले जाता है। इस प्रकार से योगी दूसरे के सुख-दुःख को साक्षात् रूप से भोग कर उसे क्षीण कर सकता है। इसका कारण यही है कि योगी उस समय आंशिक रूप होने पर भी आविष्ट काया के साथ अभिन्न होकर एक प्रकार से उस काया के भोक्तारूप में परिणत हो जाता है। यदि मूल मन के साथ योग बनाये रखना सम्भव न होता, यदि पूर्णरूप से पूर्व देह छोड़कर अभीष्ट देह में प्रवेश हो जाता, तो इस प्रकार का व्यापार सम्भव नहीं था; क्योंकि वैसी स्थिति में अपनी देह के त्याग के साथ ही योगी को परकाया का अभिमान उदित हो जाता और तब उस देह के लौकिक अभिमानी के रूप में ही रहना पड़ता। यह उसके लिये आत्मलोप के अतिरिक्त और कुछ न होता। और यदि योगी दुर्वल होकर इस प्रकार किसी प्रबल आधार में प्रविष्ट होने की चेष्टा करता तो इससे उसका चित्त लय हो जाता और वह जडत्व अर्थात् अचेतन स्थिति को प्राप्त हो जाता। ये दोनों ही अवस्थाएँ उसके लिये आत्मलोप के सिवा और कुछ न होती। परन्तु अपने देह से सम्बद्ध मूल मन के अवस्थित रहने पर मन आंशिक रूप में ही बाहर निकलता है तथा परकाया में आविष्ट होने के समय योगी उसके साथ अभिन्न होकर उसकी सुख-दुःख आदि की अनुभूति साक्षात् भाव से ग्रहण करने में समर्थ होता है; तथापि उसका मन चेतन द्रष्टा के रूप में स्थिरतापूर्वक स्थित रहता है। यह चैतन्य की अवस्था है, जड़ की नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि देह के साथ मन के संयोग की रक्षा न हो तो द्रष्टा के रूप में चैतन्य अवस्था में रहना सम्भव नहीं होता और लय अवश्यम्भावी होता है।

जब योगी के मन और इन्द्रिय पूर्वदेह में यथास्थान लौट आते हैं, उस समय आविष्ट देह में अनुभूत सुख-दुःख और भाव आदि उसे स्मरण होते हैं। वस्तुतः यह स्मरणात्मक होने पर भी अत्यन्त स्पष्टता के कारण प्रत्यक्षवत् ही जान पड़ते हैं। इस प्रणाली से काया के साथ काया का संयोग स्थापित होने पर योगी के लिये आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं। अर्थात् इच्छा करने पर योगी आविष्ट काया से संश्लिष्ट भोग और भाव आदि को इच्छानुसार खींच ले सकता है। इसके परिणामस्वरूप आविष्ट देह और तदभिमानी जीवके कर्म-फल का भार अपेक्षाकृत हलका हो जाता है। इस प्रकार अपनी काया से अपनी ही तपस्या से उत्पन्न शुद्ध तेज को उस काया में प्रेरित किया जा सकता है। इसके द्वारा उस शरीर तथा उसके अभिमानी जीवका उत्कर्ष और कल्याणसाधन किया जा सकता है।

परन्तु परकाय-प्रवेश न कर सकने पर केवल विदेहधारणा से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा इस प्रकार महाकरुणा का खेल नहीं खेला जा सकता; क्योंकि इस अवस्था में योगी द्रष्टा ही रहता है, भोक्ता होकर भोग ग्रहण नहीं कर सकता। दूसरे के प्राप्य भोग में भाग न ले सकने के कारण वह अपने भोग द्वारा किसी का भोग काटने या न्यून करने में समर्थ नहीं होता। द्रष्टा जिस

प्रकार दृश्य से परे रहता है, उसी प्रकार योगी परकीय सुख-दुःख के द्वारा अस्पृष्ट ही रह जाता है। यह महाकरुणा के विकास के लिये उपयोगी अवस्था नहीं है।

गुरु की गुरुता का कार्य केवल दूर और समीप के समस्त पदार्थों के अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति से ही नहीं हो जाता। दीक्षादान के समय गुरु को अपने विशुद्ध ज्ञानशरीर का अंश प्रदान करके शिष्य के ज्ञानशरीर के निर्माण का मार्ग परिष्कृत करना पड़ता है। बीज खेत में पड़ने पर जिस प्रकार अङ्कुरित होकर वृक्षरूपमें परिणत हो सकता है, उसी प्रकार गुरु के द्वारा प्रदान की हुई काया भी बीजरूप में शिष्यक्षेत्र में पड़ कर विकसित हुआ करती है। उपर्युक्त प्रणाली से पृथक् किया हुआ मन ही गुरुकी दी हुई ज्योतिर्मय काया का स्वरूप है। अतएव अपने मन के अंशद्वारा जो दूसरों की काया में प्रविष्ट नहीं हो सकते, वे गुरु के गुरुतापूर्ण कर्म को किस प्रकार सम्पन्न कर सकेंगे। केवल यही नहीं, एक स्थान से दूसरे स्थान में किसी शक्ति के सञ्चरित होने पर उस दूसरे स्थान से भी उस स्थान की एक शक्ति प्रथम स्थान में सञ्चारित हो जाती है। उपर्युक्त प्रणाली से योगी का मन किसी काया में समाविष्ट होकर जब अपने स्थान में लौटता है, तब उस मन से भी कुछ अंशको अलग करके अपने साथ ले आता है। इस प्रकार योगी अपने-अपने अभीष्ट मनों को अपने भीतर लाकर धारण करने में समर्थ होता है।

यहाँ एक गम्भीर रहस्य का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। साधारण भाव से परकाया-प्रवेश न करके यदि गुरु के किसी निजी कार्य-साधन के लिये वैसा किया जाय तो इससे गुरु के मन का अंश दीर्घकालतक अर्थात् शिष्य के देह-त्यागतक उस शिष्य-देह में ही निवद्ध रह जाता है। ऐसी स्थिति में शिष्य के मन को अभिभूत कर रखने की आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रकारान्तर से वह गुरु के मन के अधीन ही रहता है। इच्छा करने पर गुरु इस अंश को किसी समय भी लौटा ले सकते हैं। परन्तु इसमें शिष्य को वञ्चित करना पड़ता है, अतएव कृपामय गुरु ऐसा क्यों करेंगे। शिष्य की मृत्यु के साथ ही गुरु का मन शिष्य के मन को आकर्षण कर अपनी काया में लौट आता है। शिष्य का मन गुरु के मन के साथ मिल कर अपने कर्म के प्रभाव से जितनी उन्नति करता है, गुरुस्थान में आकर गुरु की काया में उसे तदनुरूप ही स्थान प्राप्त होता है। इस स्थान में आनेपर अर्थात् गुरु-काया में स्थान प्राप्त करने पर वह अजर और अमर सत्ता में सत्तावान् होकर मृत्युराज्य से तर जाता है। इधर गुरु के द्वारा प्रेरित मन का अंश भी गुरु के मूल मन में स्थान प्राप्त कर कर लेता है।

शिष्य के देह में रहते समय वस्तुतः गुरु का मन ही कर्म करता है, पर करता है शिष्य की काया और मन के साथ एक सूत्र में जुड़ कर ही; किन्तु गुरु में अभिमान न होने के कारण तथा शिष्य में स्वकाया का अभिमान विद्यमान

रहने के कारण, यह कर्म शिष्य के कर्म के रूप में ही गिना जाता है तथा उसका फल भी शिष्य को ही प्राप्त होता है। गुरुकृपायुक्त कर्म का स्वरूप ही यह है।

जो योगी जितने अधिक लोगों को कायाप्रवेश द्वारा अपना सकते हैं, उतनी ही अधिक संख्या में मन उनमें मिल जाते हैं तथा उतने ही अधिक व्यापक-रूप में वे विश्वकल्याण करने में अपनी क्रियाशक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। काय-प्रवेश न कर सकने पर ठीक-ठीक दूसरों का उपकार नहीं किया जा सकता एवं खण्ड आत्मा अनेकों को अपना कर विशाल नहीं बन सकता।

सांख्य-सप्ततिकी एक अनुपलब्ध कारिका

[महामहोपाध्याय डा० श्रीउमेश मिश्र, उपकुलपति—कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा]

सांख्यदर्शन पर उपलब्ध रचनाओं में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' प्राचीन-तम कृति मानी जाती है। यह एक बुद्ध-भिक्षु के द्वारा सन् ५५८-५६९ ई० के मध्य में अनूदित की गई थी, जो सुवर्णसप्तति[1] के नाम से अभिहित है। ऐसा कहा जाता है कि किसी एक बौद्ध विद्वान् ने ईश्वरकृष्ण[2] के सुवर्णसप्तति के ही अनुकरण पर तथा उसी का (सुवर्णसप्तति का) खण्डन करने के हेतु अपने परमार्थसप्तति की रचना की। इन सन्दर्भों के अतिरिक्त सांख्य-कारिका के एक पद्य में हमें 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः' उपलब्ध होता है, जो इस विचार का समर्थन करता है कि मूल रचना में सत्तर पद्य थे।

सम्प्रति (१) केवल उनहत्तर कारिकाओं पर ही गौडपादाचार्य का भाष्य प्राप्त होता है। (२) तत्त्वकौमुदी में उपलब्ध सत्तरवीं-बहत्तरवीं कारिकाएँ एवं कुछ इतर समालोचनाएँ स्पष्टतः मूलकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। (३) बहत्तरवीं कारिका के सम्बन्ध में चीनी रूपान्तर निश्चयपूर्वक कहता है—'इह मेधावी कश्चित् आह आर्याम्'। एवं यह स्पष्ट है कि मूल पाठ्य-रचना में से एक कारिका बहुत प्राचीन काल से—परमार्थ के भी समय से पहले—छूट रही है। लोकमान्य तिलक[3] तथा महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज[4] जैसे विद्वानों ने

१. बौद्ध त्रिपिटक की पुस्तकसूची।

२. पं० श्री ऐयास्वामीकृत 'सुवर्णसप्तति' की भूमिका, पृ० ४३।

३. संस्कृत रिसर्च खण्ड १ भा० २।

४. जयमंगला टीका की भूमिका पृ० ९।

भी इसी विचार को प्रकट किया है। किन्तु इसके विपरीत श्री न० ऐयास्वामी शास्त्री का विचार है कि तिरसठवें पद्य को छोड़ कर—जो कि परमार्थ के द्वारा अनूदित नहीं है और एकहत्तरवाँ पद्य जिसे चीनी समालोचना किसी एक विद्वान् से सम्बधित वतलाती है—(इस प्रकार) हम सांख्यकारिका में निश्चित रूप से कुल सत्तर पद्य पाते हैं।

इस प्रकार सांख्यसप्तति से खोई हुई कारिका के सम्बन्ध में हमारे सामने दो विचार हैं। ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ का विषय अड़सठ कारिका तक समाप्त हो जाता है, जब कि उनहत्तरवीं कारिका केवल ग्रन्थ का प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करते हुए ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयास है। अतः वर्तमान उनहत्तरवीं कारिका के साथ ग्रन्थ समाप्त हो जाता है और स्पष्टतः सत्तरवीं-बहत्तरवीं कारिकाएँ ग्रन्थ का अवयव नहीं बनतीं। बाद में चलकर कुछ समय के पश्चात् वे (सत्तरवीं-बहत्तरवीं कारिकाएँ) किसी सम्पादक अथवा किसी लेखक के द्वारा अवश्य ही जोड़ दी गई होंगी। अतः तथ्य यह है कि छूटी हुई कारिका (ग्रन्थ के) अन्त के पूर्व ही कहीं अवश्य होनी चाहिये। लोकमान्य तिलक इसे ठीक इकसठवीं कारिका के पश्चात् स्थापित करते हैं और उन्होंने कुछ ऐसे तथ्यों का भी सुझाव दिया है—जो कि उनके (लो० तिलक के) अनुसार—जिस तत्त्व से उस कारिका का सम्बन्ध होना ही चाहिये था।

इन विचारों को अपने सामने रख कर, अब हम इस समस्या का और अधिक सतर्कता से पर्यालोचन करें। हमें यह विदित है कि भारतीय दर्शन के अन्य पद्धतियों की भाँति सांख्य शास्त्रने भी अपने क्षेत्र को सीमित किया है। दूसरी कारिका में ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि सांख्यदर्शन के अनुसार 'व्यक्त', 'अव्यक्त' और 'ज्ञ' का वास्तविक ज्ञान जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य अर्थात् दुःखत्रय के नाश की सिद्धि करेगा। पुनः तीसरी कारिका में ऊपर कथित तीन तत्त्वों के विभागों का नामोल्लेख किया गया है। अब दूसरा प्रश्न यह है कि हमें उन तीन् तत्त्वों के वास्तविक ज्ञान कैसे हों? इस हेतु कारिकाकार तीन उचित प्रमाणों का उल्लेख करता है। 'दृष्ट'. 'अनुमान' और 'आप्तवचन' जिनके द्वारा 'व्यक्त', 'अव्यक्त' एवं 'ज्ञ' का ज्ञान हो सकता है।

इस स्थल पर इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रमाणों के विचार करने की आवश्यकता केवल प्रमेयों के लिये ही होती है। 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'[1] इस कारिका से उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। इसी से पुनः यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाणों की संख्या और स्वरूप प्रमेय के स्वरूप पर ही पूर्णतया अवलम्बित होती है। अर्थात् यदि प्रमेय ऐसे हों—जैसा कि हमें चार्वाक-दर्शन में उपलब्ध होता है—जिन्हें एक ही प्रमाण के द्वारा जाना जा सकता हो, तो दो प्रमाणों में

---

१. कारिका ४।

विश्वास करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी पचीस तत्त्व जिनमें कि सांख्य के तीनों तत्त्वों का विभाजन किया जाता है, केवल तीन प्रमाणों के द्वारा ही जाने जा सकते हैं। यह भी स्पष्ट है कि इन तीन प्रमाणों का प्रयोजन वर्त्तमान प्रसङ्ग से सम्बन्धित इन्हीं पचीस तत्त्वों के सच्चे अनुभूति के लिए हैं।

इन तथ्यों को स्मरण रख कर जब हम 'किस प्रमाण के द्वारा किस प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है' इस विचार के निरीक्षण के लिए आगे बढ़ते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि 'व्यक्त' का ज्ञान 'दृष्ट' के द्वारा होता है, जैसा कि गौडपाद कहते हैं—'व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्'[1]। 'अव्यक्त' (जो कि अतीन्द्रिय है) का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है, जिसके लिङ्ग चौदहवीं–पन्द्रहवीं कारिकाओं में दिए हुए हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रथम दो प्रमेय क्रम से प्रथम दो प्रमाणों के द्वारा ज्ञात किये जाते हैं। अब केवल एक प्रमेय अवशेष रह जाता है जिसके ज्ञान के लिए हमें प्रमाण को खोजना है। साथ ही हमें एक और भी प्रमाण (आप्त-वचन) उपलब्ध है जिसे सार्थक बनाना है। यही बात 'सामान्यतस्तु दृष्टात्' इत्यादि छठी कारिका में स्पष्ट है।

प्रमेय के विषय में चर्चा करने से पूर्व अब हम सांख्य के पुरुष का निरीक्षण करना अधिक आवश्यक समझते हैं। सतरहवीं कारिका में पुरुष के स्थिति के हेतु (लिङ्ग) दिए गए हैं, और दूसरी कारिका में हमें पुरुष के संख्या के विषय में बतला दिया गया है और यह सिद्ध है कि पुरुष बहुत हैं।

जो कुछ ज्ञान हम दशवीं और ग्यारहवीं कारिका से प्राप्त करते हैं उसीसे हमें 'पुरुष' का स्वभाव भी अवगत हो जाता है। तदनुसार, अन्य विशेषताओं में 'एकत्वम्'[2], 'पुरुष' की एकसर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। ऐसा होने पर हम कारिका अठारह के 'पुरुषबहुत्व' और दशवीं–ग्यारहवीं कारिकाओं के 'पुरुषएकत्व' के मध्य में सामञ्जस्य कैसे स्थापित कर सकते हैं? यह निःसन्दिग्ध है कि ये दो उसी पुरुष की ओर सङ्केत नहीं कर सकते। और भी सांख्य के विचारानुसार इसका पुरुष निर्लिप्त, त्रिगुणातीत अलिङ्गादि है। इन परिस्थितियों में, सतरहवीं और अठारहवीं कारिकाओं में प्राप्त हेतुओं को सांख्य 'पुरुष' अर्थात् 'ज्ञ' से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं है। तब फिर सतरहवीं एवं अठारहवीं कारिकाओं से सांख्य-सप्ततिकार का क्या अभिप्राय है? यह एक ऐसी समस्या है जिसे हमें सर्व-प्रथम सुलझा लेना उचित है।

इसका सुस्पष्ट एवं एक ही उत्तर यह है कि सांख्य में कमसे कम दो पुरुष हैं

---

१. भाष्य, छठी कारिका पर।

२. कारिका १०।

(१) 'ज्ञ' जिसका तात्पर्य 'चैतन्य' है, जिसकी विशेषताएँ दशवीं और ग्यारहवीं कारिकाओं में गिनाई गई हैं तथा जिसमें 'अव्यक्त' में पाई जाने वाली 'एकत्व' की भी विशेषता सम्मिलित है; और (२) 'बद्ध-पुरुष' जो सतरहवीं तथा अठारहवीं कारिकाओं में (जिसमें बहुत्व की विशेषताएँ सम्मिलित हैं) दिये गये हेतुओं से सम्बद्ध हैं।

'ज्ञ' की अपनी विशेषताएँ हैं, किन्तु फिर भी वे विशेषताएँ इसकी स्थिति को अनुमान के द्वारा स्थापित करने के लिए लिङ्ग नहीं हो सकते। एवं इस 'ज्ञ' का विशेष-ज्ञान अनुमान के क्षेत्र से परे है। जहाँ तक 'बद्ध-पुरुष' (जो कि बहुत हैं) का सम्बन्ध है, ऐसे हेतु हैं जो कि अनुमान के द्वारा इसके स्थिति को सिद्ध कर सकते हैं। अतः सांख्य का केवल एक ही तत्त्व जो सिद्ध करने के लिए अवशेष रह जाता है, वह यही 'ज्ञ' है और जिसके लिए 'आप्तवचन' ही एकमात्र प्रमाण है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'प्रत्यक्ष' के सहारे हम 'व्यक्त' का ज्ञान प्राप्त करते हैं, 'अनुमान' के द्वारा हमें 'अव्यक्त'—अप्रकटित और 'बद्ध-पुरुष' का भी ज्ञान होता है, और यह तृतीय प्रमाण 'आप्तवचन' है जिसके द्वारा हमें तृतीय तत्त्व अर्थात् 'ज्ञ' का ज्ञान प्राप्त होता है। यही छठी कारिका का स्पष्ट अर्थ है।

जब हम बहुत गहनता से इन कारिकाओं का अध्ययन करते हैं तो यह मालूम पड़ता है कि वर्त्तमान ग्रन्थ में 'ज्ञ' की स्थिति का कोई विशेष विवेचन नहीं दिया गया है। सतरहवीं कारिका भी 'बद्ध-पुरुष' की ओर ही संकेत करती हुई जान पड़ती है, यही कारण है कि गौडपाद इसकी (बद्ध-पुरुष की) स्थिति को अनुमान के द्वारा इसी कारिका-भाष्य में सिद्ध करते हैं। ग्रन्थ में 'ज्ञ' की स्थिति का विवेचन ठीक 'अव्यक्त' के विवेचन के पश्चात् ही होनी चाहिए, अर्थात् कारिका सोलहवीं के पश्चात् तथा कारिका सतरहवीं के पूर्व। इसी स्थान में खोई हुई उस एक कारिका की स्थिति वाञ्छनीय है, ऐसा हमें स्पष्ट प्रतीत होता है।

इन वस्तुस्थितियों से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि (१) निश्चय ही एक ऐसी कारिका है जो वर्तमान पाठ से छूट रही है, (२) यह अनुपलब्ध (छूटी हुई) कारिका 'ज्ञ' की स्थिति की ओर संकेत करती है और (३) इस अनुपलब्ध कारिका का समुचित स्थान वर्तमान सांख्यसप्तति की सोलहवीं और सतरहवीं कारिका के मध्य में होनी चाहिए।

इस प्रकार सुनिश्चित (अन्वय) रीति से हम उक्त निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उक्त परिणाम को प्रमाणित करने के हेतु, अब हम इस समस्या को व्यतिरेक मार्ग से निरूपण करते हैं।

इस 'ज्ञ' के स्वतन्त्र विवेचन की अवहेलना किए जाने पर (जो कि इससे सम्बन्धित किसी कारिका के, ग्रन्थ के चीनी भाषा में अनुवाद होने के भी और

१. वैसे तो तीन 'पुरुष' हैं। देखिए—डा० उमेशमिश्रकृत—सांख्ययोगदर्शन।

पहले-अप्राप्य हो जाने के कारण है) समालोचकों ने सांख्य की कारिका की पद्धति को उपस्थित करते समय पाठ्य-ग्रन्थ में कुछ असामञ्जस्य उत्पन्न कर दिए हैं । इस प्रकार—

(१) 'ज्ञ' का भ्रम से बद्ध-पुरुष के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया गया है । परिणामतः बद्ध-पुरुष की स्थिति, (जो कि अनुमान के द्वारा कारिका सतरह में दिए गए हेतुओं की सहायता से सिद्ध हो चुकी है) के साथ 'ज्ञ' की भी स्थिति सिद्ध हो चुकी हुई मान ली गई है । अतः समालोचकों को सांख्य के पचीस तत्त्वों में से एक भी तत्त्व ऐसा नहीं मिला जिसे तीसरे प्रमाण से सिद्ध करना अवशेष रह गया हो । अर्थात् तीसरे प्रमाण की सांख्य के पचीस तत्त्वों की सिद्धि के लिए कोई भी आवश्यकता नहीं है । अतः तृतीय प्रमाण के मानने का प्रयोजन ही क्या है ? अर्थात् सांख्य के पचीस तत्त्वों के 'व्यक्त', 'अव्यक्त' एवं 'ज्ञ' से सम्मिलित 'पुरुष' की स्थिति केवल प्रत्यक्ष (दृष्ट) और अनुमान के द्वारा ही सिद्ध हो जाने पर, समालोचकों ने तीसरे प्रमाण अर्थात् 'आप्तवचन' का किसी भी सांख्य के तत्त्व को समझने के लिए (जिसके लिए ही प्रारम्भ में इसका प्रयोजन था और (सांख्य) प्रणाली में सम्मिलित किया गया था) कोई समुचित प्रयोग न कर सके । इसीलिए सांख्य-शास्त्र में तृतीय प्रमाण की स्थिति को येन केन प्रकारेण सार्थकता प्रदान करने के लिए उन्होंने स्वर्ग, अपूर्व (अदृष्ट-शक्ति), देवता, महत् और अन्य तत्त्वों के क्रम को, याग, इन्द्र, उत्तरकुरु, स्वर्गीय परियाँ, उत्तरावती आदि आदि वस्तुओं का परिचय दिया, जिन्हें सिद्ध करने के लिए उन्होंने (समालोचक गणों ने) तीसरे प्रमाण का प्रयोग किया गया हुआ समझ रक्खा है । किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि इन 'स्वर्ग' इत्यादि में से किसी का वस्तुतः सांख्य के पचीस तत्त्वों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । यदि उनकी स्थिति कहीं है भी तो वे सभी (सांख्य के) पचीस तत्त्वों में सम्मिलित कर लिए गए हैं और इस प्रकार इनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता जिनके ज्ञान के लिए किसी विशेष प्रमाण की आवश्यकता पड़े । सांख्य के पचीस तत्त्वों के ज्ञानार्थ ही सांख्य-शास्त्र के द्वारा स्वीकृत तीन प्रमाणों का पूर्ण प्रयोजन है । हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि यदि सभी पचीस तत्त्वों का ज्ञान केवल दो ही प्रमाणों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता हो तो तीसरे प्रमाण के अस्तित्व को मानने का कोई तुक ही न रह जाता और शास्त्र इसे (तीसरे प्रमाण को) केवल इसी के लिए ही (अर्थात् प्रमाण किसी प्रयोजनवश नहीं, प्रत्युत प्रमाण प्रमाण के लिए ही) कदापि मान्यता न दिए होता । परन्तु हमें यह निःसन्दिग्धरूप से विदित है कि शास्त्रने न केवल इन तीन प्रमाणों को स्वतन्त्र रूप से मान्यता ही दी है, प्रत्युत सभी को समान महत्त्व भी प्रदान किया है, क्योंकि शास्त्र के तत्त्वों की जानकारी के लिए वे सभी परमावश्यक हैं ।

(२) ग्यारहवीं कारिका का चतुर्थ चरण—'तद्विपरीतः तथा च पुमान्'

है। सभी समालोचकों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—पुरुष की विशेषताएँ तत् अर्थात् 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' दोनों से विभिन्न और प्रधान के भी समान हैं। अर्थात् कारिका दश में वर्णित विशेषताएँ केवल 'व्यक्त' से ही सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु 'प्रधान' एवं पुरुप से उनका साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। पुन कारिका ग्यारह में वर्णित विशेषताएँ 'व्यक्त' और 'प्रधान' दोनों में पाई जाती हैं, किन्तु पुरुष में नहीं पाई जाती। अर्थात् 'व्यक्त' हेतुमान् है, शाश्वत नहीं है, सर्वव्यापी नहीं है, कार्यशील है, एक नहीं है, आश्रित तथा लिंग है, अवयवों से युक्त है और परतन्त्र है। किन्तु 'प्रधान' (अव्यक्त) और 'पुरुष' (ज्ञ) दोनों की विशेषताएँ इन विशेषताओं से ठीक विपरीत हैं, अर्थात् उनका कोई कारण नहीं है, वे नित्य हैं, सर्वव्यापी हैं, निष्क्रिय हैं, एक हैं, अवयवों से युक्त नहीं हैं, किसी के लिङ्ग नहीं हैं, किसी के आश्रित नहीं हैं और (बिलकुल) स्वतन्त्र हैं।

ऊपर से यह सिद्ध है कि 'अव्यक्त' की भाँति पुरुष भी एक है। परन्तु ऊपर सङ्केत किये गए असमञ्जसता के कारण, (जोकि भ्रमसे 'ज्ञ' को बद्ध-पुरुष के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना है) समालोचकों को पुरुष में एकत्व की विशेषता (जोकि बहुत माना गया है) को आरोपित करने में कठिनाई मालूम पड़ी। अतएव उन्होंने एकत्व जैसी विशेषता को 'पुरुष' के साथ स्थापित नहीं की, जोकि ठीक नहीं है। फिर भी यह जानना सन्तोषजनक है कि केवल गौडपाद कहते हैं— 'पुमानपि एकः'[1]।

(३) बिना तीसरे तत्त्व अर्थात् 'ज्ञ' के विवेचन से शास्त्र अपूर्ण रह जाता है।

ये ही तीन प्रधान बातें हैं जिनकी हम सम्यक् प्रकार से व्याख्या नहीं कर सकते, यदि हम 'ज्ञ' की स्वतन्त्र सत्ता और उसका एक पृथक् कारिका में वर्णन होना नहीं स्वीकार करते। अतः दार्शनिक विज्ञान के क्षेत्र में सांख्य का स्थान संक्षेप में इस प्रकार समझाया जा सकता है—'ज्ञ' के नाम से अभिहित एक पुरुष है जो केवल चैतन्य, निर्लिप्त एवं सदैव मुक्त है यह शाङ्कर-वेदान्त की भाँति केवल आप्त-वचन के द्वारा ही जाना जा सकता है। एक दूसरा भी पुरुष है जिसे 'जीवात्मा' कहा जा सकता है और जो बहुत है, जो इस संसार में जन्म लेता है तथा दूसरे संसार में जाता है और इस प्रकार सतरहवीं और अठारहवीं कारिकाओं में वर्णित विशेषताएँ इन्हीं जीवात्माओं पर लागू होती हैं।

सांख्य के अनुसार, जैसा कि पैंसठवीं और अडसठवीं कारिकाओं में वर्णित हैं। ये जीवात्माएँ या बद्ध-पुरुष जब मुक्त भी हो जाते हैं तो हम

---

१. कारिका ११ पर भाष्य।

जानते हैं कि वे गुणों से सम्यक् प्रकार से मुक्त नहीं होते। पैंसठवीं कारिका में हमें बतलाया गया है कि—'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः' अर्थात् पुरुष अपने में ही रहते हुए एक द्रष्टा की भाँति प्रकृति को देखता रहता है। वाचस्पति के द्वारा दिया हुआ ऊपर का अर्थ विचारणीय है। उनका कहना है—"सात्त्विक्या तु बुद्धया तदाऽपि अस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथा एवम्भूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेः"। अर्थात् पुरुष एवं प्रकृति के विवेचनात्मक ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाने पर भी पुरुष का सात्विक-बुद्धि से कुछ सम्बन्ध बना ही रहता है, अन्यथा पुरुष के लिए यह कदापि सम्भव नहीं है कि वह प्रकृति को देखता रहे। उपर्युक्त बातों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि मुक्तावस्था में भी पुरुष 'सत्त्वगुण' अर्थात् 'प्रकृति' से सम्पूर्ण-रूप से मुक्त नहीं होता। बारहवीं कारिका से हम यह भी जानते हैं कि अकेला कोई भी एक गुण दूसरे दो गुणों के साथ के बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार मुक्तावस्था में भी रजस् एवं तमस् उपस्थित रहते ही हैं—यद्यपि वे दबे हुए रूप में हैं—जब कि सत्त्व का ही प्राधान्य रहता है। यह सांख्य-सिद्धान्त के–"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"–ही ठीक अनुरूप है। यही कारण है कि मुक्तावस्था में भी सांख्य में 'द्वैत-भान' अथवा 'बहुत्व भान' विद्यमान रहता ही है, परन्तु शाङ्कर-वेदान्त में ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार इस विशेष समस्या के ऊपर सांख्य एवं शाङ्कर-वेदान्त के विचारों में विशाल मतभेद है।

सम्भवतः हमारे प्राचीन विद्वानों की इस तथ्य की ओर दृष्टि नहीं गई कि सांख्य बिलकुल एक बौद्धिक शास्त्र है और इसलिए यह उन्हीं तत्त्वों का विवेचन करता है जो लौकिक जगत् के क्षेत्र से परे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने सांख्य-शास्त्र को इस ढंग से समझा है, मानो यह शास्त्र न्याय अथवा वैशेषिक शास्त्र के सदृश ही स्थूल-जगत् से सम्बन्ध रखता हो। यही कारण है कि हमें ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं के वास्तविक पर्यालोचन में इतनी सन्दिग्धताओं का सामना करना पड़ता है। सम्भवतः यही कारण था कि जब कि एक कारिका अनुपलब्ध हो गयी थी, फिर भी आलोचक इसकी अनुपस्थिति की ओर ध्यान नहीं दे सके और वास्तविकता का अधिक विचार किए बिना ही अपने सम्मुख प्राप्त कारिकाओं पर ही आलोचना लिखते रहे।

इतना और कह देना आवश्यक है कि शांकर-वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से संसारावस्था में भी जीवात्माओं में परस्पर भेद नहीं है। ये सभी जीवात्माएँ एक और अभिन्न हैं एवं यह पुनः परब्रह्म से सर्वथा अभिन्न ही है अर्थात् ये सभी एक ही परम तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। भेद तो उपाधि के कारण मालूम होता है। उपाधि काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है।

इस मत के विरुद्ध में (भिन्न दृष्टिकोण से, कुछ नीचे के स्तर से) सांख्य का कहना है कि संसारावस्था में भी एक जीवात्मा सर्वथा दूसरे जीवात्मा से

भिन्न है, जैसा 'संघातपरार्थत्वात्' आदि कारिका में स्पष्ट है और इसीलिये इसी को सिद्ध करने के लिये ईश्वरकृष्ण ने कहा है—'पुरुषबहुत्वं सिद्धम्'। न कि 'ज्ञ' में 'बहुत्व' सिद्ध करने के लिये।

सम्प्रति इस छोटे से निबन्ध के द्वारा मैं इस समस्या को अन्य सुयोग्य विद्वानों के पर्यालोचन के लिए छोड़ देता हूँ।

अपोहभङ्गवादः

[सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः श्री १००८ स्वामिमहेश्वरानन्दसरस्वतीमहोदयः, काशी]

ननु शाब्दप्रमाया अविसंवादकत्वं न सेद्धुमर्हति, अर्थाभावेऽपि शब्दोपलब्धेः। यानि पदानि सत्स्वर्थेषु दृश्यन्ते तानि तदभावेऽपि दृश्यन्ते। अतो विधिरूपेण पदानामर्थाप्रतिपत्तेः अन्यापोहरूपेणैवाभिधायकत्वमेष्टव्यम्। यथाभिधीयते—'अपोहः शब्द-लिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते।'

तथा हि—यद्यत्र ज्ञाने प्रतिभासते तत् तस्य विषयः, यथा इन्द्रियजन्ये ज्ञाने स्फुटं प्रतिभासमानो विशेषवपुरर्थो घटादिर्विषयः, शाब्दे लैङ्गे च बहिरर्थतत्त्वविनिर्मुक्तं स्वरूपमात्रं प्रतिभासते यतः, अतः तदेवास्य विषयः, तच्च स्वरूपम् अन्तर्मात्रानिविष्टं विज्ञाननिहितं वासनेत्यर्थः। नच बहिरर्थासंपृक्तस्वरूपमात्रविषयकत्वं तत्प्रभवेण ज्ञानेन सेत्स्यति, पदलिङ्गयोः बहिरर्थासंपर्केण तत्साध्यतायां बाधायोगात्। तथा हि कोऽर्थो बाह्यस्तस्य विषयी स्यात्? स्वलक्षणः (व्यक्तिः) सामान्यात्मा वा। नाद्यः, तत्र संकेताभावेन पदप्रवृत्त्ययोगात्। यो हि संकेतसमये विद्यते न स व्यवहारसमये, क्षणिकत्वेन विभिन्नत्वात्। संकेतव्यवहारानुगतो हि संकेतयितुमुचितः। अथच 'एतस्यैतदभिधायकम्' इति यत्र बोधे सम्बन्धप्रतिभानं तत्र न नियतेन्द्रियविषययोः शब्दस्वलक्षणार्थयोः प्रतिभासनम्, तत्राभातयोस्तु तयोः परस्परं सम्बन्धस्थापनं न युज्यते, अव्यवस्थापत्तेः। ययोः अस्यैतदिति सम्बन्धस्थापकज्ञाने न प्रतिभानं तयोः सम्बन्धसिद्धौ गोपदतदभिधेययोः सम्बन्धग्राहिणि बोधे अप्रतिभातयोः अश्वपदतदभिधेययोरपि सम्बन्धो विहितः स्यात्। एवं च स्वलक्षणेन अज्ञातसम्बन्धं पदं कथं तदभिदध्यात्। शाब्दप्रमायाश्च स्वलक्षण (व्यक्ति) विषयकत्वे ऐन्द्रियकबोधवत् सुविशदभानप्रसक्तिः केन वार्येत? तदभिहितं भर्तृहरिणा वाक्यपदीये—

अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः।
शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो नतु प्रत्यक्षमीक्षते॥

अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते॥ (२।४।४५)

ननु एकस्य वस्तुनो रूपे उभे भवतः स्पष्टम् अस्पष्टं चेति, स्पष्टं चैव शब्दप्रभवायां प्रतीतौ प्रतिभातीति न साम्प्रतम्, एकस्य रूपद्वययोगानुपपत्तेः। प्रयोगश्चात्रार्थे भवति-यज्जन्ये बोधे यस्य न प्रतिभानं नासौ तस्य विषयः सङ्गच्छते, नच रूपजनिते बोधे रसः प्रतिभासते। नैव च भानं शाब्दे स्वलक्षणस्य। अपिच वस्तुविषयकत्वे चाभिप्रेते पदानां नानार्थाभिधाने मतानामनुत्थानप्रसङ्गः। अभिहितञ्च—

परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु॥

वास्तवैकार्थकत्वे शब्दानां निर्निमित्ता प्रवृत्तिः सिद्धान्तभेदभिन्नेषु नित्यानित्यत्रिगुणत्वादिमयेषु अर्थेषु बोधकत्वं न स्यादिति तदर्थः। तस्मान्न स्वलक्षणोऽर्थः पदानाम्। नापि द्वितीयः (सामान्यात्मा), पारमार्थिकस्य सामान्यस्यासिद्धत्वात्। असिद्धिश्च मनुष्यविषाणवत् अर्थक्रतेरभावात् सुप्रसिद्धा। अर्थकृत्यभावश्च नित्यैकप्रकृतेः सामान्यस्य अर्थकृतायाः क्रमेण यौगपद्येन च असंभवात् सिद्धः। सामान्यस्य निरासश्च तत्र तत्र निरूपित इति न तत्र व्याप्रियते। तस्माद् नार्थः शब्दानां विषयः, किन्तु अन्यापोहः।

स च अर्धपञ्चमाकारः। जातिव्यक्तिज्ञानतदाकाराः सत्याः। अर्धत्वं तु दृश्यस्य सत्यतया विकल्पस्य असत्यतया। तत्र न जातिव्यक्त्योः शब्दवाच्यता, पूर्वोक्तयुक्तेः। नापि ज्ञानतद्रूपयोः, तयोरपि स्वेनाकारेण स्वलक्षणत्वात्, तयोः सङ्केताविषयतयापि शब्दाप्रतिवेदनात्। अपितु ज्ञानाकार एव दृश्यविकल्पौ एकीकृत्य बाह्यरूपत्वेन अध्यस्य अर्धपञ्चमाकार उच्यते अन्यापोहः, बाह्यत्वमपोहस्य अर्धाकारः। स्वलक्षणं दृश्योऽर्थः, सामान्यप्रतिभासविकल्प्यः, तौ एकीकृत्य स्वलक्षणमेवैतदिति विकल्पबुद्धेर्विपयीक्रियते। शब्देन च अभिधीयते। तावेकीकृत्य इत्यस्य नायमभिप्रायो यत् स्वाकारे बाह्यारोप इति, अपितु अर्थानुभवे जाते तत्संस्कारजागरणेन तदाकारः समुद्भवन् विकल्पः विज्ञानाकारं बाह्याभिन्नं निश्चिनोति, नतु अभिन्नं विधत्ते। अन्यथा स्वाकारे बाह्यारोपे जलारोपाद् मरीचिकायामिव स्वाकारे एव व्यवहर्तृजनानां प्रवृत्त्यापत्तेः। नापि बाह्ये स्वाकारारोपः संभवति, जलभ्रान्त्या जलार्थिन इव आरोप्यमाणं यत्फलं तदर्थितयैव प्रवृत्तेः प्रसङ्गात्, नतु अनारोपितफलार्थतया।

अपोहो निषेधः। स द्विप्रकारः—पर्युदासः प्रसज्यश्च। तत्राद्योऽपि द्वितयः—बुद्धिरूपः, अर्थरूपश्च। तयोः बुद्धिरूपः बुद्धिप्रतिभासः अनुगतरूपतया अर्थेषु अध्यवसाय-विषयः। अर्थरूपश्च अर्थात्मकः विजातीयव्यावृत्तिमद् अर्थस्वलक्षणम्। बुद्ध्यात्मनस्तु विशिष्टलक्षणमिदम्—प्रकृत्या

अन्योऽन्यविभिन्नान् अर्थान् एककार्यकर्तृत्वेन एककारणतया आलम्ब्य यदेकप्रत्यवमर्शात्मकम् अर्थप्रतिबिम्बरूपं ज्ञानं सञ्जातं तस्य 'अपोहः' इति नामधेयम्। वस्त्वंशच्छायामापन्नो विकल्पेन उल्लिखितबाह्यतया अभ्युपेयमानः विकल्पस्वरूपः स्वाकारविलक्षणाकारोत्पादकः 'अपोहः' अपोह्यते व्यावर्त्यते अनेनेति करणसाधनः, विकल्पान्तरवृत्तिरूपाद् विभिन्नतया आत्मना प्रतिभातत्वात्। अपोह्यते अन्यस्मादिति व्युत्पत्तिकः अन्यापोह इतरव्यावृत्तिः। एष तु मुख्यतयैव अन्यापोह-पदवाच्यतामालिङ्गति। हेतुत्रितयेन औपचारिकः अपोहः त्रिधा। निमित्ते नैमित्तिकधर्मारोपेण, नैमित्तिके निमित्तधर्मारोपेण, विभिन्नजातीयव्यावृत्तिमत्स्वलक्षणेन साकं ऐक्याध्यवसितया वा। अन्यापोहो हेतुः, इतरव्यावृत्तिमत्पदार्थप्राप्तिः फलम्। क्वचित् इतरव्यावृत्तिः फलधर्मः अपोहे हेतौ उपचरितो भवति। क्वचन हेतुवृत्तिधर्मः फले उपचर्यते, हेतुः इतरासंपृक्तं स्वलक्षणं, फलम् एकबोधाकारोऽन्यापोहः, स्वलक्षणवस्त्वनुभवेन अपोहस्य प्रादुर्भावात् अत्र खलु बीजभूते अनुभूयमाने स्वलक्षणे विद्यमानाया अन्यव्यावृत्तेः फलतामासादयति। एकप्रत्यवमर्शेऽध्यारोपणम्—इति भवति साध्वी संघटना। क्वापि विभिन्नजातीयात् व्यावर्तमानेन स्वलक्षणेन सार्धं बोधप्रतिष्ठितस्य आकारस्य ऐक्येन अध्यवसानाद् वा अन्यापोहरूपणम्, इति त्रिविधोऽपोहः पर्युदासात्मा व्याख्यातः।

प्रसज्यस्तु अपोहः—अयं घटः अघटो न भवति इति व्यावृत्तिमात्रपर्यवसायी। अतः सिद्धमेतद्—शब्दः निरूपणाधिगतस्य अन्यापोहस्यैव वाचकः उररीकरणीयः। वाच्यवाचकभावोऽपि अयं कार्यकारणभाव एव नेतरः। यतो बुद्धिप्रतिष्ठस्य प्रतिबिम्बस्य शब्दप्रभवत्वेन शब्दाभिधेयत्वं, प्रतिबिम्बस्य बीजत्वेन च शब्दस्य अभिधायकत्वम्—इति पूर्वपक्षः।

अत्रोच्यते—यदभिहितं भवद्भिः—'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्याम्' इति तन्न समीचीनतामञ्चति, यस्मात्केनचित्प्रमाणेन अपोहे साधिते अपोहः शब्दवाच्यतामृच्छेत्, न चासौ प्रमाणप्रमितः, तथाहि—अपोहसत्त्वे किं मानम्, प्रत्यक्षं वा, अनुमानं वा? । न प्रथमः, प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणगोचरत्वात्। नाप्यनुमानम्, तद्व्याप्यहेत्वभावात्। यतः असद्व्यावृत्त्या अगवादिव्यावृत्त्या वा व्याप्यं किञ्चन निमित्तं नैव विद्यते। सौगतनये हि ययोरुत्पाद्योत्पादकत्वं तादात्म्यं वा तयोरेव व्याप्तिरभ्युपेता। अन्यव्यावर्तनेन साकं तयोरुभयोरप्यसंभवः। इतरव्यावृत्तिः अपोहः—अकार्यव्यावृत्तिः कार्यत्वं स्वलक्षणं स्यात्, नित्यत्वनिषेधाकारं वा अनित्यत्वं वा भवेत्। न स्वलक्षणाकारं व्यावृत्तेः, अवस्त्वात्मकत्वात्, यद्वस्त्वाकारं न भवति, न भवति तत् स्वलक्षणं यथा मनुष्यशृङ्गम्। अनित्यत्वमपि नैव संगच्छते, व्यावृत्तेः निःस्वरूपतया पक्षयोरुभयोः तादात्म्यासंभवात्। खप्रसूतेन वन्ध्यासुतेन च समं कथं तादात्म्यसंभावना कस्यापि। अत एव न जन्यजनकत्वं, नीरूपत्वादेव। नहि वन्ध्यातनयः गगनकमलं वा कस्यचिज्जन्यं जनकं वा भवितुमर्हति। अथ मतं-वस्त्वभावेऽपि वस्तु ज्ञाने प्रतिबिम्बति, प्रतिबिम्बमेवापोहः, स च सर्वप्रत्यक्ष-

गोचर इति का आवश्यकता अनुमानविडम्बनायाः इत्यपि न स्थाने, ज्ञानस्य निराकारतायाः साधितत्वात्। तत्प्रतिबिम्बनस्य ज्ञाने उपपादयितुमशक्यत्वात्। अथवा अस्तु प्रतिबिम्बनम्, तथापि वक्तव्यं कस्य प्रतिबिम्बनम्, स्वलक्षणस्य सामान्यस्य वा। न तावदाद्य', यस्य यद् रूपं प्रतिबिम्बं तेन तद्रूपेण भवितव्यम्। यथा भूयते चन्द्रादिना। अनुगच्छंश्चाकारेण प्रतिबिम्बरूपः अन्यापोहोऽभिमतः। नच स्वलक्षणम् अनुगतम् इति गतं प्रथमकल्पेन। न द्वितीयः, भवतां मते सामान्यस्य असत्त्वात्, असतः प्रतिबिम्बनानुपपत्तेः, यथा गगनारविन्दस्य। अपिच ययोः प्रतिबिम्बाधारभावः तयोःप्रतिबिम्बनात् पूर्वं विविक्तरूपद्वयोपलम्भः—यथा वदनमुकुरयोः यथा वा चन्द्रजलाशययोः तथा ज्ञानसामान्याकारावपि प्रसज्येयाताम्।

इतश्च—वहनदोहनप्रभृतितत्तदेककार्यसाधनतया स्वलक्षणमेवानुगतं सामान्यमभ्युपेयते, अतो न कश्चिदभिहितदोषः समापतति इत्यपि कुशकाशावलम्बनमात्रम्, यस्मादर्थकारिता न सदातनी ततो यदा अर्थक्रिया न भवति तदा तामकुर्वाणं न प्रतिबिम्बेत्। अपरञ्च एककार्यक्रियाविधायित्वं स्वलक्षणे यद्यनु वर्तमानमेकं विभाव्यते तदा बाह्यं तद्विभावनावशात् तदेव विभाव्यमास्ताम्; परित्यज्यतां प्रतिबिम्बाभिनिवेशव्यसनम्। विस्तरस्तु अन्यत्रानुसन्धेयः।

मानाधीना मेयसिद्धिः

[पण्डितश्रीबदरीनाथशुक्लः, दर्शनविभागाध्यक्षः—वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः]

दर्शनशास्त्रेषु मानमेययोर्विषये पक्षद्वयं प्राप्यते। 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इत्येकः पक्षः, 'मेयाधीना मानसिद्धिः' इत्यपरः पक्षः। तत्र प्रथमस्यायमभिप्रायो यद् योऽर्थः प्रमाणेन परिच्छिद्यते स एवास्तित्वेनाभ्युपगन्तुमर्हः, यत्र तु प्रमाणं न प्रवर्तते सोऽत्यर्थं काम्यमानोऽपि नाङ्गीकर्तुं शक्यते, यत्रच प्रमाणं व्याप्रियते सोऽनिष्यमाणोऽपि प्रसभं स्वीकार्यतामापद्यते। फलतयाऽस्मिन् पक्षे सर्वैः सततमभ्यर्थ्यमानमपि क्लेशलेशाकलङ्कितं मृत्युत्रासविवर्जितं सर्वविधसौविध्यसम्पन्नं सकलैः स्तूयमानमहिम मानवजीवनं प्रमाणगोचरतया नोपगम्यते। मृत्युश्च यावद्बुद्धिबलोदयं सर्वैरपोह्यमानोऽपि मनसा चिन्त्यमान एव चिन्ताचितोद्दीपनपक्षोऽपि प्रमाणबलाद् बलादभ्युपगम्यमानतां भजते।

द्वितीयपक्षस्यायमाशयो यत् प्रमाणसत्त्वं प्रमेयसत्ताया उपजीवकम्। अर्थाद् यद् यद् वस्तु विद्यते, व्यवहारपदवीमारोहति तत्परिच्छित्तय एव प्रमाणानि परिकल्प्यन्ते,

अन्योऽन्यविभिन्नान् अर्थान् एककार्यकर्तृत्वेन एककारणतया आलम्ब्य यदेकप्रत्यवमर्शात्मकम् अर्थप्रतिबिम्बरूपं ज्ञानं सञ्जातं तस्य 'अपोहः' इति नामधेयम्। वस्त्वंशच्छायामापन्नो विकल्पेन उल्लिखितबाह्यतया अभ्युपेयमानः विकल्पस्वरूपः स्वाकारविलक्षणाकारोत्पादकः 'अपोहः' अपोह्यते व्यावर्त्यते अनेनेति करणसाधनः, विकल्पान्तरवृत्तिरूपाद् विभिन्नतया आत्मना प्रतिभातत्वात्। अपोह्यते अन्यस्मादिति व्युत्पत्तिकः अन्यापोह इतरव्यावृत्तिः। एष तु मुख्यतयैव अन्यापोह-पदवाच्यतामालिङ्गति। हेतुत्रितयेन औपचारिकः अपोहः त्रिधा। निमित्ते नैमित्तिकधर्मारोपेण, नैमित्तिके निमित्तधर्मारोपेण, विभिन्नजातीयव्यावृत्तिमत्स्वलक्षणेन साकं ऐक्याध्यवसितया वा। अन्यापोहो हेतुः, इतरव्यावृत्तिमत्पदार्थप्राप्तिः फलम्। क्वचित् इतरव्यावृत्तिः फलधर्मः अपोहे हेतौ उपचरितो भवति। क्वचन हेतुवृत्तिधर्मः फले उपचर्यते, हेतुः इतरासंपृक्तं स्वलक्षणं, फलम् एकबोधाकारोऽन्यापोहः, स्वलक्षणवस्त्वनुभवेन अपोहस्य प्रादुर्भावात् अत्र खलु बीजभूते अनुभूयमाने स्वलक्षणे विद्यमानाया अन्यव्यावृत्तेः फलतामासादयति। एकप्रत्यवमर्शेऽध्यारोपणम्—इति भवति साध्वी संघटना। क्वापि विभिन्नजातीयात् व्यावर्तमानेन स्वलक्षणेन सार्धं बोधप्रतिष्ठितस्य आकारस्य ऐक्येन अध्यवसानाद् वा अन्यापोहरूपणम्, इति त्रिविधोऽपोहः पर्युदासात्मा व्याख्यातः।

प्रसज्यस्तु अपोहः—अयं घटः अघटो न भवति इति व्यावृत्तिमात्रपर्यवसायी। अतः सिद्धमेतद्—शब्दः निरूपणासधिगतस्य अन्यापोहस्यैव वाचकः उररीकरणीयः। वाच्यवाचकभावोऽपि अयं कार्यकारणभाव एव नेतरः। यतो बुद्धिप्रतिष्ठस्य प्रतिबिम्बस्य शब्दप्रभवत्वेन शब्दाभिधेयत्वं, प्रतिबिम्बस्य बीजत्वेन च शब्दस्य अभिधायकत्वम्—इति पूर्वपक्षः।

अत्रोच्यते—यदभिहितं भवद्भिः—'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्याम्' इति तन्न समीचीनतामञ्चति. यस्मात्केनचित्प्रमाणेन अपोहे साधिते अपोहः शब्दवाच्यतामृच्छेत्, न चासौ प्रमाणप्रमितः, तथाहि—अपोहसत्त्वे किं मानम्, प्रत्यक्षं वा, अनुमानं वा ? । न प्रथमः, प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणगोचरत्वात्। नाप्यनुमानम्, तद्व्याप्यहेत्वभावात्। यतः असद्व्यावृत्त्या अगवादिव्यावृत्त्या वा व्याप्यं किञ्चन निमित्तं नैव विद्यते। सौगतनये हि ययोरुत्पाद्योत्पादकत्वं तादात्म्यं वा तयोरेव व्याप्तिरभ्युपेता। अन्यव्यावर्तनेन साकं तयोरुभयोरप्यसंभवः। इतरव्यावृत्तिः अपोहः—अकार्यत्वव्यावृत्तिः कार्यत्वं स्वलक्षणं स्यात्, नित्यत्वनिषेधाकारं वा अनित्यत्वं वा भवेत्। न स्वलक्षणाकारं व्यावृत्तेः, अवस्त्वात्मकत्वात्, यद्वस्त्वाकारं न भवति, न भवति तत् स्वलक्षणं यथा मनुष्यशृङ्गम्। अनित्यत्वमपि नैव संगच्छते, व्यावृत्तेः निःस्वरूपतया पक्षयोरुभयोः तादात्म्यासंभवात्। खप्रसूतेन वन्ध्यासुतेन च समं कथं तादात्म्यसंभावना कस्यापि। अत एव न जन्यजनकत्वं, नीरूपत्वादेव। नहि वन्ध्यातनयः गगनकमलं वा कस्यचिज्जन्यं जनकं वा भवितुमर्हति। अथ मतं-वस्त्वभावेऽपि वस्तु ज्ञाने प्रतिबिम्बति, प्रतिबिम्बमेवापोहः, सच सर्वप्रत्यक्ष-

गोचर इति का आवश्यकता अनुमानविडम्बनायाः इत्यपि न स्थाने, ज्ञानस्य निराकारतायाः साधितत्वात्। तत्प्रतिबिम्बनस्य ज्ञाने उपपादयितुमशक्यत्वात्। अथवा अस्तु प्रतिबिम्बनम्, तथापि वक्तव्यं कस्य प्रतिबिम्बनम्. स्वलक्षणस्य सामान्यस्य वा। न तावदाद्य', यस्य यद् रूपं प्रतिबिम्बं तेन तद्रूपेण भवितव्यम्। यथा भूयते चन्द्रादिना। अनुगच्छंश्चाकारेण प्रतिबिम्बरूपः अन्यापोहोऽभिमतः। नच स्वलक्षणम् अनुगतम् इति गतं प्रथमकल्पेन। न द्वितीयः, भवतां मते सामान्यस्य असत्त्वात्, असतः प्रतिबिम्बनानुपपत्तेः, यथा गगनारविन्दस्य। अपिच ययोः प्रतिबिम्बाधारभावः तयोःप्रतिबिम्बनात् पूर्वं विविक्तरूपद्वयोपलम्भः—यथा वदनमुकुरयोः, यथा वा चन्द्रजलाशययोः तथा ज्ञानसामान्याकारावपि प्रसज्येयाताम्।

इतरच्च—वहनदोहनप्रभृतितत्तदेककार्यसाधनतया स्वलक्षणमेवानुगतं सामान्यमभ्युपेयते, अतो न कश्चिदभिहितदोषः समापतति इत्यपि कुशकाशावलम्बनमात्रम्, यस्मादर्थकारिता न सदातनी ततो यदा अर्थक्रिया न भवति तदा तामकुर्वाणं न प्रतिबिम्बेत्। अपरञ्च एककार्यक्रियाविधायित्वं स्वलक्षणे यच्चनु वर्तमानमेकं विभाव्यते तदा बाह्यं तद्विभावनावशात् तदैव विभाव्यमास्तम्; परित्यज्यतां प्रतिबिम्बाभिनिवेशव्यसनम्। विस्तरस्तु अन्यत्रानुसन्धेयः।

मानाधीना मेयसिद्धिः

[पण्डितश्रीबदरीनाथशुक्लः, दर्शनविभागाध्यक्षः—वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः]

दर्शनशास्त्रेषु मानमेययोर्विषये पक्षद्वयं प्राप्यते। 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इत्येकः पक्षः, 'मेयाधीना मानसिद्धिः' इत्यपरः पक्षः। तत्र प्रथमस्यायमभिप्रायो यद् योऽर्थः प्रमाणेन परिच्छिद्यते स एवास्तित्वेनाभ्युपगन्तुमर्हः, यत्र तु प्रमाणं न प्रवर्तते सोऽत्यर्थं काम्यमानोऽपि नाङ्गीकर्तुं शक्यते, यत्रच प्रमाणं व्याप्रियते सोऽनिष्यमाणोऽपि प्रसभं स्वीकार्यतामापद्यते। फलतयाऽस्मिन् पक्षे सर्वैः सततमभ्यर्थ्यमानमपि क्लेशलेशाकलङ्कितं मृत्युत्रासविवर्जितं सर्वविधसौविध्यसम्पन्नं सकलैः स्तूयमानमहिम मानवजीवनं प्रमाणागोचरतया नोपगम्यते। मृत्युश्च यावद्बुद्धिबलोदयं सर्वैरपोह्यमानोऽपि मनसा चिन्त्यमान एव चिन्ताचितोद्दीपनपक्षोऽपि प्रमाणबलाद् बलादभ्युपगम्यमानतां भजते।

द्वितीयपक्षस्यायमाशयो यत् प्रमाणसत्त्वं प्रमेयसत्ताया उपजीवकम्। अर्थाद् यद् यद् वस्तु विद्यते, व्यवहारपदवीमारोहति तत्परिच्छित्तय एव प्रमाणानि परिकल्प्यन्ते,

न पुनः प्रकारान्तरसिद्धानि प्रमाणानि नूतनस्य प्रमेयस्य प्रतिष्ठापनाय क्षमन्ते। अस्मिन् पक्षे प्रमाणस्य प्रमेयमुखनिरीक्षकतया न तद्बलेन किमप्यपूर्वं वस्तु साधयितुं शक्यम्।

तत्र 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इति बौद्धातिरिक्तानां सर्वदर्शनानां प्रायः समानोऽभ्युपगमः। बौद्धानां च 'मेयाधीना मानसिद्धिः' इत्यभ्युपगमः। ते हि प्रमाणानामसाङ्कर्यलक्षणां प्रमाणव्यवस्थां मन्यन्ते। तन्नय एकस्य प्रमाणस्य विषये प्रमाणान्तरं न प्रक्रमते। त इत्थमभिप्रयन्ति यद् यदि नाम प्रमाणानि संकीर्येरन् तदा तानि प्रमाणपदादेव प्रच्यवेरन्। तथा हि अगृहीतार्थज्ञापनमेव प्रमाणस्य कृत्यम्। एकेन च प्रमाणेन गृहीतं गोचरयन्नगृहीतं ज्ञापयतीति प्रमाणकृत्याकारितया कथमिव प्रमाणभावमश्नुवीत? एतेनेदमेव निष्पद्यते यद् ग्राह्यभेद एव प्रमाण-भेदस्य निदानम्, अतः प्रमाणव्यवस्था प्रमेयपरतन्त्रा। इत्थं तद्दर्शने सामान्यविशे-षभावाद् वस्तूनां द्विरूपमात्रतयाऽसाङ्कर्येण तदुभयग्राहिप्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणद्वय-मेव सम्मतम्। अयमाशयः—यदि हि सामान्यविशेषालिङ्गितं सामान्यविशेषात्मकं वा किमपि वस्तु स्यात्तदा तदुभयग्राहके प्रमाणे तस्मिन् वस्तुनि नूनं प्रवर्तेयाताम्। सामा-न्यमात्रग्राहिणा विशेषमात्रग्राहिणा वा प्रमाणेन तस्य वस्तुनः साकल्येन ग्रहणा-सम्भवात्। परं तादृशं किमपि वस्तु अनुभूतिं व्यवहृतिं युक्तिपद्धतिं वा नारोहति, किन्तु केवलं सामान्यं केवलो विशेष एव च तामारोहतः। अतो विशेषग्रहणाय प्रत्यक्षं सामान्यग्रहणाय चानुमानं प्रमाणभावेन स्वीकार्यम्, प्रत्यक्षेण सामान्यस्यानुमानेन विशेषस्य च ग्रहणायोगात्।

इदं सौगतमतं प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारस्य स्याद्वादरत्नाकराभिधे टीकाग्रन्थे सोपन्यासमेवं निराकृतम्। तथा हि—अत्राह सौगतः—

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वित्वमेवं न युज्यते।
प्रत्यक्षमनुमानं चेत्येतत्तु घटतेतराम्॥

आः कुमते! मैवं वोचः। यतः स्वलक्षणसामान्यप्रमेय-द्वैविध्यात्प्रमाण-द्वैविध्यमित्याकूतं भवतः, तदनुचितम्, तथाविधप्रमेयद्वैविध्यस्यासम्भवात्। यदि च प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणमात्रविषयत्वमिष्यते, तदा ततः स्थिरस्थूलाद्याकारानध्यवसायेन प्रवृत्तिर्न स्यात्।

विज्ञानमन्यगोचरमन्यत्रार्थे प्रवर्तकमितीदम्।
व्यक्तं भवता कैतवमभ्यस्तं सौगत! कुतोऽपि॥

भवतु वा प्रमेयद्वित्वं, तथापि तत् प्रमाणद्वित्वस्य ज्ञातमज्ञातं वा ज्ञापकं भवेत्। यद्यज्ञातम्, तर्हि तस्य सर्वत्राविशेषात् सर्वेषामप्यविशेषेण तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गतो विप्रति-पत्तिर्न स्यात्। ज्ञातं चेत्, कुतस्तस्य ज्ञप्तिः? प्रत्यक्षादनुमानाद्वा, न तावत्प्रत्यक्षात् तेन सामान्यस्याग्रहणात्। ग्रहणे वा तस्य सविकल्पकत्वप्रसक्तिर्विषयसंकरश्च प्रमाणद्वि-त्वविरोधिनौ भवतः प्रसज्येयाताम्, नाप्यनुमानात् तेन स्वलक्षणस्याग्रहणात्। स्वलक्ष-णपराङ्मुखतया हि भवताऽनुमानमभ्युपगतम्। द्वाभ्यां प्रमेयद्वित्वस्याज्ञानेऽन्यतरस्यापि

प्रमाणद्वित्वज्ञापकत्वायोगः। अन्यथा देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां प्रतिपन्नाद् धूमद्वित्वात् तदन्यतरस्याग्निद्वित्वप्रतिपत्तिः स्यात्। द्वैविध्यमिति द्विष्ठो धर्मः, स च द्वयोर्ज्ञाने ज्ञायते नान्यथा, न ह्यज्ञातसह्यविन्ध्यस्य प्रतिपत्तुस्तद्गतद्वित्वप्रतिपत्तिरस्ति, प्रमाणद्वित्वात्तु प्रमेयद्वित्वज्ञप्तिस्वीकारे परस्पराश्रयदोषानुषङ्गः, सिद्धे हि प्रमेयद्वित्वेऽतः प्रमाणद्वित्वसिद्धिः, तस्याश्च प्रमेयद्वित्वसिद्धिरिति। ननु प्रत्यक्षानुमानयोः स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्प्रत्यक्षसिद्धमेव प्रमाणद्वित्वम्, केवलं यस्तथा प्रतिपद्यमानोऽपि न व्यवहरति स प्रसिद्धेन प्रमेयद्वैविध्यव्यवहारेण प्रवर्त्यत इति चेत्, तदप्यसारम्, प्रमेयद्वैविध्यस्यासिद्धत्वेनाभिहितत्वात्"।

युक्तिप्रधानशास्त्राणां मूर्धन्यं न्यायशास्त्रमपि नोक्तं पक्षं समर्थयति, तस्य हि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इत्येष एव पक्षोऽभिमतः, तदीये ग्रन्थजाते तत्पक्षानुगुणस्यैव वर्णनस्य प्राप्यमाणत्वात्, तथा हि वात्स्यायनेन मुनिना न्यायदर्शनस्यादिमसूत्रावतरणभाष्ये स्पष्टमुक्तम्—"प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्; प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा।"

प्रमाणं विना प्रमेयव्यवस्था न भवितुमर्हति, प्रमाणसत्तैव प्रमेयसत्ताया जीवातुरिति न्यायदर्शनप्रणेतुः महर्षेर्गौतमस्याप्यभीष्टम्। अत एव तेन न्यायदर्शनस्य प्रथमे सूत्रे प्रमाणस्यैव प्राथम्येनाभिधानं कृतम्, "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इति।

अयमेव पक्षो नव्यन्यायस्रष्टुः श्रीगङ्गेशोपाध्यायस्यापि सम्मत इति तद्वचसैव विभाव्यते, यथोक्तं प्रत्यक्षतत्त्वचिन्तामणेरुपक्रमे—"अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुरष्टादशविद्यास्थानेष्वभ्यर्हिततमामान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनिः प्रणिनाय। तत्र प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थं "प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इत्यादावसूत्रयत्। तेष्वपि प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिरिति प्रमाणतत्त्वमत्र विविच्यते" इति। अत्र सर्वेषां व्यवस्थितिः प्रमाणाधीनेति विस्पष्टयाऽभिधयैव प्रत्यपादि।

प्रमाणसिद्धोऽर्थः प्रसभं स्वीकार्यो भवति, न कश्चित्तमुपेक्षितुं क्षमत इत्ययमर्थो व्युत्पत्तिवादगूढार्थतत्त्वालोकाभ्यां दृढं समर्थितः। तथा हि व्युत्पत्तिवादे "राज्ञः पुरुष" इति वाक्यजे बोधे स्वत्वं संसर्गविधया भासते प्रकारविधया वेति विचारप्रस्तावे गदाधरेण प्रत्यपादि—

"यत्तु "राज्ञः पुरुषः" इत्यादौ राजस्वत्ववान् पुरुष इत्याद्यन्वयबोधोपगमे राजकीयं स्वत्वम्, राजस्वत्ववान् पुरुष इत्याकारकद्विविधानुमितेरेव तदतिरिक्ताविषयकत्वेन तादृशानुमितिं प्रति प्रत्येकं तादृशवाक्यघटितसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वद्वयम्, अस्मन्मते च तादृशानुमित्योस्तथाविधवाक्यजन्याद् राजकीयः पुरुष इत्येतादृशबोधादतिरिक्तविषयकतया तत्र तादृशसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनं नास्ति, तथाविधानुमिति-तथाविधशाब्दसामग्र्योश्च सत्योरनुमितेरेवोत्पत्तेः। अपितु राजकीयः पुरुष इत्याकारक-

स्वत्वसंसर्गकविधानुमितिं प्रत्येव तादृशसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वमेकं कल्पनीयमिति लाघवमिति। तदप्यकिञ्चित्करम्। भवद्भिर्यत्र यादृशानुमितिः स्वीक्रियतेऽस्माभिरपि तत्र तादृशानुमितेः स्वीकरणीयतयाऽनुमितौ शाब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वसाम्यात्। उपदर्शितस्थले भवद्भिरनुमितिः स्वीक्रियतेऽस्माभिरपि स्वीक्रियत इति कुतः प्रतिबन्धकताद्वयकल्पनम्?"

अत्र 'भवद्भिर्यत्र यादृशानुमितिः स्वीक्रियतेऽस्माभिरपि तत्र तादृशानुमितेः स्वीकरणीयतया' इत्यंशमाश्रित्य गूढार्थतत्त्वालोके श्रीबच्चाझामहोदयेनेत्थमालोचितम्—"अथ बुभुत्सिते ह्येकस्मिन्नर्थे विजातीयानुभवसामग्र्याः सन्निपाते कस्मिंश्चिदप्यनुभवे जायमाने बुभुत्सितार्थावगतिसाकल्यसम्पत्तेः पुनरवगतेरसम्पाद्यत्वमिति तत्र यत्सामग्र्या लघुत्वं तस्या एव फलजनकत्वम्। बुभुत्सितयोरर्थयोर्विजातीयानुभवसामग्र्योः सन्निपाते कयाप्येकयैवार्थगत्या भवितव्यं जातिसांकर्यज्ञानयौगपद्ययोरनभ्युपगमादिति बुभुत्सितार्थावगतिसाकल्यासम्पत्तेः पुनरवगतिः सम्पादनीया, सा च सामग्र्यधीना, तत्र गुरुसामग्रीसम्पादनापेक्षया लघुसामग्रीसम्पादनं युक्तमिति यत्सामग्र्या गुरुत्वं तस्या एव प्रथमतः फलजनकत्वमनुभवसिद्धम्। तथा चान्वयव्यतिरेकसहचारग्रहतर्कादिसम्पाद्यव्याप्तिग्रहाद्यपेक्षानुमितिसामग्रीतः शाब्दसामग्र्याः, शाब्दसामग्रीतश्च प्रत्यक्षसामग्र्या लघुभूताया अनतिरिक्तविषयिकायामनुमितौ शाब्दमतौ च प्रतिबन्धकत्वं विभिन्नविषयके शाब्दबोधे चानुमितिसामग्र्यास्तादृशे प्रत्यक्षे न शाब्दसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वं क्लृप्तम्, तदनुसृत्यैवानतिरिक्तविषयकत्वमनुमितिद्वयस्य प्रतिबध्यत्वप्रयोजकं प्रदर्श्य संसर्गतावादिना प्रतिबन्धकत्वद्वयोपादानं कृतम्, नह्यकस्मादनुमितिद्वयस्य प्रतिबध्यत्वमवलम्ब्य तदुद्भावितम्। स्वमते च प्रतिबध्यता-प्रयोजकस्यानतिरिक्तविषयकत्वस्यानुमितिद्वये विरहात्तयोस्तत्र स्वीकारेण प्रतिबन्धकताद्वयवारणं च कृतम्। एवं सति संसर्गतावादिनामनुमितिद्वयस्वीकारः प्रतिबध्यत्वप्रयोजकानतिरिक्तविषयकत्वविरहनिबन्धनो नाकस्मिकः, प्रकारतावादिनां तु प्रतिबध्यत्वप्रयोजकस्यानुमितिद्वये सत्त्वात्तत्स्वीकारो निर्युक्तिक इति 'भवद्भिर्यत्र' इत्याद्युक्तिरसंगतेति चेदुच्यते—

न ह्यनतिरिक्तविषयकत्वं प्रतिबध्यताया अवच्छेदकत्वप्रयोजकम्, इच्छोत्तेजकत्वानुरोधेन त्वयापि तस्यानङ्गीकारात्, अन्यथा प्रतिबन्धकताद्वयापादनमेवासङ्गतं स्यात्, किन्त्वनुत्पाद्यत्वनियततया गृहीतं सदेव प्रयोजकमेषितव्यं तत्किमनुत्पत्त्या अपराद्धं यस्याः प्रयोजकत्वं न स्वीकरणीयम्, सा चानुत्पत्तिश्चेद् भवद्भिः राज्ञः पुरुष इत्यादिशाब्दसामग्रीकालेऽनुमितिसामग्रीसत्त्वे राजकीयः पुरुष इत्यनुमितावेव प्रमाणतः परिच्छिन्ना, न राजकीयं स्वत्वं, राजकीयस्वत्ववान् पुरुष इत्यनुमित्योः, तां तथैवाङ्गीकुर्मो वयं तत्परीक्षया निष्प्रयोजनत्वात्, परीक्षासहस्रेणापि प्रामाणिकस्यार्थस्यान्यथा कर्तुमशक्यत्वाच्च तथा चास्माकमपि राजत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यताशाल्यनुमितित्वावच्छिन्ना एकैव प्रतिबध्यता तन्निरूपितप्रतिबन्धकता चेति नाधिक्यं प्रतिबन्धकत्वस्य"।

अस्मिन् सन्दर्भे 'परीक्षासहस्रेणापि प्रामाणिकस्यार्थस्यान्यथा कर्तुमशक्यत्वात्' इत्युक्त्या स्पष्टमेवोद्घोषितं यत् प्रमाणेन योऽर्थः सिध्यति सोऽकाम्योऽप्यवश्यं स्वीकार्यतामापद्यते, फलतया प्रमेयव्यवस्थितेः प्रमाणाधीनत्वं सुतरां पर्यवस्यति। न्यायकुसुमाञ्जलेः पञ्चमे स्तबके 'हेत्वभावे फलाभावात्प्रमाणेऽसति न प्रमा' इति ब्रुवन्नुदयनाचार्योऽपि समर्थयामास प्रोक्तमर्थम्।

ननु प्रामाणिकेषु न्यायशास्त्रीयप्रबन्धेषु मानसिद्धेर्मेयाधीनत्वसमर्थका अपि सन्दर्भा दृष्टिपथमुपसर्पन्ति। यथा श्रीवर्धमानेन न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशेऽतीन्द्रियार्थसम्बद्धचार्वाकविचारचर्चामाचरता तत्पक्षेण प्रथमस्तबकप्रारम्भप्रायभागे प्रत्यपादि—

'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्यजन्ययोगजधर्माजन्य - जन्यस्वविषयकसविकल्पकाजन्य-जन्यसाक्षात्कारविषयत्वं प्रमेयत्वव्यापकम्' इति। अर्थात् यत्किमपि प्रमेयं बुद्धिमारोहति तत्सर्वं विशिष्टप्रत्यक्षगोचरमेव, यदि किमपि पारीकृततादृशप्रत्यक्षपरिधिर्भवेत्तदा तत्स्वसत्ताऽनुरोधेन प्रत्यक्षातिरिक्तं प्रमाणं साधयेत्, परं नास्ति तथाविधं किञ्चिदिति न प्रत्यक्षतोऽतिरिक्तं प्रमाणं सेद्धुमर्हति, अनेन कथनेन मानसिद्धेर्मेयाधीनत्वं स्फुटमवद्योतितं भवति।

एवं तृतीयस्तवके उदयनाचार्येणोपमानाप्रामाण्यवादिपक्षमुपपादयता प्रत्यपादि—

"न तावदस्य विषयः सादृश्यव्यपदेश्यं पदार्थान्तरमेव सम्भावनीयम्, न हि भावाभावाभ्यामन्यः प्रकारः सम्भावनीयः, परस्परविधिनिषेधरूपत्वात्; न भाव इति निषेधमात्रेणैवाभावविधिः, ततस्तं विहाय कथं स्ववचनेनैव पुनः सहृदयो निषेधेन्नाभाव इति। एवं नाभाव इति निषेध एव भावविधिः, ततस्तं विहाय स्ववाचैवानुन्मत्तः कथं पुनर्निषेधेन्न भाव इति। अत एवम्भूतानामेकताऽप्यशक्यप्रतिपत्तिः, प्रतिषेधविध्योरेकत्रासम्भवात्। तस्माद् भावाभावावेव तत्त्वम्। भावत्वेऽपि गुणवन्निर्गुणं वेति द्वयमेव पूर्ववत्। पूर्वं द्रव्यमेव, उत्तरं चाश्रितमनाश्रितं वेति द्वयमेव पूर्ववत्। तत्रोत्तरं समवाय एव, अनवस्थाभयात्। आश्रितं तु सामान्यवन्निःसामान्यं चेति द्वयमेव पूर्ववत्। तत्र प्रथममपि स्पन्दोऽस्पन्द इति द्वयमेव। एतच्च यथासंख्यं कर्म गुण इति व्यपदिश्यते, निःसामान्यं निर्गुणमाश्रितं तु एकाश्रितमनेकाश्रितं वेति प्रागिव द्वयमेव। एतदपि यथासंख्यं विशेषः सामान्यं चेत्यभिधीयते, तदेतत्सादृश्यमेतास्वेकां विधामासादयन्नातिरिच्यते। अनासादयन्न पदार्थीभूय स्थातुमुत्सहते। ततोऽभावेन सह सप्तैव पदार्था इति नियमः। अतो नोपमानविषयोऽर्थान्तरम्" इति।

अनेन प्रघट्टकेन प्रस्फुटोऽयमर्थो यन्मानव्यवस्था मेयाधीनैव। यतो यदि सादृश्यं पदार्थान्तरमभविष्यत्तदा नूनमेव स्वग्राहे विलक्षणं प्रमाणमुपमानाख्यं व्यवस्थापयिष्यत्, नास्ति सादृश्यं क्लृप्तप्रमाणपरिच्छेदानर्हं पदार्थान्तरमिति न तद्बलेनोपमानं सेद्धुं प्रभवति।

तत्रैवात्मनो नयेनोपमानप्रामाण्यं प्रतिष्ठापयताऽऽचार्येण ग्राह्यबलादेव ग्राहकस्योपमानस्यास्तित्वं समर्थितम्। यथा—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥

वचनमिदं निःसंशयं स्पष्टयति यद् योऽर्थः क्लृप्तप्रमाणैः परिच्छेत्तुं न शक्यते स स्वपरिच्छेदकं प्रमाणान्तरं प्रतिष्ठापयतीति।

तदित्थं मानसिद्धेर्मेयाधीनत्वपक्षस्यापि बहुलमुपलब्धौ कथमिहैकान्ततो मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वपक्षः सिद्धान्तपक्षतयोद्घोषयितुमर्हः?

अत्रोच्यते—ये सन्दर्भा मानसिद्धेर्मेयाधीनत्वपक्षस्यानुगुणतयोपन्यस्तास्ते न वस्तुतस्तथाभूताः, आपाततस्ते तथात्वेन प्रतिभासमाना अपि तात्पर्यतो मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वपक्षस्यैव परिपोषकाः। यथा न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशे वर्धमानेनोक्तं यत् प्रमेयत्वं प्रत्यक्षगोचरत्वनियतम्, प्रत्यक्षागोचरं यदि किमपि प्रमेयमभविष्यत्तदा तदनुरोधेन प्रमाणान्तरं कल्पितमभविष्यत्। एवमुदयनाचार्येण उपमानाप्रामाण्यवादिपक्षमुपपादयता प्रोक्तं यत् क्लृप्तप्रमाणापरिच्छेद्यं सादृश्याख्यं पदार्थान्तरं यद्यभविष्यत्तदा तद्ग्राहकतयोपमानाख्यं प्रमाणान्तरं स्वीकृतमभविष्यत्, परं नास्ति तादृशं सादृश्यमिति उपमानाख्यप्रमाणान्तरकल्पनमनावश्यकम्। स्वमतेनोपमानस्य प्रामाण्यं प्रतिष्ठापयता च तेन प्रत्यक्षादिभिरग्राह्यस्य शब्दार्थसम्बन्धस्य ग्राहकतयोपमानमभ्युपगतम्। अनयोः सन्दर्भयोस्तात्पर्यस्य सूक्ष्मेक्षिकयाऽन्वेषणेनेदमेव प्रतिभासते यत् कस्यापि प्रमेयस्यास्तित्वाभ्युपगमस्तदैव कर्त्तुं शक्यते यदि तत् केनचित् प्रमाणेन परिगृहीतं भवेत्। यदि नाम माननिरपेक्षाऽपि मेयसिद्धिः सम्भवेत्तदा किमिव वर्धमानेन आचार्येण वा प्रत्यक्षादिक्लृप्तप्रमाणैरग्राह्यस्य वस्तुनो ग्राहकतया प्रमाणान्तरस्वीकारस्यानुरोधः क्रियेत? अत उक्तप्रकारा ग्रन्थसन्दर्भा अपि वस्तुतो मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वपक्षस्यैवानुगुणाः, नान्यपक्षस्येति निर्विवादम्। अतएव न्यायमञ्जर्यां तार्किकमूर्धन्यो जयन्तभट्टोऽपि बभाण, यत्—

"अदृष्टे तु स्वर्गापवर्गभिन्ने नैसर्गिकमोहान्धतमसविलुप्तालोकस्य लोकस्य शास्त्रमेव प्रकाशः, तदेव सफलसदुपायदर्शने दिव्यं चक्षुरस्मदादेः।"

अत्र शास्त्रप्रमाणबलेन स्वर्गादेरस्तित्वं प्रतिष्ठापयता तेन मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वं सुतरां सुस्पष्टीकृतम्।

अत्र आगमिका औपनिषदाश्च विवदमाना अन्यथैवाचक्षते। ते हि प्रमाणनैरपेक्ष्येण स्वयं सिद्धं शिवं सम्बोध्य,

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः?।
विचारयन्नित्थमुदारदर्शनः
स्वयं प्रकाशं शिवमात्मवित् खलु॥

अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते ।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥

इत्यादिकं ब्रुवाणा मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वनियमं निराकुर्वन्तः प्रतीयन्ते । औपनिषदा अपि—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

"विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?" इत्याद्युपनिषद्वचनान्युपन्यस्यन्तः प्रमाणापरतन्त्रं ब्रह्म स्वीकुर्वन्तो मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वपक्षं प्रतिक्षिपन्त इव प्रतिभासन्ते । परं विचारेण तेऽपि तत्प्रतिकूला न सिध्यन्ति, यत आगमिकानां शिव औपनिषदानां ब्रह्म च न प्रमेयकोटिमाटीकेते । शिवो ब्रह्म च तत्तन्नये न प्रमेयत्वं धत्तः, अपि तु प्रमाणवर्गं स्वसत्तया जीवयतः । अतस्तयोः प्रमाणनैरपेक्ष्यं मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वं न मनागपि विरुणद्धि ।

तदेवं मेयसिद्धेर्मानाधीनत्वपक्षस्यैव सिद्धान्तपक्षतया सिद्धत्वेन प्रमाणानि प्रसभमपि प्रमेयसाधने प्रभवन्तीत्यर्थस्य निर्गलनेन स्याद्वादरत्नाकरे चार्वाकादीन्नास्तिकानुद्दिश्य सन्दृब्धं वचनमिदं सर्वथा स्थान एव—

एवं स्वर्गापवर्गप्रकटनविहितौ बद्धकक्षे परोक्षे
सम्प्राप्ते मानभावं झटिति विघटितो नास्तिकस्याभिसन्धिः ।
तस्मादास्तिक्यमेकं मनसि शुभलतोल्लासजीमूतकल्पं
मत्वा सद्धर्मकर्म प्रतनुत सततं स्वेष्टसिद्ध्यै विदग्धाः ! ॥

अतएव—"यतो धर्मस्ततो जयः", "धर्मो रक्षति रक्षितः", "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" इति वेदशास्त्रसम्मतं सनातनं सिद्धान्तमेव मूर्धगतं कृत्वा पूज्यपादैः स्व० महामहोपाध्यायपण्डितश्रीविद्याधरशर्मभिराजीवनं वेदधर्मरक्षणव्रतं सर्वस्वत्यागेन पर्यपालीति तदीयजीवनप्रणाल्या अनुकरणमेव तेभ्यो वास्तवः श्रद्धाञ्जलिरिति मे मतम् ।

———

वेदान्त-दर्शन

[महामहोपदेशक पण्डितप्रवर श्रीछज्जूरामशास्त्री विद्यासागर, दिल्ली]

दर्शनानि समस्तानि शोभन्ते तावदेव हि ।
वेदान्तदर्शनं यावन्न पश्यामः शिरोमणिम् ॥

महामुनि बादरायण व्यासने 'वेदान्त-दर्शन' लिखा । इस दर्शन का निर्माण महाभारत के निर्माण से पूर्व हुआ था, क्योंकि भारतान्तर्गत गीता में ब्रह्मसूत्र नाम से वेदान्त-सूत्रों का उल्लेख है । यथा—'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।'

भगवान् बुद्ध के चार शिष्य हुए—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक । इनके चार सिद्धान्त हैं—क्षणिकत्ववाद, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद । इन चारों सिद्धान्तों का खण्डन वेदान्त-दर्शन के तर्कपाद में मिलता है, तथापि यह बात वेदान्त-दर्शन को बुद्ध से पीछे का सिद्ध नहीं करती है । क्योंकि ये चारों सिद्धान्त भगवान् बुद्ध से बहुत प्राचीन हैं जो कि अनादि काल से चले आ रहे हैं । इसीलिए वाल्मीकि रामायण में नास्तिक चार्वाक के सिद्धान्त का खण्डन मिलता है और भागवत में जैन सिद्धान्त का खण्डन है । पीछे के नास्तिकों ने इन सिद्धान्तों को अपनाया था ।

वेदान्त-दर्शन में चार अध्याय और ५५० सूत्र हैं । प्रथमाध्याय में स्पष्ट अस्पष्ट उपास्य और ज्ञेय ब्रह्मविषयक वाक्यों का विचार तथा प्रधानत्वेन सन्दिह्यमान अजादि पदों का विचार है । द्वितीयाध्याय में सांख्ययोग, न्याय-वैशेषिकों से विरोध का परिहार, सांख्यादि मतों की दुष्टता, सृष्ट्यादि श्रुतियों का परस्पर विरोध-परिहार और इन्द्रिय-विषयक श्रुतिविरोध परिहार है । तृतीयाध्याय में जीव का परलोक गमन, त्वं-पदार्थ तत्पदार्थ शोधन, निर्गुणब्रह्मविषयक पदोपसंहार, निर्गुण ब्रह्मविद्या के बहिरङ्ग—चातुराश्रम्य—और अन्तरङ्ग साधन शम-दम-निदिध्यासन आदि का निरूपण है । चतुर्थाध्याय में सगुण-निर्गुण ब्रह्मविद्या का फलनिर्णय, म्रियमाण जीव का उत्क्रान्ति-प्रकार, सगुण ब्रह्मज्ञानी का उत्तर-मार्ग वर्णन और निर्गुण ब्रह्मज्ञानी की विदेह कैवल्यमुक्ति वर्णित है ।

सामान्यतः जीव और जगत् ये दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर जगत् की सत्ता व्यवहार सिद्धयर्थ है । क्योंकि देश-काल कल्पना और ईश्वर-भक्ति ही द्वैत की दृढ भित्ति है । यद्यपि कठोपनिषद् में द्वैत की निन्दा की है । यथा—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।" तथापि—"भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्" यह सिद्धान्त भी निर्भ्रान्त है । जब निर्गुण ब्रह्म-माया से अवच्छन्न हो जाता है तब उसको "ईश्वर" नाम से व्यवहृत करते हैं । विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण यही ईश्वर है ।

न्याय-वैशेषिक ईश्वर को इस जगत् का निमित्त कारण मानते हैं, परन्तु
इस मत में कोई जीव दुःखी और कोई सुखी यह व्यवस्था ठीक नहीं बैठती।
यदि कर्मानुसार मानें तो जो श्रुति ईश्वर को कर्मानुसार स्रष्टा बतलाती है
वही उसे उपादान कारण भी बतलाती है। वैशेषिक मत में अचेतनपरमाणुओं से
जगत् की उत्पत्ति मानी है। यह असङ्गत है, क्योंकि अचेतन परमाणुओं में
संयोगकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि स्वाभाविक मानें तब उनमें विराम न
होकर प्रलयोच्छेद होगा। और जगदुत्पादक परमाणुओं में रूप-रसादि गुण भी
मानने पड़ेंगे।

सगुण वस्तु सदा अनित्य होती है। सांख्य-योग के मत में यह जगत् प्रकृति
और पुरुष दोनों द्वारा निर्मित है। जिनमें पुरुष क्रियाहीन पङ्गु है, जो कि निर्माता
हो ही नहीं सकता। और प्रकृति अचेतन है, उसमें प्रवृत्ति का उदय कैसे हो सकता
है? अतः प्रकृति-पुरुष में जगत्कर्तृत्व श्रुति युक्ति दोनों से विरुद्ध है। मीमांसा-
कार जैमिनि सुख-दुःखादि की प्राप्ति यज्ञादि कर्म द्वारा मानता है, ईश्वर के द्वारा
नहीं, परन्तु ईश्वर न मानना यह इस मत में महती त्रुटि है। तभी पीछे के मीमां-
सकों के ईश्वर को "यज्ञपति" के रूप में मानना पड़ा भट्टपाद, प्रभाकर, आपदेव
और लौगाक्षि ने ईश्वर को अपने-अपने ग्रन्थों में प्रणाम भी किया है। वेदान्त
देशिक वेङ्कटने तभी से "सेश्वर मीमांसा" लिखी और मीमांसकों को मोक्ष के
लिए ज्ञान को भी सहकारी-कारण मानना पड़ा। वेदान्त में श्रुतियुक्ति-विरुद्ध एक भी
अंश नहीं है। अतः वेदान्त-दर्शन ही सर्वाङ्गपूर्ण और श्रुतियुक्ति सङ्गत दर्शन है।

वेदान्त-दर्शन पर अनेक भाष्य हुए हैं, जिनमें पाँच भाष्य अति प्रसिद्ध
हैं। इनमें आद्य शंकराचार्य का शारीरक (शंकर) भाष्य सर्वप्रथम है।
वेदान्त-सिद्धान्त यद्यपि प्राचीन काल से प्रचलित है, तथापि उसका प्रचुर प्रचार
शाङ्कर ग्रन्थों से हुआ। शांकर-भाष्य की यह एक विशेषता है कि उसके पद-पद में
श्रुतिप्रामाण्य एवं गम्भीरता होने पर भी सर्वाधिक सरसता एवं सरलता है। इनका
जन्म ८४५ वि० सं० में हुआ था। इनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है —

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान्भाष्यं द्वात्रिंशे यतिरभ्यगात्॥

इन्होंने अपने भाष्य में सम्राट हर्षदेवकृत लिङ्गानुशासन कोष के टीकाकार
शबरस्वामी के शाबरभाष्य का स्पष्टोल्लेख किया है और बौद्ध पं०
धर्मकीर्ति की एक कारिका को अपने शांकर-भाष्य में उद्धृत किया है। अतः
इनका समय वि० अष्टम शतक से पहले का नहीं हो सकता। इन्होंने तथा इनके
शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने ग्रन्थों से "अद्वैतवाद" का प्रचार किया। दूसरा भाष्य
त्रिचनापल्ली-प्रान्त के भूतपुरीवास्तव्य केशवाचार्य के पुत्र श्रीरामानुजी का है।
इन्होंने तथा इनके अनुयायियों ने "विशिष्टाद्वैत" मत का प्रतिपादन किया।
श्रीरामानुज का जन्म १०७३ और मृत्यु ११८४ वि० में मानी गई है। दाक्षिणात्य

मध्वाचार्य का तीसरा माध्व-भाष्य है। इन्होंने और इनके मत के विद्वानोंने "द्वैत-वाद" को प्रधानता दी है। मध्वका समय १२६३ वि० है। चौथा भाष्य निम्बार्क स्वामी का है। इनका मत "द्वैताद्वैत" है। निम्बार्क का जन्म समय ११७१ विक्रम है। पाँचवाँ भाष्य श्रीवल्लभाचार्यजी का है। ये तैलङ्गदेशीय लक्ष्मणभट्ट के पुत्र थे। इनका मत "शुद्धाद्वैत" है। इनके भाष्य पर इनके पुत्र विट्ठलदासका 'विद्व-न्मण्डन' ग्रन्थ है। श्रीवल्लभाचार्य का समय १५८८ वि० तक माना जाता है। शांकर मत का सार है—

"एकं ब्रह्म द्वितीयं न", "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"।

श्रीरामानुजादि के मत का सार निम्नलिखित है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि।
अन्तःकरणशुद्धेश्च भक्तिः परमसाधनम्॥

भगवद्गीता का एक पद्य इन पाँचों का समर्थन करता है—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" इति।

गीताका मुख्य प्रतिपाद्य 'ज्ञानयोग'

[महामहोपाध्याय पण्डितप्रवर श्रीअनन्तकृष्णशास्त्री]

'गीतारहस्यकार' श्रीलोकमान्य तिलक मानते हैं कि—

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिस्सृता॥"

इस श्लोक में यद्यपि 'गीता' यह स्त्रीलिङ्गान्त शब्द उसका उपनिषद् होना सूचित करता है, फिर भी प्रधानतः वह कर्मयोग-शास्त्र ही है, उपनिषद् नहीं। कारण अध्यात्म-विचार या भक्तियोग की उसमें अप्रधानता ही है। इस स्थिति में प्रस्तुत स्त्रीलिङ्ग की उपपत्ति उसके भगवदुक्ति होने के कारण ही माननी चाहिये। किन्तु यह ठीक नहीं। गीता उपनिषद् है, इसमें स्पष्ट प्रमाण है—

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।'

अर्थात् सभी उपनिषदें गायें हैं और नन्द-नन्दन (गोपाल) भगवान् श्रीकृष्ण उसके दुहने वाले ग्वाले हैं। फलतः उसमें कर्मयोग की प्रधानता नहीं कही जा सकती। यदि कर्मयोग ही उसका प्रधान प्रतिपाद्य होता, तो प्रस्तुत श्लोक में

उसे 'उपनिषत्सार' कहना व्याहत हो जायगा। इस भगवदुक्ति के 'गीता' (गाने योग्य पद्य) मानने का हेतु यही है कि साधारण गीता की तरह इसको उलट-पुलट कर गाने, इसका अन्यथा विवरण करने या बेसुरा गाने से कानों को पीड़ा होती है। इसलिये 'गीता सुगीता कर्तव्या' में इसका 'सुगेय' (शुद्धरूप में गायन) आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रकार परामर्श उपक्रम, परामर्श और उपसंहार के ऐक्य रूप से सिद्ध गीतार्थ ही सबके लिये आदरणीय हो सकता है। यतः गीता उपनिषत्सार सिद्ध है, अतः यदि कर्मकाण्ड और उपनिषदों की तरह गीता की उपनिषदों के साथ ज्ञानकर्म समुच्चय के अभिप्राय से एकवाक्यता करना चाहें या एकशास्त्रता कहें, तो वह नहीं हो सकती; क्योंकि वैसी स्थिति में उसके उपनिषत्-सारत्व की अनुपपत्ति हो जायगी। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इत्यादि वचन में कर्मकाण्ड की या कर्मयोगाध्याय की विविदिषा में (आत्मज्ञान की इच्छा में) ही उपयोगिता कही गई है। अतएव गीता के द्वितीयाध्याय में कर्मयोग के प्रकरण में ज्ञानयोग का या ज्ञानयोग के प्रकरण में कर्मयोग का निरूपण दीख पड़ने पर भी उनमें कोई विरोध नहीं है। अतएव "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्"—यहाँ सकलवेदप्रतिपाद्यत्व अहमर्थभिन्न प्रत्यगभिन्न परमात्मा में ही बोधित होता है। इस प्रकार सभी वेदान्तों की तरह पूरी गीता प्रधानतः अध्यात्मशास्त्र ही है, कर्मयोगप्रधान नहीं।

यही कारण है कि "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" (गी० ४।३३) यहाँ स्पष्ट रूप में गीता कहती है कि सम्पूर्ण कर्म और भक्तियोग-प्रकरणका उपनिषत्-पदप्रतिपाद्य ज्ञान में पर्यवसान है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गीता में स्वतन्त्र ज्ञानयोग-प्राधान्य है। उसमें सभी शास्त्रों की गुण-प्रधान भाव से, अधिकारिभेद से या अवस्थाभेद से सङ्गति बिठाई जाय, तो सभी शास्त्र कृतकृत्य (सार्थक) हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। जबतक ज्ञानयोगाभिमत आत्मस्वरूपज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तबतक सभी शास्त्र उपयोगी (सप्रयोजन) हैं। उसके पश्चात् ज्ञानयोग के साथ उन सब का बाध हो जाता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्यने कहा है—

"तमेतमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वाणि शास्त्राणि विधिनिषेधमोक्षपराणि।"

इससे यह सिद्ध होता है कि सभी विस्तीर्ण शास्त्रों के संग्रह (संक्षेप से स्वरूप-कथन) रूप में ही गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। सभी आस्तिक-दर्शन और नास्तिक-दर्शनों का किसी प्रकार ज्ञान-योगवाद में ही पर्यवसान होने से ज्ञानयोग-प्राधान्यवाद में सभी दर्शनों की उपयोगिता भी सिद्ध ही हो जाती है। यह बात वेदान्तसार आदि में स्पष्ट है, जहाँ अन्नमयादि मूलवाक्यों पर ('अन्नं ब्रह्मेत्यु-

पासीत' आदि वाक्यों पर) आधृत देहात्मवाद आदि का भी पहली, दूसरी आदि सीढियों के क्रमसे भगवत्पादाभिमत ज्ञानयोग में ही पर्यवसान दिखलाया गया है। यदि गीता में कर्मयोग या भक्तियोग का प्राधान्य मानें, तो अहमर्थ-प्रत्यगात्मज्ञान ही ज्ञानयोग होने से परमात्मा के निर्विशेषस्वरूपबोधक वचनों का तदभिप्रायोंण बोधकत्वलक्षण प्रामाण्य नहीं बन सकता, किन्तु वह सगुण ब्रह्मके अभिप्राय से ही होगा। एवञ्च भगवत्पादाभिमत ज्ञानयोग-शास्त्र का अधिकारिभेद या अवस्था-भेद से, बोधकत्व-लक्षण प्रामाण्य तथा तत्परत्वेन ही उपनिषदों या गीता का शास्त्रत्व व्याहत हो जायगा। अतः यद्यपि गीता में अनेक दर्शनों के विचार पाये जाते हैं और "सर्वशास्त्रमयी गीता" कहा जाता है, तथापि उन सबका अधि-कारी और अवस्थाभेदों से ही प्रामाण्य मानना चाहिये। मुख्य रूप से ज्ञानयोग ही उसका प्रतिपाद्य है। इतने से अवान्तर दर्शनों का प्रामाण्य व्याहत नहीं होता। उत्तर दर्शन का अधिकार प्राप्त करने तक उनका प्रामाण्य और चारितार्थ्य अबा-धित ही रहता है। जबतक धान से चावल नहीं निकलते, तबतक सतुष धान्य का ही ग्रहण किया जाता है, पर बाद में तुष फेंक ही दिया जाता है। अतएव उनका निरूपण भी इस प्रसङ्ग में अनुचित नहीं है। यही कारण है कि उपनिषदों में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय क्रम से आत्मा का निरू-पण पाया जाता है। अन्ततः "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्" ही उपादेय होता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है "किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः" अर्थात् तत्तत् दर्शन के तत्त्व विचार जबतक करणीय होते हैं, तभी तक सम्पूर्ण ग्रन्थविस्तार की उपा-देयता है। उसके बाद जब उनमें से यावत् उपादेय अंश ग्रहण कर लिया जाता है, तब दर्शनान्तरों के साथ एकवाक्यता करके ही विचार करना युक्ति युक्त है। गीता में सभी दर्शनों की एकवाक्यता कर चरम फल का उपदेश दिया गया है। अतः सभी अवान्तर या मुख्य तत्त्वों को जानने के लिये एक ही गीता का अध्ययन पर्याप्त है। शास्त्रान्तरों का अध्ययन, तदर्थ पृथक् अपेक्षित नहीं है, यही गीता की सर्वोत्कृ-ष्टता है।

———

गीता और शरणागति

[महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी सदानन्दजी महाराज, गीतामन्दिर, काशी]

गीता वेदमाता है। वह परब्रह्म श्रीकृष्ण के मुखकमल से निकला हुआ रसमय काव्य है। इसमें रसब्रह्म श्रीकृष्ण के वाङ्मय का सुन्दर दर्शन है। गीता औपनिषद आध्यात्मिकता यानी आत्माभिव्यञ्जना का दिव्य भागवत संगीत है और यही है, श्रीकृष्ण की बाँसुरीकी स्वर-लहरी का एक उत्कृष्टतम प्रतीक!

निगमागम, पञ्चम वेद तथा पुराण-संहिताओं में प्रयुक्त श्रीकृष्ण-वाणी की सर्वमयता गीता में अभिव्यक्त हो उठी है। भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्र एवं अपनी अन्य रचनाओं में गीतातत्त्व का अक्षरशः स्पष्टीकरण किया है। वेद कृष्णरस का प्रतीक रूप है। भगवान् वेदव्यास इसके श्रेष्ठतम ज्ञाता हैं। आदिकवि वाल्मीकिने वैदिक ब्रह्म राम के स्वरूप का रामायणमें निरूपण किया, तो भगवान् वेदव्यासने भागवत में बताया कि स्वयं श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं।

भागवत भगवान् कृष्ण का रूपशास्त्र है। गीता श्रीकृष्ण को समाधि-भाषा और भगवान् की दिव्यतम वाणी है। कवियों की वाणी दिव्य हुआ करती है, ऋषियों की दिव्यतर तो भगवान् की वाणी गीता दिव्यतम, सनातन और परम्परागत होती है।

वेद-कल्पतरु के अमरफल उपनिषदें हैं। इनमें से नित्य-अनवरत, सतत अमृत का प्रवाह बहता रहता है। इस सतत अमृत भरने वाले सागर से गीता-गंगा प्रकट हुई है। यह ज्ञानगंगा है और इसमें भक्ति और भागवत का अनुपम संगम होता है। इस संगम में भक्तजन श्रद्धा और विश्वास के साथ स्नान करने से उसी प्रकार अन्तर्बाह्य पवित्र होकर संसार-सागरसे पार उतर जाते हैं, जिस प्रकार गंगामें स्नान करने वाले जीव जीवन से पार उतर जाते हैं। गीता-गंगा आत्मसागर के क्षितिज पर परमात्म-सूर्य का दर्शन कराती है। यह भक्ति-मुक्ति-स्वरूपिणी है, सच्चिदानन्द रूप की रमणी है। भक्ति रसब्रह्म श्रीकृष्ण की हृदय विहारिणी है।

गीताकी परम्परा प्राण-संजीवनी भगवद्भक्ति है। गीता का परम श्रेयत्व इसीमें है कि जिससे जीवात्मा भगवान् के भावराज्य में, रसराज्य में यानी शरणागति में नित्य रमणशील रहे। यही कारण है कि भगवान् श्रीमुख से कहते हैं—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

इस उपदेश का अर्थ यही है कि जीवात्मा सदा के लिये भगवान् की शरणागति में रमण करे और इस पर भगवान् के तद्रूपभाव का सेवन करे। गीता की सनातन परम्परा की प्राणमय वस्तु यही है कि सर्व धर्मों का परित्याग और भगवत्-

आश्रय। सभी धर्म तो प्रेरित हैं, इसलिए सब धर्मों का परित्याग करना यही शरणागति गीता में प्रतिपादित है। गीता में सर्वधर्मों का परित्याग, लयस्थान स्वत है। भगवान् की शरणागति में जीवात्मा आत्मधर्म में, स्वधर्म में प्रतिष्ठित हो भगवान् के रसास्वाद में रमण करता है। 'मामेकं शरणं व्रज' यही एकमात्र सार है।

जीवात्मा मृत्यु-संसार-सागर को पार कर ज्ञान-साम्राज्य में तल्लीन हो जाता है। यही गीता की भक्ति योगमयता अर्थात् शरणागति है। इसीमें गीता की सनातन परम्परा नित्य-नवीन दिखाई पड़ती है।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' और 'मामेकं शरणं व्रज' ये दो वचन भगवान् के आदेश रूप हैं तथा 'तेषामहं समुद्धर्ता' और 'मृत्युसंसारसागरात्' ये दो वचन उनके अभय-वचन हैं। इनका परस्पर एकवाक्यतापन्न भावार्थ यह है कि जो सब धर्मों का परित्याग कर भगवान् की शरण जाता है, उसका इस मृत्यु-संसार-सागर से उद्धार हो जाता है—वह मोक्षका भागी हो जाता है। इस तरह ये गीता के चार 'महावाक्य' हैं।

गीता की यही सनातन परम्परा है। भगवत् शरणागति ही श्रेयःप्राप्ति का एकमात्र विधान है। आत्मा की शरणागति ही गीता का रहस्य है।

'मामेकं शरणं व्रज' यह गीता का गुह्यातिगुह्य मन्त्र है। इस मन्त्र की उपासना से परमात्मा की शरणागति प्राप्ति होती है वर्णाश्रम-धर्म प्रतिपादित प्रधान चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनसे भी परे होकर शरणागति-धर्म गीता का परम मन्त्र है। यही सनातन तत्त्व भगवान् ने गीता में निरूपित किया है। शरणागति की साधना से ही इस 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' परमात्मा की परा अभिव्यक्ति का प्राकट्य भी होता है। भगवान् की शरणागति, भगवत्प्रेम की अखण्डितता तथा सनातनी व्याप्ति ज्योतिरूप है। गीता का यह सत्-तत्त्व, नित्य चेतन ही गीता की शरणागति के क्षेत्र में परम प्रतिपाद्य, आराध्य और उपास्य है। इसलिये गीता को 'सर्वशास्त्रमयी' कहा जाता है।

गीता में जीवात्मा अपने परम स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। भगवान् की शरणागति स्वीकार कर लेने पर जीवात्मा स्वयं उसीमें मिल जाता है। मुक्त जीव ब्रह्ममें स्वस्थ हो स्थिरता पाता है। जीवात्मा मृत्यु से परे होकर परमात्म-स्वरूप में मिल जाता है। अनादि काल से गीता की सनातन परमात्मैक्य पर ही प्राणमयी आस्था बनी हुई है।

गीता की सनातन परम्परा में सार्वदैशिक और सार्वकालिक नित्य और नवीन व्यावहारिक जीवन का जो दर्शन दिखाई पड़ता है, वही गीता की शरणागति की मुख्य भूमि है। धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र के इस वाङ्मय में जीवनशास्त्र का निरूपण

किया गया है। गीता से जीवात्मा को अपने परम स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह हम गीता को शरणागति को सर्वशास्त्रों से उपोद्बलित, सर्वशास्त्रों का सारसर्वस्व और मानव-जीवन की चरम इतिकर्तव्यता के रूप में पाते हैं। यह आसान से आसान और कठिन से कठिन है। इसलिये इसका सभी लोग अपनी अपनी शक्तिभर अनुसरण कर सकते हैं।

गीतायां ज्ञानयोगस्यैव प्राधान्यम्

[पण्डितश्रीमहादेवोपाध्यायः, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये साहित्याध्यापकः]

अथेदं श्रीमद्भगवद्गीतायां ज्ञानयोगस्य प्राधान्यविषयमवलम्ब्य विमृश्यते। गीतायां ज्ञानयोगो भक्तियोगः कर्मयोगश्चेति निर्विवादम्। तत्र केचिदाचक्षीरन् अर्जुनस्य युद्धकर्मणि प्रवृत्त्यर्थमेव गीतायाः प्रवृत्तिः। अन्ते च तत्रैव प्रवृत्तिदर्शना-दुपक्रमोपसंहाराभ्याम्, मध्ये च "कर्मण्येवाधिकारस्ते", "कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्", "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यादिपरामर्शाच्च युद्धकर्मण्येव तात्पर्यावगमः इति, तत्रेदं वक्तव्यम्—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥"

इत्याद्युक्तिभिः गीतायाः सर्वोपनिषत्सारत्वं प्रतिपादितम्। उपनिषदां च ज्ञानकाण्डत्वेन प्रसिद्ध्या ज्ञानमात्रपरत्वमविवादमिति तत्सारभूतायाः गीतायाः कथं कर्मयोगपरत्वम्? किञ्च गीतायाः युद्धविधिपरत्वमपि नोपपद्यते। तथा हि विधिरत्यन्तमप्राप्तौ भवति। क्षत्रियस्य राज्यपालनं तदर्थञ्च युद्धं धर्म इति तत्परैर्धर्म-शास्त्रैः विहितमेव। अतः "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायेन न युद्धविधि-परत्वं गीतायाः। अतएव—"धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" इति वाक्ये विधिबोधकलिङादिप्रत्ययाभावः। धर्मशास्त्रप्रसिद्धिद्योतकश्च 'हि' शब्दप्रयोगः। "तस्मात् युद्ध्यस्व भारत" इत्यादयस्तु "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" इत्यादय इव विध्याभासाः। धर्मत्वं तु युद्धस्य धर्मशास्त्रविहितमर्जुनो जानात्येव। इतः प्रागपि बहूनि युद्धानि कृतवान्, अत्रापि युद्धार्थमेव गतश्च। अतः युद्धं शास्त्रविहित-मपि किं श्येनादिवदधर्मः, उत धर्म इत्यर्जुनस्य संशयः। युद्धमधर्म एवेति विपरीत-निश्चयरूपो मोहश्चार्जुनस्य सञ्जात इति द्वयमपि सूचितम्—

"न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।",

"पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।" इति वाक्याभ्याम्। तदपाकरणार्थमेव गीतायाः प्रवृत्तिः। अतएव "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" इत्युपक्रमेऽर्जुनस्य वाक्यम्। उपसंहारे च—

"कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥" इति भगवतः प्रश्नः।

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥"

इत्यर्जुनोक्तं संगच्छते। एवं गीतायाः युद्धविधिपरत्वं नोपपद्यते, किन्तु युद्धविधिप्रतिबन्धकमोहनिवर्तकत्वमेवाध्यात्मोपदेशेनेति न कर्मयोगपरत्वं गीतायाः, किन्तु ज्ञानयोगपरत्वमेव। अतएव "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इति सर्वकर्मणां परिसमाप्तिः ज्ञाने भगवताऽभिहिता। अतएव गीतायां प्रत्यध्यायमन्ते "उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम्" इति पदद्वयं प्रयुक्तं दृश्यते। उपसंहारे च—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

इति सर्वधर्मपरित्यागं वदता भगवता कर्मयोगपरत्वं गीतायाः कण्ठत एव निषिद्धम्। धर्मशब्दस्य कर्मसु शक्तिः। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति सूत्रे भाष्यवार्तिककृदादिभिः निर्णीतमेवेति। किञ्च गीतायाः अर्थवादरूपतया रात्रिसत्रन्यायेनोपासनरूपकर्मयोगपरत्वं मीमांसकाभिप्रेतं न सम्भवति। तेषां नये भगवतः सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरीशितुरभावेन तदुपासनकर्मणोऽसम्भवात्।

अन्ये त्वेवं प्रत्यवतिष्ठन्ते—गीतायां भक्तियोगस्य प्राधान्यमितरयोस्तु कर्मयोगज्ञानयोगयोस्तदङ्गत्वमिति। किञ्च ज्ञानकर्मणोर्भक्तियोगाङ्गयोः "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" इत्यादिमन्त्रबलेन समसमुच्चयः, ननु तयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावः।

"न त्वेवाहं जातु नासम्" इत्यादि पद्यं गीतायाः उपक्रमे भक्तियोगपरम्, मध्ये च "भजते मामनन्यभाक्", "भक्त्या मामभिजानाति", "मन्मना भव मद्भक्तः" इत्यादिभिर्बहुशो भक्तेरभ्यासः इति। तत्रेदं वक्तव्यम्—न भक्तियोगपरत्वं गीतायाः। तथाहि—

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥" इति।

"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्", "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" इति वाक्येभ्यो जीवपरैक्यज्ञानवतो ज्ञानिन एव मुख्यभक्तत्वोक्त्या ज्ञानरूपायाः भक्तेरेव गीतायां विवक्षितत्वात्। अतएव "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इत्युक्त्या कर्मणां भक्तेश्च जीवपरैक्यज्ञानातिरिक्ताया अपवित्रत्वं भगवता प्रतिपादितम्। यदपि च—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

इत्युपसंहारवाक्यस्य भक्तियोगपरत्वमाहुः, तदपि न सम्भवति। यतो हि अत्र एकमिति पदं भेदनिषेधकं जीवपरैक्यज्ञानरूपां भक्तिमेव सूचयति, इति गीतायाः ज्ञानयोगपरत्वमेव।

यदप्युच्यते गीतायामस्मत्पदार्थाः त्रयः सन्ति। एकः श्रीकृष्णः वसुदेवापत्यरूपः, द्वितीय आचार्यरूपः, तृतीय उपास्यरूपः, तेनापि भक्तियोगपरत्वमेव गीतायाः निर्णीयत इति, तदपि न क्षोदक्षमम्। भक्तिपदार्थश्च किं 'भज सेवायाम्' इति धातोः क्तिन्निष्पन्नो भगवदर्चनादिरूपसेवापरः? किं वा भगवति स्वामित्वबुद्ध्या सेवाकारणीभूतनिरतिशयप्रीतिविशेषरूपरतिपरः? किं वा भगवति स्वाभेदभावनया निरन्तरसत्काराभ्याससमुत्पन्नतत्साक्षात्कारप्रयुक्तनिरतिशय-प्रीतिविशेषपरः? तत्र प्रथमद्वितीयपक्षयोः "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते", "मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी", "भजते मामनन्यभाक्", "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" इत्यादिगीतावाक्यानां बहूनामनन्यभक्तियोगरूपपरमार्थज्ञानयोगपराणां का गतिः? न चात्र सर्वत्रैव नान्यत् सजातीयव्यक्त्यन्तरं यस्मादिति व्युत्पत्त्या अनन्यशब्दः सजातीयद्वितीयनिषेधपरः, नतु जीवाभेदपर इति वाच्यम्; निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेन नञ्समासे जीवाभेदपरत्वस्यैवोचितत्वात्। बहुव्रीहौ तु अन्यपदार्थपरत्वमिति गौरवात् हेयमेव तत्। किञ्च भक्तियोगस्य प्राधान्ये—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥"

इति गीतावाक्यस्य भक्तिसाध्यं ज्ञानम्, ज्ञानसाध्यन्तु कैवल्यमित्येतत्परस्य "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्", "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः", "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्यादिश्रुतिवाक्यानां का गतिः? त्रिविधभक्तिपदार्थमध्ये अनन्यभक्तिरूपपरमार्थ-किञ्चोपक्रमोपसंहाराभ्यासवाक्यानां ज्ञानयोगपरत्वमेव सम्भवति। असम्भवे हेत्वभावात्।

एवञ्च "विद्यांचाविद्याञ्च" इत्यत्राविद्यापदेन याग-होम-दानादीनि वैदिकानि कर्माणि अज्ञानमूलकत्वेनोच्यमानानि कथं भक्तिवादिमते सम्भवन्ति, तन्मते

कर्मणां कर्तृगताधिकारप्रमाप्रयुक्तत्वात्। अद्वैतिनां मत एव कर्मणां कर्त्रधिकारभ्रान्ति-प्रयुक्तत्वसम्भवात्। किञ्च कर्मज्ञानयोः समसमुच्चयः विद्याञ्चाविद्याञ्चेत्यत्र कस्मात्पदात्प्रतीयते। कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानसम्पादकत्वेन ज्ञानं प्रत्युपकार-कत्वेनाप्राधान्यं सम्भवति न वेत्यस्य किमुत्तरं भविष्यति? कर्मज्ञानयोः समप्राधान्ये "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" इत्यादिवचनानां कर्मणां चित्त-शुद्धिद्वारा ज्ञाने उपयोगप्रतिपादकानां का गतिः स्यात्?

किञ्च "न त्वेवाहं जातु नासम्" इत्यादिगीतोपक्रमवाक्यस्य यदि भक्ति-योगपरत्वं तद्धुपास्यस्य नित्यत्वप्रतिपादने क उपयोगः?। प्रत्युत जीवानामपि नित्यत्वप्रतिपादने भगवत्युपास्यत्वप्रतिपादनोक्तेर्विरोध एव समापतति। किञ्च मीमांसकमते अर्थवादरूपाया गीताया उपासनरूपकर्मयोगपरत्वं न सम्भवति, उपास्याभावादित्युक्तचरम्।

तत्र मीमांसकमते यथा वस्तुभूतेन्द्रादिरूपदेवताया अभावेऽपि इन्द्रादिशब्द-रूपाया एव देवताया यागादिकर्माङ्गत्वम्। एक एवेन्द्रशब्दः नानाक्रतुषु प्रयुक्तः युगपत् सर्वयागाङ्गं भवतीत्यादिवचनात्। तथा गीताप्रतिपाद्यायाः ब्रह्मादिशब्दरूपाया एव देवताया उपासनकर्माङ्गत्वं सम्भवतीति यदि तूच्यते तत्रोपास्यधर्मा जगत्कर्तृ-त्वादयो न सम्भवन्तीति तदापि उपासनानामाहार्यबुद्धिविभ्रमरूपेच्छाजन्या "मनो ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म, योषाग्निः" इत्यादिवाक्येषु दृश्यते। तत्रातस्मिंस्तद्धर्मारोप-रूपायां तस्यामुपयोगो वस्तुभूतानामुपास्यधर्माणामतद्धर्मारोपरूपोपासनादेव शास्त्र-प्रत्ययेनाभीष्टफलसिद्धिरिति।

किञ्च द्वैतिनः गीतायामस्मत्पदार्थाः त्रिविधा इति वदन्ति। तत्र त्रिविधा-स्मत्पदार्थस्य गीतायां क उपयोगः? कथं वोपयोगः? तथोपयोगे कानि वा प्रमाणानि? तद्धर्माणामुपलक्षणत्वेनैव गीतायामुपयोगात्।

किञ्च गीतायां भक्तियोगविधानमर्जुनमुद्दिश्येत्येव भगवदभिमतं भाति। तत्रार्जुनस्य भगवति वासुदेवे त्रिविधेऽपि सुमहती भक्तिः गीतोपदेशात्प्रागप्यासीदेव। तथाहि—सम्बन्धित्वेन, ज्येष्ठत्वेन, स्वस्मिन् सहजपक्षपातित्वेन, अकृत्रिमसख्य-त्वेन च वसुदेवापत्यरूपे भक्तिः सहजैवेति गीतायां सा नोक्ता। ज्ञानगरिम्णा तु आचार्यत्वेन तस्मिन् भक्तिर्गीतायामुक्ता "नहि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्" "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" इत्यत्र च। साऽपि गीतोपदेशात् प्रागप्यासी-दिति ज्ञायत एवेति। उपास्यरूपेऽपि भगवति भक्तिर्नारदादिमुखात् तन्माहात्म्य-श्रवणेन गीतोपदेशात्पूर्वमपि सुप्रतीतैवासीदिति। "आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षि-र्नारदस्तथा" इत्यादिवचनैर्ज्ञायत एवेति कथमर्जुने सत्या एव भक्तेस्तमुद्दिश्य विधानम्? विधिरत्यन्तमप्राप्ताविति नियमात्।

अनया विचारसरण्यैतदेव निर्णीयते यद् गीतायां ज्ञानयोगस्यैव प्राधान्यम्, नतु यथाकथञ्चित् प्रतिपाद्ययोः कर्मभक्तियोगयोरिति शम्।

गीता और आयुर्वेद

[धन्वन्तरिगुरु, वैद्यराज श्री १०८ स्वामी शिवानन्दजी महाराज, अहमदाबाद]

गीता के आरम्भिक श्लोकानुसार कौरव और पाण्डव धर्मक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से समवेत हुए थे। श्रीशंकराचार्यजी के तात्पर्यानुसार हम सब भी उपासना के क्षेत्र में अपनी तामसी वृत्तियों या दुर्वासनाओं के साथ युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं। अतएव युयुत्सु के लिए ही गीताशास्त्र का उपदेश है। विचार करना चाहिये कि प्राणियों में युयुत्सा कब उत्पन्न होती है? शरीर के स्वस्थ, नीरोग, शक्तिशाली होने पर ही ऐसा हो सकता है। कह सकते हैं कि गृह, दार अन्न, वस्त्र आदि के लिये निर्बल व्याधि-ग्रस्त लोग भी लड़ जाते हैं। स्थूल विषयों के सम्बन्ध में किसी अंश में ऐसा संभव होने पर भी चित्तवृत्तियों के मानस-युद्ध में शरीर के स्वस्थ हुए बिना काम नहीं चल सकता।

आत्मसंयम-योग (गीता, षष्ठ-अध्याय) में योग साधना का उपदेश करते हुए कहा गया है कि देह को सम रखना चाहिए। युक्ताहार-विहारवालों के लिए ही योग की सफलता कही गयी है। इस प्रकार गीता की पूर्व पीठिका के रूप में आयुर्वेद की उपयोगिता आवश्यक हो जाती है। देह में त्रिधातु (वात-पित्त-कफ) के साम्यावस्था में रहने से ही नीरोगता आती है। चरकाचार्य द्वारा उपदिष्ट स्वस्थवृत्त का पालन करने से मनुष्य युक्ताहार-विहारवाला हो सकता है।

यह कहना भी युक्तियुक्त ही है कि आयुर्वेद की आर्ष-चिकित्सा-विधि और आधुनिक प्रचारित नेचरोपैथी या प्राकृतिक-चिकित्सा में विशेष अन्तर नहीं है। आर्ष-चिकित्सा में विशुद्ध जड़ी-बूटियों, फल-मूल, मधु, गव्य जैसी सौम्य वस्तुओं का ही प्रयोग होता है। उसमें छेदक-भेदक-क्षारीय-विष-रस आदि उग्र वस्तुओं का प्रयोग अपेक्षाकृत नहीं होता; और 'पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः' का सिद्धान्त इस चिकित्सा का प्राण है। प्राकृतिक चिकित्सा में भी यही मूल सूत्र है। अतएव प्राकृतिक चिकित्सा का आश्रय लेने या युक्ताहार-विहार होने के लिये आर्ष चिकित्साविधि का अर्थात् आयुर्वेद के मौलिक उपदेशों का जानना परमावश्यक है।

आयुर्वेद शास्त्र से परिचित होने के लिए सब से पहले आयुर्वेद का अर्थ जानना चाहिये। इसके निर्णयार्थ एक श्लोक उद्धृत किया जाता है—

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते॥

'जिस शास्त्र अथवा विद्या में आयु के लिये हितकारक तथा अहित-

कारक पदार्थों का विधान (उल्लेख) हो तथा रोगों के निदान अर्थात् उत्पन्न होने का प्रधान कारण और उनके शमन (विनाश) के उपाय चिकित्सा का सम्यक्तया उल्लेख किया गया हो, उसे विद्वान् लोग आयुर्वेद नाम से कहते हैं।'

आयुर्वेद का दूसरा अर्थ यह है कि आयु नाम मनुष्य की उम्र का है। उसको बढ़ाने या घटानेवाले पदार्थों अथवा प्राणियों के साथ किस प्रकार के व्यवहार से हानि तथा किस प्रकार के व्यवहार से लाभ होता है, यह अच्छी प्रकार जिस शास्त्र से जाना जाय, उस शास्त्र को 'आयुर्वेद' कहते हैं।

आयुर्वेद-शास्त्र को न जानने से मिथ्या आहार-विहार द्वारा रोगों के आक्रमण से प्राणी किस प्रकार पीड़ित होते हैं, इसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

अकाले चातिमात्रं च असात्म्यं यच्च भोजनम्।
विषमाशनं च यद् भुक्तं मिथ्याहारः स उच्यते ॥

जैसे किसी मनुष्य के भोजन करने का समय दस बजे है, परन्तु वह भोजन बारह बजे अथवा इसके भी बाद या बहुत जल्दी सवेरे ही भोजन करे। अथवा कच्चा-पक्का तथा विरस भोजन करे अथवा कम भोजन करे अथवा अधिक भोजन करे (जिससे पानी पीने को भी पेट में जगह न रहे तथा श्वास लेने में कठिनता और कष्ट का अनुभव हो) ये ही 'मिथ्याहार' कहे जाते हैं। मिथ्या व्यवहार से विविध प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है। कहा भी है—

अशक्तः कुरुते कर्म शक्तिमान्न करोति च।
मिथ्याविहार इत्युक्तः सदा चैव विवर्जयेत् ॥

शक्ति से अधिक कार्य करना अथवा शक्ति होते हुए भी कम कार्य करना, आलसी तथा प्रमादी बनकर पड़े रहना, यह 'मिथ्याविहार' कहलाता है। जैसे—मनुष्य के लिए प्रातःकाल उठकर शौचादि से निवृत्त होकर स्नान और भगवच्चिन्तन आदि करना लिखा है। परन्तु जो इसके विपरीत सूर्योदय के बाद उठना आदि आचरण करते हैं एवं ब्रह्मचर्य का रक्षण नहीं करते अर्थात् प्रमाद एवं इन्द्रियों की लोलुपता के कारण ऋतुविरुद्ध सहवास आदि विपरीत आचरण करते हैं, उनके शरीर में स्थित जो वात-पित्तादि दोष हैं, वे कुपित (दुष्ट) होकर अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। विरुद्ध आहार से मन्दाग्नि होकर अजीर्ण, ज्वर, कास, श्वासादि रोग, मस्तक का दुखना, शरीर का गरम रहना, अङ्गों का टूटना, बुद्धि की कमजोरी तथा स्मरणशक्ति का विनाश होना—इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि भयङ्कर त्रिदोषज व्याधियाँ हो जाती हैं। अतः मिथ्या आहार-विहार का परित्याग कर देने और युक्ति-युक्त शास्त्रोक्त आहार-विहार करने से दैहिक दुःखों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। गीता में भी लिखा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

मनुष्य को खान-पान, रहन-सहन, चेष्टा तथा विषयादि कर्मों में युक्ति-युक्त-रूप में आसक्ति-रहित होना चाहिए। अर्थात् शयन, जागरण आदि सभी अल्प मात्रा में होना आवश्यक है। ऐसा करने से ही मनुष्य दुःखों से दूर रह सकता है। यदि मनुष्य उपर्युक्त नियमों का पालन नहीं करेगा, तो वह अनेक प्रकार के रोगों का शिकार बना रहेगा और उसकी आयु क्षीण हो जायगी। नियमानुसार चलने से मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सुख-शान्ति से संसार के सभी कार्य करता रहेगा। यही आयुर्वेद का आशय है।

वैशिष्ट्यमायुर्वेदशास्त्रस्य

[सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, वैद्यसम्राट्, पं० श्रीसत्यनारायणशास्त्री, पद्मभूषण, वाराणसी]

वेदादारभ्यापुराणावधि निखिलसुरसरस्वत्यासमभिवर्त्तमानं कृत्स्नमपि शास्त्रजातमायुर्वेद एव। यतो हि परमाचार्येण भर्तृहरिणा स्वरचितवाक्यपदीयतन्त्रे प्रावोचि—

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः पर्यवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मयोगैस्तेषां विशुद्धयः॥

यथा हि शारीरमलापनयनाय चरकादय आयुर्वेदग्रन्थाः तथा वाङ्मलापहृतये शब्दशास्त्रीयमहाभाष्यादिग्रन्थाः, बौद्धमानसादिरजस्तमोरूपादिदोषापहरणाय सर्वाण्येव दर्शनानि इति दिशा यच्च किञ्चित् क्वचिदपि वेदाः शास्त्राणि पुराणानि वा वर्त्तन्ते प्रयोजनत्रैविध्यमुज्झित्य कानिचिदपि तन्त्राणि नोपलभ्यन्ते। यथाऽऽह भगवान् पतञ्जलिश्चरकभाष्ये—'तिस्रः एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति—प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा च' इति। एतावता तिसृणां समीहानां दोषोन्मूलनपुरस्सरं स्वर्गापवर्गसाधकत्वमेवेति सिद्धान्तः पर्यवस्यति। तत्रापि वैशिष्ट्यं तूपक्रमस्यैव लालसीति। स चात्यन्तसूक्ष्मः यथागादि भगवता पतञ्जलिना—'सूक्ष्माणि हि दोष-भेषज-देश-काल-प्रकृति-वयसामवस्थान्तराणि, यानि खल्वनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्य्युः, किम्पुनरल्पबुद्धेः? यथोक्तं सुभाषिते केनापि—

वैद्यस्तर्कविहीनो नृपतिरदाता निरक्षरो मन्त्री।
प्राघुणिकश्चिरवासी मस्तकशूलानि चत्वारि॥

तत्र तर्को यथा—नैयायिकाः प्राचीना गौतमाद्याः 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च।' 'स्वार्थं परार्थं चेति द्विविधं नव्याः। किन्तु-

भयोरेव व्याप्यत्वमायुर्वैदिकानां सविधे। गौतमस्तु 'अथ तत्पूर्वकम्' इति यत् प्रोक्तवान् तत्र तत्पदवाच्यं प्रत्यक्षमेव। न खलु प्रत्यक्षेण विना केनापि पुंसा कथमपि कदापि किमप्यनुमातुं शक्यते। तच्च प्रत्यक्षम्-'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम्।' नात्र अक्षेण सह प्रत्युपसर्गस्य प्रतिकूलार्थत्वम्, अपितु सहार्थकत्वमेव। तद्धि प्रत्यक्षं वहुविधम्, अथवा न बाहुविध्यम्, अपि त्वानन्त्यमेवैतस्य। अनवस्थापि वा वक्तुं शक्यते। यथा हि चाक्षुषेण प्रत्यक्षेण यावन्त्यनन्तवस्तूनि गृह्यन्ते तेषां सङ्ख्यानमसाध्यमेव। एवं श्रावणप्रत्यक्षस्याप्यानन्त्यम्, यथा कोऽपि पिपठिषुरन्तेवासी यदा श्रोष्यति शतसहस्रसङ्ख्याकान् छन्दोबद्धान् श्लोकान् गद्यानि च तदा तेषामपि समेषां प्रत्यक्षे आनन्त्यमेव स्थास्यति। एवं घ्राणजादेरपि पञ्चबौद्धहृषीकजन्यानां भविष्यत्यानन्त्यं बुद्धेरिव। तथा सत्यनुमानस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वादानन्त्यमेव। स्थूलतया आयुर्वेदविदां नये यथैकवाक्यता निर्दिष्टा सैव वलवत्तरा। पर्वतो वह्निमान् धूमादिव देशो वह्निमान् धूमात्। सुदर्शमिदं यद् वङ्गीयाः पाकसाधकमग्निं समेधयन्तः यत्र कुत्रापि स्थण्डिले पथि वा वह्न्यमत्र संस्थाप्य पिधाय च कपाटं सद्मन्यवतिष्ठन्ते। प्रज्वलिते च कृशानौ तमादाय पुनर्वेश्मनि महानसे समुपेत्य कपाटं निरुद्ध्य पाकं निर्वहन्ति। तत्रत्यं च धूमं पश्यन् यदि नैयायिकोऽनुमिनुयात् तर्हि तार्किकाणां क्षतिः का? अविच्छिन्नमूलां धूमलेखामालोच्य तत्रोपेतो वह्निमनवाप्नुवानो हेत्वाभासमसद्धेतुं वा स्वीकरिष्यति। वाक्यैकनिवेशने च नैयायिकानां कार्यमपि निराबाधं स्यात्। वैद्यस्तु पित्तोल्बणो वातमध्यः श्लेष्मावरोऽयं सन्निपात इति वितर्क्य चेदौषधं प्रयुञ्ज्यात् स चेत् सन्निपातः श्लेष्मोल्बणः पित्तमध्यो वातावरः प्रभवेत् तर्हि तमातुरमेवातिपातयेत्। तदुपजीविनां च क्रन्दनमेव शरणं स्यात्। किन्तु वैद्यस्तु लोकेऽकीर्तिभाक् परत्र च पापफलोपभोगेन नरकादिदुर्गतिमवाप्स्यत्येव। अतो हि नैयायिकापेक्षया आयुर्वेदिकानामेव तर्को बलीयान्। अथ च तन्मते नव्यप्राचीनयोरेकवाक्यतैव वरीवर्त्ति। यथा हि पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टभेदेन त्रैविध्यमुपेतस्तर्कः स्वार्थपरार्थभेदेन षाड्विध्यमुपैति। सोऽपि च भूतभविष्यद्वर्तमानकालभेदात् अष्टादश भेदानवाप्स्यति। पश्यन्त्वायुर्वैदिकानामनुमानप्रकारम्—यथा हि ज्वरस्य भेदकल्पनावस्थायां सामान्येन ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षणः, अन्यथा त्वचि शैत्यमुपेतायां विज्वरत्वमेव। तस्यैवैकस्य ज्वरस्यैकलक्षम् षट्पञ्चाशदुत्तरपञ्चशताधिकद्वात्रिंशत्सहस्रम् (१३२५५६) भेदाः पातञ्जलानां नये दरीदृश्यन्ते। एवं प्रत्येकैकस्मिन्नातङ्के स्वशास्त्रीयनिदानकरणदशाऽष्टादशसङ्ख्याकस्याप्यनवस्थैव प्रभविष्यति। यथोक्तं पञ्चविंशत्यादिद्रव्येभ्यः पञ्चशतभेदाः स्थौल्येन सञ्जायन्ते कषायेषु। सूक्ष्मीकरणावस्थायान्तु बाढमनवस्थैव स्यादिति सूक्ष्मतरकलेवरीयेऽत्र लेखे त्रयः पदार्था ये विनिवेशिताः। तेष्वेकैकस्यापि विस्फोटने लेखगौरवभीत्या सूत्ररूपेण निर्देशमात्रं विज्ञजनविचाराय समुपस्थाप्य विरमति।

रोगोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें मन पर प्रभाव

[श्री १००८ दण्डीस्वामी दत्तपादाचार्याश्रमजी महाराज, ऋषीकेश]

आयुर्वेद-शास्त्र शारीरिक चिकित्सा से प्रथम उपनिषदों का ज्ञान देता है, अर्थात् जीव और ब्रह्म के एकीकरण का मार्ग बतलानेवाला है, जिससे रोगों की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं। और ईश्वरीय दिव्य शक्ति के विकास से स्वाभाविक मानसिक रोग भी स्वतः शान्त होकर परम शान्ति प्राप्त होती है।

वर्तमान समय की मेडीकल साइन्स भौतिकवाद पर ही निर्भर है, किन्तु इस भौतिकवाद का कोई सत्य आधार नहीं है। आयुर्वेद-शास्त्र अध्यात्म परायण है। इसके द्वारा जो रोगनिवृत्ति की जाती है, वह परम सुख-शान्ति को देनेवाली है।

कुछ काल से वैज्ञानिकों ने सुख-शान्ति की खोज करने में महान् प्रयत्न किये हैं। किसी ने अपनी लालसा पूरी करने में बल प्राप्त किया, किसीने इस साइन्स का अनुचित प्रयत्नों द्वारा जनमत अनुकूल बनाया और अधिकार प्राप्त किया, किसीने धनसंग्रह किया, किसीने युद्ध, हिंसा आदि महाप्रयत्न करके सांसारिक समृद्धियाँ प्राप्त कीं। किन्तु इन महापापों द्वारा प्राप्त की हुई समृद्धि किसी के लिए भी सुख-शान्ति देनेवाली प्रमाणित नहीं हुई। समस्त जगत् अशान्ति की ज्वाला में पड़ा हुआ है। वर्तमान संसार में यही रोग-वृद्धि का बड़े से बड़ा कारण है। सर्वत्र रोगी ही दिखाई पड़ते हैं। अस्पतालों में जगह नहीं। योग्य वैद्य के पास जाने पर भीड़ की कतार लगी रहती है। गली-गली में, घर-घर में रोगी पाये जाते हैं। वैद्य-डाक्टरों की दूकानों की भरमार है। जगह-जगह सूचीवेध शलाकाएँ गर्म की जा रही हैं। क्षणिक लाभ दिखाकर वर्तमान चिकित्साप्रणाली द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण की वृद्धि की जा रही है, जिससे यह संसार दुःख और अशान्ति का केन्द्र बना हुआ है। इस मेडीकल साइन्स की उन्नति ही रोगोत्पादक है।

आयुर्वेद-चिकित्सा का सिद्धान्त है कि सत्त्व-गुण की वृद्धि हो। मन के स्थिर और शुद्ध होने से ही परम शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है। विद्वानों और महात्माओं ने पाप के मूल कारणों का अन्वेषण किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि आहार-व्यवहार से ही मन दूषित होता है। हम जो आहार करते हैं उसके सूक्ष्म तत्त्व से मन बनता है, मन को शुद्ध रखनेके लिये हमारे शास्त्रों ने आहारशुद्धि पर विशेष जोर दिया है।

यदि लूट-मार, बेईमानी, और हिंसा से प्राप्त किये हुए धन का उपयोग होगा तो मनुष्यों का अन्तःकरण पतन की ओर प्रवृत्त होगा, जिससे बुद्धि, सत्यता, सन्तोष, न्याय, सदाचार एवं शुद्ध विचार नष्ट हो जायँगे और उनका शरीर नाना प्रकार की व्याधियों का केन्द्र बन जायगा।

आयुर्वेद में त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) सिद्धान्त की प्रधानता है। दोषों का कुपित होना भी आहार-व्यवहार पर बहुत कुछ निर्भर है। यदि आहार-व्यवहार शुद्ध रहेगा तो मन भी शुद्ध रहेगा और त्रिदोष का कोप भी नहीं होगा। जैसा कि भगवान् आत्रेयने अग्निवेश को बताया है—

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सत्प्रवृत्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानाञ्च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥

'सत्य कर्म, सत्य बोलना, सत्य व्यवहार करना, मन, वाणी और कर्म से सब पर दया करना, परोपकार करना, देवता और गुरुओं का पूजन करना, इन्द्रियों को अपने वश में रखना, काम-क्रोधादि का त्याग करना, शुद्ध, पवित्र, निर्दोष स्थान में रहना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, अच्छे आचरणवाले पुरुषों का सत्संग करना—इनसे आयु की वृद्धि होती है, यह परम औषध है और ऐसा करने से अकाल मृत्यु नहीं होती।' जैसे—

धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्॥

'सब प्रकार की धार्मिक क्रियाओं से मनुष्य के मन में प्रसन्नता होती है, परन्तु पाप की क्रियाओं से अर्थात् चोरी, रिश्वत आदि अन्याय और पापों से मनुष्य की आत्मा और मन शोक में डूब जाते हैं। यदि प्रारब्ध का कोई योग न हो तो इस प्रकार के आचरण से रहने वालों को किसी तरह का कभी कोई रोग नहीं होता।'

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥

'जो मनुष्य हितकारी आहार और हितकारी विहार का सेवन करता है तथा शुद्ध विचारपूर्वक पूर्वापर सोच कर काम करता है, परोपकार करता है, सब से प्रेम का व्यवहार करता है, सत्य बोलता है, दया करता है और जो प्रामाणिक भद्र पुरुषों की सेवा करता है, उसे कभी रोग नहीं हो सकता। जिसका मन, वाणी और कर्म सबको सुख देनेवाला है, जिसने मन वश कर लिया है, जिसकी बुद्धि पवित्र हो गई है, ऐसे नर नारी को कभी रोग नहीं हो सकता और वह सब प्रकार प्रसन्न रहता है।'

आयुर्वेदकी महत्ता

[वैद्य पं० श्रीविश्वनाथ जोशी, व्याकरण-साहित्यायुर्वेदाचार्य, तुमसर, महाराष्ट्रप्रान्त]

आयुर्वेद आर्ष-चिकित्सा का विज्ञान है। यह अथर्ववेद का अङ्ग होनेके कारण अनादि है। महर्षि पतञ्जलिने चरकसंहिता में लिखा है—

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥

अर्थात्-रोगके सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट आदि कारणों का, व्याधि तथा आरोग्य का, औषध एवं पथ्य आहार-विहार का ज्ञान कराने वाला है तथा स्वस्थ पुरुष एवं रोगीके लिये जो उत्कृष्ट मार्गदर्शक है और जो अनादि है, सर्वोत्कृष्ट जीवनदान देने के कारण पुण्यप्रद है, जिसको ब्रह्माने सूत्र-रूपमें जाना है, वह आयुर्वेद शास्त्र है।

आयुर्वेद का अवतरण—जिस समय प्राणियों में रोगों की उत्पत्ति होने लगी और रोगों के कारण मानव अपनी धार्मिक चर्या आदि में विघ्न अनुभव करने लगे, तब दयार्द्रमना अङ्गिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप आदि महर्षियोंने हिमाचल के सुन्दर प्रदेश में एकत्र होकर भरद्वाज को देवराज इन्द्र के पास आयुर्वेद शिक्षा के लिये भेजा। महर्षि भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन कर अपने शिष्यों को पढ़ाया और भूतलपर आयुर्वेद का प्रसार-प्रचार किया।

आयुर्वेद की पूर्णता—आयुर्वेद-शास्त्र तपोयोग-समाधिनिष्ठ महर्षियों के द्वारा आविष्कृत है, इसलिये इस विज्ञानमें अपूर्णता का सन्देह नहीं होना चाहिये। चरक संहिता में लिखा है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' अर्थात् जो इस ग्रन्थ में है वह अन्यत्र भी हो सकता है, परन्तु जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

आधुनिक रोगों का अन्तर्भाव—'ब्लड प्रेशर, अपेण्डिसाइटिस आदि नये रोगों का आर्यसंहिताओं में वर्णन नहीं है, इसलिये आयुर्वेद-शास्त्र अपूर्ण है' ऐसा आक्षेप आधुनिक चिकित्सकों का समय-समय पर सुनने में आता है। परन्तु इसके लिये हमारे आचार्यों ने पहले लिख दिया है कि रोग का आविर्भाव वात, पित्त और कफ—इन तीन दोषों के वैषम्य से होता है। "विकारो धातुवैषम्यम्" अर्थात् शरीर को धारण करने वाले दोषों की क्षय-वृद्धिरूप विषमता से शरीर में विकार-रोग होते हैं। अतः दोषों की क्षय-वृद्धि का ज्ञान करके उनको साम्य-चिकित्सा करनी चाहिये।

'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' अर्थात् धातुसाम्य ही

इस शास्त्र का प्रयोजन है। दोष और दूष्यों की सम्मूर्छना से नाना प्रकार के रोग हो सकते हैं। नामतः सब रोगों का परिगणन असम्भव है।

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

अर्थात्--विमारी के नाम का परिचय न होने से वैद्य को चिकित्सा-कार्य में लज्जित नहीं होना चाहिये, क्योंकि सभी रोगों की नामसे निश्चित व्यवस्था नहीं है।

आयुर्वेद का वैशिष्ट्य—आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान केवल भौतिकता पर निर्भर है, परन्तु भारतवर्ष की परम्परा के अनुसार आयुर्वेद ज्ञान-पिपासुओं के लिये अध्यात्म-तत्त्व का नवनीत उपस्थित करता हुआ ऐहिक तथा पारलौकिक सुख का मधुर साधन है। महर्षि चरकने लिखा है—

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते।
स्मृत्या स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते॥

अर्थात्—शारीरस्थान प्रथम अध्याय में पूर्व वर्णित--'सत्पुरुषों का सेवन, असत् पुरुषोंका त्याग, व्रतचर्या, उपवास, धर्मशास्त्र के आदेश का पालन, विषयों में विरति तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिये परम उद्योग आदि साधनों से मानव तत्त्वस्मृति को प्राप्त करता है और तत्त्व-स्मृति के द्वारा आत्मा आदि का वास्तविक स्वरूप समझ कर जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा पाता है।

इस विषय का विशद विवरण चरकसंहिता के विमानस्थान एवं शारीर-स्थान में देखना चाहिये।

आयुर्वेदशास्त्र का अध्ययन—आयुर्वेद-शास्त्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं सच्छूद्रों के लिये पठनीय है। महर्षि चरक लिखते हैं—"धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः" अर्थात् धर्म, अर्थ और काम-इन पुरुषार्थों की प्राप्तिके लिये आयुर्वेद सभी को पढना चाहिये। आयुर्वेद का सम्यक् अध्ययन करने वाला मानव अध्यात्मवेत्ताओं का, धर्मपथ के स्थापकों का, धर्म के प्रकाशकों का, अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धवों का एवं गुरुजनों का रोग-हरण करके धर्म की प्राप्ति करता है। राजा एवं धार्मिक वर्ग के द्वारा रोग-मुक्ति के बाद उपहारस्वरूप में अर्थ की प्राप्ति करता है। विद्वानों से यश की प्राप्ति, साधारण-जनों से सेवा की प्राप्ति और अपने इष्ट जनों से (स्वास्थ्यरक्षा कर) काम की प्राप्ति करता है।

आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्य प्राणिमात्र पर दया—यद्यपि ऊपर लिखित विवरण से आयुर्वेद पुरुषार्थत्रय का साधन प्रतीत होता है, तथापि महर्षिने लिखा है—

नात्मार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते॥

अर्थात्—जो न अपने हितके लिये, न काम-भोगप्राप्तिके लिये, अपितु केवल प्राणिमात्र पर दया-भाव के उद्देश्य से चिकित्सा करता है, वह सर्वातिशायी वैद्य है।

आयुर्वेद का लाभ एवं उन्नति के उपाय—विधिवत् आयुर्वेद के अध्ययन और प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के बिना अनधिकारियों द्वारा इस शास्त्रका दुरुपयोग एवं भारत की पराधीनता के समय में तथा वर्तमान स्वतन्त्रता के समय में भी शासकवर्ग के द्वारा आयुर्वेद के प्रति औदासीन्य ही आयुर्वेद के ह्रास का प्रमुख कारण है।

आयुर्वेद की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि—रोग के कारण, लक्षण, औषध और रोग-निवारण में दक्ष एवं शान्त हुए रोग के पुनः प्रादुर्भाव न होने देने में निपुण वैद्यों को चिकित्साकार्य में प्रवृत्त होना चाहिये। केन्द्रीय शासकवर्ग को आयुर्वेद-चिकित्सा को राष्ट्रिय चिकित्सा घोषित करनी चाहिये। आयुर्वेद के अष्टाङ्ग अध्ययन के लिये साधनसम्पन्न उच्च शिक्षणालयों की व्यवस्था होनी चाहिये। आयुर्वेद आतुरालय—जहाँ आतुरों के लिये निवास-स्थान, औषध और पथ्य की समुचित व्यवस्था हो—स्थापित करने चाहिए। योग्य प्रदेशों में वनस्पति उद्यानों की रक्षा होनी चाहिये। रस, रसायन-निर्माण के लिये उच्चकोटि की रसायन-शालाओं की स्थापना होनी चाहिये।

आयुर्वेद का भविष्य सुन्दर है—प्रान्तीय सरकार आयुर्वेद के लिये स्थान-स्थान पर औषधालय आदि की स्थापना कर रही है। केन्द्रीय सरकार ने भी आयुर्वेद के लिये परामर्शमण्डल आदि की स्थापना की है। अतः यदि वैद्य-समाज जागृत होकर पारस्परिक वैमनस्य को भूल कर एक-स्वर से आयुर्वेद के उत्थान के लिये वैद्य आन्दोलन करता रहा, तो अवश्य ही आयुर्वेद का भविष्य सुन्दर है।

———

विद्या और शील

[पण्डित श्रीगङ्गाशङ्करमिश्र एम्० ए०, सम्पादक—'सन्मार्ग', काशी]

महामहोपाध्याय पण्डित श्रीविद्याधरजी गौड शीलसम्पन्न एक वैदिक विद्वान् थे, आज उनके संस्मरण के प्रसङ्ग में यदि 'विद्या और शील' का निरूपण किया जाय तो उपयुक्त ही होगा।

"सा विद्या तन्मतिर्यया" के अनुसार धर्म और ब्रह्म का वेदन जिन वेद एवं तन्मूलक शास्त्रों से होता है वे ही 'विद्या' कहे जाते हैं। "अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" के अनुसार धर्म भी परमार्थतः 'ब्रह्म' में ही पर्यवसित है और वही 'शील' के रूप में व्यावहारिक एवं व्यवहारातीत क्षेत्र में समान-रूप से इतनी मार्मिक उपादेयता से उपेत है कि उसकी उपेक्षा करके सफलता कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। यही कारण है कि अपने यहाँ शास्त्रों में विद्या और शील का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादित है और उसीका पर्यवसान यहाँ तक है कि विद्या को शीलाधान के ही माध्यम से श्रेय और प्रेय प्राप्ति के अनुरूप योग्यता का आधायक माना गया है। यह निम्नलिखित श्लोक से अति स्पष्ट है—

"विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥"

'विनय' शील का ही एक अन्यतम रूप है। उपर्युक्त श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि विद्या की चरितार्थता शीलाधान में ही है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि शील से तीनों लोक जीते जा सकते हैं इसमें संशय नहीं। शीलवान् सत्पुरुष के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है—

"शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां सताम्॥"

यह शील अपने यहाँ धर्मशास्त्रों में सामान्य धर्म के अन्तर्गत निरूपित है। विभिन्न ग्रन्थों में १०, ८, ५, ४ सामान्य धर्म बतलाये गये हैं। यदि इन सबका विचार किया जाय तो निम्नलिखित ३७ सामान्य धर्म ठहरते हैं—

सत्य, धृति, क्षमा, दम, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अलोभ, श्रद्धा, दान, शम, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दया, अहिंसा, आतिथ्य, तप, गुरुजनों की सेवा, अचापल, मार्दव, मङ्गल, अक्रोध, प्रसाद, परोपकार, अनायास, स्त्रीरक्षा, ह्री (लज्जा अर्थात् अनुचित कार्य से निवृत्त होने की चिन्ता), भृत्यभरण, संविभाग (जिसको जितना देना उचित है, उतना देना), अध्ययन, आत्मज्ञान, देवपूजन, ब्राह्मणपूजन, श्राद्ध,

तीर्थानुसरण, धर्मयुद्ध और भगवद्भक्ति। इनमें मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का सारा शील आ जाता है।

प्राचीन विद्यादान-व्यवस्था में सबसे अधिक ध्यान शील पर रखा जाता था। विद्याध्ययन एवं अध्यापन भी एक प्रमुख कोटि का शील ही है, क्योंकि उसके साथ अर्थार्जन का कटु सम्बन्ध हटाकर दान की पवित्र मर्यादा का ऐसा मनोरम सम्बन्ध स्थापित है कि दानों में सर्वोत्तम दान 'विद्यादान' ही माना जाता है—

'दानानामुत्तमं दानं विद्यादानं विदुर्बुधाः।' (गरुडपुराण)

विद्यादान से बढ़कर भूत और भविष्य में कोई दूसरा दान ही नहीं है —

'विद्यादानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।' (विष्णुधर्मोत्तर)

त्रैलोक्य में विद्यादान से बढ़ कर कोई दूसरा दान ही नहीं है –

'विद्यादानात् परं दानं त्रैलोक्येऽपि न विद्यते।' (देवीपुराण)

क्योंकि विद्या से ही लोगों को धर्माधर्म का ज्ञान होता है—

'विद्यया वर्तते लोको धर्माधर्मं च विन्दति।'

यही कारण है कि विद्या के द्वारा धर्म की ही शिक्षा देना प्रमुखरूप से प्राप्त है और वह धर्म सामान्य धर्म के रूप में शील ही है। अतएव शील-शिक्षण ही विद्या का प्राथमिक उद्देश्य ठहरता है, पर आजकल कुछ और ही स्थिति है।

शील के सम्बन्ध में इस समय दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एक के अनुसार वह धर्म से भिन्न है, इसलिये उसकी शिक्षा धार्मिक शिक्षा के विना भी हो सकती है। इसीको मानकर 'सदाचार की शिक्षा' (मॉरल-एजुकेशन) की चाल चल पड़ी है। दूसरी विचारधारा के अनुसार सदाचार ही धर्म है, विशेष धर्म भेद-भाव फैलाने वाला व्यर्थ का आडम्बर है। इन विचारधाराओं में 'धर्म' और 'सदाचार' का बड़ा सङ्कुचित अर्थ लिया गया है। पर वास्तव में दोनों में अकाट्य सम्बन्ध है, इनको कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता। कर्म, कर्म-फल, फलदाता, पुनर्जन्म आदि को माने विना सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि का मूल्य ही क्या? संसार में दुर्जन ही अधिक फलते-फूलते देखे जाते हैं, फिर कोई इन शुष्क कर्त्तव्यों के चक्कर में पड़कर अपने जीवन का आनन्द क्यों नष्ट करे? मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर इत्यादि में जाना और किसी प्रकार की कुछ उपासना या संस्कार कर लेना मात्र ही धर्म नहीं है। उसी तरह विना किसी एक सर्वनियन्ता ईश्वर को माने शील का कोई दृढ़ आधार ही नहीं है। इसीलिए हमारे यहाँ शील धर्म का ही अङ्ग माना गया है, इसको न समझ कर प्रायः पाश्चात्त्य विद्वान् कह बैठते हैं कि हिन्दुओं के यहाँ 'आचारशास्त्र' (एथिक्स) है ही नहीं।

धर्म से अलग करके जहाँ शील की शिक्षा दी गयी, कहीं भी सफल नहीं हुई। फ्रान्स में गत महायुद्ध के बाद से स्कूलों में इसकी शिक्षा दी जाने लगी। परन्तु पता लगा कि वहाँ बालकों को कुछ भी इसमें रुचि नहीं है। इसकी पढ़ाई

नीरस होती है और बालक सदा उसको टालने का प्रयत्न किया करते हैं। सन् १९२१ में वहाँ के एक पत्र में लिखा था कि 'स्कूलों में अपराधी विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ रही है कि प्रत्येक स्कूल के पास एक जेल खोलने की आवश्यकता पड़ती है।' इतना होते हुए भी हमें यह कहने में सङ्कोच नहीं होता कि आजकल हमारी अपेक्षा पाश्चात्त्यों में शील के कई लक्षण पाये जाते हैं, जिनके कारण उनका ऐश्वर्य इतना बढ़ा है। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति धार्मिक नहीं है, तथापि जिस उद्देश्य को लेकर वे चलते हैं, उसमें वे दोषों का प्रबल प्रतीकार करके सावधानी से गुणविकास और कर्मण्यता को आगे बढ़ाते हैं। इसीलिये उनको लौकिक प्रयत्नों में सफलता मिलती है। परन्तु आन्तरिक भावशुद्धि न होने के कारण उनका ऐश्वर्य देखने ही भर को है। पारमार्थिक उन्नति से तो वे वञ्चित ही हैं।

आजकल के विद्यालयों में पढ़ने वालों के शील की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है। पहले तो गुरुओं में ही हवा बिगड़ी हुई है, फिर छात्रों का कहना ही क्या? पढ़ाई भी इस प्रकार की होती है, जिसमें उन्हें आचरण की कोई शिक्षा नहीं मिलती है। उलटे उन्हें उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हो रही है। जहाँ फ्रायडके ये मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पढ़ाये जा रहे हों कि कामवासनाओं को रोकना अहितकर है, वहाँ इन्द्रियनिग्रह को कौन पूछेगा? हमारे शील तथा हमारे आचरण की वर्तमान शिक्षा द्वारा जो दुर्गति हो रही है वह प्रत्यक्ष है। उस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। हमारे पतन का सबसे बड़ा यही कारण है।

स्कूल या कालेज छोड़ते समय विद्यार्थियों को जो 'सार्टिफिकेट' दिया जाता है उसमें 'आचरण' के लिए भी एक 'खाना' रहता है। बिना किसी प्रकार की जाँच के उसमें 'अच्छा' लिख दिया जाता है। इस एक बात से ही पता लगता है कि इन संस्थाओं में शील को किस उदासीनता से देखा जाता है। आधुनिक शिक्षा और विदेशियों के सम्पर्क से ऐसी हवा चल पड़ी है कि जो धार्मिकता का बराबर उद्घोष किया करते हैं, जिनसे पथप्रदर्शन की हम आशा रखते हैं, वे भी नवीन प्रभावों से अपने को अछूत नहीं रख सके हैं। इससे हमारी समस्या और भी जटिल हो गयी है। जबतक हम में शील, सदाचार नहीं आता, तबतक हमारा बराबर पतन होता रहेगा और हम दूसरों को ठोकरें खाते रहेंगे। यदि हमें वास्तविक उन्नति करनी है तो सबसे पहले विद्या और शील के महत्त्व को समझ कर विद्या के द्वारा शीलवान् बनने का प्रयत्न करना होगा।

———

साहित्यिकोंका परम धन—'व्यञ्जना'

[पण्डित श्रीब्रह्मानन्द शुक्ल, साहित्यविभागाध्यक्ष—राधाकृष्ण संस्कृत-कालेज, खुरजा]

साहित्यिक विद्वानों ने "शब्दार्थौ काव्यस्य शरीरम्, रसादिश्चात्मा" कह कर स्पष्ट कर दिया कि शब्द-अर्थ-रूपी शरीर का प्रत्यक्ष हो सकता है, परन्तु रसादि का प्रत्यक्ष करने के लिए किसी बाह्य साधन की क्षमता नहीं है; आत्मस्थानीय रसादि के अनुभव के लिए किसी विशिष्ट प्रमाण की अपेक्षा है और वह प्रमाण है—व्यञ्जना। कहा भी है—

"वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्॥" (सा० द० ५।२७०)

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने व्यञ्जना का स्वरूप बताते हुए कहा है—

"विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥" (सा० द० २।२४)

भाव यह है—"शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" नियम के अनुसार एक वृत्ति एक स्थल पर एक बार उपस्थित होकर पुनः नहीं आ सकती। अतः अभिधा, तात्पर्याख्या और लक्षणा वृत्तियों के अपने-अपने अर्थ बताकर शान्त हो जाने पर जिस वृत्ति के द्वारा वाच्य-लक्ष्य-व्यतिरिक्त अर्थ का बोध किया जाता है, उस वृत्ति को 'व्यञ्जना' कहा जाता है। व्यञ्जन, ध्वनन, प्रत्यायन, द्योतन आदि इसके अन्य नाम हैं *। इस वृत्ति के द्वारा उपस्थित होनेवाले अर्थ को 'व्यङ्ग्यार्थ' कहते हैं।

इस 'व्यङ्ग्य' अर्थ की स्थिति के आधार पर यद्यपि काव्य के अनेक भेद हो सकते हैं, तथापि संक्षेप से उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'।

"जहाँ शब्द-अर्थ गौण हों और व्यङ्ग्य अर्थ (वाच्य से) प्रधान रहकर शोभाशाली हो वहाँ 'ध्वनि' + और जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य की अपेक्षा अप्रधान रहता हो, वहाँ 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' होता है‡।"

---

* "तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादि-शब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्।" (काव्यप्रकाश २।१९)

+ (१) "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स 'ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥" (ध्वन्या० १।१३)

(२) "इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"
(का० प्र० १।४)

‡ (१) "प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्य-चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥" (ध्वन्या० ३।३४)

"व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितः, तस्य प्राधान्ये 'ध्वनि' रित्युक्तम्। तस्यैव तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते।" (ध्वन्यालोक, ३. ६१.)

यह व्यङ्ग्य अर्थ वस्तु, अलङ्कार और रसादि-रूप से त्रिरूप होकर सर्वव्यापक परमात्म-तत्व की भाँति असंख्य स्वरूप धारण कर लेता है। वस्तु और अलङ्कार वाच्य एवं व्यङ्ग्य--दोनों प्रकार के होते हैं, परन्तु रसादि किसी प्रकार भी वाच्य नहीं हो सकता। वाच्य अर्थ अभिधा किंवा लक्षणा के द्वारा ही प्रकट किये जाते हैं, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ सङ्केतित न होने के कारण अभिधा या लक्षणा का विषय न होकर व्यञ्जना का ही विषय हो सकता है—

"रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः।......तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव, मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः।" (का० प्र० ५।४७)

यदि कथञ्चित् रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्दों से उसका कथन करना भी चाहें तो भी वह हो नहीं सकता, प्रत्युत उसका कोई स्थूल रूप सिद्ध न होने के कारण संकेत करना असम्भव ही होगा। अतएव साहित्यशास्त्र में रस या शृङ्गारादि शब्दों के कथन में दोष बताया है,* क्योंकि उक्ति सिद्ध वस्तु की ही हो सकती है और रस पहले से सिद्ध नहीं होता। वह तो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के द्वारा वाच्य-सामर्थ्य से आक्षिप्त ही होता है। हाँ, उसकी प्रतीति अतिशीघ्र क्रमिक होती है, परन्तु 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्' वह परिलक्षित नहीं हो पाती। इसीलिए ध्वनिकार ने 'वाच्येन तु अस्य सहैव प्रतीतिः' कहा है।

व्यञ्जना के रूप— वह व्यञ्जना शाब्दी और आर्थी-रूप से दो प्रकार की होती है। कारण, शब्द और अर्थ-रूपी काव्य के शरीर में छिपे हुए रस-रूप अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द और अर्थ का आश्रयण नितान्त आवश्यक है। आशय यह है, श्रोता या पाठक सबसे पहले शब्द सुनता या पढ़ता है,

---

(२) "अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।" (का० प्र० १।५)

* "रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि।
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः॥

× × ×

........दोषा रसगता मताः॥" (सा० द० ७।५६७)

तदनन्तर अर्थ-बोध करता है (यहाँ तक अभिधा और लक्षणा काम करती हैं) फिर सहृदयों के हृदय में चिरकाल से सञ्चित इस जन्म की तथा जन्मान्तर की भावना उद्‌बुद्ध होकर रस की अनुभूति कराने लगती है। रसानुभूति के निमित्त व्यञ्जना-व्यापार के अतिरिक्त और किसी व्यापार का सामर्थ्य ही नहीं है।

ऊपर कहा जा चुका है कि व्यञ्जना प्रथमतः दो प्रकार की होती है—शाब्दी या शब्दशक्तिमूला और आर्थी या अर्थशक्तिमूला। 'शाब्दी' व्यञ्जना के भी दो रूप होते हैं—'अभिधामूला व्यञ्जना' तथा 'लक्षणामूला व्यञ्जना'। अभिधामूल व्यञ्जना में संयोग, वियोग, प्रकरण* आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों की शक्ति अभिधा के द्वारा एक ही (प्राकरणिक) अर्थ का बोध कराने के लिए नियन्त्रित कर दी जाती है और उस शब्द के अर्थों की प्रतीति केवल व्यञ्जना-व्यापार से ही होती है। जैसा कि कहा है—

> अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
> संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥" (का० प्र० २।१९)

उदाहरणार्थ—

> "आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गामाक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृङ्गम्।
> मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेनमुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्॥"
>
> (माघ, ४।१९)

शिशुपालवध के इस श्लोक में 'नगेश' शब्द को प्रकरण से 'पर्वत' रूप एक अर्थ में अभिधा नियन्त्रित कर देती है। इसके अनन्तर जो 'शिव' परक अर्थ आता है वह व्यञ्जना के द्वारा ही आता है। इस व्यञ्जना को समझने के लिए पाठक या श्रोता को शब्दों के अनेक अर्थों का ज्ञान होना चाहिए। अन्यथा उन्हें इससे लाभ नहीं हो सकता।

लक्षणामूला व्यञ्जना वह होती है जो लक्षणा के प्रयोजन को प्रकट करे—

---

* अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ में नियन्त्रण कराने के लिए भर्तृहरिने ये १४ कारण गिनाये हैं—

> "संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥"
>
> (वाक्यपदीय, २।३१७-३१८)

"लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥" (सा० द० २।२७)

अर्थात् जिसके लिए लक्षणा की जाती है वह तो प्रयोजन होता है और जिसके द्वारा प्रयोजन बताया जाता है वह वृत्ति 'लक्षणामूला व्यञ्जना' कहलाती है।

उदाहरणार्थ—'गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक वाक्य में जिस वृत्ति के द्वारा 'शैत्य-पावनत्वातिशय' प्रयोजन की प्रतीति होती है वह 'लक्षणामूला व्यञ्जना' है।

आर्थी व्यञ्जना का ज्ञान अर्थ-बोध पर आश्रित है। यह व्यञ्जना से पाठक या श्रोता को वक्ता बोद्धव्य, काकु प्रभृति के वैशिष्ट्य के द्वारा एक अर्थ के अनन्तर अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है—अर्थ में से अर्थ निकालती है।

आर्थी व्यञ्जना के द्वारा अर्थबोध करने के लिए सहृदय में वक्तृ-बोद्धव्यादि वैशिष्ट्य की परख के साथ प्रतिभा-नैर्मल्य नितान्त अपेक्षित है। इसीलिए आर्थी व्यञ्जना पर विचार करते हुए वागुदेवतावतार मम्मटाचार्य ने 'प्रतिभाजुषाम्' पद दिया है[१]।

अर्थों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य—ये तीन भेद होने के कारण आर्थी व्यञ्जना भी त्रिविध होती है। *कहीं वह वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त करती है, कहीं लक्ष्यार्थ से और कहीं व्यङ्ग्यार्थ से भी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य मम्मट ने "सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते" † कहा है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि वाच्य अर्थ अभिधा के द्वारा बताये जाने पर भी व्यञ्जना के द्वारा किसी व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने से व्यञ्जक भी हो सकता है। इसी प्रकार लक्ष्य अर्थ लक्षणा के द्वारा बताये जाने पर भी किसी अन्य अर्थ को अभिव्यक्त करने के कारण व्यञ्जक बन सकता है तथा व्यङ्ग्य अर्थ व्यञ्जना द्वारा बताये जाने पर भी किसी नवीन अर्थ को अभिव्यक्त करने के कारण 'व्यञ्जक' कहला सकता है। परन्तु यह व्यवस्था 'वस्तु' और 'अलङ्कार' तक ही सीमित है, रसाभिव्यक्ति के अनन्तर फिर किसी अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। यही 'प्रायशः' कहने का अभिप्राय है ×।

---

१ "वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः ॥
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥" (का० प्र० ३।२१-२२)

* "त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता।" (सा० द० २।२६)

† का० प्र० २।८

× "..........वक्त्रादिवैशिष्ट्यानवतारेऽर्थान्तरव्यञ्जना न सम्भवतीति 'प्रायशः' इत्युक्तम्। यद्वा प्रधानस्य रसादेरव्यञ्जकत्वमिति 'प्रायशः' इत्युक्तम् × × ×"
(वामनाचार्य, का० प्र० सूत्र ७ की टीका)

इस प्रकार साहित्यिक विद्वानों के 'व्यञ्जना' को सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लेने पर भी कतिपय प्राचीन आचार्यों ने इसको स्वीकार करने में अपनी भिन्न-भिन्न विप्रतिपत्तियाँ प्रदर्शित की हैं। उनमें से कतिपय प्रमुख मत यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं--

अभिहितान्वयवादी (भाट्ट) मत—अभिधावृत्ति के द्वारा वाक्यान्तर्गत प्रत्येक पद का अर्थ जान लेने पर पदों का सम्बन्ध सूचित करने के लिए 'तात्पर्याख्या' नामकी वृत्ति मानने वाले भाट्ट या अभिहितान्वयवादी मीमांसक अभिधा के द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ-बोध कराना चाहते हैं।

निराकरण—परन्तु पदों का सम्बन्ध भी जब अभिधा से नहीं बताया जा सकता, तो तृतीय कक्षा में आने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा से किस प्रकार हो सकता है ?

अन्विताभिधानवादी (प्राभाकर)मत—"अन्विताभिधानवादी सम्बद्ध पदों का बोध अभिधावृत्ति के द्वारा होता है, एतदर्थ तात्पर्याख्या वृत्ति अनावश्यक है और शब्दार्थ होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान भी अभिधा से ही हो सकता है", ऐसा मानते हैं।

निराकरण—परन्तु इनके मत में भी सम्बद्ध पदों का अर्थ अभिधा से बताया जा सकता है, व्यङ्ग्य अर्थ तो इनके मतमें भी व्यञ्जना के अतिरिक्त और किसी व्यापार से सिद्ध नहीं हो सकता*।

मीमांसकैकदेशीमत—"नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" मानते हैं। इनका आशय यह है कि कार्य के अनुसार ही कारण की कल्पना की जाती है। व्यङ्ग्य अर्थ कार्य है, उसका कारण शब्द है। शब्दों के द्वारा जो अर्थ प्रतीत होता है उसमें केवल अभिधा ही उपयुक्त है, नवीन व्यञ्जना-व्यापार का भार स्वीकार करना अनावश्यक है।

निराकरण—किन्तु यह मत भी विचार-संगत नहीं है। निमित्त दो प्रकार का हो सकता है—'कारक' अथवा 'ज्ञापक'। शब्द प्रकाशक होने के कारण 'कारक' नहीं हो सकता और 'ज्ञापकता' अज्ञात की कैसे ? ज्ञातता संकेत के द्वारा ही हो सकती है और संकेत 'अन्वितमात्र' में ही होता है। अतः कारण की अनिश्चितता से उक्त मत आदर के योग्य नहीं है।

भट्ट लोल्लट का मत—कुमारिल भट्ट के अनुयायी भट्ट लोल्लट का मत भी प्रकारान्तर से अभिधावादी मीमांसकों का ही है। उनकी मान्यता है, "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः" इति "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति च विधिरेवात्र वाक्य इति।" इनका आशय यह है कि जिस प्रकार वेग:

* "अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्तत्रैवान्वितेऽभिधानेऽन्वितविशे-षस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।" (का० प्र०, ५ उल्लास)

व्यापार से छोड़ा गया बाण शत्रु के वर्म का भेद करता हुआ प्राणापहरण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार एक ही दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापार के द्वारा वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ "निःशेषच्युत···" इत्यादि पद्यों में अवगत हो सकते हैं। अतः व्यञ्जना की आवश्यकता क्या? शब्द जिस अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए प्रयुक्त किया जाय, वह सभी अर्थ शब्द के ही होते हैं और शब्द का अर्थ अभिधावृत्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है।

निराकरण—विचार-दृष्टि से देखने पर यह मत भी आपातमात्ररमणीय प्रतीत होता है। वास्तव में "तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः" कहकर मम्मट भट्ट ने स्पष्ट कर दिया कि उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है, प्रतीत-मात्र में नहीं। और शब्द सुनने के अनन्तर जितना अर्थ ज्ञात होता है उतने सम्पूर्ण अर्थ में अभिधा व्यापार ही है, यह मान लिया जाय तो "ब्राह्मण! पुत्रस्ते जातः" और "ब्राह्मण! कन्या ते गर्भिणी" इत्यादि वाक्यों के सुनने से हर्ष और शोक आदि जो प्रतीत हो रहे हैं, वे वाच्य ही क्यों नहीं हो जाते? इसके साथ ही लक्षणा की भी क्या आवश्यकता है? लक्ष्य अर्थ को भी अभिधा व्यापार से ही सिद्ध कर सकते हैं। किञ्च "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"* इस मीमांसा-सिद्धान्त की संगति करने के लिए भी व्यञ्जना-व्यापार ही समर्थ है[1]।

लक्षणा से भी व्यङ्ग्यार्थ की अगतार्थता—कुछ विद्वानों का मत है कि लक्षणा से व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि हो सकती है, फिर व्यञ्जना क्यों मानी जाय? इसका उत्तर देते हुए काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट कर दिया है कि लक्षणीय अर्थ नाना होने पर भी होता है मुख्य अर्थ से सम्बद्ध ही; किन्तु प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ प्रकरणादि के द्वारा नियत सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध एवं सम्बद्धसम्बन्ध-रूप से विविध प्रकार का होता है। निष्कर्ष यह है कि मुख्यार्थबाधादि के बाद ही लक्षणा आती है तो वह भी एक प्रकार से 'अभिधापुच्छभूत' ही मानी जाती है। जैसा कि लिखा है—"यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा तथा मुख्यार्थ-बाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा। अतएवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।" इसके अतिरिक्त व्यञ्जना-वृत्ति का क्षेत्र बहुत व्यापक है, अभिधा और लक्षणा का उतना नहीं। इसलिए भी अभिधा, तात्पर्याख्या और लक्षणा से व्यञ्जना का कार्य नहीं चल सकता।

वेदान्ती या वैयाकरणों का मत—वेदान्ती या वैयाकरण "अखण्डबुद्धि-निर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्" मानते हैं। इनका आशय है कि 'अखण्ड बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया गया वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और

* मीमांसादर्शन, अ० ३, पा० ६, सू० १४।

१ विस्तार के लिए इस मत को काव्यप्रकाश में देखिये।

अखण्ड वाक्य ही उस सम्पूर्ण अर्थ का वाचक होता है। इसलिए अभिधा के द्वारा ही वाक्यार्थ प्रतिपादित किया जा सकता है, व्यञ्जना अनावश्यक है।

निराकरण—किन्तु इनके मत में भी व्यवहार-जगत् में पद-पदार्थ की कल्पना अवश्य करनी ही होगी। 'निःशेषच्युत···' इत्यादि पद्य में विधि को इन्हें भी व्यङ्ग्य ही मानना होगा। "तैरप्यविद्यापदपतितैः पद-पदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव" कहकर मम्मट भट्ट ने इसका स्पष्टीकरण किया है।

मीमांसकों ने अपौरुषेय वाक्यों की अपेक्षा पौरुषेय वाक्यों में अन्तर स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि पुरुष-प्रतिपादित वाक्य मिथ्या, सन्दिग्ध और भ्रान्त हो सकते हैं, किन्तु अपौरुषेय वाक्य यथार्थ निर्भ्रान्त एवं सुसंगत ही होते हैं। परन्तु ऐसा स्वीकार करने के लिए व्यञ्जना-वृत्ति के अतिरिक्त उनके पास और कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार यहाँ तक अभिधावादी मीमांसक, लक्षणावादी तथा वेदान्ती था वैयाकरणों के मत का संक्षिप्त प्रदर्शन और निराकरण किया गया है। अब नैयायिकों के मत का सार तथा उसका खण्डन प्रदर्शित किया जा रहा है—

नैयायिकों का मत—तार्किकशिरोमणि महिम भट्ट 'अनुमान' से ही व्यञ्जना की गतार्थता स्वीकार करते हुए कहते हैं "भ्रम धार्मिक!···" इत्यादि पद्य में भ्रमण-विधान निषेध-रूप में पर्यवसित होता है, जैसा कि व्यञ्जनावादी मानते हैं; परन्तु यह तो अनुमान से ही सिद्ध हो सकता है। "इदं गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यम्, तत्र सिंहोपलब्धेः" इत्यादि अनुमान से भ्रमणाभावरूपी वस्तु व्यङ्ग्य अनुमेय हो सकता है। इसी प्रकार 'जलकेलितरल···' आदि पद्य में "राधिकावदनं चन्द्रः, चक्रवाकमिथुनसंघटन-विघटनकारित्वात्" यह अनुमान स्वीकार कर 'रूपकालङ्कार' की व्यङ्ग्यता गतार्थ हो सकती है तथा 'निश्शेषच्युत' इत्यादि पद्य में "इयं दूती परकामुकोपभोगविषया, तथाविधचन्दन-च्यवनादिमत्त्वात्" इस अनुमान से शृङ्गार रस भी अनुमेय हो सकता है।

निराकरण—किन्तु "पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्व-विशिष्टाल्लि-ङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्" इस अनुमान के लक्षण के अनुसार अनुमान में हेतुकी यथार्थता आवश्यक है, परन्तु उक्त तीनों अनुमानों में हेतु यथार्थ नहीं है—हेत्वा-भास है। अतः अनुमान से व्यञ्जना का कार्य किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है✻।

व्यञ्जनावादियों के मत में प्रकरणादि के द्वारा ही शब्द एवं अर्थ से व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि की जाती है, वहाँ हेतु की कोई आवश्यकता नहीं होती। अभिधादि व्यापारों के अतिरिक्त व्यञ्जना नामक व्यापार [illegible] सत्कवियों के काव्यों का रसास्वाद असम्भव है। इसीलिये कहा [illegible] वृत्ति साहित्यिकों का परम धन है।

✻ विशेष विस्तार के लिये देखिए- काव्यप्रकाश उल्लास, ५।

यज्ञेन विश्वस्य शान्तिः

[वैदिकप्रवर पं० श्रीरघुअण्णाशास्त्री वारे, नासिक]

यज्ञाधारं जगत्सर्वं यज्ञो विश्वस्य जीवनम् ।
यज्ञो हि परमो धर्मो यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

विदितचरमेवैतद्विदितवेदितव्यानां समेषां विदुषां यष्टॄणां यायजूकानां च यच्छिरोनिर्दिष्टवचःप्रोक्तपथेन भारतीयानां कृते एषा यज्ञसंस्था सर्वस्वभूतेति यतः सर्वमिदं स्थिरचरात्मकं विश्वं यज्ञस्याधारेणैव प्रत्यतिष्ठत् । अयञ्च यज्ञो निखिलब्रह्माण्डभुवनस्य मूलाधारचक्रमवष्टभ्य नाभिरूपः, यज्ञवेदिस्तु सकलां पृथ्वीमभिव्याप्य तदन्तपर्यन्तं समवस्थिता । भारतीयैर्वैदिकैर्निखिलां भूमिं यज्ञवेदित्वेन यज्ञं च तस्या नाभित्वेन पृथ्वीमर्यादयावस्थितं सागरं चात्वालरूपेण प्रकल्प्य तद्द्वारा इह परत्र च साम्राज्यादिपारमेष्ठ्यन्तं सर्वविधमभ्युदयं प्रसाध्य स्वसमुत्कर्षः परां कोटिमनायीति ब्राह्मणोदितैतिह्यविदां न प्रच्छन्नमिति । एषोऽर्थः स्वयं श्रुत्या सूत्ररूपेण दर्शितोऽस्ति । तथाच श्रुतिवचांसि—

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" इति । "यावती वै वेदिस्तावती वै पृथिवी" इति । "समुद्रं वा एष यच्चात्वालः" इत्यादीनि । अतः सुष्ठु निगदितं 'यज्ञाधारं जगत्सर्वम्' इति ।

किञ्च—अधियज्ञियेऽग्नौ हुता आहुतयो निजं स्थवीयःशरीरं कुण्डादे भस्मराशिभूतमत्रैव विहाय रसरूपेण सूक्ष्मवपुषोर्ध्वज्वलनशीलस्याग्नेः किरणजाल मार्गान्निर्गत्य सहस्ररश्मेरादित्यस्याधः प्रसरणशीलरश्मिषु गत्वाऽऽधिदैवाग्निः सादर्थादादित्यमण्डलस्थपुरुषाधीना भवन्ति । सोऽपि प्राप्तमाहुतिरसं मथित्वा स्वे सुषुम्णि नाम्नि किरणेऽर्थाच्चन्द्रमसि मथनोद्भूतं साररूपममृतरश्मि कलासु स्थापयति । तच्चामृतं देवैः पितृभिश्चोपभुज्यते । अमृतपानवशादेव अमृतभुजः क्रतुभुजोऽमरा इति च कीर्त्यन्ते । तृतीया यौवनदशा बाल्यानन्त प्रौढं वयो येषां ते त्रिदशास्तादृशाश्चापि सम्भाव्यन्ते ।

न्ती या वेयाकर

ाक्यार्थ एव वाच्यः, वा[illegible]भागरूपं जलं नक्षत्रेषु स्थापित्तं भवति । तच्च आग्रहायण्यां मेघः
खण्ड बुद्धि के द्वारा ग्रहण कि[illegible] [illegible]मासात्मके काले प्राप्ते गर्भविमोचनान्मवे
मीमांसा दर्शन, अ० ३, पा० [illegible]ण पुनः पृथिव्यां वर्षयित्वा सस्यफलादिरूपेण परिणामयति
स्राग [illegible]प्यसारभागजलवर्षणजन्यान्नधान्यफलवीरुद्लतादि भुक्त्वा शतं सम
जीवन्ति। [illegible]र्थेऽनुसन्धेयाः श्रुतयः स्मृतयश्च —